भारतीय सभ्यता
तथा
संस्कृति का विकास

बी० एन० लूनिया, एम. ए.
प्रिंसिपल, आनन्द कॉलेज, धार (म०प्र०)

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल • आगरा
उच्चकोटि का शिक्षा सम्बन्धी साहित्यिक प्रतिष्ठान

प्रथम संस्करण, १९५१
पंचम संस्करण, १९६३ ● षष्ठम संस्करण, १९६४

मूल्य : आठ रुपये ५० पैसे

दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा

प्रस्तुत संस्करण के प्रति

प्रस्तुत पुस्तक 'भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास' का षष्ठम संस्करण पाठकों व विद्यार्थियों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है। दस वर्षों की अल्पावधि में इस पुस्तक के पाँच संस्करणों की समाप्ति से, जो उसकी लोकप्रियता का द्योतक है, पुस्तक को प्रत्येक बार संशोधित व परिवर्द्धित कराते रहने में हमें सदैव रुचि रही है और उससे हमारा उत्साह भी बढ़ा है। फिर भी, सम्भव है कि इस संस्करण में कुछ अभाव रह गया हो, किन्तु हम आशा करते हैं कि भारतीय संस्कृति में रुचि रखने वाले पाठक व विद्यार्थी इसको पहले के समान ही अपनावेंगे।

—प्रकाशक

प्रस्तावना

भारतीय इतिहास को काव्य के अतिरिक्त शायद ही कभी रुचिकर बनाया गया हो, यह कार्य कठिन ही प्रतीत हुआ। फलतः भारत का गौरवपूर्ण अतीत कतिपय विद्वानों को छोड़कर अज्ञात ही रहा। फिर भी कुछ वर्षों से विद्वान इतिहासज्ञों के अकथनीय प्रयत्नों ने भारतीय इतिहास पर खूब प्रकाश डाला है परन्तु उनके अनुसन्धान प्रमुखतया विशेषज्ञों के लिए ही सीमित रहे। परिणाम-स्वरूप भारत के आध्यात्मवाद और संस्कृति से आज भी अनेक व्यक्ति अवगत नहीं हैं। बहुत-से भारतीयों को न तो भारत के अतीत की गौरव-गाथा ही मालूम है और न भारतीय संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्त ही। आज भी उन्हे यह ज्ञात नहीं है कि विश्व की संस्कृति को भारत की क्या देन रही है।

आज जब भारत उत्कर्ष के मार्ग पर रथारूढ़ हुआ चला जा रहा है और एशिया का अग्रणी बन रहा है, हमारे लिए यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि हम धर्म, कला, साहित्य, राजनीति, समाज आदि के क्षेत्र में भारत की सफलता-सिद्धियों को विश्व के सम्मुख प्रकट करें। अब तो विश्व के विभिन्न देश भी भारतीय संस्कृति के प्रति अधिक जागरूक हो रहे हैं। जनसाधारण का अनुराग भी भारतीय संस्कृति में दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है। जिस संस्कृति ने विश्व को भगवान बुद्ध के समान धर्म-प्रवर्तक, अशोक और अकबर, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और हर्ष, कृष्णदेवराय और शिवाजी जैसे शासक, महात्मा गांधी जैसे महान् सन्त और राजनीतिज्ञ, कालिदास और रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे प्रतिभासम्पन्न कवि, वराहमिहिर और आर्यभट्ट, जगदीशचन्द्र बोस और चन्द्रशेखर वेंकट रमण जैसे विश्वविख्यात वैज्ञानिक, अजन्ता और बाघ के भित्ति-चित्र, साँची और बोरुबुदर के भव्य कलात्मक स्तूप और समस्त भारत में बिखरे हुए मन्दिरों और मसजिदों, राजप्रासादों और दुर्गों की अनमोल निधि दी है, उस संस्कृति को न समझना या उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखना घोरतम अपराध है।

अतएव प्रस्तुत पुस्तक में मैंने भारतीय संस्कृति और सभ्यता के क्रमिक विकास पर प्रकाश डालने का साहस किया है। भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं का सरल और मनोरंजक रूप से विवेचन करने का प्रयास मैंने इन पृष्ठों में किया है। संस्कृति की परिभाषा लिखना कठिन है। मैंने यहाँ भारतीय संस्कृति में मोटे रूप में उन सभी अंगों, उपांगों और आन्दोलनों को सम्मिलित

कर लिया है, जिन्होंने हमारे सामाजिक व राजनीतिक विचारों, धार्मिक और आर्थिक जीवन, कला और साहित्य, शिष्टाचार व नैतिकता आदि को ढाला है। मैंने भारतीय इतिहास की सूक्ष्म बातों, अपरिचित नामों और अज्ञात घटनाओं को टाल दिया है तथा अपने आपको जान-बूझकर भारतीय संस्कृति के अंगों और आधारभूत सिद्धान्तों तक सीमित रखा है। प्रस्तुत पुस्तक का प्रमुख ध्येय भारतीय सभ्यता व संस्कृति की प्रधान विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हुए उनके क्रमिक विकास का विवेचन करना है। भारतीय संस्कृति की अपनी मौलिकता है; उसकी अपनी विशिष्टताओं का अलग संसार है। इसकी प्रथम विशेषता इसकी पुरातनता है। जब पृथ्वी पर यत्र-तत्र सभ्यता का उषाकाल था, भारतीय संस्कृति अपने उत्थान के मार्ग पर रथारूढ़ हो चली जा रही थी। द्वितीय, सुसम्पन्न और सर्वश्रेष्ठ सभ्यता की प्राप्ति के लिए इस संस्कृति में भावना की प्रच्छन्न एकता और प्रयास की अनुपम अविच्छिन्नता सदा से विद्यमान रही है। तृतीय, धर्म और अध्यात्मवाद इस संस्कृति में विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनसे यह संस्कृति ओतप्रोत है। चतुर्थ, भारतीय संस्कृति में एकीकरण व समन्वय की अपार शक्ति युगों से चली आ रही है। भारत में मानवीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अन्य संस्कृतियों का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन भारत की विचारधाराओं और सामाजिक संस्थाओं में ही इसका दिग्दर्शन नहीं होता है किन्तु मध्य-युग में भी विरोधी प्रवृत्तियों का समन्वय कर संस्कृति को सुसमृद्ध करने के निरन्तर प्रयत्नों में भी इसकी अभिव्यक्ति हुई है और आज भी जबकि पश्चिम से नवीन विलक्षण प्रवृत्तियाँ और विचारधाराएँ हमारे देश में प्रविष्ट हो रही हैं, भारतीय संस्कृति की यह विशेषता विद्यमान है। इस संस्कृति का सम्मिश्रण और सहिष्णुता, एकीकरण और समन्वय की रचनात्मक वृत्तियों के कारण ही भारतीय सभ्यता में विविध पुनीत धाराओं का अलौकिक समागम हुआ। अब ईश्वर से यही प्रार्थना है कि भारत की यह संस्कृति जो चिरकाल से मानव को उत्कर्ष के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए प्रेरणा देती रही है युद्ध व अशान्ति से आक्रान्त आधुनिक विश्व को श्रेष्ठतम सफलता, समृद्धि व शान्ति के शिखर पर पहुँचने के लिए मार्ग-प्रदर्शन करे।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना मूल रूप में मेरी अंग्रेजी भाषा में लिखी 'Evolution of Indian Culture' नामक पुस्तक के आधार पर है। इस मूल पुस्तक तथा प्रस्तुत पुस्तक लिखने में मैं कोई नवीन मौलिकता का दावा नहीं करता हूँ। प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध विद्वान्, अनुभवी लेखकों व इतिहासज्ञों द्वारा भारतीय इतिहास व संस्कृति पर लिखी गयी विविध पुस्तकों से मैंने पुस्तक की लेखन सामग्री स्वच्छन्दतापूर्वक ली है। इन सहायक ग्रन्थों की सूची पुस्तक के अन्त में

संक्षेप में अवलोकनार्थ प्रस्तुत है। इन लेखकों व इतिहासज्ञों तथा उनके उदार-हृदय प्रकाशकों का मैं अत्यधिक आभारी हूँ। साथ ही यह भी प्रकाश में लाना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ कि इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद; नेशनल इनफॉरमेशन एण्ड पब्लिकेशन, बम्बई; आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली; मेकमिलन एण्ड कम्पनी, बम्बई आदि ने उनके द्वारा प्रकाशित ऐतिहासिक ग्रन्थों का अवलोकन करने और उनसे सामग्री लेने के लिए उदारतापूर्वक जो अनुमति प्रदान की है, उसके लिए मैं उनका अत्यन्त ही ऋणी हूँ। इसी प्रकार डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने भी अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत का इतिहास' का अवलोकन कर उपयोग करने की जो अनुमति दी है, उसके लिए भी मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

विजयादशमी,
इन्दौर, २८-९-५२ —बी० एन० लूनिया

विषय-सूची

१

भारत की भौगोलिक स्थिति एवं प्रच्छन्न मौलिक एकता

इतिहास—वातावरण और व्यक्तित्व—दो महान् शक्तियों का परिणाम है; इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों के कार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु उस वातावरण के अनुरूप ही होते हैं जिसमें वे रहते हैं। इस बात को अन्य शब्दों में कहें तो किसी देश की प्राकृतिक अवस्था—उसकी सामान्य दशा, जलवायु, पर्वत, समुद्रतट, नदियाँ, प्राकृतिक सीमाएँ आदि—उस देश के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक इतिहास को अनादिकाल से प्रभावित करती आ रही हैं। मनुष्यों के जीवन, स्वभाव और चरित्र-निर्माण में इनका बड़ा हाथ होता है। रिचर्ड हैक्ल्यूट (Richard Hakluyt) ने ठीक ही कहा था कि भूगोल एवं काल-निर्णय-विद्या (Chronology) इतिहास के सूर्य एवं चन्द्र अथवा दायें और बायें नेत्र हैं। अन्य देशों की भाँति, भारत का इतिहास भी इस देश की भौगोलिक स्थिति का विशद अध्ययन किये बिना बोधगम्य नहीं हो सकता।

हिमालय से लेकर हिन्द महासागर तक विस्तृत उपमहाद्वीप 'भारतवर्ष' अर्थात् 'भरत का देश' नाम से विख्यात है। पौराणिक गाथाओं के अनुसार भरत एक प्रतापी नरेश हो चुका है। भारतवर्ष एक विशाल भू-भाग जम्बूद्वीप का एक अंग माना जाता था। हिन्दुओं के विचारानुसार समस्त पृथ्वी सह-केन्द्रीय सात महाद्वीपों में विभक्त मानी गयी थी। इनमें मध्यवर्ती महाद्वीप जम्बूद्वीप माना जाता था। परन्तु प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थों के प्रमाणों से प्रतीत होता है कि जम्बूद्वीप तो ईसवी पूर्व तृतीय शताब्दी में दैनिक प्रयोग में आने वाला एक प्रादेशिक नाम था जिसका उपयोग चीन को छोड़कर एशिया के उस समस्त भू-भाग के लिए होता था जिसे महान् साम्राज्यवादी मौर्य राजवंश ने अपनी शक्ति द्वारा प्रभावित किया था।

आधुनिक नाम 'हिन्दुस्तान' और 'इण्डिया' इस देश के प्रारम्भिक आक्रमण-कारियों, फारस निवासियों और यूनानियों द्वारा रखे गये थे। इस देश पर किये गये आक्रमणों की प्रगति में सहसा सिन्धु या इण्डस (Indus) अवरोधक हो जाती थी। अतएव उन्होंने इस देश का नाम 'सिन्धु का प्रदेश' रखा। फारस निवासी 'स' अक्षर का उच्चारण 'ह' की भाँति करते हैं। अत: उन्होंने 'सिन्धु' का उच्चारण 'हिन्दु' जैसा किया। 'इण्डिया' शब्द प्राचीन फारस के

शिलालेखों में लिखे गये 'सिन्धु', 'इण्डस' अथवा 'हिन्दु' शब्द से मिलता-जुलता है। मध्यकालीन लेखकों द्वारा प्रयुक्त 'हिन्द' अथवा 'हिन्दुस्तान' नाम 'हिन्द' से अत्यधिक साम्य रखता है।

एशिया के अन्तर्गत 'भारत' एक विस्तीर्ण प्रायद्वीप है, जिसका आकार एक विषमबाहु-चतुर्भुज के समान प्रतीत होता है। जनसंख्या की दृष्टि से विश्व में सबसे बड़ा चीन और दूसरा भारत है। इस देश की जनसंख्या[1] ३६ करोड़ से कुछ ज्यादा है जिसमें ४० विभिन्न जातियाँ (Races) सम्मिलित हैं। ये लोग १६१ विविध भाषाएँ बोलते हैं तथा ३० विभिन्न लिपियों का प्रयोग करते हैं। (सन् १९४१ की जनगणना के अनुसार)।

भारत का प्रशस्त पृथकत्व

उत्तर में हिमालय के अभेद्य शृंगों की शृंखलाबद्ध दीवारों तथा दोनों निचली पर्वत श्रेणियों द्वारा भारत तिब्बत, चीन तथा एशिया के शेष भागों से पृथक् हो जाता है। पूर्व और पश्चिम में दोनों ओर पर्वत श्रेणियों में दर्रे हैं जो भारत के प्रवेश-द्वार के सदृश्य हैं। पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में बंगाल की खाड़ी, अरब सागर और हिन्द महासागर इस देश के समुद्रतट का पग-प्रक्षालन करते हैं। एक ओर समुद्र की अथाह जलराशि द्वारा अफ्रीका से और दूसरी ओर मलाया और जावा-सुमात्रा द्वीपसमूह से अलग होकर और उत्तर-पूर्व और पश्चिम में थल-सीमाओं पर पर्वत श्रेणियों द्वारा पृथक् होकर भारत अपने इतिहास के आदिकाल से ही अपने विकास में अधिकांश रूप से निरपेक्ष रहा है; अपने सांस्कृतिक जीवन एवं प्रगति में उसके प्रयत्न व्यक्तिगत ही रहे हैं। इस महत्त्वपूर्ण पृथक्ता ने भारत को अपनी विलक्षणताओं और विशिष्ट गुणों की, जो एक असाधारण सभ्यता के द्योतक हैं, वृद्धि और प्रगति करने में समर्थ कर दिया है। भारत की सभ्यता विश्व के शेष भू-भागों की सभ्यता से अनेक महत्त्वपूर्ण बातों में विभिन्न हैं। अधिकांश रूप में इस देश के निवासियों का स्वभाव, आदतें, वेश-भूषा, धर्म, विधान तथा ज्ञान वे ही हैं जिनका उन्होंने स्वयं ही विकास किया है और जिन्हें उन्होंने अपने लिए पूर्ण उपयोगी पाया है। निस्सन्देह भारतीय ज्ञान एवं कला पर प्राचीन और मध्ययुग में यूनानी और अरबों का एवं आधुनिक युग में यूरोपवासियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, तथापि जब हम भारत के ऐतिहासिक विकास एवं उसकी सभ्यता की

[1] 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में प्रकाशित सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार वर्तमान भारत का क्षेत्रफल १२,२१,००० वर्ग मील है और जनसंख्या ३६ करोड़ १२ लाख है। इसमें काश्मीर रियासत और आसाम की आदिम जातियों के क्षेत्र भी सम्मिलित हैं।

प्रगति के विस्तीर्ण दृश्यों का सिंहावलोकन करते हैं तब यह विदेशी प्रभाव नगण्य-सा प्रतीत होता है।

यद्यपि भारत अधिकांशतः एक पृथक् देश रहा है, तथापि इसकी जातियों के मूल-तत्त्वों की विचित्रता, जलवायु की विभिन्नता, भूमि की महान असमानता तथा प्राकृतिक स्थिति की विलक्षणताओं ने इस देश को एक अवरुद्ध जलाशय बनाने में ही नहीं रोका प्रत्युत इसे एक महाद्वीप का रूप भी प्रदान किया। इन्हीं लक्षणों ने इसे अपनी क्रियात्मक एवं प्रक्रियात्मक शक्तियों को प्रवाहित करने की क्षमता भी प्रदान की जिससे सभ्यता का विकास हुआ। इस प्रकार भारत की महाद्वीपीय विलक्षणता उसके इतिहास में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है।

भारत के प्रमुख भौगोलिक विभाग

भारत निम्नांकित चार स्पष्ट भौगोलिक भागों में स्वाभाविक रूप से विभक्त है :

१. उत्तर का पर्वतीय प्रदेश—तराई के दलदलमय वनखण्ड से लेकर हिमालय के शृंगों तक यह प्रदेश विस्तृत है। इसके अन्तर्गत काश्मीर, कांगड़ा, टेहरी, कुमायूँ, नेपाल, सिक्किम तथा भूटान जैसे पर्वतीय प्रदेश ही नहीं हैं, वरन् विशाल और सर्वोच्च पर्वत हिमालय भी है, जो देश के उत्तर में १५०० मील लम्बी दीवार के समान स्थित है। यद्यपि यह उत्तरी दीवार कतिपय स्थानों पर दर्रों द्वारा खण्डित है तथापि हिमालय की अत्यधिक ऊँची श्रेणियों के कारण कोई भी प्रवासी या आक्रमणकारी इन दर्रों में से होकर देश में प्रवेश करने का दुस्साहस नहीं कर सकता। इसी प्रकार उत्तरी-पूर्वी पर्वतीय श्रेणियाँ भी, जिनमें पटकोई व नागा पहाड़ियाँ सम्मिलित हैं, आक्रमणकारियों के लिए अभेद्य और दुर्गम रही हैं। हिमालय की इस रक्षाकारी दीवार के कारण ही भारत की सामाजिक व्यवस्था और सभ्यता का स्रोत अविरल गति से निरन्तर प्रवाहित होता रहा है। महान् भारतीय महाकाव्यों में जिस समाज का वर्णन उपलब्ध होता है वह आधुनिक भारत के समाज से मूलतः विभिन्न नहीं प्रतीत होता। धार्मिक सिद्धान्त तथा विश्वास, वैवाहिक नियम, अन्त्येष्टि क्रिया-विधि तथा सामाजिक व्यवस्था व जातीयता आज भी मौलिक रूप में प्राचीनकाल के अनुरूप ही हैं। भारतीय जीवन की यह एकसूत्रता और अखण्डता हिमालय पर्वत की ही महान् देन है। दुर्भाग्य से हिमालय की दीवार के उत्तर-पश्चिम में कतिपय दर्रे हैं जो वनों की विरलता और ऊँचाई के अभाव के कारण अनादिकाल से देश के आक्रमणकारियों को सरलता से देश में प्रविष्ट होने के अवसर प्रदान करते रहे हैं। आर्य, फारसी, यूनानी, सिथियन, हूण, तुर्क, तातारी तथा मंगोल आदि ने इन्हीं दर्रों से, जो खैबर, गोमल,

बोलन, कुर्रम तथा टोची नाम से प्रसिद्ध हैं, प्रवेश किया। ये भारत के लिए नियमित प्रवेश-द्वार का कार्य करते हैं। देश की सुरक्षा के निमित्त यह परमावश्यक है कि ये प्रवेश-द्वार सदैव समुचित रूप से सुरक्षित रहें। भारतीय इतिहास में ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है जो यह प्रमाणित करते हैं कि जब कभी भारतीय शासकों ने इस ओर की सुरक्षा की उपेक्षा की तभी देश को अनिष्टकारी परिणाम सहन करने पड़े। परन्तु फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि ये पर्वतीय दर्रे या प्रवेश-द्वार केवल अभियान, आक्रमण तथा विजय के द्वार ही नहीं रहे, अपितु इन्होंने बाह्य जगत के साथ भारतीय संसर्ग और शान्ति सम्बन्ध स्थापित करने में अत्यधिक सहायता दी। ये भारत में पवित्रता, तीर्थ-यात्री और शान्ति-प्रिय व्यवसायी लोगों को भी लाये। इन्होंने एशिया महाद्वीप के अधिकांश भू-भाग में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार के हेतु राजपथ निर्मित किया।

२. **विशाल उत्तरी मैदान**—इस भू-भाग के अन्तर्गत सिन्धु व उत्तरी सहायक नदियों की घाटियाँ, सिन्धु तथा राजस्थान के मरुस्थल एवं गंगा, यमुना तथा ब्रह्मपुत्र द्वारा सिंचित उर्वरा भूमि भी है। यह भू-भाग अनन्तकाल से भारतीय महाद्वीप का हृदय-स्थल माना जाता है। यह मैदान उर्वरा मिट्टी के संग्रह से निर्मित है जिसे नदियाँ अगणित शताब्दियों से उत्तर में हिमालय की श्रेणियों से और दक्षिण में पठार और पहाड़ियों से बहाकर अपने साथ लाती रही हैं। केवल इतना ही नहीं, प्रत्युत इस विस्तीर्ण समभूमि को सिन्धु व उसकी सहायक नदियाँ (सतलज, रावी, चिनाब व झेलम), गंगा और उसकी सहायक नदियाँ (यमुना, चम्बल, गोमती, घाघरा व सोन) तथा ब्रह्मपुत्र और उसकी सहायक नदियाँ सींचती हैं। इन्हीं कारणों तथा अन्य अनेक प्राकृतिक साधनों एवं सम्पत्ति के कारण ही यह उपजाऊ मैदान घना बसा हुआ है। इसकी भूमि की उर्वरता और सम्पन्नता के कारण ही यहाँ विशाल वैभवशाली नगरों की वृद्धि हुई, व्यापार-वाणिज्य के केन्द्रों का निर्माण हुआ और प्राचीन एवं अर्वाचीन साम्राज्यों की राजधानियाँ स्थापित हुईं। यह वही मैदान है जो प्राचीन युग में आर्यावर्त के नाम से विख्यात था, जो भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का उद्गम स्थल है, जैन तथा बौद्ध जैसे महान् धार्मिक आन्दोलन का केन्द्र रहा है एवं उस भारतीय जीवन का, जिसका सम्पूर्ण महाद्वीप में क्रमशः विकास और प्रसार भारतीय इतिहास की प्रमुख घटना रही है, अन्तस्तल रहा है। वस्तुतः इसी प्रदेश ने भारत को बनाया है। परन्तु इस भू-भाग की जलवायु यहाँ के निवासियों के जीवन और ऐश्वर्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालती रही है। एक ओर जटिल जीवन संग्राम के अभाव और अवकाश के बाहुल्य ने कुशाग्र बुद्धि वालों के हेतु यह सम्भव कर दिया कि वे सांस्कृतिक और

दार्शनिक उन्नति के कार्य में संलग्न हो जायें, दूसरी ओर विलासमय, सुख-साध्य एवं सुगम जीवन ने जनसाधारण को अशक्त कर दिया है और उनके वैभव एवं धनसम्पन्नता ने अगणित आक्रमणकारियों को प्रलोभित किया।

यह विस्तृत उत्तरी मैदान तीन भागों में विभाजित है। उत्तर में राजस्थान से पच्चड़ के समान दो स्थलीय भाग, एक पश्चिम की ओर एवं दूसरा पूर्व दिशा में संथाल परगने की ओर जाते हैं। संथाल परगना बंगाल को गंगा के मैदान से पृथक् करता है। राजस्थान से उत्तर-पश्चिम जाने वाला भाग एक संकीर्ण पट्टी का भाग है जो राजस्थान की मरुभूमि और हिमालय के बीच में है। प्राचीन युग में इसे कुरुक्षेत्र कहते थे। यह भारत का युद्धस्थल रहा है, और सामरिक महत्त्व का स्थान होने के कारण यहाँ देश के भाग्य का निर्णय कई बार हुआ है। मध्य एशिया से आने वाले आक्रमणकारियों के लिए, जो पंजाब होते हुए गंगा के मैदान में प्रवेश करने के इच्छुक होते थे, कुरुक्षेत्र के संकीर्ण मैदान को जो २०० मील से भी कम चौड़ा है, पार करने के अतिरिक्त और कोई चारा ही न था। यह विशेषता इस बात को स्पष्ट करती है कि गंगा के मैदान में स्थित राज्यों की सुरक्षा के हेतु निर्णयात्मक युद्ध इस संकीर्ण क्षेत्र के किसी न किसी स्थल पर क्यों होते रहे। तराइन, करनाल तथा पानीपत के रण-क्षेत्र इसी संकीर्ण भू-भाग में स्थित हैं।

३. **दक्षिणी पठार**—गंगा के मैदान में दक्षिण की ओर विस्तृत, विन्ध्याचल तथा सतपुड़ा द्वारा पृथक् किया हुआ एक त्रिभुजाकार भूखण्ड है। यह पश्चिम की ओर पश्चिमी विन्ध्याचल, सह्याद्रि पर्वत श्रेणियाँ, पश्चिमी घाट द्वारा तथा पूर्व की ओर महेन्द्र पर्वत एवं पूर्वी घाट द्वारा घिरा होने के कारण दक्षिण के शेष प्रायद्वीप से पृथक् होता गया है। यह पश्चिम की ओर सहसा ऊँचा उठ जाता है तथा पूर्व की ओर क्रमशः ढालू हो जाता है। भूगर्भ-शास्त्र के अनुसार दक्षिण का प्रायद्वीप हिमालय से अधिक प्राचीन है और सिन्धु-गंगा के मैदान की अपेक्षा तो बहुत ही अधिक पुराना है। भारत का प्राचीनतम भाग यही है। सम्भवतः यह भाग सुदूर-पूर्व तक विस्तृत आस्ट्रेलिया महाद्वीप से संयुक्त था। अरब सागर की ओर प्रवाहित होने वाली नर्मदा व ताप्ती नदियों के अतिरिक्त इस भू-भाग की अन्य समस्त नदियाँ (महानदी, गोदावरी, कृष्णा और उसकी सहायक नदी तुंगभद्रा) पूर्व की ओर बहती हुई बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। उत्तर की सिन्धु, गंगा और उनकी सहायक नदियों के विपरीत दक्षिण की ये नदियाँ यातायात के सुलभ साधन की दृष्टि से अधिक उपयोगी नहीं हैं। दक्षिण पठार के दूसरी ओर तामिल प्रदेश हैं जिनमें मैसूर तथा उससे आगे समुद्रतट तक विस्तृत समतल मैदान सम्मिलित है। इस प्रदेश के निवासियों ने अपनी एक स्वतन्त्र सभ्यता का विकास किया है। मैसूर के

पठार से नीचे उतरकर इस मैदान में किये गये आक्रमण इस क्षेत्र के इतिहास-निर्माण में निर्णायक रहे हैं। पश्चिम की ओर सहसा अधिक ढाल होने से आक्रमणकारियों को अनेक दुष्कर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। फलस्वरूप मैसूर के शासकों की राजनीतिक तथा सामरिक महत्त्वाकांक्षाओं का प्रभाव कोचीन तथा ट्रावनकोर के क्षेत्र पर बहुत कम पड़ा। इसके विपरीत पूर्वी और दक्षिण भाग का ढाल क्रमशः होने और पठार की ओर प्रवेश करने की सुगमता होने के कारण मैसूर ने कर्नाटक के इतिहास पर अपना प्राधान्य रखा।

दक्षिणी पठार के उत्तरी भाग, विन्ध्याचल एवं सतपुड़ा की पर्वत श्रेणियाँ नर्मदा तथा ताप्ती की घाटियाँ व छोटा नागपुर के दक्षिण का सघन दुर्गम वन-खण्ड दक्षिण को उत्तरी भाग से पृथक ही नहीं करते हैं प्रत्युत एक अगम्य और अवरोधक सीमा का निर्माण भी करते हैं जिसे पार करना दुष्कर है। वैदिक तथा महाकाव्य काल में ये पर्वत तथा इनके सघन अभेद्य वन-खण्ड महाकान्तर एवं दण्डकारण्य नाम से विख्यात थे जिन्हें पार करना आर्यों को अत्यन्त दुस्साध्य प्रतीत होता था। इसी से आर्यावर्त और दक्षिणा-पथ नाम के दो विभिन्न देशों का नामकरण हुआ। यद्यपि आगे चलकर अशोक, समुद्रगुप्त, अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक तथा औरंगजेब ने उत्तर तथा दक्षिण को राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँधने के प्रयास किये थे, तथापि यदाकदा ही ये दोनों देश राजनीतिक एवं सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बँधे। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था ने दक्षिण भारत को देश के शेष भाग से पृथक् कर दिया। फलतः प्रारम्भ से ही यहाँ के निवासियों की विचारधारा एवं संस्कृति का विकास अपने ढंग से स्वतन्त्र रूप में हुआ; और इस संस्कृति ने केवल गौण रूप से ही देश के इतिहास में भाग लिया। परन्तु, जबकि अर्वाचीन वैज्ञानिक अन्वेषणों द्वारा प्राकृतिक अवरोधों व यातायात की कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर ली गयी है, उत्तरी और दक्षिणी भारत परस्पर एक-दूसरे के अधिक सन्निकट आ रहे हैं।

४. पूर्वी तथा पश्चिमी घाट—दक्षिण की लम्बी तथा संकीर्ण समभूमि पूर्वी घाट से पश्चिमी घाट के तट तक चली गयी है, जिसके अन्तर्गत गोदावरी, कृष्णा तथा कावेरी की उर्वरा भूमि तथा कोंकन और मलाबार जैसे उन्नतिशील बन्दरगाह हैं। दक्षिणी पठार के पश्चिमी पार्श्व भाग में शृंखलाबद्ध उच्च पर्वत श्रेणियों की दीवार जो अरब सागरीय तट रेखा के समान्तर ७०० मील की लम्बाई तक चली गयी है, पश्चिमी घाट के नाम से विख्यात है और इसी प्रकार पठार के पूर्वी पार्श्व भाग में पूर्वी घाट की निचली पर्वत श्रेणियाँ हैं। पश्चिमी घाट, जो समुद्र तट से ३००० से ६००० फुट तक ऊँचे हैं, ढालू हैं तथा इनके कई समतल भूमि वाले शिखर हैं, जिन्हें अभेद्य और अजेय दुर्गों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। मराठा जाति के इतिहास में इन दुर्गों का

महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। स्थल की संकीर्ण पट्टी, जो कहीं-कहीं २० मील से भी अधिक चौड़ी नहीं है और जो समुद्रतट एवं पश्चिमी घाट के मध्य में विस्तृत है, उर्वरा भूमि से सम्पन्न और धान के पौधों एवं नारियल के वृक्षों से हरी-भरी है। अर्वाचीन यातायात एवं संवाद-वाहन के साधनों के अभाव में पश्चिमी घाट के अनेक स्थानों पर चढ़कर उन्हें पार करना दुष्कर तथा असम्भव था। इस संकीर्ण तटीय प्रदेश के निवासी, मुख्यतः दक्षिणी भाग के, शेष दक्षिणी पठार के निवासियों से युगों तक पृथक् बने रहे। आज भी इनमें से कुछ लोग कतिपय ऐसी प्रथाओं एवं परम्पराओं का अनुकरण करते हैं जो भारत में अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होतीं। इसके विपरीत पश्चिमी तट के सुदूर उत्तर में पश्चिमी घाट पर नर्मदा तथा ताप्ती ने उसके ढाल की दुर्गमता को विदीर्ण कर विस्तीर्ण घाटियों का निर्माण कर दिया है जो उत्तर में जाने के लिए सरल सुलभ मार्गों का काम देती है। इसी क्षेत्र में प्रारम्भिक युग से सभ्य जातियाँ निवास करती रहीं और महान् राज्यों की स्थापना होती रही। इसके अतिरिक्त पश्चिमी घाट के भृगुकच्छ (भड़ौंच) से क्रंगनौर तक के बन्दरगाह पाश्चात्य देशों के साथ होने वाले भारतीय वाणिज्य-व्यवसाय के प्रमुख निर्गम स्थान रहे और मध्य-पूर्व की सभ्यता के घनिष्ठ सम्पर्क में बने रहे।

पूर्वी किनारे पर तटीय प्रदेश जो पूर्वी घाट के नीचे स्थित है अधिक चौड़ा है और पूर्वी घाट स्वयं निचली पहाड़ियों की एक शृंखला से, जिसका ढाल भी कम है और जो दक्षिण के पठार पर पूर्व की ओर प्रवाहित होने वाली नदियों द्वारा अनेक स्थलों पर खण्डित है। इससे दक्षिण पठार के साथ पूर्व तटीय प्रदेश का संसर्ग सहज और सुलभ हो गया। फलतः यहाँ भी प्रसिद्ध वैभवशाली नगर और विशाल साम्राज्यों का निर्माण तथा सभ्य एवं सुसंस्कृत लोगों का विकास हुआ। पूर्वी तट के बन्दरगाहों ने अनादिकाल से पूर्वी जावा, सुमात्रा, ब्रह्मा, श्याम तथा हिन्दचीन से सम्पर्क बनाये रखा और इस प्रकार इन्होंने समस्त पूर्वीय एशिया में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार करने के लिए एक राजमार्ग निर्मित किया। पूर्वी और पश्चिमी समुद्रतट पर उत्तम बन्दरगाहों व कटावों का अभाव होने से भारत निवासी न तो श्रेष्ठ नवीन नाविक बन सके, न श्रेष्ठ शक्तिशाली जलसेना रख सके और न किसी नवीन देश की खोज ही कर सके। उनमें सामुद्रिक-कला के प्रति अत्यधिक रुचि न रही। पर इसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय सामुद्रिक व्यापार नहीं करते थे। दक्षिण भारत के चोल राजाओं की जलशक्ति इतिहास प्रसिद्ध है। पूर्व व पश्चिम के देशों से सदियों तक भारतीय समुद्र-मार्ग से व्यापार करते रहे। सच बात तो यह है कि भारतीयों की सामुद्रिक शक्ति शान्तिपूर्ण व्यापार व संस्कृति के प्रसार तक ही सीमित रही।

भारतीय इतिहास के सामान्य लक्षण

१. **पृथकता**—विश्व के अन्य देशों की भाँति भारतीय इतिहास पर भी भौगोलिक स्थिति का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। प्रत्येक प्रादेशिक विभाग की जिसमें प्रकृति ने देश को विभाजित किया है, अपनी संस्कृति तथा सभ्यता के उदय तथा विकास की स्वतन्त्र कहानी है। परिणामस्वरूप भारत का इतिहास एक शृंखलाबद्ध परिपूर्ण इकाई नहीं है, प्रत्युत विभिन्न भागों के स्वतन्त्र व्यक्तिगत विकास का सामूहिक इतिहास है। जब हम भारत के इतिहास के विषय में कुछ कहते हैं तब साधारणतः हम केवल केन्द्रीय सरकार का इतिहास ले लेते हैं, न कि प्रान्तों का। विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों का ही यह परिणाम है। गहरी सरिताओं और अपने पार्श्व-भागों में मरुस्थल और दुर्गम सघन वन से घिरी टेढ़ी-मेढ़ी पर्वत-मालाओं द्वारा भूमि के विभाजन ने पृथकत्व की भावना प्रेरित की और देश को छोटी-छोटी राजनीतिक तथा सामाजिक इकाइयों में विभक्त कर दिया। स्थानीय परिस्थितियों की असीम विषमताओं ने इन इकाइयों की विभिन्नताओं में और भी वृद्धि कर दी। उत्तर की विस्तृत समभूमि में तथा प्रायद्वीप के आन्तरिक भाग के विस्तीर्ण पठार पर एकता, संगठन और संयोग की भावना विशिष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। हिमालय की अद्भुत विशाल प्राचीर ने जो भारत का संरक्षण करती हुई अन्य देशों से उसे पृथक करती है, स्वयं ही एक स्वतन्त्र संसार का निर्माण किया है तथा सिन्धु-गंगा समशीतोष्ण ऐश्वर्यशाली प्रदेश में एक विशिष्ट सभ्यता के विकास में सहयोग प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त विन्ध्याचल पर्वत उत्तर से दक्षिण को पृथक करता है एवं पश्चिमी तथा पूर्वी घाट देश के एक प्रदेश को दूसरे प्रदेश से पृथक् करते हैं। इस पृथकत्व के परिणामस्वरूप दीर्घकाल तक उत्तर के नरेश व सम्राट दक्षिण पर शासन न कर सके और देश के एक भाग के सामाजिक, धार्मिक रीति-रिवाज, हमारे वसन, आभूषण, प्रकृति, आदत, खान-पान, रहन-सहन दूसरे भाग से विभिन्न रहे।

२. **समागम** (Intercourse)—जैसा ऊपर वर्णित है इस पर्वत के उत्तरी पश्चिमी भाग के संकीर्ण दर्रों और घाटियों में से होकर आक्रमणकारियों ने प्रचण्ड झंझावात के समान इस प्रदेश पर आक्रमण किये। सम्पन्न वैभवशाली बन्दरगाहों वाला दक्षिण का लम्बा समुद्र-तट सुदूर पश्चिम के देशों से आने वाले साहसी यात्रियों व निर्भीक जहाजी लुटेरों के लिए खुला हुआ था। यद्यपि पर्वतीय दर्रे और समुद्रतटीय बन्दरगाह आक्रमण और विजय के प्रवेश-द्वार थे तथापि बाह्य संसार से सम्पर्क के हेतु व भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार के निमित्त ये सुन्दर माध्यम प्रमाणित हुए। इसके अतिरिक्त इन प्रवेश-द्वारों के कारण ही देश में आर्य-सभ्यता, मुस्लिम-सभ्यता एवं यूरोपीय-सभ्यता

का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है और इससे सभ्यताओं का पारस्परिक समन्वय भी सुलभ हुआ ।

३. जलवायु की विभिन्नता—पर्वत, नदियों तथा समुद्रतट की भाँति भारत की जलवायु ने भी भारतीय इतिहास में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। युद्धशील जातियों का प्रादुर्भाव और पोषण शुष्क उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों, महाराष्ट्र तथा राजस्थान की मरुभूमि में हुआ । जहाँ जीविकोपार्जन कठिन परिश्रम द्वारा ही सम्भव था वहाँ जीविकोपार्जन के शेष भाग को अधिक उर्वर एवं सम्पन्न पड़ोसी पर आक्रमण करके ही दूर किया जाता था। इसके विपरीत बंगाल की निचली तथा उर्वरा समभूमि पर शान्तिप्रिय व युद्ध-विरक्त कृषक निवास करते रहे । भारतीय प्रायद्वीप से अधिकांश भाग का भाग्यनिर्णय अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी मे उठी हुई मानसून से होने वाली वर्षा पर निर्भर है । यदि एक ओर उत्तर प्रदेश, बंगाल तथा बिहार में होने वाली घोर वर्षा ने समृद्धि-शाली नगरों के निर्माण में सहयोग दिया, सम्पत्ति में वृद्धि की तथा प्रचुरता से सुखी व शान्तिप्रिय जीवन को प्रोत्साहित किया, तो दूसरी ओर दक्षिणी पठार एवं राजस्थान की अल्प वर्षा ने अगणित दुर्भिक्षों की बाढ़ ला दी तथा भ्रमण-शील, अनियमित सैनिकों एवं लुटेरी सेनाओं के संहारकारी आक्रमणों में वृद्धि की । यह भी ध्यान देने की बात है कि उत्तर-पश्चिमी भारत में जलवायु के निरन्तर परिवर्तन ने देश के इतिहास पर यथेष्ट प्रभाव डाला है । प्रारम्भ में भारत अन्य प्रदेशों से ऐसा पृथक नहीं था जैसा आज है । वर्तमान बलूचिस्तान की शुष्क एवं अनुर्वर भूमि किसी समय कृषि की सुन्दर हरियाली से लहलहाया करती थी तथा पाश्चात्य देशों की सभ्यता से भारतीय सभ्यता को संयुक्त करने वाली शृंखला थी। खोतान, जो कि आज एक वर्षाविहीन मरु-भूमि है, प्रगतिशील सभ्यता का केन्द्र था । सिन्ध, जो नहरों द्वारा सिंचित भाग को छोड़कर, एक शुष्क प्रदेश है, किसी काल में घना बसा हुआ था । यहाँ की जलवायु समशीतोष्ण व स्वास्थ्यवर्द्धक तथा भूमि उर्वरा थी । सिन्धु-घाटी की सभ्यता से सम्बन्धित मुहरों से भी यह प्रमाणित होता है । इन पर सघन वनों में निवास करने वाले गैंडा, हाथी व्याघ्र आदि पशुओं के चित्र अंकित हैं, पर ये पशु वर्तमान सिन्ध में अदृश्य और अप्राप्य हैं । अरबी इतिहासकारों ने सिन्ध को मरुभूमि से परवेष्ठित नखलिस्तान बताया था । यहाँ इतनी यथेष्ट वर्षा होती थी कि एक बार १४वीं शताब्दी में तैमूर के घोड़े मुल्तान में घनघोर वर्षा के कारण लुप्त हो गये थे । स्ट्रेबो (Strabo) ने लिखा है कि ई० पूर्व ३२६ में ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भ में तक्षशिला प्रान्त में प्रचण्ड वर्षा हुई थी जिससे सिकन्दर महान् का आक्रमण अवरुद्ध हो गया था। परन्तु आज इस भू-भाग की भौगोलिक परिस्थिति पर्याप्त मात्रा में परिवर्तित हो गयी है ।

अत्यधिक उष्णता तथा भयंकर शीत ने लोगों को गृह-प्रेमी एवं विलासमय बना दिया। भूमि की उर्वरता ने जीवन-संग्राम की जटिलता और तीव्रता को कम कर दिया। इसी से लोगों को प्रचुर अवकाश उपलब्ध हुआ जिसका उन्होंने जीवन तथा मृत्यु की समस्याओं पर पर्याप्त मनन करने में सदुपयोग किया। फलतः ऐसी विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ जिसने पार्थिवता की अपेक्षा मानसिक प्रवृत्तियों को अधिक महत्त्व दिया और इस प्रकार आध्यात्मिकता का बीजारोपण हुआ जो आज भी भारतीय विचारधारा पर अपना प्रभुत्व जमाये हुए है और जो भारतीयों के समस्त जीवन में ओत-प्रोत है।

४. उत्तरी भारत का प्राधान्य—यद्यपि भूगर्भशास्त्रानुसार दक्षिणी प्रायद्वीप सिन्धु-गंगा के मैदान की अपेक्षा अधिक प्राचीन है, तथापि दक्षिण का राजनीतिक इतिहास उतना प्राचीन नहीं प्रतीत होता। उत्तर भारत का अपनी प्राकृतिक दशा के कारण भारतीय इतिहास में विशेष प्राधान्य रहा। सिन्धु-घाटी में जो पूर्व ऐतिहासिक सभ्यता की खोज हुई है उससे हमें भारतीय इतिहास के आरम्भ के निमित्त उत्तर की ओर झुकना पड़ता है।

५. विस्तार व विभिन्नता से स्वतन्त्र राजतन्त्र का बाहुल्य व जटिल केन्द्रीकरण का अभाव—भारतीय उप-महाद्वीप के विस्तार के कारण हमें यहाँ यूनान की भाँति 'नगर-राज्यों' जैसी व्यवस्था और प्रगति नहीं प्राप्त होती। भारत प्रायः विस्तृत प्रादेशिक राज्यों का देश रहा है जिसमें ग्रामों का ही प्राधान्य होता था। यद्यपि शक्तिशाली महत्त्वाकांक्षी राजाओं ने अनेक बार ऐसे ही साम्राज्यों की स्थापना की जिनके अन्तर्गत समस्त भारत था, तथापि देश की विशालता और यातायात के पर्याप्त साधनों के अभाव में अखण्ड केन्द्रीय राज्य असम्भव ही रहे। जब कभी केन्द्रीय सम्राट् शक्तिहीन और अस्थिर हुआ तभी अधीनस्थ राज्यों के शासकों और सामन्तों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। केन्द्र से सीमा तक भारत के राजनीतिक इतिहास की यही सामान्य दशा रही है।

६. जन-विप्लव का अभाव—यद्यपि प्राचीनकाल में कुछ प्रजातन्त्र जातियों और उनके प्रजातन्त्र राज्यों के अस्तित्व का पता लगा है, तथापि भारत में शासन का रूप अधिकांशतः स्वतन्त्र राज्यतन्त्र ही रहा है। प्रतिनिधि प्रणाली का प्रचलन न होने के कारण समस्त देश के प्रजा-प्रतिनिधियों की विशाल सभा उस समय का कल्पनातीत विषय था। किन्तु स्थानीय सभाओं और समितियों का राजनीतिक क्षेत्र में प्रमुख स्थान था। राजनीतिक दासत्व के अभ्यस्त होने से जनसाधारण केन्द्रीय सरकार की शक्ति की उपेक्षा करते थे। उनके केन्द्रीय शासन-प्रबन्ध की बागडोर किसके हाथ में है, इसका उन्हें वशेष ध्यान न रहता था। उनके कार्य स्थानीय स्वामिभक्ति तथा स्थानीय

हितों द्वारा ही नियन्त्रित होते थे। शासन करने वाले राज्य-वंशों के परिवर्तन से उन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। 'स्वामी परिवर्तन' के अतिरिक्त इसका कोई विशिष्ट अर्थ उनकी दृष्टि में नहीं था। फलतः भारत में जन-विलप्व स्वार्थी अवसरवादियों और महत्त्वकांक्षी राज-प्रतिद्वन्द्वियों के विद्रोह से अपेक्षाकृत बहुत कम हुए हैं।

७. **क्रमिक इतिहास का अभाव**—भारत के इतिहास में क्रमिक इतिहास व उसके विकास का अभाव है; न यह किसी एक केन्द्र से विकसित हुआ है और न यह राष्ट्र का इतिहास कहलाने की क्षमता ही रखता है। परन्तु यह विभिन्न व्यक्तियों, राजवंशों और प्रान्तों का इतिहास है। फलतः उसमें ऐसा निरन्तर निर्दिष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता जो एक जाति से दूसरी जाति तक स्थिर रहा हो।

विभिन्नता में सारभूत अखण्ड एकता

विषमताओं का देश—भारत—भारतीय प्रायद्वीप का आकार विशाल है। रूस को छोड़ समस्त यूरोप के क्षेत्रफल के बराबर इसका क्षेत्रफल है और यह ग्रेट ब्रिटेन के क्षेत्रफल का बीस गुना है। इसकी भौगोलिक स्थिति की चरम विषमता इसके विस्तार से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। भारत की सीमा के अन्तर्गत एक ओर हिमाच्छादित गगनचुम्बी गिरिशिखर हैं, तो दूसरी ओर निचले मैदान हैं जिनका पग-प्रक्षालन समुद्र के ज्वार-भाटे का जल करता है। यदि एक ओर मानव-विहीन शुष्क मरुस्थल है तो दूसरी ओर नदियों की वे उर्वरा घाटियाँ हैं जहाँ प्रति वर्गमील तीन सहस्र से अधिक जनसंख्या है। सभी प्रकार की जलवायु भारत में विद्यमान है—राजस्थान-मरुभूमि की झुलसा देने वाली उष्णता से लेकर हिमालय के हिमाच्छादित शृंगों की अत्यन्त शीतलता; दक्षिण के शुष्क पथरीले पठार की सूखी जलवायु और बंगाल व मलाबार की समृद्धिशाली भूमध्यरेखीय आर्द्र जलवायु यहाँ है। भारत की सम्पूर्ण जनसंख्या समस्त विश्व की जनसंख्या का पंचमांश है। जनसंख्या का यह आधिक्य देश के क्षेत्र की भौगोलिक विशालता के अनुरूप ही है। ई० पू० पंचम शताब्दी में हिरोडोटस ने कहा था कि "जितने राष्ट्रों से हम परिचित हैं उनमें भारत ही ऐसा देश है जिसकी जनसंख्या सबसे अधिक है।" इस देश का यह विशाल जनसमूह विविध जातियों से बना है—जैसे जंगली असभ्य जातियाँ (कोल, भील, संस्थाल आदि), द्रविड़, आर्य, ईरानी, यूनानी, शक, सिथियन, हूण, मंगोल, मुस्लिम आदि। जातियों के समान धर्मों की भी इतनी ही विभिन्नता यहाँ उपलब्ध होती है—हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिक्ख, इस्लाम एवं ईसाई प्रभृति धर्मावलम्बी यहाँ विद्यमान हैं। स्वयं हिन्दू धर्म भी विविध मतों और सम्प्रदायों में विभक्त है, जैसे वैदिक धर्म, पौराणिक धर्म, सनातन धर्म, ब्रह्मसमाज आदि।

लोग विविध जातियों में विभाजित होकर विभिन्न भाषाएँ या बोलियाँ बोलते हैं। सामाजिक रूढ़ियों और विधियों में भी अन्तर है और प्रान्तों में भी परस्पर सांस्कृतिक विभिन्नता है। इस प्रकार भारत विभिन्न धर्मों, जातियों, सम्प्रदायों और संस्कृतियों का अजायबघर है। भारत सामाजिक विकास की प्रत्येक गति-विधि का प्रतिनिधित्व करता है। प्रागैतिहासिक काल के आदि-वासियों से लेकर, जो आज भी आखेट तथा जंगली उपज संग्रह कर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं, अर्वाचीन वैज्ञानिक शिक्षा से परिपूर्ण सम्भ्रान्त नागरिक भी यहाँ विद्यमान हैं।

देश की विशालता, प्राकृतिक अवस्था की अत्यधिक विषमता, विभिन्न सम्प्रदायों का अनुकरण करने वाली, विविध भाषाओं और बोलियों का प्रयोग करने वाली और अगणित जातियों में विभक्त जनसंख्या की अपार असमानता ने ही एक अखिल भारतीय साम्राज्य की स्थापना दुष्कर कर दी। यहाँ कोई राजनीतिक ऐक्य व संगठन नहीं रहा। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, अलाउद्दीन खिलजी, अकबर तथा औरंगजेब जैसे महान प्रतापी और शक्ति-शाली राजा हुए हैं जिन्होंने भारत के अधिकांश भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, फिर भी सुदूर दक्षिणी प्रायद्वीप इनकी सार्वभौमिक सत्ता से स्वतन्त्र ही नहीं रहा, वरन् भारत के अधिकांश भागों पर स्थानीय और प्रादेशिक राजवंश शासन करते रहे। वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी तक भारत ने कभी सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक ऐक्य का आनन्द नहीं प्राप्त किया। इसी कारण जनता में प्रायः लोकप्रिय राष्ट्रीय भावना का सदैव अभाव रहा। एक प्रदेश में होने वाली घटनाओं से दूसरे प्रदेश के लोग प्रभावित नहीं हुए। एक प्रान्त के दुर्दैव व संकट को देखकर पार्श्ववर्ती प्रान्तवासियों के हृदय में सहानु-भूति की भावना जागृत नहीं हुई और ऐसे संकटकाल में जो सब के हेतु कष्ट-दायी था, वे कभी संगठित न हो सके। निस्सन्देह राजनीतिक एकता के अभाव ने भारत में विभिन्न सभ्यताओं और संस्कृतियों का विकास किया, परन्तु साथ ही राजनीतिक प्रगति को भारी क्षति पहुँचायी और भारत में एक राष्ट्र-निर्माण में घोर बाधा उत्पन्न की।

उपरोक्त जाति, धर्म और भाषा की विषम विभिन्नता होने पर भी देश में एक अखण्ड मौलिक एकता है जिसे कोई भी विवेकशील इतिहासकार अस्वीकार नहीं कर सकता। निस्सन्देह कुछ ही वर्षों में आधुनिक शिक्षा और समान शासन-पद्धति ने इस एकता की वृद्धि की है। यह कल्पना करना कि यह एकता आधुनिक घटनाओं का प्रतिफल है और प्राचीन युग में इसका अस्तित्व नहीं था भयंकर भूल होगी। इस एकता के विभिन्न पहलू निम्नलिखित हैं :

१. भौगोलिक एकता—भारत भौगोलिक दृष्टि से एक विशिष्ट प्राकृतिक सीमाओं से सुरक्षित है। यह एक सम्पूर्ण भौगोलिक इकाई है। भारत का देश या 'भारतवर्ष' के नाम से ही यह अखण्ड मौलिक एकता विशिष्ट रूप से प्रमाणित हो जाती है। भौगोलिक एकता प्राकृतिक रूप में नहीं रही, अपितु भारतीयों की बुद्धि और भावनाओं में भी सुदृढ़ हो गयी। महाकाव्यों एवं पुराणों में समस्त देश को 'भारतवर्ष' नाम ही दिया गया है और यहाँ के निवासियों को 'भारती सन्तति' या भरत के उत्तराधिकारी कहा गया है।

"उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रे श्चवदक्षिणम्
वर्ष तद् भारतं नामा भारती यत्र सन्ततिः"
(विष्णुपुराण २, ३—१)

"समुद्र के उत्तर में, हिमालय के दक्षिण में जो (देश) है, वह भारत नाम का खण्ड (कहलाता) है और जहाँ के (लोग) भरत की सन्तान कहलाते हैं।"

वेदान्तियों, राजनीतिज्ञों, दार्शनिकों और कवियों के सम्मुख मौलिक एकता की भावना सदैव रही है। इन्होंने सहस्रों योजन वाले उस देश का वर्णन किया है जो हिमालय से समुद्र तक विस्तृत था और जो एक चक्रवर्ती सम्राट् के साम्राज्य के अन्तर्गत था। इन्होंने उन राजाओं और सम्राटों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है जिन्होंने दक्षिण में कुमारी अन्तरीप तथा पूर्व में ब्रह्मपुत्र की घाटी से पश्चिम में सिन्धु की घाटी तक अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया था। मध्य युग के मुसलमान शासनकाल में भी भारत एक भौगोलिक इकाई माना गया था और फलस्वरूप यहाँ सार्वभौमिक सत्ता स्थापित करने के प्रयत्न किये गये थे। आधुनिक युग में अंग्रेजों के शासनकाल में वर्तमान यातायात के साधनों की सुगमता तथा समान शासन से यह भौगोलिक एकता और भी अधिक सुदृढ़ हो गयी।

२. राजनीतिक एकता—भारतवासी देश की राजनीतिक एकता से भलीभाँति अवगत थे। प्राचीनकाल से राजाओं की मनोकामना दिग्विजय करके चक्रवर्ती सम्राट होने की रहती थी। प्रतापी नरेश अन्य राज्यों को जीतकर एकराज, विराट्, सम्राट, सार्वभौम और महाराजाधिराज आदि उपाधियाँ ग्रहण करते थे। विष्णुगुप्त चाणक्य कौटिल्य के अनुसार चक्रवर्ती का साम्राज्य हिमालय से समुद्र तक विस्तृत होना चाहिए। चन्द्रगुप्त, अशोक तथा समुद्रगुप्त के समय देश का शासन-संचालन केन्द्र से होता था और देश में राजनीतिक एकता विद्यमान थी। मध्य युग में अलाउद्दीन और औरंगजेब ने समूचे भारत को राजनीतिक दृष्टि से एक किया। केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों के बने रहने पर भी भारत की राजनीतिक एकता के आदर्श विद्यमान

रहे और उन्हें कार्यान्वित करने के प्रयत्न जारी रहे। ब्रिटिश शासनकाल में तो यह राजनीतिक एकता पूर्णतया स्थापित हो गयी।

३. **सांस्कृतिक एकता**—भारत में सांस्कृतिक एकता प्राचीनकाल से रही है। विभिन्न धर्मावलम्बियों व जातियों के होने पर भी उनकी संस्कृति भारतीय संस्कृति का एक अंग बनकर रही है। समूचे देश के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का मौलिक आधार एकसा है। सर्वत्र जाति-भेद, वर्ण-व्यवस्था, संस्कार, अनुष्ठान आदि समान रूप से प्रचलित हैं। प्रोफेसर हुमायूँ कबीर ने ठीक ही कहा है कि 'भारतीय संस्कृति की कहानी, एकता और समाधानों का समन्वय है तथा प्राचीन परम्पराओं और नवीन मानों के पूर्ण संयोग की उन्नति की कहानी है। यह प्राचीनकाल में रही है और जब तक यह विश्व रहेगा तब तक सदैव रहेगी। दूसरी संस्कृतियाँ नष्ट हो गयीं परन्तु भारतीय संस्कृति व इसकी एकता अमर है।"

४. **धार्मिक एकता**—भारत के विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय भारत के मूल प्राचीन आध्यात्मिक तत्त्वों और सिद्धान्तों से ही निकले हैं। सभी के दार्शनिक और नैतिक सिद्धान्त समान हैं। एकेश्वरवाद, आत्मा का अमरत्व, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष, निर्वाण, भक्ति आदि सभी धर्मों की समान निधि है। धार्मिक संस्कार और कर्मकाण्ड में भी समानता है। मध्य युग और अर्वाचीन युग में धार्मिक सुधारकों ने समस्त धर्मों के मूल सिद्धान्तों और शाश्वत सत्य पर खूब प्रकाश डाला। विभिन्न सम्प्रदायों और धर्मों में आन्तरिक समानता है। उनके आदर्श पुरुष मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और श्रीकृष्ण एकसे हैं। वे समान रूप से उपनिषद्, वेद, गीता, रामायण, महाभारत, धर्मशास्त्र, पुराण आदि के प्रति श्रद्धा रखते हैं। गौ, गंगा, गायत्री सर्वत्र पवित्र मानी जाती हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, पार्वती आदि पुराण प्रतिपादित देवी-देवताओं की पूजा सर्वत्र होती है। वेद तथा पुराणों का प्राचीन धर्म आज पर्यन्त अपार जनता को सुख-सान्त्वना का सन्देश सुनाता आ रहा है। हिमालय के हिमाच्छादित शृंगों से लेकर कृष्णा तथा कावेरी के समतल डेल्टाओं में शिव और विष्णु के मन्दिरों के शिखर प्राचीनकाल से आकाश से बातें करते आ रहे हैं। हिन्दुओं के अधिक पवित्रतम तीर्थस्थान उत्तर में बद्रीनारायण, पश्चिम में द्वारका, दक्षिण में रामेश्वर और पूर्व में जगन्नाथ हैं। इनके अन्तर्गत प्रायः समस्त देश आ जाता है। ये भारत की सांस्कृतिक एकता और अखण्डता के सबल प्रमाण हैं। धार्मिक ग्रन्थों में वहाँ जाकर पवित्र दर्शन करना तथा उपदेश ग्रहण करना प्रत्येक हिन्दू के हेतु पवित्र धार्मिक कर्तव्य बतलाया गया है। इसी प्रकार मोक्ष प्रदान करने वाली पवित्रतम पुरियाँ, मथुरा, अयोध्या, काशी, गया, कांची, अवन्ती आदि समस्त देश में बिखरी हुई हैं। हिन्दुओं की दैनिक

प्रार्थना[1] में देश के उत्तरी और दक्षिणी भाग में बहने वाली सिन्धु, गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, कावेरी आदि नदियों की गणना होती है और उन्हें पूज्य व पवित्र माना जाता है। इससे देश की विशालता की ओर ही ध्यान आकृष्ट नहीं होता अपितु यहाँ के निवासियों की अखण्ड मौलिक एकता का भी आभास मिलता है।

५. **भाषा की एकता**—ईसा से पूर्व तृतीय शताब्दी में इस विशाल देश की एक ही राष्ट्रभाषा प्राकृत थी जो अशोक का सन्देश उसकी प्रजा के निम्नस्थ श्रेणी के व्यक्ति के द्वार तक ले जाने में भी समर्थ हुई थी। कतिपय शताब्दी पश्चात् संस्कृत नामक एक अन्य भाषा ने इस उप-महाद्वीप के दूरस्थ कोनों में भी अपना घर कर लिया था। समस्त धर्मों का प्रचार संस्कृत व पाली भाषा के द्वारा ही हुआ। संस्कृत के ग्रन्थ रुचिपूर्वक आज भी समस्त देश में पढ़े जाते हैं। रामायण और महाभारत नामक महाकाव्य तामिल तथा कनाड़ी प्रदेशों के राजदरबारों में उतनी ही श्रद्धा और भक्ति के साथ पढ़े जाते थे जितने कि वे पश्चिमी पंजाब में तक्षशिला की विद्वन्मण्डली एवं गंगा के ऊपरी घाटी में स्थित नैमिषारण्य में। प्राचीन युग में समस्त देश के विद्वत् समाज को एक सूत्र में पिरोने का कार्य प्रथम संस्कृत, फिर प्राकृत, बाद में अंग्रेजी और आज हिन्दी से पूर्ण हो रहा है। देश की विभिन्न भाषाओं हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला आदि का मूल स्रोत संस्कृत ही रही है। दक्षिण की तामिल, तैलगू भाषाएँ भी संस्कृत से अत्यधिक प्रभावित हुई हैं। इसके अतिरिक्त भारत के समस्त धर्मों व सम्प्रदायों की भाषाओं का स्रोत भी संस्कृत ही रही है।

६. **भारत के निवासियों की एकता**—यद्यपि भारत में विभिन्न जातियों—आर्य, द्रविड़, शक, सिथियन, हूण, तुर्क, पठान, मंगोल आदि—का प्रवेश हुआ, परन्तु हिन्दू समाज में ये अब इतनी घुल-मिल गयी हैं कि उनका अस्तित्व ही लुप्त हो गया। इसके अतिरिक्त बहुसंख्यक ईसाई व मुसलमान जो आज भारत में विद्यमान हैं, प्राचीन हिन्दुओं की ही सन्तान हैं। विधर्मियों ने बलपूर्वक उनका धर्म-परिवर्तन किया। यही कारण है कि हिन्दुओं, मुसलमानों और ईसाइयों के अनेक रीति-रिवाज, उत्सव, मेले, भाषा, वसन आदि में समानता है। अहिन्दू जातियाँ हिन्दू वातावरण से पूर्णतः अप्रभावित नहीं हैं। विरोधी सम्प्रदायों के पवित्र साधुओं पुण्यात्माओं और पैगम्बरों के परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क और मित्रता

---

[1] (क) गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन सन्निधिकुरु॥

(ख) अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिका॥

के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। अलबरूनी के समय से ही भारत में इस्लाम के अनुकरण करने वाले अनेक व्यक्तियों ने उनके हिन्दू-बन्धुओं के विज्ञान, दर्शन तथा धर्म में परम गहन रुचि दिखाई। आज भी भारत के ग्रामों में अन्य धर्मावलम्बी हिन्दुओं के रीति-रिवाजों और रूढ़ियों को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखते। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीयता की नवीन विचारधाराओं के परिणामस्वरूप देश की एक ही शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत लोगों ने नागरिकता प्राप्त की है। इससे पारस्परिक जातीय भेद-भाव विलुप्त हो गया और राष्ट्रीय तथा मानवीय भावना का उदय हुआ।

इस प्रकार हिन्दुओं की यह सांस्कृतिक एकता और सजातीयता उनके सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक बातों, विधियों, रीति-रिवाजों, उत्सवों और जीवन की प्रणालियों में जो उत्तर व दक्षिण दोनों में एकसी हैं, झलकती है। दूसरे शब्दों में, भारत में सांस्कृतिक एकता मूलभूत एकता थी और आज भी है। भीषण विभिन्नता और विषम असमानता होते हुए भी भारत स्वयं 'समष्टि में व्यष्टि' के सिद्धान्त का एक ज्वलन्त उदाहरण है। इस विभिन्नता में भी एकता है। यह एकता भौगोलिक पृथकत्व और राजनीतिक आधिपत्य से उत्पन्न हुई एकता की अपेक्षा कहीं अधिक गहन और महत्त्वपूर्ण है। यह वह एकता है जो रक्त, वर्ण, भाषा, वेश-भूषा, आचार-विचार, धर्म, सम्प्रदाय आदि के भेद-भावों का प्रतिरोध कर भारत को सर्वश्रेष्ठ उन्नत राष्ट्र बनाती है।

मौलिक व सांस्कृतिक एकता के साधन—उपरोक्त एकता उत्पन्न करने में निम्नलिखित साधनों ने प्रमुख भाग लिया :

१. **ऋषि-मुनि, सन्त, धर्म-प्रचारक, यात्री एवं विद्यार्थी**—ऋषि-मुनियों और तपस्वियों ने देश के विभिन्न स्थलों पर अपने आश्रम और तपोवन स्थापित किये और इन केन्द्रों में लोगों को हिन्दू संस्कृति व सभ्यता का पाठ पढ़ाया। धार्मिक सन्तों और महापुरुषों ने सांस्कृतिक एकता की वृद्धि करने में अमूल्य योग दिया। यदि शंकराचार्य ने कन्याकुमारी से हिमालय के शृंगों तक अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया, तो चैतन्य ने बंगाल से वृन्दावन तथा मीरा ने समस्त भारत को कृष्ण-भक्ति की पवित्र मन्दाकिनी से आप्लावित किया; नानक ने देश के एक छोर से दूसरे छोर तक घूम-घूमकर अपना उपदेश दिया और साधु-मुनि और परिव्राजक आज भी घूम-घूमकर धर्म के साथ-साथ संस्कृति का प्रसार कर रहे हैं। कन्याकुमारी से पितरों की अस्थियों को प्रवाहित करने के लिए हरिद्वार आने वाले दक्षिणी भारतवासियों एवं गंगा का जल रामेश्वरम् के मन्दिर में चढ़ाने वाले उत्तर भारत के निवासियों के पारस्परिक सहवास व सम्पर्क से सांस्कृतिक एकता दृढ़ होती रही है। तक्षशिला, बनारस, मथुरा, काँची, नालन्दा और अवन्तिका के विश्वविद्यालयों और तीर्थस्थानों के अन्य शिक्षा केन्द्रों में

शिक्षा पाने वाले विभिन्न प्रान्तों के विद्यार्थियों ने भारत को सांस्कृतिक एकता के विकास में अनुपम सहायता दी।

२. दिग्विजयी सम्राट् व समान शासन—महत्त्वाकांक्षी दिग्विजयी चक्रवर्ती सम्राटों ने भारत में अपना एकछत्र राज्य स्थापित कर देश के विशाल भू-भाग को एक शासन-सूत्र के अन्तर्गत कर दिया। इस एक शासन-पद्धति से मौलिक एकता के प्रसार में सहायता मिली। चन्द्रगुप्त, अशोक, समुद्रगुप्त, अलाउद्दीन, अकबर, औरंगजेब आदि इसके उदाहरण हैं।

३. भाषा व धर्म—प्राचीन युग से संस्कृत व प्राकृत और आधुनिक युग में अंग्रेजी व हिन्दी ने मौलिक एकता की वृद्धि की है। इसी प्रकार विभिन्न सम्प्रदायों व धर्मों के मूल स्रोत हिन्दू धर्म ने भी अपने प्रसार से एकता की प्रवृत्ति को पुष्ट किया है।

४. आधुनिक यातायात के साधन—रेल, तार, डाक, सड़कें, वायुयान, रेडियो आदि ने स्थान व समय की दूरी का अन्त कर एकता को अधिक दृढ़ किया है।

५. समान ऐतिहासिक स्मृतियाँ और राष्ट्रीय भावना—प्राचीन व अर्वाचीन युग में भारतीयों की ऐतिहासिक स्मृतियाँ समान रही हैं। उनका स्वतन्त्रता संग्राम व राष्ट्रीय भावनाएँ भी समान बनी रही है।

इन्हीं साधनों से भारत में मौलिक एकता विद्यमान रही। सर हर्बर्ट रिजले ने ठीक ही कहा है कि "भारत में दर्शक को भौतिक क्षेत्र में और सामाजिक रूप में भाषा, आचार और धर्म में जो विविधता दृष्टिगोचर होती है, उसकी तह में हिमालय से कन्याकुमारी तक एक आन्तरिक एकता है।"

प्रश्नावली

१. सर जदुनाथ सरकार के कथन की व्याख्या कीजिए कि संसार के प्रत्येक देश की भाँति भारत के इतिहास पर भी भौगोलिक तत्त्वों का गहरा प्रभाव पड़ा है।

२. भारत के राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक विकास पर भौगोलिक तत्त्वों का किस प्रकार और किस सीमा तक प्रभाव पड़ा है? ऐतिहासिक घटनाओं के उदाहरण सहित उत्तर लिखिए।

३. भारत के विविध प्रान्तों की प्राकृतिक विभिन्नता उसके एक देश होने के विपरीत एक महाद्वीप की द्योतक है। व्याख्या कीजिए।

४. "भारत में वंश, वर्ण, भाषा, वेश-भूषा व रीति-रिवाज सम्बन्धी अनगिनती विभिन्नताओं में भी एक अखण्ड सारभूत एकता है" (व्ही० ए० स्मिथ)। इस कथन की व्याख्या कीजिए।

५. "प्राकृतिक, सामाजिक, भाषा, रीति-रिवाज व धर्म सम्बन्धी विभिन्नताओं के अन्तर्गत भी, जो भारत पर दृष्टिपात करने वाले को खटकती हैं,

हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक सामाजिक जीवन में एकरूपता सहज में ही दृष्टिगोचर होती है" (सर हर्बर्ट रिजले)। इस कथन को समझाइए।

६. भारत की एकता व पृथकता में कौन-कौनसे तत्त्व सहायक हैं, अलग-अलग बताइए।

७. उन्नीसवीं शताब्दी तक, भौगोलिक तत्त्वों ने भारत के इतिहास को तीन पूर्ण रूप से पृथक देशों में विभाजित कर दिया था। विन्सेंट स्मिथ के इस कथन को समझाइए।

८. भारत के सांस्कृतिक इतिहास की ज्वलन्त बातों का उल्लेख कीजिए।

९. किस प्रकार प्राचीन भारतीय संस्कृति ने राष्ट्रीय एकता और देशभक्ति की भावना प्रोत्साहित की ?

२
प्रागैतिहासिक युग

"मनुष्य औजार का प्रयोग करने वाला प्राणी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन औजारों के उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग द्वारा प्रकृति पर प्राप्त विजय में मानव-संस्कृति का विकास निहित है और इससे जीवन विशेष सुखमय एवं आनन्दमय हो गया है। औजार-रहित परिस्थिति से लेकर वर्तमान कालीन जटिल यंत्र-युग तक के क्रमिक विकास की कहानी ही वस्तुतः मानव का पार्थिव इतिहास है।" अतएव इतिहास मनुष्य की सफलता और सिद्धि का लिपि-बद्ध संग्रह है।

अतः भारत का इतिहास उस युग के विवरण से प्रारम्भ होना चाहिए जबकि मानव प्रथम बार इस देश में पदार्पण कर इसकी भूमि पर बस गया। परन्तु यथार्थ इतिहास उन सत्य घटनाओं का विवेचन करता है जो किसी न किसी प्रमाण पर अवलम्बित हों। अतएव हम किसी ऐसी जाति का इतिहास जानने में असमर्थ हैं जिसने अपना कोई लिखित प्रमाण नहीं छोड़ा हो अथवा जिसके अस्तित्व के प्रमाणों की खोज अभी तक न हो सकी हो। वर्तमान स्थिति में ऐसे लोगों के इतिहास के विवरण को छोड़ा जा सकता है। हम भारत के उन्हीं निवासियों पर विचार करेंगे जिनके अस्तित्व का ज्ञान हमें उन्हीं के छोड़े हुए चिह्नों द्वारा प्राप्त होता है। इतिहास प्रारम्भ करने के लिए, इन अवशिष्ट चिह्नों में प्रधानतया वे भद्दे और कुरूप यन्त्र सम्मिलित हैं जिनका वे लोग अपने दैनिक जीवन में उपयोग करते थे। इन औजारों के आकार-प्रकार के अनुसार भारत के निवासी दो श्रेणियों में विभक्त कर दिये गये हैं। प्रथम, पूर्व-पाषाण-युग के मानव और द्वितीय, उत्तर-पाषाण-युग के मानव।

पूर्व-प्रस्तर-युग या पूर्व-पाषाण-युग (Palaeolithic Age)

पूर्व-प्रस्तर-युग में भद्दे पाषाण के औजार काम में लाये जाते थे, जैसे हथौड़े, वन्य पशुओं का आखेट करने तथा काटने और छेद करने के औजार। ये एक विशेष प्रकार के कठोर पत्थर के होते थे जिसे 'क्वोर्टजाइट' कहते हैं। ये मध्य भारत के कुछ स्थानों में और विशेषकर दक्षिण में प्राप्त हुए हैं। ये ही वे अवशिष्ट चिह्न हैं जो भारत के आदिवासी छोड़ गये हैं। ये लोग धातुओं से पूर्णतः अनभिज्ञ थे और इनमें से अधिकांश लोगों के निवास के लिए निश्चित

घर नहीं थे, यद्यपि कतिपय लोगों ने सम्भवतः पेड़ों की टहनियों और पत्तियों से झोपड़ियाँ बना ली थीं। वे निरन्तर वनैले पशुओं जैसे व्याघ्र, सिंह, हाथी, गैंडे आदि से भयभीत होकर रहते थे। उन्हें कृषि का कोई ज्ञान नहीं था। वे जंगली पशुओं का मांस तथा वन के कन्दमूल फल पर जीवन निर्वाह करते थे। सम्भवतः वे अग्नि का प्रयोग भी नहीं जानते थे।

उत्तर-प्रस्तर-युग या उत्तर-पाषाण-युग (Neolithic Age)

प्रगतिशीलता मनुष्य की स्वाभाविक विशिष्टता है जो पशुओं से उसका विभेद करती है। परिणामस्वरूप सहस्रों वर्षों के पश्चात् मानव ने उत्तर-प्रस्तर-युग में प्रवेश किया। इस युग में मानव प्रधानतः पाषाण के औजारों पर ही निर्भर थे और स्वर्ण के अतिरिक्त अन्य धातुओं से अनभिज्ञ थे। परन्तु इनके औजार पूर्व-प्रस्तर-युग के मानवों के औजारों से सर्वथा भिन्न थे, क्योंकि प्रथम तो वह क्वोर्टजाइट नामक पत्थर की अपेक्षा अन्य पाषाण का उपयोग करने लगे थे और द्वितीय, ये औजार केवल काटकर ही नहीं बनाये जाते थे, वरन् अधिकांश में ये परिष्कृत, सुघर, पालिश किये हुए तथा अन्य कठिन धातु से घिसकर नुकीले व सुन्दर बनाये जाते थे। इनकी रचना सुन्दर व सुरुचिपूर्ण होती थी तथा ये विभिन्न कार्यों के हेतु विविध आकृति के होते थे। ऐसे औजार तथा बरतन बहुसंख्यक मात्रा में बंगाल, छोटा नागपुर, गुजरात, दक्षिण और अन्य अनेक स्थानों में प्राप्त हुए हैं।

इस युग की सभ्यता प्रगति के चिह्न स्पष्ट रूप से प्रकट करती है। उत्तर-प्रस्तर-युगीन मानव कृषि-कार्य करते थे और अन्न तथा फल-फूल उपजाते थे। वे बैल, भेड़ आदि जानवरों को पालते थे। बाँस या लकड़ी के दो टुकड़ों को परस्पर रगड़कर अग्नि उत्पन्न करने की कला से भी वे परिचित थे। ये मिट्टी के बरतन पहले तो हाथों से और बाद में कुम्हार के चाक से बनाते थे। ये कन्दराओं में निवास करते थे और उनकी दीवारों को आखेट तथा नृत्य के चित्रों द्वारा अलंकृत करते थे। मिट्टी के बरतनों को रँगते भी थे और उन्हें सुन्दर तथा शोभनीय बनाते थे। नौकाएँ भी बनाते थे और नाविक-कला से भी अभिज्ञ थे। सूत और ऊन को कातकर उनके कपड़े बुनते थे। वे अपने मृतकों को गाड़ते थे और उन पर समाधि बनाते थे। कभी-कभी वे मृत शरीर को एक या इससे विशाल पात्र या कलश में रखते थे। इनकी समाधियों को 'डोलमेन्स' कहते थे जो तीन या तीन से अधिक शिलाओं को वृत्ताकार में खड़ा करके ऊपर पाषाण की छत डालकर बनायी जाती थीं।

धातु-युग

क्रमशः मनुष्य धातुओं का प्रयोग सीख गया। प्रथम तो स्वर्ण की चकाचौंध ने उसे अपनी ओर निश्चय ही आकृष्ट किया, पर आगे चलकर उसने स्वर्ण

को छोड़ दिया और ताम्र जैसी कठोर धातु की ओर विशेष अभिरुचि दिखलाई; लेकिन भारत के विभिन्न भागों में धातुओं के उपयोग में एकरूपता नहीं थी। उत्तरी भारत में पाषाण का स्थान ताँबे ने ले लिया और औजार तथा शस्त्र बनाने के हेतु ताँबे का ही उपयोग होने लगा। समस्त उत्तरी भारत में और विशेषकर उत्तर प्रदेश में ताँबे की वस्तुओं के अवशेष प्राप्त हुए हैं। ये वस्तुएँ अनेक प्रकार की हैं जैसे कुल्हाड़ी, तलवार, भाले के अग्र भाग, काटने-छाँटने के औजार तथा आभूषण आदि। शताब्दियों बाद लोहा प्रयोग में लाया जाने लगा और शनैः शनैः इसने ताँबे का स्थान ले लिया। मानव इतिहास के विकास में यह अगला कदम था। इस प्रकार उत्तरी भारत में हम ताम्र-युग और प्रारम्भिक लौह-युग में भेद कर सकते हैं। सम्भव है कि लोहे का प्रयोग सर्वप्रथम आर्यों ने ही प्रारम्भ किया हो। दक्षिण भारत में पाषाण-युग के पश्चात् लौह-युग शीघ्र ही प्रारम्भ हुआ, क्योंकि वहाँ मध्यवर्ती ताम्र-युग के प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

ताम्र और लौह-युग के साथ ही हम ऐतिहासिक युग की सीमा में प्रवेश करते हैं। सामान्यतः ऐसी धारणा है कि ऋग्वेद की रचना के समय लौह-युग प्रारम्भ हो चुका था। परन्तु हमारे सम्मुख ताम्र-युग की सभ्यता का एक ज्वलन्त उदाहरण है। यह सभ्यता सिन्धु की घाटी में विकसित हुई थी और इसका प्रसार निकटवर्ती भागों में दूर तक पर्याप्त रूप से हुआ था। यह सिन्धु-घाटी की सभ्यता के नाम से प्रख्यात है। अपने महत्त्व के कारण यह विशिष्ट रूप से वर्णनीय है। इसका विवेचन करने के पूर्व भारत की जातियों के विषय में कतिपय शब्द लिखना अपेक्षित है।

जातियाँ (Races)

निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि कब और कहाँ से मानव ने भारत में पदार्पण किया और बस गया। भूगर्भशास्त्रियों का कथन है कि सहस्रों वर्ष पूर्व मानव भारत में दीख पड़ा था और उस समय दक्षिण भारत एक ओर अफ्रीका से और सम्भवतः दूसरी ओर आस्ट्रेलिया से एक स्थल खण्ड द्वारा जुड़ा हुआ था। यह संयोजन सहस्रों वर्षों तक रहा, तत्पश्चात् मध्यवर्ती स्थल के समुद्र में मग्न हो जाने पर विलुप्त हो गया। आज भी अस्थियों तथा पौधों के अवशिष्ट चिह्न दक्षिण भारत के पठार और दक्षिणी-पूर्वी अफ्रीका में समान रूप से प्राप्त हुए हैं। समुद्र की सतह के नीचे आज भी भारत व अफ्रीका को संयुक्त करने वाली पर्वत श्रेणी विद्यमान है।

यह सर्वथा अनिश्चित है कि ये मनुष्य जो भारत में सर्वप्रथम बस गये थे इसी देश के मूल निवासी थे या आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका से आये थे। परन्तु एक बात स्पष्ट है कि भारत में मानव के प्रथम अवशिष्ट चिह्न दक्षिण भारत

में मिलते हैं। भद्दे और भोंड़े रक्त-वर्ण कठोर पत्थर के औजार तथा शस्त्रास्त्र जो प्रस्तर-युग के मानव से सम्बन्धित हैं, दक्षिण भारत में उत्खनन के परिणाम-स्वरूप प्राप्त हुए हैं। जब उत्तरी भारत भौतिक अस्तित्व के रूप में आ गया तब मानव भी वहाँ निवास करने लगे और शताब्दियों के पश्चात् अनेक मनुष्यों ने—द्रविड़, आर्य, ईरानी, यूनानी, शक, यूची, हूण, मुसलमान और यूरोप-वासी—भारत में एक के पश्चात् एक ने प्रवेश किया। परिणामस्वरूप भारत के लोग किसी एक ही जाति के वंशज नहीं हैं, वरन् विभिन्न जातियों के वंशजों का सम्मिश्रण हैं। ये जातियाँ परस्पर इतनी घुल-मिल गयी हैं कि यह कहना दुष्कर है कि एक प्रकार की जाति का आरम्भ कहाँ होता है और दूसरी का अन्त कहाँ। यही कारण है कि भारत को 'जातियों का अजायबघर' कहा गया है। यदि भारत के लोगों का शरीर और भाषा के अनुसार परीक्षण किया जाय तो जातियों के निम्नलिखित भेद सरलता से किये जा सकते हैं।

१. **आदिम या जंगली जातियाँ**—कोल, भील, गोंड और संथाल इस समुदाय से सम्बन्धित हैं। इनका कद छोटा, नाक चपटी, केश मोटे और श्यामवर्ण शरीर होता है। आजकल कोल और संथाल छोटा नागपुर और उड़ीसा के प्रदेशों में निवास करते हैं। भील राजस्थान, विन्ध्याचल की श्रेणियों और मध्य भारत में एवं गोंड मध्य प्रदेश के कुछ भागों में रहते हैं। ये एक विशिष्ट भाषा बोलते हैं जिसके चिह्न पंजाब से लेकर मद्रास तक सारे भारत में बिखरे हुए पाये जाते हैं। इनकी भाषा पालीनीशिया एवं मेडागास्कर के निवासियों की भाषा से मिलती-जुलती है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय यह समस्त प्रदेश एक विशाल विस्तृत जाति द्वारा बसा हुआ होगा जो बाद में अनेक श्रेणियों में विभक्त हो गयीं। ये जातियाँ आज भी असभ्य हैं। कतिपय विद्वानों का मत है कि ये ही जातियाँ भारत के मूल निवासी हैं। परन्तु निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ये ही लोग भारत के मूल निवासी थे अथवा ये प्राचीन युग में शताब्दियों पूर्व यहाँ विदेशों से आये थे। फिर भी ऐसा अनुमान किया जाता है किसी समय ये एक विस्तृत भू-भाग पर बसे हुए थे और अधिक शक्तिशाली देशान्तरवासियों द्वारा जो इस समस्त देश में सर्वत्र फैल गये थे, वनों और घाटियों के सुरक्षित स्थानों में धीरे-धीरे ढकेल दिये गये। ये देशान्तरवासी द्रविड़ लोग थे।

२. **मंगोल जाति**—भारत में मंगोल विशेषताओं से युक्त मनुष्य भी हैं। इनका कद छोटा, वर्ण पीला, नाक छोटी, मुख चपटा, गालों की अस्थियाँ उठी हुई और दाढ़ी का अभाव इत्यादि लक्षण पाये जाते हैं। ये उसी जाति से सम्बन्धित हैं जिससे तिब्बती, चीनी, जापानी, श्यामी और बर्मी लोग हैं। तिब्बत और मंगोलिया इन जातियों का मूल निवासस्थान माना जाता है।

इन्होंने भारत में उत्तर-पूर्व के पर्वतीय दर्रों में से प्रवेश किया और कालान्तर में आर्यों ने इन्हें अपने में सम्मिलित कर लिया। आजकल मंगोल जाति के मनुष्य सिकिम, अलमोड़ा, गढ़वाल, भूटान और आसाम की पहाड़ियों में रहते हैं। भारत में गुरखा, भूटिया, कासी मंगोल जाति के उदाहरण हैं।

३. **द्रविड़**—आर्यों से पूर्व जातियों में द्रविड़ ही सबसे अधिक महत्त्वशाली थे। अभाग्यवश इनका मूल निवासस्थान अभी भी विवाद-ग्रस्त है। कुछ विद्वानों का मत है कि ये कोल और भील लोगों के समान ही पाषाण और धातु-युग के मानवों के वंशज हैं और भारत के प्राचीनतम मूल निवासियों में हैं। इसके विपरीत कतिपय विद्वानों का मत है कि द्रविड़ लोग कोल और भीलों की अपेक्षा अधिक विवेकशील और प्रगतिशील थे। विद्वानों के एक समुदाय का विश्वास है कि ये दक्षिण में जलमग्न स्थल से, जो भारत व अफ्रीका को जोड़ता था, आये थे। अतएव उनका उद्गम स्थान अफ्रीका की नीग्रो जाति से सम्बन्धित है। पर यह अधिक पुष्ट और आकर्षक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि नीग्रो और द्रविड़ दोनों जातियों में जमीन-आसमान का अन्तर है। विद्वानों का एक दूसरा समुदाय द्रविड़ों को सिन्धु-घाटी की सभ्यता के लोगों से, जिनके अवशेष मोहनजोदड़ो और हरप्पा में उपलब्ध हुए हैं, सम्बन्धित करता है। परन्तु विशेष प्रचलित धारणा यह है कि अधिकांश आक्रमणकारियों देशान्तर-वासियों के समान ये भी मेक्रन समुद्रतट से या उत्तरी-पश्चिमी पर्वतीय दर्रों से होकर भारत में आये। इस मत के पक्ष में यह प्रमाण है कि दक्षिण बलूचिस्तान के किरथर पर्वत श्रेणियों में रहने वाले 'ब्राहूई' लोगों की बोली और द्रविड़ लोगों की भाषा में बहुत समानता है। सम्भव है भारत में आते समय द्रविड़ों का एक दल मार्ग में बलूचिस्तान में ही रह गया हो, जिसके वंशज या पड़ोसी आज भी वह बोली बोलते हैं। ब्राहूई लोगों में न तो द्रविड़ जाति की विशिष्टता ही है और न उनकी प्रथाएँ व रूढ़ियाँ ही। परन्तु यह निश्चित है कि द्रविड़ उनके पूर्व की प्राचीन जातियों से सर्वथा विभिन्न थे और आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व इन्होंने दूसरों की अपेक्षा सभ्यता में विशेष उन्नति की थी। यद्यपि आजकल द्रविड़ों की जनसंख्या अधिकांशतः दक्षिण भारत में ही सीमित है, तथापि एक समय में ये समस्त उत्तरी भारत में विस्तृत थे, जहाँ इन्होंने अपनी प्रथाओं एवं भाषा की अमिट छाप रखी है। उत्तरी भारत की भाषाओं का मूलस्रोत यद्यपि आर्य भाषा है, तथापि उनके नीचे द्रविड़ भाषा की तह पायी जाती है। उत्तर प्रदेश और बंगाल के निवासियों की शारीरिक रचनाओं में आज भी द्रविड़ जाति के अवशिष्ट चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं।

उनके विषय में यह कहा जाता है कि वे बर्बर होने की अपेक्षा बहुत ही विनम्र और सादे थे। वे शान्तिप्रिय थे और कृषि उनका प्रमुख व्यवसाय

था। वे शस्त्रास्त्र बनाने की कला से परिचित थे, मिट्टी के बरतन बनाने में वे कुशल तथा स्वर्ण के आभूषण बनाने में निपुण थे। वे असभ्य और बर्बर की अवस्था से कहीं उच्च स्तर पर थे। भारत में इन्होंने विशाल नगर और महान् साम्राज्य स्थापित किये थे एवं प्राचीन मिस्र, फिलिस्तीन, ईरान, मैसोपोटामिया, वेबीलोन और एशिया माइनर से अत्यधिक व्यापार-वाणिज्य करते थे। उनके निर्यात की प्रमुख वस्तुएँ हाथीदाँत, स्वर्ण, रत्न, चावल, इमारती लकड़ी, बन्दर और मोर होते थे। उनकी भाषाएँ विशेष उन्नत थीं और आर्यों की भाषा संस्कृत से बहुत ही भिन्न थीं। दक्षिण भारत की भाषाएँ तामिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम और तुलु द्रविड़ भाषाओं के समुदाय की हैं। इन सब में तामिल बहुत ही सभ्य एवं सुसंस्कृत द्रविड़ों की भाषा थी। यह बड़ी सम्पन्न है। इसका स्वयं अपना सुन्दर प्रचुर साहित्य है जो संस्कृत में पूर्णरूपेण स्वतन्त्र है। तामिल भाषा के प्रशंसनीय काव्य और ग्रन्थ अन्य किसी भी भाषा के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों से कम नहीं हैं।

द्रविड़ों का समाज मातृसत्तात्मक था। वे मातृ-शासन एवं मातृ-अधिकार को मानते थे और माताएँ अपने बच्चों सहित समाज का केन्द्र थीं। प्रत्येक मनुष्य अपनी माता के वर्ग का सदस्य होता था एवं उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी भी होता था। न तो वह अपने पिता के वर्ग में सम्मिलित होता था और न उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी ही। ग्राम में पुरुष और स्त्री अलग-अलग गृहों में रहते थे और भाई-बहन सा जीवन व्यतीत करते थे। यौन सम्बन्ध साम्प्रदायिक या जातीय आधार पर होते थे। बालक ऐसे ही यौन सम्बन्ध के परिणाम होते थे। ऐसे यौन सम्बन्ध जाति के ऋतु सम्बन्धी त्यौहारों पर होते थे जबकि दोनों जातियों के अनेक युवक और युवतियाँ परस्पर मिलते, गाते और नृत्य करते थे। उनका समाज अनेक समुदायों में विभक्त था और प्रत्येक का एक टोटेम (Totem) होता था। टोटेम एक प्रथा है जिनके अनुसार लोगों के प्रत्येक समुदाय की यह धारणा प्रकट होती है कि वे किसी न किसी रूप में प्रकृति के किसी विशेष जीव या वस्तु से सम्बन्धित हैं। यह प्रायः कोई एक विशिष्ट पशु या कभी-कभी कोई अन्य वस्तु भी होती है। उनका धर्म भय की भावना पर अवलम्बित था। वे मातृ-देवियों और अन्य देवताओं तथा वृक्ष एवं पशु आदि की पूजा करते थे।

शताब्दियों के बाद जब नवीन देशान्तरवासियों—आर्यों—के झुण्ड के झुण्ड भारत में प्रवेश करने लगे, तब द्रविड़ों ने उनका डटकर सामना किया पर शनैः शनैः वे दक्षिण की ओर ढकेल दिये गये जहाँ कि वे शताब्दियों तक रहते रहे और अपनी संस्कृति का विकास और प्रसार करते रहे। कालान्तर में यद्यपि उन्होंने आर्य-संस्कृति को अंगीकार कर लिया, तो भी उनकी संस्कृति

का विकास आर्यों की अपेक्षा विभिन्न दिशा में होता रहा। यही नहीं, उन्होंने आर्य संस्कृति को भी प्रभावित किया।

जब आर्य द्राविड़ संस्कृति की परस्पर तुलना की जाती है तब निम्नलिखित विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है :

(अ) आर्यों के वर्णाश्रम (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) के सामाजिक सिद्धान्त के समान द्रविड़ों ने कोई सामाजिक सिद्धान्त न तो अपनाया और न उनका प्रचार किया। जाति-प्रथा का, जो आर्यों की सामाजिक व्यवस्था की नींव है, द्रविड़ों के समाज में सर्वथा अभाव था।

(ब) द्रविड़ों के वैवाहिक सम्बन्धों के नियम आर्यों के ऐसे नियमों से मूलतः भिन्न थे। अपने रक्त-सम्बन्ध के वर्ग में ही द्रविड़ परस्पर विवाह करते थे उनमें सगोत्र विवाह वैध थे, पर आर्यों में ऐसे वैवाहिक सम्बन्ध पूर्णतः वर्जित थे।

(स) द्रविड़ों की सामाजिक व्यवस्था मातृसत्तात्मक थी और यह आर्यों की पितृसत्तात्मक व्यवस्था से सर्वथा विपरीत थी।

(द) उनका जीवन, विधियाँ, परम्पराएँ, आचार-विचार, धर्म, भाषाएँ आदि आर्यों से सर्वथा भिन्न थीं।

४. **आर्य**—आर्य जो श्वेत वर्ण, ऊँचा कद, प्रशस्त मस्तक एवं लम्बी नाक वाले थे, उत्तर-पश्चिम के दर्रों से भारत में आये। द्रविड़ निवासियों को पंजाब से खदेड़कर ये वहाँ बस गये। इसके पश्चात् वे पूर्व एवं दक्षिण की ओर फैल गये। यहाँ के मूल निवासियों के अधिक सम्पर्क में आने एवं उनसे रक्त मिश्रित होने से उनकी शारीरिक विशेषताओं में भी परिवर्तन हो गया। इस मिश्रण से भारत में एक संकर-सभ्यता का उदय हुआ जिसमें आर्य तथा द्रविड़ दोनों ही सभ्यताओं के तत्त्व समान रूप में विद्यमान थे।

आदिम जातियाँ तथा मंगोल विशेषताओं वाले लोग उत्तर-पाषाण-युगीन मनुष्यों के वंशज माने जाते हैं। उत्तर-प्रस्तर-युग में आदिकालीन सभ्यता थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय से अब तक के सहस्रों वर्षों के दीर्घकाल में भी इन लोगों ने कोई प्रशंसनीय प्रगति नहीं की। निस्सन्देह ये आदिम जातियाँ एक समय सम्पूर्ण भारत में फैली हुई थीं। परन्तु इन्हें द्रविड़ों की वरिष्ठ सेना के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ा और धीरे-धीरे द्रविड़ों ने उनकी भूमि पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। तत्पश्चात् जब आर्यों ने देश के विशाल भू-भागों पर विजय प्राप्त की तब इसी क्रिया की पुनरावृत्ति हुई। आदिम लोगों पर अधिक सुसंस्कृत जातियों के निरन्तर आक्रमणों का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। अनेक का विनाश हो गया होगा, अधिकांश विजेताओं के अधीन हो गये होंगे और बहुसंख्यक ने विजेताओं के वर्ग के निम्नतर स्तर को अपना लिया होगा एवं कतिपय समुदायों ने सघन वनों और पर्वत श्रेणियों

का आश्रय लिया और ऐसे दुर्भाग्य से बच गये। इस अन्तिम श्रेणी के लोगों ने ही अपने अतीत के पूर्वजों को शारीरिक गठन, भाषाओं और स्वभाव को किसी अंश तक सुरक्षित रखा है। अतीत में ये आदिमवासी किस प्रकार का जीवन व्यतीत करते थे, उनकी झलक हमें इन लोगों से प्राप्त होती है।

भारतीय संस्कृति पर जातियों का प्रभाव

उपयुक्त जातियों की विभिन्नता ने भारतीय संस्कृति में एक विशिष्टता की झलक उत्पन्न कर दी है। यदि यों कहा जाय कि भारतीय संस्कृति आर्यों और अनार्यों के मूल तत्त्वों का एक सुन्दर समन्वय है तो अतिशयोक्ति न होगी। भारतीय संस्कृति में जो अध्यात्मवाद है वह आर्यों की देन है परन्तु कला एवं अन्य विशेषताओं पर अनार्यों की अमिट छाप है। धार्मिक क्षेत्र में यज्ञ, नाग, प्रेत व वृक्ष पूजा अनार्य जातियों से ली हुई है। मूर्ति-पूजन भी अन्य जातियों से लिया गया है। शिव की कल्पना, शक्ति की पूजा तथा मातृदेवियों की आराधना अनार्यों की देन है। द्रविड़ों की धार्मिक भावनाओं और प्रथाओं का प्रभाव अमिट रहा है।

समाज में जाति-प्रथा, जो आर्यों की सामाजिक व्यवस्था का मेरुदण्ड है, आर्यों और अनार्यों के परस्पर संघर्ष और सम्पर्क का ही परिणाम है। कालान्तर में इन विविध जातियों में परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध होने लगे और ऐसे सम्बन्धों से उत्पन्न वर्णसंकरों के सामाजिक स्थान का विवेचन तत्कालीन स्मृतियों में किया गया। फलस्वरूप नवीन जातियों एवं उपजातियों का निर्माण हुआ। मध्य युग में जब मुसलमानों की एक नवीन जाति ने भारत में प्रवेश किया तो देश की सामाजिक व्यवस्था परिवर्तित हो गयी और जाति-बन्धन अत्यधिक क्लिष्ट, कठोर और असहनीय हो गये। बौद्ध धर्म ने जब विविध विदेशी जातियों जैसे शक, कुषाण, यूनानी आदि को अपने वर्ग में सम्मिलित कर लिया, तब भारतीय संस्कृति में नवीन परिवर्तन हुए। इन विदेशी जातियों के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म में महायान सम्प्रदाय और कला में गांधार शैली का प्रादुर्भाव हुआ।

संक्षेप में, जिस प्रकार मिट्टी के अनेक स्तरों के जमने से डेल्टा बनता है उसी प्रकार भारतीय संस्कृति अनेक जातियों की विशिष्टताओं के संश्लेषण से बनी है। आधुनिक भारतीय संस्कृति आर्य, उनसे पूर्व यहाँ बसने वाली और उनके पश्चात् यहाँ आने वाली आर्येतर बहुविधि जातियों की साधनाओं का सम्मिश्रण है। आज की भारतीय संस्कृति का प्रत्येक विचार, विश्वास, धारणा, सामाजिक एवं राजनीतिक प्रथाएँ विविध जातियों के विभिन्न तत्त्वों के सुन्दर समन्वय से बनी हैं।

सिन्धु-घाटी की सभ्यता

कुछ ही वर्ष हुए सिन्ध प्रान्त के लरकाना जिले में मोहनजोदड़ो[1] और पंजाब में माण्टगुमरी जिले के हरप्पा स्थान पर, जो आज दोनों ही पश्चिमी पाकिस्तान में हैं, पुरातत्त्व सम्बन्धी उत्खनन कार्य हुआ है। इन खुदाइयों एवं सिन्ध तथा बलूचिस्तान में अन्य स्थानों पर होने वाली खुदाइयों से निस्सन्देह यह प्रमाणित हो जाता है कि लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व इस प्रदेश में एक उच्चकोटि की सभ्य एवं सुसंस्कृत जाति निवास करती थी। उनकी सभ्यता सक्रिय और संस्कृति श्रेष्ठ थी। इस प्रकार भारत में सभ्यता का सुदूर अतीत लगभग उसी युग तक चला जाता है जिस युग में मिस्र, असीरिया और बेबीलोन की प्राचीनतम सभ्यताओं का उदय एवं विकास हुआ था। अतएव सिन्धु नदी की घाटी का वही महत्त्व है जो नील, दजला और फरात की घाटियों का है। इन्हीं घाटियों ने मानव-सभ्यता के प्राचीनतम रूप के निर्माण में सहयोग दिया था।

दुर्भाग्य से सिन्धु-घाटी की सभ्यता के विषय में हमारे पास कोई लिखित प्रमाण नहीं है। सिन्धु-घाटी के राजनीतिक इतिहास से हम सर्वथा अनभिज्ञ हैं और उसकी सभ्यता और संस्कृति के विषय में निश्चयात्मक मत प्रकट करने में असमर्थ हैं। इस विषय में हमारा धुँधला-सा अनुमानमात्र ही है जो मोहन-जोदड़ो और हरप्पा के उत्खनन में उपलब्ध वस्तुओं पर पूर्णतः आधारित है। मोहनजोदड़ो—मृतकों का टीला—लाड़काणा के मैदान में स्थित एक ऊँची पहाड़ी का स्थानीय नाम है। यह मैदान एक संकीर्ण स्थल भाग है जो सिन्धु और पश्चिमी 'नारा' नहर के मध्य में स्थित है। यहाँ लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व एक नगर का निर्माण हुआ था और इस नगर का क्रमशः सात बार विध्वंस हुआ और पुनर्निर्माण हुआ। उक्त नगर के भग्नावशेष उत्खनन द्वारा प्रकाश में ला दिये गये हैं। वहाँ के उत्खनन और अन्वेषणों का वृतान्त इस प्रकार है :

नगर

यह नगर पर्याप्त रूप से बड़ा था। इसमें अनेक निवास-गृह थे। दो कक्ष वाले गृहों को लेकर प्रासाद तुल्य भवन भी थे जिनका सम्मुख भाग ८५ फुट, लम्बा और १७ फुट चौड़ा था। इनकी बाहरी दीवार चार से पाँच फुट तक मोटी थी। वास्तुकला की अनेक शिल्प-शैलियों द्वारा इन भवनों की सौन्दर्य और शोभा की वृद्धि की गयी थी। यथेष्ट रूप से पकायी गयी अच्छी ईंटों से इन भवनों का निर्माण हुआ था। कहीं-कहीं बहुत ही विशाल ईंटें जिनकी लम्बाई

---

[1] 'मुहें-जो-डेरो' ठीक सिन्धी शब्द माना गया है। देखिए शतीशचन्द्र काला लिखित 'मोहें-जो-देड़ो' पेज १, फुट नोट।

२०$\frac{१}{४}$ इंच, चौड़ाई १०$\frac{१}{२}$ इंच तथा मोटाई ३$\frac{१}{२}$ इंच है, उपयोग में लायी गयी थीं। विशाल भवन दो अथवा दो से अधिक खण्ड वाले होते थे, इनमें खिड़कियाँ, दरवाजे, संकीर्ण सीढ़ियाँ तथा फर्श लगे हुए आँगन और सदन थे। यह स्मरणीय बात है कि लगभग प्रत्येक निवास-गृह में कुआँ, नालियाँ, स्नानागार बने हुए थे जिनके पानी के निकास के लिए नालियाँ थीं जो बाहर सड़क की गटर या नालियों से संयुक्त थीं। निवास-गृहों के अतिरिक्त भव्य भवन भी थे। जिनमें से किसी-किसी में विशाल स्तम्भों के आधार पर स्थित बड़े सभा-भवन थे जिनमें एक का क्षेत्रफल ८० वर्ग फुट था। वे ऊँचे विशाल भवन सम्भवतः राज प्रासाद, मन्दिर अथवा सार्वजनिक सभा-गृह हो सकते हैं। नगर में सबसे अधिक शानदार इमारत प्रशस्त स्नानागार था। इसके मध्य में एक सुदीर्घ चतुष्कोण आँगन-सा था जिसके चतुर्दिक बरामदे और प्रकोष्ठ थे। कुछ प्रकोष्ठों में उष्ण पानी से स्नान करने की सुविधा और व्यवस्था थी। इस आँगन के मध्य में तैरने के लिए एक जलाशय था जो ३९ फुट लम्बा, २३ फुट चौड़ा एवं ८ फुट गहरा था। इसके प्रत्येक ओर सीढ़ियाँ हैं। इसे भरने के लिए निकटवर्ती कक्ष में एक कुआँ था। इसके गन्दे पानी को निकालने के लिए ६ फुट से अधिक ऊँची पटी हुई नाली थी। यह विशाल स्नानागार १८० फुट लम्बा और १८० फुट चौड़ा है और इसकी बाहरी दीवारें लगभग ६ फुट मोटी हैं। इसकी रचना की सुदृढ़ता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण यह है कि यह ठीक पाँच सहस्र वर्षों से आँधी और तूफान, वर्षा और विद्युत, सर्दी और गर्मी के थपेड़ों को सहन करते हुए आज भी अपना अस्तित्व बनाये हुए अचल खड़ा है। नगर की सड़कें विस्तीर्ण और सीधी थीं एवं समकोण पर परस्पर एक-दूसरे को काटती हुई उत्तर और दक्षिण तथा पूर्व और पश्चिम की ओर जाती थीं। इनमें नालियों की समुचित व्यवस्था थी। व्यक्तिगत और सार्वजनिक स्वच्छता की नालियाँ अद्भुत थीं। स्थान-स्थान पर कूड़ा डालने का प्रबन्ध था एवं गन्दे पानी तथा मल-मूत्र के हेतु शोषक कूप बने थे। ३३ फुट चौड़ी एक प्रमुख सड़क आधा मील से अधिक दूरी तक खोज निकाली गयी है। इसके दोनों ओर इसकी आधी चौड़ाई के मार्ग पथिकों के लिए बनाये हुए मिले हैं।

इस नगर के भग्नावशेष यह प्रकट करते हैं कि किसी समय यहाँ एक विशाल घना बसा हुआ समृद्धिशाली नगर था जहाँ के निवासियों को सार्वजनिक जीवन की उन समस्त सुख और सुविधाओं का सौभाग्य प्राप्त था जैसा विश्व में उस समय अन्य देश के नागरिकों को नहीं था। नगर में स्वास्थ्य एवं स्वच्छता के हेतु उच्चकोटि की ऐसी समुचित सुव्यवस्था थी कि प्राचीन संसार के अन्य देश उससे सर्वथा अनभिज्ञ थे। यहाँ ऐश्वर्य एवं विलासिता

से ओतप्रोत जीवन लहरें मारता था । यह भी निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि तत्कालीन स्थापत्य कला का विकास भी उच्चकोटि का हो चुका था ।

जनता

इस नगर के निवासियों का सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक विलक्षणताओं की रूपरेखा निम्न प्रकार की है :

आहार—इनके भोजन में गौ, शूकर और भेड़ का मांस, जल-जन्तुओं का मांस, मछली, मुर्ग तथा कछुए थे परन्तु गेहूँ उनके आहार का प्रधान खाद्य पदार्थ था । वे जौ और खजूर से भी परिचित थे । मछली का प्रयोग प्रायः सभी करते थे । उनके आहार के अंग सम्भवतः दूध और विविध शाक एवं फल भी थे पर इसका कोई प्रबल एवं पुष्ट प्रमाण नहीं है ।

वसन एवं आभूषण—सूती कपड़े का प्रयोग सर्वसाधारण में था, परन्तु ऊनी कपड़े भी प्रयोग में लाये जाते थे । लोगों की वेश-भूषा सादी थी । पुरुष एक लम्बी शाल या दुपट्टा दक्षिण स्कन्ध के ऊपर फेंककर ओढ़ते थे, इससे दाहिना हाथ कार्य करने के हेतु स्वतन्त्र रह जाता था और बैठने पर यह शाल पैरों तक पहुँच जाता था । पुरुष छोटी-छोटी दाढ़ियाँ तथा गल-मुच्छे रखते थे और कभी-कभी ऊपर के ओंठ पर के केश मुड़वा देते थे । उनके केश कंघी कर पीछे की ओर मोड़ दिये जाते थे जिन्हें या तो काटकर छोटा कर दिया जाता था अथवा मोड़कर जूड़ा बाँधा जाता था ।

आभूषणों का प्रयोग सभी श्रेणी के स्त्री-पुरुष समान रूप से करते थे । हार, केशराशि का जूड़ा बाँधने के फीते, बाजूबन्द, अँगूठियाँ, कड़े तथा चूड़ियाँ समान रूप से नर-नारी दोनों ही पहनते थे, मेखला (कन्दौरे), कान के काँटे, कर्णफूल तथा पग में पायल महिलाएँ ही पहनती थीं । इन आभूषणों की आकृति एवं रचना विविध प्रकार की होती थी, इनमें से कुछ तो अनुपम सौन्दर्यमय होते थे । ये आभूषण स्वर्ण, रजत, हाथी दाँत, बहुमूल्य तथा अर्द्ध-बहुमूल्य रत्नों के होते थे । साधारण जन अस्थियों, घोंघों, गुरियों, ताम्र तथा पक्की मिट्टी के आभूषण पहनते थे ।

आमोद-प्रमोद—मनोरंजन के हेतु लोग ढोल की सुन्दर ताल और आवाज पर नृत्य करते थे । ऐसा अनुमान है कि चिह्नयुक्त पटिये पर पाषाण की गोलियों या अन्य वस्तुओं से कुछ खेल खेले जाते थे । यह महत्त्व की बात है कि वैदिक आर्यों के समान इस सभ्यता के लोगों को भी पाँसा प्रिय था । इससे यह आभास होता है कि उस सुदूर अतीत में भी जुए में लोगों की अभिरुचि थी । बालकों के खिलौने अधिकांश में साधारण घरेलू वस्तुओं के अतिरिक्त पहियेदार छोटी-छोटी गाड़ियाँ, कुर्सियाँ, विविध प्रकार के पशु-पक्षी,

झुनझुने, सीटियाँ आदि थे। ये प्रायः मिट्टी के बनाये जाते थे और आज ये तत्कालीन जीवन के वास्तविक रूपों को प्रकट करते हैं।

पत्थर और धातुएँ—इस भूखण्ड में पाषाण स्पष्टतः अलभ्य था। इस कारण द्वार, चौखट, चक्की मूर्ति आदि कुछ ही उपयोगों के लिए इसको बाहर से मँगाते थे। इस सभ्यता में वस्तुतः स्वर्ण रजत, ताम्र, टीन, सीसा, काँसा आदि का उपयोग विविध प्रकार से होता था। मोहनजोदड़ो के उत्खनन में लोहे की उपलब्धि न होने से यह असंदिग्ध है कि सैन्धव सभ्यता लोहे से सर्वथा अपरिचित थी।

गृहस्थी के उपकरण—विविध प्रकार के सुन्दर आकर्षक मृत्तिका पात्र कुम्हार के चाक द्वारा बनाये जाते थे जो या तो सादे होते थे अथवा उन पर लाल गेरू से चित्रांकन किया होता था। बहुधा इनकी पालिश इतनी चमकदार होती थी कि ये चीनी के चमकीले बर्तनों के से दृष्टिगोचर होते थे। बहुधा ये पात्र काले रंग के केन्द्रिक वृत्तों द्वारा अलंकृत किये जाते थे और समय-समय पर वृक्षों, पशु-पक्षियों के चित्र भी इन पर अंकित किये जाते थे। कुछ मृत्तिका पात्र मिट्टी के गुटकों से भी सुशोभित एवं अलंकृत किये जाते थे। यदाकदा 'ग्लेज' करके चमकदार भी बनाये जाते थे। पात्र, बरतन और भाँड़े ताम्र, काँसा, चाँदी तथा चीनी मिट्टी के होते थे। गृहस्थ जीवन के अन्य उपकरणों में तकुआ, सुई, हाथीदाँत या अस्थि का बना कंघा, कुल्हाड़ी, छैनी, आरी, चाकू, हँसिया, मछली पकड़ने के काँटे, काँसे तथा ताम्र के बने उस्तरे, पाषाण के ठोस छोटे-छोटे टुकड़े, जो सम्भवतः तोलने के लिए बाँटों के रूप में प्रयुक्त होते थे, आदि हैं।

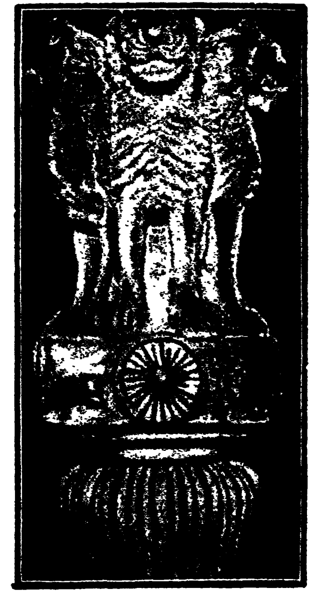
पालतू पशु—ये लोग पशु भी पालते थे और उनका उपयोग गृह-कार्य में करते थे। उन्नत स्कन्ध वृषभ, भैंस, शूकर, कुत्ता, हाथी तथा ऊँट इनके पालतू पशु थे, परन्तु बिल्ली से ये लोग अनभिज्ञ थे। घोड़ों को इन्होंने पालतू बना लिया हो, इसमें सन्देह है। ये गाड़ियों का उपयोग करते थे जिसमें बैलों का प्रयोग होता था।

उपर्युक्त पालतू पशुओं के अतिरिक्त अन्य बनैले पशु थे जैसे गैंडा, भैंसा, बन्दर, सिंह, भालू, खरगोश आदि जिनके चित्र यहाँ से उपलब्ध मुहरों और ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण हैं।

अस्त्र-शस्त्र—युद्ध एवं आखेट में व्यवहृत होने वाले अस्त्र-शस्त्रों में कुल्हाड़ी, भाले, कटार, गदा एवं गोफन प्रमुख हैं; धनुष और बाण के नमूने तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम प्राप्त हुए हैं। तलवार, ढाल, शिरस्त्राण, कवच तथा रक्षा के अन्य साधनों की अभिप्राप्ति न होने से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः ये साधन अज्ञात थे। युद्ध के आक्रमणात्मक अस्त्र-शस्त्र ताम्र तथा



मोहेनजोदड़ो से प्राप्त मुद्राओं पर बैल
की छाप। (पृष्ठ ३१)



सारनाथ में अशोक स्तम्भ का
शीर्ष। (पृष्ठ १८४)

काँसे के बनाये जाते थे। उत्खनन में जो अस्त्र-शस्त्र प्राप्त हुए हैं वे अत्यन्त निम्नकोटि के हैं, इससे ज्ञात होता है कि उनके व्यवहार करने वाले स्वभाव से युद्धप्रिय न थे।

मुहरें—लगभग ५५० मुहरें जो पत्थर, मिट्टी तथा विविध प्रकार के रंग-बिरंगे पत्थरों की बनी हुई हैं यहाँ उत्खनन में उपलब्ध हुई हैं। इनमें से अधिकतर मुहरों पर किसी न किसी पशु का चित्र अंकित है जैसे बैल, गैंडा, हाथी, बारहसिंगा आदि, परन्तु घोड़े या गाय के चित्र का अभाव एक विचित्रता है। इन चित्रों के ऊपर तथा पार्श्व एवं नीचे चित्रों की भाषा में उत्कीर्ण आलेखन भी हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश ये लेख अभी तक नहीं पढ़े जा सके।

ललित कला—इन मुहरों पर उत्कीर्ण पशु-चित्र एवं उभरे आकृत्यंकन बहुधा उच्चकोटि की कला का प्रदर्शन करते हैं। इनमें पशुओं—विशेषकर शक्ति-पुंज साँड़—का अंकन विशिष्ट और अनुपम है। प्रकृति के चेतन रूप का इतना यथार्थ अनुकरण मानवकरों ने शायद किसी युग में नहीं किया। हड़प्पा में प्राप्त होने वाली प्रस्तर मूर्तियाँ इतनी सजीव और सौन्दर्यमय हैं कि वे यूनानी मूर्तियों की 'फिनिश' और चारुता का स्मरण दिलाती हैं। ये मूर्तियाँ प्रमाणित करती हैं कि सिन्धु-सभ्यता के नागरिक भी कला के जागरूक प्रेमी थे और चारु तथा समारोह अंकन कर सकते थे। उन्होंने कला में प्राण फूंक दिये थे।

वाणिज्य एवं व्यवसाय—छोटी आकृति की जो मुहरें वहाँ प्राप्त हुई हैं सम्भवत: वे वाणिज्य-व्यवसाय में प्रयुक्त होती थीं। ऐसे कुछ सबल प्रमाण प्राप्त हुए हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि ये लोग भारत के विविध भागों से ही व्यापार नहीं करते थे, अपितु एशिया के प्रायः अन्य देशों के साथ भी इनका व्यापारिक सम्बन्ध रहा था। विनिमय में ये अन्य देशों से टीन, ताम्र एवं बहुमूल्य रत्न प्राप्त करते थे।

उद्यम एवं शिल्पकला—ये कृषि कार्य करते थे और गेहूँ, जौ, कपास, एवं खजूर, की खेती होती थी। यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ जोतने के लिए फलयुक्त हल का प्रयोग होता था या नहीं। विद्वानों की धारणा है कि उस सुदूर अतीत के युग में सिन्ध में प्रचुर वर्षा होती थी एवं नदी के सामीप्य से भी सिंचाई के कार्य में यथेष्ट सुविधा रही होगी। औद्योगिक एवं शिल्पीय वर्ग में कुम्भकार, सुनार, राज, लुहार, स्वर्णकार, जौहरी, हाथीदाँत के शिल्पी, एवं संगतराश प्रमुख थे। कुम्हार का चाक, भट्टी में पकायी हुई ईंटें, पद्मराग मणि जैसी कठोर वस्तु में छिद्र करने की कला, धातुओं की ढलाई एवं सम्मिश्रण आदि इस बात के परिचायक हैं कि उस युग में औद्योगिक एवं शिल्पीय विज्ञान का विकास उच्चकोटि का हो चुका था। धातुओं को ढालने की कला प्रचलित

थी। यहाँ पर प्राप्त एक नर्तकी की काँसे की बनी हुई छोटी सुन्दर मूर्ति, कला का सर्वश्रेष्ठ नमूना है। दाहिने पाँव पर खड़ी, बायीं टाँग को सामने अवलम्बित किये इस नर्तकी की मूर्ति ने जिस सक्रिय, सजीव, गतिशील मुद्रा को प्रदर्शित किया है, निस्सन्देह वह अप्रतिम है। इसके समान ही आभूषणों की सुन्दरतम आकृतियाँ, मुहरों पर उत्कीर्ण चित्र एवं पाषाण मूर्तियाँ इस बात की प्रतीक हैं कि ये लोग लालित्य कला-प्रिय थे तथा इनकी सौन्दर्यानुभूति उच्चकोटि की थी।

मृतक संस्कार—विविध प्रकार से मृतक संस्कारों को करने की प्रथा प्रचलित थी। सम्भवतः यह विभिन्न कुलों तथा जातियों के कारण था। मोहनजोदड़ो में कब्रिस्तान का अभाव इस बात का प्रतीक है कि उस काल में दाह-क्रिया ही प्रशस्त मानी जाती थी। परन्तु हरप्पा में एक विशाल कब्रिस्तान पाया गया है। जले हुए शवों की अस्थियाँ एवं भस्म कभी-कभी कलशों में रखते थे और कभी-कभी अधजली अस्थियाँ एकत्र करके कलशों में गाड़ देते थे।

धर्म—पूजा के क्षेत्र में मातृदेवी की आराधना प्रमुख थी। मातृदेवी के सम्प्रदाय का प्रचार व्यापकता से था। इस मातृदेवी के अनेक चित्र मृत्तिका पात्रों, मुहरों तथा तावीजों पर प्राप्त हुए हैं। इस युग के लोगों की धारणा थी कि सम्पूर्ण सृष्टि का प्रारम्भ नारी शक्ति से हुआ था। मातृदेवी की उपासना के साथ ही एक नर देवता की आराधना का प्रचार भी था। एक विशेष मुहर पर हमें एक पुरुष चित्र प्राप्त हुआ है जिसके ऊँचे शिरस्त्राण के दोनों ओर दो सींग हैं, तथा वन्य पशुओं से समावृत्त हुए वह योगी की ध्यान-मुद्रा में बैठा हुआ है। शिव की भावी धारणा का आभास इस चित्र से मिलता है। शिव को महायोगिन माना जाता है, उन्हें पशुपति कहकर सम्मानित किया जाता है। उनके प्रधान गुण त्रिनेत्र एवं त्रिशूल हैं। मोहनजोदड़ो की मुहर पर उत्कीर्ण स्पष्ट ध्यान-मुद्रा का यह चित्र महायोगिन उपाधि को उचित बतलाता है एवं उनके चतुर्दिक पशुओं की आकृतियाँ पशुपति विशेषण को स्पष्ट रूप से समझाती हैं। उच्च शिरस्त्राण के साथ अंकित दो सींगों ने सम्भवतः तीन काँटों वाले त्रिशूल की कल्पना को अभिव्यक्त किया। शिव के साथ इस नर देवता के एकीकरण की पुष्टि पाषाण के उन टुकड़ों की खोज से दृढ़ हो जाती है जो ठीक शिवलिंग के समान दिखाई देते हैं और इसी रूप में आज लगभग सर्वत्र शिवजी की उपासना होती है।

शक्ति तथा शिव की उपासना के अतिरिक्त हमें चेतनवाद या सार्वजीववाद के प्रचलन का भी आभास दिखता है। इसका अभिप्राय है कि पाषाणों, वृक्षों और पशुओं का पूजन इस धारणा से होता था कि वे मंगलकारी या अमंगलकारी आत्माओं के निवासस्थान हैं। कुछ वृक्षों को ज्ञान एवं जीवनदाता

माना जाता था । वृक्ष-पूजन दो प्रकार का होता था—एक तो वह जिसमें वृक्ष के पार्थिव रूप की ही पूजा होती थी तथा दूसरे वह जिसमें किसी भी वृक्ष को अधिष्ठातृ देवता मानकर एवं उसके गुणों की कल्पना करके उसकी पूजा की जाती थी । इसी उपासना का स्वाभाविक परिणाम नागों एवं यक्षों का पूजन है जो इन वृक्ष-आत्माओं के प्रतीक हैं ।

अतः यह स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दू धर्म, जिसमें उपरोक्त धर्म के अनेकांश प्रतिबिम्बित हैं, सिन्धु-घाटी-सभ्यता का ऋणी है । भक्ति सम्प्रदाय के अस्तित्व के तथा पुनर्जन्म जैसे दार्शनिक सिद्धान्त के प्रमाण मोहनजोदड़ो में प्राप्त हुए हैं । वस्तुतः आर्यों के भारत में प्रवेश करने के बहुत काल पूर्व ही शिव, काली तथा लिंग की पूजा एवं हिन्दू धर्म की अन्य सर्वप्रिय प्रथाएँ पूर्ण-रूपेण प्रचलित हो चुकी थीं । अतएव विवशतः यह निष्कर्ष है कि वर्तमान हिन्दू धर्म और सिन्धु-घाटी की प्राचीन संस्कृति का अविच्छिन्न स्वाभाविक सम्बन्ध है । सिन्धु-घाटी का धर्म हिन्दू धर्म के पूर्व पुरुष के समान है जिससे उसकी उत्पत्ति व विकास हुआ है ।

सिन्धु-घाटी-सभ्यता का समय—मोहनजोदड़ो सभ्यता सिन्धु-सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि इसके विकास में सिन्धु और उसकी सहायक नदियों का प्रमुख भाग रहा है । इस सिन्धु-सभ्यता की तिथि निश्चयात्मक रूप से नहीं लिखी जा सकती । उपलब्ध सामग्री का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु-सभ्यता ईसा पूर्व २८००-२५०० वर्ष में थी । कुछ विद्वानों का विश्वास है कि यह सभ्यता लगभग ईसा पूर्व ३००० वर्ष में समृद्ध थी । परन्तु जिस विकसित और समृद्ध दशा में यह सभ्यता प्राप्त हुई है उससे ऐसा मालूम होता है कि इस उन्नत दशा को पहुँचने के पहले इसके विकास का एक अलग ही इतिहास रहा होगा ।

सिन्धु-घाटी-सभ्यता व संस्कृति की उत्पत्ति और विस्तार—सिन्धु-घाटी की सभ्यता सारे सिन्ध, दक्षिण पंजाब और बलूचिस्तान में फैली हुई थी । परन्तु गंगा की घाटी में इस सभ्यता का कोई भी चिह्न नहीं प्राप्त हुआ है । इससे प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस सभ्यता की उत्पत्ति कहाँ हुई थी । क्या इसका विकास भारत में स्वतन्त्र रूप से हुआ था ? क्या सम्पूर्णतया यह भारतीय है ? क्या यह भारत की किसी अन्य सभ्यता का भाग थी ? इन प्रश्नों का उत्तर निर्णयात्मक ढंग से हमारे आधुनिक ज्ञान के आधार पर अभी नहीं दिया जा सकता ।

सिन्धु-घाटी-सभ्यता व संस्कृति का पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति से सम्बन्ध—विश्व इतिहास में सिन्धु-सभ्यता अपना महत्त्वशाली स्थान रखती है । सुमेरी और मैसोपोटामिया की प्राचीन सभ्यता एवं इस सभ्यता में विशेष

समानता है। प्रागैतिहासिक युग की इन तीनों सभ्यताओं में विकसित नागरिक जीवन, कुम्हार के चक्र का उपयोग, भट्टी में पकायी हुई ईंटें, ताम्र और काँसे के पात्र, एवं चित्रलिपि समान रूप से पाये जाते हैं। भारत के बाहर मोहनजोदड़ो की जो दो मुहरें उपलब्ध हुई हैं वे इस बात की ओर संकेत करती हैं कि इन देशों में परस्पर सम्पर्क था। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु-सभ्यता महान् ताम्र-सभ्यता का एक अंग है जो मिस्र से भारत तक विस्तृत थी और जिसका सम्बन्ध ऐसे युग से था जिसमें लौह के अतिरिक्त अन्य सब धातुओं का प्रयोग पूर्णरूपेण होता था; परन्तु फिर भी पाषाण का उपयोग पूर्णतः लुप्त नहीं हुआ था। इस सभ्यता की समृद्धि और विकास पूर्व की नदियों—नील, दजला, फरात और सिन्धु—के मैदानों में हुआ था और पूर्णतया यह नगर-सभ्यता थी।

उपरोक्त विवेचन से यह जटिल प्रश्न उठता है कि ये तीनों सभ्यताएँ स्वतन्त्र रूप से उदित और विकसित हुई अथवा अन्योन्याश्रित थी। अथवा क्या इस सभ्यता का प्रसार सिन्धु-घाटी की ओर से पश्चिम की ओर, या पश्चिम से पूर्व की ओर हुआ था? क्या सिन्धु-सभ्यता किसी भी प्रकार से अपनी समकालीन पाश्चात्य सभ्यताओं से प्रभावित नहीं हुई थी? क्या सिन्धु-सभ्यता भारत-भूमि की अपनी अभिसृष्टि थी? अथवा पश्चिमी सभ्यताओं के सम्पर्क, संघर्ष और समन्वय से इसने अपनी काया का निर्माण और विकास किया? इन प्रश्नों का कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि उपर्युक्त मतों के अपने-अपने समर्थक और विरोधी, दोनों ही हैं।

सिन्धु-सभ्यता और आर्यों की सभ्यता की तुलना—अन्य द्वितीय महत्त्वशाली प्रश्न यह है कि सिन्धु-घाटी की सभ्यता और संस्कृति का द्राविड़ सभ्यता या आर्यों की वैदिक सभ्यता का क्या सम्बन्ध था? जहाँ तक आर्यों और उनकी वैदिक सभ्यता का सम्बन्ध है यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि सिन्धु-प्रदेश की सभ्यता और आर्यों की सभ्यता में विचित्र वैषम्य है। सिन्धु-घाटी के लोग पूर्णतया नागरिक जीवन की समस्त सुविधाओं सहित घनी जनसंख्या वाले नगरों में निवास करते थे, परन्तु आर्य लोग पशुपालन करने वाले कृषि-प्रधान ग्राम निवासी थे जिन्हें जटिल एवं समन्वित नागरिक जीवन का अनुभव नहीं था। मोहनजोदड़ो में स्वर्ण की अपेक्षा चाँदी का प्रयोग अधिक होता था एवं बरतन प्रायः ताम्र, काँसे तथा पाषाण के बने हुए होते थे। ऋग्वैदिक काल में प्रमुख धातुएँ ताम्र, काँसा और स्वर्ण थीं; चाँदी तथा लोहे के प्रयोग का उल्लेख बाद में यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में प्राप्त होता है। वैदिक आर्य मांस खाते थे परन्तु मछली से घृणा करते थे, लेकिन सिन्धु-

सभ्यता में मछली, कछुए व अन्य जल-जन्तुओं का प्रयोग भोजन में सामान्य रूप से होता था। मोहनजोदड़ो में अश्व अज्ञात है परन्तु ऋग्वेद में इसका उल्लेख स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है। सिन्धु-सभ्यता में गाय का कोई विशिष्ट महत्त्व न था परन्तु वैदिक आर्यों में उसका बहुत ही सम्मान था तथा वह पवित्र, रक्षणीय एवं प्रतिष्ठित मानी जाती थी। इसी प्रकार इन लोगों के धार्मिक विश्वासों एवं प्रथाओं में भी यथेष्ट अन्तर था। वैदिक आर्य गाय की उपासना करते थे जबकि सिन्धु-प्रदेश के लोग बैल को श्रद्धास्पद मानते थे। वैदिक धर्म में मूर्ति-पूजा को कोई स्थान न था, परन्तु मोहनजोदड़ो में मूर्ति-पूजा के प्रमाण सर्वत्र पाये जाते हैं। शिव और भक्ति (मातृदेवी) सिन्धु सभ्यता के प्रधान देवता थे; परन्तु वैदिक धर्म में शिव का कोई स्थान नहीं था और देवियों का स्थान देवताओं से तुलनात्मक रूप में नीचा माना गया था। मूर्ति-पूजा सिन्धु-घाटी में प्रचलित थी परन्तु वैदिक आर्य इससे नितान्त अनभिज्ञ थे। वैदिक युग में अग्नि पवित्र मानी गयी थी, वह एक आराध्य एवं पूजनीय देव थी लेकिन सिन्धु-घाटी की सभ्यता में इसका कोई महत्त्व नहीं था।

इस विलक्षण विषमता एवं असमानता के कारण सिन्धु-घाटी की सभ्यता वैदिक युग की संस्कृति से विभिन्न एवं उससे अधिक प्राचीनतम मानी जाती है। साधारण रूप से स्वीकृत वर्षानुक्रम सिद्धान्त (Chronological Scheme) के अनुसार यह समुचित भी जान पड़ता है; क्योंकि सिन्धु-घाटी-सभ्यता का काल ईसवी पूर्व तृतीय सहस्राब्दी माना जाता है जबकि ऋग्वेद का युग ईसवी पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी से पूर्व किसी भी दशा में नहीं माना जाता है। यद्यपि कुछ विद्वान वैदिक सभ्यता को सिन्धु-घाटी-सभ्यता से प्राचीनतम मानते हैं, तथापि कतिपय ऐसे प्रमाण भी हैं जो यह निश्चित निष्कर्ष निकालते हैं कि सिन्धु प्रदेश की सभ्यता ऋग्वेद की सभ्यता से अधिक प्राचीन है। इसके अतिरिक्त नर्मदा की घाटी और दक्षिण मध्य भारत में भी उत्खनन में प्राप्त सामग्री यह संकेत करती है कि भारत के विविध प्रदेशों में प्राचीन प्राग्वैदिक सभ्यता के समान अन्य सभ्यताओं का अस्तित्व भी था। अब हम किसी भी प्रकार यह मत स्वीकार नहीं कर सकते कि भारत में सभी सभ्यताओं का मूल स्रोत वैदिक सभ्यता ही है। एक बात निर्दिष्ट और निर्विवाद है कि भारत में सभ्यता का प्रादुर्भाव आर्यों के आगमन से नहीं हुआ। सभ्यता आर्यों के साथ भारत में नहीं आयी। आर्यों के पहले से ही भारत में समृद्ध सभ्यता थी जिसका जटिल और समन्वित नागरिक जीवन निस्सन्देह शताब्दियों के विकास का परिणाम था। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि भारतीय सभ्यता के समुदाय और विकास में सिन्धु-घाटी की सभ्यता की विशिष्ट देन रही है।

सिन्धु-घाटी-सभ्यता के निर्माता और उनकी जाति—इसके बाद यह प्रश्न

उठता है कि जिन लोगों में सिन्धु-सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ वे किस जाति के थे। इस प्राचीन व सशक्त नागरिक सभ्यता के मूल निर्माता कौन थे ? क्या इस सभ्यता के मूल संस्थापक और प्रवर्तक प्राग्वैदिक द्रविड़ थे अथवा इससे उनका किसी प्रकार का सम्बन्ध था। कुछ विद्वानों का मत है कि इस सभ्यता के संस्थापक और सुमेरी जाति के लोग एक ही थे, परन्तु अन्य लोगों की धारणा है कि वे द्रविड़ थे। इस मत के अनुसार किसी समय पंजाब, बलूचिस्तान को मिलाकर समस्त भारत में द्रविड़ लोग निवास करते थे और धीरे-धीरे मैसोपोटामिया में प्रवास कर गये। द्रविड़ भाषा जो आज भी बलूचिस्तान के ब्राहुई बोलते हैं उपयुक्त कथन की पुष्टि करती है। एक मत यह भी है कि सिन्धु-सभ्यता के लोग आर्य थे। परन्तु इस मत के समर्थक आजकल नगण्य ही हैं। यदि सिन्धु-सभ्यता को आर्यों द्वारा निर्मित मान लिया जाता है तो ऋग्वेद की तिथि सुदूर अतीत में हट जाती है जो उचित नहीं मानी जाती है। इस विषय में किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचना असम्भव ही है और यह भी बहुत कुछ सम्भव है कि सिन्धु-घाटी की सभ्यता के निर्माता लोग किसी अन्य जाति के ही रहे हों।

हरप्पा—नार्थ वेस्टर्न रेलवे के हरप्पा रोड स्टेशन से लगभग चार मील उत्तर-पूर्व की ओर हरप्पा नामक एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ उपलब्ध हुई वस्तुओं से अमूल्य परिणाम निकले हैं। यहाँ पर लोग पक्की ईंटों से बने हुए गृहों में, जिनमें नालियों और स्नानागारों की समुचित व्यवस्था थी, निवास करते थे। गरीबों के गृह कच्ची मिट्टी के बने हुए होते थे। फर्श या तो मिट्टी के बने हुए कच्चे होते थे अथवा ईंटों के बने रहते थे; परन्तु स्नानागारों के फर्श सदैव चिकनी ईंटों के बनते थे जिनमें बहुत ही सुन्दर जोड़ होते थे। हरप्पा में जो सबसे भव्य इमारत मिली है वह अनाज का एक विशाल गोदाम है। इसके दो भाग हैं और प्रत्येक भाग में ६ विशाल प्रकोष्ठ हैं जिनमें बाहर की ओर खुलने वाले बरामदे हैं। नर-नारियाँ प्रायः उसी प्रकार रहते थे जिस प्रकार से मोहनजोदड़ो में, परन्तु उनकी कुछ विशिष्टताएँ ध्यान देने योग्य हैं। अनेक महिलाएँ अपने मस्तक पर एक विशेष शिरोवस्त्र पहनती थीं जो सिर के पिछले भाग से पंखे की भाँति ऊपर उठा रहता था; जबकि दूसरों के लिए वह जूड़े का एक भाग बन गया था। वहाँ विविध प्रकार के रत्नजड़ित आभूषणों का बाहुल्य था। इनमें से अनेक लड़ियों और झुमकोंयुक्त कसी हुई हँसली का प्रयोग बहुत होता था। हार एवं कंगन भी अधिक प्रचलित आभूषण थे। परन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता कि पुरुष भी आभूषण पहनते थे। यहाँ मुहरें भी यथेष्ट संख्या में प्राप्त हुई हैं जिन पर सभी प्रकार के चित्र अंकित हैं।

सिन्धु-घाटी की सभ्यता का विनाश—सिन्धु-घाटी की सभ्यता का विनाश कैसे हुआ इस पर केवल ऐतिहासिक कल्पना और अनुमान ही हो सकता है। सम्भव है सिन्धु नदी की बाढ़ में यह नगर प्लावित हो गया हो अथवा क्रमशः यह नदी नगर से दूर हटती गयी जिससे वहाँ की भूमि अनुर्वर हो गयी। सिन्धु प्रदेश की वर्षा, जो वर्तमान काल की अपेक्षा प्राचीनकाल में बहुत अधिक रही होगी, सम्भवतः ईसवी पूर्व दूसरी सहस्राब्दी तक बहुत कम हो गयी हो और फलतः सिन्धु का मैदान मरुभूमि में परिणत होने लगा होगा जैसा कि अब हो गया है। अथवा उपलब्ध प्रमाणों से हम यह भी निष्कर्ष निकालते हैं कि सिन्धु-घाटी-सभ्यता के लोग शान्तिप्रिय थे जिनकी अतुल सम्पत्ति ने बर्बर पहाड़ी जातियों को उन पर आक्रमण करने के लिए लालायित किया। यह सोचने के लिए भी प्रमाण हैं कि मोहनजोदड़ों को लूटा गया और वहाँ के निवासियों को नृशंसता से मौत के घाट उतार दिया गया। अस्थि-पंजरों के जो समूह यहाँ प्राप्त हुए हैं, उनमें स्त्रियों तथा बालकों के अस्थि-पंजर भी सम्मिलित हैं; उनमें से कुछ बड़े-बड़े प्रकोष्ठों में, कुछ कुएँ में उतरने के लिए बनायी गयी सीढ़ियों पर तथा कुछ गलियों में मिले हैं। ये इस बात की ओर संकेत करते हैं कि इन लोगों को भयानक एवं क्रूर मृत्यु का सामना करना पड़ा जो अब एक विस्मृत दुर्घटनामात्र है। अथवा यह भी सम्भव है कि विजयी आर्यों या किसी अन्य जाति ने भारत के बाहर से इन पर आक्रमण किया हो और इनकी सभ्यता का विनाश कर दिया हो। यह बात अधिक सम्भव प्रतीत होती है कि सिन्धु-घाटी-सभ्यता अवनत हो गयी हो और आर्यों के निरन्तर आक्रमणों ने उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया हो। आर्य अधिक सशक्त एवं उत्तम अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित थे। आर्यों के पूर्व के लोगों का संगठन और सुव्यवस्था आर्यों के सम्मुख टिक न सकी। इतिहास में बार-बार होने वाली घटना का यह एक उदाहरण है कि अवनत और क्षय-सभ्यता, चाहे वह कितनी ही समृद्ध और प्रगतिशील रही हो, बर्बर आक्रमणों के थपेड़े के आगे ठहर नहीं सकती। स्पष्ट है कि पशुपालक कृषि प्रेमी आर्यों ने धीरे-धीरे यहाँ के मूल अनार्य निवासियों को परास्त कर दिया और उनकी सभ्यता को अपनी सभ्यता में एकीकृत कर दिया।

प्रश्नावली

१. मोहनजोदड़ो व हड़प्पा के भग्नावशेषों के आधार पर सिन्धु-घाटी की संस्कृति पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

२. सिन्धु-घाटी-सभ्यता का संक्षिप्त हाल लिखिए और सम्पूर्ण रूप से उसके महत्त्व को समझाइए। अथवा

ताम्र-काल में सिन्धु-सभ्यता के लोगों के धार्मिक विश्वास, प्रथाओं और रूढ़ियों का वर्णन कीजिए।

३. भारत में प्रागैतिहासिक काल में कौन-कौनसी मुख्य आदिम जातियाँ थीं? उनकी संस्कृति व भाषा के सम्बन्ध में अपनी जानकारी बताइए।

४. सिन्धु-घाटी तथा आर्यों की संस्कृति एवं सभ्यता का तुलनात्मक विवेचन कीजिए। आर्य सिन्धु-घाटी की सभ्यता को अपनाने में कहाँ तक समर्थ हुए ?

५. श्री पाणिकर के इस कथन पर टिप्पणी लिखिए कि भारत में सभ्यता का आगमन आर्यों के आगमन के साथ नहीं हुआ।

६. निम्नलिखित पर संक्षेप में टिप्पणी लिखिए :
द्रविड़ संस्कृति; हड़प्पा; मोहनजोदड़ो की मुहरें; प्रशस्त स्नानागार (Great Bath) एवं सिन्धु-घाटी की संस्कृति।

७. द्रविड़ कौन थे ? उनकी संस्कृति एवं सभ्यता का उल्लेख कीजिए व आर्यों की संस्कृति व सभ्यता से उनके भेद बताइए।

८. हमारी राष्ट्रीय संस्कृति को द्रविड़ लोगों की जो देन है उसका विवेचन कीजिए।

3

वैदिक युग

हमने पिछले अध्याय में सिन्धु-घाटी की सम्पन्न सभ्यता का वर्णन किया है। इसके बाद जो सभ्यता भारत में समुदय और समृद्ध हुई वह इससे बहुत ही भिन्न रही। इस संस्कृति के मूल संस्थापक और प्रसारक आर्य थे। इन्होंने भारत में उत्तर-पश्चिम की ओर से प्रवेश किया। ये उस समुदाय के थे जिसे इण्डोयूरोपियन कहते हैं। यह एक दीर्घ विवादग्रस्त विषय है कि इण्डोयूरोपियन आर्यों का अपने अन्तिम विभाजन के पूर्व मूल निवासस्थान कहाँ था। मध्य एशिया, यूरोप, रूस के स्टेप्स के मैदान एवं ध्रुव प्रदेश इनके निवासस्थान बतलाये गये हैं; परन्तु विद्वानगण अभी तक कोई निश्चयात्मक निर्णय नहीं कर पाये हैं, फिर भी विविध मतों का मूल सार यही है कि इनका निवासस्थान मध्य एशिया में ही कहीं था।

आर्य—अपने मूल निवासस्थान से इण्डोयूरोपियन लोग अनेक दिशाओं में चल पड़े। इनकी एक शाखा ईरान और भारत की ओर मुड़ी एवं बहुत दीर्घकाल तक ये एक स्थान में रहे। इसी प्रशाखा को आर्य नाम दिया गया। इसी प्रशाखा ने मूल इण्डोयूरोपियन धर्म का विकास और विस्तार किया तथा नवीन देवताओं एवं पुरोहितों के नवीन वर्ग का सृजन किया जो उनके तथा उनके देवताओं के बीच मध्यस्थता का कार्य करते थे। इन्होंने सबके हेतु भौतिक नियमों का निर्माण किया तथा यज्ञ-प्रथा को प्रचलित किया जिसमें अग्नि की उपासना व पूजा प्रधान थी। अन्त में वे दो शाखाओं में विभाजित हो गये—एक शाखा ईरान देश को चली गयी और दूसरी भारत में प्रविष्ट हो गयी।

भारत के बाहर ऐसे प्रमाण प्राप्त हुए हैं जिनसे प्रकट होता है कि एशिया माइनर एवं पश्चिमी एशिया के अन्य देशों में आर्यों की पहुँच थी और वहाँ वे सक्रिय थे। एशिया माइनर में बोगाजाकोई में, जो प्राचीन हिट्टीटी (Hittites) की राजधानी थी, पाये गये। ईसा से १४०० वर्ष पूर्व के कुछ शिलालेखों में आर्यों के कतिपय देवताओं जैसे इन्द्र, वरुण, मित्र नसस्यस (अश्विन) का विवरण है। मिट्टनी राजाओं ने ईसा से १४०० वर्ष पूर्व जो सन्धि की थी उसे स्वयं देखने व संरक्षण करने के हेतु आर्य देवताओं की आराधना की गयी थी। कसीट सम्राट, जो बेबीलोन पर ६ शताब्दियों तक (ईसा से १८०० वर्ष पूर्व से

१२०० वर्ष पूर्व तक) शासन करते रहे, आर्य नामों का प्रयोग करते थे। पंजाब में प्रविष्ट होने वाले आर्यों एवं ईरान निवासियों में जो सम्बन्ध है वह उनकी भाषा तथा धार्मिक ग्रन्थों की घनिष्ठ साम्यता प्रकट करता है। कतिपय विद्वानों का मत है कि ये बातें यह संकेत करती हैं कि भारत में प्रवेश करने के पूर्व आर्य इधर-उधर भ्रमण करते हुए इन प्रदेशों में कुछ समय तक रहे। परन्तु अन्य विद्वानों की धारणा है कि भारत के आर्यों के साथ वाणिज्य-व्यवसाय या अन्य किसी प्रकार के सम्पर्क में आने से ही उन पर आर्यों के प्रभाव पड़े।

आर्यों की जिस शाखा ने भारत में प्रवेश किया उसे इण्डो-आर्य या हिन्दू आर्य कहते हैं। भारत के तत्कालीन निवासियों की तुलना में आर्य लोग अधिक सुन्दर, लम्बे मस्तक, सीधी नाक, चौड़े कपोल तथा श्रेष्ठ मुखाकृति वाले लोग थे। उनके भारत में प्रवेश करने का काल ईसा से पूर्व ५००० वर्ष या इससे पूर्व से लेकर ईसा से १५०० वर्ष तक के समय का अनुमान किया जाता है। यद्यपि इस विषय में कोई निश्चित तिथि बतलाना असम्भव है परन्तु ईसा से २५०० वर्ष पूर्व से लेकर २००० वर्ष तक का समय कई प्रकार से उचित प्रतीत होता है।

आर्य लोग भारत में धीरे-धीरे आये। वे भारत में एक ही बार एवं एक ही विशाल समूह में प्रविष्ट नहीं हुए। उनके भारत आने की प्रक्रिया बड़ी लम्बी थी जो अनेक शताब्दियों में विभक्त थी। इस देश में आर्य लोग आक्रमणकारियों के रूप में नहीं आये; परन्तु वे अपने पशु, स्त्री, परिवार, गृहस्थी के सभी उपकरण तथा अपने देवताओं सहित शान्तिप्रिय प्रवासी के रूप में आये थे। वे एक के पश्चात् एक झुण्ड के झुण्ड दीर्घकाल तक आते रहे। परन्तु इनके आगमन का भी घोर विरोध किया गया। जैसे ही वे पूर्व की ओर अग्रसर होने लगे तो उन्हें ऐसे लोगों से संघर्ष करना पड़ा जो पुर तथा दुर्ग जैसे सुरक्षित स्थानों में अपने राजा तथा मुखिया की अध्यक्षता में रहते थे। वेदों में इन्हें घृणास्पद भावना के साथ दस्यु अथवा दास कहा गया है। ऋग्वेद में भी ऐसे शत्रु के सैकड़ों स्तम्भ वाले दुर्गों का विवरण है जिससे आर्यों को युद्ध करना पड़ा था। वेदों की अनेक ऋचाओं में देवताओं से प्रार्थना की गयी है कि वे शत्रुओं के साथ युद्ध करने में आर्यों की सहायता करें और यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि वेदों में श्रेष्ठ देवता, देवराज इन्द्र को पुरन्दर अथवा नगरों का दलन करने वाला कहा गया है। ऐसा माना जाता है कि इन्द्र ने अनेक नगरों का संहार किया था। भारत के एक मूल निवासी राजा के एक सौ नगरों पर आर्यों द्वारा आक्रमण करने का एक बड़ा ही मनोरंजक वर्णन प्राप्त हुआ है। वेद मन्त्रों में भरत जाति के राजा दिवोदास और दस्युराज संबर के युद्धों का बारम्बार प्रकरण आया है। कालान्तर में क्रमशः संघर्ष और युद्ध की भावना

और भयानकता कम होती गयी। अन्त में आर्यों ने पूर्व आर्य लोगों पर पूर्ण विजय प्राप्त की तथा बाद में घुल-मिल गये। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया हिन्द आर्य यहाँ के निवासियों में मिश्रित हो गये, परन्तु फिर भी वे अपनी संस्कृति के अमिट चिह्न छोड़ ही गये।

वैदिक साहित्य—भारत के आर्यों के विषय में हमारे ज्ञान का आधार एक विस्तृत साहित्य है जो वेदों के नाम से प्रख्यात है। वेद शब्द 'विद्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'जानना'। सामान्यतः इसका अर्थ है 'ज्ञान'। इसका प्रयोग साहित्य के एक विशेष शाखा के लिए होता है जो पवित्र ज्ञान, दैवी ज्ञान अथवा श्रुति के नाम से घोषित किया गया है। अनादिकाल से यह ज्ञान कण्ठाग्र करके पीढ़ी दर पीढ़ी चला आ रहा है। वेद चार हैं—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद।

वेदों के निम्नांकित अंग हैं—(१) चारों वेदों की संहिताएँ, (२) प्रत्येक संहिता से सम्बन्धित ब्राह्मण—ग्रन्थ, और (३) अरण्यक एवं उपनिषद् जो अधिकांश में ब्राह्मण ग्रन्थों से सम्बन्धित है परन्तु वस्तुतः ये विभिन्न तथा स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। संहिताओं में अनेक देवताओं की प्रशंसा में गायी जाने वाली ऋचाएँ या मन्त्र हैं। परन्तु अथर्ववेद संहिता में जादू-टोना, सम्मोहन एवं इन्द्रजाल का विवरण है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रार्थना तथा यज्ञ-विधियों के प्रकरण हैं। इनमें संहिताओं की ऋचाओं की व्याख्या शास्त्रोक्त एवं सैद्धान्तिक ढंग से की गयी है। इनका विषय कर्मकाण्ड एवं अनुष्ठान है तथा भाषा गद्य है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग अरण्यक हैं जिनमें दार्शनिक सिद्धान्त, कर्मकाण्ड-विधियों एवं अनुष्ठानों के रूपकमय महत्त्व का वर्णन है तथा संहिताओं के मूल ग्रन्थों के रहस्यमय आर्यों की व्याख्या है। ये इतने पवित्र माने जाते थे कि इनका पठन-पाठन आरण्य के अतिरिक्त अन्य किसी स्थल पर निषिद्ध था। उपनिषदों का अर्थ है 'गोपनीय या ब्रह्मज्ञान के सिद्धान्त'। उपनिषद् या तो अरण्यकों से मिले हुए हैं या उनके परिशिष्ट हैं। इनमें आध्यात्मिक विषय जैसे ब्रह्म, परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति के रहस्य आदि का विवेचन है।

उपर्युक्त साहित्यिक ग्रन्थों को 'श्रुति' अथवा 'ईश्वर प्रदत्त ज्ञान' कहते हैं और यथेष्ट में इनकी ही गणना वैदिक साहित्य में की गयी है। परन्तु इनसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले कुछ ऐसे सहायक ग्रन्थ हैं जो यद्यपि श्रुति का अंग तो नहीं माने जाते हैं परन्तु उनमें ऐसी रचनाएँ हैं जिन्हें 'वेदांग' कहते हैं। इन्हें 'स्मृति' कहा जाता है। यह वह साहित्य है जो प्राचीनकाल से पीढ़ी दर पीढ़ी परम्परानुसार चला आ रहा है। अधिकांश में इनकी उत्पत्ति वैदिक परम्पराओं में हुई तथा इनके विषयों को संक्षिप्त गद्य-शैली में वर्णन किया गया जिससे ये सरलता से कण्ठस्थ किये जा सकें। इन्हें 'सूत्र' कहा गया है। सूत्र-

ाहित्य के चार भाग हैं—श्रोत सूत्र, ग्रह्य सूत्र, धर्म सूत्र और शुल्व सूत्र। वेदांग ंख्या में छह हैं अर्थात् शिक्षा (स्व-विद्या), कल्प (कर्मकाण्ड), व्याकरण, नेरुक्त, छन्दस तथा ज्योतिप।

वैदिक माहित्य के पूर्वतम काल की तिथि भारत में आर्यों के आगमन से निष्ठ सम्बन्ध रखती है। यह घटना सम्भवतः ईसवी पूर्व तृतीय सहस्राब्दी में ुई होगी। कतिपय विद्वानों की धारणा है कि ईसवी पूर्व प्रथम सहस्राब्दी में ऋग्वेद संहिता की रचना हुई थी जो साहित्य की ऋचाओं का प्राचीनतम ंकलन है। मैक्समूलर इस तिथि को केवल सम्भावित न्यूनतम काल-सीमा ानते हैं। इसके विपरीत प्रोफेसर जैकोबी एवं श्री बालगंगाधर तिलक जैसे वेद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इन वेद-मन्त्रों में से कुछ की रचना ईसा से म से कम चार सहस्र वर्ष पूर्व हुई होगी। प्रोफेसर विटरनिट्ज का, जो इस वेषय पर अन्तिम प्रामाणिक व्यक्ति माने जाते हैं, कथन है कि वेदों का चना-काल मैक्समूलर की अपेक्षा प्रो० जैकोबी तथा तिलक द्वारा निर्धारित वधि के आसपास ही मानना उचित है। इस प्रकार ऊपर जो कुछ भी वेवेचना हुई है उसके आधार पर वेदों का रचना-काल निर्दिष्ट रूप से निर्धारित रना असम्भव है; फिर भी ई० पूर्व १५०० से ई० पूर्व १२०० तक का काल धिक सत्य प्रतीत होता है।

वेदों का रचना-काल एक सहस्र वर्ष से अधिक की अवधि में विस्तृत होने ा, यह समुचित प्रतीत होता है कि इस दीर्घकाल में राजनीतिक तथा सामाजिक वस्था में अनेक परिवर्तन हुए होंगे। यद्यपि निश्चित समय की सीमा निर्धारित रना अति दुष्कर कार्य है, परन्तु वैदिक युग का वर्णन सामान्यतः दो भागों ं किया जाता है—पूर्व वैदिक काल तथा उत्तर वैदिक काल।

पूर्व वैदिक काल

सप्त-सिन्धु—वह भौगोलिक क्षेत्र जिस पर अन्त में ऋग्वेद-काल की ातियों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, कतिपय नदियों के उल्लेख ा स्पष्ट हो जाता है। ये नदियाँ आज सरलता से पहचानी जा सकती हैं। नमें से अत्यधिक प्रसिद्ध अफगानिस्तान तथा पंजाब की नदियाँ हैं, जिनमें से ुख्य ये हैं—कुभा (काबुल), सुवास्तु (स्वात), क्रम (कुर्रम), गोमती (गोमल), सन्धु (इण्डस), सुशोभा (सोहान), वितस्ता (झेलम), असिचनी (चिनाब), रुष्णी (रावी), करुद्वृद्ध (मरुववर्दन), विपास (व्यास), शुतुद्रि (सतलज), ारस्वती (सरसुती), दृशद्वती (रक्शी या चौतांग), यमुना, गंगा और सरयू। न नदियों का वर्णन यह प्रमाणित करता है कि देश के पर्याप्त भूखण्ड पर, ो पूर्वी अफगानिस्तान से गंगा की घाटी के उत्तरी भाग तक विस्तृत था, ार्यों का आधिपत्य स्थापित हो गया था। इस क्षेत्र का वृहत्तर भाग सप्त-

सिन्धु (सात नदियों का देश) नाम से प्रख्यात था। ऋग्वेद में पर्वतों के वर्णन के समय हिमालय और उसके कतिपय शृंगों का विवरण बार-बार आया है परन्तु विन्ध्याचल तथा भारत के अन्य पर्वत श्रेणियों का नहीं। इस प्रकार नदियों में नर्मदा के नाम का सर्वथा अभाव है। इससे सरलता से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि ऋग्वेद के युग में आर्यों ने दक्षिण में उपनिवेश स्थापित नहीं किये थे और गंगा-यमुना के दोआब में वे पूर्व की ओर अधिक आगे नहीं बढ़ पाये थे।

राजनीतिक व्यवस्था

राजनीतिक इकाइयाँ—ऋग्वेद युगीन लोगों की राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था का आधार पितृसत्तात्मक परिवार था। अधिक ऊँची इकाइयाँ ग्राम, विश तथा जन कहलाती थीं। ग्राम, विश तथा जन में वास्तविक पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्ट वर्णन कहीं भी नहीं है। समान पूर्वज से समुद्भूत कुलों या परिवारों का समाहार 'ग्राम' कहलाता था जिसके साथ कृषि के योग्य भूमि लगी रहती थी। ग्रामणी की अध्यक्षता में ग्राम एक निश्चित इकाई होती थी। ग्रामों के समुदाय को 'विश' कहते थे जो विशपति की अध्यक्षता में रहता था। विस्तृत रूप में विशों के समुदाय को 'जन' कहते थे जिसके सदस्य या वास्तविक या माने हुए राजा के शासन-सूत्र में बँधे होते थे। 'जन' के नेता को राजा कहते थे। देश में स्थान-स्थान पर गाँव थे जो कभी-कभी सड़कों द्वारा जुड़े होते थे। गाँव की सम्पूर्ण भूमि पहले 'जन' (Tribe) के अधिकार में होती थी परन्तु कुछ समय पश्चात् उस पर राजा के अधिकार की भावना उत्पन्न हुई। इस काल के राज्य छोटे थे परन्तु युद्धों व दस्युओं के साथ संघर्ष के परिणामस्वरूप एक नेता के नेतृत्व में संगठन की प्रवृत्ति हो चली थी एवं जन-पद राज्यों का सूत्रपात हो चला था।

कबीले या जनवर्ग (Tribes)—लोग अनेक वर्गों में विभक्त थे जिन्हें 'जन' कहते थे। प्रत्येक 'जन' किसी राजा के अधिकार में होता था, जो 'जन' का संरक्षक या 'गोप' कहलाता था। जिन वर्गों या कबीलों ने विशिष्ट गौरव प्राप्त कर लिया था और जिनका वेदों में बहुधा 'पञ्चजनाः' के नाम से विवरण प्राप्त होता है वे पुरु, तुर्वस, यदु, अनु तथा द्रुह्यु थे। इन जनों के स्थानों का पता लगाना दुष्कर है।

शासन-विधान—ऋग्वेद काल की जातियों में प्रचलित सरकार राज-तन्त्रात्मक थी परन्तु कालान्तर में अराजतन्त्रात्मक जातियों के लिए प्रयुक्त होने वाले नामों का भी उल्लेख है। 'जन' के साथ 'गणपति' अथवा 'ज्येष्ठ' का विवरण प्राप्त होता है। 'ज्येष्ठ' जन का मुखिया होता था। 'ज्येष्ठ' शब्द पाली ग्रन्थों के 'जेठक' से साम्य रखता है। इससे यह संकेत मिलता है कि पूर्व

बौद्ध काल के सुप्रसिद्ध गणतन्त्र से मिलती-जुलती कोई राजनीतिक व्यवस्था उस युग में प्रचलित थी। सामान्यतः कुलागत (Hereditary) रूप से राजा होने की प्रथा थी परन्तु निर्वाचित राजा का सर्वथा अभाव भी नहीं था। अथर्ववेद में जनता के निर्वाचित राजाओं के अनेक हवाले हैं। स्वयं ऋग्वेद में भी इस बात पर अधिक जोर दिया गया है कि राज्यसत्ता को स्थिर और दृढ़ करने के हेतु जनता की स्वीकृति अनिवार्य है। यद्यपि ऋग्वेद में मौर्य या गुप्त सम्राटों के समान किसी प्रादेशिक राजा का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है तथापि सार्वजनिक राजतन्त्र (विश्वस्य भुवनस्य) के भाव का आभास मिलता है।

कबीले में राजा को गौरवपूर्ण श्रेष्ठ स्थान प्राप्त होता था। वह वैभव तथा ऐश्वर्य के साथ जीवन व्यतीत करता था। उसकी सत्ता तथा प्रभुत्व को अंगीकार करने के लिए प्रजा बाध्य थी। राजा का आदर्श बहुत ही श्रेष्ठ था। अपने राज्य-सीमा के अन्तर्गत होने वाले प्रत्येक पाप अथवा अपराध के लिए वह अपने को उत्तरदायी मानता था। राज्याभिषेक के समय उसकी यह शपथ होती थी कि "उसकी सम्पूर्ण प्रजा उसे अपना राजा बनाने की अभिलाषा रखे और उसके हाथ से राज्य कभी न निकले।" प्रजा के सम्मुख उसकी दूसरी शपथ होती थी कि "यदि मैं आपके हित के विरुद्ध कार्य करूँ तो मेरे और मेरी सन्तान के जीवन का अन्त कर दिया जाय।" राजा पिता के समान होता था जिसे अपनी प्रजा की देखभाल सन्तान के समान करनी पड़ती थी। उसका प्रमुख कर्तव्य जाति तथा राज्य सीमा की रक्षा करना था। वह वाह्य शत्रुओं से युद्ध करता तथा युद्ध में जनता का नेतृत्व करता था। युद्धस्थल में नेतृत्व करने, सैन्य-संचालन करने, एवं देवताओं को प्रसन्न करने में उसे दक्ष तथा कुशल होना पड़ता था। प्रचलित न्याय विधान के अनुसार वह शासन-संचालन करता था। कतिपय अधिकारियों द्वारा शासन-संचालन में उसे सहायता प्राप्त होती थी। ऋग्वेद में ऐसे तीन पदाधिकारियों सेनानी, ग्रामणी तथा पुरोहितों का उल्लेख है। सेनानी सेना का नायक होता था जिसे राजा नियुक्त करता था, ग्रामणी अथवा गाँव का मुखिया, ऐसा प्रतीत होता है कि ग्राम्य पदाधिकारी होता था जो प्रशासन तथा सेना सम्बन्धी दोनों ही प्रकार के कार्य करता था। पुरोहित, जो राजा का परामर्शदाता एवं ब्राह्मण वर्ण का होता था, राज्य कर्मचारियों में सबसे प्रमुख, प्रभावशाली एवं प्रतिष्ठावान व्यक्ति होता था। वह अपने संरक्षक राजा के पराक्रम का गुणगान ऋचाओं में किया करता था तथा उपहारों एवं दक्षिणाओं के बदले वह अपने स्वामी को सर्वांगीण सफलता के हेतु ऋचाओं द्वारा देवताओं की स्तुति करता था। वह बहुधा परम्परानुकूल होता था और सदैव राज-सभा में रहता था। प्रजा का संरक्षक होने के नाते राजा को न्याय करने एवं अपराधियों को दण्ड देने का अधिकार

होगा परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि साधारणतया न्याय-व्यवस्था परिवार एवं ग्राम के अधिकार में रहती थी। हत्या का दण्ड द्रव्य के रूप में होता था जो मार डाले गये व्यक्ति की स्थिति के अनुकूल कम व अधिक हो सकता था। उच्च श्रेणी के व्यक्ति की हत्या का दण्ड सौ गायों तक दिया जा सकता था जो मृत पुरुष के सम्बन्धियों को दिया जाता था। चोरों को कटघरों में बन्द किया जाता था और दिवालिये ऋणी व्यक्ति बेचकर दास बना लिये जाते थे। छोटे-छोटे फौजदारी तथा दीवानी अभियोगों का निर्णय ग्राम पंचायत किया करती थी। ऐसा कोई प्रमाण नहीं प्राप्त हुआ जिससे यह सिद्ध हो जाय कि प्रजा की व्यक्तिगत भूमि पर राजा का अधिकार होता था। परन्तु राज्य शासन-संचालन के हेतु लोग अपनी भूमि राजा को समर्पित कर देते थे। पराजित राजाओं से कर लिया जाता था। धार्मिक तथा सामाजिक अवसरों एवं जुलूसों पर राजा अपनी जाति का प्रतिनिधित्व भी करता था। राजा की एक गुप्तचर प्रथा थी।

लोकप्रिय परिषद्—राजा यद्यपि प्रजा का स्वामी होता था, तथापि वह उनकी इच्छा के विरुद्ध शासन नहीं करता था। उसे स्वेच्छाचार करने का निरंकुश अधिकार न था। जनता का शासन-कार्य लोकप्रिय परिषद् में, जिसे समिति कहते थे, होता था। समिति में राजा एवं प्रजा समान रूप में उपस्थित हुआ करते थे। समिति समूची प्रजा की संस्था होती थी और राज्य की बाग-डोर उसके हाथ में रहती थी। हमको एक अन्य परिषद् का भी हवाला मिलता है। इसे सभा कहते थे और आधुनिक जनसभा (Council of Elders) से मिलती-जुलती है। कतिपय व्यक्तियों की धारणा है कि यह ग्राम परिषद् या जातीय परिषद् थी। ऋग्वेद के कुछ अनुच्छेद 'सभा' को धनसम्पन्न सुन्दर व्यक्तियों से सम्बन्धित करते हैं। इससे इस मत की पुष्टि होती है कि यह 'सभा' प्रधान रूप से सम्पूर्ण जाति की अपेक्षा विशिष्ट प्रौढ़ व्यक्तियों की जनसभा का ही कार्य करती थी। सम्भव है 'समिति' एवं 'सभा' को शासन तथा न्याय सम्बन्धी कुछ विशिष्ट अधिकार रहे हों पर यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन अधिकारों का प्रयोग किस प्रकार किया जाता था। यद्यपि कुछ लोगों का अनुमान है कि इन परिषदों का महत्त्वपूर्ण कार्य राजा का निर्वाचन करना था, परन्तु इस धारणा के हेतु कोई सशक्त प्रबल प्रमाण नहीं प्राप्त होता था। इन परिषदों के सदस्यों के सम्बन्ध में पूर्ण एवं निश्चित रूप से कुछ कहना भी कठिन है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये प्रतिनिधि संस्थाएँ थीं। उपर्युक्त वर्णन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सरकार का कोई भी रूप क्यों न रहा हो, राज्य का प्रमुख स्वच्छन्द निरंकुश शासन नहीं होता था। उसकी शक्ति प्रजा के मन्तव्यों से परिमित थी तथा जनता की दो संस्थाएँ 'समिति' एवं 'सभा' उनके शासन पर अंकुश का काम

करती थीं। इन दोनों परिषदों का निर्माण, ऐसा प्रतीत होता है कि कबीले, वर्ग, मण्डल और राष्ट्र के आधार पर होता था।

युद्ध-प्रथा—ऋग्वेद कालीन राजनीतिक व्यवस्था में युद्ध का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। आर्य लोग न केवल आदिवासियों से ही युद्ध करते थे, अपितु वे परस्पर भी बहुधा लड़ा-भिड़ा करते थे। उस समय कोई नियमित सेना नहीं थी। आवश्यकता होने पर जनसाधारण मे ही सेना का निर्माण होता था। जो भी हो, सेना के अन्तर्गत पैदल सिपाही अवश्य होते होंगे जिन्हें बाद में 'पदाति' कहा गया है और साथ ही 'राथिर' अथवा योद्धा भी होंगे जो रथों में बैठकर युद्ध करते थे। कुछ युद्ध गीतों में उछलने वाले अश्वों की ओर संकेत किया गया है; परन्तु रणक्षेत्र में अभी तक हाथी का प्रयोग नहीं किया गया था। ऋग्वेद में अश्वारोहण का उल्लेख तो है परन्तु अश्व सेना का नहीं है। सेनानी अपनी रक्षा के हेतु कवच, धातु-निर्मित शिरस्त्राण तथा ढाल का प्रयोग करते थे। इनके आक्रमणात्मक अस्त्र-शस्त्रों में धनुष-बाण, तलवार, भाला तथा गोफन होते थे। दो प्रकार के बाणों का प्रयोग होता था—एक विषाक्त होता था जिसका अग्रभाग सींग का बना होता था, दूसरा ताम्र या लौह मुख वाला (आपोमुख) होता था। हमें चलते हुए दुर्ग अथवा 'पुरचीरणु' का उल्लेख प्राप्त होता है जो सम्भवतः सुरक्षित स्थानों पर आक्रमण करने का कोई विशिष्ट यन्त्र रहा होगा। युद्ध में पताकाओं का प्रयोग किया जाता था तथा युद्ध संगीत की पूर्ति के हेतु ढोल एवं तुरही का प्रयोग होता था। आक्रमण के समय योद्धा युद्ध-घोष करते और नगाड़े (दुन्दुभियाँ) बजाते थे। आर्य लोग अपने शत्रुओं से युद्ध करते समय अथवा उससे पूर्व अपने देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए उनकी स्तुति किया करते थे।

सामाजिक जीवन

परिवार—आर्यों ने स्वस्थ सामाजिक और राजनीतिक जीवन का विकास कर लिया था। व्यक्ति की अपेक्षा परिवार ही सामाजिक एवं राजनीतिक इकाई समझा जाता था। परिवार के सदस्य एक ही गृह में रहते थे। प्रत्येक गृह में एक बैठक तथा महिलाओं के लिए विभिन्न कमरों के अतिरिक्त एक अग्निशाला होती थी। परिवार का मुखिया पिता होता था और उसे 'गृहपति' अथवा 'दम्पति' कहते थे। परिवार के सदस्यों पर उसका पूर्ण अंकुश होता था। यद्यपि वह सामान्यतया दयालु तथा स्नेही होता था, तथापि ऐसा उल्लेख भी है कि समय-समय पर उसने निर्दयता के कार्य भी किये। हमें एक ऐसे पिता की कहानी मिली है जिसने अपने पुत्र को अतिशय व्यय के कारण अन्धा कर दिया था। परिवार का मुखिया अपनी पत्नी सहित सभी धार्मिक कृत्यों एवं विधियों को पूर्ण करता था और गृहस्थी के कार्य में उसकी पत्नी उसका

हाथ बँटाया करती थी। पति और पत्नी के अतिरिक्त आर्यों के परिवार में माता-पिता, भ्राता-भगिनी, पुत्र-पुत्री आदि भी रहते थे। साधारणतया इनमें पारस्परिक स्नेह होता था एवं इस पारिवारिक जीवन की सहृदयता कामना की वस्तु थी।

स्त्रियों की स्थिति—उस युग में महिलाओं की महान प्रतिष्ठा थी। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो यह प्रकट करे कि समाज में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों की अपेक्षा नीची थी तथा वे पुरुषों की उपाश्रित और अधीनस्थ होती थीं। बौद्धिक तथा आध्यात्मिक जीवन में स्त्रियों को वही प्रतिष्ठा प्राप्त थी जो पुरुषों को। आधुनिक युग जैसी पर्दा प्रथा नहीं थी और विधवाओं को चिता में जीवित जला देने की 'सती' प्रथा भी प्रचलित नहीं थी। कन्याओं की शिक्षा की अवहेलना नहीं की जाती थी। ऋग्वेद में विदुषी स्त्रियों का विवरण मिलता है। विश्ववारा, घोषा तथा अपाला आदि ने ऋषियों का प्रतिष्ठित पद प्राप्त किया था और नर-ऋषियों की भाँति मंत्र-रचना भी की थी। यदि वैदिक युग के कवियों तथा दार्शनिकों में कुछ स्त्रियाँ थीं तो कुछ स्त्रियाँ योद्धा भी थीं। कन्याओं का विवाह पूर्ण यौवनावस्था प्राप्त हो जाने पर किया जाता था। अपने माता-पिता की अनुमति से कन्याओं ने कभी-कभी अपना जीवन-साथी भी चुना था। इस प्रकार वैदिक युग के बाद होने वाली स्वयंवर प्रथा की पूर्व छाया का आभास मिलता है। युवतियों को अपने पति के निर्वाचन की काफी स्वतन्त्रता थी। "स्वभावतः कोमल तथा रूपवती स्त्री अनेकों में से अपने प्रेमी पति का चुनाव करती है" (**ऋग्वेद**)। प्रेम के हेतु तथा धन के हेतु दोनों ही प्रकार के विवाहों का प्रचार था। विवाह एक पवित्र धर्मानुकूल संस्कार माना जाता था। पाणिग्रहण-संस्कार वधू के माता-पिता के गृह में सम्पादित किया जाता था। विवाह-सम्बन्धी ऋचाएँ वैदिक आर्यों के उदार दृष्टिकोण का परिचय देती हैं। इनमें से कुछ ऋचाएँ इस प्रकार हैं :

पुरोहित वधू को सम्बोधित कर कहता है—"हे वधू! मंगलकारी शुभ शकुनों से अपने पति के गृह में प्रवेश करो। हमारे सेवक-सेविकाओं तथा पशुओं के प्रति सद्व्यवहार करो।······"

"कुदृष्टि विहीन हो, अपने पति को पीड़ा न पहुँचाओ, हमारे पशुओं के प्रति दया-भाव दिखाओ, मैत्री-पूर्ण व्यवहार करो, स्फूर्तिवान हो, वीर प्रसवनी हो, देवताओं से प्रेम करो और सुखमय जीवन व्यतीत करो एवं हमारे चतुष्पदों का कल्याण करो।" (**ऋग्वेद—१०–८५**)

साधारणतया पुरुष एक पत्नी के साथ विवाह करता था और इस प्रकार एक पत्नीव्रत का सामान्य नियम था। फिर भी बहुपत्नी प्रथा प्रचलित थी, किन्तु यह राजाओं तथा प्रतिष्ठित प्रमुख व्यक्तियों तक ही सीमित थी। विधवा

के पुनर्विवाह की अनुमति थी परन्तु वह सामान्य नियम नहीं था। कानून की दृष्टि में स्त्रियाँ स्वतन्त्र नहीं थीं। उन्हें अपने पालन-पोषण के लिए अपने पुरुष सम्बन्धियों का आश्रय लेना पड़ता था। परन्तु परिवार में स्त्रियों की बड़ी प्रतिष्ठा होती थी। 'दम्पति' शब्द कभी-कभी गृह-स्वामी तथा गृह-स्वामिनी दोनों के लिए ही प्रयुक्त होता था। पत्नी अपने पति के धार्मिक कृत्यों में सहयोग देती थी तथा उसके गृह की रानी थी। ऋग्वेद में स्त्रियों को पृथक रखने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। समारोहों और उत्सवों के अवसर पर स्त्रियाँ शृंगारित और अलंकृत होती थीं एवं सूर्य की रश्मियों से आभासित होती थीं। स्त्रियों के बाहर निकालने तथा आने-जाने की स्वतन्त्रता पर कोई अंकुश न था। वे आकर्षक वस्त्राभूषण धारणकर घर के यज्ञों, त्यौहारों तथा सामाजिक समारोहों में सम्मिलित होती थीं। सदाचार का स्तर काफी ऊँचा था, यद्यपि उसमें कभी-कभी व्यतिक्रम भी हो जाया करता था। स्त्रियों की इतनी उच्च सम्माननीय स्थिति होते हुए भी इस युग में पुत्रियों की अपेक्षा पुत्रों की कामना अधिक की जाती थी।

वसनाभूषण एवं शृंगार—इस युग के वस्त्र विभिन्न रंग के होते थे जो सूत, मृग चर्म तथा ऊन के बनते थे। पोशाक के तीन वस्त्र थे—अधो वस्त्र जिसे 'नीवि' कहते थे, 'वास' अथवा 'पराधीन' तथा ओढ़ने का वस्त्र जिसे 'अधिवास', 'अत्क' अथवा 'द्रपी' कहते थे। बहुधा वस्त्रों पर स्वर्ण के तारों का कसीदा काढ़ा जाता था। उष्णीय या पगड़ी भी पहनी जाती थी। ब्रह्मचारी श्याम मृग की छाल पहनते थे। स्वर्णाभूषणों तथा पुष्पहारों का प्रयोग विशेषकर उत्सवों पर अत्यधिक प्रचलित था। केश लम्बे रखे जाते थे। उनमें तेल डालकर कंघा किया जाता था। नारियाँ अपने लम्बे केशों को गूँथकर चौड़ी वेणियाँ बना लेती थीं। नर-नारी दोनों आभूषण पहनते थे। इन आभूषणों में स्वर्णहार, कुण्डल, अंगद, कंकण, गजरे, नूपुर आदि प्रमुख थे।

आहार—लोगों के भोजन में गेहूँ तथा जौ मुख्य था। दूध तथा उससे तैयार होने वाली विभिन्न वस्तुएँ जैसे दही, मक्खन तथा अनेकों शाक व फल भी प्रयोग में लाये जाते थे। विशेष अवसरों जैसे प्रीतिभोज विवाह तथा पारिवारिक समारोह पर आमिष भोजन का व्यवहार होता है। क्रमशः गोवध अनुचित माना जाने लगा था जैसा कि अनेक लेखों में गाय के हेतु प्रयुक्त 'अघ्न्या' नाम से प्रकट होता है। बड़े आश्चर्य की बात है कि ऋग्वेद में कहीं भी नमक का उल्लेख नहीं है। पीने के लिए जल सरिताओं, स्रोतों तथा 'अवट' अथवा कृत्रिम जल-कूपों से प्राप्त होता था जिनमें से पाषाण के एक पहिये द्वारा उसे ऊपर खींचकर लकड़ी की बालटियों में भरते थे। उस युग में केवल दूध और जल ही पेय न थे। आसव पान भी बहुतायत से होता था। साधारण

अवसरों पर लोग सुरा का प्रयोग करते थे। बाद के युगों में इसके प्रयोग की निन्दा की गयी। यज्ञ तथा धार्मिक अवसरों पर 'सोम' नामक पौधे के मादक रस का प्रचुरता से व्यवहार होता था। वैदिक मन्त्रों में मद्यपान करने वाले को बहुधा दोषी बताया है। वेद घोषित करते हैं 'क्रोध, द्यूत-क्रीड़ा तथा सुरा-पान मनुष्य को पाप कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं।

मनोरंजन—आर्यों का जीवन नीरस नहीं अपितु आमोदप्रिय था। द्यूत-क्रीड़ा, युद्ध-नृत्य रथधावन तथा आखेट लोगों के मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। मनोविनोद के अन्य साधनों में मुष्टियुद्ध, वीणा, बाँसुरी तथा ढोल के साथ नृत्य तथा संगीत का उल्लेख किया जा सकता है। त्यौहारों तथा अन्य अवसरों पर नृत्य, गान अनवरत होते थे। स्त्रियाँ वीणा व झाँझ के साथ नृत्य व गान में अपनी दक्षता का प्रदर्शन करना अत्यधिक पसन्द करती थीं। वैदिक युग के संगीतज्ञों को जीवन के आनन्द का वर्णन करने में विशेष अभिरुचि थी। शत्रु के अतिरिक्त वे अन्य किसी भी सम्बन्ध में मृत्यु का वर्णन बहुत ही कम करते थे।

नैतिकता—लोगों के आचार-विचार बड़े पवित्र थे। अपहरण, लूट तथा अन्य अपराधों की संख्या नगण्य थी, क्योंकि लोग इस युग में सन्तोषप्रद जीवन व्यतीत करते थे। अतिथि-सत्कार सर्वमान्य प्रथा थी। सत्य-भाषण एक पुनीत धार्मिक कृत्य माना जाता था। किसी को निन्दनीय कर्म अथवा व्यभिचार में प्रवृत्त करना पाप कर्म समझा जाता था।

समाज—भारत में प्रविष्ट होने के समय आर्य लोग निस्सन्देह पशुपालक तथा कृषक थे। धीरे-धीरे उन्होंने सामाजिक जीवन का निर्माण किया। वैदिक 'कुल' अथवा परिवार से मिलकर अधिक बड़ी सामाजिक इकाई का निर्माण होता था जिसमें 'वर्ण' तथा सजात्य' को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता था। समाज में प्रारम्भ से ही आक्रामक गौर वर्ण आर्य अपने प्रतिद्वन्द्वी कृष्ण वर्ण लोगों से, जिसे दास, दस्यु अथवा शूद्र कहते थे, अधिक प्रतिष्ठित माने जाते थे। आर्यों के समाज में ही राजकुल के लोग (राज्य या क्षात्र) तथा पुरोहितों के वंशज (ब्राह्मण), साधारण जन 'विश' से स्पष्टतः उच्च श्रेणी के माने जाते थे। समाज के चार वर्ण ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य तथा शूद्र का विवरण प्रारम्भ के कुछ वेद-मन्त्रों में आया है और इसके बाद 'पुरुष-सूक्त' में इसका विधिवत् स्पष्ट उल्लेख है; परन्तु ऋग्वेद के मन्त्रों में जाति के विकसित रूप के कठोर अपरिवर्तनशील नियमों का कोई आभास नहीं है। अन्तर्जातीय-विवाह, व्यवसाय परिवर्तन, तथा एक ही पंक्ति में बैठकर भोजन करने की प्रथा के लिए कदाचित् ही कोई प्रतिबन्ध रहा हो। हमें ब्राह्मण का क्षात्र या राजन्य स्त्री के साथ विवाह के तथा आर्य-शूद्र समागम के उदाहरण प्राप्त होते हैं।

परिवारों के लिए कोई निर्दिष्ट व्यवधान नहीं था। शूद्र द्वारा बनाये हुए भोजन करने पर कोई प्रतिबन्ध न था तथा इस बात का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता है कि स्पर्श अथवा निम्न जाति के संसर्ग से अपवित्रता आ जाती थी।

आर्थिक जीवन

ग्राम—ऋग्वेद काल के आर्य अधिकतर ग्रामों में फैले हुए थे। वैदिक ऋचाओं में 'नगर' शब्द का अभाव है परन्तु 'पुर' शब्द का विवरण है। ये पुर समयानुसार यथेष्ट रूप से विशाल होते थे। ये पाषाण (अश्ममयी) अथवा लौह (आयसी) से बनाये जाते थे। सम्भवतः पुर वनों में बने हुए नगर थे जो आश्रय-स्थल का काम देते थे। यह महत्त्व की बात है कि ऋग्वेद में व्यक्तिगत नगरों जैसे 'आसन्दिवत' अथवा 'काम्पिल्य' का कोई स्पष्ट हवाला नहीं है। ग्राम-व्यवस्था के हेतु एक पदाधिकारी होता था जो 'ग्रामणी' कहलाता था। यह ग्राम के प्रशासन एवं सैन्य शासन दोनों की देखभाल करता था। एक अन्य पदाधिकारी भी होता था जो 'वृजपति' कहलाता था। यह अनेक 'कुलप' या परिवारों के प्रमुखों का युद्ध में पथ-प्रदर्शन करता था और उन्हें रण-क्षेत्र में ले जाता था। ग्राम के उपवनयुक्त गृह समीप की कृषि-योग्य भूमि पर, ऐसा प्रतीत होता है कि, परिवारों या व्यक्तिगत लोगों का अधिकार होता था; किन्तु चरागाह सम्भवतः सार्वजनिक अधिकार की सम्पत्ति थी। ग्राम में गृह लकड़ी के बनाये जाते थे, दीवारें मिट्टी की होती थीं जिन पर घास-फूस की मोटी छप्पर डाली जाती थी और मिट्टी के फर्श पर घास बिछी हुई होती थी।

कृषि—ऋग्वेद के हवालों से प्रमाणित होता है कि आर्यों का प्रधान उद्यम कृषि कर्म था। सम्भवतः आर्यों की यह प्राचीन वृत्ति थी। ग्रामीणों का यह प्रमुख व्यवसाय था। ये दो बैलों को जुए में जोतकर हल से खेत जोतते थे। हल में धातु का 'फल' होता था। जिस भूमि पर कृषि होती थी उसे 'उर्वरा' अथवा 'क्षेत्र' कहते थे। उसकी सिंचाई बहुधा नहरों द्वारा होती थी। खाद का प्रयोग अवगत था। हल चलाने के सम्बन्ध में ऋचाएँ हैं जिनमें वैदिक आर्यों ने प्रचुर अन्नोत्पादन, वर्षा तथा उनके पशुहित के लिए देवताओं की आराधना की है। जौ तथा गेहूँ क्षेत्र की प्रमुख उपज थी। सम्भवतः धान की खेती सुविस्तृत रूप से नहीं होती थी। 'यव' और 'धान्य' के पक जाने पर खेत काट लिये जाते थे और अन्य को रौंद-ओसाकर बखारों में रखते थे। पशु-पालन तथा अन्य घरेलू जानवरों का पालन कृषि-कर्म से किसी भी प्रकार कम महत्त्वशाली नहीं था। गायों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। उसका दूध ऋग्वेद कालीन परिवार के भोजन का प्रधान अंग था। प्रतिदिन पशुओं के झुण्ड को 'गोप' चरागाहों में ले जाता था। यमुना नदी की घाटी गोधन के लिए विशेष प्रसिद्ध थी। अन्य अधिक उपयोगी प्राणियों में वृषभ, अश्व, बकरी, भेड़ और श्वान

थे। गांधार देश की भेड़ें ऊन के लिए प्रसिद्ध थीं। सिंचाई का प्रारम्भिक ढंग प्रचलित हो चला था।

व्यापार तथा उद्योग-धन्धे—वैदिक आर्य व्यापार तथा उद्योग-धन्धों के प्रति उदासीन नहीं थे। जिन लोगों के हाथों में वाणिज्य-व्यापार था उन्हें 'पणि' कहते थे जो सम्भवतः अनार्य थे तथा अपनी कृपणता के लिए प्रसिद्ध थे। प्रायः व्यापार विनिमय द्वारा ही होता था। बाद में रचित संहिता में आये हुए वर्णन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि व्यापार की प्रमुख वस्तुएँ कपड़ा, चादरें तथा खालें थीं। मूल्य का प्रामाणिक माप गाय थी परन्तु स्वर्ण-हार (निष्क) का भी विनिमय के साधन की भाँति उपयोग होता था। यह विवाद-ग्रस्त प्रश्न है कि प्राचीनकाल में 'निष्क' नियमित सिक्कों के आवश्यक गुणों से परिपूर्ण था या नहीं। उस युग की किसी भी स्वर्ण मुद्रा का अन्वेषण भारत में अभी तक कहीं भी नहीं हुआ है। 'निष्क' धातु का एक टुकड़ा था और इसका वजन निश्चित कर दिया गया था। पर राजकीय कोष का कोई प्रामाणिक चिह्न उस पर नहीं बनाया गया था। यह अनिश्चित-सा प्रतीत होता है कि 'निष्क' से ही विनिमय के मुद्रा या सिक्के का प्रचार हो गया। ऋग्वेद में उपहारों की गणना करने में स्वर्ण 'मान' हवाला आया है। सम्भवतः यह एक प्रकार के वजन की इकाई थी।

ऋग्वेद कालीन आर्य लोग सभ्य जीवन की साधारण कलाओं को व्यवहार में लाते थे। हम सूती और ऊनी वस्त्रों के बनाने वाले जुलाहों का विवरण पढ़ते हैं। इनके साथ ही रंगसाजी तथा कसीदे करने के गौण उद्योगों में कार्य करने वाले शिल्पियों का हाल भी प्राप्त होता है। सुनार, धातुकार, चर्मकार और कुम्भकार भी इनमें उल्लेखनीय हैं। बढ़ई केवल रथ, गाड़ियाँ, गृह और नौकाएँ ही नहीं बनाता था, अपितु कलापूर्ण सुन्दर प्यालों जैसी वस्तुओं को उत्कीर्ण कर नक्काशी कला में अपनी दक्षता का प्रदर्शन करता था। धातुकार (लुहार) सभी प्रकार के शस्त्रों, औजारों तथा आभूषणों को विविध प्रकार की धातुओं से बनाते थे। इन धातुओं में स्वर्ण तथा रहस्यपूर्ण 'अयस' भी था। 'अयस' कुछ विद्वानों के मतानुसार ताम्र अथवा काँसा होता था, किन्तु अन्य विद्वान उसे लोहा मानने के पक्ष में हैं। चर्मकार पानी के पीपे, धनुष की प्रत्यंचाएँ तथा धनुर्धारियों की रक्षा के हेतु दस्ताने बनाते थे। जुलाहों में नर-नारी दोनों ही सम्मिलित थे। नारियाँ सीने-पिरोने, कपड़ा बुनने एवं घास की चटाइयाँ बनाने में अपनी निपुणता का प्रदर्शन करती थीं। कुम्भकार भी अपनी कला द्वारा जनता की सेवा करता था। महत्त्व की बात यह है कि ऋग्वैदिक काल में ऊपर वर्णित धन्धों में से कोई भी हीन नहीं समझा जाता था। 'जन' के समस्त मनुष्य बिना हिचक के इन पेशों को अपनाते थे।

यातायात के साधन तथा संवाद-वाहन—स्थलीय यातायात के प्रमुख साधन रथ तथा छकड़े थे। साधारणतया रथों को अश्व खींचते थे एवं छकड़ों को बैल। सड़कों पर लुटेरे (तस्कर, स्तेन) सदैव चक्कर लगाते थे तथा वन, जंगली पशुओं से भरे पड़े थे। ऋग्वेद कालीन लोग समुद्री यात्रा करते थे या नहीं, यह एक जटिल और विवादग्रस्त प्रश्न है। एक मत के अनुसार जल-यात्रा केवल नावों द्वारा सरिताओं को पार करने तक ही सीमित थी। इन नावों में व्यापारिक सामग्री नियमित रूप से ले जायी जाती थी। परन्तु नाविकों के सौ पतवार वाले जलयान से यात्रा करने के हवाले भी हैं। 'भुज्यु' के जलयान-विनाश की कथा के सम्बन्ध में 'समुद्र' शब्द का भी उल्लेख है। कतिपय विद्वानों का मत है कि यहाँ पर समुद्र शब्द का अर्थ सिन्धु सरिता की दक्षिण धारा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अन्य विद्वान इस कहानी को यात्रियों से प्राप्त ज्ञान पर आश्रित दन्तकथा मानते हैं। जो भी हो, वैदिक तोल की इकाई 'मान' तथा बेबीलोन की इकाई 'मना' की सभ्यता से सम्भवतः समुद्र का परिचय हो जाता है और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक भारत तथा समुद्र पार के सुदूर देशों में प्राचीनकाल से ही सम्पर्क था।

कला तथा विज्ञान—गीतिकाव्य का शानदार संकलन जो 'ऋक संहिता' के नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसमें १०१७ ऋचाएँ विभिन्न देवताओं की स्तुति के लिए हैं, इसका सबल प्रमाण है कि ऋग्वैदिक काल में काव्य-कला पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। ऋग्वेद की ऋचाओं में और विशेषकर उनमें जो ऊषादेवी की आराधना के विषय में हैं, गीतिकाव्य के सुन्दरतम उदाहरण हैं।

जहाँ तक लेखन कला का सम्बन्ध है, आधुनिक धारणा है कि ऋग्वेद-कालीन लोग इस कला का आनन्द नहीं उठा सके थे। सिन्धु-घाटी के प्रागैतिहासिक लोग निस्सन्देह इस कला का उपयोग करते थे। परन्तु महत्त्वशाली बात यह है कि आर्यों का प्रारम्भिक साहित्य वंश-परम्परानुकूल मौखिक रूप से उत्तराधिकारियों को प्राप्त होता रहता था।

इस युग के ऐसे विशाल भवनों के हवाले हैं जो सहस्रों स्तम्भों पर आधारित थे तथा जिनमें सहस्रों द्वार होते थे। साथ ही पाषाण प्रासादों तथा सहस्रों दीवारों वाले भवनों का भी विवरण है। ये सब यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं कि ऋग्वेद कालीन भारत में स्थापत्य-कला की समुचित उन्नति हो चुकी थी। कुछ विद्वानों के अनुसार इन्द्र की मूर्तियों के प्रकरण यह संकेत करते हैं कि उस युग में तक्षण-कला (भास्कर्य) का सूत्रपात हो चुका था।

औषधि-विज्ञान ने भी कुछ प्रगति कर ली थी। इसने अनेक रोगों की विभिन्नता का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। परन्तु चिकित्सक (भिषक) अभी रोगों का श्रोता तथा पिशाच-घातक समझा जाता था। स्वास्थ्यप्रद जड़ी-बूटियों

तक ओषधियों के समान ही जादू-टोना एवं मन्त्र प्रभावोत्पादक तथा गुणकारी माने जाते थे। प्राकृतिक टाँगों के स्थान पर लोहे की टाँगों का प्रयोग यह संकेत करता है कि शल्य-शास्त्र में भी कुछ प्रगति हो चुकी थी। प्राकृतिक ज्योतिर्विज्ञान में भी निश्चय उन्नति हुई थी और कुछ तारागणों का निरीक्षण कर उनका नामकरण भी कर दिया गया था।

धर्म—अपने दैनिक जीवन के अन्य अनेक दृष्टिकोणों के समान ही प्राचीन आर्यों का धर्म भी सादा तथा सरल था। वे अनेक दैवी शक्तियों तथा प्राकृतिक शक्तियों, जैसे सूर्य, चन्द्र, आकाश, ऊषा, मेघ-ध्वनि, मारुत तथा वायु की उपासना करते थे। जहाँ कहीं भी आर्यों को किसी जीवित शक्ति का आभास मिला, वहीं उन्होंने एक देवता की सृष्टि कर दी। अतएव अपनी प्रारम्भिक अवस्था में देवतागण प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक मात्र थे। धीरे-धीरे वे उन वस्तुओं से पृथक् कर दिये गये, जिनका मौलिक रूप में वे प्रतिनिधित्व करते थे और अन्त में स्वयं उनकी ही उपासना होने लगी। परन्तु उनकी वास्तविक प्रकृति का विस्मरण कभी न हो पाया था और अब हमारे लिए यह अनुमान लगा लेना अधिक सम्भव है कि प्रत्येक देवता के पीछे कौन-सी प्राकृतिक शक्ति अन्तर्निहित थी।

आर्यों का धर्म बहुदेववाद था और यह स्वाभाविक ही था क्योंकि सूक्तों का प्रजनन पुरोहितों के दीर्घकालिक प्रयास का परिणाम है एवं उनमें अनेक 'जनों' के विविध देवताओं का स्तवन समाहृत है। मरुत तथा आदित्य के समान सामूहिक देवताओं के अतिरिक्त आर्यों के तेंतीस देवता और थे जो (१) स्वर्गस्थ, (२) आकाशस्थ, तथा (३) पार्थिव वर्गों में विभक्त थे। इनमें वरुण, द्यौस, आश्विन्, सूर्य, सवितृ, मित्र, पूषन और विष्णु प्रथम वर्ग के; इन्द्र, वायु, मरुत, पर्जन्यादि द्वितीय वर्ग के; और पृथ्वी, सोम अग्न्यादि तृतीय वर्ग के हैं। कुछ देवताओं के स्वभाव का संक्षिप्त वर्णन किया जा सकता है। द्यौस (आकाश) पिता, नभ का चमकता हुआ देवता, तथा पृथ्वी माता वैदिक देवताओं में सबसे प्राचीनतम हैं, परन्तु ऋचाएँ कठिनाई से ही उनकी प्राचीन महत्ता का आभास प्रकट करती हैं। कालान्तर में नभ के देवता वरुण तथा मेघ-गर्जन व वर्षा के देवता इन्द्र ने इन देवताओं को पृष्ठभूमि में डाल दिया था। प्राचीन वैदिक देव गणों में वरुण सर्वोत्कृष्ट देवता था। वह यथार्थ, सत्य और नैतिकता (ऋत) का अधिपति माना जाता था। विश्व के त्रिकालदर्शी शासक के रूप में उसकी कल्पना की गयी थी तथा कोई भी पापी उसकी सतर्क दृष्टि से नहीं बच सकता था। वह सर्वज्ञ एवं सर्वसाक्षी माना गया था। पाप-शान्ति के लिए लोग उससे क्षमायाचना करते थे, जैसा कि बाद में विष्णु से करने लगे थे। वरुण के प्रति कुछ अत्यन्त सुन्दर व शालीन सूक्त ऋषियों ने गाये हैं। वरुण के बाद इन्द्र का

स्थान है। यह सर्वाधिक लोकप्रिय देवता था। इसकी स्तुति में सबसे अधिक ऋचाएँ ऋग्वेद-संहिता में गायी गयी हैं। वैदिक देवताओं में इन्द्र को प्रमुख स्थान प्राप्त था। वह देवों का अग्रणी तथा अपरिमित शक्तिशाली था। प्रायः हम उसे आकाशस्थ राक्षसों (वृत्र) से, जो वर्षा का जल चुरा ले जाने वाले समझे जाते थे, युद्ध करते हुए देखते हैं। इन्द्र ने उनका पीछा किया, उन पर वज्र-प्रहार करके उन्हें पराजित किया एवं जल छीन लिया जो इन्द्र के उपासकों के देश में धाराओं में गिरा। इस प्रकार जल बरसाकर वह भूमि की शुष्कता को दूर करता था। आर्यों के युद्ध-कृषि-प्रधान जीवन में इन्द्र विशेष सहायक था। वह उनके शत्रुओं का संहार करता एवं उनके पुरदुर्गों को चूर-चूर कर देता था। युद्ध में विजयश्री प्राप्त करने के हेतु आर्य उसका आह्वान करते थे।

इन्द्र के अतिरिक्त वायुमण्डल या आकाश के प्रमुख देवताओं में मरुत (तूफान के देवता) वायु एवं वात (पवन देवता), रुद्र (झंझावात व विद्युत के देवता) एवं पर्जन्य (वर्षा के देवता) थे। मरुत दैत्यों को तितर-बितर करने में इन्द्र का सहायक था। रुद्र भयानक, भीषण चमक वाला तथा अत्यन्त क्रोधी देवता माना जाता था। उसकी उपासना में लेशमात्र भूल हो जाने से वह क्रुद्ध हो जाता था।

पार्थिव देवताओं में अग्नि, सोम तथा सरस्वती प्रमुख माने जाते हैं। अग्नि देवताओं का प्रमुख तथा संवाद-वाहक माना जाता था, क्योंकि भक्तों द्वारा दी हुई आहुति को देवताओं तक वही पहुँचाता था। इसके लिए विशेष उपासना व श्रद्धा की आवश्यकता होती थी क्योंकि उसको भेंट न देने से कोई भी यज्ञ-कर्म नहीं किया जा सकता था। दो सौ से अधिक सूत्र अग्नि की स्तुति में गाये गये है। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का यही देवता है। सोम का तर्पण भी अत्यधिक पुनीत समझा जाता था। वस्तुतः सोम एक पौधे का रस होता था जो पहाड़ियों पर उगता था और इससे विस्तृत कर्मकाण्ड करके एक मादक पेय पदार्थ निकाला जाता था जिसका प्रयोग धर्मविधि के अनुसार किया जाता था एवं यह रस देवताओं को भेंट स्वरूप दिया जाता था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इसका प्रयोग करने वाला व्यक्ति इसके स्फूर्ति एवं आनन्ददायक प्रभाव के कारण स्वर्ग द्वार तक पहुँच जाते थे। रहस्यपूर्ण ढंग से सोम की समता चन्द्रमा के साथ की जाती थी, जो वनस्पति जगत में नियन्त्रण करने वाला माना जाता था और जिसका प्याला सदैव अपनी कला की वृद्धि तथा क्षय के साथ-साथ भरता तथा रिक्त होता रहता था। सूर्य देवता की उपासना मित्र (सूर्य के दानशील रूप का मानवीकरण), सूर्य (प्रकाशक), सवित (उत्तेजक), पूषण (पोषक), विष्णु उरुक्रम (विस्तृत मार्ग पर चलने वाला सूर्य), सविता, अश्विन् (सम्भवतः प्रातः तथा संध्याकाल के तारे और कालान्तर में चिकित्सा के

देवता) तथा ऊषा (प्रातःकाल की सुन्दर देवी) के रूप में होती थी। "रात्रि में पृथ्वी पर अधिकार कर लेने वाले अन्धकार रूपी दैत्यों का सूर्य देव संहार करते हैं तथा दिन में अपने विजय रथ को आकाश-मार्ग द्वारा ले जाते हैं।"

धातृ (संस्थापन करने वाली), विधात्री (निर्दिष्ट करने वाली), विश्वकर्मन (सबका सृजन करने वाला), प्रजापति (प्राणियों का स्वामी), श्रद्धा (विश्वास) और मन्यु (कोप) नामक सूक्ष्म और अमूर्त देवता बाद में प्रकट हुए।

वैदिक धर्म की विशेषताएँ—प्रथम, उपरोक्त देवताओं की शृंखला से यह भ्रान्ति न होनी चाहिए कि इनमें किसी प्रकार की उच्चावच परम्परा थी। आर्य ऋषियों ने प्रसंगवश सभी देवताओं की महिमा गायी है और एक को दूसरे से बढ़कर माना है। जिस-जिस क्षेत्र का जो-जो देवता है वह उस-उस क्षेत्र में प्रधान माना गया है और उसी मात्रा में उसकी स्तुति की गयी है। ऋग्वेद में श्रद्धा तथा मन्यु (क्रोध) के से अमूर्त देवताओं का भी गुणानुवाद है, देवियों में ऊषा का स्थान सबसे ऊँचा है। प्रभात की मनोरम आभा व छटा को देवी का यह रूप देना आर्यों की सुन्दरतम कल्पना है। ऋग्वेद में उनके प्रति जो संगीतमय, सुकुमार तथा मनोरम ऋचाएँ गायी गयी हैं वे विश्व-साहित्य में बेजोड़ हैं। ऋग्वेद में तो उससे अधिक काव्यमय प्रसंग हैं ही नहीं।

उपरोक्त वर्णित वैदिक देवताओं का प्रमुख स्वभाव उनकी दानशीलता तथा दया थी। उनकी अनुकम्पा की उपलब्धि हेतु उनकी आराधना की जाती थी। देवताओं की शक्ति उनके रक्षाकारक स्वरूप का एक आवश्यक गुण मात्र था किन्तु उनका यह प्रमुख लक्षण नहीं था। वैदिक आर्य देवताओं से भयभीत नहीं होते थे, वे उन्हें मानव-जाति के मित्र मानते थे। अतः प्रार्थना द्वारा देवताओं की उपासना के अतिरिक्त आर्य लोग घृत, दूध, अन्न, आमिष तथा सोम का उपहार देकर उन्हें सन्तुष्ट किया करते करते थे। यह क्रिया सरल थी। इनमें मन्त्रोच्चारण के साथ-साथ यज्ञ अग्नि में हवि आहुति दी जाती थी। इस प्रकार देवताओं के प्रसादन के निमित्त आर्य यज्ञों का अनुष्ठान करते थे; दूध, घी, अन्न, मांसादि की बलि प्रदान करते थे एवं स्तुति में मन्त्र गाते थे। यद्यपि वैदिक कर्मकाण्ड में यज्ञ का प्रमुख स्थान है परन्तु यज्ञ स्वयं ही सब कुछ नहीं होते थे, अपितु ये तो देवताओं को प्रसन्न करने के साधनमात्र थे। यज्ञानुष्ठान यजमान को समृद्धि व सुख प्रदान करने वाले समझे जाते थे। वे किसी रहस्यात्मक भेद से परिपूर्ण नहीं होते थे तथा वे अपनी सामर्थ्य के आधार पर किसी याज्ञिक को कोई वरदान नहीं दे सकते थे।

द्वितीय, मृत्यु के उपरान्त जीवन के विषय में ऋग्वेद की ऋचाओं में कोई दृढ़ सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया गया है। मृत्यु के पश्चात् शव चिता पर ले जाया जाता था जिसके साथ मृतक की पत्नी एवं सम्बन्धी भी जाते थे। यदि

मृत-पुरुष ब्राह्मण होता तो उसके दाहिने हाथ में लाठी रख दी जाती थी, यदि वह क्षत्रिय होता तो उसके दाहिने हाथ में धनुष रखा जाता था और वैश्य होने पर उसकी बैल हाँकने की छड़ी रख दी जाती थी। उसकी पत्नी उसके समीप तब तक बैठी रहती थी जब तक कि उसे "अरे महिला! उठो, और जीवित लोगों के लोक में आओ" कहकर हटाया नहीं जाता था। इसके पश्चात् उस व्यक्ति के परिवार के अग्नि स्थल (सम्भवतः चूल्हा) से लायी हुई आग से चिता प्रज्वलित की जाती थी तथा मृत पुरुष के लिए यह ऋचा पढ़ी जाती थी "पुरखाओं के मार्ग पर जाओ!" (**ऋग्वेद**, १०—१४) जब अग्नि ज्वालाएं शव को पूर्णतः भस्म कर देती थीं, तब अस्थियाँ एकत्र कर ली जाती थीं तथा उन्हें धोकर एवं कलश में रखकर गाड़ दिया जाता था। मृत्यु के पश्चात् जीवन के विषय में वैदिक विचार अत्यन्त ही अस्पष्ट थे। । ऋग्वेद के नवें मण्डल में यह कहा गया है कि आत्मा मृत्यु के पश्चात् पितृलोक को चली जाती है जहाँ मृतकों का नरेश यम उसका स्वागत करता है और मृतपुरुष के कर्मानुसार उसे पुरस्कृत अथवा दण्डित करता है। बाद में आने वाले आत्मा के पुनर्जन्म का सिद्धान्त अभी तक विकसित नहीं हुआ था।

तृतीय, वैदिक काल के धार्मिक जीवन का प्रमुख लक्षण था पुरोहित वर्ग की अनुपस्थिति। प्रत्येक गृहपति स्वयं पुरोहित था जो अपने गृह में यज्ञ-अग्नि प्रज्वलित करता तथा मन्त्रोच्चारण करता था। धार्मिक विषयों पर मनन करने के हेतु लोग वनों में जाकर कठोर तप नहीं करते थे।

चतुर्थ, ऋग्वेद कालीन ऋषि विश्व को अमंगलकारी कष्ट का स्थान नहीं मानते थे। लोगों में शरीर से मुक्ति प्राप्त करने तथा सांसारिक बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए कोई तीव्र उत्कण्ठा नहीं थी। उनके लिए विश्व उत्तम स्थान था। ऋग्वेद कालीन ऋषियों की यह धारणा थी कि यह संसार धर्म-परायण पुरुषों के लिए उदार देवताओं के संरक्षण में सात्विक जीवन व्यतीत करने के हेतु उचित स्थान है। अन्य स्थानों में अधिक उच्च एवं आनन्दमय जीवन बिताने के लिए यह संसार सच्ची आधारशिला का कार्य करता है। ऋग्वैदिक काल के धर्म तथा दर्शन में संसार को निराशावादिता से देखने का लेशमात्र भी संकेत नहीं है। अधर्म और अधर्मी व पापी मनुष्यों के भाग्य का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। मृत्यु के उपरान्त धर्मपरायण पुरुषों को प्राप्त होने वाले यश-गौरव पर अधिक जोर दिया जाता था। स्वर्ग तथा इससे भी अधिक उच्चस्थलों का उल्लेख आया है परन्तु नरक के लिए कोई शब्द प्रयुक्त नहीं हुए हैं। ऋग्वेद कालीन ऋषियों के लिए आध्यात्मिक पथ की आत्मा की सच्ची प्रगति की एक लम्बी पीढ़ी में यह एक सीढ़ी (Rung) मात्र था। मनुष्य के वर्तमान तथा भविष्य के विषय में कोई संघर्ष न था। धर्म, अर्थ व

काम के बीच में कोई विरोधाभास ही न था। यह कल्पना की जाती थी कि मानव सुन्दर समन्वय की एक तिहाई है।

पंचम, वैदिक धर्म में पुरुष भावों की प्रधानता थी। पृथ्वी, अदिति, ऊषा एवं सरस्वती जैसी देवियों को अति निम्न स्थान प्राप्त था। इस बात में वैदिक संस्कृति सिन्धु-घाटी-संस्कृति के, जहाँ मातृदेवी अपने पुरुष साथी के बराबर है, विपरीत है। कालान्तर में देवताओं की उत्पत्ति तथा उनकी सफलता सिद्धि के विषय में गाथाओं का आविर्भाव हुआ और प्रायः इनकी कल्पना अनुराग से मानव-रूप में होने लगी, परन्तु मनुष्य रूप में उनकी मूर्तियाँ नहीं बनी थीं। इनमें से एक के विषय में यह कहा जाता है कि "उसका शब्द सुनाई देता है, परन्तु उसका आकार अदृष्ट है।" उस युग में न तो मन्दिर थे, न वेदियाँ, न प्रतिमाएँ थीं और न वंश-परम्परानुकूल पुरोहित। इस प्रकार प्रारम्भिक वैदिक धर्म सर्वोच्च देवोपासक (Henotheism) था। इसका अर्थ यह है कि भक्त अपने देवता में सभी गुण मान लेता है और जिस देवता की वह आराधना करता है उसे सबसे बड़ा बताता है। उस समय लोगों का विश्वास एक-एक देवता में होता था। इसमें से प्रत्येक अपने अवसर पर सर्वोच्च देवता होता था; वह सृष्टि का सृजन करने वाला तथा पोषक होता था; वह मनुष्य को सबसे अधिक आनन्द प्रदान करने वाला होता था, और वह मनुष्य का संरक्षक और उसे समृद्ध बनाने वाला था। बहुदेववाद प्रचलित था। कालान्तर में विशद् कर्मकाण्ड प्रचलित हो गया तथा प्रकृति और देवताओं के विषय में आर्यों के मत में भी निश्चित परिवर्तन हो गया। ऋग्वेद की बाद की ऋचाओं में एकेश्वरवाद की भावना और अद्वैतवाद की प्रवृत्ति के भी निश्चित संकेत प्राप्त होते हैं। उपासक प्रकृति के ऐश्वर्यपूर्ण विलक्षणता का गुणगान करता था और सृष्टि तथा उसके सृजनकर्ता के रहस्यों को समझाने के लिए उसने सफल प्रयास भी किये। सार्वभौमिक एकता की भावना का प्रतिबिम्ब ऋग्वेद की ऋचाओं में झलकता है। ये ऋचाएँ यह बात भी प्रकट करती हैं कि ईश्वर एक है यद्यपि उसके अनेकों नाम हैं। 'सभी देवता एक ही जैसे हैं, केवल ऋषिगण उनका वर्णन विभिन्नता से करते हैं।' (**ऋग्वेद**)। हिरण्य गर्भ सूक्त में एकेश्वरवाद का सुन्दर प्रतिपादन है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि पर शासन व नियन्त्रण करने वाली सर्वोच्च सत्ता का विचार अन्त में समुदित हो गया था। इस मत ने पहले के मत को, कि अनेकों देवता इस महान सृष्टि का नियन्त्रण करने में परस्पर एक-दूसरे का सहयोग कर रहे हैं, ढक दिया था। अतएव ऋग्वेद कालीन आर्यों का धर्म प्रगतिशील धर्म माना जा सकता है, जो प्रकृति से प्रकृति के रचयिता ईश्वर की ओर प्रगति कर रहा था।

वैदिक धर्म एवं हिन्दू धर्म

ऋग्वेद कालीन धर्म बाद के हिन्दू धर्म से निम्न बातों में भिन्न है :

(१) ऋग्वेद कालीन धर्म में मूर्ति-पूजा का सर्वथा अभाव था। ऋग्वेद में केवल एक ही स्थान पर इन्द्र की प्रतिमा का वर्णन है। प्रायः देवगणों की अभ्यर्थना मन्त्र द्वारा आहुति देकर की जाती थी। उस काल का धर्म यज्ञ-अनुष्ठान प्रधान था। हिन्दू धर्म की भक्ति-प्रधान उपासना का उसमें सर्वथा अभाव था।

(२) ऋग्वेद काल का प्रमुख देवता इन्द्र था। प्रारम्भ के महत्त्वशाली देवता वरुण का गौरव कालान्तर में विलुप्त हो गया था। धीरे-धीरे अनेक वैदिक देवताओं जैसे पर्जन्य, ऊषा, मन्त्र, अर्यमा आदि का भी लोप हो गया था। इनके स्थान पर हिन्दू धर्म में तीन प्रमुख देवता ब्रह्मा, विष्णु और महेश का प्रादुर्भाव हुआ। इन तीनों में से केवल विष्णु और रुद्र का उल्लेख ऋग्वेद में है। परन्तु उस युग में ये गौण देवता थे। हिन्दू धर्म के बाद में आने वाले अनेक देवी-देवताओं का जैसे पार्वती, कुबेर, दत्तात्रेय आदि का वेदों में कोई उल्लेख नहीं है।

(३) ऋग्वैदिक काल में देवगणों में नारीत्व को प्रधानता नहीं प्राप्त हुई थी। उस युग के अधिकांश देवता पुरुष ही थे। परन्तु हिन्दू धर्म में देवताओं की शक्तियाँ नारी-रूप में पूजी जाती हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश के साथ उनकी शक्तियाँ सरस्वती, लक्ष्मी एवं पार्वती का पूजन होता है।

(४) ऋग्वैदिक काल का धर्म सदैव आशावादी तथा ओजस्वी रहा, उसमें निराशा एवं विषाद को लेशमात्र भी स्थान न था, पर हिन्दू धर्म में इस जीवन और पारलौकिक जीवन दोनों के लिए गहन चिन्तन एवं मनन है। वैदिक उपासक अपने इष्ट देवगणों से इस लोक की सुखदायक वस्तुओं, जैसे पशु, अन्न, तेज, विजय और आनन्द, वैभव आदि माँगता था। "उसका जीवन लद्दू और लोहे का, खोज और विचार का, विजय और स्वतन्त्रता का, कविता और कल्पना का, मौज और मस्ती का था। उसका धर्म भी उसके अनुरूप ही था।"

साधारण निष्कर्ष

सर्वश्रेष्ठता के सिद्धान्त का विकास—ऋग्वेद कालीन आर्य पंजाब तथा सीमान्त प्रदेश तक ही सीमित थे। यद्यपि यमुना तथा गंगा का उल्लेख ऋग्वेद में प्रसंगवश आया है, परन्तु आर्यों का भौगोलिक प्रसार सुदूर पूर्व तक नहीं हो पाया था, क्योंकि मध्यकालीन मुसलमानों की भाँति आर्यों का आगमन अबाध गति से निरन्तर नहीं हुआ था। अतः यह सिद्धान्त स्वीकृत नहीं किया जा सकता कि शेष भारत में आर्य लोग धीरे-धीरे बस गये थे। प्रथम आर्य लोग अनार्यों के सम्पर्क में आये, उनमें घुलमिल गये और तत्पश्चात् पूर्व की

ओर बढ़े। जब धीरे-धीरे आर्य लोग पंजाब में बस गये थे, वे अपने मुखियाओं के नेतृत्व में अनार्यों या दस्युओं से लड़े और उनकी भूमि पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। जब इस प्रकार प्रादेशिक सत्ता का विकास हुआ तब आर्य नेतागण नरेश बन गये। जब आर्यों के उपनिवेशों का प्रसार सिन्धु-गंगा के मैदान की ओर हुआ, उस समय भरत जाति के एक नवीन राज्य का आविर्भाव हुआ, क्योंकि भरत जाति के अन्तर्गत आदिवासी अनार्यों की संख्या अधिक थी। यह नवीन राज्य एक भिन्न आधार पर संगठित हुआ था। पंजाब के आर्य-उपनिवेशों के 'नेता' राज्यों और इस भरत राज्य में कोई समानता न थी। अतएव इन दोनों राजनीतिक प्रणालियों में सार्वभौमिक सत्ता के लिए संघर्ष होना अवश्यम्भावी था। इस प्रकार ऋग्वेद में वर्णित दस राजाओं का महायुद्ध हुआ था। भारतीय इतिहास में यह प्रथम प्रामाणिक घटना है। सिन्धु-गंगा मैदान की भरत-जाति के राजा सुदास ने आर्यों के पहले के उपनिवेशों के दस मित्र नरेशों से युद्ध किया गया था। यह घटना इस बात की ओर संकेत करती है कि दस राजाओं का युद्ध केवल आर्य लोगों का ही युद्ध नहीं था, अपितु अपने मुखियाओं के नेतृत्व में अनार्य लोग भी दोनों ओर सम्मिलित हुए थे। इस युद्ध में सुदास की विजय का परिणाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा सुदूर-प्रभावशाली हुआ। प्रथम सुदास अपनी इस सफलता से सार्वभौमिक नरेश बन गया। विजित प्रदेशों को अपने राज्य में मिलाने की अपेक्षा उसने वहाँ अपनी प्रभुता स्थापित कर दी। सुदास की विजय के फलस्वरूप विशाल राज्य बनाने के लिए पराजित राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित करने की अपेक्षा विजयी नरेश की उन पर अपनी सार्वभौमिक सत्ता स्थापित करने की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। जो राजा शत्रु के प्रदेश को अपने राज्य में सम्मिलित कर लेते थे, वे धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले माने जाते थे। साधारण प्रथा यह हो गयी थी कि विजित नरेश कर देवें और अपने अधिपति राजा की सार्वभौमिक सत्ता को स्वीकृत करें। अधिपति की यह भावना बाद में सम्राट के रूप में हो गयी। कालान्तर में होने वाली दिग्विजय की भावना जो स्थानीय शासकों को निर्विघ्न छोड़ देते थे, सार्वभौमिक नरेश की भावना के सिद्धान्त का प्रतिफल था।

आर्यों से पूर्व संस्कृति के लक्षणों से युक्त हिन्दू संस्कृति का समुदय एवं प्रारम्भिक विकास—दस राजाओं के युद्ध ने "पुर आर्य" या शुद्ध आर्यों का अन्त कर दिया था। पंजाब के प्रारम्भिक उपनिवेश विशेषतः आर्यों के ही थे। परन्तु यमुना के पूर्व में स्थित सुदास का नवीन राज्य था जो विभिन्न छोटे-छोटे राज्यों से बना था और जहाँ आर्यों की जनसंख्या, यद्यपि वहाँ उसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव था, अपेक्षाकृत कम थी। सुदास की विजय आर्यों तक स्थानीय

आदिवासी अनार्यों के संयुक्त संघ की विजय थी। वे यक्ष और अन्य जातियाँ सुदास की ओर से अपने ही 'भेद' के नेतृत्व में लड़ी थीं, अनार्य थीं। अतएव इस विजय ने गंगा के मैदान वाले आर्यों के नवीन उपनिवेश में आर्यों तथा अनार्यों के बीच राजनीतिक सामंजस्य स्थापित कर दिया।

अनार्यों और आर्यों के इस राजनीतिक एकीकरण और समन्वय का स्वाभाविक परिणाम आर्य नाम की एक सभ्यता का विकास था; पर यह विशेष रूप मे विजित आदिवासियों की सभ्यता थी। आर्य और अनार्य लोगों का संयोग एवं समन्वय मे हिन्दू सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें आर्यों के पूर्व की सभ्यता व संस्कृति के चिह्न अभी भी अवशिष्ट हैं। इसका सर्वप्रथम स्पष्ट प्रमाण आर्यों के उस दृष्टिकोण से प्राप्त होता है जो उन्होंने अनार्यों के लिगम् और उस ईश्वर के प्रति, जिसका कि वह प्रतीक है, अपनाया था। इस विषय में ऋग्वेद में (७, २१-५) में एक महत्त्वशाली उल्लेख मिलता है, "जिनका देवता 'लिंग' है वे हमारे पुण्यस्थल में प्रविष्ट न होने पावें।" आर्यों के पूर्व की सभ्यता की इस लिंग उपासना के प्रति आर्यों का जो भय था वह बाद में जाता रहा। वैदिक कर्मकाण्ड में लिंग उपासना को कालान्तर में स्वीकार कर लिया जाता है और 'लिंगम्' को अश्वमेध यज्ञ तक में स्थान प्राप्त हो जाता है। बाद के वेदों में तो अनार्यों के देवता शिव, पशुपति अधिक महत्त्वशाली स्थान प्राप्त कर लेते हैं और यजुर्वेद के युग से तो शिव बड़े महान् देवता का रूप धारण कर लेते हैं।

आर्यों एवं अनार्यों के हेल-मेल से नवीन हिन्दू-संस्कृति का समुदय हुआ जिसमें अनार्यों की सभ्यता व संस्कृति के चिह्न हैं—इस कथन की पुष्टि के लिए दूसरा स्पष्ट प्रमाण यह है कि उत्तर वैदिक सभ्यता के युग में आर्य देवतागण धीरे-धीरे विलुप्त हो जाते हैं। 'वरुण' जिसकी स्तुति में अनेक ऋचाएँ रची गयी थीं, आर्यों के देवगण-समूह से लुप्त हो जाता है और केवल दिक्पाल मात्र रह जाता है। 'वायु' धीरे-धीरे पृष्ठभूमि में चला जाता है और प्रारम्भिक वैदिक युग का नगरों का शक्तिशाली संहारक और यज्ञ के प्रधान भाग का उपभोक्ता इन्द्र भी निम्न स्वर्ग का अधिराज मात्र रह जाता है, जहाँ वह विलासमय राज-सभा करता है और विषय-वासनायुक्त जीवन व्यतीत करता है। ज्यों ही आर्यों ने अनार्यों या दस्युओं पर विजयश्री प्राप्त की, वैदिक देवताओं का अवसान हो गया और जब बाद में शक्तिहीन देवताओं के लिए कई छोटे-छोटे यज्ञ किये जाने लगे तब इनका पुनर्जन्म हुआ। उन्हीं प्राचीन मन्त्रों की पुनरुक्ति कर उनका उच्चारण उन देवताओं के लिए किया जाने लगा जिनकी पूजा अब नहीं होती थी। यह भी सम्भव है कि हिन्दू आर्यों ने जिस लिपि का विकास किया, वह भी सिन्धु-घाटी की सभ्यता की

लिपि के ऊपर आधारित हो सकती है। यह तो स्पष्ट है कि पशुपालक आर्यों ने क्रमशः स्थानीय लोगों पर विजय प्राप्त की तथा उनकी सभ्यता व संस्कृति से अपनी संस्कृति व सभ्यता का एकीकरण कर दिया। फलतः हिन्दू धर्म, जैसा कि वह आज है, इस समन्वय का परिणाम है। अतः इस सिद्धान्त को विशिष्ट रूप में संशोधित करना है कि हिन्दू सभ्यता का उद्‌गम स्थान आर्य-सभ्यता है।

तृतीय प्रमाण यह है कि उत्तर वैदिक कालीन उपनिषदों के ऋषियों का वैदिक देवताओं से अब कोई सम्बन्ध न रहा था। उत्तर वैदिक साहित्य में मातृदेवी के संकेत भी प्राप्त होते हैं जो अनार्य धर्म के प्रभाव की ओर निर्देश करते हैं। उत्तर वैदिक काल के अनेक ऋषियों का उल्लेख उनकी माता के नाम से किया गया है। आर्यों का समाज पितृसत्तात्मक था। अतः परिचय प्राप्त करने की यह प्रथा यहाँ के अनार्य निवासियों के मातृसत्तात्मक प्रणाली के प्रभाव की ओर संकेत करती है। इस प्रकार आर्यों तथा अनार्यों के सम्पर्क से जिस प्रथा का विकास हुआ था, वह एक ऐसा एकीकरण था जिसमें विजयी आर्यों का बाह्य रूप तो प्रधान था, परन्तु विचित्र एवं परम्परागत प्रथाएँ नवीन रूप में अभिव्यक्त हुई थीं।

चतुर्थ प्रमाण यह है कि ऋग्वेद काल में ही क्रमशः पशुपालक आर्यों के कृषक समाज में परिवर्तित हो जाने से 'ग्राम' का समुदय हुआ। धीरे-धीरे इसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। यह बहुत सम्भव है कि आत्मतुष्ट ग्राम ऋग्वेद कालीन आर्यों के उपनिवेश का परिणाम न हो, अपितु आर्यों के पूर्व लोगों के संगठन का अविच्छिन्न रूप रहा हो जिसे आर्यों ने भी बनाये रखा। मोहनजोदड़ो जैसे विशाल नगरों का उत्थान और समृद्धि, सविस्तृत कृषि-प्रणाली एवं ग्रामीण आर्थिक नीति के आधार पर ही हो सकती थी। अतः यह अनुमान करना अधिक युक्तिसंगत है कि जब आर्य लोग कृषक बन गये तब उन्होंने ग्राम-पद्धति को आदिवासी अनार्यों के संगठन में जिस रूप में पाया था उसी को अपना लिया।

आर्यों की जातीय विशिष्टता एवं वर्ण-भेद—आर्यों ने भारत में जातीय विशिष्टता एवं वर्ण की विचारधारा को जन्म दिया। यहाँ के कृष्ण वर्ण अनार्यों की तुलना में अपने गौर वर्ण की भावना उनके सम्पूर्ण विचार-जगत पर छा गयी थी। इसके साथ ही उनकी यह विचारधारा भी मिल गयी कि ईश्वर वेदों द्वारा उनके सम्मुख प्रकट हुआ है तथा दस्युओं पर विजय करने की उनकी शक्ति उन्हें रहस्यात्मक कर्मकाण्ड तथा ऐन्द्रजालिक क्रिया-विधियों से प्राप्त हुई है और इसे अबाध रूप से गुप्त रखना अनिवार्य था। उनके पवित्र ज्ञान के साथ उनकी वर्ण-भेद की नीति में मिलकर आर्यों व अनार्यों के

मध्य अथवा द्विजों व शूद्रों के मध्य भेद-भाव को पूर्ण स्थित कर दिया। 'द्विज' वे लोग थे जो कतिपय रहस्यात्मक धार्मिक क्रियाएँ सम्पूर्ण करने पर पवित्र ज्ञान को प्राप्त करने एवं आर्य-उपासना पद्धति में सम्मिलित होने के अधिकारी हो जाते थे। जाति-प्रथा का यह सूत्रपात था जिसे आगे चलकर धर्मशास्त्र के लेखकों ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का विस्तृत रूप प्रदान कर दिया।

परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि वर्ण तथा जाति-भेद का यह सिद्धान्त—कृष्ण वर्ण लोगों को बहिष्कृत कर उन्हें निम्न स्तर पर कर देना—पूर्ण रूप से फलीभूत नहीं हुआ। यह प्रमाणित करने के लिए प्रमाण हैं कि जातियाँ परस्पर घुल-मिल गयी थीं और आर्यों ने कृष्ण वर्ण ऋषियों तक को अंगीकार कर लिया था। वादनारायण, वेद व्यास, जिन्होंने वेदों को व्यवस्थित करके उनका सम्पादन किया था, आर्य ऋषि के कृष्ण वर्ण केवट स्त्री से उत्पन्न अवैध पुत्र थे तथा श्याम वादनारायण कहे जाते हैं। इस सिद्धान्त से कि अनार्य अथवा अद्विज निम्न श्रेणी के व्यक्ति थे, देशी अनार्य शासकों की, जिनकी सहायता की याचना राजा सुदास ने की थी, सत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। राजाओं एवं पुरोहितों तक के साथ देशी लोगों के वैवाहिक सम्बन्धों के होने के प्रायः अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। इससे यह मत दृढ़ हो जाता है कि जाति-व्यवस्था के बनने के पूर्व ही आर्य और अनार्यों के रुधिर का पर्याप्त मात्रा में सम्मिश्रण हो चुका था। यद्यपि जातिगत विशिष्टता आर्यों के लिए सैद्धान्तिक रूप में बनी रही फिर भी वैदिक मन्त्रों के गोपनीय रहस्यों की दीक्षा ही द्विजों और अद्विजों की कसौटी हो गयी और कालान्तर में आर्यत्व की भावना वर्ण अथवा रंग में न रहकर सामाजिक स्थिति व संस्कृति के रूप में आ गयी।

प्रश्नावली

१. 'प्रकृति से प्रकृति के देवताओं की ओर' ऋग्वेद कालीन आर्यों के धार्मिक विश्वासों का सार है। समझाइए।

२. वेदों में वर्णित आर्यों के समाज की दशा का विवेचन कीजिए।

३. ऋग्वेद कितना प्राचीन है? इससे आर्यों की सभ्यता पर क्या प्रकाश पड़ता है?

४. ऋग्वेद के आधार पर आर्यों के जीवन की दशा का वर्णन कीजिए।

५. द्रविड़ तथा आर्यों की सभ्यताओं की समानता व विभिन्नता की प्रमुख बातों का उल्लेख कीजिए। आर्यों ने द्राविड़ सभ्यता को कहाँ तक अपना लिया था?

६. वैदिक युग के हिन्द-आर्यों की सभ्यता व संस्कृति के प्रधान तत्त्वों का वर्णन कीजिए।

७. ऋग्वेद कालीन धर्म की क्या विशिष्टताएँ थीं ? हिन्दू धर्म से उनकी तुलना कीजिए ।
८. वेदों के विषय में आप क्या जानते हैं ? वैदिक साहित्य का संक्षेप में वर्णन कीजिए ।
९. 'आर्यों और आर्यों के पूर्व के लोगों के समन्वय का परिणाम हिन्दू सभ्यता हुई, जिसमें आर्यों के पूर्व की श्रेष्ठ सभ्यता व संस्कृति के चिह्न अवशिष्ट हैं ।' इस कथन का विवेचन कीजिए ।
१०. वेदकालीन राजतन्त्र का वर्णन सावधानी से कीजिए ।
११. वैदिक साहित्य आर्यों की धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था पर क्या प्रभाव डालता है ?

४

उत्तर वैदिक युग और महाकाव्यों का काल

ऋग्वेद काल के बाद का समय उत्तर वैदिक युग के नाम से प्रख्यात है। इस युग में तीन वैदिक संहिताएँ—अथर्ववेद संहिता, सामवेद संहिता, और यजुर्वेद संहिता—और चारों वेदों के उपनिषद् और ब्राह्मण तथा रामायण एवं महाभारत के दो महाकाव्यों की रचना हुई थी। बाद के इस वैदिक साहित्य और महाभारत से हम उस युग की घटनाओं के विकास क्रम तथा संस्कृति को समझने में समर्थ हैं।

आर्यों का विस्तार—ऋग्वेद काल में आर्य जातियाँ काबुल से लेकर गंगा की ऊपरी घाटी के क्षेत्र में फैल गयी थीं और इन्होंने यहाँ छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये थे जिनमें अधिकांश कुलागत नरेशों के आधिपत्य में थे। ऋग्वैदिक काल में परस्पर संघर्ष और युद्ध के परिणामस्वरूप, जो कुछ जातियों में चल रहा था, दुर्बल जातियों को उनके शक्तिशाली पड़ोसियों ने अपने में मिला लिया था। विजेता जातियों के प्रदेशों तथा धन-द्रव्यों में जो वृद्धि हुई थी, वह उनके विशाल राज्यों पर शासन करने वाले नरेशों की बढ़ती हुई सत्ता में झलकती थी। वैदिक ग्रन्थों में अब सर्वप्रथम भव्य नगरों एवं विस्तृत राज्यों का उल्लेख मिलता है। विशाल राज्यों की वृद्धि के साथ-साथ आर्यों का सांस्कृतिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व भी पूर्व और दक्षिण की ओर फैलने लगा। वैदिक युग के अन्त तक आर्यों ने यमुना, गंगा और सदा नीरा (गंडक) नदियों द्वारा सिंचित उर्वरा मैदान पर पूर्णरूपेण अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। विन्ध्या के सघन दुर्गम वनों में आर्यों के साहसी समूह प्रविष्ट होने लगे थे और उन्होंने दक्षिण में गोदावरी के उत्तर में शक्तिशाली राज्यों की नींव डाल दी थी।

आर्यों के विस्तार एवं बढ़ते हुए उपनिवेशों के साथ-साथ पश्चिमी पंजाब क्रमश: उपेक्षित हो चला था और अब आर्य-संस्कृति का केन्द्र पंजाब से हटकर सरस्वती और गंगा के बीच के प्रदेश में आ गया था। यह प्रदेश 'मध्य प्रदेश' अथवा 'आर्यावर्त' कहलाता था। इसी क्षेत्र से ही आर्यों की संस्कृति पूर्व एवं दक्षिण की ओर अन्य प्रदेशों में फैली। ऋग्वेद कालीन अनेक जातियाँ अब विलुप्त हो गयी थीं और उनके स्थान पर नवीन जातियों का आविर्भाव हुआ

था। भरत और पुरु जातियों का स्थान कुरु, पांचाल और काशी ने ले लिया था जिन्होंने उत्तर वैदिक काल की राजनीति में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। कुरुओं की राजधानी आसन्दीवत थी और पांचालों की काम्पिल्य। इसके आगे पूर्व की ओर कोशल (अवध), काशी और विदेह (उत्तर बिहार) के राज्य आर्यों के नवीन केन्द्र बन चुके थे। इनसे आगे मगध (दक्षिण बिहार) और अंग राज्य सम्भवतः आर्य प्रभाव से अभी बाहर थे और इनके अधिवासी अपरिचित माने जाते थे। इस युग में प्रथम बार हम आन्ध्रों, बंगाल के पुण्ड्रों, उड़ीसा और मध्य प्रान्त के शबरों तथा दक्षिण-पश्चिम के पुलिंदों के नामों को सुनते हैं। ऐतरेय और जेमिनीय ब्राह्मणों के पिछले भागों में विदर्भ (बरार) का उल्लेख भी दो बार आया है। उसके अतिरिक्त मत्स्य, सूरसेन और गांधार जैसी कुछ अन्य जातियों के नाम भी मिलते हैं। इनका अपना स्वशासन था। इससे प्रमाणित होता है कि हिमाचल से विन्ध्याचल के बीच का प्रायः सारा उत्तरी भारत, सम्भवतः इससे बाहर का भाग भी, आर्यों की ज्ञानपरिधि में आ चुका था।

राज्यसत्ता की वृद्धि—जातियों के सम्मिश्रण, नवीन प्रदेशों की विजय और फलस्वरूप राज्यों का विस्तार एवं युद्धों में नरेशों के सफल नेतृत्व से राजा की सत्ता और उससे परमाधिकारों में वृद्धि हुई। "बिना ग्वाले के चौपायों की जो स्थिति होती है वही बिना राजा के मनुष्यों की होती है।" यह सिद्धान्त अंगीकार कर लिया गया था। राजा अपनी प्रजा पर अनियन्त्रित राज्यसत्ता रखने का दावा करते थे। यहाँ तक कि ब्राह्मण भी उनकी इच्छानुसार अलग कर दिये जाते थे। साधारण व्यक्ति को 'बलि', 'शुल्क' और 'भाग' नामक कर देने पड़ते थे और राजा की इच्छानुसार उसे यातना दी जा सकती थी। निम्न श्रेणी के लोगों को इच्छानुसार मार दिया जाता था और निर्वासित भी किया जाता था। राजा को जनसाधारण से उच्च पद पर निर्दिष्ट करने के लिए यज्ञों एवं आराधनाओं सहित विस्तृत अनुष्ठान होते थे। यद्यपि उस समय राजा के दैवी अधिकार न थे परन्तु उनमें दैवी गुण माने जाते थे। सफल राजा सार्वभौम, एकराष्ट्र, विराट्, अधिराज आदि प्रतिष्ठित पदों के प्राप्त करने का दावा करते थे और 'वाजपेय', 'राजसूय', 'अश्वमेध' यज्ञों का अनुष्ठान कर अपनी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शक्ति का परिचय देने लगे थे। ये सब साम्राज्यवाद और सामन्तवादी विचारों के द्योतक हैं।

राजा के प्रमुख कर्तव्य सैनिक और न्याय-सम्बन्धी कार्य होते थे। वह अपनी प्रजा और कानूनों का संरक्षक था एवं उनके शत्रुओं का संहारक था। यद्यपि वह दण्ड-विधान से स्वयं विमुक्त था परन्तु दण्ड देने की सर्वोपरि सत्ता उसके हाथों में थी। राजा पूर्ववत् कुलागत ही होता था। अथर्ववेद में राज्या-

भिषेक के समय गीतों से प्रकट होता है कि सम्भवतः प्रजा द्वारा राजा का निर्वाचन भी होता था। युद्ध में वह अब भी सेना का नेतृत्व करता था, यद्यपि सेना का साधारण संचालक सेनानी था। यह संदिग्ध है कि वह भूमि का स्वामी था, परन्तु निस्सन्देह उस पर उसका बहुत कुछ स्वत्त्व था।

राज्यसत्ता की वृद्धि होने पर भी राजा पूर्ण रूप से निरंकुश नहीं हो पाये थे। समर्पण समारोह के समय कुछ ऐसी क्रिया-विधियाँ होती थीं जिससे राजा को सिंहासन के नीचे उतरकर ब्राह्मणों को प्रणाम करना पड़ता था। अपने राज्याभिषेक के समय उसे धर्म-भक्ति की एवं ब्राह्मणों तथा राज्य के कानूनों के संरक्षण की शपथ लेनी पड़ती थी। राज्याभिषेक के समय राजा से कहा जाता था, 'हे राजन् ! यह राज्य तुम्हें कृषि, प्रगति एवं साधारण जनता के सुख-वैभव के लिए दिया जाता है।' इसका अभिप्राय यह है कि राज्य स्वत्वाधिकार की वस्तु नहीं अपितु एक धरोहर था और इसे अधिकार में रखने के लिए यह शर्त थी कि राजा जनसाधारण का कल्याण करे। ऋग्वेद कालीन साधारण जनता की राजनीतिक सार्वजनिक संस्थाएँ—सभा और समिति—इस युग में भी विद्यमान थीं। अथर्ववेद में यह उल्लेख है कि राजा और इन संस्थाओं में परस्पर मैत्रीपूर्ण सहयोग व सामंजस्य राज्य की समृद्धि के हेतु अनिवार्य है। कभी-कभी जनता का क्रोध इस भयंकरता से प्रकट होता था कि अन्याचारी निरंकुश नरेशों को उनके अपराधी अधिकारियों सहित पदच्युत कर दिया जाता था। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि उत्तर वैदिक युग में शासन-व्यवस्था और प्रणाली पहले की अपेक्षा अधिक प्रजातन्त्रवादी थी क्योंकि आर्य जाति के नेताओं की सत्ता को राजा अभी भी मानते थे।

शासन-प्रणाली का विस्तार—राज्यसत्ता की वृद्धि के साथ-साथ ही शासन-व्यवस्था के सूत्रों का भी विस्तार हुआ। राजा और उसके अधिकारियों का महत्त्व भी बहुत बढ़ गया था। इस युग में राज्य अधिकारियों को 'वीर' अथवा 'रत्नी' कहते थे। इसमें प्रमुख संग्रहीती (कोषाध्यक्ष), भाग्य-दुग्ध (कर एकत्र करने वाला प्रमुख अधिकारी), सूत (राज्य का वृतान्त रखने वाला भाट), क्षत्री (राज-परिवार का निरीक्षक), अक्षावाप (हिसाब रखने वाला अधिकारी), गोविकर्तन (वन-निरीक्षक या आखेट में राजा का साथी), पालागल (सन्देश-वाहक) और तीन प्राचीनतम अधिकारी सेनानी, पुरोहित और ग्रामणी थे। ऋग्वैदिक युग में ग्रामणी प्रधानतया सैनिक अधिकारी था परन्तु उत्तर वैदिक युग में वह सैनिक और असैनिक दोनों प्रकार का उच्च अधिकारी था और नगर तथा ग्राम, जहाँ कहीं न्यायालय की बैठक होती थी, का सभापतित्व करता था। पुलिस के अधिकारियों को इस समय उग्र या जीवग्रभ कहते थे। सौ गाँवों के अधिकारी को 'सभापति' और सीमान्त के शासक को

'स्थापित' कहते थे। इन अधिकारियों के हवाले प्रान्तीय शासन की नियमित प्रणाली की ओर संकेत करते हैं। न्याय-शासन में राजा का भाग अधिक होता था परन्तु कभी-कभी न्याय करने के अधिकार 'अध्यक्ष' नामक अधिकारी को दे दिये जाते थे। जाति या कबीलों की 'सभासद' नाम की एक छोटी सभा होती थी जो विशेष अवस्था में न्याय-कार्य करती थी। ग्राम में छोटे-छोटे मामलों का निर्णय ग्राम के न्यायाधीश 'ग्राम्यवादीन' और उसका न्यायालय 'सभा' करती थी।

उत्तर वैदिक युग में राजतन्त्र के साथ-साथ गणतन्त्र का विकास हुआ था। पश्चिम के सौराष्ट्र, कच्छ और सौवीर (आधुनिक सिंध) एवं हिमालय के उत्तर कुरुओं में गणतन्त्र शासन-व्यवस्था का प्रचलन था। पश्चिमी राज्यों की व्यवस्था का नाम 'स्वराज्य' था और उत्तरी प्रदेश में वैराज्य (राजा-विहीन राज्य) शासन-व्यवस्था थी।

समाज

इस बात के प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं कि उत्तर वैदिक काल में सामाजिक जीवन सुस्थित हो चुका था। उस युग में जो सामाजिक परिवर्तन हुए उनकी झलक उस काल के साहित्य में है। इनका विवरण निम्न प्रकार है :

वसन एवं मनोरंजन—यद्यपि गृहों के निर्माण तथा वेश-भूषा में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुए थे परन्तु आहार में मांस-भक्षण और सुरा-पान को अनुचित समझा जाने लगा। अथर्ववेद के एक सूक्त में ऐसे आहार को पाप कहा गया है। सम्भवतः यह अहिंसा के उस सिद्धान्त का परिणाम था जिसका अंकुर भारतीय धर्म-भूमि में जम चला था। आमोद-प्रमोद के नवीन साधन प्रचलित हो चले थे। विभिन्न स्थानों पर 'शैलूष' (अभिनेता) का उल्लेख प्राप्त होता है तथा बड़े-बड़े सामाजिक उत्सवों और समारोहों के अवसर पर 'वीणा-गाथिन' (वीणा बजाने वाले) गाथा अथवा गीतिकाव्य संगीत वाद्यों के साथ गाते थे। इन वाद्यों में कभी-कभी सौ-सौ तार (शततन्तु) लगे होते थे। ऐसी गाथाओं में हमें उन 'विजय-गीतों' का आभास मिलता है जो महाकाव्य काल में विकसित हुए थे।

स्त्रियाँ—स्त्रियों की दशा अवनत हो गयी थी। वह सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं हो सकती थी और उसका उपार्जित धन या तो उसके पति का अथवा पिता का समझा जाता था। कन्या-जन्म दुख का विषय समझा जाता था तथा पुत्र मनोकामना का लक्ष्य माना जाता था। स्त्रियाँ जातीय परिषदों या सभाओं में प्रवेश नहीं कर सकती थीं। बहुपत्नी-विवाह प्रचलित था तथा कुलीन वंशों की विवाहित नारियों को अपनी सौतों की उपस्थिति के कारण कष्ट सहन करने पड़ते थे। इस सम्बन्ध में रानियों का भाग्य विशेष रूप

से ईर्ष्या से परे था। इनमें से कुछ रानियों को जैसे प्रधान रानी (महिषी) तथा इष्टप्रिया को प्यार तथा सम्मान प्राप्त होता था, अन्य रानियाँ जैसे 'परिवृक्ति' उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाती थीं। परन्तु धार्मिक क्रिया-विधियों और अनुष्ठानों में भाग लेती रहती थीं। शिक्षा जो उनमें से कुछ को प्राप्त होती थी, उच्च श्रेणी की होती थी क्योंकि इससे वे राजसभा में होने वाले दार्शनिक तर्क-वितर्कों में प्रमुख भाग लेने में समर्थ होती थीं। गार्गी, वाचक्नवी, मैत्रेयी के दृष्टान्तों से प्रमाणित है कि नारियाँ शिक्षित होती थीं और उनमें से कुछ ने तो बौद्धिक गौरव भी प्राप्त कर लिया था। कर्मकाण्ड की जटिलता में वृद्धि होने के फलस्वरूप अब स्त्रियाँ पतियों के साथ बैठकर समूची यज्ञ-क्रिया नहीं कर सकती थीं एवं उनकी कुछ क्रियाएँ पुरोहित करने लगे थे। विवाह विषयक नियम परिवर्तित होकर अधिक कठोर हो गये थे; बाल-विवाह का उल्लेख भी मिलता है। इस युग में सर्वप्रथम गौतम धर्म-सूत्र में यह विचार प्रदर्शित होता है कि कन्या का विवाह उसके बाल्यकाल में ही (ऋतुमती होने के पूर्व) कर देना चाहिए।

वर्णाश्रम धर्म का सामाजिक सिद्धान्त—वर्णाश्रम धर्म एक सामाजिक धारणा है जो जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के लिए उपयुक्त कार्यों का निरूपण करती है। इसके अनुसार जीवन को चार कालों में विभक्त किया गया—'ब्रह्मचर्य' (अविवाहित दशा में शिक्षण-काल), 'गृहस्थ' (घरेलू या गृहस्थी के जीवन का समय), 'वानप्रस्थ' (सांसारिक कार्यों से विरक्त होकर वन में निर्जन स्थान में आत्मचिन्तन और ध्यान का समय), और 'संन्यास' (त्याग का जीवन एवं परमात्मा की खोज का समय)। प्रत्येक काल 'आश्रम' के नाम से प्रख्यात था। वानप्रस्थों के आश्रम परिपक्व अनुभव, स्पष्ट, निर्भीक एवं निष्पक्ष विचारों और मतों के केन्द्रस्थल होते थे। इन वानप्रस्थियों तथा संन्यासियों से देश को अपरिमित लाभ पहुँचता था। उत्तर वैदिक काल में इन आश्रमों के आदर्श का पालन करना प्रत्येक गृहस्थ का धर्म था। विश्व के किसी अन्य देश में इस प्रकार के आदर्श तथा उपयोगी सामाजिक संगठन एवं सुव्यवस्था का उदय और विकास नहीं हुआ था।

चतुर्वर्ण-व्यवस्था अथवा जाति-प्रथा—ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व वैदिक काल में समाज तीन वर्णों में विभक्त था—'ब्राह्मण' (पुरोहित), 'राजन्य' (जनता का सम्भ्रान्त अथवा कुलीन वंशीय भाग) और 'विश' (सामान्य जनता)। यह विभाजन बहुत कुछ व्यवसाय पर निर्भर था तथा इसका जाति-क्रम से कोई सम्बन्ध नहीं था जैसा कि आगे चलकर विकास हुआ। वंश-परम्परागत व्यवसाय और उद्यम का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। एक ही कुल व वर्ग में वैवाहिक सम्बन्ध निषिद्ध नहीं था और लोग भी विभक्त नहीं

थे। पर उत्तर वैदिक काल में इस पद्धति का विकास पर्याप्त रूप से हो
था। उत्तर वैदिक काल में सामाजिक स्तर स्पष्ट हो चले थे और वर्ण-व्य
अपने नियत वर्ग-आकार और वर्ग-संघर्ष की ओर द्रुतगति से बढ़
थी। वर्ण-व्यवस्था का प्रधान आधार पूर्व वैदिक काल में गौर रंग आर्यों
कृष्णकाय दस्युओं का पारस्परिक वर्णान्तर था। किन्तु उत्तर वैदिक
तक पहुँचते-पहुँचते आर्यों के निरन्तर रणक्रम, उनकी राजनीति की
वर्द्धित नवीन दशाओं और श्रम-विभाजन के उत्तरोत्तर उपक्रम से स्वाभ
ही वंश-परम्परागत पेशेवर दल निर्मित हो गये। इस प्रकार इस युग में
वर्गों 'ब्राह्मण' (जिसका कर्तव्य पठन-पाठन था), 'क्षत्रिय' (योद्धा, सं
तथा शासक), 'वैश्य' (आर्थिक कार्यों में संलग्न) तथा 'शूद्र' (सामान्य
कृषक) की स्थापना हुई। उत्तर वैदिक युग के शास्त्रकारों ने प्रथम
चार वर्गों के कर्तव्यों का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया और उनके लिए पृ
पृथक् नियम बनाये।

उत्तर वैदिक काल में जो लोग धर्म की व्यवस्था को जानते थे, कर्म
और यज्ञानुष्ठान में निपुण थे और दान ग्रहण करते थे वे ब्राह्मण कहल
यज्ञों के विकास ने इनकी वृद्धि की। अपने ज्ञान, तपस्या और त्याग से ब्र
जनसाधारण से ऊँचे उठ गये थे। उनसे सविस्तृत कर्मकाण्ड जानने एवं उ
उच्चादर्श का पालन करने की आशा की जाती थी। प्रजा के आध्य
जीवन के संरक्षक होने से वे समाज में अपनी उच्च प्रतिष्ठा बनाये रख
समर्थ हुए तथा उन्होंने अपनी दिव्य उत्पत्ति की प्रामाणिक व्याख्या की और
आर्यों से अपने पृथकत्व को बनाये रखने के लिए शास्त्रीय आदेश प्रस्तुत कि

जो युद्ध करते थे, भूमि के स्वामी थे और राजनीति में अधिकार के
सक्रिय भाग लेते थे, वे क्षत्रिय हुए। क्षत्रियों ने इस युग के तत्त्व ज्ञान में
अभिरुचि दिखलायी। यज्ञ-प्रणाली के विषय में वे कभी-कभी ब्राह्मणों से
वाद-विवाद कर बैठते थे। किन्हीं-किन्हीं क्षत्रियों ने कभी-कभी विशिष्ट ज्ञा
आधार पर अपने आपको ब्राह्मणों के पद तक ऊँचा उठा लिया था। उ
अपने ज्ञान द्वारा सर्वोच्च सुख प्राप्त करने का सतत प्रयत्न किया। हमारे
दो क्षत्रिय राजाओं जनक और विश्वामित्र के माने हुए उदाहरण हैं।
एक आचार्य हो गया जिसके चरणों के समीप बैठकर ब्राह्मण भी उसका उ
सुनते थे तथा दूसरा ऋषि बन गया जिसने वैदिक ऋचाओं की रचना
ऐसे अनेक प्रमाण हैं जो ब्राह्मणों और क्षत्रियों की परस्पर प्रतिद्वन्द्विता
ओर संकेत करते हैं। क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के सर्वोपरि अधिकार का वि
दीर्घकाल तक किया और उनका कथन था कि उनसे अधिक उच्च कोई
है एवं पुरोहित तो केवल राजा का अनुयायी मात्र होता है।

ब्राह्मणों और क्षत्रियों को छोड़ शेष समस्त आर्य जनता, जिसमें वणिक कृषक और शिल्पी थे, वैश्य कहलायी। वैश्य लोग ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों उच्च जातियों से भिन्न थे क्योंकि उनमें पुरोहित और कुलीन राजवंश के रक्त का अभाव था एवं वे स्वतन्त्र होने के कारण शूद्रों से उच्च श्रेणी के समझे जाते थे। ब्राह्मण और क्षत्रियों के अधिकारों तथा सुविधाओं का उपभोग वैश्यों के लिए निषिद्ध था। एक प्रामाणिक ग्रन्थ में कहा गया है कि, "वह (वैश्य) अन्य लोगों को कर देता है, अन्य व्यक्ति उसकी जीविका में भागी हो सकते हैं और दूसरे उस पर स्वेच्छापूर्वक शासन कर सकते हैं।" परन्तु इनमें 'श्रेष्ठिन' (आधुनिक सेठ) कहे जाने वाले अधिक धन-सम्पन्न व्यक्तियों तथा 'गृहपति' (गृहस्थी) का राज-सभा में बड़ा सम्मान होता था।

उपर्युक्त वर्णित वर्ण-व्यवस्था का निम्नतम स्तर उन 'शूद्रों' से बना था जो विजित वर्ग के दास और दस्यु थे और जिनका कर्म ऊपर के तीन वर्णों की सेवा करना था। शूद्रों की स्थिति अत्यधिक दीनतापूर्ण थी। वही ग्रन्थ जो वैश्यों की स्थिति का वर्णन करता है शूद्रों के विषय में इस प्रकार कहता है, "वह (शूद्र) अन्य व्यक्तियों का सेवक है जिसका इच्छानुकूल निष्कासन तथा वध किया जा सकता है।" शास्त्रोक्त क्रिया-विधियों में शूद्रों को कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं था। वह अपवित्र समझा जाता था तथा अग्निदेव की आहुति में चढ़ाने का दूध स्पर्श करने की आज्ञा उसे नहीं थी। फिर भी, प्रायः उसकी गणना वैश्य वर्ग के अन्तर्गत की जाती थी और ये दोनों मिलकर पुरोहित और सामन्त का विरोध करते थे। शूद्र के जीवित रहने और प्रगति करने का अधिकार क्रमशः स्वीकार किया जा चुका था एवं उसके ऐश्वर्य के लिए आराधना की जाती थी। आर्यों की सामाजिक व्यवस्था में अनेक नवीन आदिम जातियों के प्रवेश करने से शूद्रों का वर्ग निरन्तर बढ़ता ही रहा।

व्यवस्थित जाति-क्रम के बाहर लोगों के दो प्रमुख वर्ग थे जो 'व्रात्य' और 'निषद' कहे जाते थे। 'व्रात्य' लोग सम्भवतः ब्राह्मण धर्म की सीमा के बाहर थे। वे ब्राह्मण धर्म के नियमों का पालन नहीं करते थे, वे प्राकृत भाषा बोलते थे और घुमक्कड़ों-सा जीवन व्यतीत करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मगध-वासियों से उनका कोई घनिष्ठ सम्पर्क था तथा शैव एवं 'अर्हत' सम्प्रदायों से उनका विशिष्ट सम्बन्ध था। कुछ स्वीकृत संस्कारों को करने के पश्चात् वे ब्राह्मण समुदाय के सदस्य हो सकते थे। निषद लोग अनार्य थे जो अपने पृथक् ग्रामों में निवास करते थे तथा पृथक् शासक (स्थापित) होते थे। निषद आधुनिक युग के भीलों के समान थे।

उत्तरकालीन युगों की भाँति इस वर्ण-व्यवस्था में अभी कठोरता और जटिलता न आयी थी और वर्ण आजकल के समान जाति-पाँति के संकीर्ण क्षेत्र

में न थे। उनमें पारस्परिक सम्बन्ध अभी सम्भाव्य था। इस सम्बन्ध में इस काल के अनेक अन्तर्वर्ण-विवाहों के हवाले दिये जा सकते हैं। 'च्यवन' ब्रह्मर्षि थे परन्तु उन्होंने ब्राह्मण होकर भी क्षत्रिय वंश की पुत्री सुकन्या से विवाह किया; विदेह के जनक, काशी के अजातशत्रु और पांचाल के प्रवाहण जैवलि ने ब्रह्मज्ञान में ख्याति अर्जित की और राजन्य देवापि ने अपने भाई राजा शान्तनु के अश्वमेध में प्रमुख पुरोहित का कार्य किया। इस प्रकार उत्तर वैदिक युग में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में खान-पान और विवाह के बन्धन न तो उतने कठोर ही थे और न व्यवसाय-परिवर्तन पर प्रतिबन्ध ही था।

कालान्तर में जैसे-जैसे प्रादेशिक विशेषताएँ एवं ब्राह्मणों की प्रभुता बढ़ती गयी वैसे ही वैसे वर्णों की विशेषता भी बढ़ती गयी और उनका पारस्परिक सम्बन्ध अश्रद्धा की दृष्टि से देखा जाने लगा। युद्ध के प्रभाव, समाज की उत्तरोत्तर बढ़ती आवश्यकताओं एवं व्यापार-व्यवसाय की प्रगति के फलस्वरूप शिल्पियों तथा व्यापारियों के परम्परागत समूहों का निर्माण होने लग गया था। साधारण, स्वतन्त्र व्यक्तियों की विशाल जाति अपने कार्यों और व्यवसाय के अनुकूल छोटे-छोटे वर्गों में विभक्त हो रही थी और समाज अनेक व्यवसायी वर्गों का एक अद्भुत संगठन बनाया गया जिसमें प्रत्येक अपने स्वतन्त्र विधानों से व्यवस्थित था। कृषि-कर्म और पशुपालन में संलग्न रहने वाले लोगों के अतिरिक्त, व्यापारी, रथकार, लौहकार, बढ़ई, चर्मकार, मछुआ आदि जातियों का स्पष्ट उल्लेख है। उनमें से कुछ लोग सामाजिक दृष्टिकोण से पतित होते जा रहे थे और उनके स्पर्श से धार्मिक क्रियाएँ और अनुष्ठान अपवित्र माने जाने लगे थे। फिर भी नियमों की यह कठोरता बाद में होने वाली कठोरता के समान नहीं थी क्योंकि एक ब्राह्मण ऋषि के क्षत्रिय कन्या से विवाह करने का उल्लेख हमको प्राप्त होता है।

विद्या—शिक्षा की दृष्टि से आर्यों के समाज में उच्चतम मानसिक और बौद्धिक विकास हो चुका था। विद्या धार्मिक और लौकिक दोनों प्रकार की हो गयी थी। वेदों, गौण ग्रन्थों तथा उपनिषदों के अतिरिक्त, व्याकरण, तर्क-शास्त्र तथा कानून भी अध्ययन के पाठ्यक्रम में सम्मिलित थे। विद्यार्थी-जीवन के हेतु स्पष्ट नियम बना दिये गये थे। प्रथम नियम या संस्कार 'उपनयन' कहलाता था जिससे ब्रह्मचारी को नवीन जीवन में प्रवेश करने की दीक्षा दी जाती थी। उसे संयमी जीवन व्यतीत करने का अभ्यास करना पड़ता था; भोजन के लिए भिक्षा माँगनी पड़ती थी और विनम्रता की भावना अपनानी पड़ती थी। उसे सदैव अपने सम्मुख विद्या के छह उद्देश्य रखने पड़ते थे—ज्ञान, श्रद्धा, प्रजा, धन, आयु और अमृतत्व।

वेदों की ऋचाएँ अब भी पवित्र मानी जाती थीं और उन्हें लिपि-बद्ध

करना अपवित्र और दूषित कृत्य माना जाता था। पूर्वजों द्वारा रचित ऋचाओं को पुरोहित कण्ठस्थ कर लेते थे और इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक साहित्य वंश-परम्परानुकूल रीति से उपलब्ध होता रहा था। इस साहित्य को विशुद्ध और पवित्र रखने के लिए कई उपायों को अपनाया गया और इनमें से एक शाकल्य द्वारा रचित ऋग्वेद संहिता का 'पद-पाठ' है। यह एक ऐसी रचना है जिसमें प्रत्येक ऋचा का हर एक शब्द साहित्य की शुद्धि के प्रमाण के लिए अलग-अलग रचा गया था। निस्सन्देह, इस प्रकार प्रगतिशील उच्च साहित्य के साथ-साथ व्याकरण के कुछ ग्रन्थ अवश्य रहे होंगे पर दुर्भाग्यवश वे सभी आज विलुप्त हैं।

भाषा—साधारण जनता की भाषा अनार्यों के सम्पर्क से अवश्य परिवर्तित हुई होगी जिसके फलस्वरूप प्राकृतिक विभाषाओं की उत्पत्ति हुई। प्रत्येक प्रदेश के लिए अपनी ही 'प्राकृत' का विकास करना स्वाभाविक था। प्रारम्भिक युग में इस प्रकार की तीन प्राकृत भाषाएँ थीं—'शौरसेनी' जो शूरसेन जिले (केन्द्रीय दोआब) में, 'मागधी' मगध या पूर्व भारत में और 'महाराष्ट्रीय' जो सम्भवतः पश्चिमी भाग में बोली जाती थी। कालान्तर में इनमें से प्रत्येक की अपनी-अपनी प्रशाखाओं का उदय और विकास हुआ और बाद में साहित्यिक कृतियों में इनका उपयोग होने लगा। इस प्रकार वैदिक भाषा से दो स्वतन्त्र भाषाओं का विकास हुआ—प्रथम 'संस्कृत' जिसका रूप ईसवी पूर्व सातवीं सदी के वैयाकरण पाणिनि ने स्थिर किया और द्वितीय, प्राकृत भाषाएँ जो समय की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तित होती रहीं। सम्भव है 'संस्कृत' सभ्य और शिक्षित लोगों की भाषा रही हो और समस्त भारत में विद्वानों की अन्तर-प्रदेशीय भाषा हो गयी हो। सम्भवतः पाणिनि पेशावर जिले का निवासी था जिसने 'अष्टाध्यायी' नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। व्याकरण पर इसकी प्रामाणिकता मानी जाती है। व्याकरण के समस्त अंगों का उसने थोड़े से स्थान में सूक्ष्म विवेचन किया है। उसकी गणना विश्व के महान् वैयाकरणों में है।

चिकित्सा—बहुधा पशुओं का वध कर उनके विभिन्न अंग-प्रत्यंगों को अग्नि में हवि देने से लोग निस्सन्देह प्रारम्भिक शरीर-रचना-शास्त्र से अवगत हो गये होंगे। परन्तु चिकित्सा अब भी आदिकालीन रूप में रही होगी जिस पर जादू-टोने और मन्त्र-तन्त्र का प्रभाव था।

ज्योतिषशास्त्र—चिकित्साशास्त्र की अपेक्षा ज्योतिष ज्ञान की पर्याप्त वृद्धि हुई थी। तिथियों अथवा चन्द्रमा की कलाओं का यथेष्ट और स्पष्ट ज्ञान लोगों को हो गया था एवं रवि-मार्ग २७ भागों में विभक्त कर दिया गया जिन्हें 'नक्षत्र' कहते थे।

धातु ज्ञान—इस युग में धातु ज्ञान की वृद्धि हुई थी। ऋग्वेद में केवल स्वर्ण एवं अज्ञातार्थ 'अयस्' का उल्लेख हुआ है। परन्तु उत्तर वैदिक काल के

साहित्य में शीशा, टिन (त्रपु), चाँदी (रजत), स्वर्ण (हिरण्य), लाल (लोहित), अयस् (ताँबा) और 'श्याम' अयस् (लोहा) का वर्णन है। सोना-चाँदी का प्रयोग आभूषण, बरतन, कटोरियाँ आदि बनाने के लिए होता था। नदी की तलहटियों से, भूमि से अथवा कच्ची मटियाली धातु को शोध-पिघलाकर स्वर्ण उपलब्ध किया जाता था।

आर्थिक दशा

कृषि—लोगों के प्रधान उद्यमों में कृषि कर्म अभी भी था। इस समय कृषि प्रधान आजीविका बन चुकी थी। इसमें प्रभूत उन्नति हो चुकी थी और अनेक प्रकार की उपज होने लगी थी, जैसे चावल, गेहूं, तिलहन आदि। कृषि के औजारों में भी बहुत उन्नति हुई थी और कभी-कभी हल में २४ बैल जोते जाते थे। कृषि-कार्य के लिए अधिक भूमि का उपयोग होने लगा था। हल का आकार और उसकी उपादेयता खूब बढ़ गयी थी और उपज की वृद्धि के लिए खाद की उपयोगिता समझी जाने लगी थी। उपजाऊ भूमि से जिसे लोग जोतते थे वर्ष भर में दो फसलें उत्पन्न होती थीं, परन्तु कृषक कष्ट-मुक्त नहीं था। प्राकृतिक विपत्तियों से दुर्भिक्ष भी पड़ते थे। एक उपनिषद् में ओले गिरने तथा टिड्डी दल के आक्रमण का उल्लेख है जिससे कुरुओं का देश अत्यन्त दुखी हो गया था और फलतः असंख्य लोगों को देश छोड़ने पर बाध्य होना पड़ा था। यद्यपि साधारण जनता जिसमें धनाढ्य लोग भी थे अब भी ग्राम में रहती थी, परन्तु फिर भी नागरिक जीवन की सुख-सुविधा और मनोज्ञता से लोग अनभिज्ञ नहीं थे। कुछ गाँवों के विवरण में हमें यह बात विदित होती है कि खेतों में कार्य करने वाले भूमि के स्वामी कृषकों का स्थान जमींदार वर्ग के लोग लेते जा रहे थे जिन्होंने सम्पूर्ण ग्रामों को अपने अधिकार में कर लिया था। फिर भी इस युग में भूमि-स्वत्त्व-परिवर्तन को जनसाधारण ने स्वीकार नहीं किया था और भूमि का विभाजन और नियतन सजातीय लोगों की स्वीकृति से ही हो सकता था।

व्यापार तथा उद्यम—उद्यमों में दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति हो रही थी। उद्यम क्षेत्र में विशिष्टीकरण बहुत बढ़ गया था और श्रम-विभाजन में वृद्धि हो रही थी। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक पेशे उठ खड़े हुए थे। औद्योगिक धन्धों का बाहुल्य आश्चर्यजनक था। इस युग के साहित्य में निम्नलिखित प्रमुख धन्धों के हवाले मिलते हैं—आखेटकारी, मछुए, व्याध, घर के सेवक, हल जोतने वाले, क्षेत्र-श्रमिक, टोकरी बनाने वाले, रस्सी बनाने वाले, रथकार, धनुष बनाने वाले, चर्मकार, बढ़ई, धीवर, गड़रिये, धोबी, रंगसाज, जुलाहे, नाई, खटीक, कुम्हार, धातुकार, व्यापारी, नट, गायक, ऋण देने वाले आदि। स्त्रियाँ भी औद्योगिक कार्यों में भाग लेती थीं जैसे वसनों

पर कसीदा काढ़ना, रंगसाजी आदि। वंश-परम्परानुकूल व्यापारियों (वणिज) का वर्ग निर्मित हो चुका था। चाँदी का प्रयोग बढ़ गया था और उससे अनेक आभूषण बनाये जाते थे।

पर्वतों पर निवास करने वाले किरातों से व्यापार होता था। ऊँची चट्टानों पर से खोदी हुई ओषधियों के बदले में वे वस्त्र, चटाइयाँ और खालें लेते थे। लोग समुद्र से पूर्णतः परिचित थे तथा 'शतपथ ब्राह्मण' में उल्लिखित जल-प्रलय की कथा कुछ विद्वानों के मतानुकूल भारत और बेबीलोन मध्य सम्पर्क की ओर संकेत करती है। यद्यपि सिक्कों का प्रचलन अभी नहीं हुआ था, तो भी 'निष्क', 'शतमान' और 'कृष्णला' नामक मूल्य की इकाइयों से व्यापार सुगम हो गया था। परन्तु इसमें सन्देह है कि इनमें सामान्य सिक्कों के सभी गुण विद्यमान थे। 'निष्क' जो पहले कण्ठहार होता था अब सम्भवतः स्वर्ण का टुकड़ा हो गया था जिसका निर्दिष्ट वजन ३२० रत्ती था और 'शतमान' का भी यही वजन था। 'कृष्णला' का वजन १ रत्ती अथवा १·८ ग्रेन था। 'गण' अथवा 'श्रेष्ठिन' के उल्लेख से प्रतीत होता है कि व्यापारी वर्ग ने सम्भवतः संघ व्यवस्था स्थापित कर ली थी।

धर्म

उत्तर वैदिक युग में लोगों के धार्मिक जीवन में गहरा परिवर्तन हो गया था। पूर्व वैदिक युग के देवताओं में कुछ परिवर्तन हो गया था। इस युग में तीन स्पष्ट धार्मिक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—धार्मिक क्रिया-विधियाँ, तत्व-ज्ञान और तपस्या सम्बन्धी विचारधाराएँ।

देवता—ऋग्वैदिक युग के देवताओं का गौरव क्रमशः तिरोहित हो गया था, यद्यपि अथर्ववेद में यत्र-तत्र 'वरुण' की सर्वज्ञता या पृथ्वी देवी की उदारता के सम्बन्ध में सुन्दर मन्त्र हैं। ऋग्वेद कालीन कुछ देवताओं के प्रति अभी भी साधारण जनता का अनुराग और श्रद्धा थी। यद्यपि ये देवता अभी स्तुत्य थे, परन्तु इन्द्र या वरुण के समान महत्त्वशाली नहीं थे। इनमें से एक 'रुद्र' था जिसे पहले 'शिव' की उपाधि मिली थी और जो अब 'पशुपति' और 'महादेव' कहा जाने लगा था। सम्भवतः इसकी लोकप्रियता का कारण यह था कि प्रागैतिहासिक सिन्धु-घाटी-सभ्यता के लोगों के प्रमुख नर-देवता के साथ इसका अनन्यीकरण कर दिया गया था। रुद्र की महत्ता और विकास का प्रधान कारण संस्कृतियों का समिश्रण माना गया है।

रुद्र के साथ ही साथ 'विष्णु' नामक देवता का भी महत्त्व बढ़ चला था। ऋग्वेद काल में यह अपनी तीन विशिष्टताओं के लिए प्रसिद्ध था। ऐहिक और नैतिक शक्ति का मूल, कष्ट में मानव का उद्धारक और देवताओं का तारक माना जाकर विष्णु ने शीघ्र ही वरुण का स्थान ग्रहण कर लिया। इस युग में

दिव्य देवताओं में विष्णु सबसे अधिक प्रतिष्ठित और श्रेष्ठ माना जाने लगा और उसके चरणों की प्राप्ति सन्त और ऋषियों के जीवन का लक्ष्य हो गया। वैदिक युग के अवसान के पूर्व ही विष्णु का अनन्यीकरण 'वासुदेव' के साथ हो गया था जो महाकाव्य युगीन अनुश्रुति में कृष्ण देवकी पुत्र नाम से उपास्य देव थे।

धार्मिक क्रिया-विधियाँ और यज्ञ—इस युग में जो अन्य परिवर्तन हुआ वह प्राचीन वैदिक धर्म की क्रिया-विधियों और समारोहों के विकास के सम्बन्ध में था। ऋग्वैदिक काल में पूजन के ढंग और यज्ञ-विधियाँ इतनी सादी व सरल थीं कि प्रत्येक गृहस्थ उन्हें कर सकता था। सार्वजनिक यज्ञों के अवसर पर जाति या कबीले का प्रधान उच्च पुरोहित का कार्य भी करता था। परन्तु बाद के युग के पूजन में यज्ञ ही सब कुछ महत्त्वशाली हो गया था। देवता भी यज्ञों के अधीनस्थ माने जाने लगे थे। ऐसी धारणा हो गयी थी कि यज्ञों के यथा-विधि सम्पादित होने पर देवताओं को भी झुकना पड़ता है। यज्ञों और उनसे सम्बद्ध प्रत्येक क्रिया रहस्यमय तथा अव्यक्त शक्तियों से अनुप्राणित मानी जाने लगी थी। वैदिक ऋचाओं को जादू-टोने के आकर्षक मन्त्र मान लिया गया था जिनका प्रयोग यज्ञों के अवसर पर होता था। ऐसा विश्वास हो गया था कि यजमान का कल्याण यज्ञ की प्रत्येक क्रिया को विस्तारपूर्वक करने में था। यज्ञ के पेचीदे जटिल अनुष्ठानों में से एक का भी उल्लंघन अत्यन्त अभाग्य का कारण माना जाता था। वस्तुतः इस युग में यज्ञों ने वह गौरव धारण किया और उनकी महत्ता इतनी बढ़ी कि वे फल के साधन नहीं स्वयं इच्छित परिणाम बन गये। प्रेतात्माओं, जादू-टोने, इन्द्रजाल, वशीकरण आदि में विश्वास बढ़ चला था और इस लोकप्रिय अन्धविश्वास को धर्म में स्थान प्राप्त हो गया था। कर्मकाण्ड की क्रिया-विधि अधिक विस्तृत, जटिल और कष्टसाध्य हो गयी थी और धर्म अनुष्ठान क्रियाओं की एक अटूट परम्परा बन गया था। क्रिया-विधियों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग का निरूपण किया गया। इन क्रिया-विधियों के अगणित भेद नियोजित हो गये और प्रत्येक किसी न किसी सफलता सिद्धि के हेतु था। इस विश्वास ने कि देवतागण यज्ञों से प्रसन्न होते हैं प्रत्येक गृहस्थ के लिए नियोजित यज्ञों की संख्या, भेद और दिव्यता में वृद्धि कर दी। हम इस युग में ऐसे यज्ञों का वर्णन सुनते हैं जो अनेक वर्षों तक चलते थे और जिनके लिए सत्रह पुरोहितों की आवश्यकता होती थी और इनमें से प्रत्येक का विविध अवस्था में निर्दिष्ट कर्म था। वस्तुतः उस युग में एक आर्य का जीवन ब्राह्मण पुरोहितों के निरीक्षण में सम्पादित यज्ञों की एक शृंखला था। इससे ब्राह्मणों की प्रभुता दृढ़तापूर्वक स्थापित हो गयी थी।

परब्रह्म, पुनर्जन्म, कर्म और मोक्ष का सिद्धान्त—जब वैदिक धर्म की सादी

आराधना और धर्म की योग्य सत्य भावना विलुप्त हो रही थी और पुरोहित तथा धर्मशास्त्र यज्ञ सम्बन्धी विस्तृत क्रिया-विधियों का विकास कर रहे थे, तब अन्य वैदिक विचारधारा प्रवाहित हो रही थी। दार्शनिकों ने कर्मकाण्ड की दक्षता को सन्देह की दृष्टि से देखा और सृष्टि की आन्तरिक सारभूत एकता की कल्पना की। उत्सुक मस्तिष्क सृष्टि सृजन, जीवन और मृत्यु की समस्याओं का गहन चिन्तन करने लगा और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सृष्टि के पार एक अपरिवर्तनशील शक्ति—'ब्रह्म'—है जो समस्त सृष्टि का स्रष्टा और नियन्त्रण करने वाला है। वह स्वयं परमात्मा ही है जो प्रत्येक में निवास करता है। किसी भी व्यक्ति के देहावसान के पश्चात् उसकी आत्मा अन्य शरीर में प्रवेश करती है और इसके बाद फिर दूसरी देह में, और इस प्रकार यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि आत्मा अपने बन्धनों से मुक्त होकर परमात्मा में विलीन न हो जाय। आत्मा के पुनर्जन्म के वाद का यही सिद्धान्त है, इसी से संयुक्त कर्म का सिद्धान्त निकलता है जिनके अनुसार कोई भी कर्म निष्फल नहीं जाता। सभी प्रकार के, उचित या अनुचित, भले या बुरे, कार्यों का समय आने पर परिणाम फलता है। आत्मा को पुनर्जन्म लेना पड़ता है और उसे अपने पूर्वजन्मों का फल भुगतना पड़ता है।

कर्म और आत्मा से आवागमन के सिद्धान्तों से लगा हुआ मोक्ष का सिद्धान्त है। मोक्ष जन्म और मरण से मुक्त अमरत्व की अवस्था है। आत्मा की मात्रा में यह ऐसी अवस्था है जब वह अनन्त जन्म-मरण के पाश से मुक्त हो जाती है और उस दिव्य अनन्त 'ब्रह्म' में विलीन हो जाती है जिसका कि वह एक सूक्ष्म अणुमात्र है। मोक्ष का यह आदर्श अपने सम्मुख रखना प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य था और उससे ऐसी आशा की जाती थी कि वह इस आदर्श की प्राप्ति के हेतु यत्नशील रहेगा।

इन सिद्धान्तों और ईश्वर, प्रकृति (Matter), आत्मा, सृजन, मरण आदि की दार्शनिक कल्पनाओं का विवेचन ही उपनिषदों में है जिनकी रचना इस युग में हुई थी और जो विश्व के दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में सर्वोच्च देन है। इन्हीं समस्याओं का युक्तिसंगत और नियमित विवेचन पुनः उन ग्रन्थों में किया गया है जिन्हें छह दर्शन कहते हैं—सांख्य, योग्य, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा।

तप और संन्यास—उत्तर वैदिक युग की पूर्ण समाप्ति के पूर्व की एक अन्य धार्मिक विचारधारा प्रस्फुटित हुई थी जिसमें जीवन से वैराग्य और तप का आदर्श था। इसके अनुसार तप और ब्रह्मचर्य पर खूब जोर दिया गया और संन्यास-जीवन अति गौरवपूर्ण माना जाने लगा। तपस्वी वह व्यक्ति होता था जो प्रलोभनकारी सांसारिक जीवन का परित्याग कर वन की निर्जनता में जीवन की आध्यात्मिक समस्याओं पर अनन्य निष्ठा और एकाग्रता के साथ

गहन मनन के हेतु निवास करता था। जाति-प्रथा की उपेक्षा करते हुए वह आत्मा के पुनर्जन्म और कर्म में विश्वास करता था। वह अपने शरीर को अनेक यातनाएँ देता था। उसके जीवन का दृष्टिकोण तपस्या था जिसकी विशिष्टता शारीरिक यातना और आत्म-पीड़न था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि यह आत्मा की शुद्धि करने, अलौकिक विलक्षण शक्ति प्राप्त करने और परमात्मा में विलीन होने का एक साधन था। इस तप-मार्ग का प्रतिपादन खूब किया जाने लगा और बाद के महाकाव्य काल में तो प्रचुरता के साथ इसका अभ्यास किया गया।

सूत्रों और धर्म-शास्त्रों का युग

उत्तर वैदिक युग के बाद आर्यों का सामाजिक तथा धार्मिक जीवन जटिल होता गया। वर्ण-व्यवस्था के नियम-उपनियम भी कठोर होते गये और धार्मिक कर्मकाण्ड में वृद्धि हुई। धर्म सम्बन्धी परम्परा और तत्सम्बन्धी क्रिया-विधियों की सघनता बढ़ती जा रही थी और कर्मकाण्ड के पेंच दिन-प्रतिदिन सघन होते जा रहे थे। इसलिए इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्ध रखने वाले नियमों को क्रमानुसार संगठित कर दिया जाय और धार्मिक परम्परा के विचार तथा उनकी पद्धतियाँ लिख डाली जायँ, जिससे मौखिक आदान-प्रदान में उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन न हो जाय एवं भावी पीढ़ियाँ भी इन लिखित ग्रन्थों से लाभ उठा सकें। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सूत्र साहित्य की रचना हुई। सूत्र वे ग्रन्थ हैं जिनमें विधि-विधान एकत्र कर परस्पर जोड़ दिये गये। सूत्रों की विशेषता यह थी कि कम से कम सूत्रों में अधिक से अधिक भाव व्यक्त करना। इससे उन्हें कण्ठस्थ करने में सरलता होती थी। वास्तव में विभिन्न विधानों के स्मरण करने के लिए इन ग्रन्थों के वाक्य "सूत्र" (सूत्र = डोरे) हो गये। प्रारम्भ में ही तो यह नवीन गद्य शैली सुविधाजनक प्रमाणित हुई, किन्तु आगे चलकर उसकी सूक्ष्मता के कारण सूत्र-ग्रन्थों का समझना कठिन हो गया और तब उन पर अनेक टीकाएँ रचने की आवश्यकता हुई। उनमें पतञ्जलि का महाभाष्य प्रमुख है। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' भी सूत्र-पद्धति के ग्रन्थों में बेजोड़ है। इसमें वैज्ञानिक ढंग से व्याकरण के सूक्ष्म से सूक्ष्म नियमों को सूत्रबद्ध कर दिया गया है। विद्वानों का मत है कि सूत्रों का काल साधारणतः ईसा से छठी अथवा सातवीं सदी पूर्व और प्रायः दूसरी सदी ईसवी पूर्व के बीच है।

सूत्र-ग्रन्थ—उत्तर वैदिक काल में वैदिक ऋचाओं और मन्त्र के व्यवस्थित अध्ययन और धर्म की व्यावहारिक आवश्यकताओं से कालान्तर में 'वेदांगों' का जन्म हुआ है। वेदांग छह हैं—व्याकरण, शिक्षा (उच्चारण), कल्प (कर्म-काण्ड), निरुक्त (शब्द विज्ञान), छन्दस और ज्योतिष। इन वेदांगों का

उद्देश्य वैदिक स्थलों की 'व्याख्या, रक्षा और प्रयोग' करना था। ऊपर जिस कल्प का वर्णन है उसमें धर्म सम्बन्धी सूत्र हैं। यह तीन वर्गों में विभाजित है—(१) श्रौत सूत्र, (२) गृह्य सूत्र, (३) धर्म सूत्र।

श्रौत सूत्र का कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। उनका सम्बन्ध हवि और सोम के वैदिक यज्ञ की विधियों और अन्य धार्मिक अनुष्ठानों से है। गृह्य सूत्रों का सम्बन्ध गार्हस्थ्य अनुष्ठानों से है। इसमें व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले कर्मकाण्डों और अनुष्ठानों का वर्णन है। इन सूत्रों ने व्यक्ति का जीवन गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक अनेक कालों में विभक्त कर दिया है। प्रत्येक काल से सम्बन्धित सविस्तृत क्रिया-विधियाँ हैं जिनके अपने-अपने विधान है। इन क्रिया-विधियों में सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ण-संस्कार हैं। जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह, मृत्यु आदि प्रमुख सोलह संस्कारों का सूक्ष्म विधान दिया गया है और इन संस्कारों के विस्तृत नियमों को सूत्रबद्ध किया गया है। धर्म सूत्रों का सम्बन्ध सामाजिक व्यवहार के नियमों से है। दैनिक, सामाजिक जीवन के नियमों, उपनियमों, प्रणालियों आदि का इनमें विस्तृत विवेचन है। हिन्दू सामाजिक कानून व्यवस्था का श्रीगणेश इन्हीं सूत्रों से होता है। इनमें गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब और वशिष्ट के सूत्र सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं।

धर्मशास्त्र—धर्मशास्त्र हिन्दुओं के कानून ग्रन्थ हैं। इनमें मनु द्वारा रचित मानव-धर्मशास्त्र अधिक प्रसिद्ध है। मनु को हिन्दुओं का सर्वश्रेष्ठ विधायक (Law-giver) माना जाता है। मानव-धर्मशास्त्र को मनुस्मृति भी कहते हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि से सूत्र-युग का महत्त्व

संस्कृति के विकास में इन सूत्रों का महत्त्व है। इन्होंने समाज को व्यवस्थित व सुसंगठित किया। गृह्य सूत्र ने मनुष्य के जन्म से मृत्युपर्यन्त कर्तव्यों का सविस्तृत संविधान बतलाकर, प्रत्येक अवसर के हेतु संस्कारों को निश्चित कर गृहस्थ के लौकिक जीवन को निर्धारित किया तथा परिवार सम्बन्धी अनुशासन व्यवस्था निर्दिष्ट की। इन्हीं घरेलू क्रिया-विधियों, संस्कारों और इनकी अनुशासन व्यवस्था ने समाज को एक जाति में ढाल दिया जो कालान्तर में हिन्दू जाति के नाम से प्रख्यात हुई। गृह्य सूत्र के समान ही धर्म सूत्र भी महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें सामाजिक प्रथाओं तथा रूढ़ियों का विवरण है। इनमें साधारण दीवानी और फौजदारी दण्ड-विधान के सामाजिक व्यवहार और सम्बन्ध के नियमों एवं सम्पत्ति के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। ये सब निस्सन्देह इस ओर संकेत कर सकते हैं कि उस युग में समाज को जागृति के आधार पर संगठित एवं व्यवस्थित करने की प्रवृत्ति थी।

सूत्रों में सांस्कृतिक जीवन की झलक

इन सूत्रों में तत्कालीन सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन की झलक मिलती है। उस काल में सामाजिक व्यवस्था निम्न प्रकार की थी :

सामाजिक दशा—उस युग में वर्णाश्रम धर्म समाज में पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो चला था। प्रत्येक वर्ण के कर्तव्यों और अधिकारों को निर्धारित कर दिया गया था और प्रत्येक मनुष्य से ऐसी आशा की जाती थी कि वह उन नियमों का पालन करेगा। द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) का जीवन चार आश्रमों में विभाजित कर दिया गया था—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। वर्णों की विशुद्धता पर अधिक बल दिया गया था। द्विजों को शूद्रों के हाथ से भोजन ग्रहण करना एवं उनसे विवाह सम्बन्ध करना निषिद्ध था। उच्छिष्ट अथवा अपवित्र भोजन और अछूत वर्ग का स्पर्श वर्जित हो गया था। इन विषयों में सूत्रों के विधान कड़े और स्पष्ट हो गये थे। सूत्रों में नारियों को निम्न स्थान दिया गया था। साधारणतया धर्म सूत्र का दृष्टिकोण संकुचित था। इन सूत्रों ने समुद्र-यात्रा करना एवं विदेशियों की भाषा सीखना निषिद्ध कर दिया था।

राजनीतिक दशा—धर्म सूत्रों में नरेशों के विविध कर्तव्यों का निरूपण किया गया है। प्रजा की पूर्णतया रक्षा करना, देश को बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रखना, आततायियों का दमन करना, अभियुक्तों को दण्ड देना, ब्राह्मणों, श्रोत्रियों, स्नातकों, विद्यार्थियों, दुर्बलों एवं अपंगों की सहायता करना, युद्ध के समय सैन्य-संचालन कर वीरता से लड़ना, शान्ति के समय न्याय करना आदि राजाओं के विशिष्ट कर्तव्य माने गये थे। उनका निवास 'पुर' (राजधानी) के एक विशाल भवन में था। राजप्रासाद (वेशम) के अतिरिक्त ऐसे भी भवन थे जहाँ अतिथियों का सत्कार एवं राजसभा के अधिवेशन होते थे। राजाओं के अधिकार सीमित थे। वे अपनी इच्छानुकूल स्वयं राजनियम नहीं बना सकते थे। नगरों एवं ग्रामों में चोरों तथा लुटेरों से जनता की रक्षा के हेतु स्वामिभक्त और ईमानदार कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। चोर को न पकड़ सकने पर अथवा चोरी या लूट की सम्पत्ति प्राप्त न कर सकने पर इन कर्मचारियों को अपने व्यय से क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी।

शासन-प्रबन्ध और राष्ट्र-संरक्षण के लिए प्रजा को विविध कर देने पड़ते थे। भूमि, विक्रय की वस्तुओं, मवेशी, स्वर्ण, कन्द-मूल फल, ओषधियाँ, मधु, मांस, घास और ईंधन पर कर लगे हुए थे। कानून का आधार वेद, अनुश्रुति और वेदों के ज्ञाता के आधार थे। गौतम के धर्म सूत्र के अनुसार न्याय-दान वेदों, धर्मशास्त्रों, वेदांगों, प्राशिक आचार-विचार, वर्णों और कुलों के आचार और कृषकों, सौदागरों, गोपालों, महाजनों एवं शिल्पियों के रीति-रिवाज के अनुसार होता था। इससे प्रकट होता है कि विभिन्न वर्गों और श्रेणियों के रीति-

रिवाज और प्रथाएँ राज्य द्वारा मान्य थीं। इस युग में ब्राह्मणों को सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में इतने अधिक विशिष्ट अधिकार प्राप्त हो गये थे कि वे मृत्यु-दण्ड से मुक्त थे। समान अपराध के लिए जहाँ शूद्र शुल्क से दण्डित होता था वहाँ अधिकतर ब्राह्मण सर्वथा छूट जाता था।

महाकाव्य

महाकाव्य, उनके लेखक और उनका रचना-काल—'रामायण' और 'महाभारत' दो बड़े महाकाव्य हैं। उनकी कहानियाँ इतनी अधिक प्रचलित व प्रख्यात हैं कि उनका यहाँ वर्णन करना आवश्यक नहीं है। रामायण के रचयिता वाल्मीकि और महाभारत के ऋषि व्यास माने जाते हैं। परन्तु महाकाव्य आज जिस रूप में हमारे सम्मुख हैं वह किसी एक युग की अथवा एक ही लेखक की कृति नहीं हैं। इन महाकाव्यों का वर्तमान रूप इनके मूल ग्रन्थों में समय-समय पर किये गये अनेक संशोधनों और परिवर्तनों का परिणाम है। रामायण का अन्तिम संस्करण जो आज हमारे सम्मुख है ई० सन् २०० के लगभग की रचना है और महाभारत का अन्तिम संस्करण इसी के आसपास या इसके थोड़े समय बाद का है। रामायण के मूल ग्रन्थ का रचना-काल ई० पूर्व २०० या ३०० माना जाता है और महाभारत का इससे भी पूर्व का, सम्भवतः ईसवी पूर्व चतुर्थ सदी। फिर भी ईसवी पूर्व द्वितीय सदी में इन ग्रन्थों के अधिकांश भागों की रचना पूर्ण हो चुकी थी। परन्तु दोनों ही महाकाव्य अपने रचना-काल के बहुत ही पूर्व के समय का वर्णन करते हैं।

महाकाव्यों का महत्त्व—ये दोनों महाकाव्य न तो कवि-कल्पना की कृति हैं, न विशुद्ध पौराणिक गाथा, और न दृष्टान्त और रूपक की कथा ही हैं। परन्तु इनमें वास्तविक घटनाएँ, कहानियाँ और गाथाएँ निस्सन्देह घनिष्ठता-पूर्वक मिश्रित हो गयी हैं। दोनों महाकाव्यों का उदय उन प्राचीन आख्यानों, गाथाओं, वीरों की प्रशस्तियों तथा वीरता की घटनाओं से सम्बन्ध रखता है जिन्हें पेशेवर गायक या भाट राजसभा में अथवा धार्मिक समारोहों और यज्ञों के अवसरों पर गाया करते थे। इन वीरता की गाथाओं के कुछ अवशिष्ट भाग हमारे दो बड़े महाकाव्यों में अभी भी सुरक्षित हैं। रामायण और महा-भारत प्राचीन वीरों और वीरांगनाओं के पारस्परिक प्रणय और विद्रोह, जय और पराजय की गाथाएँ हैं तथा प्राचीनतम प्रचलित अनुश्रुतियों की संहिताएँ हैं। मोटे रूप में रामायण आर्यों के दक्षिण भारत में प्रवेश करने के इतिहास का विवेचन करता है। महाभारत की कथा यह बतलाती है कि किस प्रकार छोटे-से महत्त्वहीन घरेलू झगड़े से हिन्द-आर्यों की दीर्घकाल की विवादग्रस्त समस्याएँ प्रज्वलित हो उठीं।

भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिए दोनों महाकाव्य अधिक महत्त्व के

हैं, क्योंकि ये महाकाव्य काल की सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक दशा व संस्थाओं के विषय में बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत करते हैं। साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टि से भी ये कम महत्त्व के नहीं हैं। भारतीय साहित्य की ये सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से रामचन्द्र की दक्षिण यात्रा आर्यों की दक्षिण विजय का प्रथम वृतान्त है। अनुमानतः इसके पश्चात् आर्यों की सभ्यता व संस्कृति का विस्तृत प्रभाव दक्षिण में फैला।

इनके ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्त्व के अतिरिक्त ये दो महाकाव्य प्रत्येक प्रकार की सामग्री के भण्डार हैं। इनमें वर्णित धर्म, आचार-विचार, संस्थाएँ, प्रथाएँ, प्रणालियाँ और आदर्श सदियों से भारतीयों को प्रेरणा दे रहे हैं और हमारे सांस्कृतिक जीवन-निर्माण में प्रमुख भाग लेते रहे हैं। साधारण मनुष्य के लिए ये काव्य ही नहीं, धर्म के मूल स्रोत, सामाजिक आचार के मेरु-दण्ड और संस्कृति के प्राण रहे हैं। ये गृहस्थ-जीवन के उन उज्ज्वल और उच्च आदर्शों को लोकप्रिय और मनोरंजक ढंग से प्रस्तुत करते हैं जिनकी जड़ सदियों से भारतीय विचारधारा और अनुश्रुति में दृढ़ हो गयी है। सदियों से ये आदर्श हमारे वैयक्तिक और राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण कर रहे हैं और देश की सांस्कृतिक एकता की वृद्धि कर रहे हैं। इन काव्यों के पात्र हिन्दुओं की पीढ़ियों की नैतिकता के उदाहरण रहे हैं। आज भी राम अनेक आदर्शों के पुंज माने जाते हैं। वे आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श पति और अपनी प्राणाधिक प्रियतमा को लोकानुरंजन के लिए परित्याग कर देने वाले आदर्श राजा हैं। राम-राज्य आज तक आदर्श राज्य माना जाता है। सीता भारतीय नारीत्व की साक्षात् प्रतीक हैं। भारतीय स्त्रियों के लिए वह पवित्रता और पतिव्रत धर्म में आज भी आदर्श हैं। सदियों से ललनाएँ सीता के उदात्त उदाहरणों का अनुसरण करती आ रही हैं। कौशल्या जैसी माता और लक्ष्मण जैसे भाई आज भी हिन्दू समाज में आदर्श और अनुकरणीय माने जाते हैं।

महाभारत केवल कौरव-पाण्डवों के संघर्ष की कथा ही नहीं अपितु भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म के सर्वांगीण विकास की गाथा भी है। इसमें तत्कालीन धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक और ऐतिहासिक आदर्शों का अमूल्य एवं अक्षय संग्रह है तथा भारतीय नीति का विशाल दर्पण है। कतिपय विद्वान् महाभारत को सर्व प्रधान काव्य, समस्त दर्शनों का सार, स्मृति, इतिहास एवं चरित्र-चित्रण की खान तथा पंचम वेद मानते हैं। मानव-जीवन की ऐसी कोई समस्या या पहलू नहीं जिस पर इस ग्रन्थ में सविस्तृत विवेचन न हो। युधिष्ठिर आज भी सत्य के प्रतीक माने जाते हैं और कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाता है। विस्तार में कोई भी काव्य महाभारत की समता नहीं कर सकता। यूनानियों के महकाव्य इलियड और औडेसी दोनों मिलाकर इसका

आठवाँ भाग हैं। उपाख्यानों द्वारा लोक-धर्म के अनेक अंगों पर प्रकाश डाले जाने से इसे उपदेशात्मक ग्रन्थ कहते हैं और धार्मिक दार्शनिक विचारों का समावेश होने से इसे हिन्दू धर्म का धर्मशास्त्र कहा गया है। वस्तुतः सदियों से भारतीयों ने अपने सुख-दुख में, अपने श्रमपूर्ण दैनिक जीवन में इन दोनों महाकाव्यों की ओर प्रेरणा और शान्ति के लिए देखा है। इस रूप में ये ग्रन्थ राष्ट्रीय सम्पत्ति हो गये हैं और इन्होंने पृथकत्व, संघर्ष, कष्ट और दुर्दैव के सुदीर्घ काल में मूल उद्गम, विकास और परम्परा के विचारों को सदैव जीवित रखा है। "भारत के बाहर जहाँ कहीं भी हिन्दू संस्कृति का प्रसार हुआ, रामायण के साथ-साथ वहाँ महाभारत का भी प्रचार हुआ। दूसरी सदी ईसवी पूर्व में यूनानी राजदूत इसके उपदेशों को उद्धृत करते हैं। छठी ईसवी में सुदूर कम्बोडिया के मन्दिरों में इसका पाठ होने लगता है, सातवीं सदी में मंगोलिया के तुर्क अपनी भाषा में हिडम्बा वध आदि उपाख्यानों का आनन्द लेने लगते हैं और दसवीं सदी में जावा की लोक-भाषा में इसका अनुवाद हो जाता है।" ये ग्रन्थ वास्तव में भारतीय सभ्यता व संस्कृति की अमर कृतियाँ हैं। इन ग्रन्थों से उनके प्राचीनकाल की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है। इसका संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित है।

भगवद्गीता—गीता महाभारत का एक अंग है। इसमें भगवान के गुण, प्रभाव और धर्म का सरल वर्णन है और निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग और सांख्ययोग की विवेचना है। इसमें सम्पूर्ण वेदों, उपनिषदों, पुराणों आदि का सार है। गीता के अनुसार तपस्या व वैराग्य का मार्ग ही आवश्यक नहीं है परन्तु स्वधर्म पालन है। मुक्ति शुष्क नैतिक आचरण में नहीं किन्तु भक्ति में है और इस भक्ति मार्ग में जाति व स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं है। इसके अतिरिक्त सब कुछ भगवान का समझकर आसक्तित्व फल की इच्छा का त्याग करके, सभी भगवान को अर्पण करके कार्य करें। यह निष्काम कर्म है। इन सिद्धान्तों के अलावा गीता ने आत्मा की अमरता का पाठ पढ़ाकर मानव को शरीर की आसक्ति से मुक्त किया है।

राजनीतिक दशा

महाकाव्य काल में आर्य अब अधिक पूर्व की ओर बढ़ गये थे और मगध, अंग जैसे राज्यों का इनमें वर्णन है। इन राज्यों का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं है। राजनीतिक क्षितिज पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया था और सार्वभौम साम्राज्य की धारणा निर्मित हो गयी थी। 'सम्राट्' और 'साम्राज्य' के आदर्श ने, जिनका हवाला ब्राह्मण ग्रन्थों में है, महाकाव्य के साहित्य में निर्दिष्ट रूप धारण कर लिया था। जो नरेश 'राजन्य' कहाने वाले छोटे-छोटे शासकों को अपने आधिपत्य में कर लेते थे, वे सम्राट् की उपाधि धारण करते थे।

'दिग्विजय' राजनीतिक प्रभुता का प्रतीक था, यद्यपि पराजित देशों को वास्तव में विजित राज्यों में नहीं मिलाया जाता था। पराजित राजा द्वारा प्रभुता को स्वीकृत कर लेना ही पर्याप्त माना जाता था। साधारणतया राजसूय अथवा अश्वमेध यज्ञ करके 'सम्राट्' की उपाधि ग्रहण की जाती थी। ये यज्ञ नरेश द्वारा प्राप्त सम्मान, शक्ति और गौरव के प्रतीक थे। अधीनस्थ राजा इन समारोहों में सामन्तों के समान उपस्थित होते थे और धन-जन से अपने सम्राटों को युद्धकाल में सहायता और सहयोग देते थे। इस प्रकार सामन्तवाद जिसने प्रारम्भिक और मध्यकालीन भारत की राजनीति में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था, भलीभाँति स्थापित हो चुका था। वंश-परम्परानुसार राजा का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र होता था। परन्तु ज्येष्ठ पुत्र शारीरिक या मानसिक रूप से पंगु होने पर राज्यारोहण से वंचित कर दिया जाता था—उदाहरणार्थ, धृतराष्ट्र के जन्म से अन्धे होने के कारण कनिष्ठ पुत्र पाण्डु राजा हुआ।

महाकाव्य काल का राजा सर्वथा निरंकुश और स्वेच्छाचारी नहीं था। उसे अपने बन्धुओं, मन्त्रियों, परामर्शदाताओं, पुरोहितों और जनता के मत का सम्मान करना पड़ता था। कुल, जाति और श्रेणी के आचार-विचार के नियमों को भी उसे अंगीकार करना पड़ता था। यह माना जाता था कि राजा प्रजा का अनुरंजन और रक्षण करता है और उसके कष्ट-निवारण करता है। दुष्ट, निरंकुश, अत्याचारी राजा सिंहासन से उतार दिया जाता था या 'पागल कुत्ते की भाँति' उसका वध कर दिया जाता था। जब राग-द्वेष वश राजा वेन ने प्रजा पर अत्याचार किये तब ऋषियों ने उसे गद्दी से उतार दिया। राजा अपार ऐश्वर्य का केन्द्र था, वह बड़ी शान-शौकत और तड़क-भड़क से रहता था एवं नर्तकियाँ तथा शिथिल आचरण की नारियाँ उसकी सतत अनुगामिनी होती थीं। संगीत, द्यूत-क्रीड़ा, आखेट एवं पशु तथा मल्लयुद्ध उसके मनोरंजन के साधन थे। न्यायदान करना उसका एक प्रमुख कर्तव्य माना जाता था। राज्य की राजधानी प्राचीरों से सुरक्षित होती थी। इस प्राचीर में भव्य प्रवेश-द्वार और बुर्ज होते थे और इसके चतुर्दिक विस्तृत गहरी जलपूरित खाई होती थी। राजधानी में जीवन की आवश्यकताओं और सुख-सामग्री के सभी साधन और सुविधाएँ उपलब्ध थे। राजधानी राजप्रासादों, संगीतशालाओं, उद्यानों, मनोरंजन के स्थलों तथा अन्य सुन्दर भवनों से सुशोभित रहती थी। उसमें विस्तृत पथ और राजमार्ग होते थे।

राज्य का शासन-संचालन राजा मन्त्रि-परिषद् की सहायता व सहयोग से करता था। प्रधानमन्त्री एवं अन्य अमात्य नीति कुशल, आचारवान, सत्य-प्रिय तथा ईमानदार होते थे। सुव्यवस्थित शासन-संचालन के लिए अनेक सामन्त और पदाधिकारी भी थे। शासन की निम्नतम इकाई ग्राम थी जिसका मुखिया

'ग्रामणी' कहलाता था। राज्य में अन्य अधिकारी भी थे। इनमें प्रत्येक अपने से ऊपर वाले के प्रति उत्तरदायी होता था और अन्त में सभी राजा के प्रति उत्तरदायी थे। उस समय भी राज्य कर्मचारी रिश्वतखोर और लूटने वाले होते थे। अतएव राजा का कर्तव्य माना गया था कि ऐसे व्यक्तियों से प्रजा की रक्षा करे। राज्य की आय के प्रमुख स्रोत भूमि की उपज, वाणिज्य व्यापार, खानों, समुद्रों तथा वनों की उत्पत्ति पर लगाये हुए कर थे। अधिकारीगण अपने क्षेत्र का कर वसूल कर ऊपर के राजकोष में भेजते थे। कर का उद्देश्य प्रजा की सुख-समृद्धि और सुरक्षा ही माना जाता था।

उस युग में गण-राज्य या प्रजातन्त्र राज्य भी विद्यमान थे। (महाभारत का शान्ति पर्व अध्याय १०७), इन राज्यों में जन-सत्ता का विशेष सम्मान था। कभी-कभी अनेक गण मिलकर अपना 'संघ' संगठित कर लेते थे। ऐसे ही एक अन्धक-वृष्णि-संघ का उल्लेख महाभारत शान्तिपर्व में हुआ है।

स्वदेश की विदेशी आक्रमणों से रक्षा तथा युद्धों के लिए विशाल सेनाएँ रखी जाती थीं। राजा की यह सेना आर्य अभिजात कुलीनों और साधारण जनता द्वारा निर्मित होती थी। यह सेना स्थायी तथा स्वयंसेवक दोनों प्रकार की होती थी। सेना के चार अंग थे—पदाति, अश्व, हाथी और रथ। इन चार अंगों के अतिरिक्त जलसेना, यातायात और गुप्तचर विभाग भी थे। ढाल, तलवार, गदा, भाला, धनुष-बाण आदि प्रकार के अस्त्र-शस्त्र थे। कवच का प्रयोग सब करते थे। चक्र और बाणों की भाँति अज्ञात प्रक्रिया से जल उठने वाले अस्त्रों का प्रयोग होता था और सेना के सूची, मकर, चक्रादि अनेक व्यूह बनाये जाते थे। सेनानी या योद्धा का रणक्षेत्र में युद्ध करते हुए प्राण दे देना प्रशस्त था। क्षत्रिय यशोपार्जन तथा अपने स्वामी एवं नेता के लिए युद्ध करते थे। आत्मसमर्पण का रूप दाँतों तले तृण दबाकर विजेता के सम्मुख उपस्थित होना होता था। वर्तमान युद्ध-नियमों की भाँति उस समय भी युद्ध की कुछ उल्लेखनीय व्यवस्थाएँ थीं। निःशुल्क, निष्कवच और युद्ध से पीठ दिखाने वाले पर प्रहार नहीं किया जाता था; प्रहार करने से पूर्व शत्रु को सूचित किया जाता था; विश्वास देकर या घबराहट में डाल कर प्रहार करना एवं परस्पर छलना अनुचित माना जाता था।

सामाजिक दशा—महाकाव्य काल के हिन्दू महान् सादगी, न्याय-निष्ठा, सचाई और सत्यशीलता का जीवन व्यतीत करते थे। वे अपने प्रातः स्नान, प्रार्थना, और पूजन में कदाचित् ही कभी चूकते थे। उनका आहार और वेश-भूषा भी सादे थे। भोजन में मांस और सुरा का प्रयोग, जिसका उल्लेख वैदिक युग में अनेक बार हुआ है, बहुत कम होता जा रहा था। समाज में शाकाहारियों की संख्या नित्यप्रति बढ़ती जा रही थी। परन्तु कुछ अन्य

सामाजिक दुर्गुण जैसे द्यूत-क्रीड़ा, समाज के उच्च वर्गों में अभी भी विद्यमान थे। फलों में आम का सर्वप्रथम उल्लेख महाकाव्यों में आया है। एक हिन्दू की वेश-भूषा में तीन वस्त्र थे—धड़ से ऊपरी भाग के लिए वस्त्र का लम्बा टुकड़ा, नीचे के भाग के लिए अन्य टुकड़ा और सिर के हेतु पगड़ी। पाजामे, कोट और कमीज अज्ञात थे।

वैदिक युग की भाँति इस काल में जीवन का दृष्टिकोण आशावादी था। भाग्य की अपेक्षा पौरुष पर अधिक महत्त्व दिया जाता था। महाभारत में बार-बार पुरुषार्थ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है और महत्वाकांक्षा, सतत अथक परिश्रम एवं भगीरथ प्रयत्न सम्पत्ति के मूल माने गये हैं। अधिकतर साधारण जनता मिट्टी के दुर्ग के चतुर्दिक ग्राम में रहती थी और पशुपालन तथा कृषि-कर्म करती थी। आपत्ति काल में लोग इन्हीं दुर्गों में आश्रय लेते थे। वणिक तथा अन्य व्यवसायी एवं नागरिक नगरों में रहते थे।

समाज में जाति-प्रथा पहले की अपेक्षा अधिक निर्दिष्ट हो गयी थी। वर्ण-व्यवस्था में अभिजात कुलीन राज्य और ब्राह्मण विशिष्ट माने जाते थे। उन्होंने समाज की समस्त सुविधाएँ स्वायत्त कर ली थीं। ब्राह्मणों की प्रभुता जिसको उपनिषदों के युग में चुनौती दी गयी थी, पुनः प्रतिष्ठित हो गयी थी। साधारणतया राजा का मन्त्री ब्राह्मण होता था जो उसे परामर्श देता और उसका पथप्रदर्शित करता था। कभी-कभी ब्राह्मण मन्त्री उसका आध्यात्मिक गुरु भी होता था। राजा से लेकर कृषक तक प्रत्येक व्यक्ति ब्राह्मण को प्रसन्न करने और उसे कष्ट देने में डरता था; क्योंकि ऐसा माना जाता था कि ब्राह्मण-क्रोधाग्नि कष्ट देने वालों को जलाकर भस्मीभूत कर देने की सामर्थ्य रखती है। अनार्य शूद्रों की दशा दासों की सी थी। इनके स्वयं के कोई अधिकार न थे। इनका कर्तव्य केवल द्विजों की सेवा-सुश्रूषा करना था।

वैदिक युग की अपेक्षा इस युग में नारियों का स्तर समाज में गिरता जा रहा था। नारी विरोधी वर्ग पुत्रियों के जन्म को बुरा मानता था और उन्हें समस्त दुर्गुणों का मूल समझता था, किन्तु अन्य विचारक ऐसा विश्वास करते थे कि स्त्रियों की प्रतिष्ठा से देवता प्रसन्न रहते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य निम्न जातियों की स्त्रियों से विवाह कर सकते थे, पर शूद्रों को अपनी जाति में ही विवाह करने का आदेश था। सती-प्रथा, जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं है, महाकाव्य काल में प्रचलित हो चली थी। बाल-विवाह प्रथा से लोग अवगत नहीं थे और बहु-विवाह-प्रथा धनिकों और राज्य-वर्ग में खूब प्रचलित थी। प्रायः यौवनावस्था प्राप्त होने पर कन्याओं का विवाह होता था। उन्हें अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता थी और स्वयंवर प्रथा का प्रचार था। उच्च वर्ग की कन्याओं को शिक्षा दी जाती थी और उन्हें नृत्य तथा संगीत

का नियमित अभ्यास कराया जाता था। यत्र-तत्र पर्दे का उल्लेख प्राप्त होता है। पर सम्भवतः यह प्रथा राज-सभाओं और राज-प्रासादों तक ही सीमित थी। किन्तु फिर भी स्त्रियों में मध्य-युग सी परतन्त्रता एवं घोर पर्दा प्रथा नहीं थी। गृहस्थ-जीवन में पत्नी का स्थान पति के बराबर समझा जाता था। उन्हें पुरुष की अर्द्धांगिनी एवं समस्त सुखों का स्रोत माना जाता था। अपने विवाहित जीवन में वे पतिव्रता के उच्च आदर्श का पालन करती थीं।

महाकाव्य काल में हम परिषदों और शिक्षा के ऐसे केन्द्रों के विषय में सुनते हैं जहाँ आचार्य विद्या-दान के लिए शिष्य रखते थे। विद्या के हेतु शैशव-काल में ही बालक को शिक्षक के पास रख देते थे। उसके पास बालक कठोर संयम व अनुशासन में अनेक वर्षों तक रहता था। राज-कुल के राजकुमारों तथा अन्य क्षत्रिय विद्यार्थियों को अन्य कलाओं के साथ शस्त्र-विद्या की शिक्षा भी दी जाती थी और वे धनुर्विद्या, तलवार तथा भाले के प्रयोग में निपुण होते थे। वेदों का अध्ययन सबसे अधिक महत्त्वशाली कर्तव्य माना जाता था और ज्योतिष, भूमिति, गणित, काव्य आदि विषयों का अध्ययन केवल आनुषंगिक शिक्षा मानी जाती थी।

आर्थिक दशा—अधिकतर जनता पशुपालन और कृषि-कर्म करती थी। सिंचाई का प्रबन्ध राज्य की ओर से होता था और उद्यान-कला का विकास होने लगा था। पशु अभी भी सम्पत्ति के प्रधान अंग माने जाते थे। विविध प्रकार के शिल्प-व्यवसाय प्रचलित थे, जिनमें वस्त्र-व्यवसाय अधिक उन्नति पर था। रेशमी वस्त्रों का भी प्रचार था। स्वर्ण, चाँदी, लोहा, सीसा और राँगे से विविध पदार्थ तैयार किये जाते थे। समुद्र से मोती एवं दक्षिण की खदानों से अनेक मणियाँ निकाली जाती थीं। विभिन्न शिल्पों को राज्य की ओर से प्रोत्साहन देने के लिए सहायता का प्रबन्ध था। व्यापार प्रमुख रूप से वैश्यों के हाथ में था। सौदागर दूर से वस्तुओं को लाते एवं उन पर चुंगी देते थे। व्यापारिक माल की ढुलाई पशुओं तथा बैलगाड़ियों से होती थी। यत्र-तत्र खोटे काँटों का भी हवाला मिलता है जिनके अनुशासन के लिए बाजार के ऊपर सम्भवतः तीव्र दृष्टि रखनी पड़ती होगी। वणिकों और शिल्पियों की 'श्रेणियों' या संघों का प्रभूत प्रभाव था। इन श्रेणियों के प्रधानों का, जिन्हें महाजन कहते थे, विशेष सम्मान होता था।

धार्मिक दशा—वैदिक युग से महाकाव्य काल के धर्म में गहन भेद उत्पन्न हो गया था। प्राकृतिक शक्तियों का प्राचीन पूजन अब बहुत पीछे छूट गया था। प्राकृतिक शक्तियों के सूचक वैदिक देवताओं का अब लोप हो चुका था और उनका स्थान ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश, पार्वती आदि देवी-देवताओं ने ले लिया था। जिस प्रकार वैदिक युग में समस्त देवता एक ईश्वर की विभिन्न

शक्तियों के सूचक थे, उसी प्रकार इस युग में ईश्वर के तीन मुख्य उत्पादक, धारक और संहारक शक्तियों के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु और महेश हो गये थे। इस त्रिमूर्ति का उत्कर्ष इस युग की विशेषता है। विष्णु का महत्त्व अधिक बढ़ रहा था और धीरे-धीरे यह विश्वास बन गया था कि धर्म की प्रतिष्ठा के लिए विष्णु बार-बार अवतार लेते हैं। रामायण के समय तक यज्ञों का महत्त्व खूब रहा। यद्यपि महाभारत के समय ये सर्वथा विलुप्त नहीं हुए थे, तो भी क्रूर रक्तिम यज्ञों के स्थान पर आत्म-संयम और चरित्र-शुद्धि पर अधिक बल दिया जाने लगा था। ऐसी धारणा होने लगी थी कि सच्चा यज्ञ तो सत्य, अहिंसा संयम, वैराग्य, आचार-शुद्धि एवं तृष्णा तथा क्रोध का परित्याग है। तपस्या, कर्म और आत्मा के आवागमन के सिद्धान्त भी पूर्णतः मान्य हो चले थे।

महाभारत के एक भाग भगवद्गीता में इस युग के धर्म का सर्वोत्कृष्ट रूप प्रदर्शित होता है। उसमें कर्म, ज्ञान और तप तीनों ही साधनों द्वारा मोक्ष की प्राप्ति बतलायी गयी है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि मनुष्य को अपने कर्तव्य का पूर्ण पालन करने पर मुक्ति और ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है। गीता का प्रधान उपदेश है कि फल की आशा छोड़ निष्काम बुद्धि से अपना कर्तव्य-पालन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त गीता ने सार्वभौम धर्म का प्रतिपादन किया। उसने मोक्ष का द्वार समस्त समाज के लिए खोल दिया। गीता से पहली बार स्त्री और पुरुष, ऊँच और नीच, द्विज और शूद्र, आर्य और अनार्य, सभी को मोक्ष का अधिकारी समझा। कृष्ण के उपासक तो मोक्ष के अधिकारी हैं ही; परन्तु वे सभी जो किसी भी अन्य देवता का श्रद्धापूर्वक स्मरण कर उसकी उपासना करते हैं, भगवान् की ही भक्ति करते हैं। इस प्रकार गीता में प्रतिपादित धर्म किसी विशिष्ट देवता की उपासना या भक्ति नहीं, अपितु वह सार्वभौम धर्म था जो जाति, देश, सम्प्रदाय आदि के बन्धनों से बहुत ऊपर उठा हुआ था।

रामायण और महाभारत की सामग्री से ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में आधुनिक सामाजिक और धार्मिक विश्वासों की ओर संस्थाओं की नींव पूर्णतया रखी गयी थी। जाति-प्रथा भी इनमें से एक थी। भारतीय संस्कृति के विकास में इसका बड़ा हाथ रहा है। अतएव इसका यहाँ विवेचन करना अप्रासंगिक न होगा।

जाति-प्रथा

हिन्दुओं की जाति-प्रथा का वर्तमान रूप उत्तर वैदिक काल और महाकाव्यों के युग में विकसित हुआ है। 'अतएव यह २००० वर्ष से भी अधिक प्राचीनतम है। कालान्तर में यह प्रथा अधिक जटिल हो गयी और इसने हिन्दू समाज को तीन हजार से अधिक जातियों और उपजातियों में विभक्त

कर दिया। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्मिथ के मतानुसार जाति उन परिवारों का एक समूह है जो धार्मिक क्रिया-विधि की विशुद्धता को, विशेपकर खान-पान और वैवाहिक सम्बन्ध की पवित्रता के विशिष्ट नियमों को पालने से परस्पर संगठित हैं। परन्तु आज यह परिभाषा अनुपयुक्त है; क्योंकि अब खान-पान सम्बन्धी कठोर और अपरिवर्तनशील नियम नहीं रहे। आज तो जाति-प्रथा बहुत ढीली और नाम-मात्र की है।

जाति-प्रथा की उत्पत्ति—किस रूप में और कब इस जाति-प्रथा का प्रारम्भ हुआ, निश्चित रूप से ठीक-ठीक कहना दुष्कर है। निस्सन्देह भारतीय आर्यों की सभ्यता के प्रारम्भ में भी कोई सामाजिक या पेशेवर समुदाय नहीं थे। पहले तो ये सजातीय भावना वाले एक ही जन-समुदाय में रहते थे। ऋग्वेद काल में समाज में केवल दो ही जातियाँ थीं—आर्य और अनार्य अथवा गौरवर्ण आर्य एवं कृष्णकाय आदिवादी। आर्यों में विजेता के गर्व की भावना विद्यमान रही और इससे वे पराजित दस्युओं को अपनी जाति में मिलाने के विरोधी रहे। रक्त और वर्ण की विशुद्धता बनाये रखने के लिए वे चिन्तित रहे थे। आर्यों के समाज का ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य में विभाजन सदियों बाद हुआ और इस प्रणाली की रूपरेखा धीरे-धीरे विकसित होती रही।

उत्तर वैदिक युग में जब कबीलों के प्रमुख बड़े प्रादेशिक शासक हो गये, तब वे महान् और शानदार राजसभाओं तथा राजप्रासादों में निवास करने लगे और धार्मिक अनुष्ठानों को भव्य और सुविस्तृत रूप में करने के अनुरागी हो गये थे। इसलिए धार्मिक कर्मकाण्ड के सूक्ष्म विधानों और प्रकारों का दृढ़तापूर्वक अनुकरण करना पड़ता था। इसके साथ ही साधारण मनुष्य अपने दैनिक कृत्यों में इतना संलग्न होने लगा था कि वह अपनी धार्मिक क्रिया-विधियों को करने में असमर्थ हो गया और पवित्र ऋचाओं और उनके वास्तविक उचित महत्त्व को समझना उसके लिए दुष्कर हो गया। अतएव ये सब धार्मिक कृत्य विशेषज्ञों के एक वर्ग के करने के लिए पर्याप्त थे और इसलिए ऋग्वेद काल के पुरोहित वर्ग के उत्तराधिकारियों में एक ही सिद्धहस्त विशेषज्ञों के समुदाय का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने लोगों और राजाओं के लिए इन विस्तृत धार्मिक क्रिया-विधियों व यज्ञों को करना स्वीकार कर लिया और अपने स्वामियों की विजय की प्रशंसा के हेतु इन्होंने गीतों की रचना की। इनके हाथों में समाज के धार्मिक और आध्यात्मिक कार्य होने से इन्होंने यज्ञ और पूजन की विशद और विस्तृत क्रिया-विधियों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए अपना समस्त जीवन अर्पण कर दिया। इस प्रकार इन्होंने धार्मिक कृत्यों को उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म विधान सहित पूर्ण करने के लिए विशिष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया। अतएव यह स्वाभाविक ही था कि इन लोगों ने आर्यों के समाज के

अन्य लोगों की अपेक्षा जो अपने सांसारिक कार्यों में अधिक संलग्न थे, पृथकत्व का उच्च प्रतिष्ठित पद प्राप्त कर लिया था। ब्राह्मण जाति के बाद में होने वाले उत्कर्ष और सर्वोपरिता का यही कारण है।

इस प्रकार समाज के एक वर्ग के प्रति विभेद हो जाने पर अन्य कार्यों के क्षेत्रों में भी ऐसे विभाजन शीघ्र ही प्रकट हो गये और इन्होंने अपने कार्य-स्तर और महत्त्व के अनुसार समाज में अपना स्थान निर्दिष्ट कर दिया। ऋग्वेद काल के प्रारम्भिक वर्षों में जातीय युद्धों के समय प्रत्येक स्वस्थ शरीर व्यक्ति रणक्षेत्र में अपनी जाति के प्रमुख के साथ जाता था और शान्ति के समय कृषि-कर्म करता था। परन्तु आर्यों के अनवरत युद्धों और राज्य-सीमाओं के विस्तार के परिणामस्वरूप आर्य शासकों को ऐसे प्रशिक्षित और रण-कुशल सैनिकों को सदैव सेवा में रखने के लिए बाध्य होना पड़ा जिनकी सेवाएँ किसी भी क्षण अवसर आने पर प्राप्त हो सकें। ऐसे व्यक्तियों के समुदायों पर ही रक्षा-कार्य और युद्ध का भार पड़ा। इससे युद्ध-काल में अशिक्षित कृषकों की सेवा का उपयोग करने की प्रथा धीरे-धीरे विलुप्त हो गयी। इस प्रकार कालान्तर में सेनानियों और योद्धाओं के इस वर्ग ने अपने सामाजिक और राजनीतिक परम्पराओं सहित अपना एक पृथक् वर्ग निर्मित कर लिया और क्षत्रिय नाम से प्रतिष्ठित हुए। आर्यों के अवशिष्ट लोग जो वाणिज्य-व्यापार और कृषि-में संलग्न थे, वैश्य कहलाये और समाज में इन्हें क्षत्रियों की अपेक्षा निम्न स्तर प्राप्त हुआ। मनुष्य का चतुर्थ वर्ग जिसमें अधिकांश जनता थी, शूद्र कहलाया, जिसका कर्तव्य अन्य तीन वर्गों की सेवा करना था। शूद्रों का समुदाय जो समाज में सबसे निम्न स्तर पर था आदिवासियों के सम्मिश्रण से अधिक बढ़ गया।

जाति-प्रथा की यह ऐतिहासिक उत्पत्ति है। जैसा कि ऊपर वर्णित है यह आवश्यकतानुसार श्रम-विभाजन के आधार पर निर्मित थी। अतएव इसके मूल रूप में यह जाति-प्रथा की अपेक्षा वर्ग-प्रथा थी। विभेद और विभाजन का मूल्य व्यवसाय व उद्योग थे। इस प्रकार का वैज्ञानिक तथा विवेकशील आधार होने से मनुष्य के लिए जाति परिवर्तन करना दुष्कर कार्य नहीं था। यह बात कि आर्यों के देवगणों में द्रविड़ों के देवता मिला दिये गये और द्रविड़ पुरोहितों को ब्राह्मण स्वीकार कर लिया गया, इस कथन की पुष्टि है कि प्रारम्भ में जाति-प्रथा में कठोरता और अपरिवर्तनशीलता न थी। किसी व्यक्ति का वर्ग या उसकी श्रेणी उसके धन्धे व आचार-विचार से निर्दिष्ट होती थी, न कि उसके जन्म से, जैसा कि आज है। महाभारत के प्रसिद्ध कौरव-पाण्डव के विख्यात शिक्षक द्रोणाचार्य जन्म से ब्राह्मण थे, महान् ऋषि वशिष्ठ एक वेश्या से उत्पन्न हुए थे और व्यास मछुआ महिला से, एवं धृतराष्ट्र के मित्र और पथ-प्रदर्शक दार्शनिक विदुर दासी-पुत्र थे। उत्तर वैदिक युग और महा-

काव्य काल में अन्य आवश्यक नियमों के सम्बन्ध में ऐसा कोई विशिष्ट सबल प्रमाण नहीं है जिससे यह सिद्ध हो कि विभिन्न वर्गों में खान-पान और वैवाहिक सम्बन्ध दृढ़तापूर्वक निषिद्ध थे, परन्तु तीन उच्च वर्गों और शूद्रों के निम्न वर्ग में परस्पर स्वतन्त्र सामाजिक व्यवहार अनुचित समझा जाता था।

जाति-प्रथा का विकास—रक्त और वंश की भावना, कार्य की दार्शनिकता राजनीतिक प्रभुता का आधारभूत विचार और श्रम-विभाजन की प्रवृत्ति, सभी ने जाति-प्रथा के निर्माण में अपना-अपना योग दिया है; फिर भी चार वर्णों से मूलतः आरम्भ होने वाली जाति-प्रथा अधिक जटिल हो गयी है। कालान्तर में ये चार श्रेणियाँ छोटी-छोटी जातियों और उपजातियों में विभाजित होती ही गयीं। आज ये जातियाँ धन्धों, धार्मिक विश्वासों या दार्शनिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित नहीं हैं; परन्तु केवल जन्म से ही मनुष्य की जाति या उपजाति निर्दिष्ट हो जाती है। जातियों की संख्या की वृद्धि के साथ-साथ इस प्रथा की कठोरता और अपरिवर्तनशीलता भी विकसित हो गयी। निम्नलिखित बातों ने जाति-प्रथा की अपरिवर्तनशीतला की वृद्धि में योग दिया।

पुरोहित वर्ग की स्वार्थलोलुपता से वर्गों के विभाजन कुलागत हो गये। इस पुरोहित वर्ग ने अपनी उत्पत्ति के विषय में मनगढ़न्त, काल्पनिक और अलौकिक स्पष्टीकरण किया और अपने वर्ग की परम्परागत प्रभुता को बनाये रखने के लिए धर्मशास्त्रों और सूत्रों का आश्रय लिया। सूत्रों में यह नियम बना दिया गया कि जो जन्म से ब्राह्मण नहीं है पुरोहित का कार्य न कर सकेगा। हिन्दू समाज पर अपना स्थिर प्रभुत्व बनाये रखने के हेतु ब्राह्मण (पुरोहित वर्ग) केवल राजाओं के निर्माता ही नहीं बने, किन्तु अनेक नवीन सिद्धान्तों और अपरिवर्तनशील अन्धविश्वासों के प्रणेता भी हो गये। परिणाम-स्वरूप जाति के अत्यन्त ही छोटे-छोटे वर्तमान विलक्षण समुदायों का विकास करने के लिए समाज को बाध्य होना पड़ा।

समय ने जाति-प्रथा के विकास में सहयोग दिया। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, जाति के विभेद अधिक कठोर होते गये और प्रत्येक समुदाय अपना सामाजिक संगठन और विधान विकसित करने लगा। फलस्वरूप ये समुदाय वंश-परम्परागत हो गये और एक जाति से दूसरी जाति में प्रवेश करना अधिक दुष्कर ही नहीं, अपितु असम्भव हो गया। समय के अतिरिक्त नवीन धन्धों के प्रादुर्भाव ने भी जाति-प्रथा को प्रोत्साहित किया। नवीन पेशों या शिल्पकलाओं के अपनाने पर नवीन उपजातियाँ निर्मित होती गयीं। प्रत्येक पेशेवर समुदाय एक जाति या उपजाति में विकसित हो गया। लुहार, धोबी आदि सभी ने विभिन्न जातियाँ बना लीं। आदिवासियों के कबीले ने जो आर्यों के समुदाय में प्रविष्ट हो गये थे, अपनी पृथक् जातियाँ निर्मित कर लीं, जैसे बंगाल के

'राज्यवंशी' और मध्य प्रदेश के 'गोंड'। आगे चलकर यूनानी, शक, हूण जैसे विदेशियों की, जो हिन्दू समाज में सम्मिलित हो गये थे और जिन्होंने हिन्दू धर्म ग्रहण कर लिया था, नवीन जातियाँ बना दी गयीं, जैसे हिन्दू समाज के 'गूजर'।

समुदायों के देशान्तरगमन और प्रवास ने अनेक नवीन जातियों के निर्माण में सहायता दी। जब किसी एक वर्ग या जाति के कुछ लोग देश के किसी अन्य भाग में जाकर बस गये, जिन्होंने धीरे-धीरे सामाजिक प्रथाओं और आचार-विचार के विभिन्न नियम बना डाले। इस प्रकार उनमें और उनके सजातीय बन्धुओं में जो अपने मूल निवासस्थान में ही रह गये थे, स्पष्ट विभेद प्रकट हो गया। कालान्तर में ऐसे विभेद अधिक दृढ़ हो गये और इस प्रकार के दो समुदायों में सभी प्रकार के सामाजिक सम्पर्क और व्यवहार विलुप्त हो गये। उदाहरण के लिए एक पंजाबी ब्राह्मण अपने आपको एक बंगाली ब्राह्मण से पृथक् रखने लगा। कभी-कभी धन्धों और रीति-रिवाजों में परिवर्तन होने से तथा जाति के दृढ़ नियमों का पालन न करने पर, मूल जाति से बहिष्कार होने या अधःपतन होने से पृथक् जातियों का निर्माण हुआ है।

अहिंसा के सिद्धान्त ने जाति-प्रथा के विकास को अत्यधिक प्रभावित किया है। जब जैनियों और बौद्धों ने अहिंसा पर अधिक बल दिया, तब धीरे-धीरे शाकाहारियों और मांसाहियों में परस्पर विभेद स्थापित हो गया और अहिंसा मत के अनुयायियों के लिए आचार-विचार के नवीन नियम बनाये गये। बाद में नवीन सम्प्रदायों के आविर्भाव के कारण अतिरिक्त जातियों का विकास हुआ जैसे लिंगायत, कबीरपंथी आदि। मुसलमानों के आगमन और इस देश के अनेक शासन बनने से जाति-प्रथा की कठोरता पहले की अपेक्षा और भी अधिक दृढ़ हो गयी। भारत के प्रारम्भिक आक्रमणकारियों के विपरीत मुसलमानों में उनकी अपनी दृढ़ समंजस संस्कृति होने के कारण हिन्दू समाज में उनका एकीकरण न हो सका। वे विशिष्ट रूप से स्पष्ट विभिन्न समुदाय ही बने रहे। इसके विपरीत, जब हिन्दू लोग उन्हें इस देश से बाहर निकालने में असमर्थ हुए, तब उन्होंने अपने एकात्म्य और अनन्यता की सुरक्षा के लिए और जाति-प्रथा का आश्रय लेकर अपनी संस्कृति और सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाओं को बनाये रखने के हेतु प्रयत्न किये। फलस्वरूप जाति के विधानों की कठोरता और अपरिवर्तनशीलता और भी अधिक दृढ़ हो गयी और समाज के नेताओं ने मुसलमानों के साथ सामाजिक सम्पर्क निषिद्ध कर दिये।

अंग्रेजों के शासनकाल में प्रारम्भिक युग में जाति-प्रथा के विधान वैसे ही दृढ़ रहे। ईसाइयों के धर्म-प्रचार और यूरोपीय जातियों के आगमन से जाति-प्रथा की अपरिवर्तनशीलता में कुछ वृद्धि हो गयी। परन्तु बाद में पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा ने जाति-बन्धन ढीले कर दिये।

इस प्रथा के निम्नलिखित गुण-अवगुण हैं :

जाति-प्रथा के गुण—जब आर्य और अनार्यों की विभिन्न जातियों को शान्ति, स्नेह और मैत्री के वातावरण में परस्पर रहना था, तब मूलत: जाति-प्रथा समय की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए निर्मित की गयी थी। इस प्रथा ने इस प्रकार आर्यों और द्रविड़ों की दो विभिन्न जातियों और संस्कृतियों को सुरक्षित रखने में सहायता दी। वस्तुत: इसने समाज का आवयविक दृष्टि-कोण लिया और ऐसा माना जाने लगा कि कोई भी कबीला या जाति, चाहे संस्कृति में वह कितने ही निम्न स्तर पर हो, समाज के जीवित आवयविक संगठन में विनष्ट होने के योग्य नहीं है। प्रत्येक जाति और वंश को समाज में अपना अस्तित्व बनाये रखने का अधिकार है। बाद के युग में यह प्रथा महत्त्वशाली आदर्श, संस्कृति और मूल तत्त्वों की रक्षा करके सुस्थिरीकरण की महान् शक्ति हो गयी। इसने रूढ़िवादिता, पृथकत्व और वर्ग-अभिमान को उत्पन्न किया, जिसने विदेशियों के अतिक्रमण व हस्तक्षेप के विरुद्ध किलेबन्दी का काम किया। इसने हिन्दू समाज को मुसलमानों के आक्रमणों के आघातों को सहन करने की शक्ति प्रदान की। वास्तव में जब हिन्दू समुदाय राजनीतिक विप्लव, और चढ़ाव-उतार, संघर्ष और अराजकता के युगों में से निकल रहा था, जाति-प्रथा ने केवल जातियों के रक्त-प्रथा और बोली के अव्यवस्थित और अविवेकी सम्मिश्रण को ही नहीं रोका, परन्तु हिन्दू राष्ट्रीय नैतिक गुणों, ललित कलाओं और धर्म को सुस्थिर करने में महान् योग दिया।

जाति-प्रथा ने हिन्दू धर्म को अपनी श्रेणियों के विस्तार करने के लिए समर्थ कर दिया। इसके अस्तित्व ने हिन्दू समाज में विदेशी तत्त्व के एकी-करण करने के लिए मार्ग सुलभ कर दिया। यह विदेशियों की इच्छा और रुचि पर निर्भर था कि वे हिन्दू धर्म को ग्रहण करने पर भी अपनी नवीन जातियों का निर्माण करके अपनी संस्कृति के मूल तत्त्वों को बनाये रखें। इसी सुगमता और परिवर्तनशीलता के कारण ही भारत के विदेशी आक्रमण-कारियों के कबीले एक के बाद एक हिन्दू समाज में घुल-मिल गये।

श्रम-विभाजन के आधार पर निर्धारित होने के कारण इस प्रथा ने आर्थिक शक्ति और धन्धों तथा कार्यों की दक्षता को प्रोत्साहित किया। जब जन्म से जाति निर्धारित होने लगी, तब इस प्रथा ने एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को व्यावसायिक शिक्षा व कुशलता प्रदान करके श्रम का परिरक्षण किया। इस प्रकार इससे प्रगति सम्भव हो सकी और धन्धों तथा शिल्पकलाओं को नियमित रूप से प्रचलित रखा जा सका।

प्राचीन युगों में इसने व्यापार और उद्योग में प्रतिस्पर्द्धा के दुर्गुणों को बहुत कम कर दिया, व्यावसायिक अनुमान और प्रतिष्ठा को बनाये रखा और

श्रमिक संघों का कार्य किया। इसके अतिरिक्त जब राज्य प्रारम्भिक निर्माण की धूमिल अवस्था में था, तब यह राजनीतिक संगठन की इकाई थी। इसने हिन्दू समाज को प्रजातन्त्रात्मक व्यावहारिक कार्य-प्रणाली प्रदान की।

ऊपर वर्णित लाभ के अतिरिक्त जाति-प्रथा ने बन्धुत्व की भावना को प्रेरणा दी और एक जाति के सदस्यों में अधिक एकता, दृढ़ता और संगठन उत्पन्न किया। संकट और बेकारी के समय एक ही जाति के सदस्य सदैव अपनी जाति के अन्य बन्धुओं की सहायता और सहयोग पर निर्भर रहते थे। इस प्रकार स्वार्थ-त्याग, प्रेम और लोकसेवा के नागरिक गुणों को प्रोत्साहित करने में यह प्रथा अधिक उपयोगी सिद्ध हुई। साथ ही जाति की पंचायतों और उनके नियमों ने व्यक्ति को संगठित संस्था के अधीनस्थ कर दिया, दुर्गुणों का निरोध किया, जीवन को संयमित किया और दरिद्रता का निवारण किया। अतएव जाति-प्रथा लाभप्रद सामाजिक संस्था प्रमाणित हुई है।

जाति-प्रथा के दोष—यदि जाति की संस्था हिन्दू धर्म और समाज के लिए अधिक लाभकारी हुई है तो साथ ही यह मानना पड़ेगा कि इस प्रथा से अनेक दोष प्रकट हुए हैं। इसने हिन्दू समाज को सैकड़ों वंश-परम्परागत जाति और उपजातियों में विभाजित कर दिया और इस प्रकार अपने वर्ग-अभिमान और पृथकत्व की भावना प्रज्वलित की, दृष्टिकोण संकीर्ण किया और समाज के अनेक विभागों के मध्य परस्पर गहरी खाइयाँ खोद दीं। इस रूप से इसने राष्ट्रीय और सामूहिक चेतना का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। इस प्रकार यह प्रथा एकता के तत्त्व की अपेक्षा विभिन्नीकरण और विश्लेषण का तत्त्व प्रमाणित हुई।

आर्थिक और बौद्धिक प्रगति को इस प्रथा ने रोक दिया और सामाजिक सुधार के पक्ष में यह रोड़े अटकाती रही, क्योंकि यह आर्थिक और बौद्धिक प्रगति के सुअवसर जनसाधारण के एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित रखती रही। उदाहरण के लिए, एक मेहतर या चमार को शिक्षण में प्रगति करने अथवा कोई वैज्ञानिक व्यवसाय अपनाने की कोई अनुमति नहीं है, चाहे इसके लिए उसकी अभिरुचि हो और उसमें शारीरिक और बौद्धिक सामर्थ्य भी हो। सुयोग्य और अनुभवी व्यक्ति जाति-प्रथा की कठोरता के कारण अपने लिए उचित स्थान प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रथा की यह अपरिवर्तनशीलता ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा का दमन करती है, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कुचलती है और मनुष्य की प्रेरणा शक्ति पर मृत्यु का बोझ है। मानव शक्ति और प्रतिभा के अधिकांश भाग का समाज द्वारा सदुपयोग नहीं हो सकता और इससे उसकी सभ्यता और संस्कृति को भारी आघात पहुँचता है।

आर्थिक क्षेत्र में जाति-प्रथा श्रम की दक्षता और कुशलता का विनाश

करती है और उत्पादक प्रयास, श्रम तथा पूँजी की गतिशीलता को रोकती है। अतएव न तो बड़े पैमाने के उद्योग विकसित हो पाते हैं और न देश की आर्थिक शक्तियों और साधनों का लोगों के हित के लिए सदुपयोग हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह प्रथा आर्थिक दृष्टि से निर्धन व दुर्बल और सामाजिक दृष्टि से हीन वर्गों के शोषण में सहायक है और विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों की रक्षक है। इस प्रकार यह आर्थिक असन्तोष और सामाजिक ईर्ष्या-द्वेष को प्रोत्साहन देती है। जातियों की अनावश्यक वृद्धि और उसकी बाद की अपरिवर्तनशीलता तथा प्रत्येक जाति के कठोर सामाजिक नियम और प्रतिबन्धों के कारण समय, धन और शक्ति का अपरिमित व्यय हो रहा है। यह हिन्दुओं को जीवन के नवीन और अधिक उत्तम साधन अपनाने की अनुमति नहीं देती है और अहिन्दुओं से स्वतन्त्र सम्पर्क स्थापित करने में बाधक है। फलस्वरूप विश्व की प्रभूत प्रगति के साथ-साथ चलने में हिन्दू असमर्थ रहे। जाति-प्रथा द्वारा विदेशियों के प्रवेश को निषिद्ध कर देने से हिन्दू समाज और धर्म दिन-प्रतिदिन संकुचित होते जा रहे हैं। कोई भी व्यक्ति न तो हिन्दू धर्म ग्रहण कर सकता है और न हिन्दू समाज में प्रवेश ही कर सकता है, चाहे वह इनमें कितना ही दृढ़ विश्वास रखता हो। इसके अतिरिक्त आज यह प्रथा अत्याचार, अनाचार और सहिष्णुता का बड़ा भारी साधन हो गया है। इसने समाज के बहु-संख्यक लोगों को पतन के जीवन की ओर इतना ढकेल दिया है कि उनके उत्थान और उत्कर्ष की कोई आशा ही नहीं है। इसने अस्पृश्यता के अभिशाप को प्रस्तुत किया है। यह एक ऐसा दुर्गुण है जो हिन्दू समाज के शक्ति-रस को सोख रहा है। जब तक अस्पृश्यता के रूप में सामाजिक अत्याचार व निरंकुशता का अस्तित्व है राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई महत्त्व नहीं है।

जाति-प्रथा ने देश के राजनीतिक इतिहास पर भी गहरा प्रभाव डाला है। जाति के ईर्ष्या, द्वेष और संघर्ष ने समाज को इतने अधिक प्रतिद्वन्द्वी समुदाय में विभक्त कर दिया कि वे विदेशियों के आक्रमणों और राष्ट्रीय संकट के अवसर पर भी एकत्र होकर परस्पर संगठित न हो सके। देश की रक्षा का भार क्षत्रियों पर ही होने के कारण, साधारण जनता आक्रमण के समय चिन्तातुर न रहती थी। भारत के मुसलमानी आक्रमणों के समय शायद ही कभी साधारण जनता जागृत हुई हो। क्षत्रियों को ही, जो जनता का केवल एक समुदाय था, युद्ध के प्रहारों को झेलना पड़ा।

संक्षेप में, जाति-प्रथा के कारण हिन्दू धर्म अपनी श्रेणियों का विस्तार करने में समर्थ हो सका, कुशल श्रम का परिरक्षण हो सका, हिन्दू संस्कृति सुरक्षित रह सकी और सुस्थिरीकरण की शक्ति बनी रही। इसके विपरीत, जाति-प्रथा

ने हिन्दू समाज की घनिष्ठता को विनष्ट कर दिया, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कुचल दिया, अत्याचार का साधन प्रस्तुत किया एवं राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में विभिन्नीकरण की शक्तियों को प्रोत्साहित किया। हिन्दुओं के गले में यह लटकता हुआ मील का बड़ा भारी पत्थर है जो उन्हें राजनीतिक और सामाजिक अधःपतन की ओर तीव्र गति से घसीटे जा रहा है।

जाति-प्रथा का भविष्य—यद्यपि जाति-प्रथा भूतकाल में लाभप्रद रही परन्तु आज तो इसकी आवश्यकता नहीं है। भारत में आज की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ चिरकाल-सम्मानित जाति-प्रथा के विभेदों को बनाये रखने के लिए अनुपयुक्त हैं। अनेक ऐसे तत्त्व हैं जो दृढ़तापूर्वक इस प्रथा की जड़ खोद रहे हैं। पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा, आधुनिक व्यावसायिक और आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा ने अनेक जातियों को उनके धन्धों से वंचित कर दिया है। जाति-प्रथा व धन्धे और व्यवसाय का भेद लगभग विलुप्त हो गया है। आज किसी जाति में जन्मा हुआ व्यक्ति अपने पूर्वजों के ही धन्धों को नहीं अपनाता, परन्तु वह धन्धा या व्यवसाय करता है जिसके लिए उसकी प्रतिभा उपयुक्त है या वही कार्य करता है जिसकी ओर भाग्य ने उसे ढकेल दिया है। यातायात के सरल, सुलभ और वेगशील साधन, विशाल नगरों की वृद्धि, बड़े कारखानों की स्थापना, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएँ, विद्यालय, महाविद्यालय, सिनेमागृह आदि ने विभिन्न जातियों और समुदायों में परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर दिया है। फलस्वरूप जातियों में परस्पर खान-पान होने लगा है और सामाजिक उत्सवों और समारोहों पर लोग मिश्रित होने लगे हैं। इससे जातियों की अपरिवर्तनशीलता, रूढ़िवादिता, संकीर्णता एवं पृथकत्व विनष्ट हो गये। शासन ने कानून द्वारा स्थावर सम्पत्ति के उत्तराधिकार के सम्बन्ध की तथा अन्तर्जातीय विवाहों से उत्पन्न हुए बालकों की अयोग्यताओं को दूर करने का प्रयत्न किया। जाति-सभाओं और जाति की पंचायतों को उनके अनुशासन की अधिकांश शक्तियों और अधिकारों से कानून ने वंचित कर दिया। सौभाग्य की दूसरी बात यह है कि हमारे महान् सामाजिक और राजनीतिक नेतागण और हिन्दू समाज का शिक्षित और प्रगतिशील अंग हिन्दू-समाज के अभिशाप जाति-प्रथा को दूर करने में प्रयत्नशील है। यद्यपि आज जाति-प्रथा अपनी प्रभुता और शक्ति को अधिकांश अंशों में खो चुकी है, परन्तु फिर भी हिन्दू संस्कृति के विकास में इसका बड़ा हाथ रहा है।

निष्कर्ष

वैदिक युग का प्रभाव—आर्यों का वैदिक युग सभ्यता की उत्कृष्टता के पद पर पहुँच गया था। इस काल में आर्य ज्ञान, शक्ति और सामाजिक संगठन में उच्च स्तर पर पहुँच गये थे। प्राग्वैदिक और ऋग्वैदिक कालों में भारतीय

संस्कृति तरल द्रव के रूप में थी, पर उत्तर वैदिक युग में इसकी नींव ठोस हो गयी और उसका व्यक्तित्व मूर्त रूप धारण कर गया। "वास्तव में भारतीय संस्कृति और सभ्यता की मूल स्थापना इसी काल में होती है।" इससे आगे आने वाले युगों की संस्कृति पर इस युग की संस्कृति की गहरी छाप पड़ी। भारतीय तत्त्वज्ञान और धर्म में वैदिक सभ्यता का गहन आभास दृष्टिगोचर होता है। हिन्दुओं के दर्शनशास्त्र में वैदिक युग की विचारधाराओं का प्रतिपादन किया गया और हिन्दू धर्म में वैदिक युग के धर्म के प्रमुख आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विकास हुआ।

उत्तर वैदिक काल की प्रमुख सिद्धि व सफलताएँ—के० एम० पाणिकर के मतानुसार हिन्दू धर्म का संगठन उत्तर वैदिक काल की एक प्रमुख सफलता व सिद्धि है। हिन्दू धर्म उन सिद्धान्तों का पद्धतिबद्ध और व्यवस्थित संग्रह है जो उत्तर वैदिक काल के साहित्य—ब्राह्मण, उपनिषद् और आरण्य में प्रतिपादित किये गये हैं। आत्मा और ब्रह्म का सिद्धान्त, ईश्वर और मानव का सम्बन्ध, कर्म, माया, मुक्ति का सिद्धान्त, आत्मा का आवागमन और अन्य विशिष्ट तत्त्वों का उल्लेख, विकास और विस्तार उपनिषदों में हो चुका था और इन्होंने ही हिन्दू विचारधारा को प्रभावित किया तथा प्रत्येक हिन्दू के जीवन को निश्चित साँचे में ढाल दिया। हिन्दू धर्म का यह सैद्धान्तिक आधार ही उत्तर वैदिक युग में स्थापित नहीं हुआ, परन्तु हिन्दू जीवन का सामाजिक आधार भी पूर्णरूपेण दृढ़तापूर्वक स्थापित हो चुका था। गृह्य सूत्र ने जन्म से मरण तक के प्रत्येक अवसर व समारोह, नामकरण, उपनयन, शिक्षा, विवाह आदि के कर्तव्यों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया है। इससे गृहस्थ जीवन की धार्मिक विधियों का सृजन हुआ तथा गृहस्थी के अनुशासन-नियमों का निर्माण हुआ और इस प्रकार भारत के लोगों का हिन्दुओं के विशद् समुदाय में रूपान्तर हो गया। यदि गृह्य सूत्र ने हिन्दू समुदाय का सृजन किया तो धर्म सूत्र ने सामाजिक प्रथाएँ, रूढ़ियों, रीति-रिवाज, कानून आदि को प्रणीत कर हिन्दू समाज को निर्दिष्ट रूप मे संगठित कर दिया।

गृह्य सूत्र और धर्म सूत्र के अतिरिक्त 'वर्णाश्रम धर्म' का सामाजिक सिद्धान्त भी समान रूप से ही महत्त्वशाली है, यह वह सामाजिक विचारधारा थी जिसके अनुसार जीवन—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—चार भागों में विभाजित था। प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ को इस आदर्श का पालन करना पड़ता था। उत्तर वैदिक युग की दूसरी सफलता जाति-प्रथा या चतुर्वर्ण-प्रथा का विकास है। इसके अनुसार समाज चार वर्ग—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—में विभाजित था। भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक विकास में जाति-प्रथा सामाजक संस्था के रूप में सफल हुई। परन्तु यह सब कार्य राष्ट्रीय एकता तथा

सजातीयता की बलि पर हुआ। यद्यपि यह संस्था राष्ट्रीयता की विरोधी प्रमाणित हुई, परन्तु फिर भी इसने सामाजिक शक्तियों के संतुलन को स्थिर रखा और देश की उचित सेवा की।

परन्तु इस युग की प्रमुखतम सफलता तो भारत की भौगोलिक विजय है। इस युग तक वस्तुतः सम्पूर्ण भारत का अन्वेषण किया जा चुका था। भारत की प्रत्येक भाग की सरिताएँ, पर्वत श्रेणियाँ तथा सामान्य भौगोलिक स्थिति का ज्ञान हो चुका था। महाकाव्य काल तक भारत की यह भौगोलिक खोज पूर्ण हो चुकी थी। वैदिक युग के आर्य तो केवल सिन्धु-गंगा-घाटी से ही अवगत थे। परन्तु धर्म सूत्रों में अनेक विभिन्न देशों और स्थानीय प्रथाओं का उल्लेख है और गृह्य सूत्र के युग में सम्भवतः इस देश के भूगोल का पूर्ण ज्ञान हो चुका था। कैलाश शृंग, मानसरोवर झील, हिमालय एवं उसकी उत्तरी सीमा पर स्थित देश आदि सभी महाभारत के काल तक जान लिये गये थे। हिन्दू धर्म तथा हिन्दू संस्कृति का प्रचार सम्पूर्ण देश में हो रहा था। रामायण में जिन वनों के आश्रमों का उल्लेख है, वे कालान्तर में उपनिवेश या ऐसे केन्द्र बन गये, जहाँ हिन्दू सांस्कृतिक जीवन चतुर्दिक विकीर्ण होता था। धीरे-धीरे सघन वन काट डाले गये, आवागमन के हेतु नदियों में नावें चलने लगीं, दिन-प्रतिदिन अधिक भूमि पर कृषि होने लगी और तदनन्तर आदिवासी धीरे-धीरे आर्यों के सामाजिक जीवन में मिश्रित हो गये। आदिम जातियां का इस प्रकार हिन्दू समाज और धर्म में घुल-मिल जाने का ढंग उत्तर वैदिक युग में ही प्रारम्भ हो चला था और आज भी उसी प्रकार चल रहा है।

आर्यों की देन

पिछले पृष्ठों में वेद कालीन आर्य-सभ्यता के प्रधान लक्षणों का विवेचन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आर्यों ने अपनी देन द्वारा भारतीय जीवन को अधिक सुसंस्कृत और सम्पन्न बना दिया। आर्यों की इस देन का सूक्ष्म विवेचन निम्नलिखित है :

१. **धर्म और आध्यात्मिकता**—आर्यों ने धर्म और आध्यात्मिकता की बड़ी उच्च भावना प्रस्तुत की और उसने अनार्य तत्वों को भी परिशोधित कर दिया है। जब आर्य भारत में आये तब उन्होंने यहाँ पर प्रचलित धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों का अपने धार्मिक सिद्धान्तों के साथ समन्वय कर दिया। समय-समय पर इसमें अन्य नवीन धार्मिक विचारों को भी सम्मिलित कर दिया। परिणाम-स्वरूप धर्म का एक निर्दिष्ट रूप हो गया जो कालान्तर में हिन्दू धर्म के नाम से प्रख्यात हुआ। कर्म, पुनर्जन्म, आत्मा की अमरता, मुक्तिवाद, ईश्वर की एकता, अवतारवाद, वेदों की प्रामाणिकता और सत्यता आदि आर्यों के धर्म के प्रमुख सिद्धान्त हैं। इसके अतिरिक्त वर्णों और आश्रमों की व्यवस्था में निष्ठा,

श्रुतियों के प्रति श्रद्धा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि भी इस धर्म के लक्षण हैं। शिखा, सूत्र, व्रत-उपवास, पर्व-उत्सव, भजन-पूजन, उपासना-आराधना, कथा-कीर्तन, दान-दक्षिणा, जप-तप, होम-यज्ञ, संध्या-स्वाध्याय आदि का भी कम महत्त्व नहीं है। इन्हीं सिद्धान्तों, लक्षणों और विशेषताओं पर अवलम्बित आर्यों के धर्म का अधिक विकास व प्रचार हुआ और आज भी यह हिन्दू धर्म के नाम से भारत और दक्षिण-पूर्वी एशिया के द्वीपों में प्रचलित है।

२. **आर्यों का साहित्य**—आर्यों का साहित्य विश्व को उनकी अनुपम देन है। वेद, पुराण, स्मृति, सूत्र, वेदांग, रामायण, महाभारत आदि आर्यों की ही अनुपम कृतियाँ हैं। वेद विश्व के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। ये चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। प्रत्येक वेद के संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् नामक भाग हैं। प्रत्येक वेद का एक उपवेद होता है—ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद या अस्त्रवेद, सामवेद का गन्धर्ववेद और अथर्ववेद का अर्थशास्त्र है। कठिन व जटिल वैदिक विषयों का स्पष्टीकरण करने के लिए शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, कला तथा ज्योतिष नामक छह वेदांग बनाये गये। वैदिक साहित्य के विशाल एवं जटिल होने पर कर्मकाण्ड के सिद्धान्तों और विधि-विधान को कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ प्रतिपादन करने वाले छोटे से छोटे वाक्यों में रचा गया। इन सारगर्भित वाक्यों को सूत्र कहते हैं। सूत्र-साहित्य चार भागों से विभक्त है—श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र धर्म सूत्र और शुल्व सूत्र। दर्शन सम्भवतः आर्य संस्कृति की समुज्ज्वलतम कृति है। आध्यात्मिक विज्ञान को दर्शन कहते हैं। इसका उद्देश्य आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तापों से सन्तप्त मानवता के क्लेशों की निवृत्ति है। आर्यों के प्रसिद्ध छह दर्शन हैं—पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा, सांख्य, न्याय योग और वैशिषक। ये आस्तिक दर्शन हैं। कालान्तर में नास्तिक दर्शन का प्रादुर्भाव भी हुआ जो वेद की प्रामाणिकता और ईश्वर में विश्वास नहीं रखता है। इस प्रकार आर्यों ने नियमित व व्यवस्थित ढंग से राजनीति, दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष, गणित, नीतिशास्त्र, नियम-उपनियम, चिकित्सा, कर्मकाण्ड आदि पर अनेक निबन्ध व ग्रन्थ लिखे। आर्यों के साहित्य में प्रत्येक ज्ञान के क्षेत्र में उसके प्रत्येक अंग का सूक्ष्म विवेचन है जिसमें विचारों की क्रमबद्ध व्यवस्था है। बाद में भारतीय दर्शनशास्त्र तथा विचारों के विकास में इससे पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त उनके साहित्य और कलात्मक कृतियों में कल्पना का एक क्रम है जो अमिताचार, विलक्षणता तथा भावाधिक्य से मुक्त है।

३. **जाति-प्रथा और वर्णाश्रम-धर्म**—आर्यों की अन्य महत्त्वशाली देन जाति-प्रथा और वर्णाश्रम धर्म की सामाजिक संस्थाएँ और प्रथाएँ हैं। कालान्तर

में ये हिन्दू धर्म व हिन्दू संस्कृति की प्रधान अंग बन गयीं। जाति-व्यवस्था में लोगों के व्यावसायिक कार्यों के विभेद तथा कल्पित वंश-परम्परा के आधार पर विभिन्न समूहों में वर्गीकरण किया गया था। इसका उद्देश्य विभिन्न जातियों तथा व्यक्तियों का एक ही सामाजिक संगठन में एकीकरण करने का उद्देश्य था, जिससे वे हिल-मिलकर एक ही प्रकार का सांस्कृतिक जीवन व्यतीत करने में समर्थ हों।

वर्णाश्रम-धर्म एक प्रकार से आर्यों की जीवन विषयक विलक्षण भावना थी। इसमें पार्थिवता तथा आध्यात्मिकता, सांसारिक सफलता और आध्यात्मिक श्रेष्ठता का सुन्दर समन्वय करने का प्रयास किया गया। प्रत्येक मनुष्य को जीवन के चार स्तरों—ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम—को पार करना पड़ता था। इस आश्रम-व्यवस्था में मानव-आकांक्षा या कर्म का कोई भी पहलू उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा गया है। इसी आश्रम-प्रथा ने आर्य संस्कृति को सुरक्षित रखने में बहुत योग दिया।

४. **पारिवारिक जीवन**—पारिवारिक जीवन आर्यों की एक अन्य देन है। उन्होंने परिवार को समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई बना दिया। परन्तु आर्यों ने द्रविड़ों के मातृसत्तात्मक परिवार की अपेक्षा पितृसत्तात्मक परिवार की नींव डाली। उनके अनुसार परिवार का प्रधान सबसे अधिक वयोवृद्ध व्यक्ति होता था, जिसे दम्पत्ति या गृहपति कहते थे। इसके अधिकार विस्तृत थे और नियन्त्रण अधिक था। आर्यों ने इस पारिवारिक जीवन को आमोद-प्रमोदमय बना दिया और कालान्तर में संयुक्त परिवार की प्रथा का विकास किया जो आज भी कतिपय परिवर्तनों के साथ भारत में विद्यमान है।

५. **नारी सम्मान**—आर्यों का वह सम्मान और उच्च पद उल्लेखनीय है जो उन्होंने अपने समाज में नारियों को दिया था। उन्होंने अपने से पूर्व के समाज में प्रचलित स्त्री सम्बन्धी प्रथाओं व संस्थाओं को जैसे मातृसत्तात्मक परिवार प्रथा, बहुपति विवाह प्रथा आदि का परित्याग कर दिया था। स्त्रियों को उन्होंने वे समस्त अधिकार व सुविधाएँ दी थीं जिनसे उनके व्यक्तित्व व आत्मा का विकास सम्भव था। सामाजिक व धार्मिक कृत्यों में वे पुरुषों के साथ बराबर भाग लेती थीं। यज्ञ, हवन, कर्मकाण्ड आदि में पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। शिक्षा में भी उन्हें पुरुषों के समान ही अधिकार थे। फलतः अनेक प्रसिद्ध और विदुषी स्त्रियाँ आर्यों में थीं।

६. **ग्राम्य जीवन**—आर्यों का जीवन चरवाहों और कृषकों का सा था, इससे उन्होंने ग्रामों की स्थापना की। कालान्तर में ये ग्राम आर्यों के सामाजिक और राजनीतिक जीवन की महत्त्वपूर्ण इकाई बन गये। स्वायत्त शासन का समुदय इन ग्रामों में ही हुआ जिसके फलस्वरूप श्रेष्ठ प्रजातन्त्र का विकास सुलभ हो गया।

शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर भी आर्यों की सभ्यता के अनेक अवशेष आज भी भारतीय ग्रामों में विद्यमान हैं।

७. **संस्कृत**—आर्यों की अन्य महत्त्वपूर्ण देन संस्कृत भाषा है जिसने भारत की समस्त भाषाओं, उनके शब्द-भण्डार तथा रचना को अत्यधिक प्रभावित किया है। इसका प्रभाव इतना गहन रहा है कि विद्वानों का मत है कि समस्त भारतीय भाषाओं का मूलस्रोत संस्कृत ही रही है। हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी आदि संस्कृति से ही निकली मानी जाती हैं। तामिल जैसी उन्नत भाषा भी, जिसके साहित्य का बहुत कुछ विकास आर्यों के आगमन के पूर्व ही हो चुका था, इस प्रभाव से वंचित न रह सकी। इतने दीर्घकाल के बाद भी संस्कृत परम्पराएँ क्षीण नहीं हैं। नवीन भाषाओं ने, जो भारत में आक्रमण-कारियों के साथ यहाँ आयीं थीं, संस्कृत की महत्ता को चुनौती दी, परन्तु संस्कृति ने अपने प्रभाव को स्थिर ही नहीं रखा वरन् उसे और भी सुदृढ़ और गहन कर दिया। फलस्वरूप सभी भारतीय भाषाओं के शब्द भण्डार में अधिक समानता है और उनकी व्याकरण-रचना में एक विलक्षण साम्य प्रदर्शित होता है।

८. **तपोवन आश्रम**—अन्त में, ईसाई धर्मावलम्बी यूरोप के नगरों में विश्वविद्यालय तथा अविवाहितों के मठों से स्पष्ट रूप से भिन्न, आर्यों के तपो-वन आश्रम, आर्यों की एक अनुपम देन हैं। भारतीय संस्कृति के प्रसार तथा ज्ञान-विकास में इन आश्रमों का बड़ा हाथ रहा है। प्राचीन ऋषि-मुनि वनों में अपना तपोवन आश्रम स्थापित करते थे। वहाँ उनका सारा समय गुणों के संकलन और ज्ञानार्जन में व्यतीत होता था। साधारण व्यक्ति और राजकुमार भी शिक्षा-दीक्षा के लिए इन आश्रमों में रहते थे। अपनी तपस्या के साथ-साथ इन आश्रमों में ऋषिगण अज्ञानान्धकार का नाश कर ज्ञान का प्रसार करते, बर्बर जंगली जातियों को सभ्यता का पाठ पढ़ाते और उन्हें उच्च नैतिकता एवं धर्म की दीक्षा देते थे। इनके अतिरिक्त ये तपोवन आश्रमों के सुरम्य एकान्त में लौकिक और आध्यात्मिक समस्याओं पर गहन चिन्तन करते, दार्शनिक विचारों का विवेचन करते और आचारशास्त्र तथा धर्म की गहन गुत्थियाँ सुलझाते थे। परिणामस्वरूप ये आश्रम ज्ञान के केन्द्र (विश्वविद्यालय) हो गये और प्राचीन हिन्दू संस्कृति के स्रोत बन गये। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "इस आश्रम प्रथा के द्वारा शान्तिमय उपवनों में हमारे दर्शनशास्त्र की उन्नति हुई तथा आचारशास्त्र, नीतिशास्त्र एवं साहित्य की शाखाओं को जीवन मिला। यहीं पर हमारी सच्ची प्राचीन सभ्यता विद्यमान थी और इन सब बातों का श्रेय हमारे प्राचीन आर्यों को था।"

भारतीय इतिहास में महाकाव्य काल से ईसा पूर्व छठी शताब्दी के बीच

का सुदीर्घ युग घटनाओं के अस्त-व्यस्त विस्तृत विवरण और अनेक राजवंशों के स्पष्ट ऐतिहासिक गाथाओं से परिपूर्ण है। उनका उल्लेख पुराणों में है जो धर्म, पुरातन विश्वास, परम्पराओं, अनुश्रुतियों, देवी-देवता की गाथाओं तथा इतिहास के विश्वकोष माने जाते हैं। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, तथापि उनकी महत्ता अधिक अंशों में नष्ट हो जाती है क्योंकि इनमें इतिहास धर्म तथा कल्पित कथाओं में घुलमिल गया है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक का विश्वसनीय राजनीतिक इतिहास निर्माण करने के पूर्व दीर्घ मार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा। यह कार्य कठिनाइयों से परिपूर्ण है, परन्तु हमारा विषय तो यहाँ पर राजनीतिक इतिहास नहीं, प्रमुख सांस्कृतिक धाराएँ हैं। अतएव हम काल-ज्ञान के अनुसार ऐतिहासिक घटनाओं को त्यागकर अब अगले अध्याय में हम ईसा पूर्व छठी शताब्दी के उन प्रमुख धार्मिक आन्दोलनों का विवेचन करते हैं जिन्होंने भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के क्रम को विशेष रूप से प्रभावित किया है।

प्रश्नावली

१. उत्तर वैदिक युग में आर्यों की सभ्यता व संस्कृति का वर्णन कीजिए। ऋग्वेद काल की सभ्यता व संस्कृति से यह किस प्रकार भिन्न थी?
२. उत्तर वैदिक युग के धर्म का उल्लेख कीजिए। ऋग्वेद कालीन धर्म से इनकी तुलना कीजिए।
३. "उत्तर वैदिक युग में जीवन का सामाजिक आधार दृढ़तापूर्वक निर्मित हो गया था।" (के० एम० पाणिकर)। इस कथन का विवेचन कीजिए।
४. रामायण और महाभारत दोनों महाकाव्यों के ऐतिहासिक मूल्य और सांस्कृतिक महत्त्व का वर्णन कीजिए।
५. महाकाव्य काल के लोगों के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन पर दोनों महाकाव्य क्या प्रकाश डालते हैं? ऋग्वेद काल की संस्कृति और जीवन से यह किस प्रकार भिन्न था?
६. हिन्दू संस्कृति पर दोनों महाकाव्यों ने क्या प्रभाव डाला है?
७. "हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज का संगठन उत्तर वैदिक युग की प्रमुख सफलताओं में एक है।" इस कथन को समझाइए।
८. "आर्य संस्कृति समस्त भारत पर शासन करती है और हमारे भूगोल, जाति तथा राजनीतिक इतिहास द्वारा निर्मित विभिन्नता के होने पर भी इसने भारत को आन्तरिक एकता प्रदान की है।" (सर जदुनाथ सरकार)। विवेचन कीजिए।
९. "आर्यों ने अपनी देन द्वारा भारतीय जीवन को सुसम्पन्न किया है।" आर्यों की देन पर प्रकाश डालते हुए इसे समझाइए।

१०. जाति-प्रथा के उत्कर्ष और विकास में योग देने वाली दशाओं का वर्णन कीजिए। अहिंसा और मुस्लिम विजय का जाति-प्रथा पर क्या प्रभाव पड़ा?

११. जाति-प्रथा के गुण-दोषों का विवेचन कीजिए। इसने हिन्दू संस्कृति को कहाँ तक प्रभावित किया?

१२. जाति-प्रथा की उत्पत्ति और उसके रूप का विवेचन कीजिए तथा इस कथन को समझाइए कि समाज में जाति-प्रथा का भाग शान्त होते हुए भी अत्यन्त महान् रहा है।

१३. टिप्पणियाँ लिखिए :
सूत्र, उपनिषद्, संहिता, पुराण, भगवद्-गीता, वर्णाश्रम-धर्म, चतुर्वर्ण-व्यवस्था, आर्यों के आश्रम व तपोवन, पाणिनि और जाति-प्रथा।

१४. हमारी सांस्कृतिक विरासत (heritage) को आर्यों की जो देन है उसका विवेचन कीजिए।

५

जैन धर्म और बौद्ध धर्म

आन्दोलन का युग—ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में विश्व में एक महान् धार्मिक आन्दोलन हुआ। इसी युग में अनेक देशों के समाज में साधारणतया आध्यात्मिक एवं नैतिक अशान्ति हो गयी तथा अद्वितीय बौद्धिक और चिन्तन के आन्दोलन चले। फलस्वरूप समस्त विश्व में सुधारकों ने तत्कालीन धार्मिक व्यवस्था के विरोध में अपनी आवाज बुलन्द की और इस व्यवस्था को नवीन आधारों पर पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। यूनान के द्वीप इओनिया में हिराक्लिटस (Heraclitus) के नवीन सिद्धान्तों का उपदेश दिया। फारस देश में जरतुश्त (Zoroaster) के तत्कालीन धार्मिक अन्धविश्वासों का घोर विरोध किया। चीन में लोगों ने कनफूशस (Cofuscius) के दार्शनिक सिद्धान्तों का स्वागत किया। यह वह युग था जब भारत में भी लोग प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों से उकता गये थे और पूजन की समस्त विधियों एवं इस पार्थिव जीवन के कष्टों व आपत्तियों से मुक्ति पाने के हेतु सतत् प्रयत्नशील थे। धर्म एवं चिन्तन के क्षेत्र में नवीन नेताओं का प्रादुर्भाव हुआ और अनेक असामान्य चिन्तक सत्य की अनवरत खोज में संलग्न रहने लगे। अतः यह युग आन्दोलन का था, प्राचीन व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का था। यह विप्लव सामाजिक व्यवस्था की प्रामाणिकता, धार्मिक क्रिया-विधियों, पुरोहितों की अपरिमित शक्ति और सुविधाओं तथा मरणासन्न संस्कृति के प्राणघातक भार के विरुद्ध था। इस आन्दोलन का नवीन दर्शन बाह्य रूप में असामाजिक पर आन्तरिक रूप में अजातीय था। इसने जाति और समाज की कट्टरता का विरोध किया। इसने विशुद्ध व्यक्तिवाद और अध्यात्मवाद का उपदेश दिया। इसने समाज की स्थिरता, जातिहीनता, असमानता तथा न्याय का घोर विरोध किया। इसने मानव बुद्धि-विवेक की पवित्रता तथा उसकी स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया। इसने इस बात को न्यायसंगत बतलाया कि प्रत्येक स्त्री और पुरुष को मनुष्य के नाते, स्वयं अपना भाग्य-निर्माण करने और मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार है। इस आन्दोलन का अन्तिम उद्देश्य पार्थिव नहीं अपितु आध्यात्मिक था, जीवन को सामाजिक ढाँचे में नहीं वरन् अध्यात्मवाद के ढाँचे में ढालना था।

समय की अन्तरात्मा अनेक सुधारवादी आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुई।

रक्तिम यज्ञों और निरर्थक जटिल कर्मकाण्ड में जनता का विश्वास ज्यों-ज्यों कम होता जा रहा था, मानव दयावादी और आस्तिकवादी आन्दोलन अधिक प्रबल होते जा रहे थे। ये आन्दोलन मानव उन्नति को मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति के रूप में नापते थे। जीवन अध्यात्मवाद का एक साधन माना जाता था। इन नये आन्दोलनों के चिन्तक विशुद्ध बुद्धिवादी थे। ये पूर्णतया दार्शनिक थे जिन्होंने यह कल्पना की थी कि जीवन ज्ञान और शक्ति का एक तत्त्व ज्ञान है। आध्यात्मिक नेतृत्व ब्राह्मणों एवं याज्ञिकों के अधिकार से निकलकर परिव्राजकों, वैरागियों और संन्यासियों के हाथों में आ गया था। इन्होंने सांसारिक तृष्णा; वासना एवं लालसा के विनाश पर अधिक जोर दिया। संन्यासियों और परिव्राजकों ने वेदों की प्रामाणिकता और वैदिक पुरोहितों की प्रधानता को अस्वीकार किया, रक्तिम यज्ञों का, जो ब्राह्मणों की क्रिया-विधियों का बहुत प्रमुख भाग था, विरोध किया और ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने घोषणा की कि उचित आचार-विचार ही संसार और कर्म की भूलभुलैया में से निकलने का एकमात्र साधन है। इस ठीक और उचित आचार-विचार में अन्य गुणों के अतिरिक्त अहिंसा व्रत भी था। इन परिव्राजक उपदेशकों में सबसे महान् क्षत्रिय राजकुमार वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध थे। प्रथम के तत्त्व ज्ञान और विचाधारा ने उस सुधारवादी आन्दोलन का रूप लिया जिसे जैन धर्म कहते हैं और दूसरे के विचारों एवं दर्शन से अन्य आन्दोलन, जिसे बौद्ध धर्म कहते हैं, का आविर्भाव हुआ।

यूरोप के लूथर और केलविन के समान ही महावीर और गौतम ने उस भ्रष्टता का विरोध किया था जो हिन्दू धर्म में घुस गयी थी। जिस प्रकार से सुधारवादी ईसाई धर्म में लूथर और केलविन के सम्प्रदाय लूथरनिज्म और केलविनिज्म (Luthernism and Calvinism) हैं, वैसे ही सुधारवादी हिन्दू धर्म में जैन और बौद्ध सम्प्रदाय हैं। महावीर और बुद्ध हिन्दू धर्म के उन महान् विचारकों में से थे जो हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ही रहकर शाश्वत सत्य की अनवरत खोज में संलग्न थे। ये दोनों मत ब्राह्मण धर्म या वैदिक धर्म की प्रशाखाएँ ही हैं, जिन्होंने कुछ अवांछनीय धार्मिक विधियों एवं प्रथाओं का घोर विरोध किया और कुछ विशिष्ट बातों पर अधिक बल दिया। जिन नैतिक सिद्धान्तों का इन दोनों मतों ने प्रतिपादन किया है वे उपनिषदों में वर्णित हैं। जिज्ञासु की भावना एवं बौद्धिक वाद-विवाद, जिसे इन दोनों मतों ने प्रोत्साहित किया, उत्तर वैदिक युग में कोई नवीन बात नहीं थी। उपनिषदों में ही ऐसे प्रसिद्ध वाद-विवादों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त इन मतों के तत्त्व-ज्ञान और क्रिया-विधियों के अंकुर हमें तत्कालीन अनेक संन्यासियों के समुदायों में दृष्टिगोचर होते हैं। जिस वैराग्य, तप और एकान्तवास का महत्त्व

इन दोनों सम्प्रदायों में है वह वेदों एवं उपनिषदों में भी वर्णित है। वेदों में उन ऋषियों का उल्लेख है जिन्होंने सत्य ज्ञान की अभिप्राप्ति के हेतु तपस्या की। उपनिषदों में तो यह बात स्पष्ट कर दी गयी कि आत्मज्ञान के जिज्ञासु संसार से विरक्त हो अरण्य में ही रहकर चिन्तन व तप करें। स्मृति में भी मानव-जीवन के चार आश्रमों का उल्लेख करते हुए संन्यास आश्रम पर अधिक जोर दिया गया। छठी शताब्दी में पाणिनि के समय ऐसे परिव्राजक संन्यासियों एवं ऋषियों का उल्लेख प्राप्त होता है जिन्होंने अपने-अपने संघ समुदाय बना लिये थे। इनमें प्रमुख अजीविक, जटिलिक, मुण्डसावक, मागन्धिक, गोतमक और तेदण्डिक थे। इनके ही समुदायों के आधार पर बुद्ध ने अपने संघ का निर्माण किया और उनके जीवन के हेतु विविध नियमों तथा उपनियमों की रचना की थी। सत्य बात तो यह है कि उस समय जनता ब्राह्मणों की प्रभुता, कर्मकाण्ड की निरर्थकता तथा नैतिकता व तपस्या के सिद्धान्तों से ऊब गयी थी। उसके लिए बाह्य आडम्बर पूर्ण रक्तिम यज्ञ तथा रहस्यवाद से ओत-प्रोत उपनिषद् समान रूप से जटिल एवं दुर्बोध हो गये थे। वह सरल धर्म तथा व्यावहारिक, सादे, आचार-विचार के लिए तरस रही थी। इस आवश्यकता को जैन और बौद्ध धर्म ने पूर्ण किया। अतएव दोनों ही धर्म भारत के आध्यात्मिक जीवन के विकास के महत्त्वशाली अंग हैं। दोनों ही न तो नास्तिक हैं और न पूर्णतया किसी नवीन मूल धर्म का प्रतिपादन ही करते हैं।

जैन धर्म भारत की सीमा के पार कभी नहीं गया, वह आज भी धन-सम्पन्न वैश्यों का धर्म है। परन्तु बौद्ध धर्म पन्द्रह सौ वर्षों के देदीप्यमान जीवन के पश्चात् अपने जन्म-स्थान में लुप्तप्राय होने पर भी विश्व की आध्यात्मिक शक्तियों में से आज भी एक विशिष्ट शक्ति है तथा मानव-विश्वास की दृढ़ भित्ति है।

नवीन धार्मिक आन्दोलन के समुदय के कारण

इस देश में जैन और बौद्ध धर्म नामक नवीन धार्मिक सम्प्रदायों के आविर्भाव एवं विकास के हेतु निम्नलिखित परिस्थितियाँ अधिक अनुकूल रहीं :

१. **कर्मकाण्ड एवं विधि-संस्कारों का बोझ**—ईसा से पूर्व छठी शताब्दी तक वैदिक तत्त्व-ज्ञान और धर्म की मूल विशुद्धता लुप्तप्राय हो चुकी थी और धर्म का स्थान जटिल निर्थरक कर्मकाण्ड ने ले लिया था। विधियाँ और संस्कार इतने विस्तृत तथा व्यय-साध्य थे कि वे साधारण व्यक्ति की शक्ति के बाहर हो गये थे। अतएव साधारण जनता कर्मकाण्ड के भारी बोझ से कराह रही थी।

२. **मन्त्रों में विश्वास**—यदि वैदिक धर्म कर्मकाण्ड में संलिप्त हो गया था तो जनता का आध्यात्मिक दृष्टिकोण अन्धविश्वास से लद गया था। वैदिक

ऋचाओं का स्थान मन्त्रों ने ले लिया था। ऐसी धारणा थी कि ये मन्त्र दैवी-शक्ति रखते है। सर्वसाधारण का विश्वास था कि मन्त्रोच्चारण से लोगों को रोग-मुक्त किया जा सकता है, युद्ध में विजयश्री या पराजय प्राप्त हो सकती है, किसी राज्य की समृद्धि दृढ़ की जा सकती है अथवा उससे शत्रुओं का संहार किया जा सकता है, विरोधी के तर्क-वितर्क को शान्त किया जा सकता है और यहाँ तक कि खाँसी को रोका जा सकता है और देश-राशि की वृद्धि को प्रोत्साहित किया जा सकता है। संक्षेप में, मन्त्रों के अन्तर्गत समस्त विश्व को ले लिया गया था। दैनिक जीवन का ऐसा कोई भी छोटा या बड़ा भाग अवशिष्ट नहीं था जो हित या अहित की दृष्टि से मन्त्रों द्वारा प्रभावित न हुआ हो।

३. **यज्ञ**—यज्ञ की दैवी शक्ति में आर्यों का जो दृढ़ विश्वास था, पुरोहित वर्ग ने उसका दुरुपयोग किया। कुछ विशिष्ट अवसरों पर पशुओं को और कभी-कभी मानवों को भी मारकर यज्ञ में उनकी आहुति देने से एक विद्रोह की भावना जागृत हो गयी और अनेक के हृदय में ऐसे कुकृत्यों के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी। अभिषेक तथा अश्वमेध यज्ञ जैसे महान् समारोह राज्यकोष को खाली कर देते थे। इसके अतिरिक्त गृहस्थ की ऐसी अनेक क्रिया-विधियाँ, अनुष्ठान व संस्कार थे जिनके हेतु ब्राह्मणों की सेवाएँ अनिवार्य थीं। ये प्रथाएं विप्लवकारी थीं। इन्होंने जनसाधारण को ब्राह्मणों के विरुद्ध ही नहीं अपितु उस प्रणाली व व्यवस्था के विरुद्ध भी, जिसका प्रतिनिधित्व ब्राह्मण करते थे, भड़का दिया।

४. **कर्म और तप-मार्ग के सिद्धान्तों से उत्पन्न बौद्धिक परिभ्रान्ति**—जब जनता ऊबकर उपर्युक्त बुराइयों को दूर करने के लिए उत्सुक थी, तब अनेक व्यक्ति जीवन और मृत्यु की जटिल समस्याओं पर चिन्तन कर रहे थे और वे जीवन की दुखद दुर्गति से आत्मा को मुक्त करने के उपायों की खोज में प्रयत्नशील थे। पुरोहित वर्ग ने इस बात पर अधिक जोर दिया कि अपनी आत्मा की मुक्ति के इच्छुक मनुष्य धार्मिक क्रिया-विधियों, अनुष्ठानों एवं संस्कारों को पूर्ण रूप से करें। यह कर्म-मार्ग था। परन्तु मुक्ति प्राप्त करने का कर्म-मार्ग एकमात्र साधन नहीं माना जाता था। शीघ्र ही आत्म-ज्ञान के निमित्त तपस्या के सिद्धान्तों का विकास और प्रचार हुआ। इन सिद्धान्तों का मूल सार यह था कि मनुष्य अरण्य में घोर तपस्या करे, इन्द्रिय-निग्रह कर भौतिक वासनाओं पर अंकुश रखे एवं परब्रह्म के साक्षात्कार के हेतु मनन एवं ध्यान करने की शक्ति का विकास करे। ऐसा माना जाने लगा कि देवता भी उन व्यक्तियों के उपाश्रित हो जाते थे, जो अपनी वासनाओं का दमन कर वनों के एकान्त में घोर तपस्या और प्रायश्चित्त करते थे।

इस प्रकार जब जनसाधारण में कर्म और तप मार्ग अधिक लोकप्रिय हो

रहे थे, बुद्धिजीवियों को यह विश्वास हो चला था कि मोक्ष ज्ञान-मार्ग से प्राप्त हो सकता है। उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि "वह जो ईश्वर को जानता है ईश्वर को प्राप्त करता है, अपितु वह स्वयं ही ईश्वर है।" आत्मा वस्तुतः ईश्वर का अभिन्न अंग है। वह ईश्वर से एवं ईश्वर का है, अतएव उसे ईश्वर में ही विलीन होना चाहिए। अतएव उन्होंने कर्म व तप मार्गों का खण्डन किया। उनका कथन था कि मनुष्य की आध्यात्मिक मुक्ति तथा अनन्त आनन्द व सुख की प्राप्ति के हेतु आत्मा का ईश्वर में विलीन होना अनिवार्य है। परन्तु इन तप एवं कर्म तथा बुद्धिवादियों के सिद्धान्त इतने गूढ़ थे कि स्थूल बुद्धि वाले सामान्य मनुष्य के लिए वे अति दुर्बोध हो गये। इन सिद्धान्तों ने मनुष्य की धार्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति करने की अपेक्षा बौद्धिक परिभ्रान्ति उत्पन्न कर दी।

५. ब्राह्मणों का प्रभुत्व—मोक्ष प्राप्ति के इन परस्पर विरोधी मतों एवं साधनों ने आध्यात्मिक और नैतिक क्षेत्र में अशान्ति तथा परिभ्रान्ति पैदा कर दी। इस बौद्धिक परिभ्रान्ति और अशान्ति के अतिरिक्त पुरोहित वर्ग का एकाधिकार और प्रभुता भी उत्तरोत्तर वृद्धि पा रही थी। जनसाधारण इनके कष्टकारी प्रभुत्व से ऊब गये थे। वे अपने आपको वैदिक धर्म व परम्पराओं की प्रमुख व्याख्या करने वाले होने का दावा करते थे। ऐसे अनेक विस्तृत यज्ञों एवं अनुष्ठानों की विधियाँ थीं जिनके लिए ब्राह्मणों की उपस्थिति अनिवार्य थी। जन्म से मृत्युपर्यन्त जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका प्रभुत्व था। उनकी पण्डिताई और संरक्षण से कहीं भी छुटकारा नहीं था। उनके अहंकार, आधिपत्य और वर्णवाद की एकांगिता ने समाज को सर्वथा जकड़ दिया। यहाँ तक कि शासन-संचालन भी वे ही करते थे। क्षत्रिय राजाओं और राजकुमारों के परामर्शदाता और मन्त्री भी ब्राह्मण ही होते थे। इन्हीं ब्राह्मणों ने राज्य-शासन के समस्त पदों एवं सत्ता पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था। इन्हें विशिष्ट सामाजिक सुविधाएँ प्राप्त थीं और समाज में अन्य वर्गों की अपेक्षा ये अधिक श्रेष्ठ एवं प्रतिष्ठित माने जाते थे। ये चाहते थे कि जनसाधारण उनके ब्राह्मण धर्म में पूर्णविश्वास एवं अनुराग रखे। परन्तु साधारण जनता इसे अंगीकार करने को उद्यत नहीं थी।

६. जाति-प्रथा—जाति बन्धन की बेड़ियाँ अधिक कठोर एवं दृढ़ होती जा रही थीं। जाति-परिवर्तन असम्भव-सा हो गया था। निम्न जाति के लोगों की दशा अत्यन्त ही हीन व दयनीय थी। अब्राह्मण जातियाँ तप करने तथा संन्यास-जीवन व्यतीत करने से सर्वथा वंचित कर दी गयी थीं। इन सब कारणों से तत्कालीन ब्राह्मण धर्म के प्रति साधारण जनता में घोर तिरस्कार व विरोध की भावना उत्पन्न हो गयी थी।

७. स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति—ईसा पूर्व छठी शताब्दी में वैशाली, कपिलवस्तु आदि राज्यों में गणराज्य थे और प्रजातान्त्रिक वातावरण व्याप्त था, इससे जनसाधारण में स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति जागृत हुई जिसकी अभिव्यक्ति धार्मिक क्षेत्र में जैन और बौद्ध धार्मिक आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुई।

अनेक प्रमुख आचार्यों तथा विद्वानों ने उस काल की भावना को अपने कार्यों में अभिव्यक्त किया और धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना की। इनमें से प्रत्येक ने सबके लिए आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करने तथा आत्मा की मुक्ति के हेतु सरल, सुलभ और व्यावहारिक मार्ग ढूँढ़ने के प्रयत्न किये। आत्मा और परमात्मा के रहस्योद्घाटन तथा जन्म-मरण की शृंखला से मोक्ष के पथ के हेतु सभी प्रयत्नशील रहे। पाली ग्रन्थों के अनुसार ये सम्प्रदाय बासठ से कम नहीं थे तथा जैन धार्मिक ग्रन्थों के अनुसार इनकी संख्या तीन सौ से अधिक थी। इन सम्प्रदायों में बौद्ध और जैन सम्प्रदाय अधिक समर्थ सिद्ध हुए और शेष कालान्तर में लुप्तप्राय हो गये।

जैन धर्म

जैन धर्म की प्राचीनता—जैन धर्म का प्रादुर्भाव सुदूर अतीत में लुप्त है। कहा जाता है कि ऋग्वेद के मन्त्रों में जैनियों के दो तीर्थंकरों ऋषभ तथा अरिष्ट-नेमि का हवाला है। ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक माने गये हैं। ऋषभदेव की कहानी का उल्लेख विष्णु पुराण और भागवत पुराण में भी है, जहाँ इन्हें नारायण का अवतार माना गया है। ये सब इस बात की ओर संकेत करते हैं कि जैन धर्म यदि अधिक नहीं तो उतना ही पुराना है जितना कि वैदिक धर्म। जैनियों का विश्वास है कि जैन धर्म चौबीस तीर्थंकरों के उपदेशों का परिणाम है। प्रथम बाईस तीर्थंकरों के जीवन, काल्पनिक कथाओं तथा नितान्त अस्पष्ट और अतर्क्य जन-विश्वासों से इतने आच्छादित हैं कि उनके विषय में निश्चयात्मक रूप में कुछ कहना दुष्कर है। तेईसवें तीर्थंकर जिनका नाम पार्श्वनाथ था और जो वर्द्धमान महावीर से २५० वर्ष पूर्व हो चुके थे, वस्तुतः ऐतिहासिक व्यक्ति प्रतीत होते हैं। वे बनारस के राजा अश्वसेन के पुत्र थे और उन्होंने आध्यात्मिक जीवन के निमित्त राजकीय विलास का जीवन त्याग दिया। उनके प्रमुख उप-देश चार थे—अहिंसा, सत्य भाषण, अस्तेय और सम्पत्ति का त्याग। ऐसा प्रतीत होता है कि पार्श्वनाथ ने अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिए संघ बनाया था। बुद्ध के समय के सब संघों में जैन साधु-साध्वियों का संघ सबसे विशाल था। यह ज्ञात नहीं है कि पार्श्वनाथ कहाँ तक अपने धार्मिक प्रचार में सफल हुए, परन्तु चौबीसवें तीर्थंकर महावीर ने उनके धर्म को विशेष प्रतिष्ठा दी। वर्द्धमान महावीर के माता-पिता और उनके परिवार के लोग पार्श्वनाथ के सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अतएव यह स्वाभाविक था कि महावीर अपनी युवावस्था में जैन

सिद्धान्तों द्वारा अधिक प्रभावित हुए। पार्श्वनाथ के बाद दूसरे और अन्तिम तीर्थंकर स्वयं वर्द्धमान महावीर थे।

वर्द्धमान महावीर (५९९-५२७ ई० पूर्व)—वर्द्धमान महावीर का जन्म वैशाली के समीप, कुण्ड ग्राम में (बिहार के वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले में) ई० पूर्व ५९९ में एक धन-सम्पन्न क्षत्रिय परिवार में हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ क्षत्रिय ज्ञात्रिक कुल के प्रधान थे और उनकी माता त्रिशला वैशाली के सबसे प्रसिद्ध लिच्छिवि राजा चेटक की भगिनी थी। मगध के राजा बिम्बसार ने चेटक की पुत्री चेलना से विवाह किया था। अतएव वर्द्धमान मगध के प्रमुख व प्रतिष्ठित राज्यवंश से सम्बन्धित थे। इस प्रकार वर्द्धमान का कुल अभिजातवर्गीय था और इससे उनके धर्म-प्रसार में बड़ी सहायता मिली होगी। ज्ञान तथा कला के सभी क्षेत्रों में वर्द्धमान को उच्च शिक्षा दी गयी और यशोदा नामक एक युवती से इनका विवाह हो गया। इससे एक कन्या उत्पन्न हुई थी जिसका पति महावीर का प्रथम शिष्य हुआ और तत्पश्चात् जैन धर्म की प्रथम शाखा का नेता बन गया। अपने माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने अपना गृह त्याग दिया और सत्य की खोज में संन्यासी परिव्राजक हो गये।

कई बार नालन्दा जाने पर एक बार वहाँ गोशाल मक्खलीपुत्त नामक संन्यासी से वर्द्धमान का परिचय हो गया। वह अब वर्द्धमान के साथ रहने लगा, पर छह वर्ष के पश्चात् उसने इनका साथ छोड़ दिया और आजीविका नामक एक नवीन धार्मिक सम्प्रदाय की नींव डाली। बारह वर्ष के कठोर तप के बाद तेरहवें वर्ष में वैशाख माह की दशमी के दिवस जृम्भिक ग्राम के बाहर, पार्श्वनाथ शैलशिखरों के पास ऋजुपालिका नदी के उत्तर तट पर उन्हें 'कैवल्य' ज्ञान प्राप्त हुआ। इस सर्वश्रेष्ठ ज्ञान की उपलब्धि तथा सांसारिक सुख-दुख से अन्तिम मुक्ति प्राप्त होने से वर्द्धमान अब अर्हत (पूज्य), जिन (विजेता), निर्ग्रन्थ (बन्धन रहित) और महावीर कहलाये एवं लोगों ने उनके अनुयायियों को निर्ग्रन्थ (बन्धन मुक्त) कहा। इसके बाद तीस वर्ष तक वे एक स्थान से दूसरे स्थान का भ्रमण करते रहे तथा कौशल, मगध और इससे पूर्व के प्रदेशों में निरन्तर अपने उपदेशों और सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। उन्होंने अनेक बार बिम्बसार और अजातशत्रु से भेंट की जो उन्हें अत्यधिक सम्मान व प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते थे। ई० पूर्व ५२७ में पटना जिले में पावापुरी में ७२ वर्ष की अवस्था में उनका देहान्त हुआ। गौतम बुद्ध के ये समकालीन थे। इन्होंने एक धार्मिक संघ की स्थापना की जो साधु-साध्वियों तथा पुरुष-स्त्रियों सभी के लिए खुला था।

महावीर के सिद्धान्त—महावीर द्वैतवादी तत्त्व-ज्ञान में विश्वास करते थे। उनका मत था कि प्रकृति और आत्मा केवल दो तत्त्व हैं जो सदैव रहते हैं।

दूसरे शब्दों में, यों कहा जा सकता है कि मनुष्य का व्यक्तित्व भौतिकी और आध्यात्मिक दो अंशों से बना है। प्रथम नाशवान् है और द्वितीय अनन्त और विकासशील है। उनके मतानुसार कर्म के कारण आत्मा अनेक विगत जन्मों की संचित वासनाओं तथा अभिलाषाओं के बन्धन में है। अनेक जन्मों में निरन्तर प्रयास के फलस्वरूप कर्म के बन्धन, जो आत्मा को बाँधे हुए हैं, नष्ट किये जा सकते हैं और आत्मा को वासना से मुक्त किया जा सकता है। कर्म की शक्तियों का विनाश और विकेन्द्रीकरण ही जीव की अन्तिम मुक्ति है। तप करने तथा शरीर को कठोर यन्त्रणाओं के अनुशासन में रखने से नवीन कर्मों का निर्माण और उनका एकीकरण अवरुद्ध हो जाता है और पहले के संचित कर्म धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं। कर्म के इस प्रकार विनाश के साथ ही साथ आत्मा के वास्तविक गुण उत्तरोत्तर अभिव्यक्त होते हैं और आत्मा पूर्ण आभा तथा अनन्त महानता और भव्यता से देदीप्यमान होती है। यह मोक्ष का प्रतीक है और तब आत्मा उस पवित्र परमात्मा में एक हो जाती है।

महावीर ने गृहस्थ तथा परिव्राजक साधु के लिए नैतिक नियम निर्माण किये हैं। जीवन का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति होने से मनुष्य को अशुभ कर्म न करना चाहिए और धीरे-धीरे सभी प्रकार के नवीन कर्मों का निर्माण रोकना चाहिए तथा संचित कर्मों को नष्ट करना चाहिए। इस हेतु गृहस्थ को पाँच प्रतिज्ञाएँ माननी पड़ती हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। इससे ठीक आचार-विचार होता है। इसको सम्यक् व्यवहार कहते हैं। इसके अतिरिक्त गृहस्थ को अन्य और दो सिद्धान्तों का अनुकरण करना होता है—ये हैं सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान। प्रथम का अर्थ है जैन तीर्थंकरों में विश्वास और दूसरे का अभिप्राय है मुक्ति का ज्ञान तथा सभी वस्तुओं में सजीवता। साधुओं के लिए इससे भी कठोर नैतिक नियमोपनियम हैं।

महावीर इस बात में विश्वास नहीं करते थे कि ईश्वर इस विश्व का स्रष्टा है और वह इस पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। उनके मतानुसार विश्व का सृजन नहीं हुआ और कोई सर्वोपरि स्रष्टा भी नहीं है तथा "ईश्वर उन शक्तियों का उच्चतम, शालीनतम और पूर्णतम व्यक्तिकरण है जो मनुष्य की आत्मा निहित होती है।" उनका विश्वास था कि सभी वस्तुओं—जड़ और चेतन दोनों—में जीव है। उनमें प्राण है और आघात पहुँचाने पर वे कष्ट का अनुभव करते हैं। अतएव अहिंसा के सिद्धान्त पर जैन धर्म में अधिक जोर दिया गया है। छोटे से छोटे जीव के प्रति, चाहे उसका विकास कितना ही निम्न क्यों न हो, हिंसा का विचार जैनियों के लिए अत्यन्त अग्राह्य और असह्य है।

महावीर ने वेदों की सत्ता और प्रामाणिकता तथा अपौरुषेयता को अंगीकार नहीं किया और वैदिक क्रिया-विधियों तथा ब्राह्मणों के प्रभुत्व का घोर विरोध

किया। जैसा ऊपर वर्णित है, उन्होंने जीवन के हेतु बहुत पावन, नैतिक और श्रेष्ठ नियमोपनियमों का निर्माण किया और मोक्ष-प्राप्ति के निमित्त कठोर तप और संयम के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वर्तमान जैन धर्म महावीर के इन्हीं सिद्धान्तों को अपनाये हुए है।

जैन संघ—महावीर ने सफलतापूर्वक जैन संघ की स्थापना की। उनके कठोर तप व संयम तथा सादे व सरल सिद्धान्तों के कारण उनके अनेक अनुयायी हो गये। उनके ग्यारह घनिष्ठ और प्रिय शिष्य थे। उनमें से एक जिसका नाम आर्य सुधर्मन था महावीर के पश्चात् भी जीवित रहा। वह उनकी मृत्यु के पश्चात् जैन संघ का प्रमुख हो गया और २२ वर्ष तक इस पद पर रहा। इसका उत्तराधिकारी जम्बू था जो ४४ वर्ष तक इस पद पर आरूढ़ रहा। इसके बाद इन प्रधानों की तीन पीढ़ियाँ बीत गयीं और मगध के अन्तिम नन्द नरेश के समय जैन संघ में दो प्रमुख थे—सम्भूत विजय और जैनियों के कल्पसूत्र के रचयिता भद्रबाहु। लगभग १५० वर्ष तक जैन संघ के विषय में कोई विशेष एवं विस्तृत विवरण नहीं प्राप्त होता है। इसके जन्म से लेकर ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी तक जैन संघ के इतिहास की जानकारी के लिए हमें भद्रबाहु के कल्पसूत्र की सहायता लेनी पड़ती है। भद्रबाहु महावीर की मृत्यु के पश्चात् जन संघ का छठा प्रमुख था और सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन था। ऐसा कहा जाता है कि महावीर के निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् भद्रबाहु का देहावसान हुआ था। जैनियों के कल्पसूत्र में महावीर को छोड़कर १३ तीर्थंकरों की जीवनियाँ हैं। उनमें जैन संघ के प्रमुखों तथा मतों का विवरण है और जैन तपस्वियों के हेतु नियम हैं।

प्रथम जैन परिषद्, महान मतभेद एवं विभाग—प्राचीन जैन धार्मिक ग्रन्थों को जो चौदह 'पूर्व' कहे जाते हैं और जिनका उपदेश स्वयं महावीर ने अपने प्रमुख शिष्यों को दिया था, संभूत विजय और भद्रबाहु ने सम्पूर्ण किये थे। संभूत विजय का देहावसान चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याभिषेक के वर्ष में हो गया था। ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी के अन्तिम भाग में जब निरन्तर बारह वर्ष तक भयंकर अकाल पड़ा, तब जैनियों का महत्त्वशाली समुदाय भद्रबाहु के नेतृत्व में मैसूर चला गया। फिर भी अनेक जैन संभूत विजय के शिष्य स्थूलभद्र के नेतृत्व में मगध में ही रह गये थे। उन्होंने प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों के ज्ञान को, जो लुप्त हो रहा था, पुनः एकत्र करने के लिए पाटलिपुत्र में एक सभा आमन्त्रित की। परिणामस्वरूप बारह अंगों की रचना हुई जो जैन धर्म के सिद्धान्तों में सबसे अधिक महत्त्वशाली भाग हैं। भद्रबाहु के अनुयायी जब मगध में लौटे तो उन्होंने इन 'अंगों' की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की। इसके अतिरिक्त जो मगध से प्रवास कर गये थे और जो मगध में रह गये थे उनमें भी परस्पर एक विशाल

खाई-सी हो गयी थी। प्रथम जैनी अब भी वस्त्रहीन रहकर महावीर के सिद्धान्तों का अनुकरण करते थे, पर दूसरे मगध में रहने वालों ने श्वेत वस्त्र धारण करना प्रारम्भ कर दिया था तथा महावीर के सिद्धान्तों से दूर हो गये थे। इस प्रकार जैनियों में सर्वप्रथम दो श्रेणियाँ हो गयीं---दिगम्बर और श्वेताम्बर।

५१२ ई० में वलभि में द्वितीय जैन परिषद्—कालान्तर में श्वेताम्बरों के सिद्धान्त अस्त-व्यस्त हो गये और उनके लुप्त होने का भय हो गया। अतएव ई० सन् ५१२ में गुजरात में वलभि नामक नगर में देवर्धिक्षमा श्रमण के सभापतित्व में धार्मिक ग्रन्थों को एकत्र करने एवं उनकी रचना करने के हेतु एक परिषद् आमन्त्रित हुई। पाटलिपुत्र की प्रथम परिषद् में जिन बारह 'अंगों' की रचना हुई थी उनमें से उस समय केवल ग्यारह ही अवशेष थे।

कालान्तर में दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में और भी अधिक मतभेद की वृद्धि हुई। इनमें एक ऐसे समुदाय का प्रादुर्भाव हुआ जिसने मूर्ति पूजा का सर्वथा बहिष्कार किया एवं धार्मिक ग्रन्थों का पूजन अपना लक्ष्य बनाया। श्वेताम्बरों में इन्हें तेरापंथी एवं दिगम्बरों में समाई कहते हैं। इस सम्प्रदाय का समुदय छठी शताब्दी के पूर्व नहीं हुआ।

जैन धर्म का विकास एवं उत्थान—अभिलेख तथा साहित्यिक प्रमाण यह संकेत करते हैं कि जैन धर्म का आविर्भाव एवं उत्थान उसकी प्रारम्भिक अवस्था में बौद्ध धर्म की अपेक्षा यथेष्ट था। उसे अपूर्व सफलता मिली थी। महावीर द्वारा अपने उपदेशों के लिए संस्कृति की अपेक्षा साधारण बोलचाल की भाषा का प्रयोग, आत्मा एवं परमात्मा के रहस्य के दुर्बोध तथा गूढ़ सिद्धान्तों की अपेक्षा उनके सुलभ व्यावहारिक नैतिक सिद्धान्त, साधारण जनता को बिना किसी भेदभाव के आध्यात्मिक सत्य का उपदेश, जैन भिक्षुओं का सक्रिय प्रचार तथा राजकीय आश्रय एवं संरक्षण ने जैन धर्म के विकास एवं उत्थान में अपूर्व सहायता प्रदान की।

सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित धार्मिक संघ ने, जिसे महावीर अपने पीछे छोड़ गये थे, निरन्तर धार्मिक प्रचार तथा प्रसार किया। इससे रक्तिम यज्ञों में पशुबलि अप्रिय हो चली थी और समाज के उन वर्गों के लोगों में भी, जिन्होंने जैन धर्म को नहीं अपनाया था, अहिंसा का सिद्धान्त जीवन के दैनिक नियम के समान स्थापित हो गया। महावीर के अनुयायी धीरे-धीरे समस्त देश में फैल गये। यहाँ तक कि सिकन्दर महान् के आक्रमण काल में जैन सन्त तथा साधु सिन्धु नदी के तट पर विद्यमान थे। जैन अनुश्रुति के अनुसार अजातशत्रु का उत्तराधिकारी उदयन अनुरागी और श्रद्धालु जैन था। सम्भवतः मगध के नरेश नन्द भी जैन थे। ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी के अन्तिम वर्षों में जैन सन्त व साधुओं के एक

समुदाय ने मगध से भद्रबाहु से नेतृत्व में दक्षिण भारत में प्रवास किया था। वहाँ उसने मैसूर में श्रवण बेलगोला को अपना प्रमुख केन्द्र-स्थल बनाकर समस्त दक्षिण भारत में जैन धर्म का खूब प्रचार एवं प्रसार किया। ई० सन् ६०० का एक शिलालेख यह बताता है कि मैसूर के चन्द्रगिरि पर्वत के शृंग पर भद्रबाहु एवं चन्द्रगुप्त मुनिपति के पद-चिह्न अंकित हैं। दक्षिण में जैन धर्म विशेषकर वाणिज्य-व्यवसायी वर्ग में अत्यधिक लोकप्रिय हो गया था।

जैन धर्म को राजकीय आश्रय व संरक्षण भी प्राप्त हुआ था। महान् मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त जैन धर्म के बड़े धार्मिक श्रद्धालु संरक्षक थे। ऊपर जैसा वर्णित है वे स्वयं भद्रबाहु के शिष्य बनकर दक्षिण में उसके साथ गये थे। एक गुफा उनको ही समर्पित कर दी गयी और वह पर्वत जिसमें वह गुफा है उसके नाम चन्द्रगुप्त के आधार पर चन्द्रगिरि नाम से प्रख्यात हो गया। ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी में कलिंग (उड़ीसा) के राजा खारवेल ने जैन धर्म अंगीकार कर लिया था। वह स्वयं एक विशाल जैन प्रतिमा की प्रतिष्ठा कर जैन धर्म का प्रसिद्ध संरक्षक हो गया। जैन सन्त कालकाचार्य तथा उज्जैन नरेश गर्दभिल्ल और उनके पुत्र विक्रम की गाथाओं से प्रतीत होता है कि ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में मालवा की राजधानी उज्जैन जैन धर्म का एक महान् केन्द्र-स्थल रहा होगा। कुषाण युग में जैन धर्म मथुरा में अधिक समृद्ध हुआ और हर्ष के काल में पूर्वी भारत में इसका प्रभुत्व अधिक था। ईसवी सन् की प्रारम्भिक सदियों में उत्तरी भारत में मथुरा और दक्षिण में श्रवण बेलगोला जैन धर्म के प्रचार के महान् केन्द्र थे। इन दोनों स्थानों पर जो अनेक शिलालेख, मूर्तियाँ तथा अन्य स्मारक चिह्न एवं समाधि-स्थल प्राप्त हुए हैं, वे इस कथन की सबल पुष्टि करते हैं। पाँचवीं से बारहवीं सदी तक दक्षिण के अनेक राजवंशों जैसे गंग, कदम्ब, चालुक्य और राष्ट्रकूट ने इस धर्म को आश्रय दिया था। आठवीं से दसवीं सदी तक मान्यखेत के कतिपय राष्ट्रकूट नरेश तो विशेष रूप से जैन धर्म के पक्षपाती थे, वे इसके उत्साही संरक्षक थे और जैन कला तथा साहित्य के विकास में उन्होंने अत्यन्त प्रोत्साहन दिया। प्रख्यात जैन कवि उनके राज्याश्रय में ही फले-फूले। अमोघवर्ष के राज्यकाल में ही जिनसेन और गुणभद्र ने अपने महापुराण की रचना की। अमोघवर्ष स्वयं लेखक था और उसका जैन ग्रन्थ सभी सम्प्रदाय के लोगों में अधिक लोकप्रिय हो गया। ऐसा कहा जाता है कि अमोघवर्ष अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में जैन साधु हो गया था। अभिलेखों के प्रमाण के अनुसार उसके एक उत्तराधिकारी इन्द्र चतुर्थ ने जैन धर्म के अनुसार संसार त्याग कठोर तप कर अपने जीवन की इतिश्री की थी। ईसवी सन् ११०० के लगभग गुजरात में जैन धर्म का अत्यधिक उत्थान हुआ, क्योंकि वहाँ अनहिलवाड़ के राजा और गुजराती गाथाओं के लोकप्रिय नायक चालुक्य

नरेश सिद्धराज (१०९४-११४३) और उसके पुत्र कुमारपाल जैन सम्प्रदाय के महान् संरक्षक थे। उन्होंने जैन धर्म को पूर्णरूपेण अंगीकार कर लिया था और जैनियों के साहित्य तथा उनकी मन्दिर-निर्माण कला को खूब प्रोत्साहन दिया था। सिद्धराज के उत्तराधिकारी कुमारपाल की राजसभा में प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र, जो राजपुरोहित व इतिहासज्ञ था, रहता था। मुस्लिम युग में जैन धर्म विद्यमान रहा क्योंकि जैनियों के अधिक शान्तिप्रिय विधियों से तथा उनकी धार्मिक उग्रता के अभाव से यवन शासकों ने उन्हें अधिक सताया नहीं, परन्तु जैन धर्मावलम्बियों की संख्या दिन-प्रतिदिन न्यून होती जा रही थी। सहिष्णु व उदार मुगल बादशाह अकबर के संरक्षण में जैनियों ने पुनः अपनी उन्नति की। परन्तु इस यवन-काल में जैनियों की संख्या में राजपूताने की रियासतों में विशेष रूप में वृद्धि हुई। इन राज्यों ने अनेक जैन उच्च शासकीय तथा मन्त्रियों के पदों पर सुशोभित थे। परन्तु इसके पश्चात् के युग में उनकी अवनति होती गयी।

जैन धर्म का ह्रास—जैन संघ के अनेक त्यागी और सेवाभावी धार्मिक उपदेशकों तथा प्रचारकों की संख्या दिन-प्रतिदिन गिरने लगी और वे अब अपने धार्मिक कृत्यों में पहले से उत्साही न रहे। जैनियों के दो सम्प्रदायों (श्वेताम्बर व दिगम्बर) में विभक्त हो जाने से वे ठोस कार्य करने में असमर्थ हो गये। राजकीय संरक्षण और आश्रय के दिन व्यतीत हो चुके थे। साधारण जनता आन्तरिक मतभेदों तथा विभागों में बँट गयी थी। अतएव किसी ठोस कार्य के लिए उनका एकीकरण प्रायः असम्भव-सा हो गया था। जाति-प्रथा के भेद-भाव जो पहले बहिष्कृत हो चुके थे, पुनः जनता पर लाद दिये गये और जाति-प्रथा के अपरिवर्तनशील बन्धन व क्लिष्टता पुनः सक्रिय हो गये। यद्यपि जैन समाज ने अपना अस्तित्व विद्यमान रखा, परन्तु जाति-प्रथा के इन दुर्गुणों ने उसकी मौलिक शक्ति और उत्साह को सोखकर शुष्क कर दिया। इसी बीच में हिन्दू धर्म में सुधार हुआ एवं उसका पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। इसका प्रभाव जैन धर्म के लिए विनाशकारी हुआ। दक्षिण में शैव मत के प्रचारकों ने जैन धर्म को खूब क्षति पहुँचायी। शिव-भक्त चोल नरेशों ने जैन धर्म के विनाश का पर्याप्त प्रयत्न किया। ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में चालुक्य नरेशों ने भी जैन धर्म को नष्ट करने की चेष्टा की व जैनियों पर अत्याचार किये।

आज भारत में विभिन्न प्रान्तों को मिलाकर जैन धर्मावलम्बियों की संख्या लगभग तेरह लाख है, परन्तु राजस्थान, गुजरात, मध्यभारत तथा दक्षिण के जिलों में ही इनकी संख्या अधिक है। अधिकांश में ये धन-सम्पन्न हैं और समृद्धिशाली व्यवसायी तथा उद्योगपति हैं। इन्होंने देश में अनेक धार्मिक

संस्थाएँ जैसे औषधालय, धर्मशाला, गौशाला, अन्न क्षेत्र आदि दानस्वरूप स्थापित की हैं। आजकल इन्होंने अपना ध्यान अपने समाज-सुधार, शिक्षा-प्रसार, जैन धर्म की जागृति, जैन मन्दिरों तथा समाधियों के निर्माण एवं जीर्णोद्धार, और शताब्दियों से अनेक स्थलों पर जैन मन्दिरों में विविध हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में अज्ञात पड़े हुए प्राचीन जैन साहित्य के प्रकाशन की ओर आकर्षित किया है।

जैन साहित्य और कला—यद्यपि जैन समुदाय छोटा-सा है तथापि देश की भाषाओं के विकास में इसका विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्राह्मणों के धार्मिक प्रचार, उपदेश तथा पवित्र ग्रन्थों की भाषा सदैव संस्कृत रही और बौद्धों की पाली भाषा। परन्तु जैनियों ने अपने धर्म-प्रसार तथा ज्ञान संचय व रक्षा के हेतु विभिन्न स्थलों पर विविध युगों की तत्कालीन भाषाओं का सदुपयोग किया। प्राकृत भाषा में रचित उनका साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। इस प्रकार प्राकृत भाषाओं के विकास में उनका प्रभाव महत्त्वपूर्ण रहा है। उस युग की बोलचाल की भाषाओं को उन्होंने साहित्यिक रूप दिया। स्वयं महावीर ने मिश्रित उपभाषा अर्द्धमागधी में अपना उपदेश दिया था, जिससे कि मागधी या सूरसेनी बोलने वाली जनता उन्हें पूर्णरूपेण समझ सके। उनमें धर्मोपदेश जो 'सूत्रांग' नामक बारह पुस्तकों में संग्रहीत हैं, अर्द्धमागधी भाषा में लिखित हैं। थोड़े समय पूर्व ही जैनियों द्वारा रचित सम्पन्न साहित्य प्रकाश में आया है। इस साहित्य में वह भाषा परिरक्षित है जो आधुनिक हिन्दी, गुजराती तथा मराठी के विकास के पूर्व प्रचलित थी। यह साहित्य 'अपभ्रंश' नामक भाषा में लिखा हुआ है। यह भाषा एक ओर यदि संस्कृत और प्राकृत को जोड़ती है तो दूसरी ओर आधुनिक काल की भाषाओं को परस्पर मिलाती है। अतएव भाषा विज्ञान की दृष्टि से 'अपभ्रंश' का अध्ययन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जैन विचारधारा और प्रेरणा दक्षिण के साहित्य में पायी गयी है। कन्नड़ भाषा का प्रारम्भिक साहित्य जैन प्रभाव से वंचित नहीं है। जैनियों ने संस्कृत में भी वर्णनात्मक तथा दार्शनिक दोनों प्रकार के सम्पन्न साहित्य की रचना की है एवं व्याकरण, काव्य, कोष, रचनाशास्त्र तथा गणित जैसे विशिष्ट 'टेकनिकल' विषयों पर भी उनके ग्रन्थों का अभाव नहीं है।

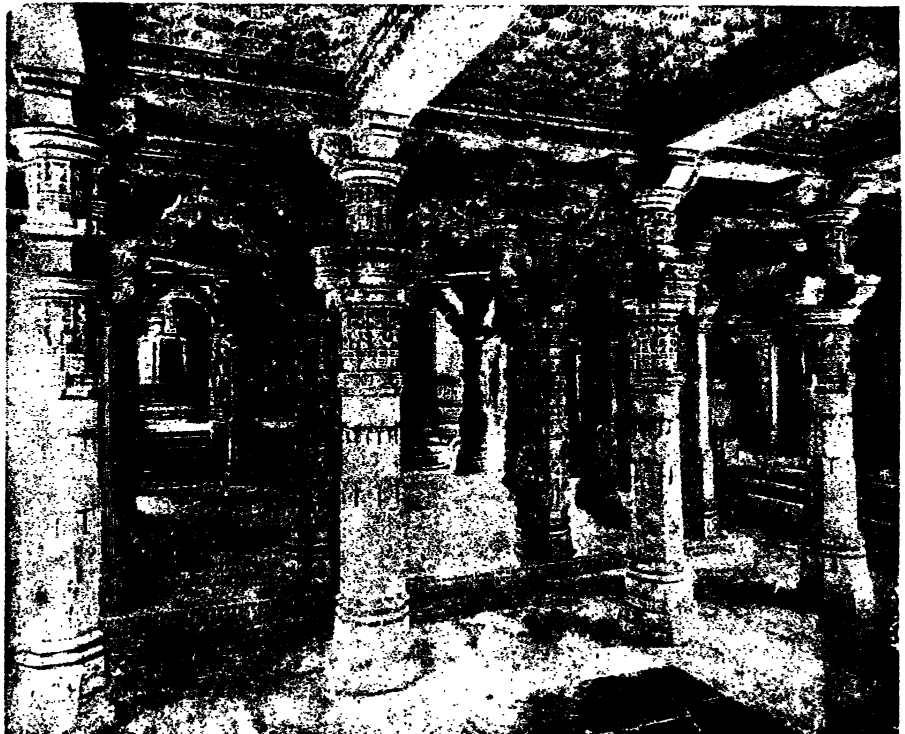
ग्यारहवीं तथा बारहवीं सदियों में जैन कला का सौन्दर्य अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। ईसवी सन् की प्रारम्भिक सदियों में जैनियों ने भी अपने समकालीन बौद्ध धर्मावलम्बियों के समान अपने सन्तों की प्रतिष्ठा में स्तूपों का निर्माण किया था। इन स्तूपों में पाषाण 'रेलिंग' (Railings) अलंकृत प्रवेश-द्वार, पाषाण-छत्र, रूप-शिल्प के उत्कीर्ण स्तम्भ एवं प्रचुर प्रतिमाएँ थीं। इनके कुछ नमूने मथुरा में उपलब्ध हुए हैं। मध्य भारत तथा

बुन्देलखण्ड ग्यारहवीं एवं बारहवीं सदियों की जैन मूर्तियों से भरे पड़े हैं। मैसूर में श्रवण बेलगोला तथा कर्कल में बाहुबलिन की विशाल दैत्याकार प्रतिमा जो गोमतेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है विश्व की आश्चर्यजनक वस्तुओं में से एक है। सत्तर फुट ऊँची यह प्रतिमा जो पहाड़ी के शिखर पर स्थित है, ईसवी सन् ९८४ में गंग नरेश राजमल्ल चतुर्थ (लगभग ९७७-९५) के मन्त्री और सेनापति जैन चामुण्डराय ने स्थापित की थी। यह विशाल ग्रेनाइट चट्टान में से काटी गयी है। दक्षिण मध्य भारत में बड़वानी नगर के समीप इसी प्रकार ८४ फुट ऊँची जैन तीर्थंकर की विशालकाय प्रतिमा आज भी विद्यमान है। ग्वालियर के समीप जैनियों द्वारा चट्टानों पर जो उत्कीर्ण कला के नमूने हैं वे पन्द्रहवीं सदी के हैं। जैनियों ने चट्टानों को काटकर मन्दिरों का भी निर्माण किया था। इनमें सबसे पूर्व के उदाहरण ईसवी सन् पूर्व की दूसरी शताब्दी और उसके बाद के हैं और आज भी उड़ीसा में हाथी गुम्फा नामक गुहाओं में विद्यमान हैं। विभिन्न काल की जैन कला के अन्य नमूने जूनागढ़ (गिरनार), जुनार, उसमानाबाद, ऊन (मध्य भारत) में आज भी हैं। जैनियों के अनेक तीर्थ स्थानों जैसे पार्श्वनाथ पर्वत, बिहार में पावापुरी और राजगृह तथा काठियावाड़ (सौराष्ट्र) में गिरनार और पालिताना में विभिन्न युगों के जैन मन्दिर और अन्य कलापूर्ण स्मारक हैं। चित्तौड़-दुर्ग में जैनियों का स्तम्भ (Tower) जैन स्थापत्यकला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। राजस्थान में आबू पर्वत पर देलवाड़ा के पास ग्यारहवीं सदी के जो जैन मन्दिर बने हुए हैं उनमें भारतीय कला-प्रतिभा शिल्पी की अलंकृत पाषाण आकृतियों में अपनी चरम पराकाष्ठा पर मिलती है। जैनियों ने चित्रकला के विकास में भी योग दिया। उन्होंने अपनी चित्रकला का प्रदर्शन अपनी हस्तलिखित पुस्तकों पर किया जिसमें चमकीले रंगों का प्रवेश किया गया। कतिपय विद्वानों का मत है कि जैनियों की कला सादगी से पूर्ण है। उसमें हिन्दू कला की चमक-दमक का अभाव है।

निष्कर्ष—इतिहास में जैन धर्म के अवशेष बहुत ही पूर्व युग से चले आते हैं और निस्सन्देह यह वैदिक धर्म से नहीं तो बौद्ध धर्म से अधिक प्राचीनतम है ही। यद्यपि यह भारत में सबसे अधिक प्रभुत्वशाली धर्म नहीं रहा तथापि देश में यह एक सशक्त सम्प्रदाय अवश्य ही बना रहा। जैन धर्म की रूढ़िवादिता, ब्राह्मण धर्म में इसकी सदृशता, धर्म प्रचार की उग्र भावना का अभाव तथा अन्य धर्मों से विरोधाभास का दुर्भाव होने से जैन धर्म देश के विभिन्न भागों में आज भी विद्यमान है।

बौद्ध धर्म

गौतम बुद्ध का जीवन-चरित्र—वह आन्दोलन जिसने ब्राह्मण धर्म को सबसे भारी आघात पहुँचाया था, महावीर के प्रसिद्ध समकालीन गौतम बुद्ध



जैन मन्दिर, आबू। (पृष्ठ ११६)

द्वारा प्रारम्भ किया गया था। वे नेपाल की तराई में कपिलवस्तु के शाक्य जाति के प्रधान शुद्धोधन के पुत्र थे। उनकी माता पार्श्ववर्ती कोलिय कुल की राजकुमारी थीं। कपिलवस्तु से कुछ मील दूर लुम्बिनी ग्राम में सन् ५६६ ई० पूर्व में उनका जन्म हुआ था। यह स्थान आज मौर्य सम्राट अशोक के रुम्मिन्देह स्तम्भ से जिस पर ई० पू० २४९ का अभिलेख है, सुशोभित है। प्रसव पीड़ा से माया का देहावसान हो जाने पर, सिद्धार्थ की विमाता प्रजापति गौतमी ने इनका लालन-पालन किया। इसीलिए इन्हें गौतम भी कहते हैं।

बाल्यकाल से ही सिद्धार्थ में मस्तिष्क की चिन्तन-प्रवृत्ति एवं सहृदयता तथा दयालुता के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। शैशवकाल में भी राजकीय वैभव राजकुमार के हृदय को मोहित करने में सर्वथा असमर्थ रहा। अपने पुत्र में सांसारिक जीवन के प्रति गहरी उदासीनता देखकर शुद्धोधन ने उनका विवाह यशोधरा नाम की सुन्दर राजकुमारी से कर दिया। इस नवविवाहित दम्पति के प्रासाद को शुद्धोधन ने भोग-विलास एव आनन्द की सर्वोत्कृष्ट सामग्री और साधनों से परिपूर्ण कर दिया। परन्तु दुखी तथा विषादग्रस्त विश्व के बीच भोग के इन उपकरणों से गौतम के आकुल व चिन्तित हृदय को शान्ति न मिली। एक वृद्ध, रुग्ण, मानव शव तथा संन्यासी के दृश्य ने संसार के प्रति उनकी उदासीनता और भी दृढ़ कर दी और उनके हृदय में सांसारिक सुखों के साधनों की निष्फलता को भलीभाँति स्पष्ट कर दिया। जीवन की अनन्त समस्याओं, उसके कष्टों तथा मृत्यु की भावना से वे आक्रान्त हो गये, उनकी शान्ति भंग हो गयी और वे वासना से रहित एकान्तवास की गम्भीर शान्ति की ओर अधिक आकर्षित हुए। अपनी आयु के २९वें वर्ष में ५३३ ई० पूर्व में, उन्होंने सन्यस्त जीवन द्वारा शाश्वत सत्य की खोज करने के लिए अपने प्रासाद एवं राज्य को एक रात्रि में छोड़ दिया। यह गृह-त्याग महाभिनिष्क्रमण के नाम से प्रसिद्ध है।

निरन्तर छह वर्षों तक वे संन्यासी का जीवन व्यतीत करते रहे। इस काल में उन्होंने दो ब्राह्मण धार्मिक आचार्यों के आश्रमों का अध्ययन किया एवं पटना जिले के राजगृह तथा गया के समीप उरुवेला आदि अनेक स्थानों में भ्रमण किया। इतने पर भी उनकी जिज्ञासा न मिटी और उन्हें सन्तोष न हुआ। तब उन्होंने उरुवेला के सघन वन में कठोर तप किया और अपने शरीर को अनेक कड़ी यातनाएँ दीं एवं सत्य की प्राप्ति के लिए निष्फल प्रयत्न किये। अन्त में उन्होंने तपस्वी जीवन को त्याग दिया, शरीर यातना छोड़ दी तथा निरंजना नदी में स्नान कर वर्तमान बौद्ध गया में पीपल वृक्ष के नीचे तृण के आसन पर बैठ गये। यहाँ उन्हें सहसा सत्य के दर्शन हुए एवं ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्हें यह प्रकाश मिला कि महान् शान्ति उनके हृदय में ही है, उन्हें

वहीं उसकी खोज करनी चाहिए। यही 'महान् बुद्धत्व' कहा गया है। तब से वे 'बौद्ध' या 'तथागत' कहलाये। इस प्रकार अपनी आयु के पैंतीसवें वर्ष में गौतम ने बुद्धत्व प्राप्त किया। इसके बाद वे बनारस के समीप सारनाथ के हिरणकुंज में गये और वहां उन्होंने अपना धार्मिक उपदेश दिया, जिसके परिणामस्वरूप पाँच शिष्य उनके साथ हो गये। उनके भावी जीवन के शेष पैंतालीस वर्ष अनवरत परिश्रम तथा सक्रियता के थे। वे इस काल में एक स्थान से दूसरे स्थान तक भ्रमण करते रहे और अवध, बिहार तथा उनके पार्श्ववर्ती प्रदेशों में अपना सन्देश राजा और रंक सबको सुनाते रहे। कौशल नरेश प्रसेनजित एवं मगध नृपति बिम्बसार तथा अजातशत्रु ने उनके सिद्धान्तों को अंगीकार कर लिया और उनके शिष्य हो गये। उन्होंने अपने अनुयायी साधुओं का एक 'संघ' स्थापित किया। दीर्घकाल तक मुक्ति के हेतु उपदेश देते, अनवरत प्रचार करने एवं वार्तालाप करते हुए धर्म के ये महारथी अन्त में अस्सी वर्ष की अवस्था में ई० पूर्व सन् ४८६ में उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले में कुशीनगर (वर्तमान कसिया) में निर्वाण को प्राप्त हुए। इसे महापरिनिर्वाण कहते हैं। वैशाख पूर्णिमा के दिन गौतम बुद्ध का जन्म हुआ, इसी पूर्णिमा के दिन इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ और इनका निर्वाण भी वैशाख पूर्णिमा को ही हुआ। विश्व-इतिहास में ऐसा उदाहरण किसी अन्य के जीवन में नहीं मिलता।

महात्मा बुद्ध के सिद्धान्त—गौतम बुद्ध ने कोई नवीनतम धर्म या सम्प्रदाय स्थापित करने का प्रयास नहीं किया। न तो उन्होंने धार्मिक सिद्धान्तों तथा रूढ़ियों के विषय में चर्चा की और न नियमों एवं विधियों के विषय में। उन्होंने तो केवल जीवन के एक नवीन पथ की ओर संकेत किया। सद्गुणों के इस मार्ग पर चलने से प्रत्येक व्यक्ति जीवन तथा मरण के बन्धन से मुक्ति पा सकता है। उन्होंने किसी मत या सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया अपितु आध्यात्मिक विकास की युक्तिमूलक विवेकशील योजना बतलायी। उनके उपदेशों का आधार आत्मा, कार्य तथा आचार-विचार की पवित्रता है। उन्होंने वेदों की प्रामाणिकता और अपौरुषेयता को अस्वीकृत किया, रक्तिम पशु-यज्ञों को आपत्तिजनक बताते हुए उनकी निन्दा की, जटिल अर्थहीन विस्तृत धार्मिक विधियों एवं अनुष्ठानों का घोर विरोध किया, जाति-प्रथा तथा ब्राह्मणों के प्रभुत्व को चुनौती दी, और विश्व के सृजन करने वाले ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह प्रकट किया। आत्मा और परमात्मा के झगड़ों में वे नहीं पड़े। उनके मतानुसार अपने स्वयं के विकास के हेतु व्यक्तिगत श्रम एवं सात्विक जीवन ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिस सात्विक तथा सद्गुण पूर्ण मार्ग को उन्होंने सुझाया है वह व्यावहारिक नैतिक गुणों का एक समूह

है और वह विवेकशील है। अतएव बौद्ध धर्म धार्मिक क्रान्ति की अपेक्षा सामाजिक क्रान्ति ही अधिक था।

बुद्ध ने अपने अनुयायियों को चार आर्य सत्यों (चत्तारि-अरिय-सच्चानि) का उपदेश दिया था। ये सत्य निम्नलिखित थे— दुख, दुख का कारण (दुख समुदाय), दुख का दमन (दुख निरोध) और दुख के शमन का मार्ग (दुख निरोध गामिनी प्रतिवाद)। दूसरे शब्दों में, उन्होंने बताया कि जीवन में कष्ट है, इस कष्ट का मूल कारण है और उस कारण को नष्ट करके इस कष्ट का निवारण किया जा सकता है। कष्ट का कारण भौतिक वस्तुओं का सुख भोगने की वासना या इच्छा या तृष्णा है। यह तृष्णा मानव के जन्म और मृत्यु का कारण है। जब यह तृष्णा या जीवन का मोह मनुष्य में नहीं रहता है, तभी आत्मा के लिए निर्वाण प्राप्त करना सम्भव हो सकता है। इस तृष्णा का किस प्रकार विनाश किया जाय यही मनुष्य के सम्मुख वास्तविक समस्या है। उनके मतानुसार यौगिक क्रियाएँ या तपस्या अथवा शारीरिक यातनाएँ न तो तृष्णा का अन्त ही कर सकती हैं और न पुनर्जन्म तथा उसके कष्टों से मुक्ति ही दिला सकती हैं। मस्तिष्क की वासनाओं एवं तृष्णा से विरक्त करने के लिए बारम्बार प्रार्थना, यज्ञ या वेद-मन्त्रों का उच्चारण निष्फल है। बुद्ध ने बताया कि इस तृष्णा का विनाश 'आष्टांगिक-मार्ग' के अनुकरण से ही हो सकता है। इस आष्टांगिक-मार्ग में ये बातें हैं :

१. **सत्य दृष्टि या विश्वास**—जिन चार सत्यों का बुद्ध ने अपने प्रथम धर्मोपदेश में वर्णन किया है उनका ज्ञान और उनमें विश्वास व श्रद्धा।

२. **सत्य भाव**—इसका अर्थ यह है कि हमें विलासिता की वस्तुओं को त्याग देना चाहिए एवं किसी से न तो ईर्ष्या या द्वेष रखना चाहिए और न दूसरों को कष्ट पहुँचाना चाहिए।

३. **सत्य भाषण**—इसका महत्त्व यह है कि हम अपने आपको असत्य भाषण, निन्दा, गाली-गलौज, कठोर शब्द और अर्थहीन वार्तालाप से दूर रखें।

४. **सत्य कर्म**—इसका अर्थ यह है कि जो वस्तु हमारी नहीं है, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न न करें एवं अत्यधिक शारीरिक तथा सांसारिक विषय-वासना में लिप्त न रहें।

५. **सत्य निर्वाह**—इसका महत्त्व यह है कि जीवन के जो मार्ग निषिद्ध हैं उनका अनुकरण न किया जाय।

६. **सत्य प्रयत्न**—इसका अभिप्राय यह है कि अनिष्टकारक परिस्थितियों के आविर्भाव का दमन करना, जिनका प्रादुर्भाव हो चुका है उन्हें समूल नष्ट करना तथा शुभ मंगलकारी परिस्थितियों के समुदय में सहयोग देना।

७. **सत्य विचार**—इसके अनुसार आत्मा तथा शरीर को ऐसी दृष्टि से

देखना कि स्वयं पर नियन्त्रण रहे, सतर्कता हो एवं तीव्र लालसा, उग्र वासना व विषाद पर विजय प्राप्त हो सके।

८. **सत्य ध्यान**—इसका अर्थ चार प्रकार की समाधि या ध्यान को अपनाना है। अष्टांग मार्ग का यह अन्तिम और श्रेष्ठ भाग है।

यह अष्टांग मार्ग एक ओर अत्यन्त भोग-विलास तथा दूसरी ओर कठोर तप एवं कड़ी शारीरिक यातनाओं के बीच का मार्ग है। इसीलिए इसे मध्यम मार्ग (मंझिम-मग्ग) कहा गया है। इसमें मनुष्य को उपदेश दिया गया है कि वह अपना धार्मिक और नैतिक जीवन किस प्रकार व्यतीत करे। बुद्ध के अनुसार इसी मार्ग का अनुसरण करने से निर्वाण की प्राप्ति होगी। निर्वाण का अर्थ है जीवन के मोह का अन्त और कष्टों का निवारण एवं अनन्त शान्ति की प्राप्ति। इसके अतिरिक्त निर्वाण का अभिप्राय है पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्ति। पर इसका अर्थ यह नहीं कि बौद्धधर्म अनुद्योग या अकर्म की शिक्षा देता है। यह धर्म वस्तुतः अनिष्टकारी कार्यों के न करने का उपदेश देता है। अतएव बुद्ध ने अपने अनुयायियों के हेतु नैतिक नियमों का प्रतिपादन किया। उन्होंने चरित्र की पवित्रता, सत्य, प्रेम एवं उदारता, माता-पिता की आज्ञा का पालन, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, मद्यपान-निषेध, दान तथा प्राणी मात्र के प्रति दया का आदेश दिया। मिथ्या या अति प्रशंसा उन्हें अप्रिय थी। एक बार उन्होंने एक मनुष्य को जो उनकी प्रशंसा में संलग्न था खूब बुरा-भला कहा। सत्य मार्ग के अनुसरण को वे अधिक महत्त्व देते थे। बुद्ध दुष्कर्मों या पापी से नहीं अपितु दुष्कर्म या पाप से घृणा करते थे। एक बार उन्होंने वैशाली के कुलीन महाप्रतिष्ठित महानुभावों के स्वादिष्ट, अत्युत्तम भोजन के निमन्त्रण को त्याग वहाँ आम्रपल्ली नामक निन्दनीय नर्तकी का भोजन-निमन्त्रण स्वीकृत कर लिया था। यह घटना इस बात की प्रतीक है कि उनके हृदय में दया का समुद्र था तथा वे साधारण जनता के सुख का सदैव ध्यान रखते थे।

दूसरा सिद्धान्त जिस पर बुद्ध ने जोर दिया, कर्म, उसकी क्रिया एवं आत्मा का पुनर्जन्म था। उन्होंने युक्तिपूर्वक समझाया कि मनुष्य का यह जीवन एवं परलोक का जीवन उसके स्वयं के कर्मों पर अवलम्बित है। न तो देवता के प्रति किये गये यज्ञ दुष्कर्मों का निवारण कर सकते हैं, और न किसी पुरोहित की प्रार्थना या किसी मनुष्य की स्तुति अथवा आराधना उसके स्वयं के लिए या अन्य मनुष्यों के लिए किसी भी प्रकार से मंगलकारी होगी। मनुष्य जैसा बोता है, वह वैसा ही काटता है, जैसा वह कर्म करता है, वैसा ही भोगता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है और कोई देवता या देवगण इसमें किंचित्मात्र भी परिवर्तन नहीं कर सकते। हम अपने कर्मों के परिणामों से अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सकते। यही कर्म का विधान है। यदि कोई व्यक्ति

दुष्कर्म नहीं करता, तो उसकी मृत्यु भी नहीं होती; और जब उसका देहावसान नहीं होता है, तो उसका पुनर्जन्म भी नहीं होता है और इस प्रकार वह अन्तिम निर्वाण पद को प्राप्त होता है।

बुद्ध के सिद्धान्तों का अन्य महत्त्वपूर्ण अंग अहिंसा है। उनकी शिक्षा के अनुसार प्रेम की भावना शुभ कर्मों से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अहिंसा उनकी व्यावहारिक और क्रियात्मक नैतिकता के सिद्धान्तों का एक अविच्छिन्न भाग है। परन्तु उनकी दृष्टि में अहिंसा कोई एकान्तिक धर्म नहीं था। जैन धर्म ने अहिंसा को जिस पराकाष्ठा तक पहुँचाया उतना उन्होंने नहीं। यद्यपि बुद्ध ने प्राणी-मात्र के लिए अहिंसा तथा प्रेम का आदेश दिया, परन्तु उन्होंने अपने अनुयायियों को कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में मांस-भक्षण की भी अनुमति दी थी।

अपने धार्मिक सिद्धान्तों में बुद्ध अज्ञेयवादी थे क्योंकि उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को न तो स्वीकृत किया न अस्वीकृत। उन्होंने ईश्वर या आत्मा के विषय में वाद-विवाद के झगड़े में पड़ने से इनकार कर दिया। जब कभी उनसे ईश्वर या आत्मा के विषय में प्रश्न पूछे गये उन्होंने या तो मौन धारण कर लिया अथवा यह कह दिया कि ईश्वर और देवतागण भी शाश्वत कर्म के नियमों के अन्तर्गत हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका लक्ष्य केवल मनुष्य का सांसारिक कष्टों से उद्धार करने का था। अन्य वस्तुएँ उनके उद्देश्य की सीमा से परे थीं।

मौलिक बौद्ध धर्म नवीन हिन्दू धर्म था और बुद्ध नवीन धर्म के संस्थापक नहीं सुधारक थे—यहाँ इस बात का विवेचन करना उपयुक्त है कि मौलिक बौद्ध धर्म निर्दिष्ट रूप से नवीन धर्म नहीं था, परन्तु तत्कालीन हिन्दू धर्म और समाज में अधिक नैतिक और पवित्रतम जीवन व्यतीत करने के लिए एक सुलभ मार्ग था। बौद्ध धर्म सुधारवादी धार्मिक आन्दोलन था जिसका उद्देश्य हिन्दू धर्म में प्रविष्ट व उत्पन्न त्रुटियों का निवारण करना था। बुद्ध कोई नवीन धर्म प्रवर्तक या पैगम्बर नहीं थे परन्तु एक महान् सन्त या ऋषि थे जिन्होंने अपने श्रोताओं को अपने दुर्गुणों को त्याग देने और पवित्र व सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया। सच्चे धर्म का सार तत्त्व भी यही है। उन्होंने स्वयं न तो किसी नवीन धर्म की घोषणा ही की और न नवीन सिद्धान्तों व नवीन धार्मिक क्रिया-विधियों या नवीन दार्शनिक तत्त्वों का ही आदेश दिया। उन्होंने हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ही शाश्वत सत्य की खोज की। जिन नैतिक सिद्धान्तों का उन्होंने प्रतिपादन किया वे उपनिषदों में वर्णित हैं।

बौद्ध धर्म के आधारभूत सिद्धान्त तत्कालीन हिन्दू सांख्य दर्शन और बाद के उपनिषदों से लिये गये हैं। मानव-जीवन कष्टमय है, इन कष्टों की वृद्धि स्वयं आत्मा द्वारा होती है जो पुनर्जन्म के चक्र में से गुजरती रहती है और

इस पुनर्जन्म का अन्त ही इन कष्टों का अवसान है तथा ऐसा अवसान नैतिक आत्म-नियन्त्रण और समस्त वासनाओं के दमन से ही प्राप्त होता है—बुद्ध के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन उपनिषदों में है। पुनर्जन्म के अवसान और वासनाओं के विनाश के हेतु बुद्ध ने जो अष्टांग मार्ग बतलाया वह साधारण नैतिक नियमावली है, न कि निर्दिष्ट स्पष्ट धर्म के विशिष्ट सिद्धान्त। बुद्ध ने स्वयं प्राचीन ऋषियों के सद्गुणों और नैतिक आचार-विचार की बार-बार मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। अतः बौद्ध धर्म ने ब्राह्मण धर्म के पवित्र रीति-रिवाज और नैतिक आचरण से अनेक सिद्धान्त अपना लिये। कर्न (Kern) ने अपनी पुस्तक Manual of Indian Buddhism में इस बात का विवेचन किया है कि बौद्ध संघ के भिक्षु-भिक्षुणियों के कर्तव्यों और उनके आचरण के नियमों को छोड़-कर बौद्ध सम्प्रदाय का स्वयं का कोई मौलिक सिद्धान्त या नैतिक विधान न था। इस प्रकार जहाँ तक आधारभूत दर्शन का प्रश्न है, बुद्ध और उनके पूर्व के हिन्दू ऋषि-मुनियों में अन्तर नहीं है। जातक ग्रन्थों के अनुसार बुद्ध ने बार-बार यह कहा है कि सच्ची पवित्रता निर्दिष्ट प्रार्थनाओं के दुहराने या कर्मकाण्ड के सम्पादन में नहीं, अपितु पवित्र जीवन और मरण में है। बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध प्रचारक सम्राट् अशोक ने भी अपने स्तम्भ लेख में इस बात पर अधिक महत्त्व दिया कि धर्म जनता के बहु-कल्याण, दान, सत्य और पवित्रता में ही निहित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बुद्ध का तत्त्व ज्ञान और बौद्ध धर्म के आधारभूत सिद्धान्त प्राचीन ही थे। पर बुद्ध ने अपने व्यक्तित्व की छाप उन पर लगा दी।

यदि बौद्ध धर्म की धार्मिक क्रिया-विधियों की ओर दृष्टिपात किया जाय तो बुद्ध ने अपने अनुयायियों के लिए कोई विशिष्ट कर्मकाण्ड निर्दिष्ट नहीं किया था। उन्होंने जो एक नवीन कार्य किया, वह है धर्म प्रचारक भिक्षु-भिक्षुणियों के संघ का निर्माण। पर इस संघ के अनुशासन के कठोर नियमों का प्रादुर्भाव उनके देहावसान के बाद हुआ था जैसा कि बौद्ध धर्म की सभाओं से विदित होता है। बुद्ध ने रक्तिम यज्ञों का निषेध किया, पर यह भी कोई नवीन बात नहीं थी। यज्ञों के विरुद्ध उपनिषदों ने भी आवाज बुलन्द की थी और यह घोषणा की थी कि संसार-सागर पार करने के लिए यज्ञ टूटी नाव के समान है; परन्तु यज्ञों के विरोध में उन्होंने जिस ज्ञान और ब्रह्म-विद्या पर बल दिया वह केवल बुद्धिजीवी वर्ग को ही प्रभावित कर सका। जनसाधारण के लिए तो आडम्बरपूर्ण रक्तिम यज्ञ और रहस्यवाद से ओत-प्रोत उपनिषद् दोनों ही समान रूप से जटिल व दुर्बोध थे। जनता तो सरल, सुबोध एवं भक्ति-प्रधान धर्म के लिए तरस रही थी। प्रथम दो आवश्यकताओं को बौद्ध धर्म ने कार्य-करण शृंखला का महत्त्व समझाकर शुभ कार्यों पर जोर दिया

और इस मत का प्रतिपादन किया कि मनुष्य पवित्रतम उत्तम कार्यों से ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

बौद्ध धर्म की महासभाएँ एवं धार्मिक ग्रन्थ—जब बुद्ध अपनी मृत्यु-शैय्या पर थे उन्होंने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था कि "जिस संघ की मैंने स्थापना की है उसके सत्य और नियमों को मेरे देहावसान के बाद तुम सबके लिए शिक्षक होने दो।" अतएव, बुद्ध की मृत्यु के थोड़े समय पश्चात् ही बुद्ध धर्म की प्रथम महासभा ई० पूर्व ४८३ में राजगृह के समीप सत्तपन्नी गुहाओं में 'धर्म' (धार्मिक सिद्धान्तों) एवं 'विनय' (संघ के नियमों) के संकलन के हेतु हुई थी। विभिन्न स्थानीय संघों के पाँच सौ भिक्षुगण प्रतिनिधि के रूप में इसमें भाग लेने के लिए एकत्र हुए। उन्होंने प्रामाणिकता से बुद्ध के उपदेशों को दो भागों में विभाजित कर दिया—विनय-पिटक और धर्म-पिटक। कुछ शताब्दियों बाद लगभग ई० पूर्व ८० में इन्हें लंका में पाली भाषा में लिपिबद्ध कर दिया और इसी रूप में आज भी ये हमारे सम्मुख विद्यमान हैं।

एक शताब्दी के पश्चात् संघ के अनुशासन के नियमों के विषय में वाद-विवाद खड़ा हो गया, क्योंकि वैशाली के भिक्षुगण अनुशासन सम्बन्धी दस बातों के बन्धन में कुछ ढिलाई चाहते थे। जब साधारण जनता स्वर्ण या चाँदी स्वयं उपहार में दे तब भिक्षुओं को उसे स्वीकृत करना चाहिए या नहीं, इस पर परस्पर गहरा मतभेद हो गया। अतएव वैशाली में ई० पूर्व ३८३ में द्वितीय महासभा आमन्त्रित हुई। वैशाली के भिक्षुगणों के अपने मत पर डटे रहने के कारण कोई समझौता न हो सका और इस परिषद् का परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म के अनुयायी दो भागों में विभक्त हो गये—'स्थाविर' एवं 'महासाधिक'—प्रथम प्राचीन 'विनय' का प्रतिपादन करते थे और दूसरे परिवर्तन के इच्छुक थे। तृतीय महासभा अशोक के राज्य-काल में, बुद्ध के देहावसान के २३६ वर्ष बाद, विद्वान भिक्षुक मोगग्लीपुत्र तीसा के सभापतित्व में पाटलिपुत्र में हुई थी। इसके दो परिणाम हुए। प्रथम, बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों में 'अधिम्म पिटक' नाम का तृतीय पिटक का संकलन हुआ। इसमें प्राचीन दो पिटकों के सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या की गयी। दूसरा धार्मिक सिद्धान्तों एवं विधियों का साहित्य निश्चयात्मक एवं प्रामाणिकता से निर्दिष्ट हो गया। बौद्ध धर्म की चतुर्थ महासभा कनिष्क के राज्य-काल में ज्येष्ठ वसुमित्र एवं महान् विद्वान अश्वघोष के सभापतित्व में हुई। यह महासभा समस्त बौद्ध जनता की नहीं थी, परन्तु सम्भवतः यह उत्तरी भारत के हीनयान मतावलम्बियों की सभा थी। इसमें गान्धार एवं काश्मीर के आचार्यों के परस्पर मतभेद का निर्णय हुआ तथा तीनों पिटकों के तीन विशाल भाष्यों की रचना हुई और इसी के आधार पर बाद में महायान का विकास हुआ।

बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ पिटक कहलाते हैं। ये तीन भागों में विभाजित हैं— सूत्त, विनय और अभिधम्म। सूत्त पिटक में बुद्ध के धार्मिक सिद्धान्त और उपदेश हैं; अतएव यह बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है। विनय पिटक में बौद्ध भिक्षुओं तथा संघ के नियमों का प्रतिपादन है। अभिधम्म पिटक में बुद्ध के सिद्धान्तों की आध्यात्मिक विवेचना है। बौद्धों के अनेक सम्प्रदाय हैं और प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना त्रिपिटक है। सूत्र त्रिपिटक के पाँचवें भाग में प्रसिद्ध 'जातक' या बुद्ध जन्म की कहानियाँ हैं। वे ईसा से पूर्व दूसरी सदी में इतनी अधिक प्रचलित नहीं थीं जितनी ईसा से पूर्व पाँचवीं सदी में। जातकों का बौद्ध साहित्य में विशेष महत्त्व है। ऐसा माना गया है कि बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व बुद्ध के अनेक जन्म हो चुके थे। जातकों की ५५० कथाओं का सम्बन्ध इन्हीं जन्मों से है। तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन का इन कथाओं में उत्तम चित्रण है। अतएव इनका ऐतिहासिक महत्त्व अधिक है।

बौद्ध संघ

बुद्ध के शिष्य दो प्रकार के थे, भिक्षु एवं उपासक (साधारण जनता)। भिक्षुकों को उन्होंने संघ के रूप में व्यवस्थित कर दिया। संघ की सदस्यता सभी व्यक्तियों के लिए थी। पन्द्रह वर्ष की अवस्था से ऊपर की कोई भी स्त्री या पुरुष, जो कुष्ट, क्षय और अन्य संक्रामक रोगों से मुक्त था, संघ का सदस्य बिना किसी भेदभाव के हो सकता था। जो व्यक्ति राज्य-सेवा में या अन्य व्यक्ति की सेवा में थे अथवा ऋणी थे या अपराधी एवं लुटेरे थे, संघ में प्रवेश पाने से वंचित थे। परन्तु कभी-कभी दासों, अभियुक्तों तथा अपंग व्यक्तियों के हेतु इस नियम का उल्लंघन किया जाता था। सघ में प्रवेश करने के लिए जाति के बन्धन नहीं थे। इस प्रकार संघ उन व्यक्तियों का एक समुदाय था जो शारीरिक तथा नैतिक रूप से सेवा करने के लिए योग्य थे। यह पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित तथा बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु शक्तिशाली शस्त्र हो गया। कालान्तर में यह विश्व का सर्वश्रेष्ठ महान् धार्मिक समुदाय बन गया। वास्तव में यह एक आदर्श था जिसके आधार पर अन्य धर्मों के संघ निर्मित हुए। बौद्ध धर्म के शीघ्र विकास का प्रमुख कारण इस संघ की निःस्वार्थ सेवा थी। बौद्ध धर्मावलम्बी साधारण जनता ने दान देकर इस संघ को बनाये रखा जैसा कि आज भी ब्रह्मा में है।

संघ में प्रवेश और उसका शासन—संघ में प्रवेश व दीक्षा की विधि सरल व सादी थी। जब कभी कोई व्यक्ति—स्त्री या पुरुष—संघ में प्रवेश करने का इच्छुक होता था, तब उसे केश मुण्डन कर, पीले वस्त्र धारण कर स्थानीय संघ के सभापति के सम्मुख बुद्ध धर्म व संघ की भक्ति के प्रति निम्नलिखित शपथ लेनी पड़ती थी :

बुद्धं शरणं गच्छामि।
धम्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।

इसके पश्चात् उसे बुद्ध के दस[१] आदेशों को दुहराना पड़ता था। तब उसे एक भिक्षु के साथ रहना पड़ता था जो उसे कुछ प्रारम्भिक प्रशिक्षण देकर भिक्षु को एक परिषद् में उपस्थित करता और उसे संघ में प्रविष्ट करने के हेतु एक प्रस्ताव रखना था। स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर वह भिक्षु बन जाता था। इसके बाद उसे संघ के आन्तरिक अनुशासन को मानना पड़ता था।

संघ का संगठन एवं शासन जनतन्त्रवादी प्रणाली के अनुसार था। अपने सदस्यों को अनुशासन में रखने की उसे सत्ता प्राप्त थी और अनुशासन भंग करने वाले दोषी भिक्षु को दण्ड देने का अधिकार भी उसे था। जब कभी संघ की सभा (Meeting) होती थी भिक्षुगण अपनी वरिष्ठता (seniority) के अनुसार आसन ग्रहण करते थे। जब तक दस भिक्षुगण उपस्थित न होते सभा नहीं होती थी। गण-पूर्ति की यह संख्या सीमावर्ती प्रदेशों में पाँच कर दी गयी थी। स्त्रियाँ तथा नूतनाभ्यासी मत देने के अधिकार से वंचित थे। प्रत्येक प्रश्न उपस्थित भिक्षुओं के बहुमत से निश्चित होता था। सभा के अनेक प्रश्नों का बुद्ध के आदेशों व उपदेशों के अनुसार ही निर्णय होता था। सभापति को यह अधिकार था कि वह देखे कि संघ अपनी सीमा का उल्लंघन तो नहीं कर रहा है। अन्तिम सत्ता संघ की महासभा के हाथों में निहित थी। पूर्ण अनुशासन रखने के हेतु प्रत्येक विहार में प्रति माह दो सभाएँ होती थीं जिनमें अनुशासन के नियम पढ़े जाते एवं अपराध स्वीकृत किये जाते तथा अभियुक्तों को समुचित दण्ड दिया जाता था।

भिक्षु का जीवन—भिक्षु एवं भिक्षुणी का जीवन संघ के नियमों एवं बुद्ध के दस आदेशों द्वारा नियन्त्रित होता था। उन्हें व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने, फूल-मालाएँ एवं सुवासित गन्धों का प्रयोग करने, मादक द्रव्यों का सेवन करने, मांस भक्षण करने एवं नृत्य या संगीत में भाग लेना निषिद्ध था। वे भिक्षा-वृत्ति द्वारा अपना दैनिक भोजन प्राप्त करते थे। भिक्षुणियों के नियम और भी

---

[१] भिक्षु के दस आदेश या नियम निम्नलिखित थे :
(१) पर द्रव्य की चाह न करना, (२) हिंसा न करना, (३) असत्य भाषण न करना, (४) मद्यपान या मादक द्रव्यों का सेवन न करना, (५) व्यभिचार न करना, (६) संगीत व नृत्य में भाग न लेना, (७) अंजन, फूल और सुवासित द्रव्यों का प्रयोग न करना, (८) कुसमय भोजन न करना, (९) सुखप्रद शैय्या का उपयोग न करना, (१०) द्रव्य ग्रहण न करना और न रखना।

अधिक कठोर थे। यह भय था कि यदि उन्हें समानता दी जायगी तो इससे अनुशासन भंग होगा तथा अनैतिकता की वृद्धि होगी। गौतम बुद्ध संघ में स्त्रियों के सम्मिलित होने के पक्ष में नहीं थे, परन्तु अपने प्रमुख शिष्य आनन्द के बार-बार निवेदन करने पर उन्होंने इसके लिए अनिच्छा से स्वीकृति दे दी।

वर्ष के आठ माह तक भिक्षु विहार के पार्श्ववर्ती प्रदेशों में भ्रमण करते तथा उपदेश देते थे और वर्षा के चार माह के लिए विहार में रहते थे। इस काल में संध्या को वे साधारण जनता को वर्तमान युग की कथा के समान पवित्र धर्म का उपदेश देते थे।

संघ के दोष व गुण—संघ का महान् दोष यह था कि समस्त स्थानीय संघों का समन्वय करने वाली कोई केन्द्रीय सत्ता न थी और न विभिन्न संघों का प्रतिनिधित्व करने वाली कोई केन्द्रीय संस्था ही थी। परिणामस्वरूप छोटे-छोटे मतभेद पर फूट व भेद की भावना को प्रोत्साहन मिला। अतएव बार-बार महासभा को आमन्त्रित कर मतभेदों पर विचार-विनिमय कर उनका निर्णय करना पड़ा।

संघ की महत्त्वशाली बात यह थी कि अपने धार्मिक ग्रन्थों तथा उपदेशों के प्रसार के लिए जनसाधारण की बोलचाल की भाषा अपनायी गयी, संस्कृत को टाल दिया गया क्योंकि वह साधारण जनता के लिए दुर्बोध थी। संघ ने बौद्ध धर्म के विकास में बड़ा सहयोग दिया। "इसे नागार्जुन, अरुण, वसुबन्धु, आर्यदेव जैसे धुरन्धर विद्वान्; बोधिधर्म, दीपंकर, श्रीज्ञान जैसे प्रचारक; धर्मकीर्ति और दिग्नाग जैसे वाद-विवाद महारथी, विमुक्तसेन, कमलशील जैसे लेखक; तथा कुमारजीव, जिनमित्र जैसे अनुवादक उत्पन्न करने का श्रेय है। इनसे एशिया के बड़े भाग को प्रकाशित करने वाले बौद्ध ज्ञान का आलोक प्रसारित हुआ।"

बौद्ध धर्म एवं हिन्दू धर्म की विवेचना—यह अनेक बार कहा गया है कि बौद्ध धर्म नवीन धर्म नहीं था, यह तो ब्राह्मणों की व्यापारिक क्रिया-विधियों के विरुद्ध क्रान्ति एवं जाति-प्रथा के विरोध में एक दृढ़ आन्दोलन था। इसने जनता के सम्मुख व्यावहारिक नैतिक नियम रखे जिनसे वह पहले ही परिचित थी। वस्तुतः यह धर्म-सुधार का एक आन्दोलन था जिसका उद्देश्य हिन्दू धर्म में घुसे दोषों का निवारण करना था। अतएव कोई आश्चर्य नहीं, यदि हिन्दू तथा बौद्ध धर्म में परस्पर अनेक बातों में समानता हो।

सिद्धान्त—हिन्दू धर्म का विश्वास है कि ईश्वर, प्रकृति (Matter) और आत्मा तीनों के अपने अस्तित्व हैं और ईश्वर सृष्टि का सृजन करने वाला है। है। बौद्ध धर्म प्रकृति और आत्मा के दो विभिन्न अस्तित्व में विश्वास करता है। बौद्ध विचारधारा में ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। बुद्ध ही सर्वप्रथम व्यक्ति नहीं थे जो अज्ञेयवाद को अपनाकर हिन्दू धर्म से विलग हुए। इनके पूर्व कपिल तथा कणाद ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया था।

हिन्दू धर्म वेदों को पवित्र तथा अपौरुषेय मानता है और इस धर्म के अनुसार मुक्ति की प्राप्ति के हेतु वैदिक क्रिया-विधियां तथा अनुष्ठानों का होना अनिवार्य है। वस्तुतः वेद हिन्दू धर्म की हड्डी है। परन्तु बौद्ध धर्म वेदों की प्रामाणिकता को अंगीकार नहीं करता और यज्ञों एवं अन्य कर्मकाण्डों में भी विश्वास नहीं करता। वैदिक कर्मकाण्ड मुक्ति-प्राप्ति के लिए अनिवार्य नहीं है। वास्तव में, बौद्ध धर्म यज्ञों तथा कर्मकाण्डों के विरुद्ध क्रान्ति थी।

दोनों धर्मों में जीवन का अन्तिम लक्ष्य एक ही है—जीवन और मरण की शृंखला से छुटकारा पाकर मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करना। दोनों ही धर्म आत्मा के पुनर्जन्म एवं कर्म के नियमों में दृढ़ विश्वास करते हैं। गौतम बुद्ध के सिद्धान्त वास्तव में ब्राह्मणों के पुनर्जन्म, कर्म एवं मोक्ष के विचारों पर अवलम्बित थे। अपने जीवनकाल में ही बुद्ध के शिष्यों में अनेक योग्य ब्राह्मण थे। ब्राह्मण धर्म पर आक्रमण करने का उन्होंने निषेध कर दिया था और उन्होंने इस धर्म के साथ संघर्ष या मतभेद को कभी भी प्रोत्साहित नहीं किया। हिन्दू धर्म के वेदों में वर्णित सिद्धान्त अति जटिल, गूढ़ तथा साधारण जनता के लिए दुर्बोध है। इसके विपरीत, बौद्ध धर्म के सिद्धान्त बहुत ही सादे तथा संक्षिप्त एवं साधारण जनता के लिए बोधगम्य हैं। हिन्दू धर्म भाव-प्रधान, अमूर्त एवं दार्शनिक है, पर बौद्ध धर्म व्यावहारिक, क्रियाशील एवं नैतिक है।

धार्मिक विधियाँ—धार्मिक रीति-रिवाजों में हिन्दू धर्म विस्तृत समारोह, कर्मकाण्ड, मन्त्रोच्चारण, दैनिक प्रार्थनाएँ एवं स्तुति में विश्वास करता है। यह नैतिक और सद्गुण सम्पन्न जीवन पर, जो मुक्ति की ओर ले जाता है, अधिक जोर देता है। हिन्दू धर्म के समारोह तथा अनुष्ठानों में यज्ञ और पशु-बलि होती है, इसके विपरीत बौद्ध धर्म में प्राणीमात्र के प्रति अहिंसा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है। वस्तुतः अहिंसा बौद्ध धर्म के नैतिक सिद्धान्तों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है।

हिन्दू धर्म में कोई व्यक्तिगत तत्त्व नहीं है परन्तु बौद्ध धर्म में इसे प्रवृत्त कर दिया गया और बुद्ध को रक्षक मान, बाद में प्रतिमा के रूप में उसकी पूजा तथा आराधना की गयी। बुद्ध ने देवता या ईश्वर का स्थान ले लिया।

हिन्दू धर्म संस्कृत के माध्यम द्वारा, जो उनके धार्मिक ग्रन्थों की भाषा थी, आध्यात्मिक तथा धार्मिक उपदेश देता रहा। परन्तु बौद्ध धर्म जनसाधारण की बोलचाल की भाषा में अपने आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार करता रहा और उसी में अपने धार्मिक ग्रन्थों की रचना व संकलन किया।

यद्यपि जिन व्यावहारिक नैतिक सिद्धान्तों का उपदेश बौद्ध धर्म ने दिया, वे हिन्दू-जीवन के आदर्शों से भिन्न नहीं थे, तथा एक ब्राह्मण या हिन्दू इहलोक व परलोक के जीवन की समस्याओं पर विचार-विनिमय कर सकता था।

इसके विपरीत, एक बौद्ध-धर्मावलम्बी इस पृथ्वी पर इस जीवन की सच्चरित्रता, सदाचारिता एवं धर्मपरायणता पर ही जोर देता था।

सामाजिक व धार्मिक संस्थाएँ—दोनों धर्मों की सामाजिक व धार्मिक संस्थाओं की दृष्टि से, हिन्दू समाज चतुर्वर्ण-व्यवस्था पर, जिसमें ब्राह्मणों का प्रभुत्व है, संगठित है। जाति-प्रथा एवं ब्राह्मणों की प्रधानता हिन्दू धर्म की दो विशिष्टताएँ हैं। बौद्ध धर्म में ऐसा कोई भेदभाव नहीं है। वहाँ सभी समान हैं। वह पुरोहित वर्ग में अस्तित्व को नहीं मानता। बौद्ध-समाज लोकतन्त्रामक है जिसमें एक निम्न श्रेणी के व्यक्ति को वे ही अधिकार व सुविधाएँ हैं जो कुलीन वर्ग के व्यक्ति को, यदि उसका चरित्र ठीक है। बुद्ध की सबसे क्रान्तिकारी घोषणा यही थी कि उनके सन्देश सबके लिए हैं। नर और नारी, युवा एवं वृद्ध, रंक तथा राजा सभी समान रूप से उस पर आचरण कर सकते हैं।

हिन्दू धर्म में साधु गणों या साध्वियों का कोई नियमित सुव्यवस्थित संघ नहीं रहा है। बौद्ध धर्म ने ऐसे संघ की स्थापना की। बौद्ध धर्म के आविर्भाव तथा विकास में इन विहारों एवं संघों ने अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण योग दिया है। संघों में धर्म-प्रचार की तीव्र भावना से बौद्ध धर्म बहुत गतिशील रहा और यही कारण था कि मानव जाति के चतुर्थांश लोग इसके अनुयायी हो गये। इसके विपरीत, हिन्दू धर्म में कभी भी उग्र धर्म-प्रसार की भावना न रही और उसने कभी भी विधर्मियों को परिवृत्त करने का प्रयास नहीं किया, अतएव यह सदैव गतिहीन ही रहा।

सामाजिक दृष्टिकोण से हिन्दू धर्म में अन्तर्ग्राह्यता या अनुकूलीकरण-क्षमता (adaptability) न थी, परन्तु बौद्ध धर्म बहुत परिवर्तनशील रहा और जिन देशों में इसका प्रचार हुआ वहाँ की आवश्यकताओं के अनुकूल यह हो गया।

जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म

समानताएँ—जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म में अनेक पारम्परिक समानताएँ हैं। दोनों ही हिन्दू धर्म की भ्रष्टता के विरोध में धार्मिक सुधार के आन्दोलन करते रहे। ये दोनों ही धार्मिक क्रान्ति के परिणाम थे, जो ईसवी पूर्व छठी शताब्दी में हुई थी। ये हिन्दू धर्म की प्रशाखाएँ थीं। शाश्वत सत्य की अपनी खोज में इन्होंने कोई नवीन धार्मिक मार्ग का प्रतिपादन नहीं किया, परन्तु हिन्दू धर्म के प्राचीनतम पथ का ही अनुकरण किया। साधारण जनता के सम्मुख जिस उद्देश्य (निर्वाण) को उन्होंने रखा था, वह वही था जिसके लिए हिन्दू धर्म सतत् प्रयत्नशील था। अतएव दोनों ने हिन्दू धर्म के दो प्रसिद्ध सिद्धान्त—कर्म एवं आत्मा का पुनर्जन्म—अंगीकार कर लिये। ये इन्हें मोक्ष-प्राप्ति के अर्थ में अपरिहार्य मानते थे। दोनों ने व्यक्ति के पुनर्जन्म का कारण कर्म बताया। दोनों ही रूढ़िवादी सनातनी हिन्दू धर्म से इस विश्वास में भिन्न

थे कि कर्म के नियमों की प्रक्रिया निर्दयता से अपने आप ही होती रहती है। जैन और बौद्ध धर्म दोनों ही का यह मत था कि कर्म का कानून मनुष्य या देवता सभी प्राणियों के ऊपर है और ईश्वर या देवगण भी कर्म के नियमों की प्रक्रिया में परिवर्तन करने में असमर्थ हैं। अतएव ब्राह्मणों की देवगणों को यज्ञों से प्रसन्न करने की विधियाँ एवं वैदिक अनुष्टान मोक्ष-प्राप्ति के लिए सर्वथा निरर्थक हैं। अपने स्वयं के सद्‌गुण-सम्पन्न कार्यों से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है, ईश्वर या देवताओं का ध्यान करने से नहीं, क्योंकि ये स्वयं भी कर्म के कानून के अन्तर्गत हैं। अतएव जैन और बौद्ध दोनों धर्मों ने ब्राह्मणों की धार्मिक क्रिया-विधियों व समारोहों का विरोध किया, वेदों की प्रामाणिकता स्वीकृत नहीं की, रक्तिम यज्ञों से घृणा कर उनकी घोर निन्दा की एवं ईश्वर को विश्व का स्रष्टा नही अंगीकार किया। ब्रह्मा के विषय में वे उदासीन थे।

बौद्ध एवं जैन धर्म दोनों ने ही सच्चरित्रता, धर्मपरायणता तथा पवित्र जीवन का समर्थन किया और अशुभ विचारों एवं कार्यों का निषेध किया तथा कर्म व वचन से प्राणीमात्र को कष्ट न देने का आदेश दिया। दोनों ने ही अहिंसा के सिद्धान्त पर जोर दिया। इस विषय में जैन बौद्धों से अधिक आगे बढ़े हुए हैं।

महावीर एवं बुद्ध दोनों ने ही अपने धर्म का उपदेश साधारण जनता की बोलचाल की भाषा में दिया, जाति-प्रथा का प्रतिरोध किया और नर-नारी की समानता का समर्थन किया। दोनों ही श्रद्धालु अनुरागी धर्म-प्रचारकों के सुव्यवस्थित संघ थे और दोनों ही सांसारिक विषय-वासनाओं से मुक्त अपने-अपने धार्मिक संघ की सहायता व सहयोग पर अवलम्बित थे। हिन्दू धर्म में इसका सर्वथा अभाव था।

जैन व बौद्ध दोनों धर्मों के प्रवर्तक क्षत्रिय राजकुमार थे जिन्होंने उपनिषदों के उपदेशों से प्रेरणा ग्रहण की। अतएव उनकी सफलता अधिकांशतः क्षत्रिय नरेशों तथा राजकुमारों के आश्रय पर निर्भर थी।

विषमताएँ—समान काल में उदित एवं समान देश में प्रचारित होने के कारण जैन तथा बौद्ध धर्मों में समानता स्वाभाविक थी परन्तु इनमें पारस्परिक गहरे मूल विरोध भी थे। जैन धर्म में साधारण जनता को अत्यधिक महत्त्व दिया गया था परन्तु बौद्ध धर्म ने संघ की शक्ति पर विश्वास किया। निर्वाण के सम्बन्ध में उनके विचार मूलतः असमान हैं। बौद्ध धर्म के अनुसार निर्वाण अस्तित्व से मुक्ति है, किन्तु जैन धर्म के अनुसार निर्वाण शरीर से छुटकारा है। बौद्धों के अनुसार निर्वाण वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति का पूर्णरूपेण नाश हो जाता है, लेकिन जैनियों के लिए निर्वाण एक अनन्त आनन्द की अवस्था है। जैन लोग कठोर तपस्या में विश्वास करते हैं एवं शरीर को

यातनाएँ देना निर्वाण-प्राप्ति के लिए अनिवार्य मानते हैं; परन्तु बौद्ध लोग इससे घृणा करते हैं और इसकी घोर निन्दा करते हैं। शरीर की यातना को जहाँ जैन इतना गौरव प्रदान करते हैं, बौद्ध अत्यन्त विलासिता एवं तप के बीच के मध्यम मार्ग को सराहते हैं। अहिंसा के सिद्धान्त में दोनों ने विश्वास किया, परन्तु जैनियों ने अहिंसा को उस पराकाष्ठा तक पहुँचाया है जिसकी कल्पना भी बौद्ध लोग नहीं कर सकते थे। जैनियों का विश्वास है कि पेड़-पौधों तथा वनस्पति-वर्ग में भी प्राण है। ये विश्व के कण-कण में जीवन का साक्षात्कार करते हैं।

जैन धर्म ब्राह्मणों की अनेक धार्मिक क्रिया-विधियों तथा समारोहों का एवं जाति-प्रथा का सुधरा हुआ रूप अपनाये हुए है, किन्तु बौद्धों ने इन्हें पूर्णतया अपने से अलग कर दिया है। बौद्ध धर्म भारत के बाहर अनेक देशों में प्रसारित हुआ और आज भी विश्व के चतुर्थांश मानवों का धर्म है। किन्तु जैन धर्म का प्रचार भारत से बाहर कभी नहीं हुआ और इसके अनुयायियों की संख्या बहुत ही सीमित रही।

बौद्ध धर्म की प्रशाखाएँ—बुद्ध के देहावसान के एक सदी पश्चात् बौद्ध संघ दो प्रशाखाओं में विभाजित हो गया—'महासांघिक' एवं 'स्थविर वादिन'। बौद्ध धर्म को 'जातक' तथा 'अवदान' द्वारा अधिक लोकप्रिय बनाने का यह परिणाम था। वह प्रगतिशील प्रशाखा जो अनुशासन के नियमों की कठोरता को कम करना चाहती थी 'महासांघिक' नाम से प्रख्यात हुई, किन्तु वह रूढ़िवादी प्रशाखा जो कठोर संघ-जीवन के मूल के विचार तथा दृढ़ अनुशासन के नियमों का प्रतिपादन करती थी 'थेरा' या 'स्थविर वादिन' नाम से प्रसिद्ध हुई। महासांघिक ने, जो बौद्ध-भिक्षुओं का प्रगतिशील भाग था, साधारण जनता में बौद्ध धर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न करने के हेतु 'परमित' (दान, सहिष्णुता, उदारता के गुण) के सिद्धान्तों का उपदेश देना प्रारम्भ किया। पाली-पिटकों में प्रतिपादित कठोर भिक्षु जीवन के विरोध में उन्होंने एक नवीन आन्दोलन का श्रीगणेश किया। यह आन्दोलन बौद्ध धर्म को एकान्त विहारों में से नगरों एवं ग्रामों में ले आया और इसे एकान्तवासियों के धर्म से जनता के धर्म में परिवर्तित कर दिया। अब साधारण व्यक्ति चैत्य या बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण कर और उसकी फूलों से पूजा कर तथा कुछ भेंट आदि समर्पण कर धर्म का लाभ उठा सकता था। जब भिक्षु-गण उग्र, रुक्ष एवं कठोर विधियों का पालन अपने विहारों में करते थे, लोग बुद्ध की पूजा करते और विशाल स्मारक निर्माण कर, उनके ऊपर बुद्ध जीवन के विविध दृश्यों को अंकित कर, ईश्वर के प्रति श्रद्धा व भक्ति की अभिव्यंजना करते थे (क्योंकि अब बुद्ध उनके लिए एक महान् सन्त नहीं, अपितु ईश्वर हो गये)। यह अलं-

कृत तथा भाव-प्रधान बौद्ध धर्म लोकप्रिय हो गया। इसका आविर्भाव ईसा से पूर्व द्वितीय शताब्दी में हुआ और सम्राट अशोक के राज्यकाल में यह फला-फूला। ईसा से पूर्व प्रथम सदी में बौद्धों की चतुर्थ महासभा के पश्चात् सम्राट कनिष्क के शासनकाल में इस धर्म में अधिक सैद्धान्तिक परिवर्तन कर दिये गये। इससे महायान सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। यह कुछ अंशों में तो अश्वघोष जैसे विद्वान ब्राह्मणों के, जिन्होंने बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया था, हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म को परस्पर समन्वय करने के प्रयासों का फल था; और कुछ अंशों में उन अनेक नवीन प्रभावों—यूनानी, ईसाई, पारसी, मध्य एशिया—का फल था जो उत्तर-पश्चिम भारत के जीवन में घर कर रहे थे। जब विदेशी आक्रमणकारियों ने बौद्ध धर्म को अपना लिया तब उसकी मूल विशिष्टताएँ विलुप्त हो गयीं। बुद्ध अतीत के धर्मोपदेशक नहीं रहे, पर वे राम और कृष्ण के समान मानव जाति के मुक्ति के उद्धारक व ईश्वर हो गये। बौद्धों ने अवतार-सिद्धान्त को अपना लिया और ऐतिहासिक गौतम बुद्ध आदि बुद्ध के विविध अवतारों के अन्तिम अवतार माने जाने लगे और उनकी प्रतिमा की पूजा होने लगी। इसके साथ ही साथ अनेक लक्षणों तथा विशिष्टताओं वाले कई देवी-देवताओं की भी उत्पत्ति हुई। यह बौद्ध धर्म का एक नवीन रूप, महायान था। आदि बुद्ध के अवतार के रूप में बुद्ध की पूजा करने के अतिरिक्त महायान मत ने यह भी घोषणा की कि निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य पुनः इस पृथ्वी पर नहीं आता; अतएव वह किसी भी कार्य के लिए, मानवता की सेवा के लिए भी सर्वथा असमर्थ है। किन्तु जिन्हें अभी तक निर्वाण प्राप्त नहीं हुआ है और जो उसकी अभिप्राप्ति के हेतु प्रयत्नशील हैं, वास्तव में वे पीड़ित संसार का बहुत कुछ कल्याण कर सकते हैं। बोधिसत्व ही ऐसा व्यक्ति है जो अनेक जीवनों से बुद्धत्व-पद प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है; इसलिए वही मानवता का वास्तविक उपकारकर्ता है। अतः महायान ने बुद्ध की अपेक्षा बोधिसत्व के आदर्श को अधिक महत्त्व दिया है। महायानियों ने अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्वों में विश्वास किया एवं उनकी मूर्ति-पूजा से मुक्ति मानी। यद्यपि बोधिसत्वों की कल्पना से बौद्ध लोग बहुत पहले से ही अवगत थे, तथापि महायान मत ने इसे अधिक महत्त्वशाली बताया और इसे एक सम्प्रदाय बना दिया। इन महायान का महान् समर्थक नागार्जुन था जो दूसरी या तीसरी सदी में था। अन्य समर्थकों में वसुबन्धु, आसंग, दिगनाग और धर्मकीर्ति थे। कालान्तर में महायान भी अनेक प्रशाखाओं, जैसे शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि, में विभक्त हो गया।

यह महायान प्राचीन वास्तविक बौद्ध धर्म से जिसे हीनयान कहते थे, अनेक बातों में भिन्न था। बुद्ध तथा बोधिसत्व की मूर्ति पूजा का प्रारम्भ, जो महा-

यान मत की विलक्षणता थी, हीनयान मत के सर्वथा प्रतिकूल थी। दूसरी विरोधी विलक्षणता यह थी कि हीनयानियों की यह धारणा थी कि व्यक्तिगत रूप से सच्चरित्र जीवन व्यतीत करने से निर्वाण की प्राप्ति होती है, पर महायानियों का विश्वास था कि निर्वाण की अभिप्राप्ति के हेतु बुद्ध के प्रति भक्ति एवं श्रद्धा तथा उनका पूजन अनिवार्य है। अतएव उन्होंने धार्मिक विधियों, समारोहों, आकर्षणों तथा सूत्रों से मूर्ति-पूजन का प्रारम्भ व प्रसार किया। विश्वास और श्रद्धा ने विवेक का स्थान ले लिया और भक्तिभावपूर्ण पूजन ने स्वयं-प्रयास का स्थान ग्रहण कर लिया। इन दोनों सम्प्रदायों में दूसरा महत्त्वशाली अन्तर यह था कि हीनयान के समस्त धार्मिक ग्रन्थ पाली भाषा में लिखे गये परन्तु महायान ने संस्कृत का आश्रय लिया। इसके अतिरिक्त दोनों यानों में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक प्रश्नों तथा बुद्ध के वास्तविक स्वरूप पर मौलिक मतभेद था।

बौद्ध धर्म का उत्थान

थोड़े ही समय में बौद्ध धर्म समस्त भारत में व्याप्त हो गया। अपने देहावसान के पूर्व ही बुद्ध को देखकर सन्तोष हुआ था कि मगध, कोशल, कौशाम्बी जैसे शक्तिशाली राज्यों के नरेश एवं जनता तथा विज्जी, मल्ल तथा शाक्य प्रजातन्त्रवादी राज्यों की साधारण जनता ने बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया था और समस्त मध्य भारत (मज्झी देश, Middle India) में बौद्ध विहारों का जाल-सा विस्तृत था। अशोक तथा कनिष्क के शासन में वह राज्य-धर्म हो गया था। सातवीं सदी के अन्त तक यह समृद्धिशाली रहा जैसा कि ह्वानच्यांग तथा इत्सिंग के वर्णनों से प्रमाणित होता है। नालन्दा के महान् विहार बौद्ध धर्म के महत्त्वशाली केन्द्र थे। बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दियों में बंगाल और बिहार के पाल नरेशों के राज्याश्रय में यह धर्म बना रहा। इस पाल युग में अनेक भारतीय आचार्य तिब्बत गये जहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म को सुदृढ़ बनाया तथा सहस्रों बौद्ध-ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। पाल राज्य के उत्तर-पश्चिम प्रदेश में कान्यकुब्ज के शासक बौद्ध धर्म के संरक्षक थे। उन्होंने भव्य बौद्ध विहारों का निर्माण किया और उन्हें उदारता से दान दिया। नवीं तथा दसवीं सदी की अनेक बौद्ध प्रथाएँ महोबा, एलोरा, नासिक तथा दक्षिण के अन्य अनेक भागों में दृष्टिगोचर हुई हैं। औरंगाबाद तथा अन्य स्थलों में अपूर्ण बौद्ध गुहा-मन्दिर पाये गये हैं। बारहवीं सदी तक बौद्ध धर्म आन्तरिक रूप में दुर्बल और भ्रष्ट होने पर भी भारत में प्रचलित था। इसके बाद यवन-काल में भारत से यह विलुप्त हो गया परन्तु भारत के बाहर फलता-फूलता रहा।

ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में जब सम्राट् अशोक इस धर्म के महान् भक्त

और उपासक हुए, तब बौद्ध धर्म भारत के बाहर व्याप्त होने लगा। बौद्ध धर्म के प्रचारकों ने लंका और ब्रह्मा (बर्मा) को अपने धर्म में परिवर्तित कर लिया था। एशिया माइनर के मैसोपोटामिया तथा सीरिया देशों में, अफ्रीका के मिस्र तथा यूरोप के मकदूनिया के देशों में भी वे पहुँच गये। उसी युग में बौद्ध धर्म मध्य एशिया में भी प्रसारित हो गया और एक अनुश्रुति के अनुसार अशोक का एक पुत्र कच्छ और उसके पार्श्ववर्ती प्रदेशों पर अपनी राज्यसत्ता स्थापित करने तथा बौद्ध धर्म का प्रचार करने में सफल रहा। अन्य अनुश्रुति के अनुसार चीन देश में बौद्ध धर्म बहुत ही पहले के युग में पहुँच गया था। चीनी भाषा में बौद्ध-ग्रन्थों का अनुवाद सर्वप्रथम कश्यप मातंग ने किया जो चीन देश को ई० सन् ५६ में गया था बौद्ध धर्म ने कोरिया में सन् ३७३ में प्रवेश किया जहाँ से वह जापान सन् ५३८ ई० में पहुँचा। ईसा की तीसरी सदी के पूर्व ही इण्डोचीन में बौद्ध धर्म व्याप्त हो चुका था और तिब्बत में ६४० ई० में। बौद्ध धर्म के भारत व अन्य देशों में लोकप्रिय होकर प्रसारित होने के निम्नलिखित कारण हैं :

१. **बौद्ध धर्म की सफलता**—बौद्ध धर्म भारत का सरल, प्रथम व लोकप्रिय धर्म था। यह वास्तव में भारत में ईसा पूर्व छठी सदी में प्रचलित यज्ञों एवं कर्मकाण्डों की जटिल प्रथा के विरुद्ध क्रान्ति था। तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों से लोग ऊब गये थे। ब्राह्मणों का अपने आदर्शों से पतन हो चुका था। समाज की नस-नस में अन्धविश्वास घर कर चुका था एवं तीव्र तपस्या, निष्ठुर शारीरिक यातनाएँ, घोर पश्चात्ताप, रक्तिम यज्ञों, वाह्य आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्डों तथा मन्त्रोच्चारण ने जनता में ब्राह्मण धर्म को अत्यन्त ही अप्रिय कर दिया था। बौद्ध धर्म ने अपने व्यावहारिक-नैतिक सिद्धान्तों सहित ऐसे अनाचार व अत्याचार से मुक्ति के लिए उद्धारक का कार्य किया। इस धर्म की सरलता एवं श्रेष्ठता से साधारण जनता आकर्षित हो गयी और सहस्रों की संख्या में लोग इस धर्म के उपासक हो गये। धर्म को खर्चीले तथा विस्तृत कर्मकाण्ड से मुक्त कर बुद्ध ने इसका द्वार जनसाधारण के लिए खोल दिया। व्यावहारिक-नैतिक आचरणों पर जोर देकर उन्होंने जनता का जीवन अधिक सुखी एवं स्वस्थ बना दिया। वैदिक धर्म में प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक देवता प्रधान उपास्य थे और उपनिषदों में निर्गुण ब्रह्म के गीत गाये गये थे। ये दोनों ही साधारण जनता के लिए दुर्बोध तथा दुरूह हो गये थे। इसके विपरीत, बौद्ध धर्म के अत्यन्त सरल व सुबोध सिद्धान्त ने और जीवन तथा सृष्टि की समस्याओं के सम्बन्ध में उनके विवेकशील मत ने जनता को अत्यधिक आकर्षित कर लिया।

२. **समानता की भावना**—बौद्ध धर्म की भावना अति उदार एवं अधि-

वासनशील (accommodating) थी। इसने जाति-प्रथा तथा पुरोहित वर्ग की प्रधानता में विश्वास नहीं किया। इसने सभी मनुष्यों को समान दृष्टि से देखा। बुद्ध के मतानुसार जाति सर्वोच्च सत्य-प्राप्ति के लिए अवरोधक नहीं थी। उनके धर्म का दरवाजा सभी के लिए—ऊँच और नीच, शिक्षित और अशिक्षित, ब्राह्मण और शूद्र, स्त्री और पुरुष—खुला था। उसमें किसी प्रकार का वर्ग-भेद, ऊँच-नीच या जाति-पाँति का भेद नहीं था। जाति के भेद-भावों का बहिष्कार कर और प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों की स्थापना कर बुद्ध ने समाज के उन निम्न श्रेणी के लोगों का स्तर उच्च कर दिया था जिन्होंने बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया था, इससे उन्हें सामाजिक व आध्यात्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी। दलित वर्ग को बौद्ध धर्म एक सामाजिक मुक्ति का द्वार सा दिखाई दिया।

३. **बौद्ध धर्म की अनुकूलता की शक्ति**—बौद्ध धर्म महान् परिवर्तनशील रहा है। वह सभी देशों की आवश्यकताओं के अनुकूल हो जाता था। थोड़े से परिवर्तन व सुधार से वह धर्म प्रत्येक स्थान के हेतु उपयुक्त हो जाता था। इसलिए भारत की सीमा के परे अधिक प्रसारित हो सका।

४. **लोकप्रिय भाषा का प्रयोग**—हिन्दू धर्म संस्कृत भाषा में गोपनीय हो गया था। जनता के लिए यह भाषा दुर्बोध हो गयी थी। इसके विपरीत, बुद्ध ने अपने सिद्धान्तों का उपदेश जनता की बोलचाल की भाषा में दिया। लोकप्रिय भाषा में दिये बुद्ध के व्यावहारिक तथा क्रियात्मक उपदेश साधारण अशिक्षित नर-नारी भी सरलता से समझ सके। महान् आध्यात्मिक सत्य उनकी ही भाषा में उनकी ग्राह्य-शक्ति के अन्तर्गत आ सके। इससे जनता अधिक आकर्षित हुई।

५. **बुद्ध का आकर्षक व्यक्तित्व एवं पवित्र चरित्र**—बुद्ध का आकर्षक व्यक्तित्व उन सभी व्यक्तियों के लिए जो उनके सम्पर्क में आये पारस पत्थर के समान था। उनका चरित्र इतना सरल एवं पवित्र था कि जो कोई भी उनके सम्पर्क में आया उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। अनुदार विद्वान् ब्राह्मणों की युक्तियों का जिस अकाट्य तर्क से वे खण्डन करते थे और उनके उपदेशों में गहरी मानवता की जो प्रेरणा थी, उससे पुरोहित, प्रजा तथा राजा सभी सन्तुष्ट हो गये थे। उनके कठोर, सच्चरित्र एवं पवित्र जीवन, उनके अकाट्य तर्क, सशक्त युक्तियाँ और सबल दलीलें, पूर्ण विवेक, मधुर, धारावाही तथा हृदयग्राही उपदेश से बुद्ध अपने ब्राह्मण विरोधियों पर खुले शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त कर सके। परिणामस्वरूप उनके महाकश्यप, सारिपुत्र, मोग्गल्लाना जैसे अनेक शिष्य ब्राह्मण थे जिन्होंने यज्ञों की निरर्थकता को समझ लिया था और बुद्ध के कर्म-नियमों की व्याख्या मान ली थी। वास्तव में अपने आदर्श

सिद्धान्तों को अपने जीवन में पूर्णरूपेण चरितार्थ करके बुद्ध ने अपने उपदेशों की श्रेष्ठता की धाक जनता पर जमा दी थी।

६. **राजकीय संरक्षण एवं आश्रय**—यदि राजकीय आश्रय का सहारा बौद्ध धर्म को न प्राप्त होता तो बौद्ध धर्म उपरोक्त विशिष्टताओं के होने पर भी हिन्दू धर्म की एक छोटी-सी प्रशाखा या सम्प्रदाय ही बना रहता। स्वयं कुलीन क्षत्रिय वंश के होने से बुद्ध के उपदेशों को नरेशों, राजकुमारों और अनेक कुलीन वंशों के लोगों एवं क्षत्रियों ने श्रवण किया तथा उन्हें अंगीकार भी कर लिया। इसके बाद बौद्ध धर्म का विश्वव्यापी प्रचार अशोक और कनिष्क के राज्याश्रय से हुआ। अशोक, जिसने धर्म को राज्य-धर्म के स्तर पर लाने के लिए कोई कसर उठा न रखी, इसे बहुत दूर-दूर तक प्रसारित किया। उसका पुत्र महेन्द्र तथा कन्या संघमित्रा बौद्ध धर्म-प्रचारक हो गये थे और लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार करने में वे अत्यधिक सफल हुए। अशोक ने अपने धर्म के सिद्धान्त स्तम्भों तथा चट्टानों पर उत्कीर्ण करा दिये। परिणामस्वरूप जहाँ मानव वाणी पहुँचने में असमर्थ थी वहाँ ये पाषाण जनता तक पहुँचकर उन्हें ज्ञान-आलोक देते थे। इस प्रकार अशोक के सतत प्रयासों ने भारत में बौद्ध धर्म को प्रधान धर्म बना दिया। यह राजकीय आश्रय एवं संरक्षण अन्य प्राचीन सम्राटों जैसे मलिन्दि (मिनेण्डर), कनिष्क और हर्ष ने बनाये रखा। इनके युग में बौद्ध धर्म के प्रचार-कार्य को बहुत प्रोत्साहन व बल प्राप्त हुआ।

७. **बौद्ध संघ**—शायद बौद्ध धर्म की लोकप्रियता और विकास का प्रमुख कारण बौद्ध संघ के प्रचार कार्य थे। बौद्ध धर्म-प्रचारक ज्ञान-आलोक के केन्द्र थे। वे निःस्वार्थ, त्यागी, हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले सच्चरित्र व्यक्ति थे। बौद्ध भिक्षुओं का जीवन इतना पवित्र और सरल था, उनमें सेवा की भावना इतनी कूटकूट कर भरी थी, उनमें आध्यात्मिक ज्ञान और नैतिकता का इतना बाहुल्य था कि साधारण जनता पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। बुद्ध ने उन्हें आदेश दिया था, "सदैव भ्रमण करते रहो।" उन्होंने कहा था, "ऐ भिक्षुओ, अनेक के लाभ के लिए, अनेक के सुख के लिए, विश्व के प्रति दयालुता के लिए, शुभ काम के लिए, हित के लिए एवं मनुष्य और देवताओं के कल्याण के लिए जाओ और भ्रमण करो।" इस प्रकार बौद्ध धर्म-प्रचारक मुक्ति का सन्देश घर-घर ले जाने के लिए, रंक और राजा, ऊँचे और नीचे सभी को समान रूप से देने के लिए प्रोत्साहित किये गये। इतिहास में बहुत कम धर्माचार्य ऐसे हुए हैं जिनके शिष्यों ने इतनी तत्परता और लगन के साथ, इतने त्याग और परिश्रम के साथ, इतनी नैतिकता और पवित्रता के साथ अपने गुरु के उपदेशों को देश-देशान्तर में प्रसारित करने का प्रयास किया

हो, जितना बुद्ध के शिष्यों ने। यही नहीं, जब भिक्षु-गण वर्षा ऋतु में विहार में रहते थे, तब भी वे अपना समय नष्ट नहीं करते थे। वे विहार में एकत्रित होने वाली उत्सुक जनता को आध्यात्मिक तथा नैतिक उपदेश देकर समय का सदुपयोग करते थे। इस प्रकार बौद्ध विहार वह केन्द्र था जहाँ ग्राम व नगर की जनता को निःशुल्क नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा दी जाती थी, जिससे मानव आत्मा सुखी होती और उसका कल्याण होता था। इसके अतिरिक्त बौद्ध-भिक्षु जिन साधारण नैतिक बातों का उपदेश देते थे, वे साधारण मनुष्य के लिए बोधगम्य थीं, परन्तु ब्राह्मण संन्यासी और आचार्य गूढ़ एवं जटिल दार्शनिक समस्याओं को समझाने का प्रयास करते और संस्कृत में रचित अपने धार्मिक ग्रन्थों में से प्रमाण देते थे। यह सब औसत मनुष्य के लिए दुर्बोध था। इस प्रकार बौद्ध भिक्षुणियों ने अपने जीवन और उच्च आदर्शों के साथ, अपने अदम्य उत्साह और निःस्वार्थ सेवा की भावनाओं से जनता के हृदयों को उनकी गहराई तक उत्तेजित कर दिया और बौद्ध धर्म का प्रचार-कार्य बड़ी दक्षता तथा सफलतापूर्वक किया।

८. उग्र प्रतिस्पर्द्धा वाले सम्प्रदाय का अभाव—धर्म-प्रचार के कार्य में बौद्ध धर्म की प्रतिस्पर्द्धा में कोई अन्य सम्प्रदाय नहीं था। हिन्दू धर्म में तो धर्म-प्रचार की भावना का सर्वथा अभाव था। ईसाई मत और इस्लाम धर्म का तो अभी आविर्भाव ही नहीं हुआ था। इस प्रकार बौद्ध धर्म अपनी इच्छानुसार प्रत्येक दिशा में स्वच्छन्दता से प्रसारित हो सका।

बौद्ध धर्म की अवनति

यद्यपि बौद्ध धर्म जनता में अत्यधिक लोकप्रिय हो गया था, परन्तु यह हिन्दू धर्म को समूल नष्ट करने में सर्वथा असमर्थ रहा। जब बौद्ध धर्म अपनी उन्नति की चरम सीमा पर था, तब भी उसकी प्रतिस्पर्द्धा वाले हिन्दू धर्म ने अपना अस्तित्व बनाये रखा। इसके बाद, जब बौद्ध धर्म अपने चरित्र में भ्रष्ट हो गया, तब हिन्दू नरेशों के संरक्षण में हिन्दू धर्म का पुनः उदय और विकास हुआ और बौद्ध धर्म का ह्रास हो गया। जब तक हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान न हो गया यह प्रक्रिया सदियों तक चलती रही। अन्त में, बौद्ध धर्म की प्राचीन शक्ति और सम्मान अपनी जन्मभूमि से ही पूर्णरूपेण विलुप्त हो गया। निम्नलिखित कारणों से इसका ह्रास हुआ :

१. बौद्ध धर्म का मूल दोष—बौद्ध धर्म का प्रारम्भ एक सरल और सादे धर्म के रूप में हुआ था। परन्तु कालान्तर में यह अति संयमी हो गया। समय आने पर इसका कठोर अनुशासन इसके अनुयायियों के लिए कष्टमय हो गया और वे इससे छुटकारा पाने के लिए लालायित हो गये। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म ईश्वर के प्रति उदासीन रहा, जबकि उसके प्रतिद्वन्द्वी हिन्दू धर्म ने

अलौकिक व्यक्तियों की समस्त रहस्यमयी बातों के साथ ईश्वर को प्रधानता दी। बौद्ध धर्म का अनीश्वरवाद या उसकी नास्तिकता की प्रवृत्ति से लोगों ने उससे मुँह मोड़ लिया।

२. **बौद्ध धर्म में नैतिक पतन**—कालान्तर में बौद्ध धर्म में ब्राह्मण धर्म के वे ही अंग प्रविष्ट हो गये जिनके विरुद्ध बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध ने अपनी आवाज बुलन्द की थी। महायान के प्रादुर्भाव ने बुद्ध और बोधिसत्वों की पूजा तथा उपासना प्रारम्भ कर दी और अनेक देवताओं का सृजन किया, जैसे अवलोकितेश्वर, मंजुश्री आदि। प्रत्येक स्थल पर बुद्ध और बोधिसत्वों की पूजा होने लगी और इनके लिए लोगों ने महान् भव्य मन्दिरों का निर्माण किया।

बौद्ध विहारों में जिन अनेक अयोग्य व्यक्तियों ने प्रवेश किया था, उन्होंने अनुशासन के अनेक नियमों की अवहेलना की एवं दूषित विलासप्रिय जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया। अतः उन्होंने कुछ ऐसी क्रिया-विधियों को चलाना चाहा जो बौद्ध धर्म की नैतिकता के सर्वथा विरुद्ध थीं और उन्होंने स्वयं अपने सिद्धान्तों पर अनेक ग्रन्थों की रचना कर डाली। बौद्ध धर्म का यह रूप तान्त्रिक या वज्रयान बौद्ध धर्म कहलाता है। इस रूप ने अनेक गूढ़ रहस्यमय क्रिया-विधियों का, जिनमें स्त्री और मद्य अत्यन्त ही अनिवार्य थे, प्रतिपादन किया। वज्रयान या तान्त्रिक बौद्ध धर्म के अनुयायियों ने ब्रह्म और आत्मा सम्बन्धी शक्तियों को प्राप्त कर लेने का दावा किया। ये शक्तियाँ अध्यात्मवाद मानी जाने लगीं। गूढ़ रहस्यमय क्रिया-विधियों के प्रचलन, ईश्वर व आत्मा-सम्बन्धी शक्तियों का प्रदर्शन, जादू-टोने, मन्त्र-तन्त्र और मन्दिरों तथा विहारों में सैकड़ों देवी-देवताओं के पूजन ने शाक्य मुनि के बौद्ध धर्म को बारहवीं सदी के अन्त में इस प्रकार पूर्णरूपेण परिवर्तित कर दिया था कि प्राचीन बौद्ध धर्म का कोई चिह्न भी अवशिष्ट न रहा था और रहस्यवाद तथा तन्त्रवाद ने इसका स्थान ले लिया था। इस प्रकार वज्रयान के प्रचलन ने बौद्ध धर्म की समस्त नैतिक शक्तियों को नष्ट कर, उसके अन्तर्भाग तक को सड़ा-गला कर, उसकी नींव को खोखला कर दिया और इस प्रकार उस धर्म को विलुप्त करने में योग दिया।

३. **संघों का अधःपतन**—कालान्तर में संघ में अनेक दुर्गुण घर कर गये। तान्त्रिक बौद्ध धर्म ने संघों के नैतिक उत्साह और स्फूर्ति को नष्ट करने में योग दिया। इसके अतिरिक्त बौद्ध विहारों को धनवान और गरीबों ने सोना-चाँदी और रत्नों के जो उपहार दिये थे उनसे संघों के कोषों में नृपतियों के कोषों की अपेक्षा अधिक धन-द्रव्य संग्रहीत हो गया था। इससे विहारों में भोग-विलास तथा सुख-वैभव के जीवन का सूत्रपात हुआ जिसके परिणाम-स्वरूप अध्यात्मवाद विषाक्त हो गया। बुद्ध के दस आदेशों की प्रायः

अवहेलना की जाने लगी और त्याग तथा सेवा का जीवन लुप्त हो गया। जैसे ही संघों और विहारों में भ्रष्टाचार की वृद्धि हुई, बौद्ध भिक्षुओं की, जो समस्त बौद्ध समाज के नेता थे, सच्चरित्रता तथा अन्य प्रशंसनीय गुणों का यश-गौरव नष्ट हो गया। उनकी प्रतिष्ठा और सत्ता की नींव डगमगा उठी और परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म के प्रचार का सबसे अधिक प्रभावशाली यन्त्र—संघ—नष्ट हो गया।

४. **राज्याश्रय का अभाव**—अपने राजवंशीय उपासकों के अलौकिक प्रयासों के फलस्वरूप बौद्ध धर्म विश्व-धर्म के पद पर पहुँच गया था। अशोक और कनिष्क जैसे सम्राटों ने बौद्ध धर्म के हेतु अपने राज्य की शक्तियों का प्रयोग किया। उनके देहावसान के पश्चात् बौद्ध धर्म से राज्य-संरक्षण जाता रहा, फलतः उसका पतन शीघ्र हो गया।

५. **हिन्दू धर्म की एकीकरण की शक्ति**—हिन्दू धर्म में अन्य धर्मों का एकीकरण कर लेने की विलक्षण शक्ति है। विदेशी धार्मिक विश्वासों, सिद्धान्तों और संस्कृतियों को अपना लेने की यथेष्ट योग्यता हिन्दू धर्म में है। हिन्दू धर्म की इस समन्वयात्मक शक्ति के कारण ही हूणों के समान विदेशी लोग भी हिन्दू-समाज में अपना लिये गये। परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म के अनुयायियों की संख्या बढ़ती गयी। इसके विपरीत, बौद्ध धर्म के उपासकों की संख्या, उसके कठोर संयम तथा एकान्तवादिता के कारण कम होती गयी।

६. **ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान**—राजनीतिक क्षेत्र में गुप्त सम्राटों के उत्कर्ष ने साथ-साथ ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान का आन्दोलन, जिसका सूत्रपात पहले ही हो चुका था, अत्यधिक गतिशील हो गया। गुप्त सम्राट् उत्साही हिन्दू थे और उदारता से उन्होंने ब्राह्मणों का, उनके धर्म तथा उनकी भाषा—संस्कृत—का संरक्षण किया था। उनकी सक्रिय सहायता से ब्राह्मण धर्म ने पुनः अपना उत्साह प्राप्त कर लिया और बौद्ध धर्म का घोर विरोध किया। ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के समय ब्राह्मण विचारकों ने हिन्दू धर्म की सर्व-श्रेष्ठता का प्रदर्शन किया। परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म अपनी लोकप्रियता को को, पुनः प्राप्त करने लगा और बौद्ध धर्म क्षीण होने लगा।

७. **मुसलमानों के आक्रमण**—जब बौद्ध धर्म का अधःपतन हो रहा था, तुर्कों ने देश पर आक्रमण किया। उन्होंने विशाल बौद्ध-मन्दिरों तथा विहारों को, जिनमें नालन्दा भी था, विनष्ट कर दिया और भिक्षुओं को मृत्यु के घाट उतार दिया। अवशिष्ट बुद्ध भिक्षु तिब्बत भाग गये और उनके भक्त हिन्दू बन गये। बौद्ध धर्म के लिए यह अन्तिम घातक आघात था।

राज्याश्रय के अभाव, हिन्दू धर्म की समन्वय शक्ति और गुप्त सम्राटों के संरक्षण में ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान ने इस देश में बौद्ध धर्म के विलुप्त करने

में पूर्ण योग दिया था। परन्तु वास्तविक कारण तो बौद्ध धर्म और बौद्ध-संघ का वह नैतिक अधःपतन और भ्रष्टता थी जो उनके अस्तित्व के अन्तिम दिनों में उनमें आ गयी थी। यह उसी काल में हुआ जब कि मुसलमानों के आक्रमण, संपीड़न और संहार का दौर प्रारम्भ हो गया था। परन्तु यह कहना कि मुसलमानों के संपीड़न और संहार से बौद्ध धर्म विलुप्त हो गया, असत्य है। बौद्ध धर्म का पतन इतना गहन था और उसके संघ इतने विलासप्रिय और लज्जाविहीन हो गये थे कि बौद्ध धर्म अवसन्न हो गया था। परन्तु इसी युग में ब्राह्मण धर्म मुस्लिम संपीड़न में रहने पर भी जीवित रहा और बाद में समृद्धिशाली हुआ। यवनों की यातनाओं और संपीड़न के कारण अनेक बौद्ध विहार और भिक्षुओं का विनाश हो गया और अनेक भारत से नेपाल तथा तिब्बत जैसे सुरक्षित स्थानों को भाग जाने के लिए बाध्य किये गये। बौद्ध धर्म के अनुयायी इस प्रकार त्याग दिये गये और वे बिना पथ-प्रदर्शक के रह गये। कालान्तर में इनमें से जिन लोगों के सम्बन्धी तथा जाति वाले ब्राह्मण धर्म में थे, उन्होंने ब्राह्मण धर्म अंगीकार कर लिया तथा अन्य जो निम्न श्रेणी के थे अथवा सवर्ण उच्च जातियों के सामाजिक और आर्थिक अत्याचारों से पीड़ित थे उन्होंने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार चौदहवीं सदी में बौद्ध धर्म उत्तर भारत से विलुप्त हो गया। यद्यपि यह अन्य स्थानों में कतिपय वर्षों के लिए बना रहा, परन्तु यह बिना मेरुदण्ड वाले शरीर के समान होने के कारण पुनः खड़ा न हो सका और फलतः बौद्ध धर्म का लोप अपनी जन्मभूमि से पूर्णरूपेण हो गया।

भारत में बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान—थोड़े वर्ष पूर्व से बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान के हेतु भारत की महाबोधि संस्था, जिसकी स्थापना स्वर्गीय देवमित्र धर्मपाल ने की थी, सफल प्रयास कर रही है। सारनाथ का मूलगन्ध कुटी-विहार एक भव्य भवन निर्माण कर पुनः यथापूर्व स्थापित कर दिया गया है। उसके समीप ही बौद्ध-भिक्षुओं तथा यात्रियों के लिए धर्मशाला, औषधालय पाठशाला एवं पुस्तकालय भवन भी निर्मित कर दिये गये हैं। सारनाथ में बुद्ध ने सर्वप्रथम अपना धर्मोपदेश दिया था और इस घटना को चिरस्मरणीय करने के हेतु सम्राट अशोक ने वहाँ एक विहार का निर्माण कराया तथा एक स्तम्भ खड़ा कराया था; आज पुनः कई सदियों के बाद भारत में बौद्ध संस्था का केन्द्रस्थल बनकर जीवन की चहल-पहल से गुंजित हो रहा है। कुशीनारा, श्रावस्ती और कलकत्ता में नवीन विहार निर्मित हुए हैं। बौद्ध गया में महाबोधि मन्दिर के समीप एक बौद्ध धर्मशाला का भी निर्माण हुआ है। भारत में विविध स्थानों पर महाबोधि सभा की अनेक प्रशाखाएँ खोल दी गयी हैं जो बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान के हेतु अनवरत प्रयास कर रही हैं।

भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म की देन

भारतीय जीवन के विविध अंगों को ढालने में बौद्ध धर्म की प्रगति का बहुत बड़ा हाथ रहा। सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सभी अंगों पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा।

१. सरल, सुबोध, लोकप्रिय धर्म—बौद्ध धर्म ने जटिल तथा दुर्बोध कर्म-काण्ड-रहित लोकप्रिय धर्म दिया। इससे पूर्व वैदिक धर्म, जिसमें प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक देवताओं की उपासना प्रधान थी और जिनके उपनिषदों में निर्गुण ब्रह्म के गीत गाये गये थे, जनसाधारण के लिए दुरूह था। परन्तु बौद्ध धर्म अति सरल सुबोध तथा नैतिक आचरण पर बल देने वाला था एवं इसका द्वार सबके लिए खुला था। इस धर्म की सादगी, भाव-प्रधानता, सरल नैतिक नियम, जनप्रिय भाषा का प्रयोग, उपमा और दृष्टान्तों से धर्मोपदेश का सर्व-प्रिय ढंग तथा सामूहिक प्रार्थना और पूजन ने जनता के हृदयों पर गहरी छाप जमा दी। इसने सर्वप्रथम व्यक्तित्व को धर्म में प्रधानता दी और धर्म में मानव-उद्धारक के रूप में व्यक्तिगत तत्त्व प्रस्तुत किया। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने धार्मिक दुरूहता दूर कर दी।

२. उच्च नैतिक आदर्श—बौद्ध धर्म ने सदाचार, जन-सेवा और स्वार्थ-त्याग के उच्च आदर्शों पर अधिक जोर दिया। यद्यपि इससे पूर्व भी उपनिषदों तथा महाभारत में इन गुणों पर बल दिया गया था, परन्तु उससे साधारण जनता के सदाचार और नैतिकता का स्तर बहुत ऊँचा नहीं उठ पाया था। बौद्ध धर्म के महायान मतावलम्बियों ने बोधिसत्व के रूप में जन-सेवा का श्रेष्ठ आदर्श लोगों के सम्मुख रखा। इस आदर्श ने एक ओर बौद्ध धर्म के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योग दिया तो दूसरी ओर हिन्दू धर्म को भी अत्यधिक प्रभावित किया। भागवत पुराण में रन्तिदेव (६। २१। १२) और ध्रुव की उक्तियाँ इसके सुन्दर नमूने हैं। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म ने इस आदर्श का भी प्रतिपादन किया कि प्रत्येक मानव अपने भविष्य को अपने ही कर्मों द्वारा निर्मित कर सकता है। इससे ब्राह्मण धर्म के स्थान पर व्यक्तिगत धर्म तथा व्यक्तिगत जीवन-निर्वाह के मार्ग का उत्कर्ष हुआ है।

३. हिन्दू धर्म पर प्रभाव—बाद के हिन्दू धर्म में बौद्ध विचार और नैतिकता के गहरे प्रभाव के सबल प्रमाण हैं। यद्यपि बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म को उसके उच्चस्थल से कभी भी ढकेल न सका, परन्तु इसने उस पर अपनी अमिट छाप छोड़ दी है। अहिंसा के जिस सिद्धान्त पर बौद्धों ने अधिक जोर दिया, जिसका भक्तिपूर्वक प्रचार किया और जिसे दैनिक जीवन में क्रियात्मक कर दिया उसे ब्राह्मणों ने अपने धर्मोपदेशों में पूर्णरूपेण समाविष्ट कर लिया। इससे प्राणीमात्र के प्रति श्रद्धा बढ़ी और रक्तिम यज्ञों की भावना का ह्रास

हो गया। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने हिन्दू धर्म पर मानव दयावाद का प्रभाव डाला। बौद्ध धर्म के अप्रत्यक्ष प्रभाव के कारण भागवत धर्म का जन्म हुआ जिसने 'अहिंसा परमो धर्मः' के सिद्धान्त को पूर्णतया ग्रहण कर लिया।

४. **संघ-व्यवस्था**—धार्मिक अनुयायियों को अनुशासनशील समुदायों में संगठित कर प्रजातन्त्र-प्रणाली पर संघ-व्यवस्था निर्माण करने का श्रेय बौद्ध धर्म को ही है। इससे पूर्व हिन्दू धर्म में वनों में तप करने वाले ऋषि-मुनियों एवं ज्ञान प्रसार करने वाले आचार्यों का उल्लेख तो मिलता है, परन्तु उनमें अपना सुव्यवस्थित संगठन बनाकर कार्य करने की प्रथा न थी। हिन्दू धर्म के रामद्वारे, मठ और संन्यासी-सम्प्रदायों के अखाड़े और महन्तों के समुदाय बौद्ध धर्म के सम्पर्क के ही परिणाम हैं। इसके अतिरिक्त भारत में साधारण जनता के लिए संगठित और व्यवस्थित रूप से आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा-प्रसार का प्रथम प्रयास बौद्ध-संघों ने किया। इस प्रकार प्रथम व्यवस्थित शिक्षा-केन्द्र नालन्दा का बौद्ध विहार था।

५. **मूर्ति-पूजा-प्रसार**—भारत में मूर्ति-पूजा का व्यापक प्रसार बौद्ध धर्म ने किया। महायान बौद्धों का अनुकरण कर हिन्दुओं ने भी अपने इष्ट देवताओं की प्रतिमाएँ बनायीं, उनका पूजन किया और अपने देवी-देवताओं के सम्मान में मन्दिरों का निर्माण किया। ये तत्त्व आर्य धर्म के नहीं थे; उनमें तो खुली हुई वेदियों पर यज्ञ-अनुष्ठानादि करना ही प्रमुख था।

६. **लोक-साहित्य का विकास**—बौद्ध धर्म ने बोलचाल की भाषाओं को अधिक लोकप्रिय बनाया। स्वयं बुद्ध ने अपने धर्मोपदेश के हेतु जनसाधारण की बोलचाल की भाषा को अपनाया। बौद्ध संघों और विहारों में भी प्रवचन और शिक्षा-प्रसार के लिए इन्हीं भाषाओं का प्रयोग किया गया। इससे बोलचाल की भाषा (प्राकृत) में विस्तृत साहित्य की सृष्टि हुई। पाली भाषा का समूचा साहित्य बौद्ध धर्म के अभ्युदय का परिणाम था। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने जनता की लोकप्रिय भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि की।

७. **समानता और सहनशीलता**—बौद्ध धर्म ने समाज में जाति-प्रथा के ऊँच-नीच भावों के विरुद्ध समानता का उपदेश दिया और मनुष्यों को सबका कल्याण करने की शिक्षा दी। इससे समस्त जातियों का व नर-नारी का भेद-भाव विलीन हो गया। इस धर्म ने राजाओं को प्रेम, शान्ति, सहनशीलता व प्रजावत्सलता का उपदेश दिया जिससे राजाओं की नीति व प्रवृत्ति बदली।

८. **राजनीतिक और राष्ट्रीय एकता**—बौद्ध धर्म ने समाज में जाति-पाँति के ऊँच-नीच भावों का विनाश कर सामाजिक और सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करने का प्रयत्न किया। बोलचाल की भाषा का प्रयोग करने से यह एकता और भी दृढ़ हो गयी। इसके अतिरिक्त इस धर्म ने अपने श्रोताओं की प्रमुख

भावनाओं को अधिक प्रभावित किया। इसकी सादगी और सरलता से यह साधारण जनता का अधिक प्रिय धर्म हो गया और वे इसे देश का धर्म समझने लगे। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने भारतीय राष्ट्र के विकास में योग दिया एवं भारत की राजनीतिक एकता का मार्ग सुलभ कर दिया।

९. **बौद्धिक स्वतन्त्रता**—वैदिक धर्म में वेदों की प्रामाणिकता तथा पुरोहित वर्ग के एकाधिकार एवं कर्मकाण्ड की प्रधानता ने व्यक्तिगत बौद्धिक स्वतन्त्रता का विनाश कर दिया था। इसके विपरीत बुद्ध ने स्वतन्त्र विचारों को प्रोत्साहित किया और धर्म में व्यक्तित्व को प्रधानता दी। बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया कि वे उनके वचनों एवं आदेशों को गुरु-वचन मानकर स्वीकार न करें, अपितु अपनी बुद्धि-विवेक की कसौटी पर वैसे ही कसें जैसे एक स्वर्णकार सोने को कसना है। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा कि वे 'आत्मदीप' हों और अपनी आत्मा को स्वयं अपना मार्ग-दर्शक बनायें। अतएव बौद्ध दार्शनिकों ने निर्बाध होकर तत्त्व-ज्ञान की समस्त समस्याओं पर निस्सन्देह स्वतन्त्रता से मनन किया। फलतः दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में उनकी विचारधाराएँ भारतीय तत्त्व-ज्ञान के उच्चतम विकास की ओर संकेत करती हैं। नागार्जुन, आसंग, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध दार्शनिक विश्व के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकों में से हैं।

१०. **भारतीय कला**—भारतीय जीवन में बौद्ध धर्म की सर्वोत्कृष्ट देन वास्तु-कला और स्थापत्य-कला के क्षेत्र में है। बौद्ध धर्म के विकास में पूर्व कला धर्म की चेरी थी। फलतः वैदिक युग में इसका अधिक विकास न हो पाया। उस युग में यज्ञ-अनुष्ठान ही धर्म के प्रधान तत्त्व थे और इनके लिए विशाल मण्डप बनाये जाते थे तथा यूप गाड़े जाते थे। पर इनका अस्तित्व यज्ञ की समाप्ति तक ही सीमित था। अतएव उस युग में कला की अभिव्यक्ति के हेतु किसी स्थायी आधार का अभाव होने से कला की विशिष्ट प्रगति न हुई। परन्तु बौद्ध धर्म के अन्तर्गत मूर्ति, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं का श्रेष्ठतम विकास हुआ। बौद्ध धर्म ने वास्तु-कला को खूब प्रोत्साहन दिया। आज प्रायः विश्व के प्रत्येक महान् अजायबघर में बौद्ध कला के अवशेष हैं। बौद्ध भिक्षुओं के स्थायी निवासस्थान के हेतु समस्त देश में विहार निर्मित किये गये। धर्मपरायण बौद्धों ने अपने धर्म-प्रवर्तक बुद्ध तथा अन्य पवित्र संतों की स्मृति और सम्मान में धार्मिक लक्षणों तथा उपदेश वाले स्तम्भ खड़े किये। इसी प्रकार बुद्ध तथा बोधिसत्वों की अवशिष्ट स्मृतियों पर पाषाण के स्तूप निर्मित किये गये। ये विहार, स्तूप और स्तम्भ स्थायी थे। अतः उनके आश्रय में कला की सभी प्रशाखाएँ—चित्र-कला, मूर्ति-कला, स्थापत्य-कला उन्नत हुईं। बुद्ध के समस्त जीवन की कहानी पाषाण-कला में अभिव्यक्त की गयी। मूर्ति-कला की अनेक सुन्दर प्रतिमाएँ बुद्ध से सम्बन्ध



लाल पाषाण की बौद्ध प्रतिमा, ५वीं सदी। (पृष्ठ १४२)

रखती हैं। विहारों, मन्दिरों एवं स्मारकों को कलापूर्ण ढंग से अलंकृत किया गया और इस प्रकार कालान्तर में वास्तु-कला और स्थापत्य-कला की एक नवीन शैली का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्ध स्थापत्य-कला के कुछ नमूने विश्व में कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माने जाते हैं। साँची, भरहुत और अमरावती के स्तूपों तथा अशोक के शिला-स्तम्भों एवं कार्ली की बौद्ध गुफाओं की गणना भारतीय कला के सर्वोत्तम नमूनों में होती है। साँची का स्तूप, उसकी चहारदिवारी और उसके कलापूर्ण चार प्रवेश-द्वार विश्व में बेजोड़ हैं। गया का बौद्ध-मन्दिर एवं विशाल व सुन्दर भवन आज भी बौद्धकालीन कला की श्रेष्ठता को प्रकट करते हैं। यदि शिल्पकार की छैनी बौद्ध आदर्शों की पाषाण में अभिव्यक्ति करने में संलग्न थी, तो चित्रकार का ब्रुश भी पीछे नहीं था। गुहाओं एवं मन्दिरों की भित्तियाँ सुन्दर चित्रकला से अलंकृत की गयी थीं। अजन्ता, एलौरा, बाघ और बारबरा की गुफाओं में बौद्धकालीन स्थापत्य-कला और चित्र-कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। बौद्धकालीन मूर्ति-कला, स्थापत्य-कला, चित्र-कला, पच्चीकारी आदि के अवशिष्ट नमूने आज भी किसी व्यक्ति को प्रेरणा देने के लिए पर्याप्त हैं।

११. भारतीय इतिहास पर प्रभाव—भारत के राजनीतिक इतिहास पर बौद्ध धर्म की अमिट छाप है। बौद्ध धर्म ने भारतीय राजा एवं राजकुमारों के हृदयों में रक्तपात तथा युद्ध के लिए घृणा उत्पन्न कर दी। बौद्ध नियमों ने ही अशोक को युद्ध-त्याग करने के लिए तथा शान्ति की नीति का अनुसरण करने के हेतु बाध्य किया था। अशोक के शान्ति और अहिंसा के मत से मगध के सम्राटों की साम्राज्यवादी नीति पर भारी कुठाराघात हुआ। अशोक की नीति ने मगध के प्रादेशिक विस्तार का मार्ग अवरुद्ध ही नहीं किया, अपितु अशोक की अलौकिक मानव-दयामय-नीति ने साम्राज्य के अस्तित्व को भी संकट में डाल दिया। तीस वर्ष की लम्बी अवधि में सैनिक कार्य के अभाव के कारण अशोक की सेना की नैतिक शक्ति का ह्रास हो गया। अतः जब यूनानियों ने देश पर आक्रमण किया तब इस सेना के पैर उखड़ गये। अशोक के समय राज्य की नीति अधिक दयापूर्ण, परोपकारिणी एवं लोकानुरागिणी हो गयी थी और दण्ड-विधान को संशोधित करके पहले की अपेक्षा अधिक उदार व सहानुभूतिपूर्ण कर दिया गया था। अशोक की सरकार ने अपने कार्यों का क्षेत्र अधिक विस्तृत कर लिया एवं मानवों तथा पशुओं दोनों के लिए निःशुल्क औषधालय खोल दिये। ऐसा प्रतीत होता है कि पींजरापोल, गोशाला तथा अन्नक्षेत्र-संस्थाओं का, जो आधुनिक हिन्दू दानशीलता की प्रमुख विशेषताएँ हैं, उद्भव अशोक के निःशुल्क औषधालयों से हुआ।

इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म ने अपने अनुयायियों की संख्या में वृद्धि करने

के हेतु अन्य धर्मों के समान तलवार तथा संस्कृति विध्वंसक कार्यों को कभी नहीं अपनाया। इससे भारतीय राष्ट्र रक्तपात से सकुचाने लगा और उसने अपनी प्रकृति-शान्त बना ली। युद्ध की भयानक घटनाओं के वर्णन ने भारतीयों को भयभीत कर दिया और वे युद्ध के तथा राजनीति के जीवन से दूर हो गये। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने देश में सैनिक भावनाओं को कम कर दिया। फलस्वरूप भारतीय सैनिक क्रीड़ाओं और कार्यों से घृणा करने लगे और कालान्तर में उत्तर से आने वाले बलशाली आक्रमणकारियों के वे शिकार हो गये।

१२. भारतीय संस्कृति का प्रसार—ऊपर वर्णित दुःखद प्रभाव के होने पर भी सबसे महत्त्वशाली बात यह है कि बौद्ध धर्म सुसंस्कृत करने वाली शक्तियों में से एक शक्ति था जिसे भारत ने अपने पड़ोसी देशों को दिया था। बौद्ध धर्म ने भारत की पृथकता भंग कर दी और भारत तथा बाह्य देशों के बीच 'मैत्रीपूर्ण' घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर दिया। बाह्य विश्व को भारत की यह सबसे महान् देन थी। भारतीय साधु-सन्तों, आचार्यों और विद्वानों ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया और इस प्रकार ईसा पूर्व तीसरी सदी से भारतीय संस्कृति का विदेशों में अप्रत्यक्ष रूप से प्रसार हुआ। मध्य एशिया, चीन, मंगोलिया, मंचूरिया, कोरिया, जापान, ब्रह्मा, श्याम, मलाया, जावा, सुमात्रा, लंका आदि में भारतीय संस्कृति और सभ्यता बौद्ध प्रचारकों द्वारा पहुँची। वृहत्तर भारत के निर्माण में उन्होंने सबसे अधिक योग दिया। ईसा पूर्व तीसरी सदी के बाद बौद्ध धर्म के विदेशी अनुयायी भारत को पवित्र भूमि और धार्मिक तीर्थस्थान मानने लगे और इस देश की यात्रा उनके जीवन की सर्वोच्च महत्त्वाकांक्षा होने लगी। धर्म की इस भावना ने अनेक विदेशियों का हमारे देश से गठबन्धन कर दिया एवं विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार के हेतु मार्ग सुलभ कर दिया।

अन्य सम्प्रदाय

बौद्ध और जैन साहित्य में इस युग में विभिन्न सिद्धान्तों का उपदेश देने वाले अनेक सम्प्रदायों का उल्लेख है। इनमें से निम्नलिखित प्रमुख थे :

सर्वप्रथम आजीवक हैं जो शूद्र संन्यासी कहे जाते थे और जिनका नेता मक्खली गोशाल था। गोशाल जो जन्म से ही दास थे, अति मौलिक उपदेशक हो गये थे। इन्होंने हिन्दू-विचारधारा के मूल सिद्धान्त—कर्मवाद—को भी स्वीकार नहीं किया। उनका तर्क था कि मानव-जीवन प्राकृतिक नियमों पर अवलम्बित है। अतएव केवल कर्म मनुष्य को अवश्यम्भावी परिणाम से मुक्त नहीं कर सकता। इसलिए जीवन का शान्तिमय रूप ही वांछनीय है। कौशल की राजधानी श्रावस्ती गोशाल के अनुयायियों का केन्द्र-स्थान थी। यहीं पर उपदेश करते हुए महावीर से सोलह वर्ष पूर्व गोशाल दिवंगत हुए। आजीवक

धर्म एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में प्रसारित होने के बाद चौदहवीं सदी में भारत से विलुप्त हो गया।

अन्य प्रतिक्रियावादी सम्प्रदाय अजीत केशकम्बलन का था जिसने यह उपदेश दिया कि प्रत्येक का मृत्यु के साथ विनाश हो जाता है, यह इस प्रकार शून्यवादिन मत का अग्रदूत था। दूसरा सम्प्रदाय एक ब्राह्मण उपदेशक पुराण कश्यप का था जिसका मूल सिद्धान्त था कि कार्य न तो पुण्यमय या श्रेयस्कर है न पापमय या अश्रेयस्कर है। यह अधिक लोकप्रिय उपदेशक था।

उपरोक्त वर्णित सुधारवादी सम्प्रदायों के अतिरिक्त हिन्दू धर्म में कुछ ऐसे भी सम्प्रदायों का विकास हो रहा था जिन्होंने स्पष्ट रूप से वेदों का विरोध नहीं किया। ये हिन्दू धर्म में आगे चलकर बहुत ही महत्त्वशाली सम्प्रदाय बन गये। इन सम्प्रदायों की विशिष्टता यह थी कि ये एक विशेष देवता की उपासना सर्वोच्च इष्टदेव के रूप में करते थे। इसी युग में वैदिक देवताओं की पुनर्व्यवस्था हुई, इनमें से कुछ का महत्त्व घट गया और कुछ का बढ़ गया। एक दूसरे वर्ग में विष्णु और रुद्र हैं जो वैदिक युग के विष्णु और रुद्र देवताओं से चरित्र में सर्वथा भिन्न हैं। विष्णु के उपासकों—वैष्णवों या भागवतों—ने भागवत नामक सम्प्रदाय चलाया और रुद्र के पुजारियों ने शैव नामक सम्प्रदाय का प्रसार किया। वैष्णवों ने महाभारत के नायक वासुदेव-कृष्ण की, जिसका सर्वोपरि ईश्वर से एकरूपण किया गया, भक्ति का प्रतिपादन किया। ऐसा विश्वास किया जाने लगा कि पृथ्वी को पापाचार से बचाने के लिए विष्णु ने अनेक अवतार लिये। रामायण के नायक राम बाद में ऐसे ही एक अवतार माने जाने लगे। मानवीय तत्त्वों से ओत-प्रोत अपने इष्टदेव के प्रति उपासकों की भक्ति ने भागवत धर्म को जनता के लिए अधिक आकर्षक बना लिया। बाद में यह सम्प्रदाय समस्त भारत में फैल गया और मानव तत्त्वों और भावनाओं से परिपूर्ण होने के कारण यह अधिक जनप्रिय हो गया।

आर्यों के पूर्व के युग में मोहनजोदड़ो में शिव की एक प्रतिमूर्ति के पूजन में ही शैव सम्प्रदाय की उत्पत्ति निहित थी। कालान्तर में आर्यों के पूर्व के इस देवता का साम्य वैदिक युग के रुद्र नामक देवता से कर दिया गया और इसे हिन्दू धर्म के देवताओं में उच्च स्थान प्राप्त हुआ; उसे सौम्य और भयकर दोनों ही माना गया। इस देवता के विषय में ऐसी कल्पना की गयी कि यह एक महायोगी है जो मृग-चर्म धारण किये, वन्य-पशुओं तथा भूत-पिशाचों से आवृत्त, श्मशानों में भ्रमण करते हुए, अपने प्रिय कुटुम्ब के सहित कैलाश पर्वत पर रहता है तथा संगीत एवं नृत्य में आनन्द लेता है। बहुत पहले से ही लिंग के रूप में शिव की पूजा होती थी जो आज भी हमारे देश में अत्यधिक रूप में

प्रचलित है। शैवों का एक कट्टर सम्प्रदाय कापालिकों का था जो विलक्षण क्रियाविधियों का अनुकरण करते थे।

निष्कर्ष

ईसा से पूर्व सातवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दू समाज दृढ़ रूप से स्थायी हो चुका था। यह आर्यों और अनार्यों के सामाजिक तत्त्वों के सम्मिश्रण का परिणाम था। समाज में एक नवीन संस्कृति का विकास हो रहा था जो बाद में हिन्दू संस्कृति के नाम से प्रख्यात हुई। संस्कृति की प्रमुख विशेषता धर्म का प्रभुत्व एवं पुरोहित-वर्ग की प्रधानता थी। परन्तु वह धर्म जो धीरे-धीरे वैदिक धर्म से उद्भासित हो रहा था, जटिल, गूढ़, अर्थहीन कर्मकाण्ड में परिवर्तित हो गया। यह बाद में नीरस और औपचारिक हो गया और जनता से इसका सम्पर्क विलुप्त हो गया। फलतः विचार और धर्म के नवीन नेताओं का प्रादुर्भाव हुआ और हिन्दू धर्म को उसकी भ्रष्ट क्रिया-विधियों से मुक्त करने के लिए अनेक सुधारवादी आन्दोलन प्रारम्भ किये गये। भारत में ईसा से पूर्व छठी सदी में ऐसे ही आन्दोलनों का जन्म हुआ था। परन्तु ऐसे आन्दोलनों में केवल दो ही—जैन धर्म और बौद्ध धर्म—काल की परीक्षा में सफल हुए और अब तक जीवित हैं। ये आध्यात्मिक सत्य और प्रेम के सन्देश को दरिद्रों की झोपड़ियों से लेकर नरेशों के राजमहलों तक ले गये और भारतीय इतिहास पर अपने प्रभाव की अमिट छाप छोड़ गये। कला द्वारा धर्म की अभिव्यक्ति कर इन्होंने भारतीय संस्कृति को सम्पन्न किया। इसके परिणाम-स्वरूप वास्तु-कला, स्थापत्य-कला और चित्र-कला की एक नवीन शैली का सूत्रपात्र हुआ, जिसने विश्व में कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने उत्पन्न किये हैं। परन्तु इससे भी अधिक, भारतीय संस्कृति और धर्म के दीप को भारत की सीमा के परे बौद्ध धर्म सफलतापूर्वक ले गया।

प्रश्नावली

१. "ईसा पूर्व छठी शताब्दी ने धार्मिक आन्दोलनों की महान् उथल-पुथल देखी है।" भारत का विशिष्ट हवाला देते हुए उपरोक्त कथन का विवेचन कीजिए।
२. ईसा पूर्व छठी शताब्दी में सुधारवादी धार्मिक आन्दोलनों के उत्कर्ष में किन-किन परिस्थितियों ने योग दिया?
३. "उन्हें ब्राह्मण धर्म और सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व करने वाला नहीं माना जा सकता।" गौतम बुद्ध के विषय में इस मत से आप कहाँ तक सहमत हैं?
४. गौतम बुद्ध के जीवन और उपदेशों का हाल लिखिए।

५. जैन धर्म और बौद्ध धर्म की तुलना कीजिए।
६. किस रूप में बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के समान है और फिर भी उससे भिन्न है ?

अथवा

"बौद्ध धर्म अपने प्रारम्भ से हिन्दू धर्म से बहुत कुछ समानता रखता था, फिर भी उसकी विभिन्नताएँ पूर्ण स्पष्ट थीं।" विवेचना कीजिए।
७. वर्द्धमान महावीर के जीवन और उपदेशों का वर्णन कीजिए। यह कहना कहाँ तक न्यायोचित है कि जैन धर्म यदि अधिक प्राचीन नहीं; तब भी वह उतना ही प्राचीन है जितना कि वैदिक धर्म ?
८. भारत में बौद्ध धर्म के उत्कर्ष और आकर्षण के कारण लिखिए।
९. भारतीय संस्कृति को सुसम्पन्न करने में बौद्ध धर्म और जैन धर्म की देन का मूल्यांकन कीजिए।
१०. "बौद्ध धर्म भारतीय धर्म और संस्कृति का प्रज्वलित दीप भारत की सीमा के पार सफलतापूर्वक ले गया।" समझाइए।
११. बौद्ध-संघों के विषय में आप क्या जानते हैं ? उनमें भिक्षुगण किस प्रकार रहते थे ? बौद्ध धर्म के प्रसार में ये किस प्रकार सहायक प्रमाणित हुए ?
१२. "महावीर और गौतम बुद्ध का उद्देश्य प्रचलित ब्राह्मण धर्म को सुधारने का था। हिन्दू धर्म से भिन्न सम्प्रदाय स्थापित करने की उनकी कोई लालसा नहीं थी।" इस कथन का विवेचन कीजिए।
१३. "मौलिक बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म का केवल नवीन रूप था।" (जदुनाथ सरकार) आप इस मत से कहाँ तक सहमत हैं ?
१४. बौद्ध धर्म के हीनयान और महायान धर्म की विभिन्नता बतलाइए। भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास पर बौद्ध धर्म के प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए।

अथवा

भारतीय संस्कृति व जीवन को बौद्ध धर्म की क्या-क्या महत्त्वशाली देन है?
१५. टिप्पणियाँ लिखिए :
अष्टांग मार्ग, संघ, त्रिपिटक, हीनयान, भद्रबाहु, बौद्ध धर्म की सभाएँ, वज्रयान, जातक, गौमतेश्वर, महायान, आजीवक, जैन धर्म की सभाएँ, बौद्ध-कला और दिगम्बर।
१६. जैन धर्म और बौद्ध धर्म की तुलना कीजिए और इनके प्रसार के कारणों पर प्रकाश डालिए।

अथवा

भारतीय कला और साहित्य को बौद्ध धर्म की क्या देन रही है ?

६

मौर्यों से पूर्व का युग (६५०-३२१ ईसवी पूर्व)

ईसा पूर्व सातवीं सदी के प्रारम्भ से भारतीय इतिहास स्पष्ट और निश्चित हो जाता है। इससे पूर्व प्रत्येक घटना अस्पष्ट और काल-निर्णय अनिश्चित है। भारत के राजनीतिक इतिहास के संकलन के हेतु जैन और बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों में पर्याप्त सामग्री है। ये ग्रन्थ यह प्रकट करते हैं कि इस युग में समस्त उत्तरी भारत छोटे-बड़े सोलह राज्यतन्त्रों तथा अनेक अल्प जनतन्त्र राज्यों में विभक्त था। इनमें से प्रमुख थे कौशल जिसकी राजधानी श्रावस्ती, काशी जिसकी राजधानी बनारस, अवन्ती जिसकी राजधानी उज्जैन, वत्स जिसकी राजधानी कौशाम्बी, और मगध जिसकी राजधानी राजगृह थी। जनतन्त्र राज्यों में वृजि या विज्जी जिसकी राजधानी वैशाली थी, सबसे अधिक महत्त्व-शाली था। इस युग की प्रमुख राजनीतिक घटना मगध का उत्कर्ष है। आगे की दो सदियों में उपरोक्त समस्त राज्यों का एकीकरण कर, प्रथम शिशुनाग राजवंश ने (६४२ से ४१३ ई० पूर्व) और बाद में नन्द राजवंश (४१३-३२२ ई० पूर्व) ने मगध में एक साम्राज्यवादी सत्ता की स्थापना की। शिशुनाग राजवंश का बिम्बसार मगध की महानता का वास्तविक संस्थापक था। उसका उत्तरा-धिकारी उसका पुत्र अजातशत्रु (४९१-४४६ ई० पूर्व) था। उसके शासन-काल में बुद्ध और महावीर दोनों ने ही उपदेश दिया था। इस वंश का यह सबसे अधिक महत्त्वशाली नरेश था। इसके राजत्वकाल में मगध पूर्व भारत में प्रभुत्वशाली राज्य हो गया। इसके पौत्र उदय के उत्तराधिकारी नन्दीवर्धन और महानन्दिन थे। महानन्दिन के अवैध पुत्र महापद्मनन्द[1] ने नन्दवंश की स्थापना की। महापद्मनन्द ने मगध राज्य की सीमाओं और प्रभाव का विस्तार किया। उसके और उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में मगध पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में सतलज नदी तक एक शक्तिशाली साम्राज्य हो गया। नन्दवंश के अन्तिम नरेश धननन्द को चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिंहासन-च्युत कर दिया।

[1] महापद्मनन्द के मूल के विषय में परस्पर विरोधी अनुश्रुतियां हैं। कुछ इतिहासकार उसे शूद्र जाति का बताते हैं।

भारतीय सीमा-प्रान्त पर ईरानियों का आधिपत्य

जब भारत में मगध के नरेश अपने साम्राज्य को विस्तृत कर रहे थे, फारस या ईरान के नरेश भी अपनी शक्ति की वृद्धि कर रहे थे। ईरानी साम्राज्य के संस्थापक कालपुरुष (Cyrus लगभग ईसा पूर्व ५५८ से ५३० ई० पूर्व) ने हिन्दूकुश पर्वत तक अपने साम्राज्य की सीमा बढ़ा दी और गान्धार उसके साम्राज्य का एक प्रदेश हो गया। ईरानी साम्राज्य के एक दूसरे शासक डेरिस प्रथम (Darius I, ५२२ से ४८६ ई० पू०) ने ५१७-१६ ई० पूर्व में भारत पर आक्रमण किया और पंजाब के एक भाग को अपने राज्य में मिला लिया। ईरानी साम्राज्य का यह बीसवाँ प्रान्त था जिसमें समस्त सिन्धु-घाटी सम्मिलित थी। पंजाब इस साम्राज्य का सबसे अधिक धनवान और घना बसा हुआ प्रान्त था जिसकी मालगुजारी डेढ़ करोड़ रुपये थी। ईरानी प्रान्त-पति और जिला अधिकारी पंजाब में रहते थे और पंजाबी भी ईरानी सेना में भरती किये जाते थे और ये यूनान देश में ईरानियों की ओर से रणक्षेत्र में लड़े भी थे।

भारत के साथ ईरानी सम्पर्क का प्रभाव—ईरानी विजय ने सम्भवतः सर्वप्रथम भारत को पाश्चात्य संसार के सम्मुख प्रकाशित किया और भारतीय तथा ईरान-निवासियों से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित किया। इससे दोनों देशों को लाभ हुआ एवं पारस्परिक व्यापार व संस्कृति के सम्मिश्रण को नवीन प्रोत्साहन प्राप्त हुआ; क्योंकि एशिया महाद्वीप के स्थल-मार्ग जो एक ओर भूमध्यसागर के तट पर और दूसरी ओर सिन्धु नदी के तट पर समाप्त होते थे, ईरान के सम्राट द्वारा नियन्त्रित थे। व्यापारिक सम्पर्क से दोनों देशों के बीच सामाजिक और राजनीतिक विचार-विनिमय का मार्ग सुलभ हो गया और इसने सम्भवतः शिशुनाग तथा मौर्य सम्राटों की छत्र-छाया में उत्तरी भारत को एक सूत्र में संगठित करने की कल्पना को जन्म दिया। फारसी लेखकों ने भारत में अर्मई लिपि (Armaie Script) का प्रचार किया जिससे कालान्तर में दाहिनी ओर से बायीं ओर लिखी जाने वाली प्रसिद्ध खरोष्ठी लिपि विकसित हुई। पश्चिमोत्तर भारत में इसी लिपि में अभिलेख प्राप्त हुए हैं और यह लिपि ईसवी सन् की तीसरी सदी तक निरन्तर प्रचलित रही। कुछ विद्वानों का मत है कि पाटलिपुत्र में अशोक का स्तम्भों वाला विशाल कमरा (hall), चट्टानों और स्तम्भों पर उसके अभिलेख, स्तम्भ-शीर्षों की घण्टानुमा आकृतियाँ तथा वृषभ और सिंहयुक्त शीर्ष का मूल स्रोत ईरानी प्रभाव था। मौर्यकाल पर, जो अशोक के शासनकाल में अपनी प्रगति की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी; ईरानी-कला की अमिट छाप है। यह ईरानी-कला ईसा पूर्व चौथी और तीसरी सदी में कुछ अंशों तक यूनानी लोगों के

घनिष्ठ सम्पर्क से प्रभावित हुई थी। तक्षशिला में प्रचलित कुछ सामाजिक प्रथाओं पर ईरानी प्रभाव का आभास प्राप्त होता है। भारत में ईरानी शब्द 'क्षत्रप' का प्रयोग, चन्द्रगुप्त मौर्य के केश-धोवन विधि और पवित्र अग्नि को प्रज्वलित करने की प्रथा, जिसका सम्राट कनिष्क ने अनुकरण किया था, ईरानी प्रभाव का परिणाम माना जाता है। ऐसा प्रतिपादित किया जाता है कि मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने ईरानी सम्राटों की राजसभा के कुछ समारोहों को अपने यहाँ चलाया था और मौर्य शासन-सेवा में ईरान के शासकीय अनुभव वाले योग्य कुलीन सामन्तों को नियुक्त किया था। उदाहरण के लिए काठियावाड़ का प्रान्तपति तुशाष्फ ऐसे ही व्यक्तियों में था, जिसका नाम तथा पद जूनागढ़ (गिरनार) के अभिलेख में आज भी अंकित है।

सिकन्दर का आक्रमण

अपने पिता फिलिप के देहावसान के पश्चात् सिकन्दर ३३६ ई० पूर्व में मकदूनिया का राजा हो गया। सम्पूर्ण यूनान पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् उसने ईरान, एशिया माइनर, मिस्र आदि देशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और ३२६ ई० पूर्व में वह भारत की ओर मुड़ा। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि उसने भारत पर नहीं अपितु पंजाब प्रान्त पर, जो ईरानी साम्राज्य में सम्मिलित था, आक्रमण किया। भारत में सिकन्दर के युद्ध किसी सुव्यवस्थित राज्य के विरुद्ध नहीं थे; पर उन छोटे-छोटे स्थानीय नरेश और गणराज्यों के विरुद्ध थे जिन्होंने ईरानी सम्राट की प्रभुता स्वीकार कर ली थी। अतः सरलता से उसने इन्हें पराजित कर दिया और व्यास नदी तक; जहाँ ईरानी सीमा समाप्त होती थी, बढ़ता चला आया। इस बीच में तक्षशिला के नरेश, भारत के द्वारपाल ने सिकन्दर को आत्मसमर्पण कर दिया। परन्तु उसके पार्श्ववर्ती राज्य के नरेश पोरस ने मकदूनिया नरेश के आक्रमण को रोकने का दृढ़ निश्चय किया। अतएव करीं के मैदान में भयंकर युद्ध हुआ जिसमें पोरस पराजित हुआ परन्तु सिकन्दर ने उसके शौर्य और दर्पपूर्ण उत्तर से प्रभावित होकर उदारता से उसका राज्य उसे लौटा दिया। इसके पश्चात् सिकन्दर मगध पर आक्रमण करने की आशा से पूर्व की ओर अग्रसर हुआ, पर उसकी सेना सहमत न हुई। विवश होकर उसे भारतीय गणराज्यों से भयंकर संघर्ष करते हुए लौटना पड़ा और अन्त में ई० पूर्व ३२३ में बेबीलोन पहुँचने पर उसकी अकाल मृत्यु हो गयी।

सिकन्दर के आक्रमण के प्रभाव—सिकन्दर के आक्रमण ने भारतीयों पर कोई विशिष्ट प्रभाव नहीं डाला, क्योंकि उसका आक्रमण भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश तक ही सीमित था। उसका आक्रमण तो सीमान्त प्रान्तों पर केवल एक छोटा धावा था। यद्यपि उसने गांधार और सिन्धु नदी की घाटी

को मकदूनिया के साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था, परन्तु वे शीघ्र ही स्वतन्त्र हो गये और सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् दो वर्ष में ही उसके आक्रमण के तथा अल्पकालीन यूनानी शासन के समस्त चिह्न विलुप्त हो गये। अतएव कोई आश्चर्य नहीं यदि भारतीय सिकन्दर के आक्रमण के प्रति उदासीन रहे। वह झंझावात के सदृश्य आया, भारत में उन्नीस मास तक रहा और भारत के केन्द्र को स्पर्श किये बिना ही यहाँ से प्रस्थान कर गया। भारतीयों के लिए तो वह केवल एक साधारण आक्रमण था जिसने इस देश के एक भू-भाग की शान्ति को थोड़े समय के लिए विच्छिन्न कर दिया और भयंकर रक्तपात, क्रूरता तथा नृशंसता में चंगेजखाँ और तैमूर को भी ढकता हुआ भारत से कूच कर गया। सीमान्त प्रदेश की दृष्टि से देखते हुए सिकन्दर के आक्रमण का कोई महत्त्व नहीं है। यह तो इतना छोटा बवण्डर था जो भारतीय लेखकों का ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित करने में असमर्थ रहा।

भारतीय घटनाओं में सिकन्दर की सामरिक योग्यता को देखते हुए वह विशिष्ट सैनिक प्रतिभा वाला व्यक्ति नहीं प्रतीत होता। भारत में उसने जो कुछ सफलता-सिद्धि प्राप्त की वह पंजाब में एक छोटे से राज्य के नृपति पोरस पर भयंकर युद्ध के बाद प्राप्त विजय थी और वह भी एक अन्य भारतीय नरेश आम्भी की सहायता और सहयोग से, जो पोरस का घोर शत्रु था और जिसने एक विदेशी के लिए भारत के द्वार को अनावृत कर देशद्रोही का कार्य किया था। वस्तुतः यह भारत के एक दूरस्थ कोने में एक महत्त्वहीन सामन्त पर एक महान् सेनानायक की विजय थी। उसकी पराजय से शष भारत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, पूर्व पर पश्चिम की विजय तो बहुत दूर की बात थी।

परन्तु यदि भारतीयों ने सिकन्दर के आक्रमण के महत्त्व का अनुमान कम किया तो यूनानियों ने उसकी अतिशयोक्ति कर दी। एरियन (Arrian), कर्टियस (Curtius) आदि यूनानी लेखकों ने इस आक्रमण के वर्णन के विषय में पृष्ठ के बाद पृष्ठ लिखकर उसके महत्त्व की अत्युक्ति कर दी है। उनके लिए सिकन्दर विश्व के महान् विजेताओं में से था।

इतने पर भी, भारतीयों के लिए सिकन्दर के आक्रमण की पूर्णरूपेण उपेक्षा करना अनुचित है। भारतीय इतिहास पर इसका प्रत्यक्ष और शीघ्र प्रभाव पड़ा था। लघु और परस्पर युद्ध करने वाले राज्यों और जातियों की, जिनका पंजाब और सिन्ध में बाहुल्य था, शक्ति को पंगु करके सिकन्दर ने चन्द्रगुप्त के लिए, उत्तरी-पश्चिमी भारत में राजनीतिक एकता स्थापित करने और उसे मगध के साम्राज्य का पूर्ण भाग बनाने के हेतु मार्ग सुलभ कर दिया। इस प्रकार यदि पूर्व में महापद्मनन्द चन्द्रगुप्त का पुरोगामी था, तो सिकन्दर उत्तर-

पश्चिम में उसके साम्राज्य का अग्रदूत था। इस प्रकार सिकन्दर के आक्रमण के प्रत्यक्ष और शीघ्र परिणाम के फलस्वरूप यदि पंजाब और सिन्ध एकीकृत शासन का आनन्द उठाने लगे थे, तो सभी भारतीयों ने यूनानी युद्ध-कला की उत्कृष्टता की अवज्ञा की। भारतीय नरेशों और उनके सेनापतियों ने यूनानी-युद्ध-कला की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। वे अपनी परम्परागत युद्ध-प्रथाओं का अनुकरण करते रहे। यद्यपि इस आक्रमण ने भारतीयों को यह सुझाव दिया कि उनका सैन्य-संगठन और युद्ध-कौशल अपर्याप्त और दोषपूर्ण है एवं उचित रूप से शिक्षित तथा विनीत सैन्य अल्पसंख्यक होते हुए भी विजयी हो सकती है, परन्तु भारतीयों ने इसकी भी अवहेलना की।

सिकन्दर के आक्रमण की ३२६ ई० पूर्व की तिथि से ऐतिहासिक लाभ हुआ है। सिकन्दर की भारतीय लड़ाइयों का स्पष्ट और तिथिपूर्ण वर्णन, जो उसके साथियों व अनुयायियों ने लिखा है, से भारतीय इतिहास के काल-निर्णय करने और बाद की राजनीतिक घटनाओं का निर्दिष्ट आधार पर वर्णन करने में बड़ी सहायता मिली है। इसके अतिरिक्त इस आक्रमण से अनेक प्रसिद्ध यूनानी भारत में आये। उन्होंने इसका विवरण लिखा है जो भारतीय इतिहास के लिए महत्त्वशाली सामग्री है। इससे तत्कालीन संस्कृति की झलक मिलती है जो निम्नलिखित है :

सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतीय संस्कृति—यूनानी लेखकों के अनुसार सोफाइटिज (पंजाब में सौभूति) के राज्य में सौन्दर्य की बड़ी महिमा थी। यदि नवजात शिशु शरीर से अस्वस्थ, रुग्ण, अपंग या अंगहीन होता तो मृत्यु के लिए त्याग दिया जाता था। विवाह के लिए वंश से कहीं बढ़कर शारीरिक यौवन और सौन्दर्य की महिमा थी। विवाह का आधार कुल की उच्चता नहीं, रूप का आकर्षण था। समाज में सती-प्रथा प्रचलित थी और मानव क्रय-विक्रय का प्रचार था। तक्षशिला में यूनानियों ने दरिद्र पिताओं को अपनी पुत्रियों को बेचते देखा था। बहु-पत्नी-विवाह प्रथा भी प्रचलित थी। मृतकों के शव गिद्धों के भक्षण करने को छोड़ दिये जाते थे।

ब्राह्मण धर्म का विशेष प्रभाव था। सिकन्दर के अनुयायी यूनानी इतिहास-कार ने ब्राह्मण संन्यासियों के विविध विलक्षण आचारों का उल्लेख किया है। अपने गम्भीर ज्ञान, सच्चरित्रता एवं स्वार्थ-त्याग के लिए ब्राह्मण देश में अति प्रतिष्ठित थे और नरेश उनके आदेशों पर चलने के लिए प्रस्तुत रहते थे। ब्राह्मण संन्यासियों के अतिरिक्त श्रमण, बौद्ध एवं अन्य सम्प्रदायों के परिव्राजक भी थे, जो वनों में रहते, कन्द-मूल फल खाते तथा वृक्ष की छाल पहनते थे। साधारण जनता वर्षा के देवता इन्द्र (जीअस ओम्बियस) तथा कृष्ण के अग्रज बलराम (हलधर, हिरैक्लिस) की पूजा करती थी। आज के समान ही गंगा

स्तुत्य थी। कतिपय वृक्ष इतने पावन माने जाते थे कि उनको अपवित्र करने का दण्ड बध था।

देश में महत्त्वपूर्ण विस्तृत नगरों का बाहुल्य था। मम्सग, ओरनस, तक्षशिला, प्रिप्रमा, संगल, पत्तल, आदि नगर देश की उच्चतम आर्थिक दशा और समृद्धि के उदाहरण हैं। उनकी बनावट, स्थिति एवं दुर्गीकरण तत्कालीन श्रेष्ठ निर्माण शैली के द्योतक हैं। देश की धन-सम्पत्ति का अनुमान सिकन्दर को अपने आक्रमण काल में प्राप्त हुए अगणित उपहारों से किया जा सकता है। "सुनहले वस्त्र पहने हुए क्षुद्रक-दूतों ने उसे बहुतेरे सूती थान, कच्छप-त्वक् (खाल), वृषभत्वक् के बने बकलस तथा लोहे के सौभार और तक्षशिला के आम्भी ने सोने-चाँदी के ताज (सिक्के) तौल की २८० मात्रा में उसे प्रदान किये।" पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश में भारतीयों का मुख्य व्यवसाय कृषि कर्म और पशुपालन था। यह प्रदेश वृषभों की मनमोहक सुन्दरता व स्वस्थता के लिए प्रख्यात था। अन्य व्यवसायों में बढ़ई का कार्य महत्त्वशील था क्योंकि वह युद्ध के लिए रथ और कृषि तथा व्यापार आदि के लिए गाड़ियों तथा छकड़ों का निर्माण करता था। पंजाब में अनेक नदियों के अस्तित्व और सिकन्दर की सेना का नौकाओं के बेड़े से नदियों में यात्रा करना इस बात के द्योतक हैं कि उस युग में नौ-निर्माण शिल्पकला प्रचलित थी और जल-यात्रा से लोग अवगत थे।

कुछ इतिहासकारों का मत है कि सिकन्दर के आक्रमण के परिणामस्वरूप आवागमन तथा स्थलीय और सामुद्रिक व्यापार के नवीन मार्ग खुल गये जिससे भारत तथा पाश्चात्य देशों में परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क बढ़ा और उनमें सांस्कृतिक विनिमय का कार्य सुलभ हो गया। स्ट्रैबो (Strabo) और सिल्यूकस के उत्तराधिकारी के जल-सेनानायक पेट्रोक्लीस (Patrocles) ने इन मार्गों का उल्लेख किया है। बेबीलोन में ढले हुए यूनानी ढंग के सिक्के जो भारत के सीमाप्रान्त में बहुसंख्या में प्राप्त हुए हैं इस बात के प्रमाण हैं कि इन मार्गों से खूब व्यापार होता था।

सिकन्दर के आक्रमण के ऊपर वर्णित परिणामों के अतिरिक्त कुछ स्पष्ट सांस्कृतिक प्रभाव भी हुए हैं। भारत और उसकी सीमा पर अनेक यूनानी केन्द्र प्रतिष्ठित हो गये। सिकन्दर ने जो सेना अपने पीछे छोड़ी थी, वह तो उसके लौटने के बाद शीघ्र ही विनष्ट हो गयी परन्तु उसके बसाये हुए नगर दीर्घकाल तक रहे। इसके अतिरिक्त सिकन्दर के साम्राज्य के विकिरण के पश्चात् सीरिया, बेक्ट्रिया और एशिया के अन्य भागों में जो यूनानी राज्य स्थापित हुए थे उन्होंने और भारत में बसाये हुए यूनानी नगरों और केन्द्रों ने भारत और यूरोप के मध्य सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित कर दिया। इसी सम्पर्क

के फलस्वरूप भारतीय सिक्कों के मुद्रण में प्रगति हुई। अब भारत में यूनानी ढंग के आधार पर उचित आकृति और मुद्रण के सिक्कों का प्रचलन हुआ; इससे पूर्व चिह्न-मुद्रित सिक्के चलते थे। सम्पर्क का दूसरा परिणाम यह हुआ कि भारतीय ज्योतिष यूनानी ज्योतिष प्रणाली से बहुत प्रभावित हुई। सम्राट् कनिष्क के शासनकाल में जब बेक्ट्रिया उसके साम्राज्य का एक भाग था, तब उसने यूनानी शिल्पकारों को बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाओं के निर्माण के लिए आमन्त्रित किया था। इससे भारतीय और यूनानी मूर्ति-कला का सम्मिश्रण हुआ। भास्कर-कला में गान्धार शैली का प्रादुर्भाव सिकन्दर के आक्रमण का दूरस्थ परन्तु स्पष्ट परिणाम है।

यूनानियों ने भी अपने सम्पर्क के काल में भारतीयों से विज्ञान, कला, दर्शन, गणित और चिकित्साशास्त्र का बहुत कुछ ज्ञान ग्रहण किया। भारतीय दर्शन ने यूनानी संस्कृति और विचारधारा को बहुत कुछ प्रभावित किया। यह भी सुझाया गया है कि इसने ईसाई धर्म पर भी प्रभाव डाला है। इसका उल्लेख आगे अध्याय ६ में किया गया है।

मौर्यों के पूर्व युग अथवा प्रारम्भिक मगध के युग में सांस्कृतिक जीवन

जैन और बौद्ध साहित्य, विशेषतः त्रिपिटक और जातक ग्रन्थ, मौर्य साम्राज्य के पूर्व तीन सौ वर्षों के युग में उत्तरी भारत के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक जीवन पर विशेष प्रकाश डालते हैं। इसका वर्णन निम्नलिखित है :

राज-पद्धति—राजनीतिक दृष्टि से भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था जिनमें से कुछ तो साम्राज्य-निर्माण के लिए युद्ध करने वाले राजतन्त्र थे और कुछ कबाइली प्रदेशों के गणतन्त्र राज्य थे। यद्यपि शासक-वर्ग क्षत्रिय था, तो भी अक्षत्रिय नरेश होते थे। जातक २-३२६ में हमें यह पढ़ने को मिलता है कि एक अत्याचारी क्षत्रिय नरेश को पदच्युत कर एक ब्राह्मण राजा बनाया गया। जिन राज्यों में राजा शासन करता था, वहाँ उसे विशेष सर्वोपरि अधिकार और सुविधाएँ होती थीं। भूमि-कर और अन्य करों पर राजा का अधिकार होता था। राजकीय करों में एक ऐसा भी कर होता था जिसे जनता राजा के उत्तराधिकारी के जन्म के अवसर पर देती थी। व्यापारी चुंगी (Octroi) तथा अन्य प्रकार के कर देते थे। कभी-कभी राजा बेगार भी लेता था तथा वन्य-भूमि और बिना स्वामी की सम्पदा पर भी अपना स्वत्त्व रखता था। प्रायः राजा कुलागत होते थे और शासन करने वाला नरेश अपने उत्तराधिकारी को मनोनीत भी करता था। परन्तु राजा के निर्वाचन के हवाले भी प्राप्त हुए हैं। यद्यपि निर्वाचन राजवंश के सदस्यों तक ही सीमित

था परन्तु कभी-कभी बाहर के अन्य व्यक्तियों को भी पसन्द कर लिया जाता था।

राज्यों की वृद्धि और नवीन प्रदेशों के अनुयोजन से महाक्षत्रप (viceroy) और प्रान्तपति का पद दिन-प्रतिदिन अधिक महत्त्वशाली होता गया और प्राय: इस पद पर राजवंश के राजकुमार ही होते थे, कभी-कभी इसके लिए राजसभा के प्रमुख सेनापतियों को भी पसन्द कर लिया जाता था। राज्याधिकारियों में पुरोहित विशेष महत्त्व का होता था; कभी-कभी एक ही व्यक्ति तीन राज्यों का पुरोहित होता था जैसा काशी, कौशल और विदेह में था। कुछ राज्यों में पुरोहित की अपेक्षा सेनापति का, जो प्राय: राजकुमार या उच्चराजकीय पद का व्यक्ति होता था, महत्त्व अधिक होता था। अपने सैनिक कर्तव्यों के अतिरिक्त उसे देश के कुछ भागों में न्याय भी करना पड़ता था। राजा की प्रमुख कार्यकारिणी में पुरोहित, सेनापति और अन्य मन्त्री होते थे।

इस युग में शासन-विकास का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग महामात्र नामक उच्च अधिकारी वर्ग का प्रादुर्भाव था। वैदिक युग में ये अज्ञात थे और मौर्य तथा शतवाहन युग के बाद विलुप्त हो गये। इनके कर्तव्य विभिन्न प्रकार के थे। कुछ सामान्य शासन की देखभाल करते, कुछ न्याय करते, कतिपय के अधिकार में सेना थी और कुछ अन्य भूमि-कर आदि की व्यवस्था करते थे।

न्याय शासन में यद्यपि राजा निर्णय देकर महत्त्वशाली कार्य करता था, पर न्याय का अधिक कार्य अब 'व्यावहारिकों' या न्यायाधीशों को सौंप दिया गया था। एक के ऊपर एक अनेक न्यायालय थे। लड़ाकू हाथियों को सेना का नियमित अंग बनाकर सैनिक-व्यवस्था में महत्त्वशाली परिवर्तन किये गये। इस युग की सेना के चार विभाग थे—पैदल सिपाही, अश्वारोही, रथ और हाथी। इनके अतिरिक्त श्रमिक, गुप्तचर और स्थानीय पथ-प्रदर्शक भी थे। यूनानी लेखकों ने यह संकेत किया है कि युद्ध-कला में एशिया के अन्य लोगों की अपेक्षा भारतीय अधिक श्रेष्ठ थे।

राज-विहीन राज्य 'गण' के नाम से प्रख्यात थे। ये विभिन्न प्रकार के थे—कुछ सार्वभौमिक राज्य थे और अन्य पार्श्ववर्ती प्रभुसत्तात्मक राज्यों को कर देते थे, परन्तु ये स्वायत्त-शासन का पूर्ण लाभ उठाते थे। प्रत्येक की एक 'परिषद्' होती थी जो कई अधिवेशन करती थी और कानून बनाती थी। राजधानी में इस साधारण सभा के अतिरिक्त राज्य में सभी महत्त्वशाली स्थानों में स्थानीय परिषदें होती थीं। इन गण राज्यों की कार्यकारिणी की सत्ता एक ही प्रमुख व्यक्ति या अनेक प्रधान व्यक्तियों के हाथों में रहती थी जिन्हें 'राजन्', 'गण-राजन्' या 'संघ मुख्य' कहते थे। 'राजन्' की उपाधि

राज्य के सभी प्रधान व्यक्तियों के लिए थी। राजन् के अतिरिक्त 'उप-राजन्' 'सेनापति', 'भण्डारिक' आदि अन्य अधिकारीगण थे। कुछ गणतन्त्र राज्यों के शासन में नियमित पुलिस अधिकारियों का भी उल्लेख है।

सामाजिक जीवन

जातक कहानियों में वर्णित नागरिक जीवन की झलक यह संकेत करती है कि यदि वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप प्राप्त आधुनिक जीवन की कुछ सुविधाओं और रम्यता को अलग कर दिया जाय तो उस प्रारम्भिक युग में भी मनुष्य उसी सुख-वैभव से रहते थे जैसे आज। यद्यपि अधिकांश में साधारण जनता मिट्टी के बने कच्चे मकानों में ग्रामों में रहती थी, परन्तु प्राचीरों से सुरक्षित नगर भी थे। गरीबों के मकान छोटे और साधारण तथा धनिकों के विशाल और आकर्षक होते थे, जो बाहर-भीतर सुन्दर और रंग-पुते होते थे। यद्यपि नगरों की संख्या कम थी परन्तु उनमें महत्त्वपूर्ण भवन होते थे, जैसे परिषद-भवन, न्यायालय, राजमहल, उच्च प्राचीरों में प्रहरी-स्तम्भ और द्वार आदि। इन नगरों में जीवन के सभी आमोद-प्रमोद के साधन तथा सुविधा वाले स्थान थे जैसे मनोरंजन के उद्यान, पानी से छिड़के हुए प्रकाश-युक्त जन-मार्ग, जुआ-घर, नृत्य-भवन, आमोद-प्रमोद के स्थान, व्यापारियों और शिल्पियों के स्थान आदि। राजमहल लकड़ी और पाषाण के होते थे। बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों में सात मंजिल वाली उच्च अट्टालिकाओं का उल्लेख है। लोग गायन और नृत्य के शौकीन थे और उन्हें पशु-युद्ध, शतरंज-सा एक खेल, और नटों की क्रीड़ाओं में अधिक अभिरुचि थी। योद्धाओं का प्रमुख आमोद-प्रमोद द्यूत-क्रीड़ा, आखेट, युद्ध की कहानियों का श्रवण, रंग-भूमि और अखाड़े के खेल थे। सिन्धु-घाटी में जनता के वसन में एक सूती कुर्ता और अन्य दो वस्त्र और होते थे जिनमें एक तो उनके कन्धों पर लपेटा जाता था और दूसरा मस्तक पर बाँधा जाता था। पुरुष कान में बालियाँ पहनते थे, अपनी दाढ़ी को रंगते थे और छाते तथा जूतों का उपयोग करते थे। कुलीन वर्ग की नारियाँ अपने मस्तक को स्वर्णित तारों से अलंकृत करती थीं और अनेक बहुमूल्य रत्न-जड़ित हार और चूड़ियाँ पहनती थीं। गंगा के प्रदेश में कुलीन वर्ग की कन्याएँ हार-कन्दौरे और घुँघरू वाले नूपुर और पायजेब पहनती थीं; वेसन या पीले अथवा लाल रेशम के चमकीले वसन धारण करती थीं।

पशु-वध क्रूर, नृशंस और घृणास्पद माना जाता था। खाद्य सामग्री की बनी हुई पशुओं की प्रतिमूर्तियों को प्राणधारियों के लिए स्थानापन्न करने की प्रथा तथा निरपराध गाय को न मारने की धारणा में प्राणीमात्र के प्रति बढ़ती हुई दया के भाव की आभा झलकती है और इसीलिए मांस का प्रयोग दिन-प्रतिदिन कम होता जा रहा था। फिर भी, यूनानी निरीक्षकों के अनुसार

उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त के भारतीयों का भोजन चावल और स्वादिष्ट परिपक्व मांस था जो मेज पर स्वर्णिम थालों में परोसा जाता था। जब लोग खुले में खाते थे तब एक ही साथ भोजन करने की प्रथा प्रचलित थी। धार्मिक समारोहों और उत्सवों के अतिरिक्त मद्यपान की प्रथा का विशेष प्रचार नहीं था।

घर में सबसे वृद्ध व्यक्ति ही परिवार का स्वामी होता था। वही परिवार के अन्य सदस्यों की देखभाल करता था। सन्तानोत्पत्ति पर बड़ा समारोह मनाया जाता था और नवजात शिशु के माता-पिता को विविध उपहार दिये जाते थे। पर पुत्र-जन्म पर जो आनन्दोत्सव मनाया जाता था, वह पुत्री-जन्म पर नहीं। अतिथि-सत्कार गृहस्थ का कर्तव्य माना जाता था।

इस युग में स्त्रियों की स्थिति में वैदिक युग की अपेक्षा अधिक पतन हो चुका था। समाज में उनकी स्थिति इतनी उपाश्रित थी कि स्वयं गौतम बुद्ध अपने संघ में नारियों को प्रवेश करने के विषय में परांगमुख थे। यद्यपि रूढ़िवादी कानूनज्ञों ने विधवाओं के चिता में जल मरने की स्वीकृति नहीं दी थी, परन्तु उत्तर-पश्चिम में सती-प्रथा से लोग अवगत थे; क्योंकि यूनानी लेखकों ने एक भारतीय सेनापति की विधवा का उल्लेख किया है जो पाणिग्रहण के समय के समान शानदार श्रृंगारों से अलंकृत होकर चिता में स्वयं जलकर भस्म हो गयी थी। सिकन्दर के समकालीन लेखकों ने वर्णन किया है कि नारियाँ रण में खेत रहे अपने सम्बन्धियों के अस्त्र-शस्त्र लेकर पुरुषों के कन्धे से कन्धा भिड़ाकर अपने देश के शत्रुओं के विरुद्ध लड़ती थीं। स्त्रियों को शिक्षा से वंचित नहीं किया जाता था। कुछ नारियाँ तो अपने ज्ञान, विद्वत्ता और तर्क विद्या के लिए प्रसिद्ध थीं। बौद्ध-धार्मिक ग्रन्थ राजकुमारियों द्वारा रचित कुछ छन्दों का उल्लेख करते हैं और ये 'थेरी गाथा' में अभी भी सुरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त नारियाँ नृत्य और संगीत-कला में कुशल थीं। अल्प-अवस्था में विवाह का प्रचलन था। अनेक कुमारियों के स्वयंवर के दृष्टान्त, जो उपलब्ध हुए हैं, इस बात के द्योतक हैं कि उस युग में स्वयंवर-प्रथा प्रचलित थी। पर्दा-प्रथा का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। केवल राजकुल की स्त्रियाँ पर्दायुक्त पालकी या सवारियों पर जाती थीं परन्तु कभी-कभी वे इस नियम की अवहेलना भी करती थीं। स्त्रियों को पूर्णरूपेण स्वच्छन्दता थी। यदि राजमहलों की रानियाँ स्वतन्त्रता से घूमतीं और मन्त्रियों से विचार-विनिमय करती थीं, तो साधारण स्त्रियाँ मेलों, उत्सवों और समारोहों में सम्मिलित होती थीं। कुछ स्त्रियों के वैराग्य लेने तथा भिक्षावृत्ति से जीवनयापन करने के विवरण प्राप्त हुए हैं। ये परिव्राजिकाएँ विदुषी तथा बुद्धिमान होती थीं एवं संसार से निर्लिप्त होकर धर्मोपदेशकों के सत्संग का लाभ उठाती थीं।

समाज जाति-प्रथा के आधार पर व्यवस्थित था। बुद्ध और महावीर का उपदेश कि किसी व्यक्ति की जाति जन्म से ही निर्दिष्ट नहीं होनी चाहिए, सर्वसम्मति से स्वीकृति नहीं हुआ था। सामाजिक भेद-भाव दृढ़ होते जा रहे थे और इस युग के अन्त में यूनानी लेखकों ने लिखा है कि अन्तर्जातीय विवाह निषिद्ध थे और सामाजिक प्रथाओं के अनुसार धन्धे और जाति-परिवर्तन की अनुमति नहीं थी, परन्तु अन्तर्जातीय विवाह कभी-कभी राजवंश के तथा उच्च श्रेणी के लोगों में होते थे। बौद्ध लेखकों ने दस्युओं, जाति-बहिष्कृत व्यक्ति और आदिवासियों के अतिरिक्त, चार 'वर्ण' एवं अनेक निम्न श्रेणी की जातियों और व्यवसायों ('हीन' जाति और 'हीन' शिल्प) अस्तित्व को स्वीकार किया है। यद्यपि बौद्ध-ग्रन्थ यह प्रकट करते हैं कि जाति-प्रथा अपनी हीन या अस्पर्श जातियों सहित समाज में घर कर गयी थी, तो भी वे इस बात का उल्लेख करते हैं कि विवाह-प्रथा, एक पंगत में भोजन करने की प्रणाली और व्यवसाय-परिवर्तन के जाति नियमों में कुछ परिवर्तनशीलता थी। ब्राह्मणों ने राज-वंश की स्त्रियों से विवाह किये थे। राजकुमार, पुरोहित और विक्रेता एक साथ भोजन करते और परस्पर विवाह करते थे, ब्राह्मण और क्षत्रिय अपनी जाति और सामाजिक सम्मान के खोये बिना ही कृषि-कर्म करते व्यापार करते और भृत्य (नौकर) का कार्य करते थे। अतएव यह स्पष्ट है कि सामाजिक जाति विभाग और आर्थिक व्यवसाय परस्पर पूर्ण रूप से समावृत नहीं होते थे, यद्यपि बौद्ध-ग्रन्थ यह प्रमाणित करते हैं कि शिल्पकारों, विक्रेताओं और व्यवसायियों में अपने पूर्वजों के धन्धे को अपनाने का स्वाभाविक अनुराग था।

आर्थिक दशा

अधिकतर लोग पास-पास सटे हुए ग्रामों में रहते थे और शान्तिपूर्वक कृषि-कर्म करते थे। गाँव के चतुर्दिक बाहर की ओर खेत (ग्राम क्षेत्र) होते थे। सींचने वाली नालियों द्वारा खेत अनेक टुकड़ों में विभक्त होते थे। प्रायः खेतों के भाग छोटे ही होते थे यद्यपि बड़े टुकड़ों का अभाव न था। प्रत्येक परिवार के अपने खेत होते थे जो उनके स्वामी और उसके पुत्रों अथवा उनके द्वारा लगाये हुए श्रमिकों द्वारा जोते जाते थे। ग्रामों में विशाल भूमि वाले जमींदारों, भिखारियों और अत्यन्त दरिद्र व्यक्तियों का कोई उल्लेख नहीं है। चावल, जौ और गन्ने की उपज मुख्य थी। गाँव के शासन-प्रबन्ध की व्यवस्था ग्राम के मुखिया, ग्रामभोजक के अधिकृत गाँव की परिषद् करती थी। ग्रामभोजक गाँव की परिषद् या पंचायत द्वारा चुना जाता था, न कि प्रदेश के राजा द्वारा। ग्रामभोजक ही राज-कर की, जो भूमि की उपज का छठे से बारहवें भाग तक होता था, वसूली के लिए उत्तरदायी था। यह राज-कर अनाज के

रूप में एकत्र किया जाता था और देश के अनेक भागों में स्थित अन्न-गोदामों में अकाल या शुष्कता के विरुद्ध सुरक्षा के हेतु संग्रहीत किया जाता था। गाँव के कृषक साधारणतया सन्तुष्ट होते थे। उनमें सार्वजनिक हित के लिए सहयोगपूर्ण जीवन प्रणाली और दृढ़ नागरिक भावना का विकास हो चुका था। बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ यह उल्लेख करते हैं कि स्वस्थ शरीर वाले समस्त ग्रामीण तालाबों, सड़कों, सिंचाई की नहरों आदि सार्वजनिक हित के कार्यों में परस्पर सहयोग देते थे। देहाती जनता में ग्राम के कृषकों के अतिरिक्त बहुसंख्यक 'गोपालक' होते थे जो पशुओं को चराया करते थे। इनकी नियुक्ति राजकीय पशुओं की रक्षा करने के हेतु और ग्रामीणों के पशुओं के समूहों को ग्राम के सार्वजनिक चरागाहों पर ले जाकर चराने के लिए होती थी। साधारणतः गाँव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करता था और वहाँ जीवन सादा, सरल और स्वाभाविक था तथा ग्रामीण सुखी और सन्तुष्ट थे। अपराध विरले ही होते थे।

देहात और नगर दोनों क्षेत्रों की आबादी का बहुसंख्यक भाग हस्त-शिल्पकारों का था। व्यवसायों की संख्या अधिक थी और इनमें हाथीदाँत का कार्य करने वाले, जुलाहे, चित्रकार और पाषाण-कार्य से शिल्पियों की कमी न थी। कुछ शिल्पकलाएँ और व्यवसाय उनके कार्य की वृत्ति के अनुसार उच्च और निम्न श्रेणी के माने जाते थे, उदाहरण के लिए शिकारी, मछुए, चर्मकार, कसाई, सँपेरे संगीतज्ञ, नृत्य और अभिनय करने वाले, आभूषणों व रत्नों का कार्य करने वाले, हलवाई, धातुकार, कुम्हार, माली, नाई, धनुष-बाण बनाने वाले आदि की अपेक्षा निम्न श्रेणी के माने जाते थे। शिल्प-कलाओं में लोग पूर्ण दक्षता प्राप्त कर चुके थे। कुछ व्यवसायों में अत्यधिक विशिष्टीकरण हो चुका था। परन्तु वे व्यवसाय स्थानीय थे और कुछ परिवारों तक ही सीमित थे। साधारणतः पेशे कुलागत हो चुके थे, फिर भी दूसरों के पेशे अपनाने में कोई असुविधा न थी, क्योंकि वर्ण या जाति के अनुकूल सर्वदा व्यवसाय या वृत्ति चुनने की अनिवार्यता न थी। यही कारण है कि कभी-कभी जुलाहे को धनुर्धर बनते, क्षत्रिय को कृषि करते और ब्राह्मण को सुनारी, पशुपालन या वाणिज्य-व्यवसाय करते पाया गया है। एक ही धन्धा करने वाले लोग बहुधा अपने को शिल्प-संघ या 'श्रेणी' में संगठित करते थे। इनमें से प्रत्येक का एक सभापति होता था जिसे 'प्रमुख', 'ज्येष्ठक' या 'श्रेष्ठिन' कहते थे। 'महाश्रेष्ठिन' सर्वोपरि प्रधान और अनुश्रेष्ठिन' उपप्रधान भी होते थे। कभी-कभी विविध श्रेणियाँ या संघ अपनी रक्षा, उन्नति व लाभ के लिए एक ही प्रधान के नीचे संगठित हो जाती थीं। शिल्पी और व्यापारियों के संघ या श्रेणियाँ शिशिक्ष (उम्मीदवार) भी रखती थीं जिन्हें 'अन्तेवासी' कहते थे। जातक

में व्यापारियों के संघों के बीच उद्योग तथा व्यापार के हेतु विस्तृत साझे के हवाले हैं।

देशी और विदेशी व्यापार अत्यन्त प्रगति की दशा में था। वाणिज्य-व्यापार के लिए भारत के अनेक भागों में व्यापार के प्रमुख केन्द्रों को जोड़ते हुए अनेक वणिक-पथ थे। एक बड़ा वणिक-पथ श्रावस्ती, नालन्दा, राजगृह जैसे औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्रों को, मध्य और पश्चिमी एशिया से तक्षशिला के समृद्धिशाली नगर से होता हुआ जोड़ता था। दूसरा पथ राजगृह से अवध में श्रावस्ती होता हुआ गोदावरी के तट तक जाता था। तीसरा जो अधिक दुर्गम था राजस्थान की मरुभूमि से होता हुआ सिन्धु-घाटी के निम्न प्रदेश के सोवीर बन्दरगाहों को और दक्षिण के ऊपरी भाग में नर्वदा के मुहाने तक जाता था। इन पथों की प्रशाखाएँ श्रावस्ती, उज्जैन, कौशाम्बी और बनारस को, जो समृद्धिशाली व्यापारिक केन्द्र थे, जोड़ती थीं। विनय पिटक में पूर्व से पश्चिम को गंगा में जाने वाले प्रमुख जलमार्ग का विवरण है। यह मार्ग गंगा किनारे शहजती पर समाप्त होकर फिर जमुना नदी में होता हुआ कौशाम्बी तक पहुँचता था। व्यापारिक वस्तुओं को लद्दू पशुओं और बैल-गाड़ियों में ले जाते थे। इनकी दीर्घ पंक्तियाँ किराये के सशस्त्र सैनिकों के संरक्षण में आगे बढ़ती थीं। यात्री और व्यापारीगण अपनी यात्रा अनेक मंजिलों में पूर्ण करते थे। राजस्थान की मरुभूमि को पार करते हुए सार्थवाह (कारवाँ) शीतल रात्रि के समय नक्षत्रों की गति जानने वाले पथ-प्रदर्शकों का अनुसरण करते थे। इन राजमार्गों पर डकैतियाँ अधिक होती थीं; विशेषकर निर्जन मार्ग पर व्यापारिक वस्तुएँ लेकर चलना तो भयपूर्ण था।

भारत से बाहर के देशों के साथ स्थलीय और सामुद्रिक दोनों मार्गों से व्यापार होता था। भारत का विदेशी व्यापार एशिया के बड़े स्थलमार्ग से होता था जो गान्धार देश के तक्षशिला नगर और मध्य एशिया से होता हुआ भूमध्यसागर के तट तक जाता था। अरब और पाश्चात्य देशों के साथ भारतीय व्यापार फारस की खाड़ी और लाल समुद्र के जलमार्ग से होता था। बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों में इस बात का प्रमाण है कि भारत का समुद्री व्यापार सिंहलद्वीप (लंका), ब्रह्मा, सुमात्रा और मलाया प्रायद्वीप से बंगाल की खाड़ी के जलमार्ग से होता था। भारतीय इन देशों को समुद्री यात्राएँ और व्यापार के हेतु देशाटन करते थे। भृगुकच्छ (आधुनिक भड़ौंच), सूरपरक (सोपरा, बम्बई के उत्तर में) ताम्रलिप्ति (पश्चिम बंगाल में तामलुक) प्रसिद्ध बन्दगाह थे। जमुना तट पर कौशाम्बी, सरयू पर अयोध्या, राप्ती पर श्रावस्ती, गोदावरी पर पोतना, गंगा पर काशी, चम्पा और बाद में पाटलिपुत्र और सिन्धु पर पट्टल नदी-तट के बन्दरगाहों में से विशेष उल्लेखनीय हैं।

निर्यात की प्रमुख वस्तुएँ रेशम, मलमल, किमखाब, चाकू-कैंची, कसीदे कढ़े हुए वस्त्र, कम्बल, सुवासित द्रव, ओषधियाँ, हाथीदाँत और हाथीदाँत का सामान, सोने-चाँदी के रत्नजटित आभूषण आदि थीं। इनके व्यवसाय से सौदागर अनन्त धन अर्जित करते थे। यद्यपि वस्तु-विनिमय की प्रथा सर्वथा विलुप्त नहीं हुई थी, परन्तु सिक्कों का प्रचलन क्रय-विक्रय के माध्यम के लिए हो चला था। मूल्य की सर्वमान्य इकाई ताँबे का सिक्का था। जिसको 'कर्षापण' कहते थे। इसका वजन १४६ ग्रेन से कुछ अधिक होता था। चाँदी का कर्षापण ५८ ग्रेन से थोड़ा-सा कुछ अधिक होता था इसके अतिरिक्त 'निक्ख' (निष्क) और 'सुवरण' (सुवर्ण) नाम के सोने के सिक्के भी होते थे। ताँबे के छोटे सिक्के 'मासक' और 'काकनिक' कहलाते थे। इन सिक्कों का वजन और मूल्य, ऐसा प्रतीत होता है, विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न था। परन्तु बहुत विशाल नगरों के सिवाय सिक्कों का प्रयोग बहुत अधिक नहीं था। व्यापारी अथवा महत्त्वशाली व्यवसायी-वर्ग या श्रेणियाँ इन सिक्कों पर सिचाई, वजन आदि नियमित करने के लिए अपने चिह्न छाप देती थीं।

धर्म—धार्मिक दृष्टि से मगध उत्कर्ष के प्रारम्भिक दिन भारतीय इतिहास में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण थे। ब्राह्मण धर्म में महान् परिवर्तन हुए। इस धर्म में अनेक सम्प्रदायों के अतिरिक्त नवीन सुधारवादी आन्दोलन इस धर्म की दूषित प्रथाओं को दूर करने के लिए अधिक गतिशील हो गये। इनका विवरण पिछले अध्याय में दिया जा चुका है।

प्रश्नावली

१. भारत के ईरानी आधिपत्य का हाल लिखिए। हिन्दू संस्कृति पर इसके स्थायी अवशिष्ट चिह्नों का पूर्णरूपेण विवेचन कीजिए।
२. "सिकन्दर के भारतीय युद्ध के सांस्कृतिक महत्त्व की अतिशयोक्ति और कम मूल्यांकन दोनों ही हो गये हैं।" विवेचन कीजिए।
३. सिकन्दर के आक्रमण ने कहाँ तक भारत के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन को प्रभावित किया है ?
४. यूनानी इतिहासकारों ने सिकन्दर के भारतीय आक्रमण के समय भारतीय सांस्कृतिक जीवन का क्या विवरण लिखा है ?
५. मौर्यों के पूर्व के युग के सांस्कृतिक जीवन का वर्णन कीजिए।

७

साम्राज्यों का युग

मौर्य साम्राज्य और उसका महत्त्व (३२२ से १८५ ई० पूर्व)

प्राचीन भारत के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास के विद्यार्थियों के लिए मौर्यकाल विशेष अभिरुचि का है। भारत के राजनीतिक इतिहास में मौर्य-वंश से नये युग का श्रीगणेश होता है। इतिहासकारों के लिए मौर्यों का आगमन अन्धकार से प्रकाश का मार्ग है। इसी मौर्यकाल में ही समस्त भारत को सर्वप्रथम एक ही छत्र और शासन के अन्तर्गत एक सूत्र में संगठित कर दिया गया था। मौर्य-साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य ने पंजाब और सिन्ध से यूनानी सैन्यों को खदेड़कर उत्तरी भारत में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, जिसे उसने और उसके उत्तराधिकारियों ने एक शताब्दी से भी अधिक वर्षों तक सफलतापूर्वक बनाये रखा। यह राजनीतिक एकता काल-विज्ञान ज्ञान को अधिक ठीक और स्पष्ट कर देती है और इतिहासकार इससे आगे देश का शृंखलाबद्ध विवरण प्रस्तुत कर सकता है एवं विविध नगण्य छोटे-छोटे राज्यों की अस्तव्यस्तता की भूलभुलैयों में अपने को विलुप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार राजनीतिक एकता से सांस्कृतिक और ऐतिहासिक एकता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त मौर्य राजवंश की छत्रछाया में ही शासन की एकसी प्रणाली, जिसकी दक्षता की प्रशंसा वर्तमान लेखकों ने मुक्त कण्ठ से की है, समस्त विशाल मौर्य साम्राज्य में स्थापित की गयी। चन्द्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों के एकसे शासन के फलस्वरूप देश की सांस्कृतिक उन्नति भी सुलभ हो सकी।

मौर्य सम्राटों ने विश्व के अन्य सुसंस्कृत शासकों, जैसे सीरिया के सिल्यूकस, मिस्र के टालमी, मेसिडोनिया के अस्टोगोनस, लंका के टिसा और नेपाल के राजाओं से अपने राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। इस सम्पर्क से भारतीय और पश्चिमी संस्कृति का परस्पर हेल-मेल बढ़ा। मौर्यकाल में ही भारत पृथ्वी के दूरस्थ प्रदेशों में अपनी सभ्यता, संस्कृति और धर्मप्रसार के हेतु प्रचारक भेजकर विश्व का अग्रगामी सांस्कृतिक दूत बन गया। अशोक के धार्मिक उत्साह ने धर्म के अनेक दूतों को प्रेरणा दी कि वे भारत की सीमा के पार जाकर मनुष्य-मात्र का कष्ट निवारण कर वास्तविक मानव-

सेवा का कार्य करें। प्राकृतिक और भौगोलिक सीमाओं को न मानने वाली अशोक की धार्मिक नीति और सहिष्णुता विश्व-बन्धुत्व पर निर्भर थी। इस प्रकार मौर्यों की छत्रछाया में भारत ने शान्ति, बन्धुत्व और सांस्कृतिक एकता के आधार पर एक नवीन विश्व के निर्माण का प्रयास किया। अन्त में मौर्य-युग में भारत ने निरन्तर शान्ति का आनन्द उठाया और परिणामस्वरूप देश में वाणिज्य-व्यवसाय, विज्ञान, साहित्य और कला की प्रभूत प्रगति हुई।

मौर्य साम्राज्य

चन्द्रगुप्त मौर्य (३२२-२९८ ई० पूर्व)—चन्द्रगुप्त मौर्य के जो पिप्लवन के क्षत्रिय मौर्य-वंश में से था, कौटिल्य की सहायता से अन्तिम नन्द नरेश धन-नन्द का नाश कर दिया और समस्त उत्तरी भाग्न पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। सिकन्दर के उत्तराधिकारी सिल्यूकस ने ३०५ ई० पूर्व भारत पर आक्रमण किया था, पर चन्द्रगुप्त ने उसे पराजित कर दिया। अतएव उसने हिरात से लेकर बलूचिस्तान तक का प्रदेश चन्द्रगुप्त को दे दिया। जैन अनु-श्रुतियों के अनुसार चन्द्रगुप्त अपने पुत्र को सिंहासन दे, उपवास और तप करके मृत्यु को प्राप्त हुआ। वह कुशल, प्रतिभाशाली योद्धा, प्रजाहितैषी शासक व सफल राजनीतिज्ञ था। विश्व के महान् सम्राटों में उसका स्थान है।

बिन्दुसार (२९८-२७३ ई० पूर्व)—चन्द्रगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र बिन्दु-सार राजसिंहासन पर बैठा। उसके शासनकाल में तक्षशिला में विद्रोह हो गया परन्तु वह दबा दिया गया। अपने पिता चन्द्रगुप्त के समान ही उसने पड़ोसी यूनानी राजाओं और एशिया की अन्य शक्तियों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखा। वह शक्तिशाली शासक था और उसने अपने पिता के साम्राज्य को ज्यों का त्यों बनाये रखा।

अशोक (२७३-२३३ ई० पूर्व)—बिन्दुसार के बाद उसका पुत्र अशोक सिंहासनारूढ़ हुआ। वह भारत के इतिहास में महान् प्रतिभावान् व्यक्ति है और उसका शासन भारतीय इतिहास में युग प्रवर्तक है। उसने भारतीय जीवन में एक नवीन चेतना और भावना फूंक दी जो आज भी विद्यमान है। २७३ ई० पूर्व में सिंहासनारूढ़ होने के पूर्व वह तक्षशिला और उज्जैन का प्रान्तीय शासक था। सन् १६२ ई० पू० में उसने कलिंग से युद्ध किया। इस युद्ध ने उसकी जीवन-धारा के प्रवाह को दूसरी ओर पलट दिया। इस संग्राम में मनुष्यों का इतना संहार हुआ कि उसकी भीषणता और अवर्णनीय कष्ट ने विजेता अशोक के मर्म को छू लिया और वह इतना द्रवित हुआ कि उसने प्रतिज्ञा की कि वह भविष्य में युद्ध न करेगा वरन् पवित्रता तथा धर्म के नियमों से जनता के हृदयों पर विजय प्राप्त करेगा। कलिंग-युद्ध के पश्चात् गगनभेदी 'भेरी-घोष' सदैव के लिए मूक हो गया और 'धम्म-घोष' का शान्ति और

सुखप्रद तथा नेहसिंचित नाद चहुँ ओर दिग-दिगन्त में गूँज उठा। उपगुप्त नामक बौद्धभिक्षु के प्रभाव से अशोक ने बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया और बौद्ध धर्म का सबसे महान् आश्रयदाता बन गया। उसने बौद्ध धर्म के प्रचार व प्रसार के लिए कोई कसर न उठा रखी और उसी के सफल सतत् प्रयासों के परिणाम-स्वरूप ही बौद्ध धर्म, जो एक साधारण सम्प्रदाय था, विश्वव्यापी सार्वभौमिक धर्म हो गया। वह शान्ति और नैतिक, उदारता और मानवता का सबसे महान् पुजारी था और वह विश्व-इतिहास के सबसे महान् व्यक्तियों में से है।

अशोक के उत्तराधिकारी—अशोक के सशक्त करों से राजदण्ड के छूटते ही मौर्य वंश के भाग्य निम्नाभिमुख हो गये और उसके उत्तराधिकारियों में गड़बड़ हो गयी। अनुश्रुतियों के अनुसार उसके पौत्र दशरथ और सम्प्रति उसके उत्तराधिकारी हुए पर दोनों ही अपने प्रसिद्ध पितामह के केवल छाया मात्र ही थे। उनका शासन लघुकालीन और महत्त्वहीन था। इनके उत्तराधिकारी तो अत्यधिक दुर्बल थे। उनके शासनकाल में मौर्य शक्ति अधोधः गिरती ही गयी और अन्तिम मौर्य शासक वृहद्रथ को उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने मार डाला और एक नवीन ब्राह्मण राजकुल की स्थापना की।

मौर्यों के पतन के पश्चात् भारत में राजनीतिक एकता विलीन हो गयी और भारत तथा अफगास्तिान में पुनः अनेक छोटे-छोटे राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ। मौर्यों के बाद शुंग नरेशों ने राज्य किया और शुंगों के पश्चात् काण्व राजाओं ने। कलिंग एक स्वतन्त्र प्रान्त हो गया और चेतराज-कुल के खारवेल की छत्रछाया में उसकी प्रभूत उन्नति हुई। दक्षिण में आन्ध्र राज-वंश शक्ति-शाली हो गया और अफगानिस्तान में, जो मौर्यों के अधीन था, इण्डो-ग्रीक राज्यों का उदय हुआ।

शुंग साम्राज्य और उसका महत्त्व (१८४-७२ ई० पूर्व)

पुष्यमित्र शुंग—पुष्यमित्र शुंग ने मगध में एक नये राजवंश की नींव डाली जिसे शुंग वंश कहते हैं और जिसने ११२ वर्षों तक राज्य किया। वह सुदृढ़ शासक था और साम्राज्य दक्षिण में नर्मदा नदी तक विस्तृत था। वह समस्त मध्य देश का सार्वभौम सम्राट् था। अतएव उसका अश्वमेध अनुष्ठान करना न्यायसंगत था। उसके शासनकाल में ही यूनानी नरेश मिनेण्डर ने भारत पर आक्रमण किया था और पाटिलपुत्र को भयभीत कर दिया था। परन्तु उसे पराजित कर पीछे खदेड़ दिया गया। पुष्यमित्र हिन्दू था और ब्राह्मण धर्म का उत्साही संरक्षक था। अतएव उसके शासनकाल में ब्राह्मण धर्म सक्रिय हो गया और बौद्ध धर्म का अहिंसा का सिद्धान्त क्षीण हो गया।

पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी—पुष्यमित्र का उत्तराधिकारी उसका पुत्र अग्निमित्र हुआ जिसका पुत्र वसुमित्र उसके बाद सिंहासनारूढ़ हुआ। वसुमित्र

के सात उत्तराधिकारी हुए परन्तु वे समस्त अयोग्य थे। अन्तिम नरेश देवभूति का ईसवी पूर्व ७३ में उसके मन्त्री वासुदेव कण्व द्वारा बध कर दिया गया और तब वह सिंहासन पर बैठा।

शुंग संस्कृति, धर्म, साहित्य और कला—मौर्यों की दुर्बल, शान्त और बौद्ध राजसत्ता के प्रतिरोधस्वरूप ब्राह्मणों ने जो विद्रोह किया था, शुंग शासन उसी का परिणाम था। अतएव शुंग शासन ने ब्राह्मण धर्म की, उसके यज्ञों की क्रिया विधियां एवं ब्राह्मण की प्रभुतासहित पुनः स्थापना की और इस प्रकार बौद्ध धर्म को भारी आघात पहुँचाया। शुंगों के समय में साहित्य के क्षेत्र में भी प्रभूत उन्नति हुई। शुंग नरेशों के संरक्षण में संस्कृत के विद्वान पतंजलि ने व्याकरण के ऊपर अपना प्रसिद्ध महाभाष्य लिखा और इस प्रकार संस्कृत में एक नवीन प्रेरणा दी। सम्भवतः मनुस्मृति भी इसी काल में रची गयी। वस्तुतः ब्राह्मण धर्म और साहित्य के पुनरुद्धार का, जो गुप्त सम्राटों के शासन-काल में पूर्णरूपेण विकसित हुआ था, शुंगों के साहित्य के समय में श्रीगणेश हुआ था। मध्य भारत के बेसनगर-स्तम्भ-लेख (भेलसा) से यह सिद्ध होता है कि शुंगों के काल का हिन्दू धर्म आज की भाँति संकुचित न था, अपितु इसकी छाया में विदेशी भी साँस ले सकते थे। भागवत धर्म का प्रचार विशेष रूप से था और इसके अनुयायियों की संख्या नित्यप्रति बढ़ती जा रही थी।

इसके अतिरिक्त शुंगकाल से भवन-निर्माण-कला में एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। मौर्य और पूर्व-मौर्य युगों के बौद्ध स्तूपों में लकड़ी की रेलिंग के स्थान पर पाषाण की रेलिंग बनायी गयी एवं भव्य पाषाण के प्रवेश द्वारों का निर्माण किया गया। भरहुत स्तूप की रेलिंग (Railings), जिसका निर्माण शुंगकाल में हुआ था, इसका उदाहरण है। प्रवेश-द्वारों और रेलिंग के स्तम्भों पर की तक्षण-कला प्रकृति और जातक ग्रन्थों की कहानियों का सुन्दर चित्रण करती है। यह भी कहा जाता है कि विदिशा के गजदन्त-शिल्पियों ने ही साँची के असाधारण द्वार तोरण का निर्माण किया था। पूना के समीपवर्ती प्रसिद्ध विहार और इसके पास ही का चैत्य-हॉल, चट्टानों में से कटे हुए स्तूपों के समूह, अजन्ता और नासिक के चैत्य-हॉल, अमरावती का स्तूप, बौद्ध गया का सुन्दर रेलिंग और मध्य भारत में बेसनगर का गरुड़-स्तम्भ तथा भरहुत स्तूप की सुन्दर रेलिंग शुंग स्मारकों और भास्कर कला के अनुपम उदाहरण हैं।

कण्व-कुल (७६-१८ ईसवी पूर्व)

शुंग राजवंश के अन्तिम नरेश का बध करके वासुदेव ने कण्व या काण्व-कुल की स्थापना की। यह राजवंश अल्पकालीन था और इसमें वासुदेव के अतिरिक्त भूमिमित्र, नारायण और सुशर्मन नाम के तीन और नरेश हुए। इनका राज्य पाटलिपुत्र की सीमा तक ही परिमित था। इस वंश के अन्तिम

नरेश को आन्ध्र-वंश ने अलग कर दिया था। काण्व-वंश केवल ४५ वर्ष तक रहा और भारतीय सांस्कृतिक जीवन में उसकी कोई उल्लेखनीय देन नहीं है।

सातवाहन या आन्ध्रों का साम्राज्य—आन्ध्र द्रविड़ लोगों के वंशज थे और तेलगू भाषा बोलते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय ये गोदावरी-कृष्णा नदी के मध्य के प्रदेश पर शासन करते थे और मौर्यों से शक्ति में थोड़े कम ही थे। अशोक की मृत्यु के बाद अपने नरेश सिमुक के नेतृत्व में ये स्वतन्त्र हो गये। यद्यपि सिमुक इस राजवंश का संस्थापक था परन्तु इसे गौरव के शिखर पर पहुँचाने वाला शातकर्णी प्रथम था। वह बहुत शक्तिशाली सार्वभौम नरेश था जिसने विन्ध्या के आसपास के विस्तृत प्रदेशों पर शासन किया। इसकी मृत्यु के पश्चात् सातवाहनों की शक्ति सिथियन आक्रमणों के कारण क्षीण हो गयी थी। परन्तु ईसवी पूर्व २८ में, जब मगध के अन्तिम कण्व-नरेश सुशर्मन का आन्ध्र नरेश ने बध कर दिया, हमें पुनः सातवाहनों का हाल मालूम होता है। गौमती पुत्र शातकर्णी ने सातवाहन-कुल के गौरव की पुनः स्थापना की। इसने महाराष्ट्र के नहपाण को पराजित किया, गुजरात और मालवा के प्रदेशों पर विजय प्राप्त की और एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया जो उत्तर में मालवा से लेकर दक्षिण में कन्नड़ प्रदेश तक विस्तृत था। यज्ञश्री (१६६-१६६) सातवाहन वंश का अन्तिम शक्तिशाली नृपति था। उसके पश्चात् आन्ध्रों का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और उनकी प्रभुता २१५ ई० में सर्वथा लुप्त हो गयी।

तामिल देश—बेंकट पहाड़ियों के पार सुदूर दक्षिण में तामिल या द्रविड़ देश हैं जो अनेक राज्यों में विभक्त था इनमें से चेल, पांड्य और केरल राज्य प्रसिद्ध थे। वर्तमान तंजौर और त्रिचनापल्ली के और उनके समीपवर्ती प्रदेशों पर चोलों का प्रभुत्व था। ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में इनकी सामरिक शक्ति बढ़ी-चढ़ी थी। एक चोल नरेश ने लंका पर भी विजय प्राप्त की थी। पांड्य नरेशों ने जिन्होंने मदुरा और टिनोवेल्ली के जिले तथा दक्षिण ट्रावनकोर के भाग पर अपना अधिकार कर लिया था, ज्ञान, वाणिज्य और व्यापार में प्रभूत प्रगति की थी। ईसवी पूर्व प्रथम सदी में एक पांड्य नरेश ने रोमन सम्राट अगस्टस के पास अपना दूत भेजा था। केरल राज्य, जिसमें मलाबार-कोचीन और उत्तरी ट्रावनकोर थे, पांड्य-राज्य के उत्तर व पश्चिम में था।

इण्डो-ग्रीक (Indo-Greek) **शासन (१६०-५० ई० पूर्व)**—मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद भारत की राजनीतिक एकता विलुप्त हो गयी और लगभग दो सदियों तक उत्तर-पश्चिम भारत इण्डो-ग्रीक नरेशों के आधिपत्य में रहा। ईसवी पूर्व २५० में बेक्ट्रिया स्वतन्त्र हो गया और उसके शासक डेमिट्रियस ने मगध-साम्राज्य के उत्तर-पश्चिम प्रान्त को जीत लिया और १६० ई० पूर्व

में वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। जब वह भारत में अपने भाग्य निर्माण में संलग्न था, बेक्ट्रिया में विद्रोह हुआ और युक्रेटाइड्ज ने एक नवीन राजवंश की स्थापना की और इसने काबुल तथा पंजाब में भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रकार पंजाब दो भागों में विभाजित हो गया—झेलम नदी के पूर्व का प्रदेश डेमिट्रियस के राजकुल के अधिकार में था और उसके पश्चिम का हिन्दूकुश पर्वत तक का भाग युक्रेटाइड्ज के वंश के अधिकार में था। डेमिट्रियस के राजवंश का राजा मिनेण्डर इण्डो-ग्रीक नरेशों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व शक्तिशाली था। पाटलिपुत्र तक उसका प्रभुत्व था। वह धर्मपरायण बौद्ध धर्मावलम्बी था और बौद्ध अनुश्रुतियां में वह मिलिन्द नाम से प्रसिद्ध है।

पार्थियन और शाक्य या सिथियन—बैक्ट्रियन विद्रोह के साथ ही पार्थिया स्वतन्त्र हो गया। मिथिडेट्ज भारत पर आक्रमण कर झेलम और सिन्ध नदी के बीच के प्रदेश पर शासन करने वाला प्रथम पार्थियन नरेश था। इण्डो-पार्थियन शासन ईसा की प्रथम सदी में विलुप्त हो गया।

शक या सीथियन घुमक्कड़ जाति थी जिसे यूची जाति ने भारत की ओर खदेड़ दिया था और इन शकों ने इण्डो-ग्रीक राज्यों का नाश कर दिया और अपनी सत्ता स्थापित कर ली। ईसवी पूर्व दूसरी सदी के मध्य में शकों ने भारत में अपने शासन की नींव डाल दी—तक्षशिला और मथुरा उनके उत्तरी शासन के केन्द्र थे और गुजरात तथा मालवा उनके पश्चिमी सत्ता के केन्द्र थे। पश्चिम के शकों का, जिन्हें पाश्चात्य क्षत्रिय कहते हैं दक्षिण के आन्ध्र नरेशों से दीर्घ-काल तक नियमित रूप से संघर्ष चलता रहा और बाद में गुप्त सम्राटों के सशक्त आक्रमण के आगे उनके घुटने टिक गये। गुजरात के पश्चिम क्षत्रपों के भूपक और नहपाण दो प्रसिद्ध शासक थे और रुद्रदमन मालवा में उज्जैन का शक्तिशाली क्षत्रप नृपति था। भारतीय कला और संस्कृति को जो संरक्षण शकों ने दिया, वह वास्तव में वर्णनीय है।

भारत में कुषाण साम्राज्य—बेक्ट्रिया, काबुल और पंजाब में जो यूनानी शासन और सत्ता थी, उसे शकों ने छिन्न-भिन्न कर दिया परन्तु शकों के राज्यों की कुषाणों ने, जो प्रसिद्ध घुमक्कड़ जाति यूची की एक शाखा थी, ग्रस लिया था। ईसवी सन् ४० में कुषाणों ने अन्य जातियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था और उनका प्रथम नृपति कडफिसीस प्रथम (सन् २५-७८) था। उसके उत्तराधिकारी कडफिसीस द्वितीय (७८-१२०) ने अपना राज्य उत्तरी भारत के अधिकांश प्रदेशों तक बढ़ा लिया था। उसके बाद कनिष्क (१२०-१६२) सिंहासनारूढ़ हुआ जो कुषाण नरेशों में सबसे अधिक महत्त्वशाली था। उसने पेशावर को अपनी राजधानी बनाया और पूर्व में बनारस तक, उत्तर में

तुर्किस्तान तक दक्षिण-पश्चिम में मालवा और गुजरात के प्रदेशों तक दिग्विजय की। अशोक के समान ही वह बौद्ध धर्म का महान् संरक्षक था और उसने काश्मीर में बौद्ध धर्म की महान् सभा आमन्त्रित की जिसने बौद्ध धार्मिक-ग्रन्थों का पुनः अधिकृत प्रणयन किया। उसके शासनकाल में बौद्ध धर्म में महान् परिवर्तन हुआ और महायान मत का प्रादुर्भाव हुआ। वह वास्तु-कला और स्थापत्य-कला का बड़ा प्रेमी था। फलतः कला के क्षेत्र में एक नवीन गान्धार-शैली का आविर्भाव हुआ। उसने पेशावर में एक स्मारक स्तम्भ बनाया और कनिष्कपुर नाम का एक नगर बसाया। उसकी राज-सभा में नागार्जुन, अश्वघोष, वसुमित्र और चरक जैसे मेधावी पुरुष थे। कनिष्क का उत्तराधिकारी हुविष्क था जो १६२ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। परन्तु हुविष्क के उत्तराधिकारी वासुदेव के राज्य-काल में कुषाण साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया था। नाग-राजवंश की दो लोकप्रिय प्रशाखाओं के उत्कर्ष के कारण कुषाण साम्राज्य विलुप्त हो गया।

मौर्य-युग में सभ्यता और संस्कृति

मौर्य-युग की शासन-व्यवस्था—मौर्यों का शासन जनहितवादी निरंकुश शासन सत्ता थी। मौर्य नरेश फारस के नृपति डेरियस के समान निरंकुश स्वेच्छाचारी शासक नहीं थे और न उनके कोई दैवी अधिकार ही थे। उनके कार्य आर्यावर्त के साधारण कानूनों तथा मन्त्रियों के परामर्श से सीमित थे।

केन्द्रीय शासन—राजा—केन्द्रीय शासन में प्रधान राजा था, वह समस्त सत्ता का स्रोत था। उसके कर्तव्य विविध प्रकार के थे और उसकी सत्ता विस्तृत थी। वह न्याय, कानून और सेना का प्रधान था, इनमें उसका विधान और आदेश अन्तिम व अनिवार्य था। वह उच्चस्थ कर्मचारियों की नियुक्ति करता, नीति निर्धारित करता और राज्याधिकारियों के लिए आदेश देता था। यद्यपि उसके हाथों में विस्तृत राजसत्ता थी परन्तु वह सदैव अपने को प्रजा का दास मानता था और प्रजा-कल्याण करने का सतत् कार्य करता था।

मन्त्रि-परिषद और शासन-सेवा के अधिकारी—राजा अपने शासन-संचालन और कर्तव्य-कार्य में मन्त्रि-परिषद् से सहायता लेता था। ये मन्त्री राज्य के आमात्य नामक अधिकारियों में से चुने जाते थे। शासन-संचालन के लिए एक अत्युत्तम और सुव्यवस्थित सचिवालय था जिसमें अनेक विभाग थे। शासन के विविध विभाग उच्च पदस्थ कर्मचारियों के निरीक्षण में कार्य करते थे। आमात्य नाम के विशेष अधिकारी शासन-सेवा में थे। सभी उच्चपदों पर इनकी ही नियुक्तियाँ होती थीं। इसके अतिरिक्त 'अग्रनोमी' (जिला अधिकारी), 'अस्टयनोमी' (नगर के अधिकारी), देहात के हित के लिए 'राजुक', जिलों के लिए 'प्रादेशिक' एवं अन्य उच्च कार्यों के लिए 'महामात्र' या महामात्य नामक अधिकारी होते थे। प्राचीन परम्परागत अठारह 'तीर्थ' या विभागाध्यक्ष होते

थे जिनमें मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज प्रमुख होते थे। अशोक ने धर्म प्रचार के हेतु 'धर्म महामात्र' नामक अधिकारियों की एक नवीन श्रेणी निर्मित की थी।

प्रान्तीय शासन—सुविस्तृत होने के कारण साम्राज्य शासन की सुविधा व दक्षता के लिए अनेक प्रान्तों में विभक्त था। तक्षशिला उत्तरी प्रान्त, उज्जैन पश्चिमी प्रान्त, स्वर्णगिरि दक्षिण प्रान्त, और तोशाली पूर्वीय प्रान्त के केन्द्र थे। इन प्रान्तों का प्रबन्ध राजकुलीय व्यक्ति या सम्राट द्वारा नियुक्त अधिकारी करता था जिन्हें 'कुमार' कहते थे। उसे राजा की ओर से शासन और नीति सम्बन्धी विस्तृत आदेश दिये जाते थे। शासन का कार्य क्रमागत अध्यक्षों का वर्ग (नौकरशाही) करता था। प्रत्येक प्रान्त, जिलों और ग्रामों में विभक्त था। जिले का अधिकारी 'स्थानिक' और ग्राम का अधिकारी 'गोप' कहलाता था।

चर-प्रथा—मौर्य-साम्राज्य में चर-प्रथा या जासूसी प्रथा का विस्तृत और सुदृढ़ जाल बिछा हुआ था। शासक के अधिकारियों पर कड़ी दृष्टि रखने के हेतु गुप्तचर नियुक्त थे। इससे राजा को हर बात की खबर मिलती रहती थी और फलतः वह समीपस्थ और दूरस्थ अधिकारियों के शासन का व्यक्तिगत निरीक्षण करने में समर्थ था। इसके अतिरिक्त चार-कार्य तथा रोध-प्रतिरोध सुदूर प्रान्तों की प्रजा को कर्मचारियों की धाँधली से रक्षा करने में सहायक हुआ होगा।

न्याय-दान—यद्यपि मौर्य नरेश न्याय-विभाग का प्रमुख था, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों और नगरों में विविध प्रकार के विशिष्ट न्यायालय को 'धर्मष्ठेय' कहते थे। देहातों में छोटे मुकदमे ग्राम के वृद्ध पुरुषों की सहायता से ग्राम का प्रधान—ग्रामिक—करता था। अशोक ने न्याय-विभाग में न्याय-दान के सम्बन्ध में अनेक सुधार किये थे। मृत्यु-दण्ड पाये हुए व्यक्ति को दया की याचना करने के लिए या आध्यात्मिक रूप से मृत्यु की तैयारी करने के लिए तीन दिवस की अधिक अवधि दी जाने लगी। निष्पक्ष न्याय के लिए और भ्रष्टाचार को रोकने के हेतु अशोक ने न्यायालय के निरीक्षक नियुक्त किये थे। तत्कालीन दण्ड-नीति अत्यन्त ही कठोर थी और उसे दृढ़तापूर्वक कार्यान्वित किया जाता था। साधारणतः अभियुक्त जुर्माने से दण्डित होते थे, परन्तु भीषण दण्डों का अभाव न था। झूठी गवाही देने, सरकारी कर को टालने, शिल्पी की अंग-हानि करने, विश्वासघात और व्यभिचार करने का दण्ड अंगच्छेद और प्राण-दण्ड था। अभियुक्तों और अपराधियों से अपराध स्वीकार कराने के लिए विविध यातनाओं का प्रयोग होता था। निस्सन्देह यह दण्ड-नीति कठोर थी पर इससे शान्ति और व्यवस्था बनी रही और इस नीति की

की कठोरता ही अपराधों के अवरोध में पर्याप्त सफल हुई। फलतः मेगस्थनीज के अनुसार लोग अपने गृहों में ताले नहीं लगाते थे।

सैनिक-व्यवस्था—मौर्य सेना अत्यन्त ही सुव्यवस्थित थी। यह पूर्ण रूप में अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थी और अनुशासन का बहुत ध्यान रखा जाता था। नरेश स्वयं सेना का नेतृत्व करता था और युद्ध-स्थल में उपस्थित रहता था परन्तु अन्तिम मौर्य नरेश के समय में यह कार्य सेनापति करने लगा था। सेना में पैदल सिपाही, अश्वरोही, हाथी, माल ढोने वाला विभाग और जहाजी बेड़ा होता था। रथों को सशक्त बैल चलाते थे और उनमें दो सेनानी और एक चालक होता था। हाथियों पर महावत के अतिरिक्त तीन धनुर्धारी होते थे। यूनानी लेखकों के अनुसार मौर्य सेना में अश्वारोही और हाथियों की टुकड़ी विशेष रूप से सशक्त होती थी और रण-क्षेत्र में विजय इन पर ही निर्भर रहती थी। सेनानियों के प्रशिक्षण के हेतु विस्तृन नियम थे और सेना में रुग्ण तथा घायलों का विशेष ध्यान रखा जाता था और इसके लिए सेना में डाक्टरों और नर्सों की एक टुकड़ी होती थी। सेना का समस्त नियन्त्रण नरेश द्वारा नियुक्त सेनापति के हाथों में था। सेना की सुव्यवस्था के लिए सेना का दफ्तर था जिसके तीस सदस्य होते थे और जो पाँच सदस्यों के छह मण्डलों में विभाजित थे। जल-सेना, सेना का माल ढोने वाला विभाग और सेना को रसद पहुँचाने वाला दफ्तर मौर्यों के नवीन प्रवर्तन थे। राज्य सैन्य तथा व्यापार-वाणिज्य के लिए बन्दरगाहों, घाटों, पुलों और जहाजों की देखभाल करता था।

राज्य की आय—धान्य और मुद्राएँ दोनों के रूप में ही कर लगाये जाते थे और स्थानीय अधिकारियों द्वारा संग्रहीत किये जाते थे। राज्य की आय का प्रमुख साधन भूमि-कर था और यह भूमि की कुल उपज का चतुर्थांश होता था। इसके अतिरिक्त आय के अन्य साधन विक्रय-कर, मदिरा पर कर, वन सीमाओं पर कर, खानों पर कर, जल में से मोतियों के निकालने और मछलियों के पकड़ने के लिए कर, सिंचाई का कर, दण्ड के जुर्माने, विशेषज्ञों से शुल्क (Licence Fees) तथा घाटों और पुलों के कर होते थे। मौर्यों की कर-प्रणाली आज की भारतीय कर-प्रणाली से सैद्धान्तिक रूप से भिन्न नहीं है। चाणक्य की ही आय-प्रणाली अंग्रेजी शासन तक चली आयी और उन्होंने उसे समुचित रूप से परिपूर्ण कर दिया।

सिंचाई-व्यवस्था—मौर्य शासन ने सिंचाई के लिए नियमित विभाग स्थापित किया था जो सिंचाई के साधनों की देखभाल करता, सिंचित होने वाली भूमि को नापता, खेतों में सिंचाई के लिए पानी देने की मात्रा निर्धारित करता और नहरों का निरीक्षण करता था। नहरों से पानी लेने के लिए

कृपकों को कर देना पड़ता था। नहरों तालावों का निर्माण और उनकी व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य माना जाता था। गिरनार में सुप्रसिद्ध सुदर्शन झील चन्द्रगुप्त के शासनकाल में प्रान्तपति पुष्पगुप्त के निरीक्षण में निर्मित की गयी थी और सम्राट अशोक के समय प्रान्तपति तुशाष्फ ने इसी झील में से नहरें निकाली थीं।

आवागमन के साधन—मौर्य-शासन के विविध विभागों में सड़कों का भी एक विभाग था जो जन-मार्गों की व्यवस्था करता, यात्रियों के लिए धर्मशालाओं की देखभाल करता और नदियों पर पुल बनाने आदि का कार्य करता था। सड़कें ३२ फुट चौड़ी थीं और कुछ प्रमुख सड़कें तो दूनी चौड़ी होती थीं। दूरी प्रकट करने के लिए प्रति दो हजार गज पर मीलों के पत्थर (mile stones) लगे थे। अशोक ने सड़क के दोनों ओर छायादार वृक्ष लगवाये, कुएँ खुदवाये और मनुष्यों तथा पशुओं के लिए औषधालय स्थापित किये।

स्वायत्त-शासन— शासन में इतना अधिक केन्द्रीकरण होने पर भी स्वायत्त शासन के लिए क्षेत्र खुला था। मौर्यकालीन भारत में स्वायत्त गणराज्य थे तथा देहातों और नगरों में न्याय और स्थानीय विषयों का प्रबन्ध स्वायत्त शासन के आधार पर होता था। स्वयं पाटलिपुत्र नगर का प्रबन्ध तीस व्यक्तियों की एक सभा करती थी। इनसे पाँच-पाँच सदस्य छह छोटे मण्डलों में विभक्त होकर शिल्पियों का निरीक्षण, विदेशियों की गतिविधि देखना, जनगणना करना, वाणिज्य व्यवसाय एवं वस्तु-निरीक्षण तथा कर-वसूली के कार्य करते थे। इससे यह अनुमान है कि राज्य के तक्षशिला और उज्जैन जैसे विशाल नगर ऐसी ही प्रणाली से शासित होते होंगे।

नौ-चलन—चन्द्रगुप्त मौर्य ने नौ-वाहिनी विभाग का निर्माण किया था। राज्य का यह बड़ा विभाग एक मन्त्री के अधिकार में था जो नौ-चलन (navigation) और पोत सम्बन्धी विषयों का प्रबन्ध करता था। मौर्य सरकार पोतों का निर्माण करती और उन्हें वाणिज्य-व्यापार में यातायात के हेतु किराये पर देती थी।

जनगणना—मेगस्थनीज और अर्थशास्त्र से ऐसा प्रकट होता है कि वार्षिक जन गणना के लिए मौर्य राज्य का एक स्थायी विभाग था। ग्राम के अधिकारी और जनगणना विभाग प्रत्येक ग्रामों में चारों वर्णों के निवासियों का लेखा-जोखा रखते थे और कृषकों, ग्वाले, व्यापारियों, शिल्पियों, दासों, प्रत्येक परिवार के युवक और बूढ़े मनुष्यों की संख्या, उनके चरित्र, व्यवसाय, आय-व्यय आदि की गणना करते थे। इसी प्रकार नगरों में नगर के अधिकारी भी ये कार्य करते थे। विदेशों से आने और जाने वाले व्यक्तियों तथा संदिग्ध मनुष्यों का विवरण भी रखा जाता था।

जन-स्वास्थ्य और स्वच्छता—जनता के सुख स्वास्थ्य के लिए भी मौर्य सरकार सतर्क थी। औषधि-उपचार के लिए पूर्ण व्यवस्था थी और विशाल औषधालय थे। अर्थशास्त्रों में वैद्यों, शल्य-चिकित्सकों, शल्य यन्त्रों, नर्सों (nurses) और विष के विशेषज्ञों का विवरण है। जनता के स्वास्थ्य की रक्षा के हेतु धान्य, तेल, नमक, सुवासित पदार्थ, औषधि और क्षार वाले पदार्थों में किसी का मिश्रण करना राजकीय कानून द्वारा दण्डनीय अपराध माना जाता था। नगरों और घनी बस्तियों वाले स्थानों में स्वच्छता के लिए भी कठोर कानून थे। सड़कों और जन-मार्गों में कूड़ा-कचरा फेंकना और गन्दा पानी इकट्ठा करना दण्डनीय अपराध था। मन्दिरों, राजकीय भवनों, तीर्थस्थानों, जलाशयों और तालाबों के समीप उत्पाद करना या मल-मूत्रादि से उनको अपवित्र करना भयंकर अभियोग माना जाता था। मृत पशुओं को या मानव शवों को नगर में फेंक देने पर जुर्माने होते थे।

राज्य का विस्तृत कार्यक्षेत्र—राज्य के कार्यक्षेत्र में मौर्य-काल में आश्चर्य-जनक विस्तार हुआ। पहले राज्य का उद्देश्य आन्तरिक उपद्रवों तथा बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करना था; परन्तु अब उसका ध्येय राज्य की सर्वतो-मुखी उन्नति समझा जाने लगा। आर्थिक प्रगति तथा भौतिक दृष्टि से देश को समृद्धिशाली बनाने के लिए राज्य ने उद्योगों और व्यवसायों को चलाने, नवीन नगरों और बस्तियों को बसाने, नयी भूमि को कृषि-कर्म-योग्य बनाने, बाँध-निर्माण करने, खानें खुदवाने तथा शिल्पियों को संरक्षण देने की नीति अपनायी। साधारण जनता तथा उपभोक्ताओं के हितों का ध्यान रखते हुए स्वास्थ्य और स्वच्छता के कठोर नियम राज्य की ओर से बनाये गये। नाप और तोल को स्थिर करने, वस्तुओं के क्रय-विक्रयों को नियन्त्रित करने एवं वस्तुओं के संचय और मुनाफाखोरों को रोकने के लिए राज्य की ओर से अधिकारी और निरीक्षक नियुक्त किये जाने लगे। श्रम-कानूनों का प्रारम्भ मौर्य राज्य से ही हुआ। शिल्पी का हाथ या आँख बेकार कर देने अथवा उसके शरीर को कष्ट पहुँचाने पर प्राणदण्ड दिया जाता था। वर्तमान युग में राज्य जिस आयोजित अर्थ-व्यवस्था को श्रेयस्कर समझकर कार्यान्वित करने का सतत् प्रयत्न कर रहे हैं, मौर्य राज्य में उसका प्रतिपादन किया जा चुका था। राज्य का कार्य क्षेत्र भौतिक समृद्धि तक ही सीमित नहीं था वरन् जनता की धार्मिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक प्रगति की ओर राज्य सदैव प्रयत्नशील रहता था। फलतः मद्यपान, घूस, वेश्यावृत्ति आदि दुष्ट प्रवृत्तियाँ राज्य द्वारा नियन्त्रित थीं। नैतिकता वृद्धि एवं धार्मिक प्रगति के लिए राज्य ने धर्म महामात्र नामक अधिकारी नियुक्त किये थे तथा धर्म-प्रचारकों, कलाकारों एवं विद्वानों को राज्य प्रोत्साहित करता था। अनाथों, निस्सहायों

एवं दरिद्रों के कष्ट-निवारणार्थ धर्मशालाएँ, औषधालय और अन्य क्षेत्र स्थापित किये गये थे।

मौर्य-राज्य ने ऐसी शासन-व्यवस्था का निर्माण किया जिसने विस्तृत प्रदेशों पर प्रत्यक्ष रूप मे शासन करने और कृषि, व्यापार, व्यवसाय आदि से सम्बन्धित नियमों को कार्यान्वित करने का प्रयास किया। यह बात कि मौर्य शासन ने केवल करों की वसूली करने की ओर ही ध्यान नहीं दिया वरन् उत्पादन एवं व्यापार सम्बन्धी कार्यों पर पूर्ण नियन्त्रण रखा, प्राचीन शासन प्रणाली में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था। मौर्यों की राज्य-व्यवस्था प्रणाली युगों तक चलती रही। हिन्दू नरेशों ने अन्त तक मौर्य-साम्राज्य की शासन-व्यवस्था के भूमि-कर, नौकरशाही और पुलिस—तीन महत्त्वपूर्ण अंगों का अनुकरण किया। जिस रूप में यह व्यवस्था मुस्लिम नरेशों को प्राप्त हुई; उन्होंने इसे अपनाया और बाद में उनसे अंग्रेजों ने। यदि वर्तमान भारतीय शासक का उसके आधारों तक विश्लेषण किया जाय तो मौर्य-राज्य की व्यवस्था के सिद्धान्त और प्रथाएँ आज भी कार्यान्वित रूप में दृष्टिगोचर होंगी।

सामाजिक दशा

जनता की समृद्धि—मेगस्थनीज के विवरण से हमें यह विदित होता है कि लोग सुखी और समृद्धिशाली थे। वे पूर्णरूपेण आत्म-निर्भर थे। यूनानी लोग भारत में 'भूमि की उर्वरता, सरिताओं की विशालता, खनिज-पदार्थों की विविधता और सम्पन्नता तथा वनस्पति और पशु-वर्ग पर आश्चर्य करते थे।' जीवन की आवश्यकताएँ ही नहीं अपितु सामाजिक जीवन की समस्त सुख-सुविधाएँ लोगों को प्राप्त थीं।

समाज की उच्च नैतिकता और सादगी—मेगस्थनीज के पर्यवेक्षण उसके समय के भारतीयों में व्यक्तिगत नैतिकता और समाज का उच्च स्तर प्रकट करते हैं। लोग मितव्ययितापूर्वक रहते थे और अच्छी सामाजिक स्थिति को बनाये रखते थे। उनमें चरित्र की श्रेष्ठ सादगी और विशिष्ट बौद्धिक प्रतिभा थी। वे साहसी, वीर और सत्यप्रिय थे और असत्य भाषण के लिए वे शायद ही कभी दोषी हुए हों। धरोहर और वचनों के लिए न तो वे मुकदमेबाजी करते थे और न गवाहों अथवा मुहरों (Seals) की उन्हें आवश्यकता होती थी; परन्तु वे परस्पर एक दूसरे में अटूट विश्वास करते थे और अपनी धरोहर रखते थे। चोरियाँ बहुत कम होती थीं और गृह तथा सम्पत्ति अरक्षित ही रहती थी। यज्ञ के अवसरों के अतिरिक्त लोग कभी मद्यपान नहीं करते थे। चावल उनका प्रमुख भोजन था। सुरा-पान के संयमन और भोजन की सात्विकता के फलस्वरूप लोग अधिकतर रोगों से मुक्त रहते थे। अशोक के नैतिक आदेशों का जनता के ऊपर स्वस्थ प्रभाव पड़ा। समकालीन साहित्य

एवं अशोक की राज्य-घोषणाएँ तथा अभिलेख यह प्रकट करते हैं कि उस समय पाप-पुण्य, परलोक और स्वर्ग में सभी विश्वास करते थे। इससे औसत मनुष्य धर्मपरायणता और सदाचार के पथ पर सदैव आरूढ़ रहता था।

सामाजिक प्रथाएँ और व्यावहारिक रीतियाँ—समाज में दासता की प्रथा थी। स्मृतियों और राजनीतिक साहित्य में ही इसे अंगीकार नहीं किया गया, अपितु अभिलेखों में भी इसका स्पष्ट उल्लेख है। अशोक ने एक दास और श्रमिक में भेद बताया है और सबके लिए दयापूर्ण व्यवहार का सुझाव दिया है। नारियों में सती-प्रथा विशिष्ट रूप से प्रचलित नहीं थी। यह तक्षशिला और पंजाब के कथाई तक ही सीमित थी।

आमोद-प्रमोद—लोग अनेक उत्सवों और समारोहों को मानते थे और अत्यन्त ही आह्लादित होते थे। बसन्तोत्सव, दीपावली, गिरिपूजा आदि समारोहों का अनेक स्थलों पर उल्लेख है। पुष्प-समारोहों के भी हवाले हैं। वस्तुतः ऋतु-परिवर्तन समुचित आमोद-प्रमोद सहित मनाया जाता था। चौपड़ के तो सभी आदी थे और द्यूत क्रीड़ागृहों पर शुल्क था और वे शासन द्वारा नियन्त्रित थे। नारियाँ गेंद के खेलों में अधिक अभिरुचि रखती थीं। स्त्रियों की वाटिकाओं और उद्यानों में प्रायः कन्दुक-क्रीडा का उल्लेख है। आखेट भी लोकप्रिय था। नाव चलाना, तैरना और धनुर्विद्या अन्य साहसी खेल थे जिनमें युवक परस्पर एक-दूसरे की होड़ करते थे। मनुष्यों, हाथियों और अन्य पशुओं में परस्पर युद्ध होता था और अश्वों तथा वृषभों को जोत कर रथों की दौड़ होती थी। मनुष्यों और पशुओं के मल्ल-युद्ध से प्रायः रक्तपात होने के फलस्वरूप अशोक ने बाद में ऐसे युद्धों का निषेध कर दिया था और इनके स्थान पर धार्मिक दृश्यों के खेल-तमाशे प्रचलित किये जिनसे मनोरंजन और नैतिक उपदेश दोनों ही प्राप्त होते थे। बौद्ध लेखकों ने वर्गों की आठ या दस पंक्तियों वाले लकड़ी से तख्ते पर खेले जाने वाले खेल का उल्लेख किया है। और इसी खेल के अन्त में शतरंज के खेल का विकास हुआ। ब्रह्मा, पशुपति, शिव या सरस्वती जैसे देवी-देवताओं के उपलक्ष में प्रायः आनन्दोत्सव होते थे जिन्हें 'समाज' कहा जाता था। इन उत्सवों में से कुछ की यह विलक्षणता थी कि उनमें अस्त्र-शस्त्रों की नकली लड़ाई होती थी, जिसमें दूर-दूर के प्रदेशों के पहलवान और मल्ल भाग लेते थे।

इसके अतिरिक्त गायन, नृत्य और वाद्य संगीत भी विस्तृत रूप से प्रचलित थे और वीणा पर अधिकांश लोग गाते और बजाते थे। जाति भेद की दृष्टि से नृत्य के शिक्षकों का समाज में निम्न स्थान था, परन्तु नरेशों द्वारा नियुक्त शिक्षक राज-सभा में महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली पदों पर थे। चौंसठ कलाओं में, जिनसे एक सुशिक्षित मनुष्य अवगत समझा जाता था, नृत्य और संगीत

का स्थान उच्च था और सभी श्रेणियों के नर-नारियों को इनका अभ्यास करने का आदेश था।

सामाजिक श्रेणियाँ या वर्ग—मौर्य-युग में हिन्दू समाज की दो प्रमुख विशिष्ट प्रथाएँ—वर्ण और आश्रम—निर्दिष्ट स्तर पर पहुँच चुकी थीं। यूनानी लेखक संकेत करते हैं कि किसी भी व्यक्ति को अपनी जाति के बाहर विवाह करने या अपने स्वयं के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय को अपनाने की अनुमति नहीं थी। उदाहरणार्थ, एक सैनिक न तो कृषक, न शिल्पी और न दार्शनिक ही हो सकता था। अशोक के अभिलेख गृहस्थियों और परिव्राजकों का उल्लेख करते हैं। इस प्रकार चार आश्रमों की प्रथा मौर्य-युग में भली-भाँति प्रतिष्ठित थी। विभिन्न सम्प्रदायों के उत्कर्ष, विदेशियों का बहुसंख्या में आगमन और अन्य अनेक कारणों से जाति के नियमों की दृढ़ता और अपरिवर्तनशीलता कुछ अंशों तक प्रभावित हुई थी। मेगस्थनीज संकेत करता है कि समाज सात वर्गों या श्रेणियों में विभक्त था। अर्थात् दार्शनिक, कृषक, शिकारी और गोपाल (पशुपालकों), व्यापारी, शिल्पी, सैनिक, गुप्तचर या निरीक्षक और मन्त्री ये सात वर्ग थे। ग्रीक राजदूत का वर्णन प्रमाणतः अशुद्ध और दोषपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि जातियों और विभिन्न व्यवसायों में संलग्न मनुष्यों की श्रेणियों को समझने में मेगस्थनीज को भ्रान्ति हो गयी थी। फिर भी अशोक के समय में जब देश में बौद्ध-धर्म प्रभुत्वशाली था जातियों की अपरिवर्तनशीलता बहुत कुछ ढीली हो गयी थी।

स्त्रियाँ—यूनानी लेखक और समकालीन अभिलेख नारियों की दशा पर प्रकाश डालते हैं। कुछ दर्शनशास्त्र का अध्ययन करती थीं और सन्तोषप्रद जीवन व्यतीत करती थीं। परन्तु विवाहित स्त्रियों को अपने पतियों के साथ पवित्र ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। बौद्ध और जैन दोनों ही धर्म की भिक्षुणियों को स्वतन्त्रतापूर्वक दीक्षा दी जाती थी, वे समस्त देश में भ्रमण करती थीं और महलों तथा कुटियों में स्वच्छन्दता से आ-जा सकती थीं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियों को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। नरेशों व सामन्तों में बहु-विवाह प्रथा प्रचलित थी। नारियाँ राजा की अंग-रक्षक होती थीं। ऐसा उल्लेख है कि चन्द्रगुप्त मौर्य की शरीर-रक्षा का भार सशस्त्र महिलाओं पर था। अशोक ने अपना मत प्रकट किया है कि नारियाँ अनेक अनावश्यक और तुच्छ समारोहों और क्रिया-विधियों में अभिरुचि रखती थीं। अशोक की द्वितीय रानी कौवकी की दान-दक्षिणा के वृत्तान्त से विदित होता है कि पत्नी अपने स्वामी के साथ बैठकर धार्मिक क्रिया-विधियों में प्रमुख भाग लेती थी। महिलाओं के प्रति किये जाने वाले समस्त अभियोग दण्डनीय होते थे। कारागृहों और कारखानों के अधिकारी भी स्त्रियों के प्रति अपराध करने पर

क्रूरतापूर्वक दण्डित होते थे। किसी महिला का बध करना एक ब्राह्मण की हत्या के बराबर माना जाता है।

शिक्षा—शिक्षा का विस्तृत प्रसार था। जनता के दान और राज्य द्वारा पाठशालाएँ और उच्च शिक्षण संस्थाएँ चलायी जाती थीं। शिक्षा देना ब्राह्मणों का कर्तव्य था, परन्तु बुद्ध के युग के बाद जनता की शिक्षा-दीक्षा का बहुत कुछ भार बौद्ध संघ ने अपने ऊपर ले लिया था। योग्य शिक्षक के पास अभ्यास करने और कुलीन वर्ग में घर पर योग्य शिक्षक को नियुक्त करने की प्राचीन रूढ़ि अभी भी विद्यमान थी। तक्षशिला, उज्जैन और बनारस के विश्वविद्यालय शिक्षा और ज्ञान के केन्द्र माने जाते थे परन्तु उनकी शिक्षा प्रमुखतया धार्मिक और साहित्यिक होती थी। धर्म-शास्त्र, व्याकरण, अलंकारशास्त्र, वर्त (राजनीति और अर्थशास्त्र) का खूब अध्ययन किया जाता था और इनका उल्लेख अनिवार्य विषयों में है। पाणिनि के समय (ईसा पूर्व छठी सदी) से व्याकरण का विशेष महत्त्व माना जाने लगा था और यह अध्ययन का प्रमुख अंग बन गया था। अशोक के अभिलेख और शिलालेख यह संकेत करते हैं कि जनसाधारण में साक्षरता का प्रचार था और मेगस्थनीज ने भी यह देखा था कि मौर्य-युग में शिक्षा का काफी प्रसार था। स्ट्रेबो का कथन है कि भारतीय सन के वस्त्र के टुकड़ों पर लिखते थे और कर्टियस बतलाता है कि लिखने के लिए वृक्षों की छाल का उपयोग होता था। यद्यपि स्त्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध में हमारे पास प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं, परन्तु भिक्षुणियों के द्वारा महिला समाज तक शिक्षा का प्रसार हुआ होगा। व्यावसायिक शिक्षण शिल्पी-संघ द्वारा दिया जाता था।

कृषकों की दशा—साधारण जनता निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त थी—कृषक, गोपाल या ग्वाले और शिकारी, व्यापारी और शिल्पी। जन-संख्या का अधिकांश भाग कृषक ही था। वे सुखी और समृद्ध थे तथा युद्ध एवं अन्य सार्वजनिक सेवाओं से मुक्त थे। अपना समस्त समय कृषि-कर्म में ही अर्पित करते थे। वे जनता के उपकारक और पवित्र वर्ग के माने जाते थे और युद्ध तथा संघर्ष के समय उन्हें क्षति नहीं पहुँचायी जाती थी। वे भूमि-कर के अतिरिक्त भूमि की उपज का चतुर्थांश राज्य-कोष में जमा करते थे। संकटकालीन अवस्था में परोपकारिता और दया के नाते कर देने पड़ते थे परन्तु ऐसे कर कभी-कभी लगाये जाते थे। ग्राम्य-क्षेत्र बाढ़, अग्नि और टिड्डी दल से भयभीत रहते थे। पर इसके लिए मौर्य-राज्य ने निवारणात्मक उपाय और सहायता कार्य की व्यवस्था की थी। अकाल के विरुद्ध पूर्वोपाय करने के लिए शासन के संकटकालीन स्थिति के हेतु अन्नगार स्थापित किये थे। आपत्ति के समय राज्य कृषकों को बीज और अन्न देता था तथा सहायता

के कार्य की व्यवस्था करना था। वर्षा ऋतु में बाढ़ के विरुद्ध पूर्वोपाय के लिए लोगों को नदियों के तटों से पहले ही हटा दिया जाता था। फसलों को विनाश से बचाने के लिए शासन ने चूहों, टिड्डियों, हानिप्रद कीड़ों व जंगली पशु पक्षियों को मारने का प्रबन्ध किया था। आग से जान-माल की रक्षा के लिए भी राज्य ने पूर्वोपाय निर्दिष्ट कर रखे थे। इन उपायों में सहायता के दस यन्त्र थे जैसे अनेक बरतन, पानी के घड़े, सीढ़ी, कुल्हाड़ी, जलती हुई लकड़ी तथा रस्सी को नीचे खींचने के लिए हुक (hook) आदि। कृषि-कर्म के औजार शिल्पी बनाते थे जो करों से ही मुक्त नहीं थे वरन् उन्हें राज्य-कोष से कुछ उपवेतन भी प्राप्त होता था।

व्यापार और उद्योग—पाटलिपुत्र की म्युनिसिपैलिटी की एक कमेटी का कर्तव्य यह था कि राजधानी में निर्मित वस्तुओं का निरीक्षण करना। इससे मौर्यकाल में वस्तु-निर्माण करने वाले उद्योगों का अस्तित्व प्रकट होता है। यूनानी लेखक भी अस्त्र-शस्त्रों और कृषि-औजारों के बनाने और पोतों के निर्माण करने का उल्लेख करते हैं। स्ट्रैबो का कथन है कि वेश-भूषा के वस्त्रों में स्वर्णिम तारों का काम होता था, वे बहुमूल्य रत्नों से अलंकृत होते थे और सुन्दर मलमल के वसनों पर आकर्षक फूल होते थे। गंगा की घाटी के निचले प्रदेश में सर्वोत्कृष्ट मलमल उत्पन्न की जाती थी और दक्षिण भारत की अनेक मण्डियों से विशाल मात्रा में मलमल निर्यात होती थी। उत्तरी-पश्चिमी भारत अपने सूती वस्त्र और रेशम के लिए प्रख्यात था। कपड़ा बुनने का उद्योग समृद्धिशाली था और इससे सैंकड़ों निस्सहाय स्त्रियों को रोजी प्राप्त होती थी। जुलाहे और अन्य शिल्पी संघों में, जिन्हें 'श्रेणी' कहते थे संगठित थे। श्रेणी शक्तिशाली संस्थाएँ थीं। उदाहरण के लिए साँची-स्तूप का अभिलेख यह उल्लेख करता है कि वहाँ की नक्काशी विदिशा के हाथीदाँत के काम करने वाले शिल्पियों के संघों ने बनवायी थी। जुलाहों, ठठेरों, तेलियों, बनियों, बाँस का काम करने वाले बंसफोड़ों आदि के संघों के हवाले हैं। ये संघ प्रायः आधुनिक बैंकों का कार्य करते थे। उद्योगों के संघों में संगठित होने से शिल्पियों को महान् राजनीतिक और आर्थिक शक्ति प्राप्त हो गयी थी। समृद्धिशाली उद्योगों से आन्तरिक और बाह्य व्यापार को प्रोत्साहन मिलता था। आन्तरिक व्यापार के लिए, जो सावधानी व सतर्कता से नियन्त्रित होता था, नावों की सुव्यवस्था थी और समस्त मौर्य साम्राज्य में सुरक्षित आवागमन के मार्गों का विकास हुआ था। गोदामों और माल लाने-ले जाने के लिए साधनों का प्रबन्ध और व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा के लिए विशिष्ट व्यवस्था थी। उस समय अनेक दीर्घ राज-पथ और वणिक-पथ थे। वर्तमान ग्राण्ड ट्रंक रोड का अग्रगामी, उस समय तक सहस्र मील से भी अधिक लम्बा

विशाल राजकीय दीर्घपथ था, जो राजधानी पाटलिपुत्र को तक्षशिला और उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त से संयुक्त करता था। महान् व्यापारिक महत्त्व वाला अन्य दीर्घपथ काशी और उज्जैन होता हुआ जाता था और राजधानी को पश्चिम भारत के विशाल बन्दरगाहों से जोड़ता था। आन्तरिक व्यापार के लिए अन्य अच्छा पथ निर्मित किया गया था जो ताम्रलिप्ति के वन्दरगाह को पाटलिपुत्र से जोड़ता था। इनके सामरिक महत्त्व के अतिरिक्त इस महान् स्थलमार्गों ने व्यापार और वाणिज्य की वृद्धि में महत्त्वपूर्ण योग दिया और फलस्वरूप तक्षशिला, उज्जैन, कौशाम्बी, काशी और पाटलिपुत्र जैसे विशाल नगर थे, जहाँ विविध मार्ग मिलते थे। आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के व्यापार के केन्द्र बन गये थे।

सामुद्रिक व्यापार—मौर्य-युग में सामुद्रिक व्यापार की अत्यधिक वृद्धि हुई। कलिंग विजय के बाद कलिंग-समुद्र तट के महान् बन्दरगाह मौर्य शासन के नियन्त्रण में आ गये। परिणामस्वरूप नौ-चलन कार्यों का अधिक महत्त्व हो गया जैसा कि अशोक की पुत्री संघमित्रा को सामुद्रिक यात्रा से लंका जाने की अनुमति मिल जाने से प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त मौर्ययुगीन भारत ने सीरिया, मिस्र और यूनानी प्रभाव क्षेत्र के अन्य पाश्चात्य देशों से सम्पर्क और सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे और ईसा पूर्व की प्रथम सदी में भारत और रोम साम्राज्य के मध्य भी सम्पर्क स्थापित हो चुका था। पाटलिपुत्र में विदेशी निवासियों की संख्या भी बहुत थी। सम्भवतः उनमें से अनेक अपने व्यापार-विनिमय सम्बन्ध कार्यों के लिए राजधानी में आने वाले व्यापारी थे। प्राचीन ग्रन्थों में भारतीय नाविकों के साहस और कार्यों के वृत्तान्त भारतीयों के प्रबल सामूहिक कार्यों और प्रबल बाह्य व्यापार की ओर संकेत करता है। सुमधुर स्वादिष्ट सुरा, बहुमूल्य चाँदी के बरतन, अन्तःपुर के लिए गाने वाले बालक और लावण्यमयी सुन्दरियाँ, महीन वस्त्र और सर्वोत्कृष्ट मलमल भारत के आयात की कुछ वस्तुएँ थीं और भारत ऐश्वर्य एवं भोग-विलास की वस्तुएँ और सुन्दर महीन मलमल बाह्य देशों को भेजता था।

पूँजीवाद का उत्कर्ष—साधारण शान्ति, देश में व्यापार और वाणिज्य की वृद्धि, साहसी सामुद्रिक उद्योग और समुद्र पार के व्यापार में विकास के कारण भौतिक समृद्धि में वृद्धि हुई और फलस्वरूप पूँजीवाद का उत्कर्ष हुआ। अभिलेखों में यह उल्लेख है कि मौर्ययुगीन भारत में धन-द्रव्य का आधिक्य था। साँची-स्तूप के अभिलेख बहुत धनाढ्य व्यापारियों (श्रेष्ठिन) द्वारा दिये गये दान-उपहारों का वर्णन करते हैं। उन व्यापारियों के नामों का भी उल्लेख है जिन्होंने व्यय-साध्य जीर्णोद्धार किये। विहारों और मन्दिरों को प्रभूत दान

देने की प्रथा प्रचलित थी। बौद्ध और जैन इतिहासवेत्ता इस बात के प्रमाण हैं कि व्यापारिक वर्गों के पास प्रचुर धन-द्रव्य था।

नागरिक जीवन—नगर अनेक थे। सोन और गंगा के संगम पर बसा हुआ साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र भव्य और शानदार नगर था। यह समचतुर्भुज आकृति का था और लम्बाई में लगभग ९ मील चौड़ाई में डेढ़ मील था। इसके चतुर्दिक ईंटों की विशाल प्राचीर थी जिसमें ६४ द्वार और ५७० बुर्ज थे। इसकी सुरक्षा के हेतु ६०० फुट चौड़ी गहरी खाई थी जिसमें सोन नदी का पानी भरा रहता था। राजा का महल केन्द्र में स्थित था और मेगस्थनीज के अनुसार आकर्षण, सौन्दर्य और भव्यता में यह सूसा और एकबताना (Ecbatana) के राजप्रासादों से भी बढ़ा-चढ़ा था। नगरों में नदी के तट का दृश्य, उसके उद्यानों का सौन्दर्य और उसके भवनों की भव्यता और शान लोकोक्तिक हो गयी थी। 'कथा सरित्सागर' में वर्णित है पाटलिपुत्र पुष्पों का नगर, ज्ञान, संस्कृति और ललित-कलाओं का भण्डार तथा 'विश्व के नगरों की रानी' था। नगर में विश्व के समस्त देशों के निवासी विद्यमान थे। पाटलिपुत्र से कुछ कम महत्त्व के नगर जैसे वैशाली, उज्जैन, बनारस और तक्षशिला की समृद्धि में समभागी थे।

नगरों के विकास और शहरों में जीवन की सुख-सुविधाओं और रम्यता की वृद्धि से धनिक वर्गों में नागरिक-जीवन लोकप्रिय हो गया था। उस समय 'नागरिक' से उस व्यक्ति का बोध होता था जिसकी सुविकसित रुचि और प्रवृत्तियाँ होती थीं, जिसके आचार-विचार और चरित्र के विशिष्ट नियम होते थे, जो भोग-विलास और ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करता था और जिसे रसिक जीवन प्रिय था। वात्स्यायन का 'नागरिक' के जीवन का वर्णन उस युग के नागरिक जीवन की दशा का चित्रण करता है। सामान्यतः घरों के चारों ओर उद्यान होता था जिसमें बैठकें, कुंज, पुष्पयुक्त-पौधे और फल के वृक्ष होते थे। चाँदनी रात में समारोहों और प्रीतिभोजों का आनन्द उठाने के लिए मकानों के ऊपर खुली हुई चौरस छत होती थी। सुख और आनन्द के हेतु कमरे सुन्दर और आकर्षक ढंग से सुसज्जित होते थे। चित्र-कला की पेटियाँ संगीत के वाद्य-यन्त्र आदि वस्तुएँ रखने के लिए हाथीदाँत की दीवार-गीर का प्रयोग होता था। शृंगार की वस्तुओं को रखने के लिए मेज होती थी और कुर्सियों के स्थानों पर दरियों का प्रयोग होता था। कमरा पुष्पों से सुसज्जित होता और बाहर-बरामदे में पालतू पशुपक्षी रखे जाते थे। 'नागरिक' की वेश-भूषा सुन्दर और आकर्षक होती थी, उसके वसनों में धीमी मस्त सुगन्ध महकती थी, उसके नयनों में काजल लगा होता था, उसके ओष्ठों पर रंग की लाली छायी रहती थी, उसका ऊपरी वसन रंगीन रेशम का होता था, कभी

यह कसीदेदार और कभी सादा होता था और साधारणतया सुन्दर महीन बनावट का होता था। विविध आकृति के कलापूर्ण आभूषणों वेश-भूषा के सौन्दर्य में वृद्धि करते थे। वसनों की श्रेणी और प्रकार प्रायः मनुष्य की संस्कृति और प्रतिष्ठा तथा स्तर की कसौटी होते थे। मेगस्थनीज का कथन है कि नगर के लोग ललित-कलाओं, वेश-भूषाओं, और रत्न-जड़ित अलंकारों में निपुण थे। "वे सुन्दरता और अलंकारों से प्रेम करते हैं। उसी वेश-भूषा में स्वर्ण के तारों का कसीदा होता है और वह बहुमूल्य रत्नों से अलंकृत होता है और वे सबसे सुन्दर महीन मलमल के पुष्पित वसन पहनते हैं।"

शरीर की मालिश करने की प्रथा का सुविस्तृत प्रचलन था और 'नागरिक' व्यायाम की, जिससे शरीर की गठन और दृढ़ता बनी रहती थी, कभी उपेक्षा नहीं करता था। वह प्रतिदिन दो बार भोजन करता था। चावल, गेहूँ जौ, दूध जैसे प्रमुख भोजन के अतिरिक्त मांस भोजन भी लोकप्रिय और महत्त्वशाली वस्तु थी। बौद्ध-साहित्य में भी आमिष भोजन के बार-बार हवाले दिये गये हैं। विविध प्रकार की सुरा—'मधु' (मीठी) और 'आसव' (शुष्क)—का अत्यधिक प्रचार था। वस्तुतः मद्यपान लोकप्रिय था परन्तु उसका विक्रय भली-भाँति नियन्त्रित था।

नागरिक जीवन का यह चित्र उन अवकाश-प्राप्त धनाढ्य वर्गों का था जिनमें जीवन के सुख-भोग की तीव्र लालसा थी, जो उत्सवों और समारोहों का आनन्द लेते थे, संगीत और अन्य आमोद-प्रमोद तथा विनोद में अपना मन बहलाते थे एवं मनोरंजन के सार्वजनिक स्थानों का संरक्षण करते थे। मध्यम वर्ग के मनुष्य का जीवन भी सुसंस्कृत, सन्तुलित और भौतिक रूप से प्रगतिशील था। वह सुखप्रद गृहों और सुसंस्कृत संगीत में रहता था। वह धार्मिक क्रिया-विधियों और दैनिक कर्म करता था जिससे उसे आध्यात्मिक शान्ति और समाज में निर्दिष्ट गौरवमय स्थान प्राप्त होता था। उसका गृहस्थ और सामाजिक जीवन उन विधिवत् नियमों से भलीभाँति नियन्त्रित था जिसे सभी स्वीकार कर चुके थे। उसे उच्च समृद्धिशाली साम्राज्य के नागरिक की सुख-सुविधाओं का पूर्ण लाभ होता था। सभ्य जीवन की आवश्यक वस्तुएँ ही नहीं अपितु सुख, ऐश्वर्य और भोग-विलास की वस्तुएँ भी उसके लिए उपलब्ध थीं। यद्यपि गाँवों में साधारण औसत मनुष्य के जीवन और धन-सम्पन्न नागरिक जीवन में कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं था, परन्तु यह उस मिथ्यावादी सभ्यता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है जिसका विकास नगरों में सदियों की भौतिक समृद्धि और शान्ति, स्थिर शासन के परिणामस्वरूप हुआ था।

धर्म—वैदिक देवताओं की उपासना अभी भी प्रचलित थी। इन्द्र और वरुण दोनों की स्तुति की जाती थी। इसके साथ ही साथ अन्य देवताओं का

प्रादुर्भाव भी हुआ जो महाकाव्य-काल से लोकप्रिय हो चले थे। उदाहरण के लिए, धर्म-ग्रन्थों के लेखकों ने गंगा नदी को उपास्य बताया है। पाणिनि ने वासुदेव का उल्लेख किया है और यद्यपि कृष्ण की उपासना बाद में अधिक महत्त्वपूर्ण हो गयी थी तथापि उसके भ्राता बलराम की उपासना ईसा की तीसरी शताब्दी में ही प्रचलित हो चली थी। मौर्यों द्वारा शिव और स्कन्द की मूर्तियों के विक्रय और प्रदर्शन का उल्लेख पतंजलि ने किया है।

इस युग में यज्ञों का खूब प्रचार था। ये व्यक्तिगत रूप से होते थे और इनके लिए दार्शनिकों की सेवाओं का उपयोग होता था। ऐसे अवसरों पर प्राणियों के बध को अशोक ने निषिद्ध करने का प्रभुत्व किया था। परन्तु वैष्णव धर्म के सुधारकों ने यज्ञों को आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया। मौर्य-राजवंश के पतन के पश्चात् ब्राह्मण धर्म में विशद पुनरुद्धार की लहर दौड़ पड़ी और अश्वमेध और वाजपेय जैसी क्रिया-विधियाँ और अनुष्ठानों को भव्य रूप में राजा और रंक दोनों ही मानने लगे थे।

प्रमुख धार्मिक सम्प्रदाय ब्राह्मण, बौद्ध और जैन थे। इनके अतिरिक्त योगी, साधु, वैरागी और आजीविका भी थे। अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त ने जैन धर्म ग्रहण कर लिया था। अन्य अनेक सम्प्रदायों के अनुसार आजीविकाओं के प्रतिस्पर्द्धा वाले सम्प्रदाय ने भी सम्राट् अशोक और दशरथ की दानशीलता का आनन्द उठाया था और बौद्ध धर्म अत्यधिक लोकप्रिय हो गया था। बाद में मिनेण्डर का भी इस पर विशिष्ट अनुग्रह रहा और कनिष्क ने इसे ग्रहण कर लिया था। अन्य दूसरा सम्प्रदाय जिसका नियमित रूप से उत्कर्ष हो रहा था भागवत धर्म था, जिसने भक्ति पर अधिक जोर दिया। इसके साथ ही साथ ब्राह्मण धर्म की एक प्रशाखा, शैव मत भी प्रगति कर रहा था।

साहित्यिक गतिविधि—मौर्य-युग में निश्चित रूप से भारतीय ग्रन्थों का विस्तार बताना दुष्कर है। तीन ग्रन्थ—कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र', भद्रबाहु का 'कल्पसूत्र' और बौद्ध 'कथात्वधू' अनुश्रुति के अनुसार उन व्यक्तियों की कृतियाँ हैं जो मौर्य-युग में समृद्ध हुए थे। संस्कृत की वृद्धि ने मौर्य-युग को भारतीय सभ्यता के विषय में आधारभूत कर दिया। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' संस्कृत में युग-प्रवर्तक है। संस्कृत इस काल में सुविकसित भाषा हो गयी और पाणिनि ने संस्कृत को ऐसा व्याकरण प्रदान किया जो आज तक भी व्याकरणाचार्यों के लिए आदर्श रूप है। ५०० से १५० ईसवी पूर्व के युग में कात्यायन और पतंजलि के महान ग्रन्थों की रचना हुई और इनके मध्य में पाणिनि का प्रभुत्व स्थापित हो गया। परिणामस्वरूप संस्कृत का वह रूप निर्मित हो गया जो आज विद्यमान है।

मौर्य-कला

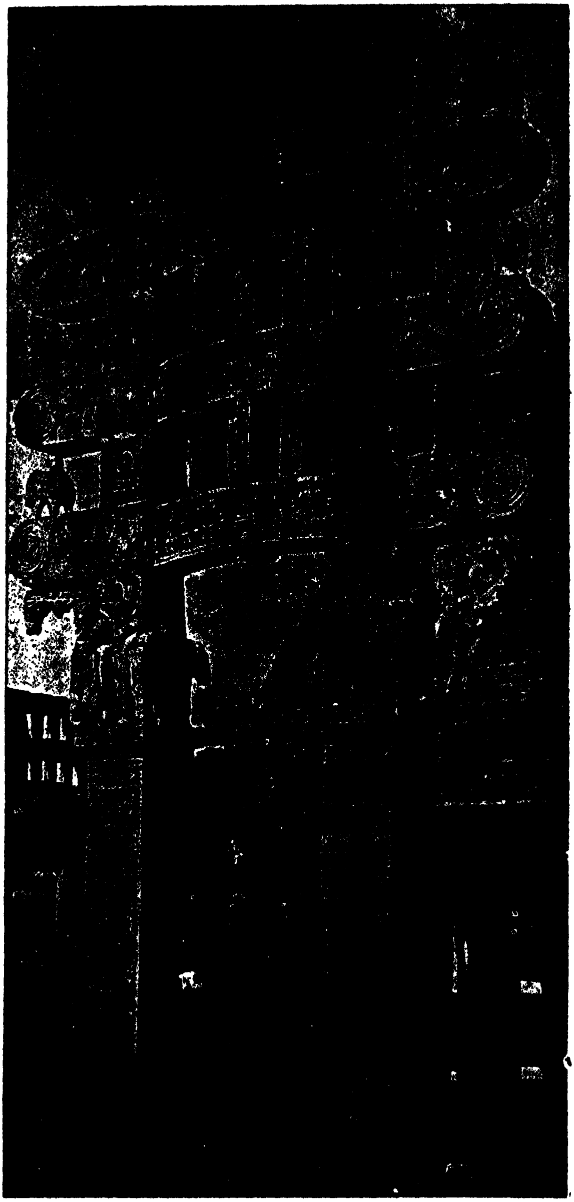
मौर्य-कला भारतीय कला के इतिहास में युग-प्रवर्तक है। हमारे पास ऐसे कोई प्राचीन अवशिष्ट स्मारक नहीं हैं जिनका सम्बन्ध मौर्यों से पूर्व की भारतीय कला से हो। अशोक के राज्यकाल में ही हमें उच्च श्रेणी के बहु-संख्यक स्मारक दृष्टिगोचर होते हैं। इससे हम भारतीय कला की प्रवृत्ति के विषय में निश्चित मत निर्मित करने में समर्थ हुए हैं। वस्तुतः भारतीय कला का इतिहास मौर्यों के उत्कर्ष से ही प्रारम्भ होता है। मौर्य सम्राट् असाधारण निर्माता थे। उन्होंने भव्य भवनों और अन्य कलापूर्ण स्मारकों का निर्माण किया था जिनमें से आज कुछ अवशिष्ट हैं। प्राचीन कला के सर्वोत्कृष्ट नमूनों में इनकी गणना होती है।

चन्द्रगुप्त के भवन, राजप्रासाद और स्मारक लकड़ी के होने के कारण नष्ट हो गये। परन्तु अशोक के पाषाण-स्मारक काल के क्रूर हाथों से बच पाये हैं और भारतीय सभ्यता की सबसे पूर्व की कला के उन नमूनों में से हैं जिनकी अब तक खोज हो पायी है। अशोक के पूर्व के भवन प्रायः लकड़ी के ही बनाये जाते थे। साधारणतया पाषाण का प्रयोग अशोक के राज्यकाल से प्रारम्भ होता है। अशोकयुगीन भारतीय पाषाण-कृतियों की विशिष्टता कला के सुविकसित रूप की ओर संकेत करती है जिसके लिए अनेक सदियों पूर्व से ही शिल्पियों का सतत् प्रयास होता रहा होगा। भास्कर-कला ने जो पूर्णता इस युग में प्राप्त की उससे प्रकट होता है कि इस कला के निरन्तर और सतत् विकास का सुदीर्घ युग रहा होगा। वस्तुतः कतिपय यूरोपीय विद्वानों की तो यह धारणा हो चली थी कि मौर्य-युग के बाद भारतीय कला का इतिहास केवल उसके पतन का ही इतिहास है।

अशोकयुगीन भास्कर-कला और वास्तु-कला—अशोकयुगीन कला के स्मारक निम्नलिखित चार भागों में वर्णित हैं :

(१) स्तूप, (२) स्तम्भ, (३) राजप्रासाद, और (४) गुहाएँ।

१. **स्तूप**—स्तूप गोल आकृति के आधार पर स्थित पाषाण या ईंटों का ठोस गुम्बद के आकार का होता था। कभी-कभी इसके चतुर्दिक सदी या पाषाण की अलंकृत बाड़ (Railing) लगाते थे जिसमें एक या एक से अधिक तोरण-द्वार होते थे जो प्रायः विशाल और भव्य होते तथा भास्कर कलाकृतियों से अलंकृत होते थे। स्तूप के चारों ओर के घेरे को प्रदक्षिणा का रूप दे देते थे। बुद्ध या अन्य महान् बौद्ध सन्त के अवशिष्ट स्मारकों पर समाधि बनाना अथवा किसी पवित्र स्थान को चिरस्मरणीय करना स्तूप-निर्माण करने का प्रमुख उद्देश्य होता था। अतएव स्तूप को एक धार्मिक पवित्रता प्राप्त हो गयी थी। अनुश्रुतियों के अनुसार अशोक ने भारत और अफगानिस्तान में ८४००० स्तूपों का निर्माण



साँची-स्तूप का प्रवेश-द्वार। (पृष्ठ १८२)

कराया था। सातवीं सदी में जब ह्वानच्यांग भारत में आया तब उसने भ्रमण करते हुए अशोक के नौ सौ वर्षों बाद भारत और अफगानिस्तान में अनेक स्तूप देखे थे परन्तु आज उनमें से बहुत नष्ट हो चुके हैं। इनमें से कुछ जो बाद में विस्तृत किये थे और जिनके चतुर्दिक बाड़ लगायी गयी थी शायद आज भी विद्यमान हैं। इनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध मध्य भारत में भेलसा से कुछ दूर भोपाल के पास साँची का विशाल स्तूप है। इस वर्तमान स्तूप का व्यास १२१½ फुट, ऊँचाई, ७७½ फुट और विशाल पाषाण की चतुर्दिक बाड़ ११ फुट ऊँची है। सर जॉन मार्शल के अनुसार अशोक द्वारा ईंटों का बनवाया हुआ मूल स्तूप वर्तमान स्तूप का सम्भवतः आधे से अधिक नहीं था। मूल स्तूप को बाद में विस्तृत किया गया और शुंग-युग में तोरण-द्वार जोड़े गये। प्राचीन छोटी बाड़ के स्थान पर वर्तमान पाषाण की बाड़ बनायी गयी। अशोक के अन्य स्तूपों की भी यही दशा हुई।

२. **स्तम्भ**—पाषाण के ठोस स्तम्भ या लाट जिन्हें अशोक ने निर्मित कराया था, सम्भवतः अशोकीय कला के अवशेषों के सर्वोत्कृष्ट और सबसे अधिक सुन्दर नमूने हैं। अशोकीय स्तम्भ इंजीनियरिंग, वास्तु-कला और भास्कर-कला की विजय है। प्रत्येक स्तम्भ लगभग वजन में ५० टन था और लगभग ५० फुट ऊँचा था। ये खानों से सैकड़ों मील दूर ले जाये जाते थे और कभी-कभी पहाड़ियों के शिखर पर भी ले जाये जाते थे। व्ही० ए० स्मिथ का कथन है कि स्तम्भों का निर्माण, स्थानान्तर और उनकी स्थापना इस बात के प्रमाण हैं कि अशोकीय युग के शिल्पी और इंजीनियर किसी भी अन्य देश के शिल्पी और इंजीनियरों से कलाचातुर्य और साधनों में निम्न श्रेणी के नहीं थे।

इस पाषाण स्तम्भ के तीन भाग होते थे—भूमि के अन्दर का गड़ा हुआ भाग, मध्य का लम्बा दण्ड और ऊपर का शीर्ष। नीचे के भाग पर, जो भूमि में नींव के हेतु गाड़ा जाता था, मयूरों की आकृतियाँ उत्कीर्ण थीं। ऐसा कहा जाता है कि ये आकृतियाँ इस बात की ओर संकेत करती हैं कि चन्द्रगुप्त का पिता मोरों को रखता था।

स्तम्भ के बीच दण्डकार भाग जो ऊँचाई में ५० फुट था, एक ही विशाल लाल पत्थर का बनाया जाता था। इसके ऊपर एक ही पत्थर के टुकड़े में से तराशा हुआ शीर्ष स्थित है। गोल दण्ड जो धीरे-धीरे ऊपर गोलाई में कम होता जाता है अपने अनुपात में बहुत ही रम्य है और इसके ऊपर बढ़िया पालिश है। दण्ड की दीर्घ ऊँचाई और भीमकायता उसके निर्माताओं के कला-चातुर्य को प्रकट करती है जिससे लोग अधिक प्रभावित हुए हैं।

स्तम्भ का तीसरा भाग शीर्ष है जिसमें (अ) सिंह या गज जैसे अन्य

पशुओं की सुन्दर आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, (ब) पवित्र धर्म-चक्र का चिह्न उत्कीर्ण है, और (स) उलटा किया हुआ कमल का फूल है। कुछ लेखकों ने इसे फारस के घण्टा-शीर्ष का रूप मान लिया है। परन्तु इसे घण्टा मानने की अपेक्षा परम्परागत भारतीय पुष्प कमल मानना अधिक न्यायसंगत है। हैवेल ने इसे निम्नाभिमुख कमल कहा है। जैसा ऊपर वर्णित है, एक ही भीमकाय पाषाण को एक समूची लाट में विलक्षण अचूकता से काटने और तराशने में तथा समस्त स्तम्भ पर चमकीली पालिश करने में असाधारण कला-चातुर्य प्रकट होता है। परन्तु शीर्ष के सुन्दर उच्च कलापूर्ण आकृतियों के सम्मुख जो यथार्थ सजीवता और उच्च श्रेणी की गतिविधि प्रदर्शित करती हैं, यह नगण्य है। सारनाथ स्तम्भ का शीर्ष निस्सन्देह सबसे अधिक भव्य और शानदार है। इसे कलामर्मज्ञों ने भारत में अब तक खोजी गयी इस ढंग की वस्तुओं में सर्वोत्तम बताया है। महात्मा बुद्ध के धर्म-चक्र प्रवर्तन के स्थान पर अशोक ने इस स्तम्भ को खड़ा किया था। इसके शीर्ष पर चार सिंहों की मूर्तियाँ और उनके नीचे चारों दिशाओं में चार पहिये धर्म-चक्र प्रवर्तक के सूचक हैं। चार सिंहों की पीठ से पीठ सटाये हुई आश्चर्यजनक सजीव मूर्तियाँ और इनके नीचे पशुओं की छोटी आकृतियाँ कला के उच्च विकसित रूप की ओर संकेत करती है। कला के सभी समालोचकों ने इनके सौन्दर्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है, इन सिंहों की और पशुओं की आकृतियाँ भव्य, दर्शनीय और गौरवपूर्ण हैं, जिनमें कल्पना और वास्तविकता का सुन्दर सम्मिश्रण है। सिंहों के गठीले अंग-प्रत्यंग सम विभक्त हैं और ये बड़े कलापूर्ण चातुर्य से गढ़े हुए है। उनकी लहराती हुई लहरदार केशराशि का एक-एक केश बड़ी सूक्ष्मता और रम्यता से प्रदर्शित किया गया है। इनमें इतनी सजीवता, नवीनता और आकर्षण है कि ये आज ही के बने प्रतीत होते हैं। सर जॉन मार्शल के मतानुसार ये सिंह कला-शैली और 'टेकनिक' (technique) की दृष्टि से कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। डॉ० व्ही० ए० स्मिथ सारनाथ स्तम्भ के शीर्ष के विषय में कहते हैं :

"संसार के किसी भी देश में प्राचीन भास्कर-कला के ऐसे उत्कृष्ट उदाहरण अथवा कला के ऐसे सुन्दर नमूने जिनमें सजीव कला-कृतियों का और आदर्शवाद का सफलतापूर्वक समन्वय हुआ हो और जिनमें प्रत्येक बात का पृथक्-पृथक् सविस्तृत प्रदर्शन हुआ हो, पाना दुष्कर है।"

३. राजप्रासाद—पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त का अत्यन्त विशाल एवं भव्य राजप्रासाद था। उसका सभा-भवन स्तम्भों पर आश्रित था जिन पर अति सुन्दर मूर्ति-कला और चित्र-कला का प्रदर्शन किया गया था। मेगस्थनीज के मतानुसार ईरान की राजधानी सूसा के राजप्रासाद से मौर्य-प्रासाद अधिक सजा हुआ था। अशोक ने राजप्रासाद निर्माण कराये। समकालीन यूनानी



अशोक स्तम्भ । (पृष्ठ १८४)

लेखकों ने पाटलिपुत्र में भव्य राजमहलों के हवाले दिये हैं और वे उन्हें विश्व में सबसे सुन्दर और शानदार मानते थे। सात सौ वर्षों के पश्चात् जब चीनी यात्री फाह्यान भारत में आया, मौर्य-भवनों और राजप्रासादों ने उसके हृदय में श्रद्धा उत्पन्न कर दी और उसने उनके निर्माण-कौशल की प्रशंसा की। पाटलिपुत्र में अशोक के राजप्रासाद को देखकर वह इतना अधिक आश्चर्य-चकित हुआ था कि उसे ऐसा विश्वास हो गया कि वह राजमहल मनुष्यों द्वारा नहीं बनाया गया था। परन्तु ये भव्य भवन सम्पूर्ण रूप से विध्वंस हो गये। थोड़े समय पूर्व की गयी खुदाइयों के फलस्वरूप उनके भग्नावशेष प्रकट हुए हैं; और इनमें सबसे असाधारण अवशेष सौ स्तम्भों वाले विशाल कमरे के हैं।

४. **गुफाएँ**—गुफाएँ कठोर चट्टानों में से काटी गयी थीं। उनकी आन्तरिक दीवारों पर ऐसी बढ़िया 'पालिश' की गयी थी कि वे दर्पण के समान चमकती थीं। ये अनन्त, अथक परिश्रम और कलाचातुर्य के आश्चर्यजनक स्मारक हैं। ये भिक्षुओं के रहने के लिए निवास-स्थान थे और सभा-भवन तथा उपासना-गृह के लिए भी इनका उपयोग होता था। अशोक और उसके पौत्र दशरथ ने ऐसे अनेक गुहा-गृहों का निर्माण किया था। ऐसी अनेक गुहाएँ, नागार्जुन पहाड़ियों और गया के समीप बारबर पहाड़ियों पर हैं। बारबर पहाड़ियों की एक गुफा जिसे सुदामा गुहा कहते हैं अशोक ने आजीविका सम्प्रदाय वालों को समर्पित कर दी थी।

मूर्ति-कला—इस काल में मूर्ति-कला भी उन्नति की शिखर पर थी। मौर्ययुग की मूर्तियों में मथुरा के पास परखम में प्राप्त हुई यक्ष मूर्ति, भेलसा (बेसनगर) में मिली एक स्त्री-मूर्ति और दीदारगंज में उपलब्ध हुई मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त जैन तीर्थंकरों की उच्चकोटि की सजीव मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं जो अशोक के पौत्र सम्प्रति के राज्यकाल की हैं।

मौर्य-काल की विशिष्टताएँ

मौर्य-काल की अपनी विलक्षणताएँ हैं। ठोस पाषाण स्तम्भों में उसके दण्ड की भव्य सादगी और उसके शीर्षों पर स्थिर सुन्दर कलापूर्ण पशुओं की मूर्तियों का समन्वय है। ये समूचे स्तम्भ पाषाण के एक ही विशाल टुकड़े से काटे जाते थे और इस प्रकार शिल्पियों की अचूकता, सूक्ष्मता तथा यथार्थता की भावना विदित होती है। स्तम्भ के शीर्षों में सौन्दर्य, अनुपात और सूक्ष्म बातों के लिए जो ध्यान दिया गया है, विशेषकर सिंह वाले शीर्षों में, वह इस बात का प्रमाण है कि मौर्य-युग में भास्कर-कला उत्कृष्टता की पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी। इसी प्रकार गुहा में उपासना गृहों की भी अपनी विशिष्ट पवित्र निर्माण शैली थी। इन पाषाण के स्मारकों को चमकीला बनाने के हेतु जिस 'पालिश' और चातुर्य का उपयोग किया जाता था वह इस कला की अन्य

विशिष्टता है। इसके अतिरिक्त इस युग की कला में भाव-प्रकाशन की शक्ति थी जो कला का सर्वोच्च गुण है।

निष्कर्ष—यदि हम मौर्य-काल को देदीप्यमान युग कहें जो भारतीय इतिहास में स्वर्ण-युग से किसी भी प्रकार कम नहीं है तो कोई अत्युक्ति न होगी। इतिहास में यह सर्वप्रथम अवसर था जब कि समस्त उत्तरी भारत अत्यन्त दक्ष और केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत था जिसके मूलभूत सिद्धान्तों का अनुकरण भारत का वर्तमान शासन भी करता है। उस समय समस्त देश में शान्ति, सुव्यवस्था और भौतिक समृद्धि थी। विदेशियों की दृष्टि में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ गयी थी। विश्व मौर्य सम्राट अशोक का बहुत ही ऋणी है। विश्व के इतिहास में वही एक ऐसा नरेश है जिसने विजय के पश्चात् भी युद्ध को तिलांजलि दे दी और विश्व में युद्ध का समूल विनाश करने का प्रयास किया। वह वास्तव में आधुनिक संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations' Organisation) का अग्रगामी दूत था। उसने विश्व को धार्मिक सहिष्णुता का ही पाठ नहीं पढ़ाया अपितु विश्व के सम्मुख आदर्श नरेशों का उदाहरण रखा। भारतीय संस्कृत को मौर्यों की देन विलक्षण रही है। मौर्य स्तूपों, स्तम्भों और अभिलेखों ने देश को सांस्कृतिक एकता प्रदान की। मौर्य नरेशों ने ललित कलाओं और साहित्य को आश्रय दिया और फलस्वरूप वास्तु-कला और भास्कर-कला सर्वोत्कृष्टता की पराकाष्ठा पर पहुँची। व्यापार और वाणिज्य भी भलीभाँति सफल हो रहा था और जनता की भौतिक समृद्धि में वृद्धि हो रही थी। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि डेढ़ सौ वर्षों के मौर्य-शासन में सभ्यता, संस्कृति और ललित कलाओं की खूब वृद्धि हुई जिससे भारत उस युग के सबसे महान् देशों में प्रतिष्ठित होने के लिए समर्थ हो गया।

कुषाण-शासन में संस्कृति और जीवन

साधारण समृद्धि—भारत में कुषाण-साम्राज्य (ईसवी सन् २५-२२७) का अर्थ है कि भारत के कुछ प्रदेश दूसरे राज्य द्वारा हड़प लिये गये थे। कुषाण-साम्राज्य का यह अभिप्राय नहीं है कि विदेशियों ने भारत पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त कर ली थी। अफगानिस्तान में स्थित कुषाण-साम्राज्य ने पाटलिपुत्र की सार्वभौमिक सत्ता के पतन के पश्चात् भारत में अपनी सीमाएँ विस्तृत कीं। कुषाण-नरेश वासुदेव के रूढ़िवादी हिन्दू धर्म को अंगीकार करने पर कुषाण राजतन्त्र की जो कुछ भी मूलतः विदेशी प्रवृत्ति थी वह विलुप्त हो गयी थी। अतएव कोई आश्चर्य नहीं यदि कुषाण युग में भारतीय जीवन और संस्कृति में, कला के एक विभाग के अतिरिक्त, कोई सारभूत तात्त्विक परिवर्तन नहीं हुआ। फिर भी कुषाण, साम्राज्य का सभ्यता के प्रसार में बड़ा हाथ रहा है। भारत और चीन, फारस, मैसोपोटामिया तथा रोमन-साम्राज्य

के मध्य व्यापार और वाणिज्य होता रहा। रोमन-सम्राटों की राज-सभा में कुषाण-राजदूत भेजे गये थे। कुषाणों के शासनकाल में भारत का समुद्री व्यापार फारस की खाड़ी और लाल समुद्र से होता था। इन दो जलमार्गों से भारतीय वस्तुएँ मिस्र और रोमन साम्राज्य को ले जायी जाती थीं। रोम के सामन्तों द्वारा भारतीय रेशम के वस्त्र, मोती और पूर्वीय भोग-विलास व ऐश्वर्य की वस्तुओं की खूब माँग होती थी। इन वस्तुओं के मूल्य के भुगतान के लिए रोम की स्वर्ण मुद्राएँ इतनी अधिक मात्रा में भारत में आती थीं कि प्लीनी नामक रोमन लेखक ने स्वदेश-प्रेम की भावना से प्रेरित होकर भारत में उसके देश से स्वर्ण आने पर खेद प्रकट किया था।

साहित्य—कुषाण नरेश साहित्य और कला के संरक्षक थे। इस राजकीय संरक्षण से वातावरण में धार्मिक और ऐहिक दोनों प्रकार का उच्च स्तर का विस्तृत संस्कृत साहित्य निर्मित हुआ था। कुषाण-सम्राट कनिष्क का नाम अनेक प्रसिद्ध बौद्ध लेखकों जैसे अश्वघोष, नागार्जुन, वसुमित्र और चरक के साथ जुड़ा हुआ है। अश्वघोष विविध प्रतिभाशाली व्यक्ति था जो संगीत, साहित्य, धर्म, दर्शन और तर्क-वितर्क में निपुण था। उसके ग्रन्थों में 'बुद्ध-चरित्र', 'सारिपुत्र-प्रकरण' और 'वज्रसूचि' प्रमुख हैं। नागार्जुन महान् आचार्य एवं दार्शनिक था। प्रमुख बौद्ध अध्यात्मवादी वसुमित्र 'महाविभाषाशास्त्र' का लेखक था। कनिष्क की राजसभा का सुप्रसिद्ध वैद्य चरक आयुर्वेद विज्ञान का प्रख्यात लेखक था। इस प्रकार राज्य-संरक्षण के अन्तर्गत उच्च कोटि के संस्कृत साहित्य का समुदय हुआ, साहित्य के विभिन्न विषयों का रूप विकसित हुआ और दर्शन, साहित्य, नाटक, संगीत, काव्य, गल्प, आयुर्वेद आदि विषयों पर श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना हुई।

धर्म—कुषाण-साम्राज्य की एक महत्त्वपूर्ण घटना यह है कि इसके युग में केवल बौद्ध धर्म का विस्तार ही नहीं हुआ अपितु बौद्ध धर्म में गम्भीर मतभेद भी हो गये थे। कुछ धार्मिक क्रिया-विधियों, प्रथाओं और आचार-विचार के नियमों के मानने के विषय में भिक्षुओं में परस्पर वाद-विवाद और मतभेद अनेक पीढ़ियों से चला आ रहा था परन्तु कुषाण युग ही में धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों में परिवर्तन हुआ। बौद्ध मत के इस परिवर्तन ने ही बौद्ध धर्म को सदा के लिए दो सम्प्रदायों—'हीनयान' और 'महायान'—में विभक्त कर दिया। हीनयान मूल बौद्ध धर्म था और महायान बौद्ध धर्म का नवीन रूप था। कुषाण-नरेशों ने महायान को राज्य-धर्म स्वीकार कर लिया था। हीनयान मत के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को अपने निर्वाण के लिए प्रयत्न करना चाहिए और अपने जीवन को पवित्र रखना चाहिए। अपने पापों से मुक्ति प्राप्त करने के हेतु उसे न तो ईश्वर और न देवताओं से प्रार्थना ही करना

चाहिए और न बुद्ध की उपासना ही। व्यक्ति के स्वयं के प्रयास ही उसे आवागमन के बन्धन से मुक्त करेंगे। परन्तु नवीन सम्प्रदाय महायान ने बुद्ध को उनके धर्मोपदेशक के पद से देवताओं के नरेश अथवा ईश्वर के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। प्राचीन बौद्ध विचारों के अनुसार बुद्ध मानव-मात्र के लिए जीवन यात्रा के पथ-प्रदर्शक मात्र थे। पर अब उनका स्थान देवपरक हो चला था। वे देवता माने जाने लगे थे जो उपासकों की उपासना द्वारा प्राप्त हो सकते थे। इस प्रकार कुषाण-युग में बौद्ध धर्म ईश्वरवादी और आस्तिक हो गया। बुद्ध की प्रतिमाएँ बनायी जाने लगीं, उन्हें प्रतिष्ठित किया जाने लगा और पापों से मुक्ति प्राप्त करने और क्षमा-याचना के लिए उनसे प्रार्थनाएँ की जाने लगीं। बुद्ध के चतुर्दिक बोधित्सवों और अन्य देवताओं का परिवार भी उठ खड़ा हुआ। बुद्ध के अतिरिक्त बोधिसत्वों की भी उपासना और पूजा होने लगी। बोधिसत्व वे धर्मपरायण सन्त थे जो बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे। ये महान् बुद्ध और पापाचारी मनुष्य के बीच मध्यस्थता का कार्य करते थे। बुद्ध की मूर्तियों के साथ ही बोधिसत्वों की मूर्तियाँ भी प्रतिष्ठित होने लगीं और उनकी भी उपासना और पूजा होने लगी। महायानियों ने बोधिसत्वों में विश्वास कर उनकी मूर्तियों की पूजा से मुक्ति मानी। इसके विपरीत, हीनयानियों ने बुद्ध की प्रतिमा बनाने की अपेक्षा, रिक्त स्थान अथवा पदचिह्न उनका प्रतीक मान लिया। हीनयान और महायान में दूसरा विशिष्ट विभेद यह था कि बोधिसत्व सिद्धान्त ने एक नवीन विश्वास का प्रतिपादन किया कि प्रत्येक मनुष्य अपना लक्ष्य बुद्धत्व-प्राप्ति रख सकता है और मनुष्यों को निर्वाण प्राप्त करने में सहायता देने के लिए बुद्धत्व-पद तक उन्नत हो सकता है। इन विचारों के अनुरूप ही अनन्त अनुष्ठानों का भी उदय हुआ। इसके विपरीत, बौद्ध धर्म के मूल सम्प्रदाय हीनयान का विश्वास था कि प्रत्येक को ईश्वर या सन्त की बिना सहायता के ही अपने निर्वाण के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। दोनों मतों में निर्वाण के अर्थ में भी मतभेद हो गया। बुद्ध के अनुसार निर्वाण वह अवस्था है, जिसमें समस्त इच्छाओं का शमन होता है परन्तु महायान सम्प्रदाय के अनुसार निर्वाण इच्छाओं की पूर्ति का नाम है न कि शमन का। महायानी बुद्ध की दिव्यता और ईश्वरीयता, प्रार्थना की सतर्कता और व्यक्तिगत उद्धार में विश्वास करते थे। ज्ञान के स्थान पर श्रद्धा और भक्ति पर अधिक जोर दिया गया। बुद्ध में भक्ति रखने व स्तूप आदि बनवाने से निर्वाण प्राप्त हो सकता था। महायान मत हिन्दुओं के योग का अनुसरण करने लगा जिससे आध्यात्मिक परिज्ञान की प्राप्ति मानी जाती थी। महायान ने अपनी भड़कीली धार्मिक क्रिया-विधियों और अपने सक्रिय मानववादी परोपकारी कार्यक्रम से, जो निर्जन ध्यान, मनन और

शारीरिक यातनाओं से भिन्न था, जनता की भावनाओं को अत्यधिक आकर्षित कर लिया। इसके विपरीत, हीनयान मत अनीश्वरवादी, अप्रगतिशील, नीरस, बुद्धिवादी, गतिहीन, मठ-प्रधान और विरक्त था। संक्षेप में, महायान अत्यन्त ही जीवित और सक्रिय धर्म था और इसने प्राचीन बौद्ध धर्म में नये प्राण फूंक दिये थे। कुषाण युग में बौद्ध धर्म का यह नवीन रूप भारत की सीमा के पार तिब्बत, चीन, ब्रह्मा और जापान आदि अनेक देशों में फैल गया। महायान को बौद्ध धर्म का उत्तरी सम्प्रदाय कहते हैं और इसके साहित्य की भाषा संस्कृत है। हीनयान को बौद्ध धर्म का दक्षिण सम्प्रदाय कहते हैं और इसके धार्मिक ग्रन्थ पाली भाषा में लिखे गये हैं। बौद्ध धर्म के इस परिवर्तन में निम्नलिखित घटनाएँ हुईं :

१. बौद्ध धर्म के नवीन सम्प्रदाय महायान का उद्भव और विकास उत्तर-पश्चिम भारत और पंजाब में हुआ था जहाँ यूनानी, पार्थियन और सिथियन जैसे विदेशी आक्रमणकारियों ने आक्रमण करके ईसवी पूर्व २५० से सैकड़ों वर्षों के लिए अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था तो वे अपने साथ अपनी नवीन प्रथाएँ और मत लाये थे और इनमें से कुछ तो अपने धर्म को परित्याग कर बौद्ध धर्म को ग्रहण करने पर भी इन प्रथाओं और विश्वासों को मानते रहे। इनमें सबसे अधिक महत्त्वशाली प्रथा यह थी कि ये उन देवताओं की प्रतिमाएँ बनाते थे जिनकी ये पूजा और उपासना करते थे। जब इन्होंने और विशेषकर यूनानी लोगों ने बौद्ध धर्म को अंगीकार कर लिया, तब उन्होंने बुद्ध की प्रतिमाएँ बनाना एवं उनका पूजन आरम्भ किया।

२. हिन्दुओं के भक्ति-सिद्धान्त के प्रतिपादन का बौद्ध धर्म पर विशेष प्रभाव पड़ा। भक्ति-मार्ग, जो इस समय अधिक लोकप्रिय हो रहा था, अपने अनुयायियों को उसके उपास्य इष्टदेव के प्रति अनन्य भक्ति का आदेश देता था और भक्तों में अपार स्नेह और श्रद्धा की भावना प्रेरित करता था। रूढ़िवादी बौद्ध धर्म में इसका पूर्ण अभाव था। उसमें भक्ति की भावना को प्रज्वलित करने की सामर्थ्य न थी। भक्ति-मार्ग ने ईश्वर की भावना और उपासना के लिए व्यक्ति की कल्पना प्रस्तुत की। बुद्ध के साधारण अनुयायियों ने इसे स्वीकार कर लिया और वे बुद्ध की मूर्तियाँ निर्माण करने लगे तथा उनकी पूजा करने लगे। इसके अतिरिक्त अनेक हिन्दुओं ने बुद्ध को अपना देवता मान लिया और उसका पूजन करने लगे। देव-पूजक हिन्दू ऐसा सरलता से कर सकते थे। इससे हिन्दू धर्म और बुद्ध धर्म के समन्वय में सहयोग और सहायता प्राप्त हुई।

३. अशोक के समय से ही बुद्ध के अस्थि-अवशेषों पर विहारों के निर्माण करने और स्तूपों को बनाने की प्रथा प्रचलित थी। ये अस्थि-अवशेष स्मारक

वहाँ निवास करने वाले भिक्षुओं को उनके उपास्य-देव बुद्ध के गुण-गौरव का सदैव ध्यान दिलाते थे। अब देवताओं की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करने की प्रथा के प्रचलित हो जाने से बौद्ध भिक्षुगण भी स्वाभाविक रूप से इसे अपनाने लगे; क्योंकि प्रतिमा अधिक प्रत्यक्ष प्रतीक और बुद्ध की ओर ध्यान आकर्षित करने में उनकी गड़ी हुई अस्थियों की अपेक्षा अधिक उत्तम साधन थी। यह इतिहास की विडम्बना थी कि बुद्ध ने ईश्वर-पूजा के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की थी पर वे स्वयं ही ऐसे देवता बन गये जिसकी उपासना और पूजा होने लगी।

४. विहारों में अपरिमित धन संचित हो गया था फलतः भिक्षुओं को अत्यधिक अवकाश प्राप्त होने लगा था। अतएव उन्होंने विस्तृत धार्मिक क्रिया विधियाँ प्रस्तुत कीं, जिनके अन्तर्गत बुद्ध का मत और उनके व्यावहारिक नियम विलुप्त हो गये।

५. जिस क्षण में भारतीय बौद्ध धर्म विदेशों में भ्रमण करने लगा, उसमें परिवर्तन होना अनिवार्य हो गया। यह स्वाभाविक था, क्योंकि इसे विदेशी प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं के अनुकूल ही यथास्थान व्यवस्थित और संयोजित होना पड़ा। इस प्रकार इसने अनेक नवीन प्रथाओं और विश्वासों को अपना लिया जो मूलभूत बौद्ध धर्म की भावना के विरुद्ध थे।

६. साम्राज्यवादी मौर्य सत्ता के अधःपतन के साथ ही पाटलिपुत्र का राजनीतिक गौरव विलुप्त हो गया और इसी प्रकार केन्द्रीय बौद्ध विहार की प्रतिष्ठा को भी आघात पहुँचा। देश के अन्य भागों में इसके अन्तर्गत रहने वाले विहार इसके आदेशों का पालन श्रद्धा और भय से नहीं करने लगे। अतएव गान्धार के विहारों ने इन अति मौलिक परिवर्तनों को अबाध्य रूप से बौद्ध धर्म में प्रविष्ट होने दिया। वस्तुतः अब बौद्ध धर्म का केन्द्र पाटलिपुत्र से गान्धार चला गया था।

७. भारतीय समाज में विदेशी जातियों के पुट तथा संस्कृतियों के अन्तर-संघर्ष ने भी बौद्ध धर्म के इस नवीन महायान सम्प्रदाय के समुदय में योग दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि कुषाण-सम्राट् समय, दशा और आवश्यकताओं के अनुकूल ही अपने आपको संयोजित और व्यवस्थित कर लेते थे। जब कुषाण भारत में बस गये तो उन्होंने यहाँ के नव वातावरण को ग्रहण कर लिया। उन्होंने अपने प्राचीन नाम त्याग दिये और वासुदेव जैसे हिन्दू नामों को अपना लिया; उन्होंने अपने प्रतिमापूजक सिद्धान्तों का परित्याग किया और हिन्दू धर्म या बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया; यहाँ तक कि उनके सिक्कों पर भी हिन्दू देवताओं की और भारतीय वेश में बैठे या यूनानी वेश में खड़े बुद्ध की आकृतियाँ थीं।

कला—गान्धार शैली—बौद्धों के इस नवीन सम्प्रदाय ने कला के क्षेत्र में एक नयी शैली को जन्म दिया। बौद्ध धर्म के महायान मत से भारतीय भास्कर कला की गान्धार शैली नामक नवीन प्रणाली का गठबन्धन है। यह कुषाण नरेशों की छत्रछाया में फली-फूली और विशेषकर कनिष्क के राज्यकाल में जब कि बहुसंख्यक बौद्ध-विहार, स्तूप और प्रतिमाएँ निर्मित हुई थीं। इन पर यूनानी कला का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध धर्म के नवीन सम्प्रदाय महायान का केन्द्र गान्धार प्रान्त ऐसा स्थित था कि वहाँ भारतीय, चीनी, ईरानी और यूनानी तथा रोमन संस्कृतियाँ मिलती थीं। अतएव इस प्रान्त के लिए विदेशी विचारों और प्रभावों को लवलीन कर लेना स्वाभाविक ही था। इसीलिए इस प्रदेश की कला पूर्व और पश्चिम की कलाओं के सम्मिश्रण के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती थी। इसके समुदय का श्रेय बेक्ट्रिया और उत्तरी-पश्चिमी भारत के यूनानी नरेशों को है। गान्धार कला निस्सन्देह यूनानी कला या निश्चयात्मक यथार्थ रूप से रोमन साम्राज्य और एशिया माइनर की 'हैलेनिस्टिक' कला से उत्पन्न हुई। सरसरी तौर से देखने पर गान्धार कला का सम्बन्ध यूनानी कला से ही प्रतीत होता है। इसलिए यह कला "हिन्दू-यूनानी" Indo-Greek) या 'ग्रीसी-रोमन कला' (Greeco-Roman Art) के नाम से प्रख्यात है। गान्धार देश में विकसित होने के कारण इस कला का नाम उस प्रदेश के अनुकुल 'गान्धार शैली' पड़ा। कभी-कभी इसे 'ग्रीको-बुद्धिस्ट' अथवा 'इण्डो-हैलेनिक' कला भी कहते हैं, क्योंकि इसका उपयोग भारतीय प्रतिभा ने बौद्ध धर्म के विषयों के लिए किया। इसमें धार्मिक विषयों और अभिप्रायों को मूर्त करने के लिए यूनानी आकार और निर्माण शैली (technique) का प्रयोग किया गया। यद्यपि निर्माण-शैली यूनान से ली गयी पर कला की आत्मा वस्तुतः भारतीय ही रही और बौद्धों के विश्वासों और प्रथाओं की अभिव्यक्ति के हेतु ही इसका पूर्ण उपयोग हुआ। गान्धार शैली के अनेक उदाहरणों में से कुछ को छोड़कर किसी में भी न तो यूनानी कहानी या गाथा और न कोई यूनानी कला के उद्देश्य का ही पता लग सका। यथार्थ में गान्धार शिल्पी के पास यूनानी का हाथ और भारतीय का हृदय था। भारत के बाहर यह शैली अत्यधिक महत्त्वशाली हो गयी, क्योंकि पूर्वी या चीनी तुर्किस्तान, मंगोलिया, चीन, कोरिया और जापान की बौद्ध-कला का यह उद्गम-स्थान हो गया।

यूनान को सभ्यता का स्रोत मानने वाले यूरोपीय विद्वानों ने गान्धार शैली को असाधारण महत्त्व दिया था। भारत में किसी समय इसी शैली को वास्तविक कलात्मक शैली समझा जाता था। अनेक कलाविदों की यह धारणा है कि समग्र भारतीय मूर्ति-कला का मूल यही है। परन्तु नवीन अनुसन्धानों

के सशक्त प्रमाणों से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि गान्धार शैली को अत्यधिक महत्त्व दिया गया था। वास्तव में गान्धार शैली के मूल तत्त्व भारतीय हैं। "इसमें यूनानी मूर्ति-कला की वास्तविकता और भारतीय कला की भावमय आध्यात्मिक अभिव्यंजना का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया।" किन्तु इन दोनों के विजातीय होने से यह असफल हुआ और यह शैली स्वयमेव समाप्त हो गयी।

गान्धार शैली के नमूने तक्षशिला में और पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिम प्रान्त तथा अफगानिस्तान के अनेक प्राचीन स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। इनमें अधिकांश में बुद्ध की मूर्तियां हैं और बौद्ध-धार्मिक-ग्रन्थों की कहानियों के दृश्यों को पत्थर पर उत्कीर्ण किया गया है। ये मूर्तियाँ और दृश्य पाषाण, महीन पिसे हुए चूने के और पकायी हुई मिट्टी के बनाये जाते थे और इन्हें स्वर्णिम रंग से सुशोभित किया जाता था। पेशावर, लाहौर और अन्य अजायबघरों में इस शैली के जो नमूने सुरक्षित हैं वे तो पाषाण के हैं, परन्तु तक्षशिला में उत्खनन कार्यकर्ताओं ने, पाषाण प्रतिमाओं के अतिरिक्त, चूने-मसाले की अनेक और पकायी हुई मिट्टी की कुछ मूर्तियां प्राप्त की हैं। इन खोजों ने गान्धार शैली के शिल्पियों की निर्माण-शैली के चातुर्य को समझने और हमारे ज्ञान की वृद्धि करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

गान्धार शैली का प्रमुख विषय और प्रकरण बौद्ध धर्म का नवीन सम्प्रदाय था और इसकी सबसे अधिक महत्त्वशाली देन बुद्ध-प्रतिमा का विकास है। गान्धार शैली के पूर्व के युग में जातक कथाओं बुद्ध सम्बन्धी अन्य कहानियों को पाषाण पर उत्कीर्ण तो किया जाता था परन्तु स्वयं बुद्ध की प्रतिमा का प्रादुर्भाव अभी तक न हुआ था। कला में बुद्ध की उपस्थिति पदचिह्नों, बोधि-वृक्ष, रिक्त आसन अथवा छत्र आदि लक्षणों से सूचित की जाती थी। परन्तु अब तथागत बुद्ध की मूर्ति शिल्पियों का प्रिय विषय बन गयी थी। बुद्ध और बोधिसत्वों की सुन्दर प्रतिमाएँ ध्यानमुद्रा, धर्मचक्रमुद्रा, अभयमुद्रा, वरदमुद्रा आदि में और बुद्ध की वर्तमान तथा पिछले जीवन की अनेक घटनाएँ एक प्रकार के काले पाषाण में अलौकिक ढंग से उत्कीर्ण की गयीं। बुद्ध का जीवन इस शैली को प्रेरणा देने वाला उद्देश्य था। यथार्थ में गान्धार शैली तथागत बुद्ध के जीवन और कार्यों की सजीव व्याख्या है।

गान्धार शैली की कुछ ऐसी असाधारण विशेषताएँ हैं जिससे वह भारत की अन्य कला-शैलियों से शीघ्र ही पहचानी जा सकती है। ये निम्नलिखित हैं :

१. गान्धार शैली की यह प्रवृत्ति थी कि मानव-शरीर का वास्तविक ढंग से अंकन किया जाय जिसमें अंग-प्रत्यंगों की ओर, विशेषकर मांस-पेशियों, मूँछों आदि की सूक्ष्मता की ओर विशेष ध्यान दिया गया।

२. परिधान-शैली नितान्त निराली है। मोटे वसनों का प्रदर्शन करते समय वस्त्रों की सलवटें बड़ी सूक्ष्मता से दिखायी गयी हैं। यह शैली शरीर से बिलकुल सटे, अंग-प्रत्यंग दिखाने वाले झीने या अर्द्ध-पारदर्शक वस्त्र अंकित करती है।

३. इस शैली में अनुपम नक्काशी है, विस्तृत अलंकरण है और जटिल प्रतीक है।

४. बुद्ध की आकृति-निर्माण में कलाकारों ने इतनी स्वतन्त्रता ली कि बुद्ध की प्रतिमाएँ प्रायः यूनानी देवता अपोलो की मूर्ति सी बन गयीं। तत्पश्चात् बुद्ध की आकृति एक विशिष्ट प्रकार की मान ली गयी और उसी का नमूना सर्वदा और सर्वत्र बुद्ध की मूर्ति के रूप में अंगीकृत हुआ।

दीर्घकाल तक ऐसी धारणा बनी रही कि गान्धार की शैली द्वारा निर्मित बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियाँ मथुरा और अन्य कला केन्द्रों में निर्मित मूर्तियों के लिए आदर्श नमूने माने जाते थे और इस प्रकार गान्धार शैली ने भारतीय कला की अन्य शैलियों को प्रभावित किया। परन्तु अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि मथुरा और गान्धार में बुद्ध प्रतिमाओं की निर्माण शैली का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ। गान्धार की बौद्ध प्रतिमाओं और भारत के आन्तरिक प्रदेशों की प्रतिमाओं में आश्चर्यजनक अन्तर है। गान्धार शैली ने अंग-सौष्ठव की सूक्ष्मता और भौतिक सौन्दर्य पर अधिक महत्त्व दिया, पर मथुरा शैली ने मूर्तियों पर दिव्य दीप्ति और आध्यात्मिक अभिव्यंजना लाने का प्रयास किया। प्रथम शैली यथार्थवादी थी और द्वितीय आदर्शवादी। यही पाश्चात्य और भारतीय कला में मार्मिक अन्तर है। यूनानी कला का उद्देश्य प्राकृतिक सजीव अनुकरण और बाह्य सौन्दर्य का चित्रण था जिस पर गान्धार शैली आश्रित थी। पर भारतीय-कला का आदर्श प्रतीकवाद व भावनावाद था। कालान्तर में गान्धार शैली मध्य एशिया होती हुई चीन और जापान तक पहुँची और वहाँ उसने इन देशों की कला को प्रभावित किया।

गान्धार शैली के अतिरिक्त मथुरा और अमरावती में अन्य दो शैलियाँ और प्रचलित थीं। मथुरा शैली दो भागों में विभक्त की गयी है—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध की प्रतिमाएँ भरहुत की मूर्तियों जैसी और काफी अनगढ़ हैं। उत्तरार्द्ध की प्रतिमाएँ अधिक परिष्कृत हैं। उनमें सादगी और सजीवता है। दक्षिण भारत में कृष्णा नदी के निचले भाग जिला गुण्टूर में अमरावती शैली का विकास हुआ। अमरावती में स्तूप की बाढ़ (Railing) ही संगमरमर की नहीं थी अपितु उसका समस्त गुम्बद संगमरमर के शिलाफलकों से आच्छादित था। इसकी सारी बाढ़ मूर्तियों से अलंकृत थी। अमरावती के स्तूप में छह फुट से ऊँची खड़ी मूर्तियाँ बहुत ही गम्भीर, उदासीन एवं वैराग्य

भाव से परिपूर्ण हैं। यहाँ बड़े कठिन आसनों और मुद्राओं में सुन्दर, पतली और प्रसन्न आकृतियाँ अंकित की गयी हैं और दृश्यों में सविस्तृत विवरण चित्रित किया गया है। वनस्पतियों एवं कुसुमों के, प्रधानतया कमलों के, अलंकरण बहुत सुन्दर हैं। यहाँ की समस्त कला सजीव और भक्तिभाव से ओत-प्रोत है। बुद्ध के चरण-चिह्न के सम्मुख नत-उपासिकाओं का दृश्य अत्यन्त ही भव्य एवं चित्ताकर्षक है। हास्य रस का भी यहाँ अभाव नहीं है।

निष्कर्ष—ईसवी पूर्व सन् ३२२, चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर ईसवी सन् २२७ अन्तिम कुषाण नरेश वासुदेव तक के युग में भारतीय संस्कृति का महान् विकास हुआ। सर्वप्रथम देश में राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता स्थापित हो गयी। साम्राज्यवादी शासन परिपूर्ण कर दिया गया, भास्कर-कला कला की सफलता और सिद्धि के उच्चतम शिखर पर पहुँच गयी और गौतम बुद्ध का छोटा स्थानीय धर्म विश्व-धर्म के पद पर प्रतिष्ठित हो गया। सदियों के शान्तिपूर्ण और व्यवस्थित शासन ने नागरिक जीवन की वृद्धि और विकास को प्रेरणा दी। वाणिज्य-व्यवसाय, विज्ञान, साहित्य और कला सभी की प्रभूत प्रगति हुई। इस युग में विदेशी शासकों, विशेषतः पश्चिम के यूनानी नरेशों के साथ सम्पर्क और रोमन सम्राटों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये गये। इससे भारतीय संस्कृति और जीवन (विशेषतः कला) प्रभावित हुए। फलस्वरूप कला की एक नवीन शैली—गान्धार शैली—का क्रमशः विकास हुआ। विदेशी प्रभाव की दूसरी लहर धार्मिक क्षेत्र में प्रवाहित हुई और इसने प्राचीन रूढ़िवादी बौद्ध धर्म को नवीन, सक्रिय और सजीव सम्प्रदाय—महायान मत—में परिवर्तित कर दिया। परन्तु इस युग के अन्तिम वर्षों में अन्य आन्तरिक धार्मिक लहर (ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार) भी देखी गयी।

प्रश्नावली

१. मौर्यों के अन्तर्गत सभ्यता व संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

२. "भारतीय संस्कृति के इतिहास में मौर्य-शासन एक दिव्य युग था।" विवेचन कीजिए।

३. मेगस्थनीज और चाणक्य के ग्रन्थों का विशेष रूप से हवाला देते हुए मौर्य-युग की संस्कृति का वर्णन कीजिए।

४. "भारतीय कला के इतिहास में मौर्य-युग एक सीमा-चिह्न है।" इस कथन का विवेचन कीजिए।

अथवा

मौर्य कला के प्रमुख तत्त्वों का विवेचन कीजिए और अपने कथन की पुष्टि के लिए उदाहरण दीजिए।

अथवा

"मौर्य कला ने अपनी सब प्रेरणा बौद्ध धर्म से ली है।" इस कथन को पूर्ण रूप से समझाइए।

५. बौद्ध धर्म में किन कारणों से परिवर्तन हुआ ?

अथवा

हीनयान और महायान की विभिन्नताओं को स्पष्टतया बतलाइए। महायान के प्रादुर्भाव और विकास के क्या कारण थे ?

६. "मौर्य-युग बौद्ध धर्म का स्वर्णकाल था।" समझाइए।

७. बौद्ध धर्म के इतिहास में कनिष्क का शासन विशिष्ट रूप से क्यों महत्त्वशाली है ?

अथवा

भारतीय कला और धर्म के इतिहास में कुषाण-युग के महत्त्व को समझाइए।

८. गान्धार-तक्षण-कला के विषय में आप क्या जानते हैं ? इसके प्रमुख तत्त्वों का वर्णन कीजिए और भारत की अन्य कला-शैलियों से इसकी तुलना कीजिए।

९. "ईसा पूर्व ३२१ चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर अन्तिम कुषाण-नरेश वासुदेव सन् २२७ तक के युग ने भारतीय सांस्कृतिक जीवन के महान् विकास को देखा है।" विवेचन कीजिए।

१०. टिप्पणियाँ लिखिए :

अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज, साँची का स्तूप, गान्धार की तक्षण-कला-शैली, अशोक के स्तम्भ, हीनयान, महायान, तक्षशिला, सारनाथ और अश्वघोष।

८

गुप्त साम्राज्य और हिन्दू सांस्कृतिक नवाभ्युत्थान

नाग और वाकाटक नरेश—उत्तर-पश्चिम में कुषाण साम्राज्य और दक्षिण-पूर्व में आन्ध्र साम्राज्य के पतन होने पर दो राजवंश—नागवंश लगभग २००-३५० ई० सन् तक और वाकाटक लगभग २५०-४३५ ई० सन् तक—का उत्कर्ष हुआ। नाग राजाओं ने, विशेषकर नवनाग और वीरसेन नाग ने, पचास वर्षों से भी अधिक दीर्घकालीन संघर्ष के पश्चात् गंगा की घाटी और मथुरा से विदेशी कुषाण और क्षत्रपों के राज्यों का सदा के लिए अन्त कर दिया। नाग-नरेश हिन्दू देवी-देवताओं के पूजक और संस्कृत विद्वानों के आश्रयदाता थे।

वाकाटकों ने बुन्देलखण्ड प्रान्त में प्रवरसेन प्रथम के समय अपनी शक्ति की खूब वृद्धि की। उसके पौत्र रुद्रसेन प्रथम के समय नाग-साम्राज्य और वाकाटक-साम्राज्य लगभग ३४४-४८ ई० सन् के समय एक हो गये थे। उसके पुत्र पृथ्वीसेन प्रथम ने जो समुद्रगुप्त का समकालीन था। गुप्त-साम्राज्य से लोहा लिया था। यद्यपि थोड़ी अवधि के लिए गुप्त-सम्राटों ने वाकाटकों के उत्कर्ष को क्षीण कर दिया था, फिर भी वाकाटकों ने ४६९ ई० में स्कन्दगुप्त के अवसान के पश्चात् अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर ली और गुप्त-साम्राज्य के पतन के पश्चात् भी अपने साम्राज्य को दीर्घकाल तक बनाये रखा। भारतीय संस्कृति की अभिव्यक्ति में वाकाटकों का भी बड़ा हाथ है। वे हिन्दू देवताओं की पूजा और उपासना करते थे। प्राचीन वैदिक विधियों और धार्मिक कृत्यों को उन्होंने पुनर्जीवित किया और वे संस्कृत साहित्य के विद्वानों के उदार संरक्षक रहे। वाकाटकों के आश्रय में चित्र-कला एवं तक्षण-कला का भी विकास हुआ था। अजन्ता की कुछ गुफाएँ इस कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं।

गुप्त साम्राज्य (लगभग ३०० से ५०२ ई० सन् तक)—चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ में राजनीतिक शक्ति और प्रखरता पुनः मगध के पाटलिपुत्र नगर में केन्द्रीभूत हो गयी। यहाँ ही गुप्तों के नवीन राजवंश का प्रादुर्भाव हुआ, गुप्त साम्राज्य को चन्द्रगुप्त प्रथम ने स्थापित किया जो एक स्थानीय सामन्त घटोत्कच का पुत्र था। लिच्छवीं वंश की राजकुमारी कुमारदेवी से उसने

विवाह किया। यह वैवाहिक मैत्री गुप्त साम्राज्य के सौभाग्य की विधाता प्रमाणित हुई और इससे चन्द्रगुप्त ने अपनी राज्य-स्थिति को अधिक दृढ़ कर गुप्तों के उत्कर्ष की नींव डाली और गंगा की घाटी से प्रयाग तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया।

समुद्रगुप्त—चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद उसका पुत्र समुद्रगुप्त मगध के सिंहासन पर बैठा। उसने सम्पूर्ण भारत को विजय कर उसे अपने साम्राज्य में अनुयोजित कर लिया था। दक्षिण में भी उसने बहुत दूर तक विजय की थी। परन्तु दक्षिण के विजित प्रदेशों को अपने साम्राज्य में मिलाने की अपेक्षा उसने वहाँ के नरेशों से अपरिमित धन-द्रव्य कर के रूप में स्वीकृत करा लिया। उसकी प्रभुसत्ता की सीमाओं के बाहर अनेक राजाओं ने उसके आधिपत्य को अंगीकार कर लिया था। अपनी दिग्विजय के उपलक्ष्य में समुद्रगुप्त ने एक विशाल अश्वमेध यज्ञ किया। परराष्ट्रों से उसका सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण था। लंका के राजा मेघवर्ण ने अनेक बहुमूल्य उपहारों के साथ सिंहल यात्रियों के निवासार्थ समुद्रगुप्त के पास अपने दूत भेजकर उससे विहार निर्माण की अनुमति माँगी थी। यह अनुमति प्राप्त हो जाने पर उसने बोध गया में एक विहार बनवाया जो महाबोधि संघाराम के नाम से प्रख्यात था। समुद्रगुप्त की प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी। वह एक उच्च कोटि का कवि, परम निपुण संगीतज्ञ, सुसंस्कृत विद्वान और अद्वितीय योद्धा था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५–४१३ ई०)—समुद्रगुप्त के बाद उसका पुत्र रामगुप्त गद्दी पर बैठा; पर उसकी हत्या करके चन्द्रगुप्त द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। कुछ इतिहासवेत्ता इस वृत्तान्त को असत्य मानते हैं। चन्द्रगुप्त युद्ध-कुशल शक्तिशाली सम्राट् था जिसने मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र को विजय किया और इस प्रकार क्षत्रपों के अवशेष भागों को सदा के लिए पूर्णतया नष्ट कर दिया एवं विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। उसके शासनकाल में एक चीनी धार्मिक-यात्री भारत में बौद्ध धर्म की पाण्डुलिपियों तथा अन्य प्राचीन अवशेषों को संग्रह करने के हेतु आया था। उसने भारत के विषय में जो विवरण लिखा है वह गुप्त सम्राटों के शासनकाल के सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर यथेष्ट प्रकाश डालता है। चन्द्रगुप्त साहित्य व कला का संरक्षक था और उसका शासन गुप्तकालीन संस्कृति और साम्राज्य के उत्कर्ष की चरम सीमा है।

कुमारगुप्त प्रथम (४१३–४५५ ई०)—चन्द्रगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र कुमारगुप्त प्रथम उत्तराधिकारी हुआ। उसने अपने पूर्वजों की प्रभुता व साम्राज्य को प्रायः अन्त तक बनाये रखा। उसके अश्वमेधानुष्ठान से प्रमाणित होता है कि उसने अन्य प्रदेशों पर विजयश्री प्राप्त की होगी और वह भारत

का चक्रवर्ती सम्राट् रहा होगा। उसके शासनकाल के अन्तिम वर्षों में गुप्त-साम्राज्य हूणों के अनवरत आक्रमणों से आक्रान्त हो गया था।

स्कन्दगुप्त (४५५–४६७ ई०)—कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका वीर योद्धा पुत्र स्कन्दगुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ। जब हूणों ने पुनः आक्रमण किया तब उसने साम्राज्य की रक्षा के लिए सफल प्रयत्न किये और अपनी समर-दक्षता से हूणों को पीछे धकेल दिया। परन्तु अन्त में इन्हीं हूणों से युद्ध करते हुए वह वीरगति को प्राप्त हुआ।

स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी—विदेशियों के अनवरत आक्रमणों और युद्धों ने गुप्त साम्राज्य को तार-तार कर डाला और स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त साम्राज्य का गौरव नष्टप्राय हो चला था एवं उसके अस्तित्व को उत्तराधिकारियों के गृह-कलह से घोर आघात पहुँचा। स्कन्दगुप्त के दुर्बल उत्तराधिकारी हूणों के क्रूर आक्रमणों को रोकने में सर्वथा असमर्थ रहे और पाँचवीं शताब्दी के मध्य में हूण उत्तरी भारत में अगणित संख्या में घुस आये एवं उनके नेता तोरमाण ने मालवा में अपनी प्रभुता स्थापित कर ली। फलतः गुप्त-साम्राज्य की जड़ हिल उठी, उसकी रीढ़ टूट गयी और वह छिन्न-भिन्न हो गया।

गुप्तकाल का महत्त्व और हिन्दू संस्कृति का पुनरुद्धार

कुषाण सम्राटों के पतन के पश्चात् और गुप्त सम्राटों के उत्कर्ष के पूर्व भारतीय इतिहास की सबसे प्रमुख घटना राष्ट्रीयता की भावना का उदय, वृद्धि और विकास था। यह भावना राष्ट्र के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रस्फुटित हो उठी थी। कुछ तो यूनानी, पार्थियन, कुषाण और क्षत्रपों जैसे विदेशियों के दीर्घकालीन राजनीतिक आधिपत्य की प्रतिक्रियास्वरूप और कुछ धार्मिक क्षेत्र में बौद्ध धर्म के प्रतिरोध के लिए इस भावना का प्रादुर्भाव हुआ। नाग राजाओं ने इसका प्रारम्भ किया, वाकाटकों ने इसका स्रोत अविरल गति से बहने दिया और गुप्त सम्राटों ने इसे अपनी चरम सीमा तक पहुँचा दिया। इस आन्दोलन की विशेषता यह थी कि इसमें विदेशी वस्तुओं के प्रति क्रान्ति तथा बहिष्कार की भावना और भारतीय वस्तुओं का पुनरुद्धार करने की दृढ़ लालसा थी। आर्य-संस्कृति का पुनरुद्धार करने का यह राष्ट्रव्यापी प्रयास था। परिणामस्वरूप क्रमशः उत्तरी, मध्य और पश्चिम भारत में भारतीय सत्ता ने विदेशी सत्ता को प्रतिस्थापित कर दिया और विदेशी कला के प्रभाव को जो गान्धार शैली के रूप में अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया था, समूल नष्ट कर दिया। बौद्ध धर्म भी अपने उच्च सिंहासन पर से नीचे ढकेल दिया गया और ब्राह्मण धर्म में उसे विलीन कर समीकरण कर दिया गया एवं पाली तथा प्राकृत भाषाओं की संस्कृत भाषा के पक्ष में उपेक्षा की गयी।

तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ में नाग राजा इस राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम नेता हुए। विदेशियों के विरोध में उन्होंने दीर्घकालीन युद्ध छेड़ा और गंगा की घाटी तथा मथुरा से उन्होंने विदेशी कुषाण सत्ता को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया एवं हिन्दू सत्ता तथा साम्राज्यवादी परम्पराएँ पुनः स्थापित कीं। संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन तथा वैदिक विधियों के पुनरुद्धार से देश के सांस्कृतिक इतिहास में उनका विशिष्ट महत्त्व रहा है। नाग राजाओं के उदार संरक्षण का ही परिणाम है कि देवनागरी लिपि का, जिसमें आज संस्कृत और हिन्दी भाषा लिखी जाती है, आविर्भाव और प्रचार हुआ।

नाग राजाओं के पश्चात् पुनर्जीवन का आन्दोलन नवीन वाकाटक राज कुल के शासकों ने जारी रखा। नाग राजाओं के समान ही वाकाटकों का भी उद्देश्य था कि हिन्दू प्रभुता प्रतिष्ठित की जाय और हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान किया जाय क्योंकि अशोक के युग से ही इसको भारी क्षति हुई थी। वाकाटकों की छत्रछाया में राजनीतिक प्रभुता स्थापित हो जाने से साधारण जनता को प्रबल प्रोत्साहन मिला और समस्त देश में नवीन जीवन का संचार हुआ। वाकाटकों के आश्रय में धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक पुनरुत्थान के लिए स्वतन्त्र और विस्तीर्ण रूप से बीजारोपण हुआ जिसकी असाधारण फसल उदार गुप्त सम्राटों के समय काटी गयी। इन्हीं वाकाटकों के संरक्षण में उत्तरी भारत की संस्कृति दक्षिण में प्रवेश करने लगी थी।

पुनरुद्धार का यह पवित्र आन्दोलन वाकाटकों ने वसीयत के रूप में गुप्त-सम्राटों को प्रदान किया। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मालवा और सौराष्ट्र के अन्तिम क्षत्रपों को पराजित कर भारत में अवशिष्ट विदेशी सत्ता को समूल नष्ट कर दिया इससे हिन्दू साम्राज्यवाद का पुनर्जन्म हुआ और विभिन्नीकरण तथा अराजकता के स्थान पर एकता स्थापित हो गयी। प्राचीन वैदिक देवताओं की उस पूजा-उपासना और अश्वमेध यज्ञों का, जिन्हें नाग और वाकाटक नरेशों ने प्रारम्भ किया था, गुप्त सम्राटों ने समर्थन किया। ब्राह्मण धर्म पुनः अपना मस्तक उन्नत कर सका और बौद्ध धर्म का अपना राज-संरक्षण और राज-धर्म होने का गौरव लुप्त हो गया। जिस साहित्यिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का प्रारम्भ वाकाटक नरेशों की छत्रछाया में हुआ था, वह गुप्त-सम्राटों के राज-संरक्षण में प्रचुरता से प्रगति कर सका। वास्तु-कला, तक्षण-कला और चित्र-कला ने, जिन्हें वाकाटकों ने प्रोत्साहित किया था, गुप्तकाल में जब देश में शान्ति और समृद्धि का राज्य था, असाधारण उन्नति की। कला-विशेषज्ञों ने उस युग की भावना की सफल अभिव्यक्ति की और कला के विभिन्न क्षेत्रों में गान्धार शैली के प्रभाव को समूल नष्ट कर दिया। चित्रकार संगतराशों ने कला के विषयों के हेतु बौद्ध-साहित्य की कहानियों और दृश्यों

की अपेक्षा हिन्दू देवताओं और अवतारों की कहानियाँ और दृश्यों का प्रयोग किया। संक्षेप में, भारतीय विवेक और बुद्धि, ज्ञान एवं चरित्र, कला तथा साहित्य गुप्त सम्राटों के समय पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हो सके और युग की अन्तरात्मा स्वयं ही संगीत, साहित्य, चित्र-कला, वास्तु-कला तथा भास्कर-कला में स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष अभिव्यक्त हो उठी। इतिहासवेत्ता गुप्तकाल को, जिसमें नवाभ्युत्थान का आन्दोलन (Renaissance Movement) साहित्य कला के क्षेत्र में अनेक सफल सिद्धियों को प्राप्त करता हुआ अपने विकास की चरम पराकाष्ठा तक पहुँच गया था, हिन्दू धर्म का स्वर्णयुग और हिन्दू नवाभ्युत्थान का काल कहते हैं।

गुप्तकाल का स्वर्णयुग, हिन्दू नवाभ्युत्थान या पुनर्जागरण का काल नहीं परन्तु हिन्दुओं का पूर्ण विकसित परिप्लावित देदीप्यमान युग था—भारतीय इतिहास में जैसा ऊपर वर्णित है गुप्तकाल को स्वर्ण-युग कहा गया है। यह काल नवाभ्युत्थान या पुनर्जागरण युग के नाम से भी प्रख्यात है और यूरोपीय लेखकों ने यूनान देश के इतिहास में पेरीक्लीज के युग से इसकी तुलना की है, क्योंकि इस युग में ही राष्ट्रीय अन्तरात्मा को, जिनकी स्पष्ट अभिव्यक्ति राष्ट्र-जीवन के राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, आर्थिक, कला आदि प्रत्येक क्षेत्र में हुई, अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। जैसा ऊपर कहा गया है राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रीय अन्तरात्मा हिन्दू-शासन का पुनर्जागरण कर प्रस्फुटित हुई थी। क्षत्रप, कुषाण और यूनानी जैसे विदेशी शासकों की राजनीतिक प्रभुता और प्रधानता नष्ट कर गुप्त सम्राटों की छत्रछाया में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता दृढ़तापूर्वक स्थापित कर दी गयी। हिन्दू साम्राज्यवाद की नींव डाली गयी। राष्ट्रीय प्रवृत्ति का यह एक अंग था। इसका दूसरा महत्त्वशाली स्वरूप हिन्दू संस्कृति और धर्म का पुनरुद्धार था।

गुप्तकाल में धार्मिक क्षेत्र में राष्ट्रीय प्रवृत्ति उस रूप में प्रकट हुई जिसे मैक्समूलर जैसे विद्वान ने हिन्दू नवाभ्युत्थान कहा है और फलतः गुप्तकाल ब्राह्मणों के पुनरुद्धार का युग माना गया है। परन्तु इस युग के धार्मिक उत्साह के अनुराग का सूक्ष्म परीक्षण यह प्रमाणित करता है कि इस युग में हिन्दू धर्म के नवाभ्युत्थान जैसी घटना न तो थी और न होने का कोई कारण ही हो सकता था; क्योंकि मौर्यों के पतन और गुप्त सम्राटों के अभ्युदय के मध्यकाल में हिन्दू धर्म मरणासन्न नहीं था। अनेक विदेशी जैसे यवन दूत हेलीओडोरस, उज्जैन के क्षत्रप और कुछ कुषाण नरेश हिन्दू धर्म के प्रभाव से अप्रसन्न हो गये थे। हिन्दू धर्म में उस समय भी ऐसी जीवन-शक्ति और चेतनत्व था कि विदेशी लोग उससे अत्यधिक आकर्षित और प्रभावित होते थे। इनके अतिरिक्त मौर्य-युग के पश्चात् गौतमी पुत्र शतकर्णी जैसे भारतीय नरेशों ने अपने सुधार के

कार्यों द्वारा हिन्दू धर्म की परम्परा और अनुश्रुति को बनाये रखा था। वस्तुत
हिन्दू धर्म या समुचित रूप से ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार गंगा की घाटी में शुं
राजवंश के प्रतिष्ठाता पुष्यमित्र के समय से ही चल रहा था और दक्षिण
तो अनेक राजवंशों का उत्कर्ष होता रहा जो वाजपेय और अश्वमेध यज्ञों के
समान वैदिक विधियों और क्रियाओं को बारम्बार करने में अपना महान
गौरव समझते थे। अतएव गुप्तकाल में तो हिन्दू नवाभ्युत्थान का प्रश्न उठता
ही नहीं। इसके अतिरिक्त धार्मिक जागृति और पुनरुद्धार के युग में धर्मोन्माद
के कारण सदैव आतंक, संपीड़न और हत्याएँ होती रहती हैं। परन्तु गुप्तकाल
किसी भी प्रकार की धार्मिक असहिष्णुता, धर्मोन्माद तथा आतंक से मुक्त रहा
है। बौद्ध धर्म के लेखकों ने पुष्यमित्र को उनके धर्म का घोर शत्रु बताया है
परन्तु ऐसा आरोप गुप्त सम्राटों पर नहीं है। चन्द्रगुप्त का प्रसिद्ध सेनापति
आम्रकार्द्दव बौद्ध धर्मानुयायी था और बौद्ध धर्मावलम्बी प्रख्यात वसुबन्धु
समुद्रगुप्त का घनिष्ठ मित्र था। फाह्यान के मतानुसार गुप्त सम्राट बौद्धों को
भी राज्याश्रय देते थे। उपरोक्त प्रमाणों के प्रकाश में कुमारस्वामी का यह
निष्कर्ष स्वीकार कर लेना अनुचित न होगा कि गुप्तकाल में हिन्दू धर्म का
पुनरुद्धार नहीं हुआ था, अपितु वह अपने उत्कर्ष की पराकाष्टा को पहुँच चुका
था। अतएव यह युग नवाभ्युत्थान का नहीं परन्तु देदीप्यमान विकास और
प्रस्फुरण का है। इस युग में ही हिन्दू प्रतिभा अत्यधिक प्रस्फुटित हुई और
हिन्दू संस्कृति अपने उत्थान के शिखर पर पहुँच गयी थी। यह हिन्दुत्व की
अद्वितीय विजय थी।

गुप्तकाल की विशेषताएँ

गुप्तयुग भारतीय इतिहास में अपनी निम्नलिखित विशेषताओं के कारण प्रसिद्ध है :

१. एकछत्र शासन और शान्ति—लगभग चार सौ वर्षों के विदेशी शासन के बाद जब देश स्वतन्त्र हुआ, तब वह अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। गुप्त नरेशों ने विदेशी सत्ता को नष्ट-भ्रष्ट कर देश के बड़े भाग में एकछत्र शासन और शान्ति स्थापित की। देश एकसे शासन के अन्तर्गत संगठित हो गया। गुप्त सम्राटों ने विशाल साम्राज्य स्थापित कर केन्द्रीय शक्ति को दृढ़ किया और श्रेष्ठ शासन-प्रबन्ध के द्वारा सर्वत्र शान्ति व सुव्यवस्था कर दी।

२. व्यापार व समृद्धि—इस युग में अभूतपूर्व समृद्धि रही। इस युग में भारत का विदेशी व्यापार बहुत उन्नत था। उत्खनन में प्राप्त स्वर्ण-मुद्राओं से यह प्रमाणित होता है कि अन्य देशों का स्वर्ण इस देश में अविरल गति से बहा चला आ रहा था। पश्चिम में रोमन साम्राज्य से और पूर्व में पूर्वी द्वीप-

समूह के अन्य देशों से व्यापार होने के परिणामस्वरूप देश धन-धान्य से परिपूर्ण हो गया।

३. **भारतीय संस्कृति व सभ्यता का प्रसार**—गुप्तकाल में ही भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रसार हुआ और भारत ने इस युग में ही अपने विस्तार और उपनिवेश के जीवन में प्रवेश किया। चीन, मध्य एशिया, जावा, सुमात्रा, इण्डोचीन, अनाम, बोर्नियो आदि देशों में भारतीय धर्म और संस्कृति का विश्वव्यापी प्रसार रहा। भारत के वैदेशिक सम्बन्ध जिन्हें थोड़े समय के लिए क्षति उठानी पड़ी थी, पुनः अपनी प्राचीनतम प्रतिष्ठा और गौरव सहित स्थापित हो गये।

४. **संस्कृत भाषा व साहित्य की प्रगति**—इस युग में भारतीय प्रतिभा की सर्वतोन्मुखी अभिव्यक्ति तथा अभूतपूर्व बौद्धिक उत्कर्ष हुआ। संस्कृत साहित्य में कालिदास जैसे महाकवि, वीरसेन शाब जैसा व्याकरणाचार्य और राजनीतिज्ञ हुए। मृच्छकटिक और मुद्राराक्षस जैसे नाटकों की रचना हुई एवं पौराणिक साहित्य ने अपना बहुत कुछ वर्तमान रूप धारण कर लिया। दर्शन में बौद्धों के प्रसिद्ध लेखक और दार्शनिक आसंग, वसुबन्धु, दिगनाग और आर्यदेव ने तथा जैन दार्शनिक सिद्धसेन, दिवाकर, समन्तभद्र आदि ने अपने नवीनतम मौलिक विचार प्रदान किये।

५. **ललित कलाएँ तथा विज्ञान**—इस काल में भारतीय ललित कलाएँ अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच चुकी थीं। अजन्ता के जगत्प्रसिद्ध भित्तिचित्र, देवताओं और अवतारों की सजीव प्रतिमाएँ एवं भव्य विशाल मन्दिर कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। गुप्तकाल की ललित कलाओं में आध्यात्मिक अभिव्यजना के साथ-साथ सौन्दर्य, बुद्धि और अलंकारों का सुन्दर समानुपातिक समन्वय है। इसके अतिरिक्त गान्धार शैली पर जो विदेशी प्रभाव था वह विलीन हो गया। कला के साथ-साथ विज्ञान में भी प्रगति हुई। गणित, ज्योतिष, रसायनशास्त्र, धातु विज्ञान, पदार्थ विज्ञान, वैद्यक, खगोलविद्या आदि पर मौलिक ग्रन्थों की रचना हुई। विज्ञान के क्षेत्र में दशांश गणना-पद्धति और दिल्ली का लौहस्तम्भ गुप्तकाल की देन है।

६. **हिन्दू साम्राज्य की स्थापना**—गुप्त सम्राटों ने शक, कुषाण आदि विदेशी राज्यों का अन्त कर हिन्दू राज्य और हिन्दू संस्कृति की पुनर्स्थापना की एवं देश को उन्नत बनाया।

७. **हिन्दू धर्म का उत्कर्ष**—गुप्तकाल में हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान व परिवर्द्धन हुआ। ब्राह्मण धर्म की प्राचीनकाल की क्रिया-विधियाँ व यज्ञ पुनः प्रारम्भ हो गये। इस युग ने हिन्दू धर्म को वर्तमान रूप प्रदान किया। गुप्त सम्राटों के उदार संरक्षण और प्रबल प्रोत्साहन से वैष्णव धर्म का उत्कर्ष हुआ।

इस प्रकार सर्वांगीण सांस्कृतिक समुन्नति की दृष्टि से भारतीय इतिहास का कोई अन्य युग गुप्तकाल की समता नहीं कर सकता।

गुप्तयुगीन बौद्धिक और कलात्मक अभिसृष्टि के कारण

१. गुप्तकाल की सर्वतोन्मुखी उन्नति के लिए गुप्त सम्राटों की उदार सांस्कृतिक नीति से प्रोत्साहन मिला। कला और विद्या सम्बन्धी उनकी उदार संरक्षकता और प्रबल विद्यानुराग से ही ओजस्वी और देदीप्यमान परिणाम सम्भव हो सके।

२. इस काल की शान्ति और समृद्धि से साहित्य और कलाओं में विशिष्ट उन्नति हुई।

३. विदेशी सम्बन्ध और सम्पर्क से सांस्कृतिक अभिसृष्टि को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। चीन, रोम तथा अन्य पश्चिमी देशों के सम्पर्क में भारत निरन्तर रहा। गुप्त साम्राज्य की सीमा सौराष्ट्र तथा गुजरात तक पहुँच जाने से भारत का व्यापार पाश्चात्य देशों के साथ प्रभूत मात्रा में बढ़ा। पश्चिम जगत के विभिन्न विचारों के सम्पर्क में भारत निरन्तर आता रहा एवं भारतीय मेधा पर उसकी विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया होती रही। संस्कृतियों के पारस्परिक संघर्ष से सांस्कृतिक अभिसृष्टि होती ही है एवं बौद्धिक तथा कलात्मक क्रियाशीलता को प्रोत्साहन मिलता ही है।

४. भारतीयों के दृष्टिकोण की विशालता, आत्माभिमान के अभाव, ज्ञान के असाधारण अनुराग और नम्रता ने सर्वतोन्मुखी उन्नति में पूर्ण योग दिया। गुप्तकाल में भारतीय प्रत्येक जाति से ज्ञान और सचाई लेने के लिए सदा उत्सुक रहते थे। उस काल के वराहमिहिर ने लिखा है, "यवन (यूनानी) म्लेच्छ हैं; पर उनमें (ज्योतिष) शास्त्र का ज्ञान है, इस कारण वे ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं।"

५. भारतीयों में उस समय स्वतन्त्रतापूर्वक ज्ञान और विज्ञान में अन्वेषण करने की प्रवृत्ति थी। बौद्धों ने बिना शास्त्रीय प्रतिबन्ध के दर्शन-क्षेत्र में ऊँची से ऊँची उड़ानें भरीं। पूर्ववर्ती भारतीय और यूनानियों के दार्शनिक-ग्रन्थ पढ़ लेने पर भी आर्यभट्ट ने उनका प्रमाण नहीं माना और उनका अन्धानुसरण नहीं किया। उसका कथन था, "ज्योतिष के सच्चे-झूठे सिद्धान्तों के समुद्र में मैंने गहरी डुबकी लगायी है, अपनी बुद्धि की नौका से मैं सत्य-ज्ञान के बहुमूल्य मोती निकाल लाया हूँ।" अन्वेषण की इस प्रवृत्ति ने ही गुप्तकाल की कला और विज्ञान की प्रगति में महत्त्वपूर्ण एवं अत्यधिक योग दिया।

गुप्तकालीन सभ्यता और संस्कृति

राजनीतिक दशा—गुप्तकाल में राजतन्त्र और प्रजातन्त्र दोनों ही प्रकार के शासन थे। प्रत्येक प्रजातन्त्र की शासन-व्यवस्था के हेतु एक केन्द्रीय सभा

होती थी जो शासन के विभिन्न भागों की और शान्ति-व्यवस्था की देख-भाल करती थी। परन्तु अधिकांश में पैतृक राजतन्त्र का ही सर्वत्र प्रचार था। यद्यपि राजा के दैवी अधिकारों के प्रति जनता का विश्वास दृढ़ होता जा रहा था परन्तु किसी भी नरेश ने निरंकुशता या स्वेच्छाचारिता का आश्रय नहीं लिया। राज-सम्बन्धी अनेक उदात्त आदर्श और उच्च धारणाएँ थीं। प्रजा-वत्सलता और धर्म-पालन राजा का विशिष्ट गुण माना जाता था। इस युग के नरेश निपुण योद्धा और कुशल सेनानी ही नहीं थे अपितु कला और साहित्य के महान् प्रेमी और संरक्षक भी थे। उनमें कतिपय तो उच्चकोटि के विद्वान् और कवि थे। नरेश के अधिकार में ही सैनिक, राजनीतिक, शासकीय और न्याय सम्बन्धी सभी शक्तियाँ केन्द्रित रहती थीं। यद्यपि वह एक मन्त्रिमण्डल की सहायता और परामर्श से शासन करता था तो भी अन्तिम निर्णय का उत्तरदायित्व उस पर ही था। साम्राज्य के नेता और शासन के सभी अधिकारियों को वह नियुक्त करता था और सभी उसके प्रति उत्तरदायी थे। प्रत्यक्ष रूप से राजा निरंकुश और स्वेच्छाचारी प्रतीत होता था, पर वस्तुतः वह मन्त्रियों और सचिवों के नियन्त्रण में रहता था और उसे प्राचीन परम्परागत नियमों का पालन कर प्रजा-हित के कार्य करने पड़ते थे। यद्यपि वर्तमान युग के समान उस युग में केन्द्रीय प्रतिनिधि-संसदों का अभाव था परन्तु ग्रामों में पंचायतों और नगरों में सभाओं का प्रचार था जिन्हें स्वायत्त शासन के प्रचुर अधिकार प्राप्त थे। गुप्तकालीन शासन-प्रणाली में उल्लेखनीय परिवर्तन स्थानीय स्वशासन संस्थाओं—ग्राम पंचायतों और नगरसभाओं—के कार्यों और अधिकारों में आश्चर्यजनक वृद्धि है।

साम्राज्य की राजधानी से केन्द्रीय शासन 'सर्वाध्यक्ष' नाम के प्रमुख अधिकारी तथा अन्य सचिवों द्वारा होता था। इसके लिए एक विशाल सचिवालय भी था। 'कुमारमात्य' नाम के विशिष्ट अधिकारी होते थे जिनके शासन संचालन के लिए सैनिक व प्रशासन सम्बन्धी विविध कर्तव्य थे। ये अर्वाचीन युग के इण्डियन एडिमिनिस्ट्रेटिव सर्विस (Indian Administrative Service) के अधिकारियों के समान ही थे। सारा साम्राज्य सुव्यवस्थित शासन के हेतु विभिन्न प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्त को 'भुक्ति' कहते थे और प्रत्येक भुक्ति छोटे-छोटे जिलों में विभाजित था जिसे 'विषय' कहते थे। प्रत्येक 'विषय' पुनः ग्रामों में बँटा हुआ था। प्रत्येक के अलग-अलग अधिकारीगण थे। सामान्यतः उच्च अधिकारी वंश-परम्परागत होते थे। प्रान्तीय तथा स्थानीय शासन सुव्यवस्थित उच्चावच पदाधिकारियों द्वारा सम्पन्न होता था।

केन्द्र में न्याय-दान या तो राजा स्वयं करता था या उच्च अधिकारी द्वारा होता था। जिलों और नगरों में शासन की ओर से विविध न्यायालय थे

परन्तु स्वायत्त शासित शिल्प-संघों के भी लोकप्रिय न्यायालय थे जिनमें वे अपने सदस्यों के विवादों का निर्णय करते थे। गुप्त सम्राटों का दण्ड-विधान विनम्र था। अधिकांश अभियुक्त केवल जुर्माना द्वारा ही दण्डित किये जाते थे। यह जुर्माना अपराधों के अनुपात के अनुसार भारी या हल्का होता था। प्राणदण्ड का सर्वथा अभाव था। बारम्बार विद्रोह करने पर अंगच्छेद का दण्ड दिया जाता था जो सबसे अधिक क्रूर दण्ड माना जाता था। राजकीय आमदनी का प्रमुख आधार भूमि कर था जो उपज के एक भाग या उसकी कीमत के सिक्कों में दिया जाता था। सारांश में, प्रजा समृद्ध थी और कर तथा अनियन्त्रित शासन के प्रतिबन्धों से मुक्त थी एवं गुप्तकालीन शासन सुव्यवस्थित और सुसंगठित था। प्रजा शान्ति और समृद्धि के वातावरण में सुखी और सन्तुष्ट थी।

सामाजिक दशा

साधारण जनता की समृद्धि—चीनी यात्री फाह्यान के विवरण और गुप्त युग के शिला और मुद्रा-लेखों से उस काल में देश की स्थिति और जनता की अवस्था की झलक मिलती है। चीनी यात्री लिखता है कि लोग सद्गुण-सम्पन्न, धनाढ्य और समृद्ध थे एवं नगरों में अपार जन-समूह हिलोरें लेता था। बहुसंख्यक लोग शाकाहारी थे और अहिंसा के सिद्धान्त पर आचरण करते थे। वे अपने बाजारों में मद्य की दुकानें नहीं रखते थे, या घरों में सूअर और मुर्गे नहीं पालते थे, वे मांस, लहसुन और प्याज नहीं खाते थे और न सुरा-पान ही करते थे। चाण्डाल ही, जो समाज से बहिष्कृत थे, आखेट करते और मांस खाते थे। सम्भवत: वह बौद्ध धर्म के नैतिक सिद्धान्त अहिंसा का, जो मौर्यकाल और उसके बाद के युग में व्यवहृत था, परिणाम है और इसने समाज के भावों को ही परिवर्तित कर दिया था। फाह्यान का यह कथन कि वह बिना किसी उपद्रव के मार्गों में स्वच्छन्दता से भ्रमण कर सका, यह प्रमाणित करता है कि जनता में सामान्यत: किसी बात का अभाव न था और न उसमें अपराध करने की भावना ही थी। राज मार्गों पर बनी धर्मशालाएँ यात्रियों को प्रचुर मात्रा में सुखप्रद सुविधाएँ प्रदान करती थीं। दक्षिण बिहार का प्रदेश अपने विशाल नगरों की समृद्धि और धन-धान्य के कारण और वहाँ के निवासियों की, जिन्होंने अनेक स्थलों पर अन्नक्षेत्र और औषधालय स्थापित किये थे, उदारता, परायणता एवं दानशीलता के कारण विशेष प्रसिद्ध था।

सामाजिक संस्थाएँ और प्रथाएँ—इस काल की सामाजिक परिस्थितियों में तेजी से परिवर्तन हुए। कुछ अभिलेख यह प्रकट करते हैं कि इस युग के कतिपय लब्ध-प्रतिष्ठ विख्यात नरेशों ने जाति-व्यवस्था को निर्दिष्ट करने और जातियों को उनके कर्तव्य क्षेत्रों के अन्तर्गत रखने के प्रयत्न किये, पर

इस दिशा में किये गये प्रयास सदैव सफल नहीं हो सके। ब्राह्मण और शिल्पी जातियों के सदस्य सेनानी का कार्य करते थे और क्षत्रिय जाति के लोग व्यापारी बनकर प्रतिष्ठा पा रहे थे। इस युग में शूद्रों का काम तीनों वर्णों की सेवा नहीं था। वे व्यापारी, शिल्पी और कृषक का काम कर सकते थे। धन्धे व व्यवसाय जाति द्वारा ही कठोरता से निर्दिष्ट नहीं होते थे। जाति प्रथा ने अभी वह दृढ़ता और अपरिवर्तनशीलता धारण नहीं की थी जो अर्वाचीन युग में अन्तर्जातीय विवाह, खान-पान और धन्धों तथा व्यवसाय के लिए है। वैवाहिक नियम अभी भी परिवर्तनशील थे और विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों और वंशों के लोगों में अन्तर्जातीय विवाह अज्ञात नहीं थे। समाज में प्राय: सवर्ण विवाह होने लगे थे किन्तु असवर्ण विवाहों को भी वैध माना जाता था। अनुलोम (उच्च वर्ण के पुरुष के साथ निम्न वर्ण की स्त्री का सम्बन्ध) और प्रतिलोम (निम्न वर्ण के वर के साथ उच्च वर्ण की कन्या का सम्बन्ध) दोनों प्रकार के विवाह प्रचलित थे। विभिन्न वर्णों के अतिरिक्त विभिन्न जातियों में भी विवाह होता था। बहुसंख्यक विदेशियों के आने से, जिनमें से कतिपय जाति-व्यवस्था के ढाँचे में प्रविष्ट कर लिये गये थे, जाति-प्रथा में जटिलता आ गयी थी। इस समय तक वर्तमान काल का यह विचार दृढ़मूल नहीं हुआ था कि हिन्दू समाज में प्रवेश केवल जन्म द्वारा ही हो सकता है। हिन्दू धर्म से जो भी प्रभावित होता, वह हिन्दू आचार-विचार और संस्कार ग्रहण करके एक पीढ़ी में विवाह द्वारा हिन्दू समाज का अभिन्न अंग बन जाता था। रूढ़िवादी कट्टर ब्राह्मण भी विदेशियों से विवाह-सम्बन्ध करना अपवाद नहीं समझते थे। इस प्रकार हिन्दू समाज में दूसरी जातियों को अपने में विलीन करने की सामर्थ्य गुप्तयुग तक प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। परन्तु यह शक्ति मध्य-युग में विलुप्त हो गयी।

प्रागैतिहासिक काल का यह मत कि शूद्रों को ब्राह्मण के दास और नौकर रहने में सन्तोष करना चाहिए न तो सैद्धान्तिक रूप में अंगीकार किया गया था और न व्यवहार में ही अनुकरणीय था। इस युग में शूद्र लोगों को व्यापारी, व्यवसायी, शिल्पी और कृषक बनने की अनुमति थी। इनमें से असंख्य सेना में भरती होते थे और कप्तान, नायक, जनरल आदि जैसे उच्च पदों तक प्रगति करते थे। इतने पर भी समाज में अस्पृश्यता थी ही। चाण्डाल या अछूत नगरों और बस्तियों से बाहर रहते थे और उनमें जब प्रवेश करते तब उन्हें लकड़ियाँ बजाकर चलना पड़ता था ताकि उसके शब्द से सवर्ण हिन्दुओं को उनके आगमन का ज्ञान हो जाता और वे उनके सम्पर्क से दूषित होने से बचे रहते। ये अछूत आखेट करते, मछलियाँ पकड़ते, मेहतर का कार्य करते या इनके समान ही अन्य घृणित धन्धे करते थे। दासता का प्रचार था

परन्तु उस कठोर रूप में नहीं जैसा कि रोम या यूनान में था। अधिकतर युद्ध-बन्दी और अपना ऋण चुकाने में असमर्थ ऋणी दास बना लिये जाते थे। परन्तु जुआरी, ऋणी और स्त्री-दासी अपने-अपने ऋण को देकर दासत्व से मुक्त हो सकते थे। अपने स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति को रखकर युद्ध-बन्दी भी मुक्त हो सकते थे। जैसा प्राचीन सदियों में था, इस युग में भी संयुक्त परिवार प्रथा हिन्दू समाज की विशेषता बनी रही।

स्त्रियाँ—गुप्तकाल में बाल-विवाह का प्रचलन खूब हो गया था। पूर्ण यौवनावस्था प्राप्त होने और रजस्वला होने के पूर्व ही स्मृतियों के अनुसार कन्याओं के विवाह करने की प्रथा हो चली थी। फलतः कन्याओं को अपने वैवाहिक सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करने का कोई अवसर ही नहीं था। इतने पर भी स्वयंवर की प्रथा विलीन न होने पायी थी। सम्भवतः विधवा-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ध्रुवदेवी से इसी प्रकार का विवाह किया था। यद्यपि बहु-विवाह प्रथा का खूब प्रचार था, परन्तु साधारणतया यह कुलीन परिवारों और राजवंशों तक ही सीमित थी। अपने पति की चिता पर जलकर प्राण देने की सती प्रथा शनैः-शनैः व्यवहार में आ रही थी परन्तु इसका व्यापक प्रचार और विशिष्ट धार्मिक महत्त्व न था। यह प्रथा विशेषकर शासन करने वाले राजवंशों में ही थी। भास, कालिदास और शूद्रक ने इस प्रथा का वर्णन अपने ग्रन्थों में किया है। सुखी और समृद्धिशाली परिवारों में कन्याओं को साहित्यिक और सांस्कृतिक शिक्षा दी जाती थी और इस युग में शील, भट्टारिका आदि महिलाएँ कवियों और लेखकों के रूप में प्रख्यात हैं। सांस्कृतिक कार्यों में उच्च जाति और श्रेणियों की स्त्रियाँ रुचि-पूर्वक हाथ बटाती थीं और युग के शासन-संचालन में सक्रिय प्रमुख भाग लेती थीं। कुछ प्रान्तों में विशेषकर कन्नड़ प्रदेश में स्त्रियाँ प्रान्तीय शासन और गाँवों के मुखिया का भी कार्य करती थीं। दक्षिण में वहाँ के राज-परिवारों की स्त्रियाँ अभिलेखों में न केवल संगीत और नृत्य में प्रवीण बतायी गयी हैं अपितु वे सार्वजनिक रूप से इन कलाओं में अपनी निपुणता का भी प्रदर्शन करती थीं। गुप्तकाल में सम्राट की महारानी अपना एक विशिष्ट महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। कभी-कभी गृहस्थी जीवन से तंग आकर नारियाँ भी तपस्विनी हो जाती थीं यद्यपि पर्दे की प्रथा का प्रचार न था और नारियाँ स्वच्छन्दता से भ्रमण करती थीं पर उच्चकुलीन महिलाएँ अपने वसनों पर एक प्रकार का आवरण पहनती थीं।

भोजन, वेश-भूषा और आभूषण—इस युग में शाहाकार तथा मांसाहार दोनों प्रचलित थे। यद्यपि बौद्ध धर्म की प्रधानता के कारण मांस व मद्य का प्रचार कम हो गया था, तथापि विशिष्ट अवसरों पर मांसाहार का उपयोग होता

था। किन्तु ब्राह्मण व बौद्धों ने इसे त्याग दिया था। भोजन के पश्चात् प्रायः लोग पान खाते थे। निम्न श्रेणी के लोग मद्य-पान करते थे। दक्षिण भारत में राजवंशों के लिए पाश्चात्य देशों से सुरा मँगायी जाती थी, पर निर्धन लोग देशी मदिरा का व्यवहार करते थे। प्राचीन भारतीय वेश-भूषा जिसमें एक ऊपरी वस्त्र तथा एक नीचे का वस्त्र धोती होती थी, इस युग के पुरुष वर्ग की वेश-भूषा बनी रही। परन्तु सिथियन लोगों ने कोट, ओवरकोट और पजामे प्रचलित किये और भारतीय नरेश इन्हें अधिकतर धारण करने लगे। राजसभा की और शासकीय वेश-भूषा प्राचीन राष्ट्रीय वेश-भूषा ही बनी रही। शुभ मंगलमय अवसरों पर शिरस्त्राण या मुकुट धारण किये जाते थे। पदत्राण का उपयोग अधिक न था और अधिकांश लोग उनके बिना ही आते-जाते थे। देश के कुछ भागों में महिलाएँ छोटा घाघरा (petticoat) पहनतीं थीं और उसके ऊपर एक साड़ी। दूसरे प्रदेशों में एक लम्बी साड़ी का उपयोग दोनों कार्यों के लिए होता था। यद्यपि जैकेट, ब्लाउज और फ्राक का उपयोग सिथियन महिलाओं द्वारा होता था परन्तु ये नृत्य करने वाली कन्याओं में ही अधिक प्रचलित थे। ये हिन्दू समाज में लोकप्रिय न थे। साधारण जनता सूती वस्त्र पहनती थी, पर धनाढ्य लोग उत्सवों के अवसर पर रेशमी वसन धारण करते थे। समकालीन भास्कर-कला और चित्र-कला महिलाओं के विविध प्रकार के आभूषणों की सुन्दरता और विलक्षणता का पूर्ण परिचय देती हैं। गुप्त-युग में सुन्दरतापूर्वक बनायी हुई कानों की आकर्षक बालियाँ, विविध प्रकार के मोतियों की मालाएँ, लगभग एक दर्जन प्रकार की मेखलाएँ (कंदौरे), वक्षस्थल और जंघाओं के मोतियों के जालीदार आभूषण और रत्नजड़ित चूड़ियाँ व्यवहार में थीं। अँगूठियों का प्रयोग अधिक था परन्तु नथ सर्वथा अज्ञात थी। अजन्ता के भित्ति-चित्र यह प्रकट करते हैं कि केश सँवारने की कलाएँ उतनी ही आकर्षक, सुन्दर और विविध थीं जितने कि केश। मुख और ओठों की सौन्दर्य वृद्धि के लिए रंग तथा लेप अज्ञात नहीं थे।

आमोद-प्रमोद—चौपड़ और शतरंज घर के भीतर लोकप्रिय आमोद-प्रमोद के साधन थे और आखेट तथा गैंडे और मुर्गों की लड़ाई बाहर के मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। बालकों और महिलाओं में कन्दुक-क्रीड़ा लोकप्रिय थी। उत्सव के अवसर पर महिलाएँ एकत्रित होकर अनेक प्रकार के शारीरिक खेल खेलती थीं। नाटक, प्रहसन, तमाशे, मेले आदि सांस्कृतिक कार्यक्रम की सामग्री उपस्थित करते थे।

आर्थिक स्थिति

शिल्पी संघ—निम्न और उच्च दोनों प्रकार के व्यापार वाणिज्य और उद्योग-व्यवसाय शिल्पी-संघों में संगठित थे। समकालीन शिलालेख और मुद्राएँ

व्यापारियों और महाजनों के ही संघों का नहीं, अपितु जुलाहे, तेली, कारीगर आदि के शिल्पी-संघों का हवाला देते हैं। ये संघ अपने सदस्यों के लिए धनागार (बैंक) का कार्य करते थे। ये स्वायत्तिक संस्थाएँ थीं; इनके अपने नियम, उपनियम, विधियाँ आदि थीं जिन्हें सामान्यतः शासन सम्मान की दृष्टि से देखता और मान्यता देता था। इन संघों के कार्य चार या पाँच सदस्यों की एक छोटी कार्यकारिणी एवं सभापति द्वारा संचालित होते थे। इनके सदस्यों के पारस्परिक वाद-विवादों के निर्णय संघ की कार्यकारिणी करती थी। संघों का अपना कोष व स्थावर सम्पत्ति होती थी। इनमें से कई तो इतने धनाढ्य और वैभवशाली होते थे कि वे कई मन्दिर, देवालय और विहार निर्माण करवाते थे। निर्दिष्ट चिह्न के हेतु प्रत्येक संघ की अपनी अलग मुद्रा या मुहर होती थी।

व्यवसाय—गुप्तकाल में कृषि तथा उद्योग-धन्धों में प्रभूत प्रगति हुई। कृषक गेहूँ, चावल, जूट, तिलहन, बाजरा, ज्वार, कपास, मसाले, सुपारी, नील आदि उत्पन्न करते थे। भूमि बड़ी मूल्यवान सम्पत्ति समझी जाती थी। वनों में भी सागौन, संदल, आबनूस आदि बहुमूल्य लकड़ी होती थी। कपड़ा बुनना देश का प्रमुख व्यवसाय था। इसके प्रधान केन्द्र दक्षिण बंगाल, गुजरात तथा तामिल देश के नगरों में थे। हाथीदाँत की वस्तुएँ बनाना, शिल्प के विभिन्न कार्य करना, चित्र-कला, जलपोत बनाना आदि अन्य व्यवसाय थे। लेन-देन में मुद्रा का विशिष्ट प्रचार न था, प्रायः वस्तु-विनिमय प्रथा ही प्रचलित थी।

वाणिज्य-व्यापार—गुप्तकाल अत्यधिक व्यापार और वाणिज्य का युग था। देशी और विदेशी व्यापार गुप्त-राजवंश के संरक्षण में खूब फला-फूला और देश की सम्पत्ति में अपार वृद्धि हुई। अन्न, मसाले, नमक, सोना-चाँदी और बहुमूल्य रत्न आन्तरिक व्यापार की प्रमुख वस्तुएँ थीं और वह व्यापार सड़कों और नदियों दोनों मार्गों से होता था। उत्तरी व दक्षिणी भारत के परस्पर व्यापार में भी वृद्धि हुई। दो थलमार्ग इस समय सबसे अधिक लोकप्रिय थे। इनमें से एक पूर्वी समुद्र तट पर होता हुआ जबलपुर के दक्षिण की ओर जाता था और दूसरा पश्चिमी समुद्र तट पर उज्जैन, नासिक, खरबार होता हुआ दक्षिण को जाता था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा सौराष्ट्र का समुद्रतटीय प्रदेश विजय कर लेने से पाश्चात्य व्यापार का मार्ग खुल गया था और रोमन साम्राज्य का धन-द्रव्य पश्चिमी घाट के कल्याण, चोल, भड़ौंच और खम्भात के बन्दरगाहों से भारत में अविरल गति से आने लगा। रोमन निवासियों की विकास प्रवृत्ति एवं शृंगार-प्रियता से भारत ने यथेष्ट लाभ उठाया, यहाँ तक कि रोमन-सम्राटों को इस प्रकार नष्ट होती हुई सम्पत्ति की रक्षा के हेतु विविध उपाय निकालने पड़े। बंगाल में ताम्रलिप्ति (अर्वाचीन तामलुक) प्रमुख

बन्दरगाह था, जो चीन, लंका, जावा और सुमात्रा जैसे पूर्वी देशों से खूब व्यापार करता था। आन्ध्र देश में कृष्णा और गोदावरी नदी के मुहानों पर अनेक बन्दरगाह स्थित थे, इनमें से कदूग और घण्टशाल का उल्लेख टालमी ने किया है। कावेरीपट्टम (आधुनिक पुहर) और टोंडाई चोल प्रदेश के, कोरकई और सलोयूर पांड्य देश के और कोट्टायम तथा मुझीरेम (वर्तमान क्रेंगनोर) मलाबार समुद्रतट के प्रधान बन्दरगाह थे। ये पूर्वी द्वीपसमूह और चीन देश से प्रगतिशील बढ़ता हुआ आयात-निर्यात करते थे। निर्यात की प्रमुख वस्तुएँ मोती, रत्न, नारियल, हाथीदाँत की वस्तुएँ और आयात में स्वर्ण और स्वर्ण मुद्राएँ, चांदी, ताँबा, टीन, सीसा, रेशम, कपूर, खजूर के फल, प्रवाल और अश्व थे। मौर्यकाल में मुख्यतः कलिंग देश के बन्दरगाहों द्वारा पूर्वी देशों से व्यापार होता था। गुप्तकाल में पूर्वी व्यापार में ही सफलतापूर्वक वृद्धि नहीं हुई, अपितु पश्चिमी समुद्रतट से होने वाले वाणिज्य-व्यापार की अभिवृद्धि भी हुई और इससे अद्वितीय आर्थिक समृद्धि और वैभव का अभ्युदय हुआ।

धर्म

भक्ति की प्रधानता—गुप्तकाल में धर्म सम्पन्नता, ओज और विविधता से ओत-प्रोत था। इस युग के लोगों के धार्मिक जीवन का सबसे अधिक महत्त्व-शाली लक्षण भक्ति की विशिष्टता थी। भक्ति का अर्थ है अपने इष्टदेव के प्रति अभिन्न श्रद्धा और अनुराग रखना एवं मनुष्य-मात्र के प्रति प्रेम व स्नेह की भावना बनाये रखना। यह भावना दानशीलता और उदारता के कार्यों में तथा अन्य व्यक्तियों के मतों और धर्मों के प्रति सहिष्णुता प्रदर्शित करने में अभिव्यक्त होती थी। विष्णु और शिव के अनुयायियों में भक्ति एक विशेष अंग हो गया था। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन होने लगा था कि "वह जो भक्ति-योग द्वारा ईश्वर की सेवा करता है, भवसागर के पार हो जाता है और मोक्ष के सर्वथा योग्य है।" शिव के प्रति भक्ति की प्रेरणा से ही चन्द्रगुप्त द्वितीय के एक मन्त्री ने उदयगिरि की पहाड़ियों में एक गुफा को अलंकृत किया था। विष्णु तथा अन्य देवताओं के प्रति अगाध भक्ति की अभिव्यंजना उच्च स्तम्भों, सुन्दर कलापूर्ण प्रवेश-द्वारों, श्रद्धा व अनुराग की प्रेरणा देने वाली मूर्तियों, विष्णु, कार्तिकेय, सूर्य, जैन तीर्थंकर तथा बुद्ध के अनेक भव्य मन्दिरों के निर्माण करने में हुई।

धार्मिक स्वतन्त्रता, सहिष्णुता व दानशीलता—इस युग का दूसरा महत्त्व-पूर्ण लक्षण धार्मिक सहिष्णुता एवं अनुरूपता की भावना का पूर्ण प्रसार था। तत्कालीन अभिलेखों और साहित्य में इस आशय के निर्दिष्ट संकेत हैं कि वैष्णव मतावलम्बी राजा शैव तथा बौद्धों को राज्य-सेवा और शासन में उच्च

पदाधिकारियों के स्थानों पर बिना किसी धार्मिक भेदभाव के नियुक्त करते थे तथा जैनियों और ब्राह्मणों में परस्पर धार्मिक अनुराग, सहिष्णुता और असाधारण सद्भावना थी। ये बातें इस कथन की पुष्टि करती हैं कि गुप्त-काल में धार्मिक सहिष्णुता व अनुरूपता की भावना पूर्णरूपेण प्रसारित थी। गुप्त सम्राट तो बौद्ध, जैन तथा अन्य धर्मों के प्रति अत्यधिक उदार तथा सहिष्णु थे। जनसाधारण में भी सहिष्णुता, उदारता और दानशीलता की भावना थी। जनता द्वारा व्यक्तिगत रूप से तथा शासन की ओर से बौद्ध-मठों, विहारों और जैन मन्दिरों को धार्मिक दान दिया जाता था एवं बौद्ध तथा जैन तीर्थंकर की मूर्तियों की जो प्रतिष्ठा हुआ करती थी उनका तत्कालीन अभिलेखों में उल्लेख है। इस लोक और परलोक में सुख और पुण्य अर्जित करने के हेतु लोग अनेक साधुओं और उपासकों को प्रभूत दान करते और ब्राह्मणों को स्वर्ण तथा अग्रहार (ग्रामदान) करते थे। मूर्तियों तथा मन्दिरों के निर्माण और उनके व्यय के चिरकालिक प्रबन्ध (अक्षय-नीवी) में भी वे दत्तचित्त रहते थे। अक्षय-नीवी के ब्याज से वर्ष भर मन्दिरों में दीप जलाने की सुव्यवस्था थी। बौद्ध एवं जैन सम्प्रदाय के दान का भी अभाव न था। प्रायः ये बुद्ध तथा जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों की स्थापना के रूप में होते थे। बौद्ध मतावलम्बी सम्पन्न व्यक्ति भिक्षुओं के निवासार्थ विहार बनवाते एवं उनके आहार तथा वस्त्र की व्यवस्था करते थे। गुप्तकाल में बुद्ध और बोधिसत्व की जो अनेक मूर्तियाँ भारत के विभिन्न प्रदेशों में, विशेषकर सारनाथ, मथुरा और नालन्दा में प्राप्त हुई हैं, वे यह प्रमाणित करती हैं कि गुप्त-शासन में बौद्ध धर्मावलम्बियों ने पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता और सहिष्णुता का आनन्द उठाया था। कुमारगुप्त प्रथम ने नालन्दा के प्रसिद्ध विहार का निर्माण कराया था और अन्य गुप्त सम्राटों ने उसमें दूसरे भवनों को बनवाया और अनुदान दिये। फाह्यान ने गंगा की घाटी के निवासियों की धार्मिक भावना, दानशीलता और सहिष्णुता का उल्लेख किया है। ये लोग धार्मिक संस्कारों तथा क्रिया-अनुष्ठानों में ही दत्तचित्त नहीं रहते थे, अपितु दानशीलता और अहिंसाव्रत में भी संलग्न रहते थे।

धार्मिक शास्त्रों का व्यवस्थित रूप—धार्मिक दृष्टि से इस युग का तीसरा महत्त्वशाली लक्षण यह है कि ब्राह्मणों ने अपने धर्म एवं दर्शन सम्बन्धी विचारों को स्मृतियों, रामायण, महाभारत तथा विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने व्यवस्थित रूप से उपनिषद्बद्ध किया। दर्शनों के मूलभूत प्राचीन विचारों को सूत्रबद्ध करके शास्त्र का रूप इस युग में दिया गया। बौद्ध और जैन धर्म जिन तत्त्वों के कारण लोकप्रिय हो रहे थे, उन्हें ब्राह्मणों ने अपने धर्म में समाविष्ट कर हिन्दू धर्म को सुदृढ़ कर दिया। गुप्त सम्राट भागवत धर्म के

अनुयायी और पक्षपोषक थे, उन्हीं के शक्तिशाली समर्थन और उदार संरक्षण में वैष्णव धर्म का विशेष उत्कर्ष हुआ। गुप्तकाल में निम्नलिखित प्रमुख धर्म उन्नत दशा में थे :

बौद्ध धर्म—गुप्तकाल में भी बौद्ध धर्म उन्नत था। प्रसिद्ध विद्वान्, महात्मा और दार्शनिक आसंग, वसुबन्धु, कुमारजीव, परमार्थ और दिगनाथ बौद्ध धर्म के शक्तिशाली प्रतिभावान् व्यक्ति थे। ब्राह्मण धर्म के साथ ही साथ बौद्ध धर्म भी अपने दोनों सम्प्रदाय हीनयान और महायान सहित प्रचलित था, पर गुप्तकाल की बाद की शताब्दियों में शनैः-शनैः उसकी अवनति होने लगी थी। राज्याश्रय के अभाव ने बौद्ध धर्म की लोकप्रियता पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डाला। गंगा की घाटी के उत्तर में बिहार एवं बंगाल में बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म दोनों ही समान रूप से लोकप्रिय थे परन्तु फाह्यान के कथनानुसार गुप्तकाल में काश्मीर, अफगानिस्तान और पंजाब बौद्ध धर्म के घर थे। सारनाथ, पहाड़पुर, अजन्ता और नागार्जुनीकोंडा के कला के नमूने इस कथन की पुष्टि करते हैं कि गुप्तकाल बौद्धकाल का स्वर्णयुग था। बोध गया में भी, जहाँ सिंहाली यात्रियों के लिए गुप्तकाल में एक विशेष धर्मशाला का निर्माण किया गया था, बौद्ध-कला की उन्नतावस्था के प्रमाण मिलते हैं। बंगाल में मृगशिखावन बौद्ध धर्म व संस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र था। पश्चिमी महाराष्ट्र में भज, कुड, महार, बेडसा, जुनार, कान्हेरी आदि स्थानों के बौद्ध मन्दिरों, गुफाओं और विहारों का संरक्षण धन-सम्पन्न कुलीन शिष्ट जनों द्वारा ही नहीं होता था, अपितु अनेक शिल्पी संघों और लब्धप्रतिष्ठ व्यापारियों तथा व्यवसायियों द्वारा भी होता था। अजन्ता और एलौरा की गुफाएँ इस बात का प्रमाण है कि वे पूर्वी महाराष्ट्र में बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध केन्द्र थे जिन्हें राज्य और समाज दोनों ही अग्रहार दान देते थे। आन्ध्र देश बौद्ध-स्तूपों और विहारों से भरा पड़ा था और दक्षिण में तामिल देश में काँची बौद्ध धर्म का दूसरा प्रसिद्ध केन्द्र था, जिसने महान् प्रख्यात बौद्ध तर्कशास्त्री दिगनाग को उत्पन्न किया था और नालन्दा विश्वविद्यालय को धर्मपाल जैसा महान् महन्त प्रदान किया था। काठियावाड़ में वलभी, जहाँ के विविध विहारों को मैत्रिक नरेशों ने उदारता से दान दिया था बौद्ध धर्म का प्रख्यात केन्द्र था। ये सब इस कथन के हेतु यथेष्ट प्रमाण हैं कि बौद्ध धर्म गुप्तकाल में उन्नत था, उसकी शक्ति क्षीण नहीं हुई थी और न ब्राह्मण धर्म ने उसका स्थान ही लिया था। यद्यपि बौद्ध धर्म ने गुप्त सम्राटों का उदार संरक्षण खो दिया था परन्तु फिर भी उसे उनकी पूर्ण सहिष्णुता प्राप्त थी। बौद्ध धर्म का महायान सम्प्रदाय क्रमशः अधिक लोकप्रिय होता जा रहा था और समस्त देश में लोग बौद्ध मूर्तियों से अवगत थे। अनेक स्थलों पर बौद्ध-स्तूप और चैत्यों का निर्माण

किया गया था एवं बौद्ध धर्म के इन भव्य स्थानों को सुन्दर कलाकृतियों से अलंकृत किया गया था। इनमें बुद्ध के जीवन के अनेक दृश्य अंकित थे। यद्यपि गुप्तकाल में बौद्ध धर्म तन्त्र-मन्त्रों की क्रियाओं और अनुष्ठानों से मुक्त था परन्तु इस युग के अन्तिम वर्षों में जनतन्त्रवाद इस धर्म में घर करने लग गया था। फिर भी महायान सम्प्रदाय के लिए यह युग सृजनात्मक और गौरवशील रहा। इस सम्प्रदाय की सर्वोत्कृष्ट मौलिक एवं सुदूर तक प्रभावित करने वाली देन दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में है जिसकी उन्नति में इस सम्प्रदाय के विचारकों ने गुप्तकाल में अपना पूर्ण सहयोग दिया।

जैन धर्म—गुप्तकाल में उत्तर प्रदेश में मथुरा, सौराष्ट्र में वलभी, उत्तरी बंगाल में पुण्ड्रवर्धन, मध्य भारत में उदयागिरि, दक्षिण में कर्नाटक तथा मैसूर और तामिल देश में कांची जैन धर्म के प्रमुख केन्द्र थे। दक्षिण के कदम्ब गंग, पल्लव और पांड्य नरेश जैन धर्म के प्रति अत्यन्त ही सहिष्णु थे। वलभी में सन् ४५३ में जैन धर्म के ग्रन्थों का संशोधन करने के लिए एक विशाल सभा हुई थी। गुप्तकाल में वृद्धि, विवेक और ज्ञान की जो प्रबल लहर प्रवाहित हुई थी उससे जैन धर्मावलम्बी भी प्रभावित हुए। फलतः उन्होंने अपने धर्म-शास्त्रों पर अनेक भाष्य और टीकाएँ लिख डालीं। इस युग में संस्कृत के अत्यधिक प्रगतिशील होने से जैनियों ने भी अपने धर्म-ग्रन्थ प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत में लिखे। यद्यपि जैन धर्मावलम्बियों और शैव मतावलम्बियों में परस्पर संघर्ष और प्रतिस्पर्द्धा थी, परन्तु इससे किसी प्रकार का संपीड़न आतंक या हत्याएँ नहीं हुई थीं।

हिन्दू धर्म—पुष्यमित्र के समय से ही मध्य देश में ब्राह्मण धर्म या हिन्दू धर्म उन्नति के राजपथ पर आरूढ़ हो चला था और इसे गुप्त सम्राटों का राजकीय आश्रय प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हो गया था। वस्तुतः गुप्तकाल में ही इसने नवीन जीवन पाया था। तत्कालीन अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि नरेश, मन्त्री और धन-सम्पन्न व्यक्ति ब्राह्मणों को मन्दिरों और भूमि का दान किया करते थे। इन मन्दिरों में हिन्दू धर्म के अनेक देवताओं विशेषकर विष्णु, शिव और सूर्य की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित होती थीं। ऐसा भास होता है कि इसी युग में विस्तृत क्रिया-विधियों सहित मूर्ति-पूजा का सूत्रपात हुआ। देवताओं के सुनहले तथा भव्य मन्दिर निर्मित होने लगे और उनका साज-शृंगार व उनकी पूजा एक प्रपंच बनने लगी। जहाँ कहीं भी पूजा-भाव किसी भी रूप में पाया गया उसमें किसी न किसी देवता का 'संकेत' रख दिया गया। प्रत्येक पूज्य-पदार्थ को किसी न किसी देवभक्ति का प्रतीक बना दिया गया। 'देव ज्योति' को मानो उसने ऊँचे वर्ग से और वैदिक कवियों के कल्पनाजगत से उतारकर भारत के कोने-कोने में पहुँचा दिया, जिससे

जनसाधारण की सब पूजाएँ आर्य-प्राण हो उठीं और उनके जड़ देवता भी वैदिक देवताओं की भावमय आत्माओं से अनुप्राणित हो उठे।

ब्राह्मण धर्म के देदीप्यमान उत्कर्ष का दूसरा उदाहरण यह है कि कतिपय गुप्त सम्राटों ने विमर्शपूर्वक वैदिक विधियों को अपनाया तथा अश्वमेध और वाजपेय, अग्निसोम, अतिरात्र जैसे यज्ञ और अनुष्ठान किये। ये सम्राट स्वयं ब्राह्मण धर्म के अनुयायी हो गये। समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया और इस घटना को चिरस्मरणीय करने के लिए स्वर्ण मुद्राएँ प्रसारित कीं तथा अपनी उपाधियों में 'अश्वमेध पराक्रम' की एक और उपाधि लगा दी। उसके प्रपौत्र कुमारगुप्त प्रथम ने भी यही उपाधि धारण की।

ब्राह्मण धर्म के ज्वलन्त समुदाय का अन्य उदाहरण यह है कि उस काल के नरेशों ने इसे अंगीकार कर लिया था एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम और स्कन्दगुप्त ने 'परम भागवत' की उपाधि धारण की। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि जनसाधारण में वैदिक क्रिया-विधियाँ उतनी अधिक लोकप्रिय न हो पायी थीं जितना कि भक्ति-मार्ग, जिसकी अभिव्यक्ति शिव, विष्णु एवं अन्य देवताओं के प्रति अनुराग व स्नेह में हुई थी।

ब्राह्मण धर्म के इस समुदय में स्वयं उस धर्म की आन्तरिक शक्ति तथा प्रभूत उदारता एवं अंगीकरण की शक्ति भी एक कारण थी। प्राचीन अदार्शनिक साधारण अन्धविश्वासों, क्रिया-विधियों तथा पौराणिक कथाओं को अपनी स्वीकृति का पुट देकर ब्राह्मण धर्म लोकप्रिय हो गया। निर्वर्ण विदेशियों को इसने अपने समाज में अंगीकार कर अपनी शक्ति बढ़ायी। नयी मान्यताओं के कारण ब्राह्मण धर्म ने जो अपना नवीन रूप धारण किया, वही आधुनिक युग का हिन्दू धर्म है।

ब्राह्मण धर्म के ऐसे उत्कर्ष के फलस्वरूप गुप्त-युग के वैष्णव सम्प्रदाय या भागवत सम्प्रदाय अधिक लोकप्रिय हो रहा था। वैदिक देवताओं की प्रतिष्ठा घट चुकी थी और उनके स्थान पर विष्णु, शिव आदि पौराणिक देवताओं के प्रति अधिक श्रद्धा बढ़ रही थी। अवतार के सिद्धान्त के आधार पर विष्णु आशा और विश्वास का संचार करने वाले, मानव-कल्याण, परिरक्षण एवं पालन करने वाले देवता माने जाने लगे। राक्षसों के आक्रमणों और अधर्म के आतंक में विश्व की रक्षा करने के हेतु विष्णु ने समय-समय पर अवतार लिये। विष्णु की उपासना अब चक्रभृत, गदाधर, जनार्दन, नारायण, वासुदेव, गोविन्द आदि नामों से होने लगी थी। दस अवतार का सिद्धान्त तो ईसा से पूर्व ही प्रचलित था, परन्तु अवतार का पूजन-अर्चन ईसा के पश्चात् ही लोकप्रिय हुआ और गुप्तकाल में अवतार के सिद्धान्त का पूर्ण विकास हो गया। इस प्रकार गुप्त-युग के धर्म का एक प्रमुख भाग यह है कि अवतार का सिद्धान्त

पूर्णरूपेण अंगीकृत हो चुका था। इस युग में महाभागवत का कृष्ण विष्णु का अवतार माना जाने लगा और ईसवी सन् की प्रथम सदियों में कृष्ण को मानव का उद्धारक और सर्वोपरि ईश्वर का अन्तिम रूप दिया गया। परन्तु इस सिद्धान्त का कि कृष्ण अनन्त, अनादि और निर्गुण है, जैसा गीता में कहा है, अन्तिम निश्चयात्मक रूप गुप्तकाल में ही बन गया। यहाँ यह बात जानना रुचिकर प्रतीत होगी कि गुप्तकाल में राम और सीता की उपासना का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। राम मत अभी सर्वप्रिय न हो पाया था।

वैष्णव धर्म के समान ही शैव मत भी लोकप्रिय था, यदि गुप्त, पल्लव और गंग नरेश वैष्णव थे, तो भारसिव, वाकाटक, नाग, मैत्रक व कदम्ब राजवंश शैव थे। वैष्णव मतावलम्बी गुप्त सम्राटों के शाम्ब और पृथ्वीसेन जैसे उच्च पदाधिकारी स्वयं शैव थे। इस युग में शिव मन्दिरों का निर्माण करना लगभग लोकप्रिय हो चुका था। शिव वह देवता थे जिनकी पूजा की जाती थी, पर जिनमें अनुराग नहीं था; वे कृष्ण के समान जनप्रिय व्यक्ति, इष्ट देवता नहीं थे, पर सृष्टि के संहारक थे। विभिन्न रूपों में शिव की पूजा होती थी। गुप्तकाल की बहुसंख्यक शिव मूर्तियों में मानव आकृति और लिंग आकृति दोनों का समन्वय है। ये या तो एकमुखी लिंग हैं अथवा चतुर्मुखी लिंग हैं अर्थात् शिवलिंग पर शिव के चार मुखों की आकृतियाँ उत्कीर्ण की हुई हैं। इसके अतिरिक्त शिव की प्रलयकारी मूर्ति भी निर्मित की गयी है जिसका ताण्डव नृत्य के समय का स्वरूप अत्यन्त ही भयंकर है। इस देवता के अन्य लक्षण या चिह्न त्रिशूल और नन्दी हैं।

इस युग के धर्म का दूसरा महत्त्वशाली अंग देवी की उपासना थी। शैव और वैष्णव सम्प्रदायों में देवी उपासना का खूब प्रचार व प्रसार था। देवियों में मुख्य स्थान लक्ष्मी, दुर्गा अथवा भगवती, पार्वती आदि का था। शिव-शक्ति का सिद्धान्त लक्ष्मी और नारायण के मत में परिवर्तित हो गया था। कतिपय विद्वानों का मत है कि इस देवी उपासना के फलस्वरूप तान्त्रिक धर्म का भी उत्कर्ष इस युग में हो चला था।

इसके अतिरिक्त सूर्य के भी कतिपय मन्दिर थे और सूर्य-प्रतिमाएँ भी उपलब्ध हुई हैं। तात्कालिक अभिलेखों से हवाला मिलता है कि विशिष्ट रूप से रुग्ण को स्वस्थ करने के लिए सूर्य की आराधना और उपासना की जाती थी। साधारण जनता की निम्न श्रेणियों में नाग और यक्ष पूजा का प्रचार था। ग्वालियर के पास पद्मावती में एक यक्ष मन्दिर और राजगृह में मणिनाग का देवालय था। इसके अतिरिक्त कार्तिकेय का एक मन्दिर और गणेश की प्रतिमाएँ भी उपलब्ध हुई हैं। मन्दिरों में पूजन-अर्चन गुप्तकाल में

ही यथेष्ठ रूप से प्रचलित हो चला था और अनेक मन्दिरों, देवालयों और आराधना-गृहों के भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं। धीरे-धीरे ये मन्दिर हिन्दू धर्म और संस्कृति के केन्द्र हो गये थे। उनके निर्माण व अलंकृत करने के कार्यों ने शिल्पी, संगतराश और चित्रकारों को प्रेरणा दी, उनके पूजन-अर्चन में संगीन और नर्तकियों की आवश्यकता हुई एवं उनके सभामण्डपों में दिये जाने वाले धर्मोपदेश ने पौराणिक पुरोहितों और दार्शनिकों की ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा को अभिव्यक्त होने के सुअवसर प्रदान किये। मन्दिरों में पूजन-अर्चन के अतिरिक्त तीर्थयात्रा, शान्तिक व स्वास्तिक पूजा-पाठ मूर्त-कर्म, दान-पुण्य, व्रत-उपवास, संस्कार आदि का भी महत्त्व बढ़ रहा था। प्रयाग इस युग का पवित्रतम् स्थान माना जाता था।

साहित्य का विकास

संस्कृत साहित्य—अशोक के शासनकाल में और उसके बाद प्राकृत उपभाषाओं ने इतना अधिक घर कर लिया था कि उनमें शिलालेख, मुद्राएँ, कहानियाँ और शासकीय अभिलेख ही नहीं लिखे जाते थे अपितु अनेक साहित्यिक ग्रन्थ भी लिखे गये। फलतः इस मत का प्रतिपादन हुआ कि अशोक के पश्चात् और गुप्तकाल के पूर्व के युग में संस्कृत भाषा सुषुप्त अवस्था में थी, पर इस मत का पूर्ण खण्डन कर दिया गया है। ज्यों-ज्यों प्राकृत भाषाओं का विकास होता रहा, उनमें परस्पर अधिक अन्तर होने लगा। परिणामस्वरूप संस्कृत ने राष्ट्रभाषा का पद ग्रहण कर लिया और गुप्तकाल के एक शताब्दी पूर्व ही महायान बौद्धों ने अपने पवित्र धार्मिक सिद्धान्तों को व्यक्त करने के लिए इसका उपयोग करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने अपनी रचनाएँ इसी भाषा में कीं। गुप्त साम्राज्य के अभ्युदय होने पर संस्कृत के विकास में एक नवीन गतिशीलता आ गयी। गुप्त सम्राट संस्कृत के इतने अधिक उत्साही प्रशंसक थे कि ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने अपने रंगमहलों और अन्तःपुर में भी संस्कृत के प्रयोग करने के आदेश दिये थे। उन्होंने संस्कृत राज्यभाषा घोषित कर दी और उनके सभी शिलालेखों और शासकीय अभिलेखों में निरन्तर संस्कृत का ही प्रयोग होने लगा। मुद्राओं, उपाख्यानों और धर्म-शास्त्रों में संस्कृत ने प्राकृत का स्थान छीन लिया। सारे देश के दार्शनिकों, कवियों और शासकों की भाषा होने से संस्कृत भारत की राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हुई। परिणामस्वरूप संस्कृत साहित्य की महान् बहिर्मुखी उन्नति हुई। इस सजग प्रगति से उसका योग और प्रभाव बढ़ चला और संस्कृत साहित्य के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना इसी गुप्तकाल में ही हुई। इसी कारण गुप्तकाल संस्कृत साहित्य का स्वर्णयुग और अत्युत्तम उच्चकोटि के साहित्य का जनक कहा जाता है।

गुप्त सम्राट स्वयं सुसंस्कृत थे, अतः उन्होंने साहित्य को उदारता से आश्रय दिया। वे विद्या और साहित्य के प्रचार में सदैव यत्नशील रहे। ये उन अनेक मेधावी और प्रतिभाशाली व्यक्तियों के सम्पर्क में रहे जो उस युग के उपयुक्त वातावरण में फले-फूले। समुद्रगुप्त जो स्वयं प्रतिभाशाली कवि और कुशल संगीतज्ञ था, विद्वानों के सत्संग में रहा और राजसभा के कवियों को उसने प्रेरणा दी। अनेक कवियों ने उसका आश्रय पाया था। उसकी राजसभा का सबसे अधिक प्रख्यात कवि हरिशेण था जो इलाहाबाद स्तम्भ की प्रशस्ति का लेखक था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता का अनुकरण किया और उसके उच्च मन्त्रियों में वीरसेन शाव नाम का एक कवि था। विविध किंवदन्तियों के अनुसार संस्कृत का सबसे प्रसिद्ध कवि कालिदास चन्द्रगुप्त की राजसभा का मेधावी साहित्यिक था। (परन्तु विद्वान् इतिहासकारों में कालिदास की तिथि के बारे में मतभेद है। उसकी तिथि अभी विवादास्पद है।) उसने 'शकुन्तला', 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशी' जैसे नाटक, 'रघुवंश' जैसे महाकाव्य और 'ऋतुसंहार' जैसे गीत-कवय की रचना की। कालिदास की प्रखर मेधा की ऊँचाई तक अन्य कवि न पहुँच सके। ऊँचे कवित्वमय भावों से ओत-प्रोत शैली की सरलता एवं शब्द-चयन के माधुर्य के कारण कालिदास संस्कृत साहित्य में अद्वितीय हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कवियों का भी बाहुल्य गुप्त-काल में था। वत्सभट्टि नामक कवि कुमारगुप्त प्रथम और द्वितीय का समकालीन था। पाटलिपुत्र का उक्त कवि वीरसेन शाव चन्द्रगुप्त द्वितीय का एक उच्च अधिकारी एवं राजसभा का सदस्य, महान् व्याकरणाचार्य, राजनीतिज्ञ और कवि था। इस युग का अन्य प्रसिद्ध कवि भैरवी 'किरातार्जुनीय' का लेखक था। 'वासवदत्ता' का प्रख्यात लेखक सवन्धु गुप्तकाल में ही हुआ था। बौद्धों का प्रसिद्ध लेखक आसंग जो 'योगाचार भूमिशास्त्र', 'महायान स्परीगृह' और इसके समान ही अन्य ग्रन्थों का रचयिता था तथा उसका भ्राता आचार्य वसुबन्धु जिसने बौद्ध धर्म के हीनयान और महायान पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं एवं 'प्रमाण समुच्चय' का लेखक दिगनाग इस युग के सर्वोत्कृष्ट लब्ध-प्रतिष्ठ बौद्ध लेखकों में से थे। बौद्ध दर्शन के अधिकांश श्रेष्ठ आचार्य गुप्त युग में ही हुए। 'मुद्राराक्षस' का रचयिता विशाखदत्त और 'अमर कोष' का लेखक अमरसिंह गुप्तकाल के ही थे। 'मृच्छकटिक' नाटक का रचयिता शूद्रक, 'काव्यादर्शक' और 'दसकुमार चरित्र' का लेखक दण्डिन इस युग में प्रसिद्ध थे। रसिक, ललित, चपल भर्तृहरि जो क्रमशः दरबारी, वैरागी, दार्शनिक, व्याकरणाचार्य और कवि था, इस युग की विविध संस्कृति का नमूना था। हिन्दुओं में पाणिनि, कात्यायन और पंतजलि के व्याकरण ग्रन्थों का बड़ा आदर था किन्तु बौद्धों में चन्द्रगोमी नामक बंगाली बौद्ध भिक्षु द्वारा विरचित

'चन्द्र व्याकरण' इस युग में बड़ा लोकप्रिय हो गया। छन्दशास्त्र का विवेचन इस समय श्रुतबोध तथा वराहमिहिर की वृहद् संहिता एवं अग्निपुराण में हुआ। वात्स्यायन का कामशास्त्र भी इसी युग की रचना है। संस्कृत गल्प-साहित्य की प्रसिद्ध पुस्तकें 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' की रचना सम्भवतः इसी युग में हुई थी। विश्व की पचास से अधिक भाषाओं में इनके अनुवाद हुए हैं। इनकी कहानियां बगदाद, बिझनटाइन और काहिरा की राजसभाओं तक और अन्त में अन्य पाश्चात्य देशों में पहुँचीं, जहाँ इन्होंने मध्यकालीन यूरोप के साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में ऐसा विश्वास किया जाता है कि सांख्य-पद्धति ने, जो कई सदियों में प्रचलित थी, वर्षगुगण्य और ईश्वरकृष्ण की भाष्यों और टीकाओं में एक नवीन जीवन का अनुभव किया। ऐसा हमें बौद्ध ग्रन्थों से विदित होता है। सांख्य दर्शन का सबसे सुन्दर और प्रामाणिक ग्रन्थ 'सांख्यकारिका' ईश्वरकृष्ण की कृति है। न्याय भाष्य के लेखक वात्स्यायन और इस भाष्य पर न्यायवार्तिक नामक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखने वाले उद्योतकर इसी काल की विभूति हैं। इसी युग में एक सचिव द्वारा 'कामन्दकीय नीतिसार' की रचना हुई जो अर्थशास्त्र का एक अनुपम ग्रन्थ है। तामिल साहित्य का भी विकास हुआ और सम्भवतः रामायण व महाभारत का अनुवाद तामिल भाषा में इसी युग में हुआ।

हिन्दू-धर्म के साहित्य को नवीन रूप देने और अधिक लोकप्रिय बनाने के हेतु समाज के ब्राह्मण नेताओं ने उनके धार्मिक ग्रन्थों को संशोधित करके उनकी पुनः रचना की। नवीन दृष्टिकोण के साहित्य का यह नया संस्करण था। अनेक पुराणों और महाकाव्यों का अन्तिम सम्पादन इसी युग में किया गया एवं कई स्मृति और सूत्रों पर भाष्य लिखे गये तथा संस्कृत के अन्य अनेक धार्मिक ग्रन्थों की रचना इसी काल में हुई। पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, महेश के माहात्म्य का वर्णन किया गया, पर ब्रह्म और अनुष्ठानों को महत्त्व देने वाला भाग अभी तक इनमें नहीं जुड़ा था। याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन, पाराशर और वृहस्पति की स्मृतियाँ इसी युग में बनीं। इनमें याज्ञवल्क्य की स्मृति बड़ी सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध है। इस प्रकार साहित्य की अनेक शाखाओं के विकास और प्रगति के कारण ही गुप्तकाल को हिन्दुस्तान का 'अगस्टन युग' (Augustan Age) कहा जाता है।

विज्ञान

गुप्तकाल में विज्ञान के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व उन्नति हुई। शून्य के सिद्धान्त का प्रारम्भ और फलतः दशमलव प्रणाली का विकास करने का श्रेय इस युग के मेधावी वैज्ञानिकों को ही है। आर्यभट्ट, वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त अपने समय में 'विश्व के सर्वश्रेष्ठ ज्योतिषी और गणितज्ञ थे'। 'सूर्य सिद्धान्त' नाम के अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में आर्यभट्ट सूर्य-ग्रहण और चन्द्र-ग्रहण के कारणों का सूक्ष्म

दृष्टि से विवेचन करता है। पृथ्वी के आकार के विषय में उसकी जो गणना थी, वह वर्तमान ज्योतिषियों की गणना और निरूपण से बहुत कुछ साम्य रखती है। आर्यभट्ट यह जानने वाला प्रथम भारतीय था कि पृथ्वी अपने कक्ष के चारों ओर घूमती है। उसने सर्वप्रथम ज्योतिष में जीवा का उपयोग ज्ञात किया व ग्रहों एवं ग्रहणों सम्बन्धी अनेक गणनाएँ कीं। उसने जो वर्षमान निकाला वह यूनानी ज्योतिष टाल्मी द्वारा निकाले काल से अधिक शुद्ध है। इस काल के दूसरे प्रसिद्ध ज्योतिषी और धातु-विज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित व गणितज्ञ वराहमिहिर का 'वृहत संहिता' ज्योतिष, भौतिक भूगोल, वनस्पति विज्ञान और पशुजीवन-शास्त्र का विवेचन करता है। इस युग में हिन्दू ज्योतिषियों ने इस बात की खोज कर ली थी कि आकाश मण्डल के ग्रह प्रतिबिम्बित प्रकाश से चमकते हैं, वे अपनी धुरी पर पृथ्वी की दैनिक चाल से परिचित थे और उसके व्यास की भी गणना उन्होंने की थी। इस युग के अन्य ज्योतिषी और गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त ने न्यूटन के सिद्धान्त को पहले ही घोषित कर निरूपण कर दिया था कि "प्रकृति के नियम के अनुसार ही समस्त वस्तुएँ पृथ्वी पर गिरती हैं क्योंकि पृथ्वी का स्वभाव वस्तुओं को आकर्षित करना और रखना है।" भौतिक वैज्ञानिकों की वैशेषिक प्रशाखा ने अणुसिद्धान्त का प्रतिपादन और प्रचार किया था। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन रसायन तथा धातु विज्ञान का बहुत बड़ा विद्यार्थी था। चरक और सुश्रुत का चिकित्साशास्त्र गुप्तकाल में ही उन्नत रहा। इस युग का दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नवनीतकम्' है जो सन् १८९० में पूर्वी तुर्किस्तान में कूचा में प्राप्त हुआ था। इसमें भेल, चरक, सुश्रुति संहिताओं के उपयोगी और लाभप्रद नुस्खों और योगों का संग्रह है। आयुर्वेद में भी प्रधान रूप से चिकित्सा के लिए वानस्पतिक ओषधियों का प्रयोग होता था किन्तु पारे तथा अन्य धातुओं के योग का प्रयोग प्रचलित हो रहा था। पशु-चिकित्सा पर इस युग में पालकाप्य का 'हस्त्यायुर्वेद' ग्रन्थ लिखा गया था। सारांश में, चिकित्साशास्त्र का अध्ययन विस्तृत रूप से किया जाता था और संस्कृत में लिखे हुए चिकित्साशास्त्र के निबन्ध ही अरब देश के ज्ञान के, जो मध्य-युग में यूरोप में प्रविष्ट हुआ, आधार-स्तम्भ थे। चीर-फाड़ का सूक्ष्म परीक्षण करना प्रचलित था और विद्यार्थियों को नश्तर या चीर-फाड़ की छुरी के पकड़ने, उससे काटने, चिह्नित करने और छेदने, घावों को स्वच्छ कर उन्हें भरने, मलहमों को लगाने और वमन कराने, जुलाब और एनिमा (Enema) लगाने की ओषधियों को काम में लाने की शिक्षा दी जाती थी।

शिक्षा—साहित्य और विज्ञान के साथ-साथ गुप्तकाल में शिक्षा की भी प्रचुर प्रगति हुई। शिक्षा प्रदान करने के लिए राज्य की ओर से वर्तमान काल की भाँति सुसंगठित शिक्षण-संस्थाएँ नहीं थीं। गुरु वैयक्तिक रूप से स्वयं

शिष्यों को शिक्षा दिया करते थे। प्रसिद्ध आचार्य अपने-अपने आश्रमों में विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। प्रायः ये आचार्य पवित्र तीर्थस्थानों राजधानियों और विशाल नगरों में निवास करते थे। इस युग में वेदों का अध्ययन कम होता था। इनके स्थान पर पुराण, स्मृति, तर्क, दर्शन, न्याय, व्याकरण आदि का अध्ययन किया जाता था। इसके अतिरिक्त विभिन्न लौकिक विषय भी पढ़ाये जाते थे। व्यावसायिक शिक्षा केवल परिवारों तक ही सीमित थी। शिक्षा प्रश्न तथा वार्तालाप की दृष्टि से दी जाती थी। आवश्यक विषयों पर वाद-विवाद भी होते थे। शिक्षा-समाप्ति पर किसी भी प्रकार की परीक्षा व उपाधि-वितरण की प्रणाली न थी। यद्यपि ब्राह्मणों में शिक्षा का प्रसार अधिक था, परन्तु क्षत्रियों और वैश्यों में शिक्षा कम होती जा रही थी। शूद्र तो प्रायः अशिक्षित ही रहते थे। स्त्री-शिक्षा का प्रचार दिन-प्रतिदिन कम होता जा रहा था।

इस युग में प्राचीन और प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र तक्षशिला महत्त्वपूर्ण नहीं रहा था। परन्तु गुप्त सम्राटों के उदार संरक्षण के परिणामस्वरूप नालन्दा विश्व-विद्यालय का उत्कर्ष हो रहा था। गुप्त सम्राटों ने इसमें विहार भी बनवाये थे। नालन्दा के समान ही प्रसिद्ध विद्यालय सौराष्ट्र में वलभी में भी था। इसे भी नरेशों द्वारा सहायता प्राप्त होती थी। इसके अतिरिक्त उज्जैन, पद्मावती, वत्सगुल्म, मथुरा, बनारस, नासिक आदि भी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। दक्षिण में काँची हिन्दू तथा बौद्ध दोनों प्रकार की शिक्षाओं का केन्द्र था। गुप्तकाल में धीरे-धीरे बौद्ध मठों ने भी शिक्षा प्रदान करने का कार्य प्रारम्भ किया।

कला

कलाओं के क्षेत्र में गुप्तकाल अपनी सर्वोत्कृष्टता की चरम पराकाष्ठा तक पहुँच गया था। गुप्तकाल का गौरव और वैभव विविध दर्शनीय कला-कृतियों के द्वारा ही स्थायी और चिरस्मरणीय हो गया। इस युग में समस्त भारत में कलाओं में अतुलनीय गतिविधि रही। कला के विविध अंग जैसे तक्षण (भास्कर्य)-कला, वास्तु-कला, चित्र-कला और पकी हुई मिट्टी की मूर्ति-कला ने वह परिपक्वता, सन्तुलन और अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता प्राप्त की थी जिसकी श्रेष्ठता को आज भी कोई प्राप्त नहीं कर सका है। कला में गान्धार शैली पर जो यूनानी प्रभाव आच्छादित था, वह तक्षशिला से मथुरा, सारनाथ और पाटलिपुत्र पहुँचते-पहुँचते गुप्तकाल में सर्वथा लुप्तप्राय हो गया था और कला ने विशुद्ध भारतीय रूप ग्रहण कर लिया था। गुप्तकाल में कला के प्राविधान निपुण कर दिये गये, उसके निश्चित भेदों का विकास हुआ और सौन्दर्य के आदेशों का निर्माण हुआ। वास्तविक सच्चे उद्देश्यों और कला के आवश्यक सिद्धान्तों का विवेकपूर्ण ज्ञान, ललित-कला सौन्दर्य के भाव का उच्चतम विकास और सधे हुए करों की निपुण कार्य-निष्पत्ति इस काल में ही

हुई थी। शिल्पियों का हाथ इतना सध गया था कि वे जिस वस्तु या विषय को लेते उसमें जान डाल देते थे। उनकी सुविकसित सौन्दर्य-भावना, परिमार्जित एवं प्रौढ़ कल्पना तथा अद्भुत रचना-कौशल ने ऐसी कृतियों का निर्माण किया जो भारतीय कला के क्षेत्र में 'न भूतो, न भावी' रचनाएँ थीं। हमारे सबसे अधिक सुन्दर स्मारक जो भारत की कलाओं के सफल परिपूर्ण नमूने हैं, जिनमें अजन्ता के गुफा चित्र सबसे प्रमुख हैं, गुप्तकाल की सांस्कृतिक देन हैं। गुप्तकाल की इस कला ने जो आदर्श निर्माण किये, उन्होंने भारतीय कला को ही सुदूर काल तक प्रभावित नहीं किया, वरन् भारत के पार्श्ववर्ती देश भी उससे अत्यधिक प्रभावित हुए।

तक्षण-कला (भास्कर्य)—कला शिल्पियों की कार्य-निष्पत्ति का सौन्दर्य और श्रेष्ठता शिल्पकला प्रदर्शित करती है। गुप्तकाल की सबसे अधिक महत्त्वशाली देन बौद्ध और हिन्दू धर्म की मूर्तियों का पूर्ण विकास है। शिल्पी की छैनी ने पाषाण को स्थायी सौन्दर्य और लालित्य की प्रतिमाओं में परिवर्तित कर दिया। गुप्तकाल में बहुसंख्यक बोधिसत्वों की मूर्तियाँ जो पाषाण और काँसे की बनी हुई थीं, भारत में अनेक स्थलों पर खोदकर निकाली गयी हैं। सारनाथ और मथुरा में भी ये प्रतिमाएँ विशेष रूप से उपलब्ध हुई हैं। गुप्तकाल के कलाकारों ने बौद्ध प्रतिमाओं में कुछ नवीन बातों को प्रकट किया, प्रथम उन्होंने कुषाणकाल की बौद्ध मूर्तियों में केशविहीन घुटे हुए सिर की अपेक्षा घुँघराली केश-राशि प्रदर्शित की। द्वितीय, बुद्ध मूर्ति के प्रभा-मण्डलों को रेखाओं द्वारा अधिक अलंकृत किया। इनके प्रकारों में भी बहुलता लायी गयी। तृतीय, उनकी वेष-भूषा के विमल पारदर्शक परिधान इस प्रकार प्रदर्शित किये जाते थे कि उनके शरीर के अंग स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते थे। यह एक विशिष्टता थी। चतुर्थ, उनकी मुद्राओं में बाहुल्य लाया गया। कुषाण या गान्धार शैली की बौद्ध मूर्तियों की अपेक्षा इस काल की मूर्तियों में मुख और नेत्रों की शान्ति अधिक आध्यात्मिक है। इस युग की मूर्तियों की विशेषता यह है कि उनके मुख और नेत्रों की मुद्रा शान्त है जो उनके ध्यानस्थ शान्त मन का आत्मिक अभिव्यक्तीकरण है। उनके उत्फुल्ल मुखमण्डल पर अपूर्व प्रभा, कोमलता, गम्भीरता और शान्ति है। गुप्तकाल की बौद्ध मूर्ति-कला गान्धार शैली की मूर्ति-कला से सर्वथा स्वतन्त्र थी। सारनाथ में उपलब्ध और अनेक गुप्तकालीन मूर्तियों में सबसे सुन्दर और आकर्षक धर्म-चक्र-प्रवर्तक मुद्रा में आसीन बुद्ध की प्रतिमा है। मथुरा वाली बुद्ध की मूर्ति में करुणा और आध्यात्मिक भाव का अपूर्व सम्मिश्रण है। इससे प्रकट होता है कि भारत की मौलिक कला-प्रतिभा देश की आध्यात्मिक भावनाओं और धारणाओं के अनुरूप ही मूर्ति-निर्माण करने में पूर्णरूपेण विकसित हो चुकी थी।

शिव, विष्णु और ब्राह्मण धर्म के अन्य देवताओं जैसे सूर्य, कार्तिकेय आदि की मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। शैव और वैष्णव मत गुप्तकाल में लोकप्रिय थे। अतः कलाकारों ने शिव और विष्णु के अनेक अवतारों की कथाएँ और पौराणिक गाथाएँ सरलता और निपुणता से उत्कीर्ण कीं। धार्मिक और आध्यात्मिक महत्त्व की पौराणिक गाथाओं को समझकर कलाकार ने लालित्य-पूर्ण ढंग से पाषाण पर अंकित करने का सफल प्रयास किया। विष्णु और शिव की कुछ प्रतिमाएँ जो गुप्तकाल में निर्मित हुई हैं तक्षण-कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। गुप्तकाल में मूर्ति-कला की तीन शैलियाँ थीं, मथुरा, सारनाथ और पाटलिपुत्र। इन शैलियों की मूर्तियों में न तो प्रयास की झलक ही दृष्टिगोचर होती है और न आवश्यक सजावट का भार ही। एक बात और विशेष उल्लेखनीय है कि गुप्तकाल की मूर्ति-कला गान्धार शैली के यवन प्रभाव से मुक्त होकर अपनी कल्पना, भाव-व्यंजना और शारीरिक गठन में पूर्णरूपेण विशुद्ध भारतीय हो गयी थी। वास्तव में इस युग में मूर्ति-कला अपने प्रौढ़ व परिष्कृत रूप में विद्यमान थी। संक्षेप में, गुप्तकाल की मूर्तियाँ सुन्दर आकृति की हैं, उनमें आकर्षण, महिमा व प्रभाव है और सुन्दर शान्त मुद्रा तथा तेजोमय आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है। सामान्यतः गुप्तकाल की तक्षण-कला की विशेषता और उत्कृष्ट आदर्शवाद और सौन्दर्य की पूर्ण विकसित भावना का समन्वय है एवं आध्यात्मिक अभिव्यंजना के साथ-साथ सौन्दर्य-बुद्धि और समानुपात का पूरा ध्यान रखा गया है तथा कलाविदों की कृतियों में सजीवता और विशुद्धता है।

वास्तु-कला—सृजनात्मक प्रोत्साहन की लहर जो अपने पीछे दृढ़ धार्मिक भावना लिये गुप्तकाल में वेग से बह रही थी, इस युग की वास्तु-कला के क्षेत्र में भी सर्वोच्च दृष्टिगोचर होती है। फलतः अनेक ब्राह्मण मन्दिरों का निर्माण हुआ। दुर्भाग्यवश हूण और मुसलमान आक्रमणकारियों के क्रूर आक्रमण और विनाश के कारण गुप्तकाल की कतिपय इमारतें और मन्दिर ही अवशिष्ट हैं, पर जो कुछ भी थोड़े अवशेष हैं वे उस युग की वास्तु-कला की श्रेष्ठता के द्योतक हैं। जो अवशेष हैं उनमें निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं—झाँसी जिले में देवगढ़ का दशावतार मन्दिर, कानपुर के पास भीतरगाँव का मन्दिर, जबलपुर जिले में तिगवा का विष्णु मन्दिर, भूमरा का शिव मन्दिर, खोह का शिव मन्दिर जिसमें सुन्दर एकमुखी शिवलिंग है, आसाम के दरांग जिले में ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर जीर्ण-शीर्ण पर महान् कलायुक्त मन्दिर और साँची तथा बोध गया की दो प्रसिद्ध समाधियाँ हैं। ये मन्दिर सुन्दर ढंग से निर्मित किये गये हैं। इनमें एक वर्गाकार प्रकोष्ठ और अन्दर एक देवस्थान है जिसकी विशेषता छोटा बरण्डा या सभामण्डप है। यह सुन्दर कलापूर्ण चौखटों से अलंकृत है परन्तु

मन्दिर या इमारत के सारे नक्शे के अनुरूप ही यह सजावट है। बहुत ही ऊँचे कलायुक्त शिखर का, जो बाद के युग में मन्दिरों के ऊपर होते थे, प्रारम्भ नहीं हुआ था। पर भीतरगाँव के मन्दिर में इसका श्रीगणेश दृष्टिगोचर होता है। गुप्त-युग के बने हुए बौद्धों के अनेक विहार, चैत्य और मठ हैं। सारनाथ का धामेख स्तूप जो अपनी कल्पना, आकार और अलंकार में उच्चकोटि का है, इसी युग का है। एलौरा का विश्वकर्मा चैत्य, नालन्दा का ३०० फुट ऊँचा विशाल बौद्ध मन्दिर और सोमनाथ में प्राप्त बौद्ध मन्दिर व विहार इस युग की भवन-निर्माण-कला के सुन्दरतम नमूने हैं। गुफाओं की वास्तु-कला के हित गुफाओं का उत्खनन-कार्य चलता रहा और इस काल की गुफा-कला में अजन्ता और आन्ध्र देश की गुफाएँ हैं। अजन्ता की चैत्य और विहार गुफाएँ गुप्त-कला के सर्वोत्कृष्ट कलापूर्ण स्मारक हैं। दक्षिण में मोगुलराजपुरम, उण्डा-वील्ली और अक्कन्नमदन की गुफाएँ तथा भोपाल के पास उदयगिरि के ब्राह्मण धर्म के गुफा मन्दिर गुप्तकाल के हैं। गुप्तकाल की भवन-निर्माण-कला में सुन्दर सजावटों से अलंकृत स्तम्भों का विशिष्ट स्थान है। स्कन्दगुप्त का गाजीपुर जिले में स्थापित स्तम्भ और मेहरौली स्तम्भ उसके उदाहरण हैं।

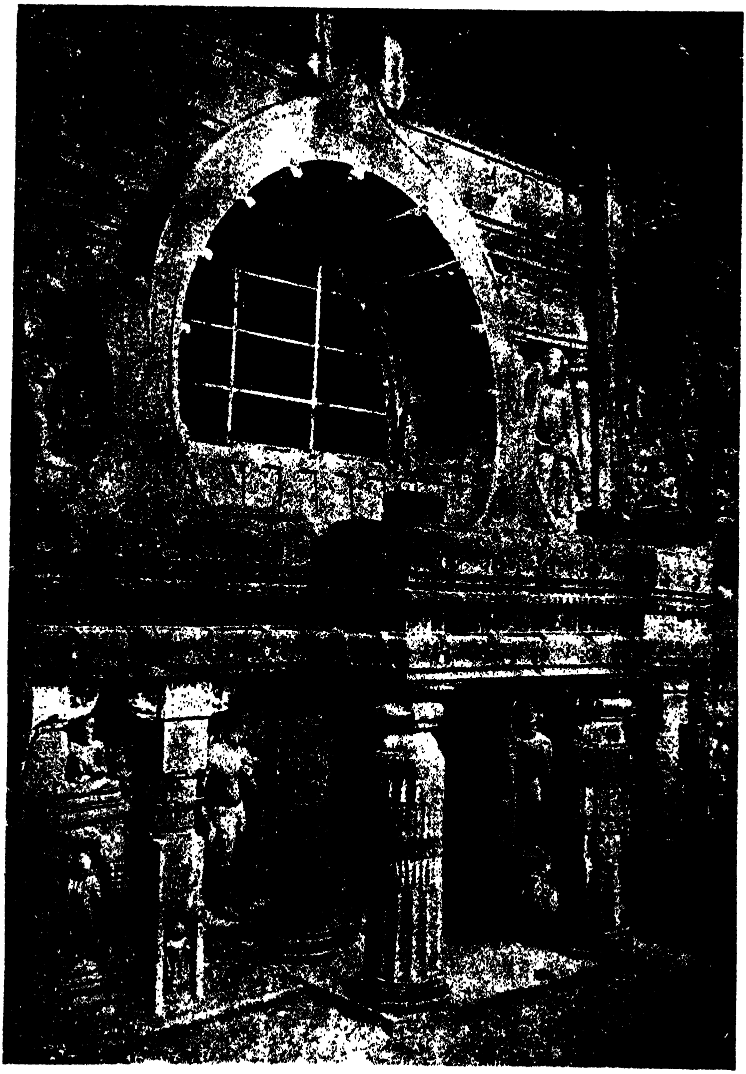
पकी हुई मिट्टी की मूर्तियाँ—गुप्त-कला की दूसरी शाखा मिट्टी की मूर्तियाँ हैं। प्रतिभाशाली शिल्पी वास्तविक सौन्दर्य की वस्तुओं का सृजन करते थे और मिट्टी की मूर्तियाँ जो अनुपम सौन्दर्य की आकृतियाँ और दृश्यों की होती थीं, गृहों, मन्दिरों और स्तूपों में प्रदर्शित की जाती थीं एवं उत्सवों के समय इनकी माँग अत्यधिक रहती थी। ये मूर्तियाँ तीन प्रकार की होती थीं—(अ) देवी-देवताओं की; (ब) पुरुष और स्त्रियों की; (स) पशुपक्षियों एवं अन्य वस्तुओं की। इनका सौन्दर्य और सजीवता धातु की मूर्तियों से भी बढ़ी-चढ़ी होती थी। ऐसी छोटी मूर्तियाँ राजघाट, अहिच्छत्र और भित में प्राप्त हुई हैं।

चित्र-कला—इस युग में चित्र-कला अपने गौरव और शान के उच्च शिखर पर पहुँच चुकी थी। गुप्त चित्र-कला के विश्व-विख्यात नमूने हैदराबाद राज्य की अजन्ता की गुफाओं, मध्य भारत में बाघ गुफाओं, सित्तनवसल मन्दिर और लंका में सिगिरिय में चट्टानों को काटकर बनाये प्रकोष्ठों में हैं। समस्त विश्व ने इन भित्ति-चित्रों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। अजन्ता के चित्रों से भली-भाँति यह ज्ञात होता है कि भारतीय कलाकारों ने मानव-जीवन का कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं छोड़ा था। सामाजिक जीवन और चराचर जगत के सभी पहलुओं को यहाँ चित्रित किया गया है। "अजन्ता के चित्रों में मैत्री, करुणा, प्रेम, क्रोध, लज्जा, हर्ष, उत्साह, घृणा आदि सभी प्रकार के भाव, पद्मपाणि अवलोकितेश्वर, प्रशान्त तपस्वी और देवोपम राज-परिवार से लेकर क्रूर व्याध, निर्दय बधिक, साधु वेशधारी धूर्त, वार-वनिता आदि सब तरह के

मानव-भेद, समाधि-मग्न बुद्ध, प्रणय-क्रीड़ा में रत दम्पत्ति और शृंगार में लगी नारियों तक सकल मानव-व्यापार अंकित हैं।" इसके अतिरिक्त इन चित्रों में विविध प्रकार का अंग-विन्यास, मुख-मुद्रा, भावभंगी, वेश-भूषा, अलंकार, विविध केशपाश, अंग-प्रत्यंग, रूपरंग आदि अति सुन्दरता से चित्रित हैं। अजन्ता के भित्ति-चित्रों की यह बहुविविधता वस्तुतः विलक्षण एवं आश्चर्यजनक है। इन चित्रों के तीन विषय हैं—(१) अलंकृत करने के लिए आकृतियाँ जैसे पुष्प, वृक्ष, पत्रावलि, पशु-पक्षी, धार्मिक देवी-देवता आदि, रिक्त स्थान भरने के लिए अप्सराओं, गंधर्वों तथा यक्षों की सुन्दर मूर्तियाँ हैं। (२) बुद्ध और बोधिसत्वों के चित्र, और (३) बौद्ध धर्म के जातक ग्रन्थों में से अनेक वर्णनात्मक दृश्य। इनकी भाव-व्यंजना में अजन्ता के चित्रों ने अवर्णनीय चित्र-कला कौशल दिखलाया है। सुन्दर कल्पना, रंगों की प्रभा, प्रशंसनीय रेखाओं का लालित्य और अभिव्यक्ति की सम्पन्नता के कारण इन भित्ति-चित्रों में अद्वितीय आकर्षण और सौन्दर्य है। एक विशेषज्ञ की राय में अजन्ता की कला "कृति में इतनी पूर्ण, परम्परा में इतनी निर्दोष, अभिप्राय में इतनी सजीव तथा विविध आकृति तथा वर्ण के सौन्दर्य में इतनी प्रसन्न है कि उसे संसार की सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियों में विवश हो मानना पड़ेगा।" यद्यपि ये चित्र और उनके विविध दृश्य मानव-जीवन की विभिन्न भावनाओं से ओत-प्रोत हैं, किन्तु फिर भी उनमें एक ऐसी आध्यात्मिक विशिष्टता है जिससे वे कभी भी विकारोत्पादक या अश्लील नहीं हो पाते।

मुद्रण-कला—गुप्तकाल में सिक्कों के ढालने की कला भी प्रगतिशील थी। भारतीय ढंग के आकर्षक सुन्दरतम सिक्के गुप्त-काल के हैं। इस काल के सिक्कों का आकार और उन पर मूर्तियों का अंकन अत्यन्त सजीव व कलापूर्ण है। सिक्कों पर गुप्त नरेशों की मूर्तियाँ, गरुड़-ध्वज, लक्ष्मी की मूर्ति, सिंह की आकृति एवं सुन्दर संस्कृत शब्दों में राजाओं की कीर्तिगाथा का वर्णन श्रेष्ठ व आकर्षक है। स्वर्ण और रजत दोनों प्रकार की मुद्राओं का प्रचलन उस काल में था।

धातु-कार्य—धातु से ढली हुई वस्तुएँ तथा मूर्तियाँ बनाने की कला में भी इस युग में आश्चर्यजनक प्रभूत उन्नति हुई थी। धातु-कार्य की श्रेष्ठ दक्षता के नमूने सुलतानगंज की विशुद्ध ताँबे की ढली हुई भव्य बुद्ध प्रतिमा जो ७½ फुट ऊँची और एक टन से अधिक वजन में है, एवं नालन्दा में ८० फुट ऊँची ह्वानच्यांग द्वारा देखी हुई विशाल बुद्ध प्रतिमाएँ हैं। दिल्ली में कुतुबमीनार के पास लौह स्तम्भ भी गुप्तकाल के कलाकारों की धातु-कार्य-कुशलता का एक और ज्वलन्त उदाहरण है। यह लौह स्तम्भ कुमारगुप्त प्रथम ने सन् ४१५ में अपने पिता की स्मृति में निर्मित कराया था। यह विमल, विशुद्ध, जंगविहीन



अजन्ता में बौद्धों के गुफा-मन्दिर। (पृष्ठ २२४)

लौह का ठोस ढला हुआ स्तम्भ है जिसका व्यास १६ इंच, ऊँचाई २३½ फुट और वजन ६ टन के लगभग है। यह लौह-स्तम्भ १५०० वर्ष की धूप, वर्षा और तूफान को झेलने के उपरान्त आज भी ज्यों का त्यों खड़ा है। इसे किस प्रकार बनाया गया, यह रहस्यमय गुत्थी आज तक नहीं सुलझ सकी।

संगीत एवं अभिनय—अन्य कलाओं के साथ-साथ संगीत, नृत्य एवं अभिनय कला भी गुप्तकाल में उच्च स्तर पर पहुँच चुकी थी। गुप्त सम्राट् संगीत प्रेमी थे अतः इस कला का संरक्षण उन्होंने उदारता से किया। समुद्र-गुप्त का वीणा बजाते हुए सुन्दर चित्र मुद्राओं पर अंकित है जिससे उसका संगीत प्रेम प्रकट होता है। वह वीणा बजाने में बड़ा निपुण माना जाता था। प्रयाग के शिलालेख से विदित होता है कि वह संगीत कला में नारद और तुम्बरु से भी श्रेष्ठ था। उसकी राजसभा में संगीतज्ञों का आश्रय प्राप्त करना उसकी संगीतप्रियता को स्पष्ट प्रदर्शित करता है। भूमरा के प्रसिद्ध शिव-मन्दिर में शिव के गण भेरी, झाल आदि वाद्य बजाते हुए उत्कीर्ण किये गये हैं। तत्कालीन साहित्य में संगीत-कला के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जैसे कालिदास ने रघु-जन्म के सुअवसर पर शुभ मंगलकारक वाद्यों के बजने का उल्लेख किया है। इस युग में रचित नाटक-ग्रन्थों में मृदंग, भेरी आदि वाद्य यन्त्रों का वर्णन है। इससे उस युग की संगीत-कला प्रदर्शित होती है। सारनाथ में उपलब्ध एक विशाल प्रस्तर खण्ड में नृत्य करती हुई एक नारी-प्रतिमा उत्कीर्ण है। इस नर्तकी के चतुर्दिक अनेक वारांगनाएँ बाँसुरी, भेरी, मृदंग आदि मधुर वाद्य-यन्त्रों को बजाती हुई खड़ी हैं। इसके अतिरिक्त इस काल में लिखित विविध नाटकों में रंगमंच और उस पर किये गये श्रेष्ठ अभिनय और नृत्य का वर्णन है। ये इस बात के सबल प्रमाण हैं कि इस युग में नृत्य-कला एवं अभिनय-कला लोकप्रिय थी। रंगमंच का विकास हो चुका था, उसके विभिन्न अंगों के नाम निर्दिष्ट थे और उस पर सफल नृत्य और अभिनय किया जाता था।

गुप्तकाल की विशिष्टताएँ

सारांश में गुप्तकाल की कला की विशेषताएँ अद्भुत भावोद्रेकता, लालित्य, शैली की सरलता, भाव-व्यंजना, स्वाभाविकता, गाम्भीर्य, रमणीयता, माधुर्य, अभिव्यक्ति की सादगी व सजीवता और आध्यात्मिक अभिप्राय का प्राधान्य है। इन्हीं लक्षणों ने गुप्त-कला को ऐसा व्यक्तित्व प्रदान किया है जिसको अभी तक कोई चुनौती नहीं दे सका। इस कला की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

प्रथम, इस कला में सौन्दर्य और प्रतिबन्ध की विलक्षणता है। इस युग में कलाकार महत्त्व-प्रदर्शन के हेतु विस्तृत कलाकृति पर निर्भर नहीं था परन्तु उसने अपना ध्यान लालित्य पर केन्द्रीभूत कर दिया था, जो अलंकरण और

सुशोभन की प्रचुरता में लुप्तप्राय नहीं होता था। उसकी कला का प्रमुख लक्षण रूढ़िवाद के घोर घातक बोझ से छुटकारा पाना, स्वच्छन्दता और सन्तुलन था। द्वितीय, गुप्तकाल के कलाकारों के कुशल करों से जो कुछ भी निर्मित हुआ, वह पूर्णरूपेण स्वाभाविक प्रतीत होता था। कलाकृति में अत्यधिक विस्तार की गुंजाइश भी नहीं थी। तृतीय, गुप्त-कला के सौन्दर्य के विषय में स्वयं अपनी एक कल्पना थी। इस कला में सांस्कृतिक और प्राकृतिक सौन्दर्य की एक विशिष्ट भावना थी। आत्म-जागृति एवं आध्यात्मिक आनन्द और महिमा की नवीन भावना को प्रस्फुरण प्रदान करने हेतु कला का अभ्यास और उन्नति की जाती थी। सद्गुण का मार्ग सौन्दर्य का मार्ग है—यह गुप्त-कालीन-कला की मार्गदर्शक अन्तर्प्रेरणा प्रतीत होती है। सुन्दर कलापूर्ण आकृतियों का सृजन करना और उन्हें सर्वोच्च जीवन की आवश्यकताओं के लिए प्रयुक्त करना—यही एक स्वर्णिम सामंजस्य और अनुरूपता थी जिसमे कि गुप्तकाल की कला निरन्तर अक्षय आकर्षण की वस्तु हो गयी। चतुर्थ, गुप्तकालीन कला की मूल प्रेरणा गहन धार्मिक और आध्यात्मिक आदर्शों से प्राप्त हुई। भव्य धार्मिक भवनों और मूर्तियों का निर्माण करके तथा देवी-देवताओं एवं ऋषि-मुनियों के चित्र अंकित करके इस काल की कला ने धर्म की सेवा की। विशुद्ध प्राकृतिक सौन्दर्य की ओर कला के स्वच्छन्द विकास में धर्म अवरोधक नहीं बना। अजन्ता के भित्ति-चित्रों में तत्कालीन जीवन के आकर्षक और सुन्दर दृश्यों का वर्णन स्वतन्त्र रूप से है। साधारण गृहस्थ जीवन और राजमहल के जीवन के शृंगार और क्रीड़ा, उत्सव और जुलूसों के दृश्यों ने इन चित्रों को स्थायी सौन्दर्य और माहात्म्य के अभिलेखों में परि-वर्तित कर दिया है। अन्त में, गुप्त-कला में प्रणाली की सादगी और अभि-व्यंजना का आनन्द है जिसमे महान् विचार स्वाभाविक और सरल रूप में अंकित हो जाते हैं। कला का विषय और 'टेकनिक' दोनों ही का विशिष्ट अनुरूपता में सामंजस्य हुआ था। बाह्य आकृति और आन्तरिक अर्थ शरीर और आत्मा के समान परस्पर जुड़ गये। जिस प्रकार शब्द और अर्थ मिले रहते हैं, उसी प्रकार इस युग के जीवन और विचार के अनेक क्षेत्रों में एक अनुरूपता और संश्लेषण के आदर्श मिल गये। कला के क्षेत्र में भी इससे कम सुन्दर समन्वय नहीं रहा। अतएव आश्चर्य नहीं, यदि विद्वानों और कला-समालोचकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि गुप्तकाल की कला प्राचीन कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। गुप्तकाल की कला ने भारत में जो गौरवमय स्थान प्राप्त कर लिया है उससे उसमें ऐसी शक्ति और सम्मान आ गया कि वह एशिया के अधिकांश भागों में कला की परम्पराओं को रूप दे सकी। भारत की सीमा के पार नवीन वातावरण में इस कला को ले जाने पर वृहत्तर भारत

के सांस्कृतिक साम्राज्य का सृजन हुआ। भित्ति-चित्रों की रूढ़ियों को मध्य एशिया और चीन देश में अनुरूप वातावरण प्राप्त हुआ तथा विदेशी जातियों ने, जो धर्म, साहित्य और संस्कृति के विषय में भारत से प्रेरणा के लिए मुँह ताकती थीं, इनका उत्साहपूर्वक अभिनन्दन किया।

प्रश्नावली

१. गुप्तकाल का क्या महत्त्व है ?

२. "गुप्तकाल हिन्दू-पुनरुत्थान का युग था।" विवेचन कीजिए।

३. "गुप्तकाल हिन्दू भारत का सबसे अधिक देदीप्यमान युग अथवा भारत का स्वर्णयुग माना जाता है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।

४. गुप्तयुग की सांस्कृतिक सफलता व सिद्धियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

५. गुप्तयुग हिन्दू-नवाभ्युत्थान की अपेक्षा हिन्दुओं का परिप्लावित देदीप्यमान युग था।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

६. फाह्यान ने भारत की जिन सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक और धार्मिक दशाओं को देखा था उनका वर्णन कीजिए।

७. "गुप्तयुग संस्कृत साहित्य के उच्च कोटि का काल कहा जाता है," इस कथन की पुष्टि कीजिए।

अथवा

संस्कृत साहित्य के इतिहास में किस रूप में गुप्तयुग महत्त्वशाली काल है ?

८. "यह साधारण धारणा कि गुप्तकाल भारतीय संस्कृति का स्वर्ण युग है उस काल की मूर्ति-कला के प्रमाण पर पूर्णतया निर्भर है।" इस कथन का सूक्ष्मता से विवेचन कीजिए।

९. "गुप्त-कला प्राचीन कला की सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है।" इस कथन का विवेचन कीजिए।

१०. गुप्तकाल की कला की प्रशंसा लिखिए।

११. मौर्य-युग और गुप्त-कला में स्त्रियों की दशा पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

१२. गुप्त-युग में स्थापत्य-कला और मूर्ति-कला में जो सफलता व श्रेष्ठता प्राप्त हुई है उसका वर्णन कीजिए।

१३. गुप्त-युग में साहित्य और विज्ञान के विकास का पूर्ण रूप से वर्णन कीजिए।

८

भारत और पाश्चात्य विश्व

फारस के नरेश डेरियस (Darius) के भारतीय आक्रमण से लेकर यूरोप में रोमन साम्राज्य के विध्वंस होने तक के लगभग एक सहस्र वर्षों के युग में भारत पाश्चात्य देशों के अनवरत सम्पर्क में रहा। इससे यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या इस सुदीर्घ सम्पर्क का भारत की अथवा ग्रीको-रोमन साम्राज्य की विचारधारा, साहित्य या कला पर कोई प्रभाव पड़ा है? इसका उत्तर विवाद-ग्रस्त रहा है।

सुदूर अतीत से ही भारत का जल और थलमार्गों द्वारा पाश्चात्य देशों से व्यापारिक व सांस्कृतिक सम्बन्ध था। इस बात के यथेष्ट प्रमाण हैं कि सिन्धु-सभ्यता के लोग सुमेर, पश्चिमी एशिया के अन्य प्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्रों और सम्भवतः मिस्र और क्रीट से व्यापार करते थे। ओल्ड टेस्टामेण्ट (Old Testament) में इस बात के भी हवाले हैं कि ईसवी पूर्व १४०० वर्ष के पहले भी भारत और सीरिया के समुद्रतट के नगरों में परस्पर व्यापार होता था। थल और जल दोनों मार्गों से ईसा पूर्व आठवीं सदी में मैसोपोटामिया, अरब और मिस्र देश से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। ईसवी पूर्व चौथी सदी से और विशेषकर मौर्य-युग में व्यापारिक और सामुद्रिक गतिविधि की खूब प्रगति हुई और इसके लिए निर्दिष्ट थल और जलमार्गों का अनुकरण किया जाने लगा। थलमार्ग खैबर के दो दर्रे और काबुल नदी की घाटी के उत्तरी प्रदेश में से होता हुआ हिन्दूकुश पर्वत के पार बल्ख पहुँचता था और वहाँ से आमू नदी (Oxus) के तट पर होता हुआ कास्पियन सागर तक जाता था। वहाँ से व्यापारिक वस्तुएँ जल और थलमार्ग से काले समुद्र के बन्दरगाहों तक पहुँचती थीं और वहाँ से फिर यूरोप के अन्य देशों को। समुद्री मार्ग सिन्धु नदी के मुहाने से फारस की खाड़ी में फरात नदी के मुहाने पर से होता हुआ, अरब देश के समुद्र तट को छूता हुआ, लाल समुद्र में होता हुआ, स्वेज तक पहुँचता था। यहाँ से व्यापारिक वस्तुएँ पश्चिम में मिस्र देश को और उत्तर में भूमध्य सागर के बन्दरगाहों को ले जायी जाती थीं। बाद में ईसवी सन् ४५ में हिप्पालस (Hippalus) ने इस बात की खोज की कि हिन्द महा-सागर में मानसूनी हवाएँ नियमित रूप से बहती हैं। इससे जहाज लालसागर

के बन्दरगाह से सीधे हिन्द महासागर में होते हुए चालीस दिन में या इससे भी कम अवधि में भारतीय बन्दरगाह मूज़ीरस (Muziris), (मलाबार समुद्र तट पर वर्तमान क्रैंगनौर बन्दरगाह) तक आ सकते थे। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत से चलने वाले जहाज भी सुगमता से समुद्र तट का लम्बा चक्कर टाल सकते थे। इस मार्ग का महत्त्व यह था कि इसने भारत को दक्षिण अरब और सोमालीलैण्ड से ही नहीं अपितु मिस्र देश से भी संयुक्त कर दिया।

इन व्यापारिक मार्गों के परिणामस्वरूप समय-समय पर व्यापार की वस्तुएँ अपने भारतीय नामों सहित पाश्चात्य देशों को पहुँचती थीं। बहुत ही प्रारम्भिक युग से भारतीय गजदन्त भूमध्यसागरीय प्रदेशों में प्रख्यात हो गया और इसी प्रकार दक्षिणी भारत के बन्दरगाहों से अरब व्यापारियों द्वारा लाया हुआ चावल भी प्रसिद्ध हो गया। प्रागैतिहासिक युग में भारत अपने पार्श्ववर्ती और दूरस्थ सशक्त पड़ोसियों, असीरीयनों और बेबीलोनियनों के सम्पर्क से प्रभावित हुआ था या नहीं, यह मनोरंजक प्रश्न है। प्रोफेसर एच०जी० रॉलिन्सन (H.G. Rawlinson) का कथन है कि भारत की प्राचीन लिपि, ब्राह्मी, ईसा पूर्व सातवीं सदी के लगभग सेमेटिक स्रोतों से ली गयी थी; भारत में विष्णु का मत्स्य अवतार बेबीलोन की बाढ़ की कहानियों का स्मरण दिलाने वाला है, नक्षत्र की धारणा और सप्ताह का सात दिनों में विभाजन और सूर्य, चन्द्र तथा पाँच ग्रहों पर उनका नामकरण सिकन्दरिया के चाल्डीयन (Chaldaean) ज्योतिष से लिये गये थे और भवन-निर्माणकला में भारत ने अलंकरण की कतिपय बारीकियां जैसे घण्टा-कृति, स्तम्भ-शीर्ष और सिंह-स्तम्भ अप्रत्यक्ष रूप से फारस के द्वारा असीरिया से लीं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये कथन पक्षपातपूर्ण और शंकास्पद है।

ईरानी युग और उसका प्रभाव

ईसा पूर्व ५३८ में पश्चिमी एशिया के अन्तिम सेमेटिक साम्राज्य का अन्त हो गया और ईरान के साइरस (Cyrus) ने ईरानी साम्राज्य की नींव डाली। उसके उत्तराधिकारी द्वारा या डेरियस (Darius) ने भारत पर आक्रमण किया और सिन्धु नदी के तट पर बसे गान्धार प्रदेश की सीमा के एक नगर में पहुँच कर अपने एक यूनानी सेनापति स्कायलेक्स (Skylax) के आधिपत्य में सिन्धु नदी के जलमार्ग की उसके मुहाने तक खोज करने के लिए एक सेना भेजी। स्कायलेक्स को ही यह दुहरा गौरव प्राप्त हुआ कि वह प्रथम यूनानी था, जिसने भारत में प्रवेश किया और लाल समुद्र की यात्रा की। इसके फलस्वरूप डेरियस ने सिन्धु-घाटी के प्रदेश को अपने साम्राज्य में मिला लिया और इस प्रकार ईरानी साम्राज्य का यह बीसवाँ प्रान्त बन गया। यह नया प्रान्त (पंजाब) ईरानी सम्राट् को प्रति वर्ष १,०७८,२७२ पौण्ड कर रूप में देता था और इसने

ईरानी सेना के लिए सेनानियों की टुकड़ी भेजी थी। धीरे-धीरे ईरानी साम्राज्य के अन्त हो जाने, पूर्वी ईरान के स्वतन्त्र हो जाने और यूनान से युद्ध होने पर कालान्तर में पंजाब ने ईरानी सम्राट से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और भारत तथा पश्चिम के बीच होने वाला व्यापार भी शनैः-शनैः लुप्त हो गया। परन्तु ईरानी साम्राज्य ने भारतीय विचारधारा और जीवन को प्रभावित किया। कतिपय विद्वानों के मतानुसार ईरान से दो सदियों तक भारत का जो सम्पर्क रहा उससे भारतीय संस्कृति प्रभावित हुई। खरोष्टी लिपि, जो ईरानियों ने अपने शासकीय अभिलेखों में प्रस्तुत की थी, उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त में ईसा की चतुर्थ सदी तक बनी रही। तक्षशिला में यूनानी और बेबीलोनियन प्रथाएँ जिनको यूनानी लोगों ने देखा था, इस बात की ओर संकेत करती हैं कि ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत भारतीय प्रान्त की यह राजधानी रहा होगा। मेगस्थनीज के वर्णनानुसार मौर्य सम्राट् ईरानी प्रणाली से रहते थे। ईरानी सम्राट् के समान ही वे संरक्षकों द्वारा घिरे हुए एकान्तवास में रहते थे और समय-समय पर प्रकट होते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने 'केश-धोवन-समारोह' की ईरानी प्रथा को अपना लिया था। अशोक की बौद्ध शिल्प-कला विशेष करके अशोक-स्तम्भ और उनके निर्माण करने की कला ईरानी प्रभाव के कुछ अवशेष प्रकट करती है। ईरान ने ही मौर्य शिल्पियों को लकड़ी, महीन चूने और ईंट के स्थान पर पाषाण का प्रयोग सुझाया। चट्टानों की सतह पर शिलालेखों द्वारा धर्म-प्रचार करने की प्रणाली ईरानियों में प्रचलित ऐसी ही प्रणालियों से (उदाहरणार्थ डेरियस के बेहिस्तुन शिलालेख) ली गयी थी। इसके अतिरिक्त मौर्य साम्राज्य में एक छोर से दूसरे छोर तक जाने वाले लम्बे जन-मार्गों के समान ही ईरान में भी जन-मार्ग थे। कुछ लेखक इससे भी परे जाते हैं और यह सुझाव रखते हैं कि मौर्यों ने ईरानियों से साम्राज्य की कल्पना की थी। निस्सन्देह इस प्रकार के कथन अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। हैवेल (Havell) ने ठीक ही कहा है कि ईरानी और भारतीय संस्कृति में जो समानताएँ हैं वे एक समान परम्पराओं के कारण हैं और किसी ने भी एक-दूसरे की नकल नहीं की।

यूनानी युग और उसका प्रभाव

ईरानी साम्राज्य के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के बाद सिकन्दर के आक्रमण और भारत के सीमान्त प्रदेशों तथा पंजाब में यूनानी शासन के स्थापित हो जाने से पाश्चात्य देशों से भारत का सम्पर्क बढ़ा। इससे भारतीय इतिहास में एक नवीन युग प्रस्तुत हो गया। (अधिक जानकारी हेतु पुस्तक के अध्याय ६ और ७ देखिए)। ईरानियों द्वारा पंजाब को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लेने के बहुत समय पूर्व यूनानियों ने धूमिल रूप से भारत के विषय में सुन रखा था। हिरोडोटस (Herodotus) जो ईसा से पूर्व ४८५ में जन्मा था,

प्रथम यूनानी था जिसने भारत के विषय में सावधानीपूर्वक ठीक-ठीक मनोरंजक वर्णन किया है। भारत के विषय में लिखने वाला दूसरा यूनानी टेशियस (Ktesias) था जो बीस वर्ष तक ईरानी राजसभा में रहा था और जिसे उसने ईसा पूर्व ३६८ में त्याग दिया था। यूनान ने प्रत्यक्ष रूप से ईरानियों से जिन्होंने भारतीय सीमान्त प्रान्तों पर शासन किया था और अप्रत्यक्ष रूप से मिस्र से, जिससे भारत व्यापार करता था, भारत के विषय में ज्ञान प्राप्त किया था। इससे पूर्व भारत और यूनान के मध्य ईरानी और फोनीसियन (Phoenician) काफिलों द्वारा सम्पर्क था। सिकन्दर के आक्रमण ने पूर्व और पश्चिम के बीच, अधिक निश्चित रूप से भारत और यूनान के मध्य, घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर दिया। बहुसंख्यक यूनान निवासियों के अतिरिक्त जो सिकन्दर के जाने के पश्चात् पंजाब में बस गये थे, भारत आने वाले विस्तृत जन-मार्ग पर स्थित बक्ट्र (Baktra) में एक बड़ा यूनानी उपनिवेश बन गया था। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात्, मध्य एशिया में उपद्रवों के कारण बैक्ट्रिया के यूनानियों को हिन्दूकुश के दक्षिण की ओर भागना पड़ा, जहाँ उन्होंने अपना राज्य स्थापित कर लिया और बाद में वे अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गये। लगभग दो सदियों तक अपनी महान् सत्ता का आनन्द उठाने के पश्चात् ये यूनानी राज्य शकों द्वारा पराजित कर दिये गये और अन्त में कुषाणों ने पंजाब के सभी छोटे-छोटे यूनानी राज्यों को हड़प लिया और अपना एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया।

अब प्रश्न यह है कि कहाँ तक इन यूनानियों ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति को प्रभावित किया। यूनानी संस्कृति ने किस सीमा तक भारतीय जीवन और विचारधारा को प्रभावित किया, यह निर्दिष्ट करना दुष्कर है। प्राचीन मत ने सिकन्दर के आक्रमण के प्रभाव पर अधिक बल दिया और पाश्चात्य विद्वानों का मत था कि भारतीय सभ्यता यूनान की बहुत कुछ ऋणी है। यह पक्षपातपूर्ण मत प्रतीत होता है। इसके प्रतिकूल, कतिपय विद्वान् भारतीय संस्कृति और सभ्यता पर यूनान के प्रभाव को न्यूनतम बतलाते हैं। भारतीय मुद्रा-प्रणाली और गान्धार-शैली पर हुए कुछ यूनानी प्रभाव के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति अप्रभावित ही रही। भारतीय संस्कृति और सभ्यता पर हुए यूनानी प्रभाव का सूक्ष्म निरीक्षण यह बताता है कि भारतीय सभ्यता पर यूनानी प्रभाव न्यून, दिखाऊ और बाहरी था। इसके प्रतिकूल यूनानी विचार विशेष करके दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में भारत के अधिक ऋणी हैं।

. सिकन्दर, सिल्यूकस और एण्टीओकस के आक्रमण विशेष महत्त्व के नहीं रहे क्योंकि भारतीय संस्कृति और जीवन पर उनके स्थायी प्रभावों के कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं हैं। मेगस्थनीज का वर्णन यह प्रकट करता है कि भारतीय

संस्कृति विशुद्ध ही बनी रही; उसमें यूनानी मिश्रण न हो सका। मगध के मौर्य सम्राटों ने यूनानी नरेशों से राजदूतों का आदान-प्रदान किया था। सिकन्दरिया के बाजारों और एथेन्स के बौद्धिक-मण्डलों में भारतीय दार्शनिक, व्यापारी और साहसी कार्य करने वाले विद्यमान थे। प्रथम मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने यूनानी नरेश की राजकुमारी का पाणिग्रहण किया और सीरिया के राजा से पत्र-व्यवहार किया था। उसके पुत्र बिन्दुसार ने यूनानी नरेश सिल्यूकस से यूनानी सुरा का नमूना, कुछ किशमिश और एक यूनानी दार्शनिक की माँग की थी। उसने सुरा तो सहर्ष भेज दी परन्तु खेद प्रकट करते हुए प्रत्युत्तर दिया कि दार्शनिकों का व्यापार करना यूनानियों में अनुचित माना जाता है। जब अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया तब उसने अपने मित्रों, मिस्र, सीरिया और मकदूनिया के यूनानी नरेशों को धर्म-प्रचारक भेजे थे जिससे कि वे उसके नवीन धर्म-सन्देश के हर्षातिरेक में समभागी हो सकें। बाद में अशोक ने अपने साम्राज्य के धन-सम्पन्न प्रदेश सौराष्ट्र के शासन और सिंचाई के हेतु विशाल झील का निर्माण-कार्य एक यूनानी अधिकारी को सौंपा था। इतना होने पर भी भारतीयों ने यूनानियों की नकल नहीं की। अभी तक उनकी ललित कलाओं, शिल्प-कला और साहित्य पर यूनानी प्रभाव के कोई भी चिह्न दृष्टि-गोचर नहीं होते।

यदि भारतीय जीवन पर कोई यूनानी प्रभाव पड़ा तो वह उस समय हुआ जब कि भारत के उत्तर-पश्चिम में इण्डो-ग्रीक राज्य स्थापित हो गये थे। इसी युग में यूनानी और भारतीय संस्कृति परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क में आयी और एक-दूसरे को प्रभावित किया। परन्तु फिर भी ऐसा कोई प्रणाम नहीं है जो यह प्रकट करे कि यूनानी संस्कृति ने मार्मिक रूप से भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया हो। सम्भव है यूनानियों के बहु-देव-मत (Polytheism) ने बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के विकास को प्रभावित किया हो, परन्तु भारतीयों ने न तो यूनानी धर्मों को अपनाया और न यूनानी देवी-देवताओं की ही पूजा की। उस समय इण्डो-ग्रीक और अन्य विदेशी राजाओं तथा लोगों में हिन्दू धर्म को ग्रहण करने की प्रवृत्ति थी, न कि भारतीय नरेशों और जनता में यूनानी बनने की प्रवृत्ति। बेक्ट्रिया के यूनानियों ने तो बहु-संख्या में अपने पड़ोसियों के हिन्दू धर्म को अंगीकार कर लिया था। यूनानी नरेश मिनेण्डर का बौद्ध धर्म ग्रहण करना उतना ही अभिनयात्मक और विलक्षण है जितना कि अशोक का धर्म-परिवर्तन। यूनानियों ने बाद में भारतीय धार्मिक अनुराग को इतनी प्रचुरता से अपना लिया था कि केरल गुहाओं में मान्यताओं और संकल्पों के उपलक्ष में दिये हुए यूनानियों के अनेक दान हैं। इसके अतिरिक्त मध्य भारत में भेलसा (बेसनगर) में एक गरुड़ स्तम्भ है, जिस पर यह लेख अंकित है कि इसे

तक्षशिला से आये हुए यूनानी राजदूत, डियन के पुत्र हेलियोडोरस, ने निर्मित कराया था। ये सब इस बात की ओर संकेत करते हैं कि पंजाब और पश्चिमी भारत में यूनानी तीव्र गति से हिन्दू धर्म को ग्रहण कर रहे थे और हिन्दू नामों को भी अपना रहे थे। अब हमें भारतीय संस्कृति के विभिन्न अंगों को लेकर यह देखना चाहिए कि उस पर यूनानी प्रभाव के कोई चिह्न अवशेष हैं या नहीं।

शिल्प-कला—मूर्ति-कला में मौर्य मूर्ति-कला यूनानी-कला-प्रभाव से सर्वथा मुक्त रही। यद्यपि भारतीय भवन-निर्माण-कला यूनानी भवन-निर्माण-कला से अप्रभावित रही तथापि भारतीय भास्कर्य या तक्षण-कला सीमान्त प्रदेशों में कुषाण शासनकाल में यूनानी शिल्प-कला से बहुत कुछ प्रभावित हुई थी। यूनानी शिल्प-कला की आकृतियाँ अधिक सफलतापूर्वक बौद्ध वस्तुओं के हेतु प्रयोग में लायी गयीं। बुद्ध की प्रतिमाएँ यूनानी देवता अपोलो (Apollo) की मूर्ति से साम्य रखती हुई प्रकट हुई और फीडीयन झीयस या द्युस (Phedion Zeus) के समान यक्ष कुबेर की मुद्रा बनायी। परिणामस्वरूप गान्धार शैली नामक नवीन शिल्प-कला की प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ। अध्याय ७ में इसका विवेचन हो चुका है।

गुप्तयुगीन शिल्प-कला पर यूनानी कला का प्रभाव नहीं पड़ा। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता स्मिथ के मतानुसार यद्यपि गुप्तकाल में शिल्प-कला-कृतियाँ वस्तुतः भारतीय थीं परन्तु उनमें पूर्व और पश्चिम की प्रणालियों का मनोरम समन्वय है। इसके विपरीत, एक अन्य विद्वान का कथन है कि भारतीय कला पर जो कुछ भी यूनानी प्रभाव पड़ा था, वह ई० सन् ४०० तक पूर्णरूपेण विलुप्त हो गया था। इस तिथि के पश्चात् यूनानी विचारों के अवशिष्ट चिह्न इतने नगण्य हो गये थे कि वे उल्लेख करने के योग्य भी नहीं हैं। कला की भारतीय और यूनानी धारणाएँ मूलतः विभिन्न रहीं और इसी कारण, जैसा कि सर जॉन मार्शल ने विवेचन किया है, यूनानी कला भारत में वास्तविक और स्थायी प्रभुत्व स्थापित न कर सकी।

सिक्के या मुद्रा—मौर्य युग में सिक्कों को निर्माण करने की प्रणाली पूर्णतया भारतीय बनी रही। अशोक सुन्दर वेक्ट्रियन सिक्कों की नकल करने के लिए आतुर नहीं था और वह प्राचीन अल्हड़ ढंग से ढाले हुए सिक्कों के प्रयोग से ही सन्तुष्ट था। उसके समय के पूर्व से ही ये सिक्के प्रचलित थे। भारतीय सिक्के प्रायः चिह्न-मुद्रित होते थे। दोनों बाजू वाले सिक्कों का ढालने का विचार—एक ओर तो राजा की मूर्ति और उसकी उपाधियाँ और दूसरी ओर कोई अन्य आकृति—धीरे-धीरे भारतीय नरेशों ने अपना लिया था। इसमें उन्होंने यूनानी, शक, पार्थियन, यूची आदि विदेशी राजकुलों द्वारा ढाले हुए सिक्कों का अनुकरण किया था। विदेशियों के प्रभाव से उचित आकृति और

मुद्रण के सिक्कों का प्रचलन हुआ। भारतीय शिल्पियों ने, जिन्हें अन्य क्षेत्रों में दिव्य सफलता प्राप्त हो चुकी थी, सुन्दर मूर्ति और मुद्रण वाले सिक्कों का निर्माण करने की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। अतएव उन्होंने अभी तक सुन्दर चमकीले सिक्के नहीं बनाये थे।

कनिष्क के सिक्के यूनानी प्रभाव को प्रकट करते हैं। वास्तव में वे यूनानी, भारतीय और ईरानी देवी-देवताओं का विलक्षण समन्वय प्रदर्शित करते हैं। वे यह भी प्रकट करते हैं कि इस युग में बेक्ट्रियन और रोमन सिक्कों के नमूनों की नकल की गयी, परन्तु इसमें साथ ही कला की मौलिकता, नवीनता और चित्रांकन की क्षमता भी बतलायी गयी। गुप्तकाल में पाश्चात्य नमूनों के प्रभाव में सर्वोत्कृष्ट सिक्के मुद्रित हुए; परन्तु पहले के बेक्ट्रियन नरेशों के दिव्य मनोरम सिक्कों के साथ उनकी तुलना नहीं की जा सकती। यूनानी शब्द 'द्रख्म' को भारतीयों ने अपने 'द्रम्म' शब्द में स्वीकार कर लिया। द्रम्म शब्द प्राकृत भाषा का था। कतिपय विद्वानों का मत है कि आधुनिक हिन्दी शब्द 'दाम' इसी द्रम्म का अपभ्रंश है।

दर्शनशास्त्र—दर्शन के क्षेत्र में यूनानी भारतीयों के अधिक ऋणी हैं। आरफिक और पायथागोरियन मतों ने भारतीय विश्वास और सिद्धान्तों से बहुत कुछ लिया। पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त में यूनानियों का विश्वास (जो प्लेटो की पुस्तक 'रिपब्लिक' की अन्तिम गाथा में वर्णित है) और पायथागोरियन मतावलम्बियों का सुरा, आमिष-आहार आदि का निषेध भारतीय दर्शन से लिया गया है। रॉलिन्सन के मतानुसार भारतीय दर्शन ने मिस्र देश के द्वारा यूनानी दर्शन को प्रभावित किया। यूनानियों ने योग और तपस्या तथा वैराग्य के भारतीय सिद्धान्त अपना लिये थे। इसके अतिरिक्त सिकन्दरिया के दर्शन में भी हिन्दू प्रभाव के चिह्न प्रकट होते हैं।

भाषा और लिपि—भारतीय भाषा और लिपि पर यूनानी प्रभाव महत्त्वहीन है। भारत या अफगानिस्तान में अभी तक यूनानी भाषा का कोई भी अभिलेख उपलब्ध नहीं है। साधारण जनता यूनानी भाषा नहीं समझती थी। कुषाणों ने अपनी गाथाओं के लिए खोटानी भाषा का प्रयोग किया जो शक लोगों की भाषा से साम्य रखती थी। परन्तु कुषाणों ने यूनानी लिपि में खोटानी भाषा को अंकित किया था। इससे प्रकट होता है कि कुषाण नरेश और साधारण जनता यूनानी भाषा का प्रयोग नहीं करती थी।

काव्य और नाटक—सन्त क्रिसोस्टम (११७ ई०) ने लिखा है कि "भारतीय होमर काव्य गाते हैं जिसका अनुवाद उन्होंने अपनी भाषा और भावांकन शैलियों में कर लिया है।" प्लूटार्क और एलियन ने भी इसी कथन की पुष्टि की है। बेलर आदि विद्वानों ने भी यह धारणा बना ली कि होमर की काव्य

कथा के आधार पर संस्कृत में रामायण व महाभारत की रचना हुई। पर यह कल्पना निरर्थक और निर्मूल है; क्योंकि यह दोनों महाकाव्य यूनानी आक्रमण से पहले रचे गये थे। यद्यपि यूनानी और भारतीय अनुश्रुतियों में कुछ ऊपरी साम्य अवश्य दृष्टिगोचर होता है परन्तु क्रिसोस्टम के उपरोक्त कथन की सत्यता अत्यन्त संदिग्ध है। इसी प्रकार यह भी माना जाता है कि भारतीय नाटक यूनानी नाटक से अधिक प्रभावित हुआ और हम भारतीय 'यवनिका' व 'विदूषक' के विचारों के लिए यूनानी नाटक के ऋणी हैं। परन्तु इस मत के विरोध में बहुत कुछ तर्क दिये गये हैं। नाटक लिखने की कला भारत में अति प्राचीनकाल से चली आ रही है। यह वस्तुतः मौलिक है। हमारे पास इसका कोई पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि भारतीय नाटक यूनानी नाटक के नमूनों से प्रभावित हुआ। "इन दोनों की पारस्परिक समानताएँ इतनी न्यून आकस्मिक और ऊपरी हैं और विभेद इतने अधिक और मौलिक हैं कि यूनानी प्रभाव का मौलिक सिद्धान्त साधारणतया निर्मूल हो जाता है।"

ज्योतिष, गणित और चिकित्साशास्त्र—ज्योतिष पर यूनानी लेखकों का प्रभाव भारतीय लेखकों के ग्रन्थों में देखा जा सकता है जिन्होंने यवनेश्वर या यवनाचार्य के कथनों को श्रद्धापूर्वक उद्धृत किया है। भारतीयों ने यूनानियों से ज्योतिष सीखा और इसे उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार भी कर लिया है। गार्गी संहिता में लिखा है कि "यद्यपि यवन बर्बर हैं तथापि ज्योतिष के मूल निर्माता होने के कारण वे देवताओं की भाँति स्तुत्य हैं।" भारतीय ज्योतिष में यूनानी नामों का प्रयोग हुआ है और 'रोमक' तथा 'पोलिस सिद्धान्त' तो निश्चय यूनानी प्रभाव को प्रकट करते हैं। फलित ज्योतिष का कुछ ज्ञान तो भारतीयों को पहले ही से था, किन्तु नक्षत्रों को देखकर भविष्य-कथन की कला बाबुल से सीखी हुई कही जाती है।

गणित के भारतीय ग्रन्थों पर भी यूनानी प्रभाव कुछ अंशों तक रहा। ऐसा माना जाता है कि भारतीय चिकित्सा पर लिखे गये ग्रन्थ 'चरम-शास्त्र' पर कुछ अंशों तक यूनानी चिकित्सा-प्रणाली का प्रभाव पड़ा, किन्तु इस कथन की पुष्टि के हेतु कोई सबल प्रमाण नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुओं ने चिकित्सा का ज्ञान अपने किसी पड़ोसी से नहीं सीखा, यूनानियों से तो और भी कम। शरीर रचना सम्बन्धी प्रारम्भिक सिद्धान्तों के विषयों में तो हिन्दुओं और यूनानियों में परस्पर साम्य था, परन्तु इन दोनों के समान विचारों का स्वतन्त्रतापूर्वक विकास हुआ होगा, कहना दुष्कर है। फिर भी, साहित्य में हम निश्चयात्मक रूप से कह सकते हैं कि यूनानियों ने भारतीयों से अपनी लोकगाथाएँ लीं। यूनानियों ने 'पंचतन्त्र' से पशुओं की अनेक कहानियाँ ले लीं।

उपरोक्त विवेचन के बाद अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि

भारत में यूनानी शासक अपने अस्तित्व के लिए ही निरन्तर युद्ध करता रहा। अतएव न तो उसके पास इतना अवकाश था और न इतनी शक्ति ही अवशेष थी कि वह अपनी कला, विज्ञान और साहित्य का भारत में विकास कर सके। इसलिए वह भारत से अधिक अंश में प्रभावित न हो सका। इसके प्रतिकूल, यद्यपि भारतीय संस्कृति के कुछ अंश यूनानी प्रभाव को प्रदर्शित करते हैं, परन्तु यूनानी संस्थाएँ और संस्कृति भारत की मौलिक संस्थाओं और संस्कृति पर कभी भी विजय प्राप्त न कर सकीं। वस्तुतः यूनानी सभ्यता पर कोई स्थायी और गहन प्रभाव नहीं पड़ा। "यदि यूनानियों का कभी अस्तित्व ही न रहा होता तो भी भारतीय सभ्यता बुद्ध की मूर्ति को छोड़ वैसी ही रही होती जैसी आज है; उसमें कोई अन्तर न हुआ होता।"

भारत और रोमन साम्राज्य

ईसा से पूर्व प्रथम सदी में यूरोप में रोमन साम्राज्य के स्थापित हो जाने से भारतीय व्यापार को खूब प्रोत्साहन मिला। रोमनों की पूर्वीय विजय के फलस्वरूप लालसागर लुटेरों के उत्पात से विमुक्त हो गया था और व्यापारिक भाग सुरक्षित हो गये थे। परिणामस्वरूप भारत की भोग-विलास और ऐश्वर्य की वस्तुओं की माँग रोम में खूब बढ़ गयी। भारत की सुन्दर मलमल, रत्न, मोती, ओषधियाँ और मिर्च-मसाले की माँग अत्यधिक थी। इससे व्यापार में पहले की अपेक्षा अधिक वृद्धि हो गयी थी। सम्राट् क्लॉडियस के शासनकाल में सन् ४५ में हिप्पालस के आविष्कार से कि हिन्द महासागर पर मानसूनी हवाएँ नियमित रूप से बहती हैं, रोम और भारत के बीच सामुद्रिक व्यापार को खूब प्रोत्साहन मिला। प्लाइनी (Pliny) के अनुसार प्रतिवर्ष रोम से भारत को ५,५०,००० पौण्ड व्यापारिक माल का मूल्य चुकाने के लिए भेजे जाते थे। ईसा के बाद पहली और दूसरी शताब्दियों में शक्तिशाली कुषाण साम्राज्य की सीमाएँ पश्चिम में ईरानी साम्राज्य की सीमा का स्पर्श करती थीं, साथ ही रोमन साम्राज्य का विस्तार भी आगे बढ़कर एशिया माइनर तक चला आया था और उसकी सीमा कुषाण साम्राज्य से केवल ६०० मील दूर रह गयी थी। परिणामस्वरूप सम्पर्क और व्यापार खूब बढ़ा। नीरो के शासनकाल में भोग-विलास की भारतीय वस्तुओं की माँग अल्पकाल के लिए न्यून हो जाने और युद्धों से उत्पन्न विघ्न-बाधाओं के होने पर भी भारत और रोम के मध्य व्यापार चलता ही रहा। इस कथन की पुष्टि उन रोमन सिक्कों से होती है जो मद्रास प्रान्त में भारतीय भूमि से खोदकर निकाले गये हैं। इसके अतिरिक्त ईसा की तीसरी सदी में रोमन सम्राटों के पूर्वी अभिधावनों (expeditions) के फलस्वरूप रोमन लोग भारत के घनिष्ठ और कभी-कभी प्रत्यक्ष सम्पर्क में आ गये थे।

भारत और रोम के इस बढ़ते हुए सम्पर्क का एक परिणाम यह हुआ कि उस युग के पश्चात् लेखकों ने भारत और भारत के भूगोल पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्लाइनी, स्ट्रैबो, सिकन्दरिया के क्लीमेण्ट, फिलॉस्ट्रेटस (Philostratus), केलिस्ट्रेटस (Calistratus) और डायो केशियस (Dio Cassius) इस विषय में विशेष उल्लेखनीय हैं। स्ट्रैबो ने, जो रोमन सम्राट् अगस्टस के शासनकाल (ईसा पूर्व २७-१४ ईसा बाद) में था, भारत के साथ होने वाले परिवर्द्धित व्यापार का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है। प्लाइनी ने 'प्राकृतिक इतिहास' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें उसने भारत व सिंहल द्वीप का बहुमूल्य वर्णन किया है। इसी ग्रन्थ में "भारतीय पशुओं की नामावली, खनिज पदार्थों, पौधों और विभिन्न स्रोतों से संकलित की जाने वाली जड़ी-बूटियों के नाम भी" दिये गये हैं। प्लाइनी ने इस बात का भी रोना रोया है कि रोम का स्वर्ण भारत में अविरल गति से चला आ रहा था और इसके विनिमय में पूर्व से अनुत्पादक भोग-विलास की सामग्रियाँ ली जा रही थीं। भूगोल-विशारद टाल्मी ने, जो ईसा बाद १५० में हुआ था, मानचित्र में विविध स्थानों को बतलाते हुए भारत के सम्बन्ध में वर्णन किया है।

रोम और भारत के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध व सम्पर्क का अन्य परिणाम इन दोनों देशों में बढ़ता हुआ राजनीतिक सम्पर्क था। जब रोमन सम्राट् अगस्टस ने अपने गृह-युद्ध में अन्त में विजयश्री प्राप्त कर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया, तब एक या एक से अधिक भारतीय राज्यों ने अपने राजदूत उसके पास भेजे। ईसवी सन् की चार सदियों तक अन्य भारतीय राजदूत भी रोम गये थे और स्पष्ट रूप से ऐसे निम्नलिखित आठ राजदूतों के हवाले भी हैं—ईसा पूर्व २६ में सम्राट अगस्टस को, सम्राट् ट्राजन (ईसवी सन् ९८-११७) को, हाड्रियन (११७-१३८) को, एण्टोनियस पियर्स (१३८-१६१), हेलिओगबलस (२१८-२२२), औरेलियन (२७०-२७५), कॉण्टेण्टाइन (३२३-३५३) और जूलियन (३६१-३६३) को राजदूत भेजे गये थे। सम्भवतः अन्य दो भारतीय राजदूत जस्टीनियस को ५३० और ५५२ में भेजे गये थे।

भारत और रोमन साम्राज्य के बीच होने वाले व्यापारिक और राजनीतिक सम्बन्ध के कारण बहुसंख्यक भारतीय और रोमन लोग परस्पर एक दूसरे के देश में आने-जाने लगे। सिकन्दरिया और सीरिया के अनेक वणिक-गण बारम्बार भारत में आये। रोमन लोगों ने दक्षिण भारत में अपना एक उपनिवेश स्थापित कर लिया। वहाँ वे भारतीय प्रथाओं और रीति-रिवाजों से इतने अधिक अवगत हो गये थे जितने कि वे पहले कभी न हो पाये थे। इसके साथ ही बहुसंख्यक भारतीय भी सिकन्दरिया गये जो केन्द्र में स्थित होने के कारण पूर्व और पश्चिम के लोगों के परस्पर मिलन का महान् केन्द्र बन गया।

भारतीयों के इस प्रकार विदेश-गमन का मनोरंजक प्रमाण नील नदी के समीप देदेसीय (Dedesiya) मन्दिर के अभिलेख में सुरक्षित है। एक भारतीय का नाम इस अभिलेख में अंकित है। दीर्घकाल के बाद भी सन् ४७० ईसवी में कुछ ब्राह्मण सिकन्दरिया गये और कौन्सल सीव्हीरस (Consul-Severus) के गृह में अतिथि बनकर रहे। इसका प्रभाव यह हुआ कि भारतीय जल यात्रा और समुद्री-व्यापार में अत्यधिक वृद्धि और विकास हुआ। इसीलिए मनुस्मृति में भी व्यापारिक माल, जल-यात्रा आदि के नियमों का विवेचन है। इसके बाद भोज नरपति ने 'युक्ति-कल्पतरु' नाम का निबन्ध जल-यात्रा और सामुद्रिक व्यापार पर लिखा था।

ईसवी सन् ३९४ में रोमन साम्राज्य का विभाजन उसके पतन का प्रथम घातक कदम था। सन् ४१० ई० में गॉथ्स लोगों ने रोमन साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया और ५० वर्ष बाद यूरोप के सबसे अधिक शक्तिशाली साम्राज्य का अन्त हो गया। इसके पश्चात् यद्यपि भारत के साथ रोम का व्यापार क्षीण रूप में चलता रहा, परन्तु वह शीघ्र ही विनष्ट हो गया।

भारत और पाश्चात्य देशों के परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क ने दोनों की संस्कृति को प्रभावित किया है। इन दोनों के पारस्परिक प्रभाव की सीमा को निर्दिष्ट रूप से बतलाना दुष्कर है; किन्तु इसके कुछ विशिष्ट अंगों का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय कला और सिक्कों के मुद्रण पर पश्चिम का गहरा प्रभाव पड़ा। यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत में ज्योतिष-विज्ञान की प्रगति पर रोमन ज्योतिष का प्रभाव रहा। "रोमक-सिद्धान्त" सिकन्दरिया के पॉल के ज्योतिष-ग्रन्थों पर निर्भर है। इसके विपरीत, भारतीय चिकित्सा-शास्त्र, ज्योतिष के शब्द और अंकों की प्रणाली पाश्चात्य देशों ने अपना ली। "पंचतन्त्र" जैसी भारतीय पुस्तकें पश्चिम में अधिक लोकप्रिय हो गयीं और अनेक भाषाओं में इनका अनुवाद हो गया। भारतीय गाथाएँ और गल्प इस प्रकार यूरोप में पहुँची और ये गस्ट रोमनोरम (Gasta Romanorum) और डेकामेरोन (Decameron) में तथा अन्य मध्यकालीन संग्रहों में उपलब्ध हैं।

यही पारस्परिक प्रभाव धर्म और दर्शन के क्षेत्रों में भी दृष्टिगोचर होता है। यह बात अब सर्वमान्य हो गयी है कि भारतीय दर्शन ने पश्चिम के निओ-प्लेटोनिज्म के विकास को प्रभावित किया था। इस मत को मानने वाले ध्यान और चिन्तन से आत्मा को शारीरिक बन्धनों से मुक्त कर ब्रह्म में विलीन होने का प्रयत्न करते हैं। उनके अन्य सिद्धान्त मांस का निषेध, वैराग्य और शरीर को तप के समान विभिन्न यातनाएँ देना है। (यही पतंजलि का योग सिद्धान्त है।) निओ-प्लेटोनिज्म के ये सिद्धान्त भारतीय स्रोतों से ही

प्राप्त किये गये थे । प्रसिद्ध निओ-प्लेटोनिस्ट प्लेटीनस और नॉस्टिक (Gnostic) लेखक बार-डेसनीस तथा बेसीलीडीस सभी दर्शनशास्त्र के अध्ययन के लिए पूर्व में आये थे ।

सिकन्दरिया और सीरिया में रहने वाले हिन्दू और बौद्ध मतावलम्बी व्यापारियों ने पश्चिम में अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये थे और वहाँ वे अपने-अपने धर्म का पालन करते थे । ईसाई धर्म के उत्कर्ष को इन भारतीय धर्मों ने, जिसका प्रभुत्व अभी भी पश्चिम में था, प्रभावित किया । सीरियन लेखक झेनाब (Zenob) ने ईसाई धर्म-प्रचारकों के मूर्ति-भंग करने के उत्साह का उच्चतम मनोरंजक वर्णन किया है । दजला नदी के ऊपरी प्रदेश वानमें नामक झील के पश्चिम में टरोन केण्टन में दो हिन्दू मन्दिरों को ईसाई धर्म-प्रचारकों ने विध्वंस कर दिया था । ईसा से पूर्व दूसरी सदी में इस प्रदेश में एक भारतीय उपनिवेश था जिसने इन मन्दिरों का निर्माण कराया था । ईसवी सन् ३०४ में ग्रेगरी ने इन मन्दिरों पर आक्रमण किया और भारतीयों ने वीरतापूर्वक रक्षा की, इतने पर भी महमूद गजनवी के समान आक्रमणकारी ने देवताओं की १२ और १५ फुट ऊँची दो प्रतिमाएँ भंग कर चूर-चूर कर दीं । सम्भव है, पश्चिम में भारतीय धर्म को ध्वंस करने में सेण्ट ग्रेगरी का बहुत बड़ा हाथ रहा होगा । इतना होने पर भी भारतीय धर्म (ब्राह्मण और बौद्ध धर्म), उस प्रदेश में जहाँ ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव हुआ था और जो उसके सक्रिय प्रारम्भिक प्रभाव का क्षेत्र रहा था, जीवित शक्ति था । अतएव कोई आश्चर्य नहीं, यदि भारतीय धर्म ने ईसाई धर्म को प्रभावित किया हो । ईसाई धर्म की कुछ विचारधाराएँ भारतीय धार्मिक प्रभाव के कारण उत्पन्न हुई हैं— यह बात आज सर्वमान्य हो चुकी है । बौद्ध चैत्य और ईसाइयों के गिरजाघर के आन्तरिक भाग की परस्पर सभ्यता, ईसाई धर्म के प्रारम्भिक सम्प्रदायों में उग्र तप और अति वैराग्य की भावना जैसे थीबाइड मोनेस्टिसिज्म (Thebaid Monasticism), स्मारक पूजा, माला का प्रयोग, स्वर्गलोक की कल्पना आदि ईसाई धर्म ने भारतीय धार्मिक विचारों से लिये हैं । यह भी एक विलक्षण और मनोरंजक बात है कि किस प्रकार ईसाई धर्म में बुद्ध जोसाफट (Josaphat) नामक सन्त के रूप में पूज्य और स्तुत्य हो गये । सिकन्दरिया के प्रसिद्ध ईसाई पॉल और उनके शिष्ट, महन्त एन्थोनी, जिनका देहावसान ईसवी सन् ३५६ में हुआ था, तप और वैराग्य के भारतीय विचारों से प्रभावित हुए थे । बुद्ध धर्म ने भी ईसाई धर्म को प्रभावित किया था । ईसाई पादरी की ग्रामीण छड़ी, पादरी की टोपी, आधी बाँहों का लम्बा कुर्ता, धर्माध्यक्ष का लबादा, मन्त्र, एक साथ भजन या गीत गाना, भूत-प्रेत का निवारण, पाँच जंजीरों से लटकता हुआ धूप-पात्र, धर्मानुरागी श्रद्धालु भक्तों के मस्तक पर हाथ फैलाकर

शुभ आशीर्वाद देने की प्रणाली, माला, पादरियों का ब्रह्मचर्य, सांसारिक जीवन से उनका पृथकत्व, सन्तों का पूजन, व्रत-उपवास, जुलूस और समारोह, पादरियों द्वारा प्रार्थनाओं का उच्चारण और ईसाई धर्म का पवित्र जल भारतीय बौद्धों के साथ सम्पर्क का परिणाम है। यह भी निश्चय है कि पश्चिम के अनेक धार्मिक नेताओं ने बुद्ध का नाम ग्रहण कर लिया था।

उपरोक्त कथनों की दृष्टि से निस्सन्देह यह सत्य है कि ईसाई धर्म पर भारतीय विचारों का प्रभाव रहा, किन्तु भारतीय विचारों के प्रभाव का मूल्यांकन करना अति दुष्कर है। फिर भी यह सरलता से स्वीकार किया जा सकता है कि ईसाई धर्म-प्रचारक प्रारम्भिक युग से ही भारत में आते रहे और यहाँ ईसाइयों के छोटे-छोटे समुदाय स्थापित हो गये। ईसवी सन् की ५वीं सदी के लेखक की लघु पुस्तिका "नेशन्स ऑव इण्डिया" और छठी सदी के पूर्वार्द्ध में भारत में आने वाले एक ईसाई साधु की पुस्तक "क्रिश्चियन टोपोग्राफी" में दक्षिण भारत में हुई ईसाई धर्म की प्रगति का उल्लेख है। उपरोक्त विवेचन इस बात की ओर संकेत करते हैं कि प्राचीन युग में पश्चिम से प्रभावित होने की अपेक्षा भारत ने पश्चिम को अधिक प्रभावित किया। पाश्चात्य विद्वानों ने सांस्कृतिक ऋण को स्वीकृत कर लिया है।

निष्कर्ष

गुप्तकाल में हिन्दू संस्कृति उच्चतम पराकाष्ठा को पहुँची थी। हिन्दू धर्म उस युग में वह रूप धारण कर चुका था जो आज हमें प्राप्त है। गुप्त शासन जिसने साम्राज्यवादी परम्पराओं को परिपूर्ण किया, समकालीन और बाद के राज्यों के लिए आदर्श बन गया था। गुप्त शासन द्वारा स्थापित शान्ति और समृद्धि मे कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति हुई। हिन्दू संस्कृति स्वतन्त्र रूप से विकसित होती रही। भारत से बाहर हिन्दू उपनिवेशों के स्थापित होने के कारण हिन्दू-संस्कृति और सभ्यता का विस्तार हुआ और उसने अन्य देशों के लोगों, उनके जीवन और विचारों को अत्यधिक प्रभावित किया। इस समय भारत स्वयं अपनी संस्कृति का विकास करते हुए विश्व के अन्य देशों से अप्रवाहित जलाशय के समान पृथक नहीं रहा, अपितु उसने पूर्व से ही नहीं वरन् पश्चिम की सभ्यता से भी व्यापार-वाणिज्य के द्वारा अपना घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखा। पश्चिम से ऐसे सम्बन्ध, जिनका सूत्रपात प्रागैतिहासिक युग से हुआ, ईसवी सन् की छठी सदी तक निरन्तर सक्रिय बने रहे। परन्तु पश्चिमी जीवन और विचार-प्रणालियाँ भारतीय संस्कृति और सभ्यता पर अपना गहन प्रभाव अंकित करने में असफल रहीं। यद्यपि भारतीय संस्कृति के कतिपय अंश ग्रीको-रोमन संस्कृति के प्रभाव के कुछ अवशिष्ट चिह्नों को प्रकट करते हैं, परन्तु भारतीय संस्कृति इतनी स्वतन्त्र और

सफलतापूर्वक विकसित होती रही कि ग्रीको-रोमन संस्कृति का जो कुछ भी प्रभाव इस पर पड़ा था, वह भी चौथी सदी तक क्षीण होकर विलुप्त हो गया। इसके विपरीत, भारतीय संस्कृति सदियों तक पाश्चात्य दर्शन को प्रभावित करती रही और ईसाई धर्म आज भी इस प्रभाव के कुछ अंश प्रदर्शित करता है।

प्रश्नावली

१. "भारतीय संस्कृति पर यूनानी प्रभाव अल्प और बाह्य था।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

२. भारतीय संस्कृति पर विदेशी प्रभाव का विवेचन कीजिए।

३. यदि रोमन व भारतीय संस्कृतियों ने परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित किया तो किस रूप में और किस अंश तक ?

४. "प्रागैतिहासिक काल में भारत अपने शक्तिशाली पाश्चात्य पड़ोसियों द्वारा गहन रूप से प्रभावित हुआ।" इस कथन का पूर्ण विवेचन कीजिए।

५. क्या भारतीय संस्कृति और धर्म ने ईसाई धर्म के विकास को प्रभावित किया ? अपने उत्तर की पुष्टि सबल उदाहरणों सहित कीजिए।

१०

हिन्दू संस्कृति का प्रसार

हिन्दू संस्कृति का महत्त्व

भारत की संस्कृति मनुष्य द्वारा विकसित सभ्य और मानव बनाने वाले महान् तत्त्वों में से एक है। शताब्दियों तक एशिया के अधिकांश भाग का आध्यात्मिक जीवन प्रधानतया उन विचारों का प्रतिफल था जिनका अन्वेषण और नियमन प्राचीन भारत के ऋषि-मुनियों ने किया था। निस्सन्देह भारत एशिया के अनेक पिछड़े हुए प्रदेशों में मानव को सभ्य बनाने वाली शक्ति था। ईसा से पूर्व एक सहस्र वर्ष से, जब हिन्दू संस्कृति का संश्लेषण और समन्वय हो चुका था, ईसवी सन् १००० के लगभग तक के सुदीर्घ युग में भारत सभ्य बनाने वाला देश था; क्योंकि इस युग में भारत में सांस्कृतिक एकीकरण हो रहा था और साथ ही साथ लंका, ब्रह्मा, श्याम, कम्बोडिया, मलाया, इण्डोनेशिया और मध्य एशिया के तुर्किस्तान तथा अफगानिस्तान के अधिकांश भाग में भारत की संस्कृति का विस्तार हो रहा था एवं भारत की आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पर्क के कारण चीन, कोरिया और जापान का रूपान्तर हो रहा था। परन्तु भारत या अधिक निर्दिष्ट रूप से हिन्दू संस्कृति केवल सभ्य व सुसंस्कृत बनाने वाली शक्ति ही नहीं थी; एशिया की अनेक पिछड़ी हुई जातियों के लिए तो भारत से बौद्ध धर्म-प्रचारकों, ब्राह्मणों और व्यापारियों के आगमन के परिणामस्वरूप सर्वप्रथम सामाजिक व्यवस्था और संगठन, ललित कलाओं और शिल्प-व्यवसायों व उद्योगों का नव-प्रभात हुआ था। इससे इन अनुन्नत देशों की भौतिक उन्नति ही नहीं हुई, अपितु उनकी सुषुप्त बौद्धिक और अन्य शक्तियाँ शीघ्र ही चैतन्य हो गयीं और बिना किसी बिघ्न-बाधा के इन शक्तियों की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए वे समर्थ हो गये। इस प्रकार हिन्दू संस्कृति ने विश्व-सभ्यता के कोष में अपनी स्वयं की देन करने के लिए अन्य राष्ट्रों की सहायता की और साथ ही विस्तृत और गहन जीवन तथा उसकी समस्याओं को हल करने में भाग लिया। हिन्दू संस्कृति ने अन्य देशों के सम्मुख स्वयं उनके आध्यात्मिक विचार और माहात्म्य प्रकट कर दिया। प्राचीन सुसंस्कृत चीनी लोगों के उदाहरण में तो भारतीय विचार के सम्पर्क ने उनकी संस्कृति के निर्माण और सर्वोच्च अभिव्यक्ति में अन्तिम चिह्न अंकित किये।

बौद्ध धर्म ने चीनी लोगों को भलीभाँति समझाकर विश्वास दिला दिया कि अस्तित्व और प्रयत्न के मूल प्रश्नों पर गहन मनन करना अनिवार्य है। जावा और स्याम, चीन और जापान ने जीवन की सम्पन्नता का आनन्द उठाया और उन्होंने कला, साहित्य तथा धार्मिक कर्मकाण्ड में अपने मस्तिष्क और आत्मा की अभिव्यंजना की विलक्षण दिव्य आभा को देखा जो भारतीय संस्कृति के सम्पर्क के कारण प्राप्त हुई थी। हिन्दू संस्कृति के विस्तार का आधारभूत सिद्धान्त एकीकरण और प्रकटीकरण था, न कि प्रतिबन्ध और दमन। भारतीय दर्शन और संस्कृति अन्य देशों में विध्वंस और संहार करने के हेतु नहीं वरन् विदेशियों को परिपूर्ण और सफल करने के लिए गयी थी। यह विदेशों में प्राणदायक वर्षा के समान गयी थी, न कि तप्त झुलसा देने वाली लू के समान, अतएव पाश्चात्य संस्कृति के प्रतिकूल, भारतीय संस्कृति की सिद्धि सफलता भौतिक सभ्यता के संगठन की शक्ति से कहीं अधिक है।

भारतीय संस्कृति के प्रसार के कारण व साधन

यह सत्य है कि संस्कृतियाँ विजय और वाणिज्य के साथ-साथ ही प्रसारित होती हैं। निस्सन्देह सुदूर पूर्व में भारतीय संस्कृति का प्रसार पूर्व के देशों और भारत के मध्य व्यापारिक सम्बन्धों के कारण हुआ। आर्थिक वित्तैषणा और वाणिज्य-व्यवसाय भारतीयों को सुदूर देशों में पर्यटन करने एवं अनेक भयंकर कष्टों को झेलने के लिए प्रेरित करते थे। प्राचीन युग में हिन्द महासागर में स्थित होने से भारत की केन्द्रीय स्थिति थी और वह प्राचीन विश्व के सभ्य व सुसंस्कृत देशों के सामुद्रिक मार्गों के मध्य में पड़ता था। फलतः भारतीय सुदूर देशों को सामुद्रिक व्यापार के हेतु गमन करते थे। पूर्व के देश जैसे जावा, सुमात्रा, मलाया, स्वर्ण की खानों के देश समझे जाने के कारण स्वर्ण भूमि या स्वर्ण द्वीप कहलाते थे। स्वर्ण प्राप्त करने की आर्थिक लालसा के कारण भारतीय समुद्र-पार इन देशों को गये। वहाँ असभ्य अनुन्नत जातियाँ भारतीय वणिकों के सम्पर्क में आयीं और उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रथम पाठ उनसे सीखे।

इसके अतिरिक्त हिन्दू संस्कृति के दीप बौद्ध धर्म-प्रचारक और ब्राह्मण आचार्य तथा उपदेशक भी दूरस्थ देशों को भारतीय सौदागरों के साथ-साथ जाते थे। उनमें लोक-कल्याण और धर्म-प्रचार की प्रबल महत्त्वाकांक्षा थी। वे भारतीय विचार और संस्कृति को अपने साथ ले गये थे, परन्तु वे शासन करने वाली विदेशी जाति के समान नहीं गये जो अपनी सर्वोपरि स्थिति होने से विशेषाधिकार स्वाभाविक रूप से रखती थी। राजनीतिक शक्ति शासकीय अधिकारों से वंचित रहकर भारतीय धर्मदूत विदेशियों की असभ्य बर्बर जातियों में जाते तथा घातक व भीषण विघ्न-बाधाओं के होने पर भी उन्हें

अपने धर्म का उपदेश देते और अप्रत्यक्ष रूप से सभ्य और उन्नत बनाते थे। कभी-कभी भारतीय ऋषि-मुनि विदेशों में अपने आश्रम और तपोवन स्थापित करते जो कालान्तर में भारतीय संस्कृति के केन्द्र बनकर रेडियो-स्टेशन के समान संस्कृति का प्रसार करते थे। कौण्डिल्य और अगस्त्य ऋषियों के ऐसे ही आश्रम थे।

इसके अतिरिक्त अनेक भारतीय विदेशों में जाकर स्थायी रूप से बस गये और उन्होंने वहाँ अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये। इनका सांस्कृतिक प्रभाव स्वाभाविक रूप से विदेशियों पर पड़ा। कभी-कभी क्षत्रिय राजकुमार अपने भाग्य की खोज करने और नवीन राज्यों की स्थापना करने के हेतु दूरस्थ देशों को समुद्र-पार जाते थे। फलतः पूर्वी देशों में भारतीयों के ऐसे अनेक राज्य स्थापित हो गये थे। इन्होंने भी भारतीय संस्कृति के प्रसार में सहयोग दिया। इस प्रकार भारतीय संस्कृति-प्रसार के प्रमुख साधन व्यापारी गण, धर्म-दूत व धर्मोपदेश, उपनिवेशक और क्षत्रिय राजकुमार रहे।

परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दू संस्कृति का प्रसार अपने साथ सबसे आगे आग उगलने वाली व नृशंस भीषण कार्य करने वाली सेनाओं को लेकर चलने वाले विश्वविजयी राजाओं की दिग्विजय के परिणामस्वरूप नहीं था। भारत ने अपने आपको बाह्य विश्व के सम्मुख सिकन्दर, सीजर, महमूद गजनवी, चंगेजखाँ, तैमूर, नेपोलियन जैसे विश्व को दहला देने वाले विजेताओं के रूप में प्रकट नहीं किया। भारत की दिग्विजय सत्य और कानून की धर्म-विजय थी। विश्व इतिहास में भारत की सांस्कृतिक विजय से अधिक शान्तिपूर्ण, स्थायी, व्यापक और हितकर कोई अन्य विजय नहीं हुई। इसी में हिन्दू संस्कृति का अनन्त यश-गौरव है। इसने एक विलक्षण साम्राज्य स्थापित किया। यह ऐसा साम्राज्य नहीं था जिसमें एक सार्वभौम सत्ता के अन्तर्गत साधारण राजनीतिक जीवन में सभी समभागी हों, वरन् स्वतन्त्र राष्ट्रों का एक ऐसा समान-तन्त्र था जिसमें साधारण सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन में सभी समभागी थे। समुद्र-पार अन्य देशों में भारत द्वारा स्थापित साम्राज्य पवित्रता व आध्यात्मिक शक्ति से विजित हुआ था जिसका प्रमुख सिद्धान्त धर्म और सत्य था। पश्चिम के आधुनिक साम्राज्यों से प्राचीन भारत के औपनिवेशिक साम्राज्य भिन्न थे। भारतीयों ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में उपनिवेश स्थापित किये थे परन्तु उन्होंने इनको अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या बसाने के लिए उपयुक्त स्थान नहीं समझा और न अपने परिवर्द्धित वाणिज्य-व्यवसाय के लिए उपयोगी बाजार ही माना। ये उपनिवेश इनके विजेताओं के हित के लिए शोषण के साधन नहीं माने जाते थे। जहाँ कहीं भी भारतीय गये और स्थायी रूप से बस गये वहाँ उन्होंने स्थानीय मौलिक तत्त्वों के साथ अपनी

संस्कृति का सम्मिश्रण कर एक नवीन संस्कृति का विकास किया जिस पर भारतीयता की गहरी छाप रही। इसके अतिरिक्त ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे यह प्रकट हो कि भारतीय राज्यों को इन विस्तृत साम्राज्यों से कोई राजनीतिक लाभ हुआ हो। यह भी शंकास्पद है कि औपनिवेशिक सत्ताएँ भारत की राजनीतिक सत्ताओं से नियमित सम्पर्क रखती थीं। यद्यपि समुद्रगुप्त का यह दावा था कि इन सब पूर्वी द्वीपों पर उसकी सर्वोपरि सत्ता थी, परन्तु कुछ औपनिवेशिक राज्यों से ही वह सम्बन्ध रखता था। समुद्र-पार स्थापित हिन्दू साम्राज्य का सबसे अधिक महत्त्वशाली प्रभाव दूरस्थ प्रदेशों में हिन्दू संस्कृति और सभ्यता का प्रसार था। अब हम इस साम्राज्य के सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रसार का विवेचन करते हैं।

औपनिवेशिक और सांस्कृतिक प्रसार

अनादिकाल से भारतवासी बाह्य विश्व से स्वतन्त्र और घनिष्ठ सम्पर्क रखते थे। प्रागैतिहासिक युग के पाषाण काल के लोग सुदूर पूर्वी देशों से सम्बन्ध रखते थे और यह विश्वास करने हेतु कारण हैं कि ये बहुसंख्या में जल और थल मार्ग से भारत से बाहर गये थे और जावा, सुमात्रा और हिन्दचीन में बस गये थे। इसके बाद वाले युग में जब सिन्धुघाटी में उच्चतम सभ्यता समृद्ध थी तब निस्सन्देह पश्चिमी और मध्य एशिया के देशों से भारत का अत्यन्त घनिष्ठ सम्पर्क था। भारतीय सभ्यता को ढालने वाली महत्त्वपूर्ण जातियाँ द्रविड़ और आर्य बाहर से भारत में आये थे। अतएव स्वाभाविक रूप से उन्होंने उन देशों से जहाँ वे भारत में बसने के पूर्व रहते थे, अपने सम्बन्ध स्थापित कर उन्हें बनाये रखा। फलस्वरूप उनकी सभ्यता के चिह्न वहाँ उपलब्ध हुए हैं। मध्य एशिया से भारतीय सभ्यता के अधिक अवशेष मिले हैं। पश्चिम में ईरान को भारतीय आर्यों के सजातीय पारसियों ने समुन्नत किया था। ऐतिहासिक युग में भारत के उत्तर, पूर्व और पश्चिम में स्थित देशों से भारत का सम्बन्ध था। पश्चिम में बेबीलोन, सीरिया, मिस्र और रोम से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था जिससे मिस्री, यूनानी और अरब संस्कृतियों पर भारत ने पर्याप्त प्रभाव छोड़ा। पिछले अध्याय में इसका विवेचन किया जा चुका है। अतएव यह मान लेना न्याययुक्त न होगा कि भारत के विश्व के अन्य देशों से पृथक् होकर अलग जीवन व्यतीत किया था।

पहले कतिपय विद्वानों का यह मत था कि प्राचीन भारतीय घर-पसन्द लोग थे और पर्वतों तथा समुद्रों की विघ्न-बाधाओं से अलग रहकर अपने ही देश की सीमाओं में शान्तिमय जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु अब यह मत थोड़े समय पूर्व के अन्वेषणों से खण्डित हो गया है। एशिया के विभिन्न प्रदेशों में भारतीय संस्कृति के अनेक अवशेष प्रकाश में आये हैं। ये इस बात की ओर

संकेत करते हैं कि भारतीय अपने चतुर्दिक पर्वत-मालाओं एवं समुद्रों के पार गये और उन्होंने वहाँ उपनिवेश स्थापित किये। भारतीय कला और साहित्य ने बाह्य देशों में अपना मस्तक उन्नत किया और विश्व के कतिपय अज्ञात कोनों में भारतीय संस्कृति प्रविष्ट हो गयी।

भारतीय संस्कृति के प्रसार का क्रम निम्न प्रकार का रहा है :

लंका—भारतीय अनुश्रुति के अनुसार लंका में सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति का सन्देश श्री रामचन्द्रजी ले गये थे। परन्तु ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुसार लंका के साथ भारत का सम्बन्ध ईसा पूर्व छठी शताब्दी से माना जाता है। कुछ ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख है कि बंगाल के राजा विजय ने ईसा पूर्व ५०० वर्ष के लगभग लंका को विजय किया और वहाँ उपनिवेश स्थापित किया तथा लंका द्वीप को सिंहल नाम दिया। पर यह विवादग्रस्त है। इसके बाद से ही बंगाल, बम्बई और काठियावाड़ से देशान्तर करने वालों की बाढ़ लंका में उमड़ पड़ी। कालान्तर में वहाँ आर्य और दक्षिण भारत के तामिल (द्रविड़) बस गये। इनके साथ ही भारतीय ललित कलाएँ और शिल्प-व्यवसाय भी प्रस्तुत हो गये। अशोक के युग में उसका पुत्र महेन्द्र अपनी बहन संघमित्रा के साथ लंका में गया और वहाँ के नरेश देवानांप्रिय तिस्स को बौद्ध धर्म ग्रहण करवा दिया। उसी काल से लंका के लोग बौद्ध धर्म का पालन करते रहे और भारतीय संस्कृति के प्रभाव में सुदीर्घ काल तक रहे। बौद्ध धर्म के स्मारक चिह्न लंका में चले गये, वहाँ स्तूपों का निर्माण हो गया और चट्टानों पर धार्मिक उपदेश अंकित किये गये एवं गया के बोधि वृक्ष की शाखा अनुराधापुर के एक विहार में रोप दी गयी। बौद्ध धर्म के इतिहास में लंका का विशेष महत्त्व है, क्योंकि यहीं पर सबसे प्राचीन स्थविर सम्प्रदाय का त्रिपिटक का पाली संस्करण उपलब्ध हुआ है। बौद्ध धर्म ने लंका को ब्राह्मी लिपि व पाली भाषा प्रदान की, शिल्प-कला और मूर्ति-कला का सूत्रपात कर उसका नव-विकास किया और विविध प्रतिद्वन्द्वी जातियों में सांस्कृतिक ऐक्य उत्पन्न कर उन्हें सुसंगठित किया। वास्तव में धर्म, साहित्य और कला में लंका भारत का बहुत ऋणी है।

मध्य एशिया—मध्य एशिया में भारत के व्यापारिक सम्बन्धों को उसकी सांस्कृतिक विजय ने पूर्णरूपेण आच्छादित कर दिया था। मौर्य-साम्राज्य के विस्तार, अशोक का धर्म-प्रचार और मध्य एशिया के प्रदेशों पर कुषाण राजाओं के प्रभुत्व ने भारत को मध्य एशिया के घनिष्ठ सम्पर्क में ला दिया। बौद्ध धर्मदूतों के सक्रिय प्रचार और कुषाणों के राजनीतिक प्रभाव के परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति और सभ्यता का दीप पामीर से परे घुमक्कड़ लोगों के प्रदेश मंगोलिया और तुर्किस्तान में ले जाया गया और कास्पियन सागर तथा चीन की दीवार के मध्य के विशाल विस्तृत देश में प्रतिष्ठित कर दिया गया।

वर्तमान खोतान के चतुर्दिक प्रदेश में भारतीय बहुसंख्या में बस गये। उस क्षेत्र में जो आज गोबी के मरुस्थल की रेत से ढका हुआ है किसी समय समृद्धिशाली भारतीय उपनिवेशों की भरमार थी। फाह्यान के यात्रा-विवरण से यह प्रमाणित होता है कि ईसवी सन् की प्रथम सदियों में यहाँ भारतीय फैले हुए थे और पांचवी शताब्दी तक मध्य एशिया भारतीय बन चुका था। इसी यात्रा के कथनानुसार लोबनार झील के पश्चिम में निवास करने वाली समस्त जातियों ने भारतीय धर्म और भाषा अंगीकार कर लिये थे। मध्य एशिया के क्षेत्र में Sir Aurel Stein के पुरातत्त्व सम्बन्धी अन्वेषणों ने ऐसे अनेक नगरों के भग्नावशेषों को प्रकाश में ला दिया है जिनमें दो सहस्त्र वर्ष पूर्व भारतीय निवास करते थे। अनेक बौद्ध-स्तूप व विहार, बुद्ध, गणेश, कुबेर तथा अन्य ब्राह्मण देवताओं की मूर्तियाँ, भारतीय गाथाओं के सिक्के, हस्तलिखित ग्रन्थ, चित्र, भारतीय भाषा और भारतीय लिपि में लिखे हुए छोटे अभिलेख उत्खनन में उपलब्ध हुए हैं। हस्तलिखित ग्रन्थों में कनिष्क की राजसभा के कवि अश्वघोष के कतिपय नाटकों की दूसरी शताब्दी की लिखी हुई पाण्डुलिपियाँ एवं चिकित्सा-विज्ञान के कुछ ग्रन्थ हैं। ये सब बौद्ध और हिन्दू धर्म के व्यापक प्रचलन, संस्कृत भाषा का प्रयोग, गान्धार शैली का प्रसार, बौद्ध कन्दराओं के भित्ति चित्र, और तक्षण-कला में भारतीय शिल्प-कला का प्रभाव प्रकट करते हैं। मध्य एशिया की कला प्रथम गान्धार शैली और बाद में गुप्तकालीन कला से प्रेरित हुई थी। अजन्ता की कला भी वहाँ ले जायी गयी थी। ईसवी सन् की तीसरी सदी में खोतान बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र हो गया था। खोतान और अन्य दक्षिण की बस्तियों में राजभाषा प्राकृत और राजलिपि खरोष्टी हो गयी थी। मध्य एशिया की उत्तर की प्रधान वस्ती कूचा तथा अन्य बस्तियों के भूपति बौद्ध धर्मावलम्बी थे और उन्होंने परिपुष्प, सुवर्णपुष्प आदि जैसे भारतीय नाम ग्रहण कर लिये थे। ये सब इन दूरस्थ देशों के सम्पूर्ण भारतीयकरण की ओर संकेत करते हैं। सातवीं सदी में जब ह्वानच्यांग भारत में आते समय और भारत से लौटते समय मध्य एशिया में से भ्रमण करता हुआ गया था, तब उसने वहाँ बौद्ध धर्म की प्रभुता और उस विस्तृत क्षेत्र में भारतीय संस्कृति के प्रसार को देखा था। इस्लाम के प्रसार के पूर्व मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति व सभ्यता का प्रसार था और ऐसा कहा जाता है कि तेरहवीं सदी का मंगोल नेता चंगेजखाँ बौद्ध धर्मावलम्बी था।

चीन, कोरिया, जापान और फिलिपाइन द्वीप—भारतीय संस्कृति मध्य एशिया से चीन, कोरिया और जापान पहुँची। चीन में भारतीय संस्कृति बौद्ध धर्म द्वारा गयी। बौद्ध धर्म ईसा की प्रथम सदी में खोतान से चीन में प्रवेश कर गया था। चीन में बौद्ध धर्म का सन्देश ले जाने का श्रेय कश्यप, मातंग

और धर्मरत्न नामक बौद्ध भिक्षुओं को है जिनके निवास के लिए चीनी सम्राट् मिंगती (५७-७६ ई०) ने राजधानी का पो-मा-सी नामक चीन का सर्वप्रथम विहार निर्माण करवाया था। सन् २६५ ई० तक बौद्ध धर्म का प्रसार धीरे-धीरे हुआ, पर तीसरी से छठी सदी तक वह वहाँ तीव्र गति से प्रचलित होने लगा। छठी सदी के **प्रारम्भ** में चीनी सम्राट् वूती (५०२-५४६ ई०) अशोक के समान बौद्ध धर्म का उदार संरक्षक रहा। परिणामस्वरूप उस समय तक चीन का प्रत्येक गृह बौद्ध धर्मावलम्बी हो चुका था और तीस हजार बौद्ध मन्दिर तथा बीस लाख बौद्ध पुरोहित हो गये थे। इसके बाद तांगवंश का युग (६१८-६०७ ई०) चीन के इतिहास में बौद्ध धर्म का स्वर्णयुग माना जाता है। चीन की प्राचीन सभ्यता पर बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति का कितना गहन प्रभाव पड़ा, निश्चित रूप से कहना दुष्कर है। चीन ने अपना धर्म-परिवर्तन कर नवीन धर्म ग्रहण करने वाले व्यक्ति के समान अत्यधिक उत्साह प्रदर्शित किया। चीनी धार्मिक यात्री वर्षा ऋतु की उमड़ती सरिताओं के समान भारत में प्रवेश करने लगे और चीनी भिक्षुओं के समुदाय भारतीय बौद्धों के धार्मिक विश्वासों, आचार-विचारों और रूढ़ियों का स्वयं अध्ययन करने तथा बौद्ध-हस्तलिखित धर्म, ग्रन्थ-स्मारक और मूर्तियों को संग्रह करने के हेतु कष्टपूर्ण यात्रा करते हुए भारत में आने लगे। सैकड़ों और सहस्रों बौद्ध-ग्रन्थ भारत से चीन ले जाये गये और चीनी भाषा में उनका अनुवाद हो गया। जापानी विद्वान् नानजियो ने मिंगवंशीय त्रिपिटक की प्रसिद्ध सूची में चीनी भाषा में अनुवादित १६६२ संस्कृत ग्रन्थों का उल्लेख है। इस अनुवाद-कार्य के लिए चीनियों ने केवल संस्कृत और पाली भाषा ही नहीं सीखी वरन् उन्होंने अनेक भारतीय विद्वानों को चीन आने का निमन्त्रण भी दिया। सैकड़ों भारतीय विद्वान् चीन गये, वे वहाँ बस गये और उन्होंने इस पवित्र कार्य के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया। इनमें सबसे अधिक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् कुमारजीव, गुणवर्मन, बोधिधर्म और परमार्थ थे। समय-समय पर बहुसंख्यक चीनी बौद्ध यात्री फाह्यान, ह्वानच्यांग, सुंग-यून इत्सिंग आदि भारत आये। फलतः भारतीय साहित्य और दर्शनशास्त्र के अनेक महत्त्वशाली ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद हो गया। यह विलक्षण बात है कि ऐसे बौद्ध-ग्रन्थों के चीनी अनुवाद उपलब्ध हैं जिनकी मूल प्रतियाँ भारत में अब अप्राप्य हैं। भारतीय बौद्ध-कला ने, जिसके अनेकों नमूने चीन देश को ले जाये गये थे, चीन की कला को अत्यधिक प्रभावित किया। शांसी में यूनकाँग घाटी में और होनान में चट्टानों में से काटी हुई मूर्तियों पर गान्धार शैली और गुप्त-कला की मूर्तियों का स्पष्ट प्रभाव प्रकट होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि चीनी पगोडा, चीनी यात्रियों द्वारा अत्यन्त ही प्रशंसित पेशावर में कनिष्क के प्रसिद्ध स्मारक स्तम्भ के विकास

का फल है। प्रसिद्ध कलाकार श्री नन्दलाल बोस ने बताया है कि कि-फोंग के प्रसिद्ध पगोडा में जो मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं, वे बंगाली हैं। इसी प्रकार संगीत और विज्ञान में भी भारतीय प्रभाव है। भारतीय गणित और ज्योतिष के अध्ययन को भी चीन देश में प्रोत्साहन मिला। अनेक भारतीय औषधियों का भी वहाँ प्रयोग होने लगा। इस प्रकार के धार्मिक, राजनीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध भारत और चीन देश में स्थापित होने के अतिरिक्त, इन दोनों देशों के मध्य नियमित उच्चतम सामुद्रिक व्यापार भी था।

चतुर्थ शताब्दी के मध्य में चीन देश से बौद्ध धर्म कोरिया में फैला और कोरिया से छठी शताब्दी में जापान में गया। वहाँ समस्त मध्य युग में उसे राज्याश्रय प्राप्त रहा। वहाँ आज भी यह जीवित शक्ति है और बीते हुए पन्द्रह सौ वर्षों में इसने जापानियों की सभ्यता को ढाला है। वस्तुतः पूर्व में जापान भारतीय संस्कृति की दूरस्थ चौकी थी। तेरहवीं सदी में मंगोल सम्राटों ने बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया और कालान्तर में मंगोलों ने इस धर्म का प्रसार मंगोलिया, मंचूरिया और साइबेरिया में किया।

आधुनिक अन्वेषणों ने इस कथन की पुष्टि की है कि फिलिपाइन द्वीपसमूह में किसी समय दक्षिण भारत के लोगों ने अपने उपनिवेश स्थापित किये थे और दैनिक जीवन के सभी क्षेत्रों को उन्होंने प्रभावित कर दिया था। वहाँ की हस्त-शिल्प-कलाएँ, सिक्के, लोकगीत व गाथाएँ, कथाएँ, अनेक सामाजिक और धार्मिक प्रथाएँ, भारतीय प्रभाव प्रकट करते हैं। फिलिपाइन निवासियों की लिपियाँ भी दक्षिणी भारत की लिपियों से बहुत कुछ साम्य रखती हैं। नामकरण और पूजा-पाठ में भी इन्होंने भारतीयों का अनुकरण किया था। लूजन समुद्रतट और मनीला की खाड़ी के समुद्रतट पर स्थित कुछ स्थानों के नामों का उद्गम संस्कृत भाषा के शब्द हैं। गणेश की मूर्ति का प्राप्त होना यह बताता है कि यहाँ के निवासी हिन्दू धर्म का पालन करते थे। लूजन की पर्वतीय जातियाँ आज भी प्रारम्भिक वैदिक देवताओं की पूजा करती हैं। फिलिपाइन द्वीपसमूहों से आगे के प्रशान्त महासागर के अन्य द्वीपों में भी भारतीय संस्कृति की छाया पड़ी। उनकी धार्मिक और सामाजिक प्रथाओं पर भारतीय संस्कृति का आभास दृष्टि-गोचर होता है। हवाई का 'हुला' नृत्य और समोआ का 'शिव' नृत्य बंगाल के कुछ लोक-नृत्यों के समान ही हैं।

अफगानिस्तान—प्रारम्भिक युग में अफगानिस्तान भारत का ही एक भाग रहता था। यह मौर्य और कुषाण साम्राज्यों के अन्तर्गत था। भारत की सीमा पर स्थित होने के कारण यहाँ प्राचीन भारतीय संस्कृति का खूब प्रसार हुआ। फलतः यहाँ प्राचीन भारतीय संस्कृति के बमियन और हड्डा जैसे महत्त्वशाली केन्द्र स्थापित हो गये। अतएव कोई आश्चर्य नहीं, यदि खुदाई के बाद अफगानिस्तान

में भारतीय संस्कृति के अवशेष चिह्न जैसे स्तूप, विहार, प्रतिमाएँ आदि उपलब्ध हों। जिस युग में फाह्यान व ह्वानच्यांग भारत में आये थे, उस समय अफगानिस्तान में बौद्ध धर्म प्रचलित था और मध्य युग में सुबुक्तगीन के आक्रमण के पूर्व काबुल घाटी में हिन्दू धर्म प्रचलित था। अलबरूनी के कथनानुसार ईरान, खुरासान, सीरिया, इराक आदि देशों में इस्लाम के पूर्व बौद्ध धर्म का प्रसार था।

नेपाल—नेपाल हिमालय की दक्षिण भूमि पर पश्चिम में अलमोड़ा जिले से पूर्व में दार्जिलिंग की पहाड़ियों तक विस्तृत राज्य है। तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व मध्य में अशोक ने इस प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। ऐसा कहा जाता है कि अशोक अपनी पुत्री चारुमती और दामाद देवपाल खत्तिय (क्षत्रिय) के साथ वहाँ गया था और उसने वहाँ अनेक स्तूप तथा विहार निर्मित कराये थे। सम्भवतः नेपाल में बौद्ध धर्म का प्रचार अशोक के आगमन के साथ हुआ। समुद्रगुप्त के अधिकार-क्षेत्र में नेपाल भी था जो प्रति वर्ष गुप्त सम्राट को कर देता था। ईसवी सन् की छठी सदी के अन्त और सातवीं के पूर्वार्द्ध में नेपाल में लिच्छवि वंश का राज्य हो गया। मध्य युग में मुसलमानों के आक्रमणों के कारण ब्राह्मणों और राजपूतों ने नेपाल में भागकर शरण ली। ये वहाँ अपने साथ भारतीय साहित्य, कला व धर्म सम्बन्धी अनेक बातें लेते गये। इन्हीं राजपूतों की एक प्रशाखा ने गुरखों के नाम से अठारहवीं सदी में नेपाल को विजय कर वहाँ अपनी प्रभुता स्थापित की। गुरखाओं के आगमन से नेपाल में हिन्दू धर्म का प्रसार हुआ इसके पूर्व वहाँ हीनयान, महायान और तान्त्रिक महायान धर्म प्रचलित थे। कालान्तर में वहाँ बौद्ध धर्म का तीव्रता से ह्रास हो चला और धीरे-धीरे वहाँ हिन्दुत्व का प्रभाव बढ़ता गया। फलतः आज नेपाल में हिन्दू धर्म का अधिक प्रचलन है। धर्म के समान ही नेपाल का साहित्य, कला, भाषा और प्रथाएँ गहन भारतीय प्रभाव को प्रकट करती हैं। वहाँ अनेक स्तूप, सैकड़ों मन्दिर और विभिन्न तीर्थस्थान हैं। सबसे प्रसिद्ध मन्दिर पशुपतिनाथ का है जहाँ शिव की पूजा होती है। नेपाल के मन्दिरों की शिल्प-कला भारतीय मन्दिरों की कला से साम्य रखती है। वहाँ भी पाषाण के विशाल शिखर वाले मन्दिर हैं। साथ ही पगोडा आकार के लकड़ी के बने हुए मन्दिर भी हैं जिनकी छतें ताँबे की हैं। मध्य युग में बंगाल की पाल-कला ने नेपाल में प्रवेश किया और वहाँ की कला को प्रभावित किया। नेपाल की समाज-व्यवस्था में भारतीय जाति-व्यवस्था का आभास दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि हिन्दू संस्कृति ने नेपाल को अपने प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत कर लिया था तथापि चीन और तिब्बत का भी प्रभाव नेपाल के सांस्कृतिक जीवन पर रहा है।

तिब्बत—लासा के संस्थापक स्रोंगचन गम्पो ने चीन तथा नेपाल की राजकुमारियों से विवाह किया। इन दोनों ही ने स्वयं बौद्ध धर्मावलम्बी होने

के कारण अपने प्रभाव से तिब्बत के राजा स्रोंगचन गम्पो को बौद्ध बना लिया और फलतः उसने तिब्बत में बौद्ध धर्म राज्य-धर्म मान लिया। इस नवीन धर्म के साथ ही उसने भारतीय वर्णमाला भी तिब्बत में प्रसारित की और इस प्रकार नवीन संस्कृति व सभ्यता के प्रवेश के लिए मार्ग सुलभ कर दिया। वास्तव में बौद्ध प्रचारकों का पहला दल तिब्बत में सन् ६४० में पहुँचा। इसके बाद ७४७ ई० में काश्मीर के आचार्य पद्मसम्भव ने तिब्बत में प्रवेश कर तन्त्रवाद से ओत-प्रोत महायान बौद्ध-धर्म का प्रचार किया जो आगे चलकर लामा-मत में परिवर्तित हो गया। इसके अतिरिक्त नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य शान्त-रक्षित भी तिब्बत के नरेश बौद्ध धर्म के भक्त खिस्रोङ् द्वारा आमन्त्रित होने पर तिब्बत गये थे। उन्होंने वहाँ सर्वप्रथम तिब्बतियों को भिक्षु बनाया, बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया और समूये नामक प्रथम विहार का निर्माण किया। बहुसंख्या में तिब्बत के बौद्ध भारत में आये और भारत की समीपता से वे बौद्ध धर्म के घर के घनिष्ठ सम्पर्क में आ गये। ग्यारहवीं सदी में बंगाल के पाल-नरेशों ने तिब्बत में बौद्ध धर्म के सुधार के हेतु सहायता दी और इससे तिब्बत और पाल राज्य में सक्रिय सम्पर्क हो गया। तिब्बत के भिक्षु नालन्दा और विक्रमशील के विहारों में अध्ययन करने के लिए आने लगे और अनेक भारतीय बौद्ध भिक्षु तिब्बत गये। बौद्ध धर्म के सैकड़ों पवित्र धर्म-ग्रन्थों के अनुवाद तिब्बत की भाषा में हो गये जिनमें से दो प्रसिद्ध संग्रह 'ताँजूर' और 'काँजूर' आज भी विद्यमान हैं। सन् १०२८ में बंगाल-निवासी आचार्य दीपकर श्रीज्ञान ने तिब्बत का परिभ्रमण किया और वहाँ वज्रयान का प्रचार किया। इस धर्म में दैवी शक्तियों को प्राप्त करने के हेतु जादू-टोने और तन्त्र-मन्त्र पर जोर दिया जाता है। मध्ययुग में जब तिब्बत के राजा की शक्ति क्षीण हो गयी तब धार्मिक मठों के अधिपतियों ने उनका स्थान ले लिया और इस प्रकार वहाँ लामावाद का प्रादुर्भाव हुआ। धर्म के समान तिब्बत की कला भी भारतीय कला से प्रभावित हुई। इन दोनों में साम्यता है। महायान के विविध देवी-देवताओं की रत्नजड़ित ताँबे के मुलम्मे की मूर्तियाँ बनाने में तिब्बत की कला श्रेष्ठ है। इस प्रकार तिब्बत की भाषा, लिपि, व्याकरण, साहित्य और कला भारत से प्रसारित बौद्ध धर्म के परिणाम थे। वस्तुतः बर्बर और असभ्य तिब्बत को सभ्यता और संस्कृति की शिक्षा देने में भारत का बहुत ही बड़ा हाथ रहा है।

काश्मीर—भारत और चीन के मध्य में स्थित होने के कारण काश्मीर सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वशाली रहा। मौर्य और कुषाण साम्राज्य का वह एक भाग था और कुछ समय के लिए चीन के साम्राज्य का भाग भी रहा। अनेक काश्मीरी बौद्ध भिक्षुक चीन गये और उन्होंने वहाँ भारतीय संस्कृति के प्रसार में सहायता दी।

ब्रह्मा—प्रारम्भिक युग में भारत और ब्रह्मा के सम्बन्ध का इतिहास अस्पष्ट है। सम्भवतः ब्रह्मा उन देशों में से है जहाँ अशोक ने अपने दो प्रचारकों को भेजा था। दक्षिण भारत मे कुछ तामिल राज्यों का ब्रह्मा से व्यापारिक सम्बन्ध था। कलिंग के व्यापारी और धर्मोपदेशक दोनों ने ही ब्रह्मा के लोगों से अपने सम्बन्ध स्थापित किये और समुद्रतट के पार्श्ववर्ती भू-भाग पर अपने कुछ उपनिवेश बसा लिये। यद्यपि ब्रह्मा में बौद्ध धर्म का समुदय अशोक के धर्म-प्रचारकों से सम्बन्धित है परन्तु वास्तविक धर्मदूत तो प्रसिद्ध सिंहली आचार्य बुद्धघोष था जो सन् ४५० में लंका से ब्रह्मा गया और वहाँ हीनयान सम्प्रदाय स्थापित किया। तेरहवीं सदी में यहाँ लंका के बौद्ध धर्म तथा पाली धर्म के ग्रन्थों का प्रचार हुआ। विष्णु की अनेक मूर्तियों के उपलब्ध होने से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ ब्राह्मण धर्म का प्रचार हुआ होगा। सुदीर्घ काल तक के भारतीय सम्पर्क के कारण भारतीय विचार और कला ने ब्रह्मा के जीवन को प्रभावित किया। अतएव कोई आश्चर्य नहीं यदि थातून, पेगू और प्रोम में बौद्ध तथा हिन्दू अवशेप प्राप्त हुए हों। आज भी ब्रह्मा के बहुसंख्यक लोग बौद्ध हैं। उनकी भाषा, लिपि और धर्म पर भारतीय संस्कृति की छाप है और उनके धार्मिक संस्कारों पर वैदिक कर्मकाण्ड का पुट है।

दक्षिणी-पूर्वी एशिया का औपनिवेशीकरण—हिन्दुओं की औपनिवेशीकरण की प्रक्रियाएँ और सामुद्रिक यात्रा की प्रबल भावनाएँ दक्षिणी-पूर्वी एशिया मे अभिव्यक्त हुई थीं। बंगाल की खाड़ी के उस पार हिन्दचीन, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो और बाली के द्वीप हैं। किसी समय इनके निवासी बर्बर तथा असभ्य जंगली जातियों के थे। विश्व के मसाले के व्यापार का एकाधिकार इन्हीं द्वीपों का था। इनकी भूमि उपजाऊ और खनिज पदार्थों से सम्पन्न होने के कारण इन द्वीपों ने शीघ्र ही भारतीयों को आकर्षित कर लिया। हिन्दू-युग में गंगा के मुहाने से कुमारी अन्तरीप तक का समस्त पूर्वी समुद्र-तट बन्दरगाहों से भरा पड़ा था। इन्हीं बन्दरगाहों से भारतीय जल-यात्रा करते थे और ईसवी सन् की दूसरी सदी में सुदूरपूर्व के देशों से इन्होंने अपने महत्त्वशाली व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। भारतीय साहित्य में विशेप कर बौद्ध-ग्रन्थों में प्रारम्भिक युग में होने वाली समुद्र-पार अज्ञात देशों की भयपूर्ण, कष्टमय जल-यात्राओं की अनुश्रुतियाँ सुरक्षित हैं। 'जातक', 'कथासरित्सागर' और ऐसे ही अन्य संग्रहों की कहानियों में 'स्वर्णभूमि' को भारतीय व्यापारियों द्वारा की गयी जल-यात्राओं के बार-बार हवाले मिलते हैं। स्वर्णभूमि सुदूरपूर्व के अनेक देशों का एक साधारण नाम था निर्भीक व्यापारीगण इन देशों के अपरिमित धन-द्रव्यों सहित लौटते थे। इसके विपरीत, अनेक के जलपोत नष्ट हो जाते थे और उन्हें विविध प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते थे।

कुछ कहानियों में ऐसा उल्लेख है कि साहसी युवक क्षत्रिय राजकुमार जिनके पैतृक राज्य छीन लिये गये थे, स्वर्णभूमि को अपने भाग्य की खोज में चले गये। ऐसे ही किसी साहसी क्षत्रिय के कार्य के परिणामस्वरूप ही दक्षिणी-पूर्वी एशिया के सुदूर-प्रदेशों में भारतीय राजनीतिक सत्ता स्थापित हुई थी।

भारतीय राजकुमारों, व्यापारियों और निर्भीक लोगों ने ही इन देशों में अपने उपनिवेश, अपनी राजनीतिक सत्ता और सामाजिक तथा सांस्कृतिक संस्थाएँ स्थापित की थीं। ईसवी सन् की दूसरी सदी से आगे ऐसे राज्यों के विषय में हवाले हैं जिन पर भारतीय नामों वाले राजा शासन करते थे। उनका धर्म, भाषा, सामाजिक प्रथाएँ और आचार-विचार सभी भारतीय थे। अतएव निर्विवाद रूप से इन्हें भारतीय औपनिवेशिक राज्य माना जा सकता है। भारतीय धार्मिक विचार-प्रणालियाँ और संस्कृति इन राज्यों में प्रसारित हुईं और वे गौरवान्वित पराकाष्ठा पर पहुँचीं। दूसरी से पाँचवीं सदी के मध्य में मलाया प्रायद्वीप, कम्बोडिया, अन्नाम, सुमात्रा, जावा, बाली और बोर्नियो के द्वीपों में ऐसे राज्य निर्मित किये गये। इन राज्यों में ब्राह्मण धर्म प्रधानतया शैव मत समृद्ध था, यद्यपि बौद्ध धर्म का प्रसार भी था। यहाँ के आदिवासियों ने उनके स्वामियों का धर्म ग्रहण कर लिया और धीरे-धीरे भारतीयों और आदिवासियों दोनों जातियों का सम्मिश्रण हो गया। यद्यपि इन आदिवासियों के घनिष्ठ सम्पर्क के कारण कुछ अंशों तक हिन्दू संस्थाएँ, प्रथाएँ और आचार-विचार परिवर्तित हो गये थे, परन्तु फिर भी लगभग एक सहस्र वर्षों तक हिन्दू सभ्यता और संस्कृत के प्रमुख तत्त्व ही इन राज्यों में समाज की प्रभुत्वशाली विशेषताएँ बने रहे। इससे सम्पूर्ण सांस्कृतिक विजय प्रभावित हुई। भारतीय कला और साहित्य के कुछ शानदार स्मारक, जो वहाँ आज भी विद्यमान हैं, प्रारम्भिक भारतीय औपनिवेशिक साहित्य के अमर प्रमाण हैं।

सर्वप्रथम तो भारतीयों ने अपने घर के समीपवर्ती देशों में ही उपनिवेश स्थापित करने के प्रयास किये। इस प्रकार ब्रह्मा, लंका आदि उनकी औपनिवेशिक प्रक्रियाओं के सबसे पूर्व के क्षेत्र थे। इनका वर्णन पीछे हो चुका है। अब इन देशों से आगे के पूर्व के देशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार का विवेचन किया जायगा।

स्याम—स्याम या थाइलैण्ड का वर्तमान स्वतन्त्र राज्य ब्रह्मा के पूर्व में स्थित है। स्याम का दक्षिणी प्रदेश सदियों तक पार्श्ववर्ती फ़ूनान या कम्बोडिया के राज्य में सम्मिलित रहा। ईसवी सन् की दूसरी या तीसरी सदी में स्याम के केन्द्रीय प्रदेश में द्वारावती नामक एक भारतीय राज्य का उत्कर्ष हुआ था। कालान्तर में स्याम सम्पूर्णतया भारतीय हो गया था। बाद में पार्श्ववर्ती हिन्दू उपनिवेश कम्बोडिया से बौद्ध धर्म का महायान सम्प्रदाय स्याम में प्रवेश

कर गया। पर यहाँ हीनयान का प्रचार सिंहल के बौद्ध संघ ने किया था। हिन्दू और बौद्ध धार्मिक साहित्य तथा कला ने स्यामी भाषा, साहित्य, कला और सामाजिक संस्थाओं को खूब प्रभावित किया। स्याम में अमरावती शैली की काँसे की बौद्ध प्रतिमाएँ, गंगा की घाटी में निर्मित गुप्तकालीन मूर्तियाँ, स्तूपों और विहारों के भग्नावशेष तथा पल्लव लिपि में अंकित बौद्ध धर्म के सिद्धान्त उपलब्ध हुए हैं। स्याम के नगरों, लोगों और राजाओं के नाम तथा उपाधियाँ आज भी हिन्दू प्रभाव के अनेक अवशिष्ट चिह्न प्रगट करते हैं। विविध हिन्दू-प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, त्यौहार आदि आज भी स्याम में मनाये जाते हैं। भारतीय संस्कृति के प्रभाव के ये सशक्त प्रमाण हैं। वस्तुतः स्याम निवासी सोलहवीं सदी तक भारतीयों के सांस्कृतिक प्रभाव के अन्तर्गत रहे।

हिन्द चीन—हिन्द चीन में प्रमुख रूप से उत्तर में अन्नाम और दक्षिण में कम्बोडिया के प्रान्त हैं। हिन्द चीन में भारतीयों ने चम्पा और कम्बाज नाम के दो शक्तिशाली औपनिवेशिक राज्य स्थापित किये थे। चम्पा का राज्य कम्बोडिया के पूर्व में था। इसमें दक्षिण अन्नाम और कोचीन के प्रदेश सम्मिलित थे। यह सम्भवतः दूसरी सदी में स्थापित किया गया था। इसकी राजधानी अमरावती थी। यह उपनिवेश तेरह सौ वर्षों तक (सन् १५०-१४७१) तक समृद्धिशाली रहा और चीनी तथा भारतीय सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्धों के मध्य में यह एक महत्त्वशाली स्थान था। इस राज्य के आरम्भिक नरेशों में धर्म महाराज श्री भद्रवर्मा (३८०-४१३) और गंगाराज प्रसिद्ध हैं। भद्रवर्मा ने शिव का परम भक्त होने से मिसोन में भद्रेश्वर स्वामी' नामक शिव का एक प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण किया था। वह चारों वेदों का पूर्ण ज्ञाता भी माना जाता था। एक दूसरे नरेश ने राज-पाट त्याग भारत में तीर्थ-यात्रा की थी। इनके बाद में इन्द्रवर्मा तृतीय (९११-९७२) प्रसिद्ध भूपति हुआ। यह षट् दर्शन, बौद्ध दर्शन, पाणिनि व्याकरण, आख्यान और शैवों के उत्तरकल्प का प्रकाण्ड पण्डित माना जाता था। दसवीं सदी से चम्पा पर उत्तर से अन्नामियों व मंगोलों के आक्रमण हुए। चम्पा के कुछ नरेश जैसे जय-परमेश्वरवर्मदेव ईश्वर मूर्ति (१०५०-१०६०), रुद्रवर्मा (१०६१-१०६९), हरी-वर्मन (१०७०-१०८१), महाराजाधिराज श्री जयइन्द्रवर्मन (११६३-११८०) और जयसिंह वर्मन (१२५७-१२८७) बड़े वीर योद्धा थे और वे अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अपने पश्चिमी पड़ोसियों, कम्बुजों और मंगोल नरेश कुबलाई खाँ से जूझते रहे। इन राजाओं के चीन देश से राजनीतिक सम्बन्ध थे। तेरह सौ वर्ष से अधिक के गौरवशाली अस्तित्व के बाद इस हिन्दू उपनिवेश की शक्ति उसके पड़ोसियों अन्नामियों के अनवरत आक्रमण के कारण क्षीण हो गयी थी और सोलहवीं सदी में तो इस देश को मंगोलों के समुदायों ने

रौंद डाला था। चम्पा के उपनिवेश में अनेक समृद्धिशाली नगर थे और समस्त देश सुन्दर हिन्दू और बौद्ध मन्दिरों से सुशोभित था। मन्दिरों के दो नगर मिमांग और डांग डुअंग आज भी विख्यात हैं। यहाँ के निवासी हिन्दू देवी-देवताओं की ही उपासना और पूजन करते थे। विविध देवताओं की उपासना में शिव, उनकी शक्ति और उनके दो पुत्र गणेश और स्कन्द का स्थान प्रमुख था। इनके अतिरिक्त विष्णु, कृष्ण, बुद्ध, एवं अन्य देवताओं का भी पूजन होता था। शिल्प-कला में चम्पा-वासियों ने भारत की गुप्तकाल की कला का उसके विषयों में ही नहीं अपितु उसकी प्रणाली में भी अनुकरण किया था। मन्दिरों, तोरण-द्वारों और स्तम्भों के अलंकरण में तो चम्पा की वास्तु-कला और तक्षण-कला श्रेष्ठता की उच्चतम पराकाष्ठा पर थी। संस्कृत अभिलेखों के प्राप्त होने से ऐसा प्रकट होता है कि वहाँ भारतीय भाषा संस्कृत का खूब प्रचार रहा होगा। संक्षेप में, चम्पा में ब्राह्मण धर्म और ब्राह्मण संस्कृति का ही विशिष्ट प्रचार हुआ।

कम्बुज नाम का दूसरा हिन्दू राज्य उन हिन्दुओं ने स्थापित किया था जो ईसवी सन् के पूर्व मेकांग नदी के मुहाने तक चले गये थे। इस राज्य का उद्‌भव रहस्यमय है। एक प्राचीन गाथा के अनुसार कौण्डिन्य नामक भारतीय ब्राह्मण कम्बोज में गया और सोमा नामक एक नाग राजकुमारी से विवाह कर कम्बुज के राज-कुल की स्थापना की। ऐसा कहा जाता है कि उसने प्रथम वहाँ एक भाला गाड़ दिया था जो उसे द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा से प्राप्त हुआ था। एक अन्य गाथा के अनुसार वह इन्द्रप्रस्थ के नरेश आदित्यसेन का पुत्र था। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि वह हिन्दू था और इससे कम्बुज में हम प्रथम या दूसरी सदी तक सबसे पूर्व के हिन्दू राज्य का पता लगा सकते हैं। इस प्रकार से स्थापित राज-वंश ने हिन्दू धार्मिक क्रिया-विधियाँ और नियम-उपनियम अंगीकार कर लिये और वास्तव में वह हिन्दू हो गया। हृष्ट-पुष्ट और परिश्रमी भारतीयों ने इस राजवंश के स्थापित होने के तीन सौ वर्षों में इस देश की प्राकृतिक शक्तियों, उसकी सम्पन्न उर्वरा भूमि और सरिताओं का सदुपयोग कर उनका विकास किया और उसके बाद आठवीं सदी में कम्बुज का राज्य उच्चतम सांस्कृतिक विकास के स्तर पर पहुँच गया और उसने अनेक अधिकृत राज्यों पर अपनी सार्वभौम सत्ता बनाये रखी। कम्बुज के राजाओं ने चीन और भारत को अपने दूत भेजे। यहाँ के एक राजा इन्द्रवर्मा (सन् ८७७-८८९ ई०) का यह दावा था कि "चम्पा प्रायद्वीप और चीन के शासक उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं।" दूसरा नरेश यशोवर्मा (सन् ८८९-९०८ ई०) जो यशोधरपुर (अंगकोर थोम) का संस्थापक था 'अर्जुन व भीम जैसा वीर, सुश्रुत-सा विद्वान्, शिल्प, भाषा, लिपि और नृत्य-कला में पारंगत था।' उसने

भारतीय तपोवनों में गुरुकुलों के समान कम्बुज में आश्रम स्थापित किये थे जिनका प्रधान कार्य अध्ययन-अध्यापन तथा ज्ञान आलोक को निरन्तर प्रसारित करना था। कालान्तर में ये आश्रम हिन्दू संस्कृति के श्रेष्ठ केन्द्र हो गये। ग्यारहवीं सदी में कम्बुज का इतना अधिक उत्कर्ष हुआ कि उसका साम्राज्य बंगाल की खाड़ी से लेकर चीन सागर तक विस्तृत हो गया था। परन्तु पन्द्रहवीं सदी में पूर्व से अन्नामियों और पश्चिम में स्याम को जीतने वाले थाइ लोगों ने निरन्तर आक्रमण किये। इससे कम्बुज का शक्तिशाली राज्य क्षीण होकर छोटा-सा रह गया और अन्त में उन्नीसवीं सदी में वह फ्रांस के अधीन हो गया। चम्पा की अपेक्षा कम्बुज में राज्य का अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ। वहाँ उपलब्ध अनेक संस्कृत अभिलेख वहाँ के राजाओं का सविस्तृत इतिहास बतलाते हैं और अंगकोरवत का विलक्षण मन्दिर और अन्य दूसरे मन्दिर उनकी भव्यता और गौरव प्रकट करते हैं। विश्व की एक आश्चर्यजनक वस्तु अंगकोरवत का भव्य मन्दिर है जो १२वीं सदी में राजा सूर्यवर्मन ने निर्मित किया था। यह विश्व का सबसे बड़ा मन्दिर है। ऊँचे उठे चबूतरों और गैलरियों पर इस मन्दिर की रचना की गयी है। इसमें अनेक शिखर और गुम्बद हैं। इस मन्दिर की दीवारें पक्षी, पुष्प, नृत्य करती बालाएँ आदि आकृतियों से अलंकृत हैं। जिस प्राचीन वास्तु-कला और तक्षण-कला का विकास भारतीय शिल्पियों ने वहाँ किया था, उसका यह मन्दिर सर्वोत्कृष्ट नमूना है। अंगकोरथोम प्राचीन राजधानी यशोधरपुर का आधुनिक नाम है। इसकी स्थापना यशोवर्मन द्वारा हुई थी। यह नगर वर्गाकार था जिसकी प्रत्येक भुजा दो मील से अधिक लम्बी थी और इसके मध्य में बयोन का भव्य मन्दिर था। यह मन्दिर अंगकोरवत के मन्दिर के द्वितीय स्तर पर था। इसमें पचास शिखर हैं। इस नगर की प्रत्येक वस्तु की कल्पना वास्तव में भव्य रूप में की गयी थी और "यशोधरपुर का नगर उस युग के समस्त विश्व में सबसे अधिक विशाल और भव्य नगरों में से था।" कम्बुज राज्य ने विश्व को सबसे बड़ा मन्दिर प्रदान किया है जिसमें भारत की शानदार सूक्ष्मातिसूक्ष्म कहानियाँ पाषाण पर उत्कीर्ण की गयी हैं। भारत की सांस्कृतिक विजय का यह दिव्य सशक्त प्रमाण है।

कम्बुज राज्य में शैव तथा वैष्णव दोनों धर्म प्रगतिशील थे। रामायण, महाभारत, पुराण आदि भारतीय ग्रन्थ अभिरुचिपूर्वक अध्ययन किये जाते थे। भारतीय आयुर्वेदशास्त्र और चिकित्सा-पद्धति का खूब प्रचार था। कम्बुज नरेश रुद्रवर्मन ने तो अपनी राजसभा में दो आयुर्वेदीय चिकित्सकों को रखा था। संक्षेप में कम्बुज निवासियों ने हिन्दू धर्म, सभ्यता व संस्कृति को अपना लिया था और हिन्दू राजनीतिक व सामाजिक विचारों तथा प्रथाओं को ग्रहण कर लिया था।

मलाया द्वीपसमूह—मलाया द्वीपसमूह के विविध द्वीप जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो में हिन्दू उपनिवेश समृद्ध हुए थे। इन द्वीपों में जिन्हें स्वर्णद्वीप कहते थे हिन्दू संस्कृति के अवशेष प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। इस भू-खण्ड में दो हिन्दू साम्राज्यों का उत्कर्ष और ह्रास हुआ था। इनमें से प्रथम आठवीं सदी में शैलेन्द्र राज-कुल द्वारा स्थापित हुआ था। इसके अन्तर्गत मलाया प्रायद्वीप और सुमात्रा, जावा, बाली तथा बोर्नियो के सम्पूर्ण द्वीप सम्मिलित थे। इन प्रदेशों से व्यापार करने वाले अरब सौदागरों ने हर्षातिरेक से आह्लादपूर्ण शब्दों में इन सार्वभौम शानदार राजाओं की सत्ता, शक्ति, सम्पन्नता और वैभव का वर्णन किया है। इन शैलेन्द्र सम्राटों की दैनिक आय दो सौ मन स्वर्ण मानी जाती थी।

श्रीविजय साम्राज्य—शैलेन्द्र सम्भवतः भारत के कलिंग प्रान्त से आये थे। प्रथम इन्होंने दक्षिणी ब्रह्मा और उत्तरी मलाया को विजय किया और तत्पश्चात् समस्त स्वर्णद्वीप में अपना सार्वभौम राज्य स्थापित कर लिया। शैलेन्द्रों ने सुमात्रा में श्रीविजय नामक नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया और इसी से उनका राज्य श्रीविजय साम्राज्य कहलाया। ग्यारहवीं सदी तक शैलेन्द्रों ने यश-वैभव से शासन किया। इसके बाद दक्षिण भारत के राजा राजेन्द्र चोल ने जिसके पास सुदृढ़ विशाल जल-सेना थी, शैलेन्द्रों के साम्राज्य पर आक्रमण किया। परिणामस्वरूप शैलेन्द्रों और चोलों में संघर्ष हुआ। यद्यपि राजेन्द्र ने शैलेन्द्र साम्राज्य का एक विशाल भू-भाग जीत लिया था परन्तु समुद्र पार इतने दूरस्थ प्रदेशों को अपने आधिपत्य में रखना बड़ा दुष्कर कार्य था। अतएव लगभग एक शताब्दी बाद शैलेन्द्र ने चोलों की सार्वभौमिकता को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और वे उससे विमुक्त हो गये। परन्तु पन्द्रहवीं सदी में जावा के नवनिर्मित हिन्दू राज्य ने शैलेन्द्र साम्राज्य को हड़प लिया। शैलेन्द्र नरेश बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थे और चीन तथा भारत के नरेशों से उनका कूटनीतिक सम्बन्ध था। उनकी धार्मिक प्रेरणा का स्रोत बंगाल था जो उस समय भारत में महायान बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था। बंगाल का एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु कुमारघोष शैलेन्द्रों का गुरु हो गया। ये राजा बड़े निर्माता थे। उनकी सम्पन्नता, धार्मिक भावना और वैभव का सजीव स्मारक आज भी बोरोबुदूर का प्रसिद्ध स्तूप खड़ा है। यह केन्द्रीय जावा के मैदान में है। इसमें महायान सम्प्रदाय के धार्मिक ग्रन्थों की कहानियाँ और बुद्ध के जीवन की अनेक घटनाएँ पाषाण पर अंकित की गयी हैं। यहाँ की प्रतिमाएँ और तक्षण-कला भारतीय और जावा की सम्मिलित कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं और शिल्पी के उच्चतम कलाचातुर्य को प्रदर्शित करते हैं। भारत में शैलेन्द्र सम्राटों ने नालन्दा में एक विहार और तारादेवी का सुन्दर मन्दिर बनवाया और इस विहार के व्यय के हेतु पाँच ग्राम दान दिये थे।

जावा—जावा में भी उपनिवेश स्थापित हो चुका था। इस द्वीप की दन्त-कथाएँ और अनुश्रुतियाँ इसके औपनिवेशीकरण का श्रेय पाराशर, व्याह पाण्डु आदि भारतीयों को देती हैं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में हिन्दुओं ने यहाँ अपना उपनिवेश बसा लिया था और कलिंग प्रदेश के भारतीयों के औपनिवेशीकरण की प्रथम लहर यहाँ आयी थी। दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ में यहाँ एक हिन्दू राज्य स्थापित हो गया और सन् १३२ में इसके नरेश देववर्मन ने चीन देश को अपना राजदूत भेजा था। महान् चीनी यात्री फाह्यान जो ३९९ से ४१४ तक भारत में था, समुद्र-मार्ग से चीन जाते हुए जावा में पाँच माह ठहरा था। उसने उल्लेख किया है कि जावा बौद्ध धर्म का सुदृढ़ किला है। नवीं सदी के पूर्व जावा में छोटे-छोटे हिन्दू राज्य थे। पाँचवीं शताब्दी में पश्चिमी जावा में शासन करने वाले राजा पूर्णवर्मा के जो संस्कृत भाषा के चार अभिलेख प्राप्त हुए हैं उनसे प्रमाणित होता है कि इस युग तक भारतीय संस्कृति जावा में अपना घर कर चुकी थी। शैलेन्द्रों के उत्कर्ष होने पर जावा ९वीं सदी तक उनके आधिपत्य में रहा और बाद में उनकी शक्ति क्षीण होने पर वह स्वतन्त्र हो गया एवं शैव धर्मी राजवंशों की प्रभुता वहाँ स्थापित हो गयी। तेरहवीं सदी के अन्त में राजा विजय ने मजपहित स्थान पर अपनी राजधानी बना एक नवीन राजवंश की स्थापना की। मजपहित के राज्य ने पार्श्ववर्ती द्वीपों को जीत लिया और सन् १६६५ में मजपहित साम्राज्य में समस्त मलाया प्रायद्वीप और मलाया द्वीपसमूह सम्मिलित कर लिया गया। पन्द्रहवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में जावा के एक भागे हुए हिन्दू नरेश ने मलक्का का राज्य स्थापित किया जो शीघ्र ही सबल राजनीतिक सत्ता और महत्त्वशाली व्यापारिक केन्द्र हो गया। परन्तु इसके दूसरे राजा ने इस्लाम मत ग्रहण कर लिया था। इसलिए जावा धीरे-धीरे इस्लाम का गढ़ बन गया। भारतीय कला और साहित्य जिस विस्तार से जावा में समृद्ध हुए थे उतने अन्यत्र कहीं नहीं। आज भी वहाँ सैकड़ों नष्ट-भ्रष्ट मन्दिर हैं और संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों में विस्तृत साहित्य विद्यमान है। रामायण और महाभारत के महाकाव्य इस द्वीप में सबसे अधिक लोकप्रिय थे और आज भी उनके जन-प्रिय छाया-नाटक के विषय और प्रकरण इन ग्रन्थों में से ही लिये जाते हैं। जावा की भाषा, साहित्य, कला, कानून, नियम, आचार-विचार और शिष्टाचार की रचनाएँ भारतीय ढंग पर ढाली गयी थीं।

बाली और बोर्नियो—पार्श्ववर्ती बाली का द्वीप भी सम्पन्न और समृद्ध हिन्दू राज्य था और उसके एक नरेश ने सन् ५१८ में चीन देश को एक दूत भेजा था। चौथी शताब्दी में बाली में हिन्दू राज्य स्थापित हो गया। छठी शताब्दी में यहाँ कौण्डिन्य क्षत्रिय राजा राज्य करते थे और यहाँ तब बौद्धों के मूल सर्वास्तिवादी

मत की प्रमुखता थी। दसवीं सदी में उग्रसेन, केसरी आदि भारतीय नामधारी राजाओं ने वहाँ शासन किया। जावा के नरेश मुस्लिम आक्रमणों से रक्षा करने में असमर्थ होने पर बाली द्वीप में चले गये। फलतः आज भी बाली में हिन्दू धर्म अपनी प्राचीन परम्पराओं सहित विद्यमान है। बाली के पास बोर्नियों में ईसा की प्रथम शताब्दी में हिन्दुओं ने अपना उपनिवेश स्थापित कर लिया था। बारहवीं सदी में यह द्वीप जावा के आधिपत्य में आ गया था। इस द्वीप में भी भारतीय संस्कृति का खूब प्रचार हुआ। यहाँ थोड़े समय पूर्व एक लकड़ी के मन्दिर के भग्नावशेष एवं बुद्ध तथा शिव की पाषाण मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। बोर्नियो के एक नरेश मूलवर्मन ने बाहु-सुवर्णकम नामक बड़ा यज्ञ किया था और इसके चिरस्मरणार्थ अभिलेखों सहित यूप (याज्ञिक स्तम्भ) निर्मित कराये थे। यहाँ की स्थापत्य व मूर्ति-कला में स्थानीय तत्त्व विद्यमान है परन्तु फिर भी इसका विकास भारतीय कला के आधार पर हुआ। भारतीय संस्कृति आज भी वहाँ है।

उपनिवेशों में हिन्दू संस्कृति

लगभग पन्द्रह सौ वर्षों तक और उस समय तक भी जबकि भारत में हिन्दुओं की स्वतन्त्रता विलुप्त हो गयी थी, हिन्दू नरेश हिन्दचीन और सुमात्रा से लेकर न्यू गायना तक के मलाया द्वीपसमूह के अनेक द्वीपों पर शासन कर रहे थे। भारतीय धर्म और साहित्य, भारतीय सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं ने इन प्रदेशों व द्वीपों के आदिवासियों के जीवन को ढाला और असभ्य बर्बर जातियों को सभ्य बनाया एवं इन सुदूर देशों की सम्पूर्ण विजय की। भारतीय कला और साहित्य के द्वारा इन आदिवासियों ने उच्च व श्रेष्ठ बौद्धिक रुचि और अधिक उन्नत नैतिक भावना अपना ली थी। उनके जीवन का ऐसा कोई पहलू कदाचित् ही बचा हो जो हिन्दुओं के प्रभाव से अछूता रह गया हो। वास्तव में वे सभ्यता के उच्चतम स्तर पर ले जाये गये थे। सुदूर अतीत में जातियों का मधुर मिश्रण कर और इन स्थानों के मूल निवासियों को भारत की आध्यात्मिक देन प्रदान कर वृहत्तर भारत की स्थापना की गयी थी।

धर्म—इन उपनिवेशों में प्राप्त अभिलेख और बुद्ध, विश्व, विष्णु, गरुड़, लक्ष्मी आदि की प्रतिमाओं से यह प्रमाणित होता है कि ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त इन प्रदेशों में बौद्ध धर्म भी हीनयान व महायान सम्प्रदाय सहित प्रचलित हो गया था। दोनों ही परस्पर मिश्रित हो गये थे और ये सौहार्द्रपूर्वक समृद्ध रहे। ब्रह्मा, विष्णु, महेश व इनसे सम्बन्धित अन्य देवताओं की पूजा भी वहाँ होती थी और इन देवताओं के लिए भव्य मन्दिर निर्मित किये जाते थे। हिन्दू धर्म तो आज भी बाली में विद्यमान है। वहाँ इन्द्र, विष्णु व कृष्ण

की प्रतिमाएँ आज भी निर्मित की जाती हैं और दुर्गा तथा शिव की पूजा होती है और इस पूजा में जल-पात्र, माला, कुश, तिल, घृत, जौ, मधु, अक्षत, दीप, घण्टी, मन्त्र आदि उन सभी वस्तुओं का प्रयोग होता है, जो हम भारत में करते हैं। भारत के समान वहाँ प्रतिदिन मन्दिर में रामायण, महाभारत व पुराणों का अखण्ड पाठ व कथाएँ भी होती थीं।

भाषा और साहित्य—संस्कृत भाषा का भी वहाँ खूब प्रचार हुआ था और अनेक अभिलेख तथा वृत्तान्त विशुद्ध, दोष-मुक्त सुन्दर संस्कृत भाषा में लिखे जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ भारतीय साहित्यिक शैली का प्रभुत्व रहा था। इससे प्रकट होता है कि वहाँ के लेखक संस्कृत साहित्य, भाषा, व्याकरण, काव्य से पूर्ण अवगत थे। सर्वत्र भारतीय लिपि का प्रयोग होता था। साहित्य में महाभारत व रामायण का गद्य में अनुवाद हुआ और पौराणिक गाथाओं के आधार पर अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। धार्मिक साहित्य के साथ-साथ लौकिक साहित्य का भी अध्ययन किया जाता था। कम्बुज के राजा यशोवर्मा द्वारा पातंजल महाभाष्य पर लिखी हुई टीका का उल्लेख है।

कला—इन द्वीपों की समाधियाँ, मन्दिर, भवन और मूर्तियाँ भारतीय कला का गहन प्रभाव प्रकट करती हैं। वास्तव में औपनिवेशिक कला अपने आप ही एक नवीन शैली है। यद्यपि यह कला भारत से गयी और कुशल तथा अकुशल शिल्पियों ने अपनी मातृभूमि भारत की परम्पराओं को ग्रहण कर लिया था तथापि अपने नये वातावरण में भारतीय इन्जीनियरों और शिल्पियों ने नवीन विचारों को अपना लिया और ऐसी कृतियों की रचना की जो भारत में उनके मूलस्तर से विभिन्न ही नहीं थीं वरन् कुछ अंशों में निश्चयात्मक रूप से उनसे श्रेष्ठतर भी थीं। कम्बोडिया में अंगकोरवत का मन्दिर और जावा में बोरोबुदुर का बौद्ध मन्दिर भारतीय औपनिवेशिक कला के सबसे अधिक प्रसिद्ध स्मारक हैं। आकृतियों की कल्पना के वैभव और कार्य-निष्पत्ति की कुशलता और अलंकरण में ये भारत में विद्यमान कला-कृतियों से अधिक श्रेष्ठ हैं। वास्तु-कला का उच्चतर विकास इन मन्दिरों में प्राप्त होता है।

शासन-प्रणाली—धर्म के अतिरिक्त हिन्दू सभ्यता का प्रभाव वहाँ की शासन-प्रणाली और राजनीतिक तथा सामाजिक विचारों में भी स्पष्टतया विदित होता है। उपनिवेशों के शासन के विषय में चीनी इतिहास हमें यह बतलाते हैं कि राजा के परामर्श के हेतु आठ बड़े मन्त्री थे जिन्हें 'आठ पद' कहा जाता था और जो सब ब्राह्मणों में से ही चुने जाते थे। सुवासित पदार्थों से राजा की देह पर मालिश होती थी, वह बहुत ऊँची टोपी पहनता था और विविध प्रकार के रत्नों का हार पहनता था, सुन्दर मलमल की उसकी वेश-भूषा होती थी, रथों में वह जाता था और गजों पर सवार होता था।

युद्ध में मनुष्य शंख बजाते और ढोल पीटते थे। यह हिन्दू संस्कृति का ही प्रभाव था।

सामाजिक व्यवस्था—हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था भी उपनिवेशों में बहुत पहले ही पहुँच गयी थी। राजाओं ने क्षत्रित्व ग्रहण कर लिया था और 'वर्मन' नाम अपना लिया था जिसका अर्थ रक्षक होता था। कुछ विशिष्ट कथनों के अनुसार जो भारतीय वहाँ गये, उन्होंने वहाँ के निवासियों से अपने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये और धीरे-धीरे औपनिवेशिक समाज हिन्दू वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तित हो गया था। बाली द्वीप में तो आज भी जातकर्म, नामकरण, विवाह, अंत्येष्टि आदि हिन्दू-संस्करणों का प्रचार है। जब ये लोग विवाह करते हैं तो सुपारियों के अतिरिक्त और कोई भेंट या उपहार नहीं देते और कभी-कभी तो सुपारियों से भरी हुई दो-दो सौ थालियाँ उपहार में देते हैं। कन्या विवाह के पश्चात् अपने पति के घर जाती है। उनके संगीत वाद्य वीणा या सारंग, तिरछी बाँसुरी, ताँबे के झाँझ-मजीरे और लोहे के ढोल होते हैं। वे शवों का अग्निदान करते हैं और उनकी भस्म को स्वर्ण कलश में रखकर समुद्र में बहा देते हैं।

जब तक हिन्दू धर्म भारत में पूर्ण सशक्त था, उपनिवेशों में हिन्दू संस्कृति सजीव शक्ति रही। हिन्दुओं के पतन से उनकी औपनिवेशिक सर्वोपरिता का भी ह्रास हो गया। मूल स्रोत के शुष्क हो जाने पर इससे प्रवाहित सरिताएँ भी धीरे-धीरे शुष्क होकर अन्त में अदृश्य हो गयीं और ग्यारहवीं सदी से आगे उपनिवेशों में स्थानीय मौलिक तत्त्व धीरे-धीरे अपनी शक्ति स्थिर और दृढ़ करने लगे, परन्तु पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदियों में वहाँ इस्लाम धर्म पूर्ण रूप से स्थापित हो गया।

"एडवांस्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया" में उसके विद्वान लेखकों ने उल्लेख किया है कि उपनिवेशों के इतिहास इस कथन की असत्यता और असार्थकता प्रदर्शित करते हैं कि हिन्दू धर्म विदेशियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, अपितु यह तो उन्हीं लोगों के लिए है जिनका जन्म हिन्दू धर्म के वातावरण में ही हुआ है। उपनिवेशों का इतिहास यह बतलाता है कि हिन्दू धर्म में ऐसी महान् सजीवता है कि विदेशी संस्कृति को चैतन्य कर उसे अपने में मिला सकता है तथा सबसे अधिक असभ्य और बर्बर जातियों को सभ्यता व संस्कृति के उच्चतम क्षेत्र तक उन्नत कर सकता है। यदि हम यह स्मरण करें कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता ने ऐसा ही कार्य कुछ कम अंशों में पश्चिमी, पूर्वी और केन्द्रीय एशिया में किया तो हम भारत की उस सच्ची महानता के अंग को भलीभाँति समझ सकेंगे जिन पर यथेष्ट रूप से बल नहीं दिया गया। भारत का औपनिवेशिक और सांस्कृतिक प्रसार भारतीय इतिहास की सबसे

अधिक दिव्य परन्तु विस्मृत उपकथा है जिसके लिए किसी भी भारतीय को न्यायोचित गर्व हो सकता है।

प्रश्नावली

१. "भारतीय कला और साहित्य ने विदेशों में अपना मस्तक ऊँचा किया और भारतीय संस्कृति विश्व के कतिपय अज्ञात कोनों में भी प्रविष्ट हो गयी।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

२. "भारत का औपनिवेशिक और सांस्कृतिक प्रसार भारतीय इतिहास की सबसे अधिक दिव्य परन्तु विस्मृत उपकथा है जिसके लिए किसी भी भारतीय को न्यायोचित गर्व हो सकता है।" इस कथन को समझाइए।

३. भारत के परे देशों और मलाया द्वीपसमूह के औपनिवेशीकरण के उद्देश्य के प्रकार और विस्तार का वर्णन कीजिए।

४. दक्षिणी-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति किस प्रकार फैली ? इस प्रकार के लोगों के जीवन में इसके प्रभाव का विवेचन कीजिए।

५. टिप्पणियाँ लिखिए—अंगकोरवत, बोरोबुदुर, कम्बुज का हिन्दू राज्य, स्वर्ण भूमि, शैलेन्द्र नरेश या श्रीविजय साम्राज्य और चम्पा का राज्य।

६. दक्षिणी-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रारम्भ और प्रसार का वर्णन कीजिए और उस क्षेत्र के अवशिष्ट स्मारकों का हाल लिखिए।

अथवा

दक्षिणी-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार पर एक सूक्ष्म लेख लिखिए।

११

भारतीय संस्कृति को दक्षिण भारत की देन

दक्षिण भारत या भारत का प्रायद्वीप जो तुंगभद्रा नदी के दक्षिण में है उत्तरी भारत की अपेक्षा भूगर्भशास्त्रीय दृष्टि से अधिक प्राचीन है। अतएव मनुष्य का अस्तित्व उत्तर की अपेक्षा दक्षिण भारत में अधिक प्राचीन रहा है। तिन्नवेली जिले में आदिच्चनल्लूर में हुए उत्खनन दक्षिण में पूर्व पाषाण काल के मनुष्यों के अस्तित्व की ओर संकेत करते हैं। पूर्व पाषाण काल के मनुष्य से हम उत्तर पाषाण काल के मनुष्य तक और उत्तर पाषाण काल के मनुष्य से हम प्रागैतिहासिक युग के मनुष्य तक आते हैं। यह इस बात को प्रमाणित करता है कि दक्षिण भारत में पाषाण युग से लौह युग तक मनुष्य का अस्तित्व था, परन्तु इसी के समकालीन युग में उत्तरी भारत में पाषाण से ताम्र काल आया और बाद में लौह काल। दक्षिण में पुरातत्व सम्बन्धी अवशेष इस बात की ओर संकेत करते हैं कि कालान्तर में मनुष्यों के दो समुदाय प्रकट हुए—एक सुसभ्य था और दूसरा बहुत ही कम सभ्य था और दक्षिण में आर्यों के आगमन के पूर्व ही प्रथम समुदाय सभ्यता के अधिक उच्चतम स्तर पर पहुँच गया था। यह समुदाय द्राविड़ भाषाएँ बोलता था और इसकी एक विशिष्ट जाति और वंश था। जब आर्यों का आगमन भारत में हुआ तब देशी सभ्यता के अनेक तत्त्व उस सभ्यता व संस्कृति में प्रविष्ट हो गये जो अन्त में आज की भारतीय सभ्यता के रूप में विकसित हुए। जब हम भारतीय संस्कृति को दक्षिण भारत की देन के विषय में कहते हैं तब हमारा अभिप्राय सभ्यता के उन तत्त्वों से है जो हमारे काल की जटिल सभ्यता में मिश्रित कर लिये गये थे। दक्षिण भारत की देन वस्तुतः द्राविड़ संस्कृति रही है जो आर्यों की संस्कृति में अपनी कुछ विशिष्टताओं के लिए घुलमिल गयी।

तामिल देश—कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों के दक्षिण ढाल से लेकर कुमारी अन्तरीप तक विस्तृत प्रदेश को तामिल देश कहते हैं। इस देश के निवासी तामिल भाषा बोलते थे। इस प्रदेश में तीन तामिल राज्य थे—पाण्ड्य, चेर और चोल राज्य। इन राज्यों के प्रारम्भिक इतिहास का निर्दिष्ट ठीक-ठीक पता नहीं। पाण्ड्य राज्य तामिल राज्यों में सबसे अधिक प्राचीन और प्रसिद्ध है। इसकी राजधानी मदुरा शिक्षा का केन्द्र था। इसका अन्य महत्त्वशाली

नगर कोरकई था जो दक्षिण भारत में एक बड़ा बन्दरगाह और सभ्यता का आश्रम था। पाण्ड्य नरेश अपने पार्श्ववर्ती पल्लव और चोल राजाओं से निरन्तर संघर्ष में संलग्न थे। सन् १३१० में मलिक काफ़ूर ने अन्त में पाण्ड्य नरेश को पराजित कर दिया। चोल राज्य, जिसकी राजधानी कांजीवरम थी कॉरोमण्डल समुद्रतट पर था। यद्यपि यह पल्लवों की प्रसारित शक्ति का शिकार हो गया था, परन्तु ७४० ईसवी में इस राज्य ने पुनः अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली और एक बार पुनः दक्षिण भारत में सर्वोपरि हो गया। चोल नरेशों के पास उच्चतम जलसेना थी। उनकी शासन-व्यवस्था सुसंगठित थी जिसकी विशिष्टता स्वायत्त शासन था। सन् १३१० में मलिक काफ़ूर ने अन्तिम चोल शासक को पराजित कर चोलों की स्वतन्त्रता विनष्ट कर दी। चेर राज्य में वर्तमान केरल राज्य और मालाबार तट के जिले थे। इसके नरेशों ने दक्षिण भारत की राजनीति में अधिक हस्तक्षेप नहीं किया। वे वाणिज्य-व्यवसाय की नीति का अनुकरण करते हुए शान्तिपूर्वक समृद्धिशाली बने रहे। दक्षिण में आन्ध्रों के पतन के पश्चात् पल्लवों ने धीरे-धीरे अपनी सार्वभौमिकता स्थापित कर दी। वे तीन केन्द्रों से शासन करते रहे—पश्चिम में वानापि से (कोल्हापुर के दक्षिण-पश्चिम में), पूर्व में वेंगी से और दक्षिण में कांजीवरम् से। कांजीवरम् की शाखा सबसे अधिक शक्तिशाली थी और ४५० वर्षों तक शासन करती रही। पल्लव राजवंश में अनेक राजा हुए जो केवल वीर योद्धा ही नहीं थे वरन् कला और साहित्य के उदार संरक्षक भी थे, भारतीय कला की सबसे अधिक मनोज्ञ और आकर्षक कला-शैलियों में पल्लव-कला-शैली और तक्षण-प्रणाली भी हैं। नवीं सदी के अन्त में चोलों ने पल्लवों को पराजित कर दिया।

दक्षिण

दक्षिण जो संस्कृत शब्द "दक्षिणापथ" का विकृत रूप है, विन्ध्याचल पर्वत और तुंगभद्रा नदी के मध्य में स्थित है। यह चट्टानों से युक्त पठार है जिसे गोदावरी, कृष्णा और तुंगभद्रा नदियाँ सींचती हैं। दक्षिण का प्रारम्भिक शृंखलाबद्ध निर्दिष्ट इतिहास अज्ञात-सा ही है। सबसे प्राचीन राजवंश जिसका क्रमबद्ध वृत्तान्त हमें विदित है, आन्ध्र राजकुल है जिसका वर्णन पिछले अध्याय में हो चुका है। आन्ध्र राजवंश ने ईसवी पूर्व २२५ से ईसवी सन् २२५ तक साढ़े चार शताब्दियों तक शासन किया। आन्ध्रों का पतन अनेक स्थानीय राजवंशों के उत्कर्ष के लिए संकेत था। इन राजवंशों में बारबर के वाकाटक विशेष उल्लेखनीय हैं जो ईसवी सन् ३०० में सार्वभौम हुए और २०० वर्षों तक रहे। इस राजवंश के नरेश कला-प्रेमी थे और अजन्ता की कुछ गुफाओं के निर्माण में इनका हाथ था। चौथी शताब्दी के एक वाकाटक नरेश ने गुप्त

सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय की कन्या से विवाह किया। यह वैवाहिक सम्बन्ध अत्यन्त ही महत्त्वशाली था, क्योंकि इससे उत्तरी भारत की कला और संस्कृति दक्षिण में प्रविष्ट हो गयी और अन्त में वहाँ से कांजी के पल्लवों द्वारा तामिल देश में ले जायी गयी। दूसरा राजवंश, जिसका प्रादुर्भाव इसी युग में हुआ था, कदम्ब था जो पश्चिमी घाट और समुद्र के मध्य के देश पर शासन करता था। कदम्ब नरेश जैनियों के संरक्षक थे। वे छठी सदी के मध्य तक शासन करते रहे, तब चालुक्यों ने उन्हें पराजित कर दिया। एक अन्य राजवंश जिसने दक्षिण की राजनीति में महत्त्वशाली भाग लिया गंगवंश था। इसने ईसा की दूसरी शताब्दी से ग्यारहवीं सदी तक आधुनिक मैसूर राज्य से अधिकांश प्रदेश पर शासन किया। इसके कुछ नरेश जैन धर्म के संरक्षक थे। श्रवण बेलगोला में ५७ फुट ऊँची जैन मुनि गोम्मटेश्वर की प्रतिमा सन् ९८४ गंग-नरेश के एक मन्त्री ने निर्मित करायी थी।

सन् ५५० से लगभग चालुक्य राजवंश का प्रादुर्भाव होता है। चालुक्य राजाओं में सबसे अधिक महत्त्वशाली पुलकेशी प्रथम (५५०-५६७) और पुलकेशी द्वितीय (६०५-६४२) थे। उसकी सत्ता पूर्वी समुद्रतट से लेकर पश्चिमी समुद्रतट तक समस्त दक्षिण में विस्तृत थी। चालुक्यों के दो केन्द्र हो गये, एक बतापी जिसे उन्होंने बादामी नाम दिया और दूसरा वेंगी।

बादामी के चालुक्यों ने २०० वर्षों तक अपनी सत्ता को बनाये रखा। इस वंश का अन्तिम नरेश सन् ७५४ में राष्ट्रकूट नरेश दन्तीदुर्ग द्वारा पराजित होकर मारा गया था। इस प्रकार पश्चिम भारत में राष्ट्रकूट चालुक्यों के उत्तराधिकारी बनने में समर्थ हो सके। यद्यपि चालुक्य नरेश हिन्दू थे तथापि उनमें धार्मिक सहिष्णुता थी। इसके अतिरिक्त वे कलाप्रेमी भी थे। उनके शासनकाल में अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ। बादामी की गुहाएँ तत्कालीन तक्षण-कला का सुन्दर परिचय देती हैं। धीरे-धीरे महाराष्ट्र से राष्ट्रकूटों ने सभी दिशाओं में अपनी सत्ता का प्रसार कर उसे दो सौ वर्षों तक बनाये रखा। इस राजवंश के कुछ नरेशों के पास द्रव्य की ही प्रचुरता नहीं थी, वरन् कला के प्रति अनुराग और उदारता भी थी। सुन्दर स्तम्भों-युक्त प्रकोष्ठों वाला प्रसिद्ध एलौरा का मन्दिर, जो एक ठोस चट्टान से काटा गया था, राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम (७५७-८००) का कार्य था।

सन् ९७३ में राष्ट्रकूट नरेश को चालुक्य राजाओं के एक वंशज तैलप ने पराजित कर दिया। जिस राज-कुल की स्थापना तैलप ने की वह उत्तर-कालीन चालुक्यों के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनकी राजधानी कल्याणी थी। उन्होंने दो सौ वर्षों तक इस विस्तृत प्रदेश पर शासन किया। जब उनकी शक्ति क्षीण होने लगी तब उनके साम्राज्य में से ही यादव, होयसल और काकातीय

वंशों ने अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। यादव वंश ने जो देवगिरि में स्थापित हो गया था, सन् ११९० में चालुक्यों को पराजित कर दिया। उनकी राजधानी द्वारसमुद्र थी। इस वंश के नरेशों में धार्मिक उत्साह के साथ-साथ कला-प्रेम भी था। उनके मन्दिरों में एक नवीन शिल्प शैली का प्रादुर्भाव हुआ जो होयसल-कला-शैली के नाम से विख्यात है। मैसूर राज्य में अरसीकेरी का सुन्दर ईश्वर मन्दिर होयसल-कला का एक सर्वोत्कृष्ट नमूना है। काकानीयों की राजधानी वारंगल थी और वे भी दीर्घकाल तक स्वतन्त्रता-पूर्वक शासन करते रहे। ये राज्य अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में दिल्ली से आये हुए मुस्लिम आक्रमणों के झंझावात के सम्मुख उखड़ गये और दक्षिण में हिन्दू शासन विलुप्त हो गया।

तामिल संस्कृति

तामिल प्रदेश के लोगों ने अपनी स्वतन्त्र संस्कृति का विकास किया था जो तामिल संस्कृति के नाम से प्रख्यात हुई। इस संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ युग मौर्यकाल के प्रारम्भ से लेकर आन्ध्र युग के अन्त तक विस्तृत रहा। इस संस्कृति का विवेचन निम्नलिखित है।

समाज—उस समय समाज विशिष्टतया उन व्यक्तियों से बना था जो स्वयं भूमि को जोतकर कृषि करते थे और जो अप्रत्यक्ष रूप से भूमि पर निर्भर थे। इनके नीचे कृषि के श्रमजीवी (कुदीस) थे जिनके चार समुदायों—पाणान, तुड़ीयन, परयन और कदम्बन—का उल्लेख है। कदाचित् यह जनता का वह भाग था जो आज हमारे सम्मुख दक्षिण की अछूत जातियों के नाम से आया है। इनके अतिरिक्त बढ़ई और लुहार थे। यद्यपि उस समय जुलाहे थे परन्तु उनकी भिन्न जाति नहीं थी। इसके बाद लोगों की अन्य जातियाँ जैसे मलवर, नाग आदि थीं है। प्रथम आखेट करने वाले थे जिनका वर्णन योद्धाओं के समान किया गया है जो जन-मार्गों में लोगों को लूटा करते थे; द्वितीय, मछुहारे थे जिनका स्तर समाज में निम्न श्रेणी का था। हृष्ट-पुष्ट सशक्त कृषक अच्छे सैनिक होते थे। युद्ध में वीरगति प्राप्त योद्धाओं के हेतु पाषाण के स्मारक निर्मित किये जाते थे। इस प्रकार से निर्मित समाज में ब्राह्मण उत्तर से आकर बस गये थे। अपने चरित्र की विशुद्धता और विद्या तथा ज्ञान की गहनता के कारण समाज में उन्हें अधिक प्रतिष्ठित पद प्राप्त हो गया। यद्यपि कालान्तर में समाज की वैसी ही व्यवस्था हो गयी जो उत्तर में आर्यों के समाज की थी, परन्तु चार वर्ण या चार आश्रम तामिल देश में अज्ञात थे। लोग अपने धन्धों के अनुसार समुदायों में विभक्त थे, परन्तु समाज का प्रमुख भाग दो समुदायों में विभाजित था—वे जो भूमि को जोतते थे और जो बहुसंख्यक थे; तथा वे जो कृषि-कर्म अपने लिए दूसरों से

करवाते थे और जिनका वर्ग बहुत छोटा था। इसी दूसरी श्रेणी से राजकीय कुटुम्बों का प्रादुर्भाव हुआ। इन्हें अन्य जातियों की कन्याओं से विवाह करने की अनुमति थी परन्तु वदले में उन्हें कन्याएँ देने की आज्ञा नहीं थी।

यद्यपि कहीं भी उन विभिन्न समुदायों का सम्पूर्ण वृत्तान्त प्राप्य नहीं है जिनमें दक्षिण का समाज विभक्त था, परन्तु छिटपुट हवालों से हम इनका विवरण जान सकते हैं। विविध जातियाँ अन्य दूसरी जातियों से स्पष्ट रूप से अपना अलग जीवन व्यतीत करती थीं। प्रत्येक का अपना धन्धा और विशेष अधिकार थे। अन्तर्जातीय विवाह और खान-पान में प्रत्येक समुदाय के अपने-अपने नियम और प्रथाएँ थीं। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे प्रकट हो कि रीति-रिवाजों तथा आचार-विचारों को लोगों पर लादने का प्रयास किया गया हो या निम्न श्रेणियों की उच्च वर्गों में मिश्रित हो जाने की माँग रही हो। वाद में जो सम्मिश्रण हुआ, वह उन लोगों के उच्चतम उदाहरणों का परिणाम था जिनके ज्ञान और चरित्र के लिए जनसाधारण में श्रद्धा की भावना थी। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि तामिल देश की सामाजिक व्यवस्था वहुत कुछ रक्त, पेशे, धार्मिक विश्वास और वातावरण पर आश्रित रही।

तामिल देश में यद्यपि मदुरा जैसे विशाल नगर थे परन्तु अधिकांश जनता ग्रामों में ही रहती थी। उच्च वर्ग के लोग आलीशान मकानों में रहते थे। इनके प्रवेश-द्वार बड़े प्रभावशाली होते थे। दुर्ग-निर्माण व किलेबन्दी में तामिल निवासी निपुण थे। तामिल नारियों को पूर्ण सामाजिक स्वतन्त्रता थी। बहु-विवाह की प्रथा कुछ अंश तक प्रचलित थी। प्रेम-विवाहों का प्रचार था। विवाह से पूर्व प्रेम करने की सम्भावना रहती थी। वेश्याएँ व सुशिक्षित राज-नर्तकियाँ भी रहती थीं।

वसन और आहार—तामिल लोगों की वेश-भूषा सादी थी और इसमें दो वस्त्र होते थे, एक धोती और दूसरी पगड़ी। तामिल महिलाओं द्वारा प्रयुक्त आभूषण चूड़ियाँ, हार, भुजबन्द, कन्दोरे और पायल थे। लोगों के भोजन में मांस का उपयोग होता था। मदिरा-पान में उनकी अभिरुचि थी। राजा और राजकुमार कभी-कभी महँगी सुरा के पीने में मस्त रहते थे जिसे यवन (यूनानी और रोमवासी) अपनी अच्छी दूकानों में लाते थे। अनेक प्रकार के मादक-द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था। सैनिकों का अपना अलग वर्ग बन जाने के कारण कालान्तर में मांस-भक्षण सीमित हो गया था।

आर्थिक स्थिति—कृषि के अतिरिक्त पशु-पालन, वस्त्र-बुनना, मछली पकड़ना और व्यापार करना अन्य व्यवसाय थे। पशु-पालन कृषकों से भिन्न जाति के लोगों का धन्धा प्रतीत होता है। बहुत ही महीन वस्त्र विशेषकर सूत के बुने जाते थे। दक्षिण भारत के बुनकरों का मलमल बुनने का यश-गौरव ईसवी सन्

की प्रथम सदियों में ही स्थापित हो चुका था। तामिल साहित्य में ३६ प्रकार के कपड़ों का विवरण है जो या तो तामिलनाड में बनते थे या विभिन्न उत्पादक केन्द्रों से मँगवाये जाते थे। कुछ सूत के वस्त्र इतने अच्छे बुने हुए थे कि इन्हें वायु का बना हुआ जाला या उबलते हुए दूध की वाष्प कहा जाता था। जहाँ तक धातुओं का सम्बन्ध था लौह ज्ञात था, स्वर्ण प्रचुरता से प्राप्य था और नमक बनाया जाता था। ताम्र से लोग अवगत थे और गजदन्त पर उत्कीर्ण कृतियों के हवाले भी उपलब्ध हैं। तामिल निवासी भोजन के हेतु तथा मोती और मूँगे के लिए मछलियाँ पकड़ते थे। वे मोती और मूँगे की अनेक वस्तुएँ व्यापार के हित मनोहर ढंग से बनाते थे।

सम्भवतः वस्तु-विनिमय द्वारा अत्यधिक आन्तरिक व्यापार होता था। परन्तु रोमन सिक्कों का व्यापक प्रसार यह संकेत करता है कि सिक्के अज्ञात नहीं थे। समुद्री व्यापार भी होता था। तामिल साहित्य में समुद्री यात्रा और व्यापार आदि का विवरण मिलता है। भारतीय जलपोत दूरस्थ देशों को जाते थे और चीन साम्राज्य की सामुद्रिक सीमाओं तक पहुँचते थे। प्रागैतिहासिक काल में दक्षिण भारत के निवासियों के मलाया प्रायद्वीप में जाकर बस जाने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। अति प्राचीनकाल में तामिल लोग चालडियनों से व्यापार करते थे। प्राचीन मिस्र का दक्षिण भारत से व्यापारिक सम्बन्ध था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ईसा के पूर्व की सदियों में मिस्र नरेश दक्षिण भारत से मलमल, आबनूस, दालचीनी तथा अन्य वस्तुएँ मंगाते थे।

मिस्र और दक्षिण भारत के प्राचीन परस्पर व्यापारिक सम्बन्ध के विषय में एक मिस्री अभिलेख उपलब्ध हुआ है जिसमें एक यूनानी नारी का विवरण है जिसका जलपोत कन्नड़ समुद्रतट पर दुर्घटना का शिकार हो गया था। फिलस्तीन के राजा सालोमन भारतीय सन्दल, वनमानुष, मोर, रुई, कपड़ा और अलोय लकड़ी मँगाते थे। इसी प्रकार यूनानी भी चावल और मिर्च तामिलों से ही लेते थे। व्यापार के हित तामिल देश से बाहर भेजी जाने वाली वस्तुओं में पश्चिमी घाट के मसाले, कृषि की उपज, मोती, स्वर्ण, बहुमूल्य रत्न जैसे हीरे, हरितमणि, लाल चन्दन की लकड़ी, अलोय लकड़ी, सूती वस्त्र विशेषकर मलमल और बिना बुना रेशम होता था। रोमन साम्राज्य के उत्कर्ष के बाद दक्षिण भारत के पश्चिमी देशों के साथ होने वाले व्यापार में खूब वृद्धि हुई। यह व्यापार इतना बढ़ गया था कि रोमन साम्राज्य के पूर्वी आयात का आधे से अधिक भाग भारतीयों के हाथ में था और इससे भारत में रोम के बहुसंख्यक सिक्के आते थे। मदुरा में अनेक रोमन सिक्कों की प्राप्ति यह प्रकट करती है कि तामिल देश और रोम में प्रगतिशील व्यापार विद्यमान था। विदेशी जलपोतों के नदियों के मुहानों में आने, स्वर्ण देने और उसके बदले में मिर्च-

मसाले और पश्चिमी घाट की अन्य वस्तुओं के ले जाने के हवाले हैं। तामिल देश के बन्दरगाहों में विदेशी व्यापारियों की बस्तियाँ बस गयी थीं। मालाबार तट पर बाद में विदेशी अरबों और ईसाइयों की संख्या में बहुत वृद्धि हो गयी थी। ऐसा विस्तृत व्यापार इस बात का प्रमाण है कि देश घना बसा हुआ था और सुव्यवस्थित शासन के अन्तर्गत समृद्धिशाली था। ऐसे ही शासन से वह शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो सकी जो व्यापक व्यवहार के हेतु सर्वप्रथम महत्त्वशाली आवश्यकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन सुव्यवस्थित और शान्तिमय था और जनता बहुलता तथा प्रचुरता का आनन्द उठाती थी।

धार्मिक जीवन—धर्म के क्षेत्र में लोग विविध धर्मों और सम्प्रदायों के प्रति उदार और सहिष्णु थे। लोगों के धार्मिक विश्वास और धारणाएँ तथा पूजन के ढंग विविध थे—एक ओर मृतक की समाधि पर पाषाण खड़ा करते और त्यौहारों पर पूजन करते थे तो दूसरी ओर धर्म और दर्शन के उच्चतम विविध रूप थे। इन दोनों सीमाओं के अन्तर्गत लोग विविध प्रकार से पूजन और उपासना करते थे। परन्तु इतनी विभिन्नता होने पर भी अशान्ति और विप्लव उत्पन्न करने वाली धार्मिक कट्टरता का अभाव था। उस युग में प्रमुख रूप से चार देवता थे—शिव नीलकण्ठ, कृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता बलदेव या बलराम के समान देवता, कृष्ण या विष्णु के समान देवता और उत्तरी भारत के स्कन्द या कार्तिकेय के समान देवता। इन प्रमुख देवताओं के अतिरिक्त अनेक छोटे देवी-देवता भी थे, जिनमें से प्रत्येक की पूजा अपने विशिष्ट ढंग से होती थी। अति प्राचीनकाल में चोल व पाण्ड्य नरेशों में से कुछ ने ब्राह्मणों के निर्देशन में बहुत से यज्ञ भी किये थे।

बाद में उत्तरी भारत के तीन धर्म—ब्राह्मण धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म दक्षिण में प्रसारित हो गये। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में जैन धर्म प्रसारित हो गया; इसका उल्लेख पहले हो चुका है। भद्रबाहु के आगमन के बाद से दक्षिण में धर्म का प्रसार बढ़ता ही गया और ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी तक तामिल देश में जैन धर्म की जड़ें दृढ़ हो गयी थीं तथा मदुरा जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र हो गया था। कुछ पाण्ड्य नरेश जैन धर्मावलम्बी थे। कालान्तर में शैव नयनमारों और वैष्णव अलवारों के योग से जैन धर्म तामिल देश से विलुप्त हो गया था।

यद्यपि अशोक ने तामिल देश में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था तथापि व्यक्तिगत रूप से बौद्ध धर्म-प्रचारकों ने भ्रमण कर बौद्ध धर्म का वहाँ यथेष्ट प्रचार कर दिया था। ईसवी सन् की प्रारम्भिक सदियों में नागपट्टिनम, तोन्द-माण्डलम और कांजीवरम में बौद्ध धर्म के प्रधान केन्द्र हो गये थे। ह्वानच्यांग के वृत्तान्त के अनुसार कांजीवरम में एक सौ बौद्ध मठ थे जिसमें दस हजार बौद्ध

भिक्षु रहते थे। सातवीं शताब्दी के अन्त तक रूढ़िवादी हिन्दू धर्म का दक्षिण में प्रचार हो गया और इससे बौद्ध और जैन धर्म क्षीण हो गये थे। इस धर्म के दो प्रमुख सम्प्रदाय शैव नयनमारों और वैष्णव अलवारों ने भक्ति-मार्ग को जन्म दिया। नयनमार शैव सम्प्रदाय के संस्थापक थे। शैव-साहित्य के अनुसार ऐसे ६३ नयनमार हुए हैं। ये महान् सन्त थे जिनके रचे हुए भक्ति के भजन अत्यधिक भावपूर्ण थे। इसी प्रकार वैष्णव अलवार भी सन्त थे। इनकी संख्या १२ थी। विष्णु की उपासना में इन्होंने गीतों ओर स्तुतियों की रचना की थी। इनके रचे हुए भजन पूजन और उपासना के समय विष्णु के मन्दिरों में सदैव गाये जाते थे।

साहित्य—ईसा की सातवीं सदी के पूर्व ही तामिल देश में भाषा को व्यवस्थित रूप दे दिया गया था। ईसवी सन् तीसरी सदी के पूर्व इस प्रदेश में तोल्कप्पियर नामक प्रसिद्ध वैयाकरण हुआ। इसके काल से तामिल साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव पड़ने लगा। ईसा की प्रथम तथा द्वितीय शताब्दियों में रचित तामिलों की कतिपय कविताएँ आज भी विद्यमान हैं। परन्तु तामिल साहित्य की सबसे अधिक प्राचीन पुस्तक जो संस्कृत के प्रभाव से विमुक्त है, 'कुराल' ग्रन्थ है जिसका प्रसिद्ध लेखक तिरुवल्लुवर ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में उत्पन्न हुआ था। इसने साहित्यिक श्रेष्ठता का स्तर निर्दिष्ट किया। कुराल में १३३ परिच्छेद हैं जिनमें से आधे से अधिक राजनीति व अर्थ-नीति पर हैं। इसी युग में अन्य दो प्रसिद्ध तामिल महाकाव्य 'सिल्पाधिकारम' और 'मणिमेकलम' भी रचे गये। महाकाव्यों में तामिल साहित्य सर्वोपरि माना जाता है। इसके पाँच प्रसिद्ध महाकाव्य और लघुकाव्य आज भी विद्यमान हैं। तामिल साहित्य के अनेक काव्य और ग्रन्थ विविध जैन और बौद्ध विद्वानों द्वारा रचित हैं। पल्लव-काल में जो तामिल साहित्य रचा गया वह प्रायः श्रुतिभाष्य था, क्योंकि यह वैष्णव अलवारों तथा शैव नयनमारों का युग होने से सन्तों के मन्त्र, भजन, गीत, स्तुतियाँ आदि साहित्य में ग्रन्थ रूप में संग्रहीत कर लिये गये। ईसवी सन् की बारहवीं सदी तामिल साहित्य का महत्त्वपूर्ण युग है क्योंकि इस काल में तामिल के सबसे बड़े मध्ययुगीन कवि जयकोन्दन, सुप्रसिद्ध भाष्यकार आदियारक्कुनल्लर, शैव सन्त कवि सेक्किलर, काम्बर, ओत्ताकुत्तर, व पुगलेन्दी जैसे दिग्गज साहित्यकार हुए थे।

ललित-कलाएँ—तामिल निवासी ललित कलाओं में विशिष्ट अभिरुचि रखते थे। कला के क्षेत्र में उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया। वे वाद्य-यन्त्रों का प्रयोग करते थे जिनमें आठ छेद वाली बाँसुरी भी होती थी। नृत्य-कला का उन्हें अभ्यास था और संगीत तो उनकी शिक्षा का अंग बन गया था। अभिनय-कला इस काल में प्रचलित थी। पल्लव और चोल नरेशों के

संरक्षण में चित्र-कला तथा तक्षण-कला का उच्चतम विकास हुआ था। दक्षिण के अनेक भव्य मन्दिरों और भवनों का अस्तित्व दक्षिण भारत के राजाओं के भवन-निर्माण-कला और तक्षण-कला के प्रति प्रेम को प्रमाणित ही नहीं करता, वरन् वास्तु-कला के क्षेत्र में एक नवीन प्रणाली का प्रभाव भी प्रकट करता है जो पल्लव-चोल कला-शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

सामुद्रिक प्रक्रियाएँ और वाणिज्य-व्यापार—तामिल राज्य समुद्रतटीय प्रदेश होने के कारण, वहाँ के लोग निर्भीक रूप से समुद्री यात्रा करने वाले हो गये। भारतीय जलसेना का निर्माण करने और समुद्री व्यापार का विकास करने वाले वे सर्वप्रथम भारतीय थे। चोलों की सशक्त जलसेना ने सिंहलद्वीप पर विजय प्राप्त कर ब्रह्मा के समुद्रतटीय द्वीपों, मलाया प्रायद्वीप, मलाबार समुद्रतट के द्वीप, निकोबार द्वीप तथा जावा-सुमात्रा के द्वीपसमूह को भी विजय कर वृहत्तर भारत की नींव डाली थी। तामिल देश मसालों, हाथीदाँत की वस्तुओं, मोतियों और बहुमूल्य रत्नों से सम्पन्न था। मलमल, रेशम और ऊनी वस्त्र बनाना उसकी विशेषता थी। ये बहुमूल्य वस्तुएँ एक ओर तो मिस्र, रोम और अरब देश को भेजी जाती थीं; तो दूसरी ओर मलाया द्वीपसमूह और चीन देश को। इनके बदले में विदेशी स्वर्ण विशेषकर रोम से दक्षिण भारत में आता था। दक्षिण भारत के बन्दरगाहों में रोम के वणिकों के आवास केन्द्र थे। कावेरीपट्टम में ऐसे ही एक केन्द्र का उल्लेख एक तामिल लेखक ने किया है। कतिपय पाण्ड्य नरेशों के पास रोमन सैनिक थे और वे अंगरक्षकों के पदों पर नियुक्त किये गये थे।

तामिल-शासन—तामिल देश ने उच्चतम, नियमित और सुव्यवस्थित शासन का आनन्द उठाया था। यद्यपि उसमें राजतन्त्र का प्रचार था, परन्तु उसमें निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता का सर्वथा अभाव था। शासन-संचालन में परामर्श देने के लिए पाँच महासमितियाँ थीं। राजसभा अपने वैभव और भव्यता के लिए प्रख्यात थी। राजा प्रजा-हितैषी होता था। वह उसके सुख-दुख में भागी होता था और निस्संकोच प्रजा से मिलता था। न्याय-दान का समुचित प्रबन्ध था। दीवानी और फौजदारी के सभी मामलों में राजा का निर्णय अन्तिम, सर्वमान्य और सर्वोपरि होता था। दण्ड-विधान अत्यन्त कठोर था।

तामिल लोगों का अधिकांश भाग ग्रामों में निवास करता था और अनेक ग्राम मिलकर शासन के लिए 'कुर्रम' नाम की इकाई निर्मित करते थे। अनेक कुर्रम को सम्मिलित कर एक जिले का निर्माण होता था जिसे 'नाडु' कहते थे और ऐसे नाडु का एक समुदाय 'कोट्टम' नामक डिवीजन (division) या भुक्ति बनता था एवं अनेक कोट्टम से मिलकर एक 'मण्डल' या प्रान्त होता था। इनमें से

प्रत्येक भाग शासन के एक अधिकारी के अन्तर्गत होता था सबसे विशाल भाग राजवंश के किसी सदस्य के अधिकार में होता था। कुर्रम का शासन ग्राम-परिषद् के हाथ में था। भूमि-कर राज्य की आय का प्रमुख साधन था, यद्यपि समकालीन सहित्य में अन्य अनेक करों का उल्लेख है। अभाव व अकाल के समय कर में छूट दी जाती थी। जन-मार्गों और सिंचाई के साधनों के निर्माण और उन्हें बनाये रखने में शासन द्वारा प्रचुर धन व्यय किया जाता था।

परन्तु महत्त्वशाली तत्त्व जो तामिल शासन की विशिष्टता थी, ग्रामों में स्वायत्त शासन की प्रणाली का विकास था। प्रत्येक ग्राम अपना स्थानीय शासन स्वयं करता था और इस हेतु साधारण परिषद् होती थी जो ग्राम की कार्य-कारिणी का वार्षिक निर्वाचन करती थी। इसके अतिरिक्त शासन की विविध शाखाओं की देख-भाल करने के हेतु अनेक कार्य-समितियाँ होती थीं। ग्राम-परिषद् के नाम पर कर संग्रह किये जाते थे। ग्राम-परिषद् न्याय-दान करती थी और अभिलेखों को नियमित रूप से रखती थी।

आर्य संस्कृति का दक्षिण में शान्तिपूर्वक प्रवेश और उसका प्रभाव

उत्तरी भारत से दक्षिणी भारत विन्ध्याचल पर्वत, नर्मदा और ताप्ती द्वारा विभक्त है। महाकाव्यों में इसे 'दण्डकारण्य' और 'महाकान्तार' नामक सघन वनों से आच्छादित कहा गया है। अतएव प्रारम्भिक आर्यों के लिए इसमें प्रवेश करना दुष्कर कार्य था। फिर भी दक्षिण में आर्य-ऋषि अगस्त्य द्वारा प्रारम्भिक आर्य उपनिवेश बसाने की गाथा है। दक्षिण भारत में आर्य प्रथाओं को सर्व-प्रथम प्रस्तुत करने वाले ऋषि अगस्त्य ही थे। विंध्याचल पर्वत और नर्मदा नदी की घाटी में से आर्यों का दक्षिण में प्रवेश करना साधारणतया ईसा पूर्व ८०० में "अत्रेय ब्राह्मण" के युग में माना जाता है। यद्यपि दक्षिण की सीमा पर आर्यों के विदर्भ जैसे राज्य स्थापित हो गये थे; तो भी आर्यों का दक्षिण में जाने का जन-मार्ग पश्चिमी तट पर था। पाणिनि तक (ईसा पूर्व सातवीं सदी) दक्षिण के विषय में प्राप्त हमारा ज्ञान तुलनात्मक दृष्टि से न्यून है परन्तु जब हम कात्यायन (ईसा पूर्व ३००) तक आते हैं तब इसमें अत्यधिक वृद्धि हो जाती है और पतंजलि (ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का मध्य काल) के समय तो सुदूर दक्षिण का विवरण भी इसके अन्तर्गत आ जाता है क्योंकि इस युग में कांची को विद्वान् ब्राह्मणों की बस्ती कहा गया है। बाद में, अशोक के युग में आर्य-भारत को दक्षिण के विषय में खूब ज्ञान हो गया था। अशोक का तेरहवाँ चट्टान-अभिलेख दक्षिण के राज्यों का निर्दिष्ट और ठीक-ठीक विवरण प्रदान करता है। स्वयं अशोक ने ईसा पूर्व २५६ में दक्षिण में एक भिक्षुक के नेतृत्व में बौद्ध धर्म-प्रचारकों को भेजा था। ऐसा कहा जाता है कि इन्होंने दक्षिण में साठ सहस्र व्यक्तियों को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी थी। इस

मौर्ययुग में बौद्ध, जैन और ब्राह्मण दक्षिण में प्रयाण कर गये और वहाँ उन्होंने उपनिवेश स्थापित किये। वे वहाँ शान्तिपूर्वक रहते और अपनी धार्मिक क्रिया-विधियों एवं प्रथाओं का पालन करते थे। इन्होंने तामिल समाज पर जो प्रभाव डाला वह सत्ता की जबरदस्ती की अपेक्षा अनुकरणीय दृष्टान्त व आदर्श द्वारा अधिक था। इस समय आर्य ब्राह्मण तामिल संस्कृति में समाज के नेता के पद पर समुचित रूप से प्रतिष्ठित हो गये थे और अनेक कार्यों के हेतु उनकी सहायता की आकांक्षा की जाती थी। यह इस बात का प्रमाण है कि अशोक के युग में आर्य संस्कृत का प्रभाव पूर्णरूपेण स्थापित हो चुका था। तामिल भाषा के सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक ग्रन्थ 'संगम' पर जैनियों और बौद्धों के प्रभाव के अतिरिक्त आर्यों और संस्कृत भाषा का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत में प्रवेश करने के लिए पूर्वी और पश्चिमी दोनों तटों पर जलमार्ग थे परन्तु पश्चिमी तट का मार्ग कदाचित् सुगम था। इन मार्गों का उपयोग दक्षिण में प्रयाण करने के हेतु होता था जिसका पुष्टिकरण संस्कृत साहित्य में दक्षिण भारत के विषय में प्राप्त विवरण से होता है। अतएव हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि द्राविड़ और आर्य संस्कृतियों के मध्य सम्पर्क के सुअवसरों की प्रचुरता थी और इनके पारस्परिक प्रभाव की वृद्धि भी हुई।

पल्लवों के शासनकाल में दक्षिण भारत का आर्यीकरण पूर्ण हो चुका था। उनके अनुदान यह प्रकट करते हैं कि छठी शताब्दी के अन्त तक दक्षिण में आर्यों की सामाजिक व्यवस्था की जड़ दृढ़ हो गयी थी। बौद्धायन ब्राह्मणों को दिये गये अनुदान का स्पष्ट उल्लेख यह प्रकट करता है कि उत्तर भारत के धर्म-शास्त्रज्ञों ने पल्लव राज्य में सत्ता प्राप्त कर ली थी, संस्कृत ने अपनी प्रभुता प्रतिष्ठित कर ली थी और प्रारम्भ के कतिपय राजकीय अभिलेखों के अतिरिक्त अवशिष्ट अभिलेखों के हेतु इस भाषा का उपयोग होता था। कालिदास और भैरवी की कविताएँ तथा वराहमिहिर के ग्रन्थ पल्लव देश में प्रख्यात हो गये थे। कुर्रम के मठों में वेदों के अध्ययन करने वाले १०९ परिवार रहते थे। तामिल साहित्य भी आर्यों से प्रभावित होकर पल्लव संरक्षण में समृद्ध होता गया और फलतः तामिल साहित्य के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना हुई। संस्कृत ज्ञान के आश्रम और बाद में दक्षिण में शिक्षा के सबसे महान् केन्द्र कांची के विश्वविद्यालय ने दक्षिण में संस्कृत के प्रसार में महत्त्व-पूर्ण कार्य किया। न्यायभाष्य का रचयिता तर्कशास्त्रज्ञ वात्स्यायन जो ईसवी सन् की चतुर्थ सदी में हुआ था कांची का पण्डित था। महान् बौद्ध आचार्य और दार्शनिक दिगनाग अपनी बौद्धिक और धार्मिक पिपासा शान्त करने और कदम्ब राजकुल का मयूरवर्मा भी पाँचवी सदी में उच्च शिक्षा की प्राप्ति हेतु कांची

गये थे। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध बौद्धाचार्य धर्मपाल कांची निवासी ही थे। जिस प्रकार उत्तरी भारत में नालन्दा बौद्धिक जीवन पर अपना प्रभुत्व रखता था, उसी प्रकार दक्षिण में कांची का विश्वविद्यालय था। अतएव समुचित रूप से यह दावा किया जा सकता है कि पल्लवों की कांची शिक्षा का महान् केन्द्र था जहाँ से दक्षिण भारत तथा सुदूरपूर्व के भारतीय उपनिवेशों में आर्य संस्कृति का प्रसार होता था। पल्लव-प्रभाव के अन्तर्गत चम्पा और कम्बुज के हिन्दू उपनिवेशों में आठवीं सदी तक आर्य संस्कृति और सभ्यता का प्रसार और प्रचार निरन्तर होता रहा। कम्बुज और चम्पा में दक्षिण भारत का शैव सम्प्रदाय राजकीय धर्म हो गया था। संस्कृत उनकी शासकीय भाषा बन गयी थी और चम्पा में सौ से अधिक संस्कृत अभिलेख उपलब्ध हो चुके हैं। कम्बुज में पल्लव लिपि में ही संस्कृत के इन अभिलेखों की रचना हुई थी और वहाँ के नरेशों तथा राजकुल के व्यक्तियों के नाम भी जैसे महेन्द्र वर्मन पल्लवों के नामों के अनुरूप ही होते थे। कम्बुज की शिल्प-कला-कृतियाँ निस्सन्देह पल्लव-कला-शैली की परम्पराओं का अनुकरण करती हैं। उन पर पल्लव-कला-प्रणाली का गहन प्रभाव है। इसी प्रकार चम्पा के प्रासाद, भवन, मन्दिर आदि भी प्रमुख रूप से दक्षिण शैली के ही हैं। जावा, सुमात्रा और मलाया द्वीपसमूह के शैलेन्द्र नरेशों ने भी दक्षिण भारत के राज्यों से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर दक्षिण से अपनी सांस्कृतिक प्रेरणा प्राप्त की थी। उनके कई अभिलेखों में दक्षिण भारत की लिपि का प्रयोग किया गया है और सुमात्रा में वंशों के अनेक नाम दक्षिण भारत के नामों के समान ही थे। ये सब इस बात को यथेष्ठ रूप से प्रदर्शित करते हैं कि सुदूरपूर्व के हिन्दू उपनिवेशों में जो सांस्कृतिक प्रभाव था उसका मूल उद्गम दक्षिण भारत में था। निस्सन्देह भारतीय संस्कृति के प्रचार और प्रसार के प्रति दक्षिण भारत की यह बड़ी देन है।

दक्षिण की सांस्कृतिक देन

दक्षिण भारत की कुछ विशिष्टताएँ हैं अर्थात् उसकी सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता और निरन्तरता तथा उसकी संस्कृति की एकता। अति प्राचीनकाल से दक्षिण के पाण्ड्य, चोल और चेर राज्य युगों तक अपनी परम्पराओं को बनाये रखते हैं। इन राज्यों की सत्ता और अस्तित्व को राजकुल के परिवर्तन प्रभावित न कर सके। दक्षिण के पाण्ड्यमण्डलम, टोण्डमण्डलम और केरल वास्तव में भौगोलिक इकाइयाँ थीं जिनका प्रतिष्ठित और निरन्तर बना रहने वाला राजनीतिक तथा सांस्कृतिक अस्तित्व था। इसके विपरीत, उत्तरी भारत में इतिहास विशेष रूप से राजवंशों पर निर्भर था। अतएव दक्षिण निर्दिष्ट सांस्कृतिक देन प्रदान कर सका। सुदूर पूर्वीय देशों में हिन्दू संस्कृति के प्रमाण

व प्रचार में दक्षिण भारत की जो देन रही है उसका वर्णन ऊपर हो चुका है। अन्य क्षेत्र में उसकी जो देन है उसका विवेचन निम्नलिखित है।

भक्ति-सम्प्रदाय—दक्षिण की सांस्कृतिक देन भक्ति-सम्प्रदाय के रूप में है। भक्ति के सिद्धान्त का अभिप्राय इष्टदेव के प्रति अटूट और अगाध भक्ति, श्रद्धा और प्रेम है। अपने इष्टदेव में विश्वास और उसके प्रति भक्ति रखना मोक्ष-प्राप्ति का साधन माना जाने लगा। भक्ति-सम्प्रदाय में अमूर्त और अदृश्य देवता की ऐसे रूप में कल्पना की जाती है कि वह मानव कार्यों में हस्तक्षेप करने के लिए समर्थ हो। ईश्वर की मानसिक कल्पना भक्त के लिए शारीरिक रूप में परिवर्तित कर दी जाती है। निर्लिप्त ब्रह्म या ईश्वर भक्त के इष्टदेव के रूप में बदल दिया जाता है, भक्तों द्वारा मन्दिर निर्माण किये जाते हैं और विभिन्न प्रकार की प्रतिमाओं के रूप में ईश्वर की प्रतिष्ठा इन मन्दिरों में की जाती है। भक्ति-सम्प्रदाय के अनुयायी वहाँ जाते हैं और मूर्ति का पूजन करते हैं। देवता की कल्पना के अनुरूप ही उससे पूजन की विधि भी निर्दिष्ट कर दी गयी। ऐसा माना जाने लगा था कि जो व्यक्ति शरीर, मन, वचन व कर्म से अपने आपको, ईश्वर को अथवा इष्टदेव को समर्पित कर देते हैं, वे मोक्ष पाते हैं और परमब्रह्म को प्राप्त करते हैं। इन सब बातों ने धर्म को व्यावहारिक पूजन तथा भक्ति के लिए विशिष्ट रूपों में संगठित कर दिया। भक्ति-आन्दोलन, जिसका जन्म विष्णु और शिव के पूजन से हुआ था, दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति के प्रवेश करने के पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। अतएव यह आर्यों के पूर्व का सिद्धान्त है। दक्षिण भारत में शिव और विष्णु के भक्तों ने इस भक्ति-सम्प्रदाय का अत्यधिक प्रसार किया। शैव सम्प्रदाय के संस्थापक सन्त नयनमारों की शिव-भक्ति असीम थी। इनके भक्ति के भजन अत्यन्त सरस और भावपूर्ण थे। शैव साहित्य के अनुसार नयनमार या शिव-भक्त सन्त हुए हैं। इन सन्तों ने भक्ति और भजन के भावपूर्ण साहित्य के द्वारा तामिल देश में एक नवीन स्फूर्ति उत्पन्न कर दी थी। इसी प्रकार विष्णु के भक्त अलवारों ने भी भक्ति को प्रोत्साहित किया। अलवारों ने विष्णु की स्तुति में भक्ति-रस पूर्ण काव्य की रचना की। पल्लव-शासन के 'संगम' साहित्य में भक्ति का दिव्य उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। शैव सम्प्रदाय का 'तीवरम' और 'तिरुवाचकम' तथा वैष्णव सम्प्रदाय का 'प्रबन्ध' भक्ति-साहित्य है जो पल्लव-युग का है। भक्ति-सम्प्रदाय का धार्मिक साहित्य 'आगम' के विकास को सप्रमाण प्रकट करता है। आगम मन्दिर-पूजा के मूल में है और भक्ति-सम्प्रदाय के धर्म का प्रत्यक्ष फल है। शैव और वैष्णव दोनों सम्प्रदायों का समस्त आगम साहित्य मन्दिर-पूजा की आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु निर्मित हुआ था।

शैव और वैष्णव मत के रूप में भक्ति-सम्प्रदाय उत्तरी भारत में प्रसारित हुआ। वैष्णव मत महाराष्ट्र में पंढरपुर के चतुर्दिक केन्द्रीभूत हो गया और बाद में इसे मथुरा में कृष्ण की जन्मभूमि के नाते अनुकूल सुविधाजनक स्थान प्राप्त हो गया। परन्तु बारह से पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्ति-मत ने उत्तरी भारत में वैष्णव सम्प्रदाय का निर्दिष्ट रूप ले लिया था। इस मत के अनुसार अब विष्णु के दो अवतार—राम और कृष्ण—के प्रति विशिष्ट श्रद्धा, प्रेम और भक्ति होने लगी थी। तुलसीदास की प्रसिद्ध हिन्दी रामायण के द्वारा राम ने प्रमुख रूप से अपना प्रभुत्व बनाये रखा और कृष्ण ने गुजरात में वल्लभाचार्य और बंगाल में चैतन्य के अन्तर्गत लोगों को अत्यधिक आकर्षित किया।

भक्ति-सम्प्रदाय का विरोध—यह स्मरण रखने योग्य है कि यदि भक्ति-सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव दक्षिण में हुआ था तो उसके विरोध का सूत्रपात भी वहीं से हुआ। जब दक्षिण भारत में विविध आगमों द्वारा निर्धारित नियम प्रणाली के अन्तर्गत मन्दिरों में पूजन अपने सर्वोच्च विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचा तो स्वाभाविक प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई एवं इसके आवश्यक प्रतिबन्धों तथा बहिष्कारों के विरोध में सुधारवादी आत्माओं का उत्कर्ष हुआ। इस विरोध के प्रमुख समर्थक सिद्ध (तामिल में सित्त) नाम से प्रख्यात हुए। इन्होंने यौगिक प्रणाली के धर्म पर अधिक बल दिया और इसे सर्वश्रेष्ट बतलाया। विरोध का साधारण रूप इस प्रकार था, "प्रतिमाओं और मन्दिरों में ईश्वर की खोज करते हुए इधर-उधर भटकना मूर्खता है। तुम्हारा ईश्वर स्वयं तुम में है और अनिवार्य बात तो इसे समझ लेना ही है।" इस विरोध के पक्ष में दक्षिण के तिरुमुलर जैसे प्रारम्भिक लेखक के ग्रन्थों से कुछ अंश उद्धृत किये जा सकते हैं। यद्यपि पूजा की विविध प्रणालियों के विरुद्ध यह विद्रोह दक्षिण में ही उत्पन्न हुआ, परन्तु उत्तरी भारत में व्यावहारिक धर्म के रूप में इस्लाम का आगमन होने से इसे अधिक प्रेरणा प्राप्त हुई। उत्तरी भारत में कबीर और नानक इसके महान् समर्थक थे।

लिंगायत सम्प्रदाय का उत्कर्ष—इस्लाम के आगमन तथा प्रारम्भिक मुस्लिम शासकों की मूर्ति-पूजा विरोधी प्रवृत्तियों के कारण उत्तरी भारत ब्राह्मण धर्म के सुरक्षित अनुकरण के हेतु अब शान्तिमय स्थान नहीं रहा था। इससे बहु-संख्यक ब्राह्मण दक्षिण की ओर प्रयाण कर गये और अपने साथ ब्राह्मण धर्म की कतिपय विशिष्टताओं को जो उस समय उत्तरी भारत में प्रचलित थीं, लेते गये। वे अपने साथ शक्ति-सम्प्रदाय का दूषित रूप तन्त्रवाद भी ले गये जो शैव मत का एक दृढ़ और कठोर अंग था। इससे सर्वोपरि देवी का किसी न किसी रूप में पूजन प्रारम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त दक्षिण में शैव मत के पाशुपत और कापालिक सम्प्रदायों का विकास भी हुआ। ये शैव मत के

अधिक कठोर और कट्टर उपासक थे। इसके बाद में शैव मत का अन्य रूप वीरशैव या लिंगायत का उत्कर्ष हुआ जिसकी सर्वश्रेष्ठ उर्वरा भूमि दक्षिण में थी।

धार्मिक उदारता तथा धार्मिक संपीड़न का अभाव—मन्दिरों में देवी-देवताओं के पूजन में तथा शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के भक्ति-सिद्धान्त के विकास के युग में धार्मिक उदारता व सहिष्णुता की प्रचुरता रही तथा धार्मिक संपीड़न का अभाव रहा है। राज्य और उसका शासक स्पष्टतया विभिन्न माने जाते थे। नरेशों ने व्यक्तिगत रूप से चाहे जो पीड़ा या क्लेश दिये हों, उनका व्यक्तिगत धर्म कभी भी राज-धर्म के पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया गया जैसा कि अनेक मुस्लिम राजाओं ने किया था। राजा की इस विलक्षण स्थिति ने धर्म में एकरूपता लाने हेतु कोई अवसर प्रदान नहीं किये और परिणामस्वरूप इससे धार्मिक पीड़ा और कष्ट का एक प्रमुख कारण नष्ट हो गया। लोगों के प्रत्येक समुदाय को अपना-अपना धर्म पालन करने में पूर्ण स्वतन्त्रता थी। उदारता व सहिष्णुता की यह भावना समस्त सार्वजनिक जीवन में व्याप्त थी और मानव-कार्यों के विविध अंगों में यह अभिव्यक्त हुई थी। राजाओं ने शासन में इसी सिद्धान्त को अपनाया और इससे स्वायत्त शासन की संस्थाओं का विकास हुआ। फलतः दक्षिण में सामाजिक राजनीतिक जीवन नियमित हो गया। ऐसे अनेक अभिलेख हैं जो यह प्रमाणित करते हैं कि चोल शासन में शासकीय और सामाजिक कार्यों के लिए स्वतन्त्र स्थानीय संस्थाएँ विद्यमान थीं।

दक्षिण के मन्दिर—ये स्वयं ही संस्थाएँ थे—कला धर्म की चेरी है। भक्ति-सम्प्रदाय, आगम-साहित्य और मन्दिर-पूजा ने स्वाभाविक रूप से दक्षिण में मन्दिर-निर्माण-कला के विकास को प्रेरित किया। विष्णु और शिव के दक्षिण भारत के मन्दिर अपनी भव्यता, दिव्यता और विशालता में भक्ति-सम्प्रदाय के उपासकों की भक्ति, श्रद्धा और प्रेम के सजीव स्मारक हैं। इन उपासकों ने मन्दिरों के निर्माण में उदारता से धन और श्रमदान किया। कालान्तर में ये मन्दिर अपने-अपने स्थानीय लोगों के सार्वजनिक और धार्मिक जीवन के केन्द्र बन गये। वहाँ ये लोग पूजन करने, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर वाद-विवाद करने तथा सामाजिक मनोज्ञता व सुख-सुविधा के हेतु एकत्र होते थे। मन्दिर के मण्डप में लोग सार्वजनिक सभा तथा धार्मिक कीर्तन और कथा-नाटक करते थे। भजनों के गाने के लिए मन्दिरों में विशेष रूप से प्रबन्ध किया जाता था। प्रारम्भिक युगों में प्रायः प्रत्येक मन्दिर के साथ एक निःशुल्क पाठशाला भी होती थी और अधिक महत्त्वशाली मन्दिरों में महाविद्यालय थे जिनमें धार्मिक और ऐहिक विषयों की उच्च शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी। इन मन्दिरों तथा विद्यापीठों के व्यय के लिए

अनेक ग्राम अनुदान में दिये जाते थे। प्रसिद्ध इण्णाइरम (Ennayiram) मन्दिर का महाविद्यालय जिसमें ३४० विद्यार्थी रहते थे, विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा देता था और इसमें शिक्षा के हेतु दस विभाग थे। अतएव दक्षिण भारत के मन्दिर स्वयं ही संस्थाएँ बन गये थे।

दक्षिण भारत में कला—अनेक सुन्दरतम बौद्ध-स्तूप समस्त दक्षिण में आन्ध्रों के समय निर्मित किये हुए प्रतीत होते हैं। परन्तु इनके कतिपय अवशेष ही बच पाये हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध कृष्णा नदी के मुहाने पर अमरावती का महान् स्तूप था। इस स्तूप की रेलिंग ही संगमरमर की नहीं बनी हुई थी अपितु इसका विशाल गुम्बद भी इसी पाषाण का बना हुआ था। जब यह पूर्णरूपेण अखण्ड रहा होगा, तब इसका विलक्षण प्रभाव रहा होगा। अब समस्त स्तूप भग्नावशेष में है और इसके रेलिंग या बाड़ के कुछ भाग तो मद्रास के सरकारी अजायबघर में और कुछ लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में भेज दिये गये हैं जहाँ ये प्रमुख सीढ़ियों को सुशोभित करते हैं। सम्भवतः स्तूप के निर्माण का सूत्रपात ईसा पूर्व दूसरी सदी में हुआ था, परन्तु पाषाण की रेलिंग या वेष्टनी-वार शताब्दियों बाद जोड़ी गयी थी। इसके गुम्बद और वेष्टनी पर बुद्ध के जीवन के विविध दृश्य उत्कीर्ण किये गये हैं। इस अलंकरण में प्रतीकों तथा मूर्तियों दोनों का समन्वय है। प्रारम्भ काल में कमल या पद चिह्न के प्रतीक द्वारा बुद्ध को प्रदर्शित किया गया था, परन्तु बाद में बुद्ध की प्रतिमाएँ निर्मित की गयीं। इस प्रकार यह परिवर्तन काल की ओर संकेत करता है। इस स्तूप की मूर्तियाँ पतली और प्रसन्न-वदन वाली हैं तथा उनकी मुद्राएँ व वक्रता विशिष्ट हैं। स्तूप की तक्षण-कला उस युग के सुखी व स्वच्छन्द जीवन की झाँकी प्रदर्शित करती है तथा तत्कालीन राजप्रासादों, चतुर्दिक दीवार वाले नगरों, भवनों, गृहों और मन्दिरों की दशा प्रकट करती है। ये सब इस बात की ओर संकेत करते हैं कि उस सुदूर अतीत में भी कला की विशिष्ट प्रणाली विकास के उच्चतम स्तर पर पहुँच चुकी थी। अमरावती के अतिरिक्त नागार्जुनीकोंडा में भी इस युग के अन्य महत्त्वशाली स्मारक चिह्न उपलब्ध हुए हैं। इनमें एक स्तूप, दो चैत्य और एक विहार है। स्तूप के पार्श्ववर्ती भाग में चूने के पत्थर के खण्ड प्राप्त हुए हैं जिन पर बुद्ध-जीवन के दृश्य अंकित हैं।

परन्तु दक्षिण भारत में वास्तु-कला और तक्षण-कला का इतिहास पल्लव मन्दिरों से प्रारम्भ होता है जो एक नवीन शिल्प-प्रणाली, जिसे द्राविड़-शैली कहते हैं, प्रस्तुत करते हैं। कांची और अन्य स्थानों के मन्दिरों के अतिरिक्त, चट्टानों में से काटकर बनाये हुए मन्दिर जैसे मामल्लपुरम के सात रथ इसी शैली के बनाये हुए हैं। उचित रूप से इसे कला की पल्लव-शैली कहा जा

सकता है। वस्तुतः भारतीय संस्कृति को पल्लवों की देन अद्भुत रही है। प्रारम्भिक समय से उन्होंने अपनी वास्तु-कला का सृजन किया जो दक्षिण की समस्त शैलियों का आधार बन गयी है।

दक्षिण के गुहा तथा अन्य मन्दिर एवं पल्लवों के वास्तु-कला के दूसरे अवशेष हिन्दू-कला के इतिहास में एक महत्त्वशाली अध्याय हैं। महान् पल्लव नरेश नरसिंह वर्मन (६२५-६४५) द्वारा समुद्रतट पर स्थापित महावल्लीपुरम या मामल्लपुरम में अनेक गुहा मन्दिर हैं जो विविध सुन्दरतम उत्कीर्ण आकृतियों से अलंकृत हैं। परन्तु इन सबमें सबसे अधिक विलक्षण रथों या पगोडाओं अथवा मन्दिरों का समूह है जो पाँच पाण्डव और द्रौपदी के मन्दिरों के नाम से प्रख्यात है। मन्दिर समुद्रतट पर एक ही अखण्ड चट्टान में से काटकर बनाया गया है। एक साधारण मन्दिर की समस्त बातें इनमें विद्यमान है और आज भी ये पल्लव-कला की श्रेष्ठता के अमर स्मारक के रूप में खड़े हैं। दक्षिण भारत के तक्षण-शिल्प का प्रौढ़ रूप सर्वप्रथम इन मन्दिरों में ही दृष्टिगोचर होता है। मामल्लपुरम की चट्टानों में से काटी हुई एक मूर्ति ने बहुत ही ख्याति प्राप्त कर ली है। जो दृश्य इस प्रतिमा में प्रदर्शित किया गया है उसे साधारण रूप से अर्जुन का पश्चात्ताप माना गया है, परन्तु वास्तव में यह गंगावतरण का दृश्य है। यह मूर्ति ६८ फुट लम्बी व ४३ फुट चौड़ी विशाल खड़ी चट्टान में से काटी गयी है। कंकाल-मात्र विशिष्ट भगीरथ पृथ्वी पर गंगा के अवतरण के हेतु तपस्या में संलग्न हैं; समस्त दिव्य और पार्थिव यहाँ तक कि जन्तु-जगत भी उनका साथ दे रहा है। यह विशाल प्रभावोत्पादक दृश्य अत्यन्त ही भावपूर्ण, सजीव वास्तविक है। पल्लव-कला का दूसरा आश्चर्यजनक उदाहरण कांची का कैलाश मन्दिर है। वहाँ प्रतिमा प्रकोष्ठ पर पिरामिड के ढंग का शिखर है और समतल छत का मण्डप है जिसके चतुर्दिक छोटे-छोटे प्रकोष्ठों की शृंखला है। इस मन्दिर की निर्माण-शैली चट्टान काटकर मन्दिर बनाने की कला से भिन्न है। इस पल्लव-शैली में पाषाण से विशाल मन्दिर बनाये जाते थे। कभी-कभी ऊपर का भाग ईंटों का भी बनाया जाता था। मन्दिर के ऊपर ऊँचे गुम्बद बनाये जाते थे। वास्तु-कला की पल्लव-शैली ने दक्षिण में प्रामाणिक स्तर ही निर्धारित नहीं किया, अपितु सुदूर पूर्व में भारतीय उपनिवेशों की वास्तु-कला को भी अत्यधिक प्रभावित किया। पल्लव-शैली के 'शिखर' की विशेषताएँ जावा, कम्बोडिया और अन्नाम के मन्दिरों में दृष्टिगोचर होती हैं। परन्तु इन मन्दिरों एवं दक्षिण भारत के मन्दिरों में महत्त्वशाली विभेद हैं। स्तम्भ दक्षिण भारत के मन्दिरों में महत्त्वपूर्ण जोड़ने वाली कड़ी है परन्तु पूर्वी हिन्दू उपनिवेशों के मन्दिरों में इसका सर्वथा अभाव है।

चोलों ने जो पल्लवों के स्थान पर शासन करने लगे, इस द्राविड़ या पल्लव-शैली का विकास किया और इसे अपने संरक्षण में सर्वश्रेष्ठ बना दिया। चोलों ने, जो पल्लवों के समान निर्माता थे, विशाल पैमाने पर शिल्प-कला के कार्य किये थे। इस दिशा में उनके सबसे अधिक प्रशंसनीय कार्य सिंचाई के हेतु उनकी विशाल योजनाएँ थीं। अपनी नवीन राजधानी गंगईकोण्ड चोल-पुरम के पास राजेन्द्र चोल प्रथम द्वारा निर्मित कृत्रिम झील का बाँध सोलह मील लम्बा था। कावेरी और अन्य नदियों पर पाषाण के विशाल बाँध बाँधे गये थे। कावेरी से जो नहरें निकली हैं वे चोलों की ही देन हैं। विरामोलन और मुन्दीकोंडन नहरें चोलों ने ही निर्मित की थीं। चोल नगर सुविस्तृत थे और सावधानीपूर्वक उनकी योजनाएँ बनाकर उन्हें बसाया गया था। नगर के केन्द्र में एक मन्दिर होता था। चोल मन्दिरों की शिल्प-कला की, जिसके सर्वोत्कृष्ट नमूने तंजौर और चिदाम्बरम के कतिपय मन्दिर हैं, कला परम्पराओं की विशुद्धता के कारण, जिसे उन्होंने सुरक्षित रखा है, मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की गयी है। तंजौर का विशाल शिव-मन्दिर जिनमें राजराजा महान् ने सन् १०११ के लगभग बनाया था, चौदह मंजिल के १६० फुट ऊँचे शिखर का है। इसके ऊपर प्रस्तर खण्ड का भीमकाय गुम्बद है जो २५ फुट ऊँचा और ८० टन वजन में है। इस मन्दिर में २५० फुट चौड़ा और ५०० फुट लम्बा विस्तृत आँगन है। मन्दिर का भव्य भवन नीचे से ऊपर शिखर तक उत्कीर्ण शिल्प-कला-कृतियों, प्रतिमाओं और अलंकरणों से सुशोभित है। मन्दिर के अलंकरण में मूर्याकृतियों से चक्रार्द्धों का उपयोग है। इसके अतिरिक्त अलंकरणों में विष्णु सम्प्रदाय की मूर्तियाँ प्रवेश-द्वार या गोपुरम में उत्कीर्ण की गयी हैं परन्तु अन्यत्र शिव की महिमा का प्रदर्शन है। इस प्रकार मन्दिर में वैष्णव व शिव सम्प्रदाय का यह पारस्परिक समन्वय सराहनीय है। इसके अतिरिक्त श्रीरंगपट्टम का दिव्य मन्दिर भी दक्षिण भारत के मन्दिरों में वास्तु-कला का श्रेष्ठ नमूना है। इसी मन्दिर में एक सहस्र स्तम्भों वाला भव्य सभामण्डप है जिसकी लम्बाई ४५० फुट और चौड़ाई १३० फुट है। इस मन्दिर का गोपुरम और उसका अलंकरण भी बेजोड़ है। इसमें कुण्डलाकृति की चमकती बेलें, पुष्पाकृतियाँ, चक्रार्द्ध आले, छाजन आदि अत्यन्त कलापूर्ण हैं।

उपरोक्त वर्णित राजराजा के शिव मन्दिर से कम भव्य परन्तु अधिक सुन्दरतम तंजौर नगर में ही सुब्रह्मण्य मन्दिर है जिसका शिखर भी उच्चतम एवं कलात्मक ढंग से अलंकृत है। अपनी नवीन राजधानी गंगईकोण्ड चोल-पुरम में राजेन्द्र प्रथम द्वारा निर्मित यह विशाल मन्दिर चोल वास्तु-कला का अन्य प्रभावशाली उदाहरण है। उसका विशाल आकार, ठोस पाषाण का विराट् लिंग और पाषाण में उत्कीर्ण मनोरम आकृतियाँ इसकी असाधारण विशेषताएँ

हैं। इसके अतिरिक्त भेगूनि का शिव मन्दिर, ऐहोल का विष्णु मन्दिर तथा पताडकल का विरुपाक्ष मन्दिर दक्षिण की वास्तु-कला के श्रेष्ठ नमूने हैं।

कला के क्षेत्र में चोलों की अन्य सफलता काँसे की प्रतिमाएँ हैं। इस युग की नटराज (शिव) की मूर्तियाँ तथा सन्तों और हिन्दू देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ और चित्र विश्व की सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ मान ली गयी हैं।

चोल-कला की प्रधान विशेषता वृहत्वयुक्त भव्यता है। भीमकाय मन्दिरों और भवनों को अत्यन्त सूक्ष्म तक्षण से अलंकृत किया गया था। कला-मर्मज्ञ फार्गुसन ने उचित ही कहा है कि चोल कलाकार अपनी रचनाओं के लिए दानवों के समान कल्पना करते थे और उसकी पूर्ति जौहरियों के समान करते थे। एक नवीन शैली, जिसने उत्तर काल में द्राविड़ वास्तु-कला को रूपान्तरित कर दिया था, चोल-कला में शनैः-शनैः विकसित हो रही थी। यह मन्दिर के परिवेष्टन का विशाल प्रवेश-द्वार था जिसे गोपुरम कहते थे। धीरे-धीरे गोपुरम की संख्या में वृद्धि होती गयी; इनके आकार भी मन्दिर के अनुरूप ही मंजिलों वाले विशाल शिखरयुक्त होने लगे। अन्त में गोपुरम अपने शिखर की अत्यधिक ऊँचाई और सुन्दरतम अलंकरणों के कारण अधिक प्रभावशाली हो गये और मन्दिर के गर्भगृह कम प्रभावोत्पादक होने से नगण्य हो गये। गोपुरम प्रतिभा-प्रकोष्ठ के शिखर से इतने ऊँचे उठने लगे कि उन्होंने प्रधान मन्दिर को बिलकुल दबा दिया। उदाहरण के लिए कुम्भकोणम का गोपुरम स्वयं शानदार भवन है परन्तु यह प्रमुख देवालय को इतना अधिक दबा देता है कि उसकी सारी रचना कम मनोज्ञ और कलापूर्ण प्रतीत होती है। उत्तरकाल में मन्दिरों के चतुर्दिक विस्तृत परिवेष्टन बनने लगे उनकी दीवारों के भीतर केन्द्र में जलाशय होता था जिसका उपयोग धार्मिक कार्यों के लिए होता था।

दक्षिण की वास्तु-कला मदुरा और रामेश्वरम् के सत्रहवीं सदी के मन्दिरों में अपनी उत्कृष्टता की चरम पराकाष्ठा तक पहुँच गयी थी। रामेश्वरम् के मन्दिरों के बरामदे जिनमें प्रत्येक ७०० फुट लम्बे और ठोस पाषाण से काटे गये हैं, बड़े भव्य और प्रभावशाली हैं, परन्तु मदुरा के विशाल हॉल में अनेक स्तम्भ हैं, जिन पर सिंह और पौराणिक गाथाओं के दानवों की आकृतियाँ अंकित हैं। इन स्तम्भों पर नक्काशी करने में शिल्पी की कल्पना बिखर पड़ी है। मदुरा में शिव और उसकी प्रियतमा मीनाक्षी का मन्दिर अलौकिक है। इस देवालय की बाह्य लम्बाई ८५० फुट और चौड़ाई ७२५ फुट है और इसमें चार प्रवेश-द्वार हैं। अन्दर प्रवेश करने पर द्वार और उप-द्वार, आँगन और उप-आँगन मिलते हैं। केन्द्र में १६५ फुट लम्बा और १२० फुट चौड़ा तालाब है। अनेक स्थलों पर देवी-देवताओं, पशु-पक्षी और अलंकरण की अन्य वस्तुओं की सजीव प्रतिमाएँ व आकृतियाँ हैं। जो कोई भी मथुरा,

रामेश्वरम् और अन्य स्थलों के मन्दिरों को उनके अहातों, लम्बे आँगनों, मार्ग विस्मरण करा देने वाले भवनों, सहस्र स्तम्भों वाले सभामण्डपों और वृक्षों तथा स्तम्भों की सुदीर्घ पंक्तियों को देखता है, वह आश्चर्यान्वित हो जाता है। इस प्रकार सुदूर दक्षिण की वास्तु-कला में प्रधानतया दो शैलियाँ थीं—ठोस चट्टानों को काटकर भव्य मन्दिरों का निर्माण एवं अत्यन्त ऊँचे भीमकाय शिखर वाले पाषाण के मन्दिर। उत्तरकाल में इन मन्दिरों में उच्च शिखर वाले गोपुरम और स्तम्भ पंक्तियों वाले विशाल सभामण्डपों का निर्माण करने की शैली का विकास हुआ।

ऊपरी दक्षिण की कला—सुदूर दक्षिण में वास्तु-कला की दो स्वतन्त्र शैलियों का विकास हुआ था। उत्तरी भारत और सुदूर दक्षिण के मध्य में दक्षिण का पठार है जहाँ इन दोनों शैलियों का प्रयोग हुआ था। चालुक्य और राष्ट्रकूट जो इस प्रदेश पर शासन करते थे महान् निर्माता थे। चालुक्य राजधानी बादामी के पार्श्ववर्ती प्रदेश में अनेक गुहा मन्दिर है जो ब्राह्मण धर्म के देवताओं को समर्पित किये गये हैं और जिनमें सुन्दरतम मूर्तियाँ तथा उत्कीर्ण की गयी उच्चतम आकृतियाँ हैं। बादामी और अन्य स्थानों पर साधारण ढंग से निर्मित अनेक देवालय है। इनमें से कई द्राविड़ या पल्लव-शैली प्रकट करते हैं। इसी शैली को राष्ट्रकूटों ने भी प्रधानतया अपना लिया था। एलौरा का विश्व-विख्यात कैलाश मन्दिर द्राविड़ शैली का विलक्षण नमूना है। इस मन्दिर का निर्माण राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम ने आठवीं सदी में किया था। प्रथम तो शिल्पियों ने एक सारी पहाड़ी को निर्दिष्ट रूप से चिह्नित कर उसे दीर्घ पर्वत-श्रेणी से काटकर अलग कर दिया और तब एक विशाल भव्य मन्दिर एक अखण्ड चट्टान में से उसी प्रकार काटा गया जैसे कि मामल्लपुरम के रथ। इस मन्दिर में द्राविड़-शैली का शिखर और उस पर विस्तृत रूप से सुन्दरतम नक्काशी की गयी है। इस मन्दिर के चतुर्दिक पहाड़ियों में जो गुहाएँ हैं उनमें विशाल मण्डप (Hails) हैं जो ब्राह्मण धर्म के अनेक देवी-देवताओं की प्रतिमाओं से सुसज्जित हैं। प्रमुख मन्दिर हाथियों के पृष्ठ भागों पर आश्रित है और ये सजीव हाथी चट्टानों को काटकर बनाये गये हैं। एलौरा का कैलाश मन्दिर कला की एक शानदार सफलता है और विश्व की वास्तु-कला की विलक्षण वस्तु मानी जाती है। बिना किसी लगाव के दुमंजिला व तिमंजिला मन्दिर चट्टान में से काट लेना बड़ा आश्चर्यजनक कार्य है। यह मानव के धैर्य, साहस, अध्यवसाय व तक्षण-कला का उत्कृष्ट नमूना है। शिल्पियों ने कैलाश मन्दिर को काटते समय ४२ पौराणिक दृश्यों को उत्कीर्ण किया है। इनमें नृसिंह अवतार का दृश्य, शिव-पार्वती का विवाह, इन्द्र-इन्द्राणी की मूर्तियाँ एवं रावण द्वारा कैलाश-उत्तोलन विराट, ओजस्वी, सजीव और प्रभावशाली कृतियाँ हैं। इनमें रावण

द्वारा कैलाश उठाने का दृश्य अत्यन्त ही भव्य और प्रशंसनीय है। दशानन कैलाश पर्वत को उठा रहा है, भयातुर पार्वती शिव की भुजा का आश्रय ले रही हैं, सखियाँ भयत्रस्त हो भाग रही हैं, परन्तु शिव अचल और निर्भीक हैं तथा अपने चरणों से कैलाश पर्वत को दबाकर रावण का अकथ परिश्रम निष्फल करने में संलग्न हैं। एलौरा के कैलाश मन्दिर के एक ओर बौद्ध धर्म की चट्टानों से काटी गयी गुहाएँ हैं तो दूसरी ओर ऐसी ही जैनियों की गुहाएँ हैं। ये स्थापत्य और तक्षण-कला के क्षेत्र में कला-सौन्दर्य के लिए अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। कैलाश पर्वत से थोड़ी दूर चट्टानों से काटी हुई नासिक और कार्ली के समान गुहाएं हैं। इन्हीं का समकालीन शिव गुहा मन्दिर है जो बम्बई के पास एलीफेण्टा के सुन्दरतम द्वीप में पर्वत को काटकर बनाया गया है। इसमें अनेक सुन्दर प्रतिमाएँ और मनोरम नक्काशी हैं। यहाँ की प्रतिमाओं में शिव की भीमकाय त्रिमूर्ति तथा शिव-पार्वती का दृश्य अत्यन्त ही भव्य और प्रभावोत्पादक है। प्रथम मूर्ति के मुख-मण्डल पर अलौकिक प्रशान्त गाम्भीर्य है, द्वितीय में समाधि-अवस्था की भव्यतम अभिव्यक्त है एवं तृतीय में पार्वती के आत्म-समर्पण का भाव सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया गया है।

मैसूर का पठार

होयसलों ने, जो उत्तरकालीन चालुक्यों के उत्तराधिकारी हुए थे और बारहवीं तथा तेरहवीं सदियों में मैसूर पठार पर शासन करते थे, वास्तु-कला की एक नवीन शैली का विकास किया। कदाचित् उन्होंने अपने पूर्ववर्ती गंग नरेशों से कला-परम्पराओं को देन में पाया था। इन गंगों के शासनकाल में ही जैन संत गौम्मटेश्वर की प्रसिद्ध भीमकाय प्रतिमा निर्मित हुई थी और श्रवण बेलगोला की पहाड़ी के शृंग पर प्रतिष्ठित हुई थी। कतिपय विद्वानों का मत है कि होयसलों ने चालुक्य-शैली को अविच्छिन्न रूप से जारी रखा और यह शैली उनके अन्तर्गत अपने उत्कर्ष के शिखर पर पहुँची। इस युग के अनेक भव्य मन्दिरों में से सबसे अधिक प्रसिद्ध सोमनाथपुर, बेलपुर और हलेबिद या द्वारसमुद्र में बनाये गये मन्दिर हैं। ये मन्दिर वर्गाकार या तारकाकृति अथवा बहुभुजीय नहीं हैं। इनकी अनिवार्य विशिष्टिता यह है कि इनके सुन्दरतम नक्काशी हुए ऊँचे आधार या कुर्सियाँ हैं। ये अनेक घुमावदार हैं। इससे शिल्पियों को नक्काशी करने तथा मूर्तियों को उत्कीर्ण करने के लिए विस्तृत और लम्बे स्थान प्राप्त हो गये। इनके शिखर पिरामिडाकार होने पर नीचे हैं। इसे द्राविड़-शैली का संशोधित और सम-परिवर्तित रूप माना जा सकता है। सन् १०४३ ई० के लगभग वीणादित्य बल्लाल द्वारा निर्मित सोमनाथ का मन्दिर इस शैली का सर्वप्रथम उदाहरण है, परन्तु होयसल-कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हलेबिद का प्रसिद्ध होयसलेश्वर का मन्दिर है। यह पाँच या छह फुट ऊँचे चबूतरे पर

खड़ा है। मन्दिर की समस्त ऊँचाई एक के बाद ग्यारह अलंकृत पट्टिकाओं से, जो ७०० फुट लम्बी हैं, ढकी हुई है। इन पर गजों, सिंहों, अश्वारोहियों और पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की हुई हैं। इस होयसलेश्वर के मन्दिर के विषय में ठीक ही कहा गया है कि धैर्यशाली पूर्व में भी यह मानव-श्रम का अत्यन्त आश्चर्यजनक नमूना है। मैकडॉनल के मतानुसार समस्त विश्व में कदाचित् अन्य कोई मन्दिर ऐसा हो जिसके बाह्य भाग में ऐसी विलक्षण खुदाई का काम हो।

दक्षिण भारत और इस्लाम

विजयनगर साम्राज्य (१३३६-१५५६)—चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मलिक काफ़ूर ने दक्षिण भारत को रौंद डाला और अन्तिम हिन्दू-राज्य को विनष्ट कर दिया। वारंगल का काकातीय राज्य-वंश नष्ट-भ्रष्ट हो गया था और देवगिरि के यादवों का अस्तित्व अब नहीं रहा था। परन्तु मलिक काफ़ूर के आक्रमण के पश्चात् जो अराजकता और अव्यवस्था हुई उससे दक्षिण भारत में ऐतिहासिक एकता स्थापित करने के सुअवसर प्राप्त हुए। अतः सन् १३३६ में हरिहर और बुक्का के नेतृत्व में एक नवीन राज्य की स्थापना हुई जो इतिहास में विजयनगर साम्राज्य के नाम से प्रख्यात है। यह साम्राज्य चालुक्य, होयसल, पल्लव और चोल परम्पराओं का उत्तराधिकारी हो गया। दक्षिण में तीन सौ से भी अधिक वर्षों तक विजयनगर साम्राज्य मुसलमानों के आक्रमण के विरुद्ध शक्तिशाली और अभेद्य दुर्ग बना रहा और सत्रहवीं सदी के मध्य में विलुप्त हो गया। दक्षिण के पठार पर मुस्लिम सत्ता बहमनी राज्य के रूप में स्थापित हो जाने से विजयनगर साम्राज्य के साथ निरन्तर संघर्ष प्रारम्भ हो गया। परिणामस्वरूप विजयनगर के सम्राट् क्षण भर के लिए भी यह न विस्मरण कर सके कि उनके राज्य का ऐतिहासिक उद्देश्य दक्षिणी भारत और हिन्दू संस्कृति तथा सभ्यता की मुस्लिम विजय से रक्षा करना था। यदि विजयनगर की प्रबल शक्ति न होती तो दक्षिण में हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति मुसलमानों द्वारा पैरों तले कुचल दी जाती, जैसे गंगा की घाटी में हुआ। विजयनगर साम्राज्य का सबसे बड़ा नरेश कृष्णदेव राय (१५०९-१५५०) था जिसके अन्तर्गत विजयनगर की शक्ति अपने उत्कर्ष के शिखर पर पहुँच गयी। उसके बाद यद्यपि दक्षिण के मुस्लिम शासकों के संघ ने विजयनगर की सेना को तालीकोट के रणक्षेत्र में सन् १५६५ में पराजित कर दिया था, तो भी विजयनगर हिन्दू संस्कृति और सभ्यता का केन्द्र बना रहा। तालीकोट की सैनिक-पराजय ने दक्षिण के एक प्रबल हिन्दू राजवंश का अन्त कर दिया और थोड़े समय के लिए लोगों की प्रतिरोध करने की शक्ति को क्षीण कर दिया; परन्तु प्राचीनतम और शक्तिशाली साम्राज्य की राष्ट्रीय भावना को समूल नष्ट करने में यह पराजय सर्वथा असफल रही। विजयनगर साम्राज्य

की शक्ति और महानता राजवंशों पर नहीं बल्कि दक्षिणी भारत के हिन्दुओं की राष्ट्रीय भावना और उनका मुसलमानों का अवरोध करने की दृढ़ प्रतिज्ञा पर निर्भर थी। भारतीय संस्कृति पर मुसलमानों के अतिक्रमण का सफलतापूर्वक प्रतिकार करने में विजयनगर साम्राज्य का बड़ा हाथ रहा है।

विजयनगर सम्राटों के शासनकाल में दक्षिण भारत में अभूतपूर्व प्रगति हुई। राज्य के विभिन्न प्रदेशों में कृषि समृद्ध दशा में थी और राज्य ने कुशल सिंचाई नीति का अनुसरण किया था। वस्त्र बुनना, खनिज पदार्थ निकालना और धातु की वस्तुएँ बनाना प्रमुख व्यवसाय थे। परन्तु छोटे व्यवसायों में सबसे अधिक महत्त्वशाली सुवासित द्रवों और गन्धों को तैयार करने का धन्धा था। शिल्पियों और वणिकों का संघ आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली थे। राज्य की आर्थिक दशा में सबसे असाधारण विशिष्टता आन्तरिक, बाह्य, समुद्र-तटीय और समुद्र-पार का व्यापार था। मालाबार तट पर सबसे अधिक प्रसिद्ध बन्दरगाह कालीकट था। अब्दुररज्जाक के अनुसार साम्राज्य में ३०० बन्दरगाह थे। तामिल राज्यों के समान ही विदेशों में इस साम्राज्य के हिन्द महासागर के द्वीपों, मलाया द्वीपसमूह, ब्रह्मा, चीन, अरब, फारस, दक्षिण अफ्रीका, अबीसीनिया और पुर्तगाल से व्यापारिक सम्बन्ध थे। विश्व के व्यापार करने वालों के नाते पुर्तगालियों के भारत में आगमन से यूरोप के बाजार भारतीय वस्तुओं के लिए खुल गये और पश्चिम का माल भी भारतीय बन्दरगाहों में निरन्तर आने लगा। तत्कालीन अभिलेख यह प्रमाणित करते हैं कि विजयनगर के नरेशों के पास जलसेना थी और पुर्तगालियों के आवागमन के पूर्व ही यहाँ के लोग पोत-निर्माण कला से पूर्ण अवगत थे।

साधारणतया समाज में स्त्रियों को उच्च पद प्राप्त था। देश के राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक जीवन में स्त्रियों के सक्रिय भाग लेने के उदाहरणों का अभाव नहीं है। कुश्ती लड़ने व ढाल-तलवार चलाने में और संगीत तथा अन्य ललित-कलाओं में शिक्षा प्राप्त करने के अतिरिक्त कतिपय स्त्रियों को समुचित साहित्यिक शिक्षा मिली थी। स्त्रियाँ पहलवान थीं, ज्योतिष-विद्या से परिचित थीं और भविष्य का हाल भी कहती थीं। राजप्रासाद-द्वार के भीतर राज-परिवार का लेखा रखने के हेतु एक विभाग था जहाँ केवल स्त्रियाँ ही क्लर्क हो सकती थीं। इससे प्रमाणित होता है कि स्त्रियों को समुचित शिक्षा दी जाती थी और वे शासन-कार्य में कुशल होती थीं। बहु-पत्नी-प्रथा सर्वमान्य थी और बाल-विवाह साधारण प्रथा थी। अत्यधिक दहेज की रूढ़ि प्रचलित थी और सती-प्रथा का प्रचलन था।

ब्राह्मण सामाजिक और धार्मिक मामलों में ही प्रभुत्वशाली नहीं थे, अपितु राज्य के शासकीय और राजनीतिक मामलों में भी अपना सर्वोपरि प्रभाव

रखते थे। समाज और शासन में उनका बड़ा सम्मान था। वे विश्वसनीय सत्य-वादी, बुद्धिमान तथा सुन्दर थे, पर कठोर परिश्रम के अयोग्य थे। खान-पान के विषय में कोई विशिष्ट कठोर नियम न थे। फल, सागभाजी और तेल के अतिरिक्त लोग मांस भी खाते थे। परन्तु गाय व बैल के मांस का प्रयोग नहीं होता था क्योंकि इनके प्रति लोगों की बहुत श्रद्धा थी। ब्राह्मण किसी प्राणी का न तो बध करते थे और न किसी का मांस ही खाते थे। राज्य में अनेक रक्तिम यज्ञों का प्रचार था। प्रसिद्ध 'नवरात्रि' के अन्तिम दिवस पर २५० भैंसे और ४,५०० भेड़ों की बलि दी जाती थी।

हिन्दू सांस्कृतिक पुनर्जागरण का केन्द्र होने से विजयनगर साम्राज्य को दिव्य, सांस्कृतिक और कलापूर्ण सफलताओं का श्रेय है। सम्राट् संस्कृत, तेलगु, तामिल और कन्नड़ सभी भाषाओं के उदार संरक्षक थे और उनके प्रेरणा देने वाले संरक्षण के अन्तर्गत साहित्य के कतिपय सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना हुई। माधवाचार्य और उसका बन्धु सायणा जो वेदों का प्रसिद्ध टीकाकार है, विजयनगर के प्रारम्भिक वर्षों में ही समृद्ध हुए थे और विजयनगर की राजसभा मे उनका घनिष्ठ सम्पर्क रहा था। कृष्णदेव राय का शासनकाल दक्षिण भारत के साहित्यिक इतिहास में नवीन युग का उषाकाल है। स्वयं विद्वान, संगीतज्ञ व कवि होने से कृष्णदेव राय को अपने चतुर्दिक कवि, दार्शनिक और धार्मिक आचार्यों को एकत्र करने की अभिरुचि थी। वह स्वयं भी तेलगु भाषा का लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक था। उसकी राजसभा में समस्त तेलगु साहित्य के स्तम्भ, प्रसिद्ध आठ कवि जो 'अष्टदिग्गज' कहलाते थे, रहते थे। उसका राज-कवि पेड्ड आज भी तेलगु साहित्य का प्रतिष्ठित पूर्वज माना जाता है। विजयनगर राजवंश की रानियाँ कवियित्रियाँ थीं। 'मदुरा-विजयम्' की लेखिका गंगादेवी और 'वरदाम्बिका पारिणयम्' की रचयिता तिरुमलम्बा देवी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सम्राटों के सम्बन्धियों और सामन्तों में भी लेखक थे। अरविन्दु राजकुल के शासक भी कवियों और धार्मिक आचार्यों को राज्याश्रय देते थे और उनके अन्तर्गत तेलगु साहित्य अधिक फला-फूला। संगीत, नृत्य, नाटक, व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि अनेक ग्रन्थों को सम्राटों और उनके मन्त्रियों से प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। संक्षेप में, विजयनगर साम्राज्य 'दक्षिण भारतीय संस्कृति का समन्वय था।'

अभिलेख और साहित्यिक प्रमाण यह प्रकट करते हैं कि विजयनगर के शासक उदार और पवित्र प्रवृत्ति के धर्मानुरागी थे। परन्तु उनमें धार्मिक कट्टरता का अभाव था। वे उस काल में प्रचलित शैव, वैष्णव, बौद्ध और जैन मतों तथा ईसाई व यहूदी जैसे विदेशी सम्प्रदायों के प्रति भी उदार और सहिष्णु थे।

विजयनगर के सम्राट् ललित-कलाओं के बड़े संरक्षक भी थे। वे महान् निर्माता थे। उन्होंने सार्वजनिक हित के कार्यों, जैसे विशाल तालाबों, झीलों, सिंचाई के साधनों तथा पीने के पानी पर ही नहीं, अपितु सभी प्रकार की कलाओं से सुसज्जित भवनों, राजप्रासादों और मन्दिरों पर अत्यधिक उदारता से धन व्यय किया था। साम्राज्य की प्राचीन राजधानी के भग्नावशेष यह घोषित करते हैं कि उनके संरक्षण में स्थानीय शिल्पियों ने वास्तु-कला, तक्षण-कला और चित्र-कला की एक विशुद्ध स्पष्ट शैली का विकास किया था। कृष्णदेव राय के शासनकाल में जो प्रसिद्ध हजारा मन्दिर का निर्माण हुआ, वह उस समय की प्रचलित हिन्दू-मन्दिर-वास्तु-कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। विजयनगर-शैली का अन्य सुन्दरतम उदाहरण विट्ठल स्वामी का मन्दिर है। यह दिव्यता और अलंकरण की उस सीमा की ओर संकेत करता है जहाँ तक कि शैली विकसित हो चुकी थी।

बहमनी राज्य (१३४७-१४८२)—सन् १३४७ ई० में मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में हुसेन गंगु बहमनी ने दक्षिण में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। यह इतिहास में बहमनी राज्य (१३४७-१४८२) के नाम से प्रख्यात हुआ। अपनी सर्वोत्कृष्ट सत्ता के समय यह राज्य समुद्रतट तक विस्तृत था और इसमें हैदराबाद, मद्रास प्रान्त का उत्तरी सरकार और बम्बई प्रान्त के कुछ भाग सम्मिलित थे। बाद में सन् १४८२ ई० में बहमनी राज्य के पाँच टुकड़े बीदर, गोलकुण्डा, बरार, अहमदनगर और बीजापुर हो गये और अन्त में ये एक के बाद एक मुगल साम्राज्य द्वारा हड़प लिये गये। बहमनी राज्य के राजनीतिक इतिहास की विशेषता उसके पड़ोसी विजयनगर के हिन्दू राज्य के सुदीर्घ-काल का संघर्ष था।

बहमनी राज्य का ऐतिहासिक महत्त्व इस तत्त्व में था कि वह उत्तर और दक्षिण को जोड़ने वाले केन्द्र-स्थल में था। बहमनी नरेश यद्यपि इस्लाम-धर्मानुरागी थे परन्तु अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति आतंकवादी या असहिष्णु न थे। जैन और हिन्दू दोनों धर्म प्रचलित थे जैसा कि उस युग के अनेक मन्दिरों से विदित होता है। शिक्षा और ज्ञान प्रधानतया अरबी और फारसी में वृद्धि पाते रहे और अनेक पाठशालाएँ तथा महाविद्यालय स्थापित किये गये जहाँ निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। सुलतान ललित-कलाओं और वास्तु-कला के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने नगर बसाये और मसजिदों तथा दुर्गों का निर्माण कराया। उनकी राजधानी प्रमोद-वन तथा विहार वाटिकाओं वाला दिव्य नगर था। राजप्रासाद विस्तृत, भव्य और शानदार भवन थे जिनकी प्राचीरें बहुत ऊँची थीं, जिनके प्रकोष्ठों में सुन्दरतम कलापूर्ण आकृतियों की मेहराबें और खिड़कियाँ थीं। बीदर और गोलकुण्डा की मसजिदें उस युग की वास्तु-कला के शानदार

स्मारक हैं। समकालीन निरीक्षकों ने बीदर की अधिक प्रशंसा की है। उन्होंने उसे सुन्दरतम, विशाल, विस्तृत भवनों से भरा हुआ नगर बताया है। बहमनी सुलतानों द्वारा निर्मित भवनों में सबसे अधिक सुन्दर भवन गुलबर्गा की जामी मसजिद, दौलताबाद की चाँद मीनार और महमूदगावाँ का महाविद्यालय हैं। ये सभी इन सुलतानों के वास्तु-कला के अनुराग को प्रकट करते हैं। इसके अतिरिक्त ग्वालीगढ़ और पन्हाला के दुर्ग, हसन मुहम्मदशाह, मुजाहिदशाह तथा अन्य सुलतानों व शासकों की कब्रें बहमनी-कला के प्रसिद्ध उदाहरण हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से बहमनी राज्य का महत्त्व है। इस राज्य के सुलतानों ने कला को जो संरक्षण दिया उससे दक्षिण भारत की प्राचीन वास्तु-कला-शैलियाँ रूपान्तरित हो गयीं। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

निष्कर्ष

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि दक्षिण भारत की संस्कृति की कहानी शेष भारत से स्पष्टतया भिन्न है। आर्यों के पूर्व काल से ही उसकी संस्कृति की अविच्छिन्नता, एकता और स्थिरता है। उसकी संस्कृति के व्यक्तित्व का आभास आज भी दृढ़तापूर्वक दृष्टिगोचर होता है। राजनीतिक क्षेत्र में राज-कुलीय परिवर्तनों के होने पर भी दक्षिण की संस्कृति अपने सभी तत्त्वों सहित विकसित होती रही। दक्षिण में आर्यों का आगमन और प्रसार होने पर दक्षिणी संस्कृति पर आर्य संस्कृति का प्रभाव पड़ा और यह सत्य है कि दक्षिण की वर्तमान संस्कृति तामिल और आर्य संस्कृति का सुन्दर समन्वय है। परन्तु यदि हम भारतीय ललित-कलाओं, वास्तु-कला, साहित्य और सामाजिक संस्थाओं में आर्यों के पूर्व के मौलिक तत्त्वों को ढूँढ़ने का प्रयास करें तो वे हमें दक्षिण में ही उपलब्ध हो सकते हैं। श्री सुन्दरम पिल्लाई ने अपनी पुस्तक तामिलियन एन्टीक्वेरी (Tamilian Antiquary) में लिखा है कि भारत, विन्ध्या के दक्षिण का प्रायद्वीपी भारत, आज भी उचित रूप से भारत ही है। वहाँ अधिकांश लोगों में आर्यों के पूर्व शारीरिक रूप और लक्षण हैं, उनकी आर्यों के पूर्व की भाषाएँ हैं और आर्यों के पहले की सामाजिक संस्थाएँ हैं। यहाँ की आर्यीकरण की प्रवृत्ति को सुदूर जाने पर भी इतिहासज्ञ के लिए देशी बाने को विदेशी ताने से पृथक कर पहचानना सरल है। यदि इस प्रकार विभेद कर सफलतापूर्वक पहचानने का कहीं अवसर है तो वह दक्षिण में है और जितने दूर हम दक्षिण में जाते हैं, ऐसे अवसर अधिक बढ़ते हैं। वस्तुतः दक्षिण भारत की संस्कृति ने भारतीय संस्कृति को सम्पन्न किया है। उसने संगीत और नृत्य में तथा मन्दिर और मूर्ति-निर्माण-शैली में देन दी है। शंकर जैसा दार्शनिक व धर्माचार्य, शैव सम्प्रदाय जैसा मत और भक्ति जैसा पावन सिद्धान्त दक्षिण भारत की सांस्कृतिक देन है। इसके अतिरिक्त उसने मुस्लिम

आक्रमण के प्रारम्भिक युग में आर्य विचारधारा व संस्कृति की विशुद्धता को बनाये रखकर सांस्कृतिक स्रोत को अविरल गति से बहने दिया ।

प्रश्नावली

१. तामिल संस्कृति का वर्णन कीजिए । आर्य संस्कृति ने इसे कैसे प्रभावित किया ?

अथवा

दक्षिण भारत में पल्लवों और चोलों की क्या सांस्कृतिक सफलताएँ रही हैं ?

२. भारत के सांस्कृतिक इतिहास में पल्लवों ने क्या भाग लिया ?

३. "पल्लव शैली की गुहाएँ, मन्दिर तथा वास्तु-कला के अन्य भग्नावशेष हिन्दू-कला के इतिहास में एक महत्त्वशाली अध्याय की रचना करते हैं ।" इस कथन का सूक्ष्मता से विवेचन कीजिए ।

४. "दक्षिण भारत की संस्कृति की कहानी शेष भारत से स्पष्टतया भिन्न है । आर्यों के पूर्व काल से उसकी संस्कृति की अविच्छिन्नता, स्थिरता और एकता रही ।" इस कथन की व्याख्या कीजिए ।

५. चोल-कला की प्रशंसा लिखिए ।

६. भारतीय संस्कृति को सुसम्पन्न करने के लिए दक्षिण भारत की क्या सांस्कृतिक देन रही है ?

७. "हिन्दू सांस्कृतिक पुनर्जागरण का केन्द्र होने से विजयनगर साम्राज्य को संस्कृति व कला की दिव्य सफलताओं का श्रेय है ।" इसको समझाइए ।

८. "विजयनगर साम्राज्य दक्षिण भारतीय संस्कृति का समन्वय था ।" इस कथन की व्याख्या कीजिए ।

९. बहमनी सुलतानों ने अपने सुदीर्घ काल के शासन में देश के सांस्कृतिक विकास में क्या देन दी है ?

१०. टिप्पणियाँ लिखिए—महाबलिपुरम के रथ, लिंगायत, होयसल-कला, कुराल, एलौरा, अलवार, भक्ति-सम्प्रदाय, दक्षिण की रोमन बस्तियाँ, पल्लव-कला, तामिल-संस्कृति, दक्षिण भारत में बौद्ध-कला, चोल और दक्षिण भारत में मुस्लिम वास्तु-कला ।

१२

पृथक्करण, विभिन्नीकरण और विभेद का युग (ईसवी सन् ६००—१२००)

छठी शताब्दी विभिन्नीकरण का काल नहीं था—गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद उत्तरी भारत पुनः छोटे-छोटे राज्यों का समूह हो गया। हूणों ने पंजाब, राजस्थान और मालवा में अपना शासन स्थापित कर लिया तथा सतलज और यमुना के बीच में थानेश्वर के एक छोटे राज्य का उत्कर्ष हुआ। संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध के भू-भाग में मौखरियों ने अपना स्वतन्त्र राज्य प्रतिष्ठित कर लिया और वाकाटकों ने पुनः अपनी प्रभुता प्राप्त कर ली। अराजकता और पृथक्करण के इस युग में एक विदेशी सत्ता ने देश में अपने पैर जमा लिये थे। तोरमाण और मिहिरकुल इसके प्रतिभाशाली शासक थे परन्तु हिन्दू राजाओं ने मालवा के यशोधर्मन के नेतृत्व में इस सत्ता को समूल नष्ट कर दिया। छठी सदी की इस राजनीतिक अव्यवस्था और अराजकता ने हिन्दू संस्कृति पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं डाला। वाकाटकों, उत्तरकालीन गुप्त राजाओं और मौखरियों ने साम्राज्य की परम्पराओं को अपने-अपने राज्य में बनाये रखा एवं विद्या, कला तथा संस्कृति की प्राचीनतम धाराएँ प्रवाहित होती रहीं। नालन्दा का विश्वविद्यालय क्रमशः अन्तरराष्ट्रीय यश प्राप्त कर रहा था। साधु-आत्मा 'स्थिरमती' और प्रसिद्ध आचार्य 'धर्मपाल' इस विद्यापीठ की शोभा की वृद्धि कर रहे थे। कवियों में भैरवी, 'जानकी हरण' के कुमारदास और दण्डिन एवं नाटककारों में विशाखदत्त तथा सम्भवतः 'कौमुदी महोत्सव' के लेखक छठी सदी में ही समृद्ध हुए। भारतीय गणितशास्त्र, ज्योतिष और चिकित्साशास्त्र में अधिक प्रगति हुई और दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र, तथा मीमांसा की ओर विशेष ध्यान दिया गया। यह सदी बौद्ध और हिन्दू तर्कशास्त्र का स्वर्णयुग था। प्रादेशिक भाषाओं का विकास हुआ और इस काल में प्राकृत साहित्यिक भाषा की दृष्टि से विकसित हुई। प्राकृत भाषा में व्याकरण के ग्रन्थों की रचना हुई जिससे राजशेखर जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक अगली सदी में इस भाषा को अधिक गौरवान्वित कर सके। समाज के ब्राह्मण नेताओं ने जनता पर अपना प्रभुत्व ही नहीं बनाये रखा वरन् उसे अत्यधिक

दृढ़ कर दिया। ब्राह्मण-वर्ग शासकों के परामर्शदाताओं और मन्त्रियों के पदों पर प्रतिष्ठित हो रहे थे। इन्होंने समाज के स्तर को पुनः संगठित किया और हूणों सहित अनेक विदेशियों को समाज में सम्मिलित कर लिया। इस विवेचन से प्राचीन मत की छठी शताब्दी अराजकता एवं पृथक्करण का युग था और हर्ष का काल इसकी अन्तिम आभा थी, जिसमें त्याग करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। वस्तुतः सांस्कृतिक दृष्टि से छठी शताब्दी बीजारोपण का युग था जबकि प्रत्येक क्षेत्र में असाधारण सफलताएँ प्राप्त करने के अतिरिक्त बाद के युग की सिद्धि-सफलताओं के बीज बोये गये।

हर्ष का युग (ईसवी सन् ६०६-६४७)

जैसा ऊपर वर्णित है गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् अनेक छोटे राज्यों का उदय हुआ और पचास वर्षों में पृथक्करण प्रारम्भ हो गया परन्तु हर्ष (सन् ६०६-६४७) के शासनकाल में विभिन्नीकरण करने वाले ये राज्य एक केन्द्रीय सत्ता के अधिकार में आ गये और राष्ट्रीय जीवन को देदीप्यमान करने का कार्य, जो हूणों के बर्बर आक्रमणों से अवरुद्ध हो गया था, पुनः प्रारम्भ हो गया। हर्ष की सबसे महान् सफलता उत्तरी भारत में सुदृढ़ साम्राज्य प्रतिष्ठित कर भारत की राजनीतिक एकता यथाविधि पूर्ववत् स्थापित करना है। उसने दक्षतापूर्वक साम्राज्य का शासन किया। वह स्वयं शासन के विभिन्न विभागों की देख-रेख करता था। वह विद्या, कला, धर्म और विद्वानों का संरक्षक था। वह स्वयं भी कवि, नाटककार और तीन नाटकों—प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्दी का रचयिता था। 'हर्ष चरित्र' और 'कादम्बरी' के रचयिता बाणभट्ट तथा विश्व-ज्ञान के आचार्य जयसेन जैसे विद्वानों का वह आश्रयदाता था। हर्ष की राजसभा में 'सूर्य शतक' का प्रणेता मयूर तथा विलक्षण चारण मागंत दिवाकर भी थे। वस्तुतः उसकी राजसभा दार्शनिकों, कवियों, नाटककारों और चित्रकारों से सुशोभित थी। वह राजकीय क्षेत्रों का चतुर्थांश प्रख्यात मेधावी पुरुषों को पुरस्कृत करने में व्यय करता था। उसने तत्कालीन प्रसिद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा को भी अनन्त दान दिये थे। उसने कन्नौज में एक सभा आमन्त्रित की थी जिसमें विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के विद्वान आचार्यगण उपस्थित हुए थे। उसने बौद्ध विहारों को अधिक दान दिये, अनेक स्तूप निर्मित कराये। उसकी प्रयोग की पंचवर्षीय सभाएँ, जिसमें वह हिन्दू तथा बौद्ध धर्म की धार्मिक क्रिया-विधियों को सम्पन्न करके बौद्धों, ब्राह्मणों और दरिद्रों में अपना धन-द्रव्य वितरण कर देता था, विश्व के इतिहास में बेजोड़ हैं। उसकी दानशीलता और उदारता जनसाधारण के हित के कार्यों में भी अभिव्यक्त हुई। समस्त भारत में नगरों और ग्रामों के दीर्घ जन-मार्गों पर उसने धर्मशालाएँ निर्मित करायीं। उनमें

भोजन की व्यवस्था की और यात्रियों, पथिकों तथा पार्श्ववर्ती प्रदेशों के निर्धनों के हेतु वहाँ औषधियों सहित वैद्यों का प्रबन्ध किया। नरेश के रूप में उसके कर्तव्य और सेवा के उच्च आदर्श थे। लोक-कल्याण के शुभ कार्यसम्पादन करने में वह इतना उत्सुक था कि वह विश्राम भी नहीं करता था और भोजन तथा निद्रा को तो वह भूल ही गया था।

उसके राज्यकाल में विद्वान् चीनी आचार्य और भिक्षु ह्वानच्यांग सन् ६३० में भारत में आया था और सन् ६४३ तक रहा। उसने भारत की तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक दशा का विस्तृत वर्णन किया है। उस समय तक्षशिला और पाटलिपुत्र भग्नावस्था में थे। साम्राज्य की राजधानी कन्नौज ने पाटलिपुत्र का स्थान ले लिया था। प्रयाग दूसरा महत्त्वशाली नगर था, जहाँ हर्ष अपनी पंचवर्षीय सभा का अधिवेशन करता था। वह हिन्दू धर्म के बड़े केन्द्रों में से था। हिन्दू धर्म का अन्य केन्द्र बनारस अनेक मन्दिरों से सुशोभित था। ब्राह्मण धर्म की तुलना में बौद्ध धर्म में पतन के लक्षण दृष्टि-गोचर होने लगे थे। ब्राह्मण धर्म क्रमशः अपना प्राचीन प्रभुत्व पद प्राप्त कर रहा था। तपस्वियों और योगियों के अनेक केन्द्र तथा दर्शनशास्त्र के अनेक मत स्थापित हो गये थे। ये ब्राह्मण धर्म की सक्रियता के प्रमाण हैं। जैन और बौद्ध धर्मों की भाँति ब्राह्मण धर्म भी स्पष्टतः मूर्ति-पूजक था। उस समय लोक-प्रिय ब्राह्मण-देवता आदित्य, शिव तथा विष्णु थे और मन्दिरों में उनकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की जाती थीं, जहाँ उनका विस्तृत पूजन-अर्चन होता था। वैदिक और महाकाव्य युग के ब्राह्मण धर्म में अन्तर था। इस काल के ब्राह्मण धर्म की विशेषता उसकी दार्शनिक शाखाओं तथा साधु-वर्गों की अनेकता में थी। दार्शनिक सम्प्रदायों में कपिल और कणाद के अनुयायी, वेदान्ती, आस्तिक और लोकायात प्रमुख थे। साधु-वर्गों में केशलुंचक (मस्तक के बाल उखाड़ने वाले), पाशुपत पंचरात्रिक, भागवत, संख्य जुतिक आदि प्रमुख थे। इन विविध वर्गों के वसन, विश्वास तथा क्रिया-अनुष्ठान भिन्न-भिन्न थे और सभी अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य की खोज में प्रयत्नशील थे। हिन्दू धर्म के पुनर्जीवित होने से बौद्ध धर्म के केन्द्र उखड़ गये थे। श्रावस्ती, वैशाली और कपिलवस्तु का अत्यन्त ह्रास हो चला था और वे अब छोटे-से ग्राम रह गये। बौद्ध धर्म की हीनयान और महायान—दो प्रमुख शाखाएँ थीं। इनके अतिरिक्त १८ अन्य सम्प्रदाय खड़े हो गये थे जो परस्पर एक-दूसरे से अनेक बातों में भिन्न थे। जैन धर्म इतना अधिक प्रचलित न था। वैशाली, पौण्ड्रवर्द्धन और समतट जैन धर्म के प्रमुख केन्द्र थे। जैनियों के श्वेताम्बर सम्प्रदाय का जोर अधिक था।

समाज में परम्परागत चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र थे। प्रथम दो वर्ण अपनी शुद्धता और पवित्रता के लिए प्रसिद्ध थे। कसाई, मछुए

और मेहतर अपवित्र धन्धे करने वाले नगर की प्राचीर के बाहर रहते थे। जब कभी भी वे कार्यवश नगरों में आते तो चुपचाप मार्ग के बायीं ओर दबे-से चलते थे। साधारण मनुष्य की वेश-भूषा बहुत सादी थी। पुरुष वस्त्र का लम्बा टुकड़ा कमर से लेकर बगल तक के भाग पर लपेटते थे और कन्धों को खुला रखते थे। महिलाएँ लम्बा वस्त्र पहनती थीं जो दोनों कन्धों को ढकता हुआ नीचे तक ढीले रूप में लटकता था। सर्दी की ऋतु में तंग बण्डी या फतवी पहनते थे। नर-नारी दोनों ही स्वर्ण के आभूषण जैसे अँगूठियाँ, हार, भुजबन्द आदि स्वच्छन्दता से पहनते थे। शारीरिक और व्यक्तिगत स्वच्छता की दृष्टि से लोग बहुत ही पवित्र रहते थे। भोजन से पूर्व वे हाथ-मुँह धोते थे। बचा हुआ भोजन फिर अन्य समय पर नहीं परोसा जाता था, भोजन के बर्तनों को इधर-उधर लेते-देते नहीं थे, मिट्टी या लकड़ी के बर्तन का प्रयोग होने के बाद फेंक देते थे, परन्तु स्वर्ण, चाँदी, ताँबा या लोहे की धातु के बने बर्तन स्वच्छ करने के बाद प्रयोग में लाये जाते थे। हिन्दू-संस्कृति के विकास में यह एक नया तत्त्व था। दूध, मक्खन, शक्कर, चावल, पका हुआ अन्न और शाक प्रमुख भोजन था। लहसुन तथा प्याज का प्रयोग बहुत कम होता था। इन चीजों का प्रयोग करने वालों को नगर से बाहर कर दिया जाता था। मछली का भोजन निषिद्ध था। समाज के संगठन में जाति विधाता थी। उच्च वर्णों की महिलाएँ पर्दा का प्रयोग नहीं करती थीं। कन्याओं का विवाह छोटी अवस्था में कर दिया जाता था, विधवा विवाह की प्रथा न थी, परन्तु सती-प्रथा का प्रचार था। स्त्री-शिक्षा उच्च जातियों तक ही सीमित थी। साधारण मनुष्यों के विषय में चीनी यात्री कहता है कि लोग सत्यनिष्ठ, भोले और प्रतिष्ठित थे। सांसारिक कार्यों में वे धूर्त नहीं थे। परन्तु न्याय-दान में वे उदार और सहिष्णु थे। अपने आचार-विचार में वे विश्वासघाती या धोखेबाज नहीं थे। अपने वचन और प्रतिज्ञाओं के पक्के थे एवं उनके व्यवहार में अधिक भद्रता, सौजन्यता और मधुरता थी। सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से हर्ष-कालीन भारत नैतिक तथा बौद्धिक उत्कर्ष का युग रहा है।

भौतिक समृद्धि भी कम न थी। लोग धन-सम्पन्न और समृद्धिशाली थे। समृद्धि और सम्पन्नता के केन्द्र नगर थे। कन्नौज तथा अन्य नगरों का वर्णन चीनी यात्री ने किया है, उससे उस काल के भारत के भौतिक ऐश्वर्य का सुन्दर आभास मिलता है। कन्नौज के राजप्रासाद और नालन्दा के गगनचुम्बी विहार उस युग की निर्माण-कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। रेशम, सूत तथा ऊन के वस्त्र बनाये जाते थे। औद्योगिक जीवन विशाल संस्थाओं, समितियों और संघों में संगठित था। शिल्पियों तथा व्यापारियों के संघ समाज के आर्थिक जीवन की नींव थे।

इस युग में शिक्षा का प्रचार अधिक था। बौद्ध मठ धर्म ही नहीं वरन् शिक्षा के भी केन्द्र थे। कन्नौज, गया, मुँगेर, जालन्धर, मनीपुर आदि स्थानों में अनेक मठ थे, जहाँ प्रसिद्ध विद्वान् जिज्ञासुओं को शिक्षा देते थे। परन्तु इन सबसे नालन्दा का विहार समस्त एशिया में प्रख्यात था। नालन्दा का यह विश्वविद्यालय जो इस युग में अपनी उन्नति के शिखर पर था, अन्तरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त शिक्षण-केन्द्र हो गया था। नालन्दा में शिक्षा केवल धार्मिक विषयों तक ही सीमित नहीं थी और न किसी एक धर्म या सम्प्रदाय से ही उसका सम्बन्ध था। धार्मिक सम्प्रदायों के अतिरिक्त शब्द-विद्या, चिकित्सा, दर्शन, भाषा-विज्ञान आदि विविध विषयों की शिक्षा दी जाती थी। नालन्दा की ऊँची अट्टालिकाएँ, वहाँ का असाधारण व्याख्यान-चिन्तन द्वारा ज्ञान-वितरण, उसकी सुविस्तृत पाठ्य-पद्धति, दूर और समीप के उसके विद्यार्थियों का जमघट और इनसे बढ़कर इसके आचार्यों तथा छात्रों के उन्नत आचार तथा गम्भीर विद्वत्ता, तत्कालीन जगत के गर्व की वस्तु थी। इससे देश के नैतिक और शिक्षण स्तर का आभास मिलता है। नालन्दा के अतिरिक्त तक्षशिला और उज्जैन भी शिक्षा और ज्ञान के केन्द्र थे। प्रथम, चिकित्साशास्त्र के लिए और द्वितीय, गणित व ज्योतिष सहित ऐहिक ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थे। कांची, वल्लभी और विक्रमशील भी नालन्दा के समान ही महान् और प्रसिद्ध थे।

सातवीं शताब्दी भारत में हर्ष-युग के नाम से प्रसिद्ध है। भारतीय इतिहास में हर्ष का राज्यकाल युग-विधायक है। यद्यपि गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य की अपेक्षा उसका साम्राज्य अल्पकालीन, कम विस्तृत और कम शक्तिशाली था, तो भी उसने साम्राज्यवादी विचारधारा को पुनर्जीवित किया और उत्तरी भारत को गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् एकता प्रदान की। द्वितीय, उसके शासन-काल में भारत और चीन के मध्य सांस्कृतिक और धार्मिक सम्पर्क, जो कनिष्क के समय से प्रारम्भ हुआ था, अविरल गति से बना रहा। तृतीय, मौलिक भारतीय शिक्षा के विकास में उसका शासनकाल युग-विधायक है। भारत ने विख्यात नालन्दा विश्वविद्यालय के द्वारा विश्व में अपना ज्ञान-विज्ञान वितरण किया। चतुर्थ, जैसा कि इस युग की साहित्यिक अभिव्यक्ति से प्रकट होता है, हर्ष का राज्यकाल संस्कृत के विद्वानों की कृतियों तथा साहित्यिक विकास की दृष्टि से एक स्पष्ट गौरवशाली युग है। अन्त में, हर्ष स्वयं भारतीय नृपति की चिरकाल-सम्मानित परम्पराओं का प्रतीक था। वह महान् शक्तिशाली सम्राट ही नहीं था, वरन् अपनी प्रजा का उपकारक और हितचिन्तक भी था।

राजपूत युग (ईसवी सन् ७००-१२००)

हर्ष का अवसान उसके साम्राज्य के पृथक्करण और विभिन्नीकरण के लिए संकेत था और भारत की राजनीतिक एकता पुनः विलुप्त हो गयी। हर्ष की

मृत्यु के साथ प्राचीन भारत के इतिहास का अन्त तथा मध्य-युग का सूत्रपात हो जाता है। सातवीं शताब्दी के मध्य से बारहवीं शताब्दी के अन्त के युग में समस्त उत्तरी भारत में राजपूत-सत्ता का उत्कर्ष और विकास होता है। इसीलिए इस काल को राजपूतयुग कहते हैं। परन्तु स्वर्गीय श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के मतानुसार यह युग राजपूतयुग नहीं वरन् मध्ययुग कहा जाना चाहिए क्योंकि 'राजपूत' शब्द बहुत ही बाद के समय का है। कुछ भी हो, समस्त उत्तरी भारत अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया था और प्रत्येक राजपूत शासक के अधिकार में था। भारत का इतिहास अब उन अनेक राज्यों का अरुचिकर दुखद वृत्तान्त हो जाता है जो लगातार निर्मित हो रहे थे, विलुप्त हो रहे थे और पुनः निर्मित हो रहे थे। इसलिए यह पृथक्करण, विभिन्नीकरण और विभेद का युग है।

उस युग में कन्नौज में प्रतिहार और गाहड़वाल राजपूतों का, बुन्देलखण्ड में चन्देल और बघेलखण्ड में कलचुरी, गुजरात में चालुक्य, मालवा में परमार, अजमेर और दिल्ली में चौहान और मेवाड़ में सिसोदिया राजपूतों का राज्य था। बंगाल में पाल और सेन वंश का राज्य था, सिन्ध में छछ राजकुल, काश्मीर में कर-कोटक और उत्पल राजकुल, कलिंग में केशरी और पूर्व में गंग, दक्षिण में बादामी का चालुक्य, महाराष्ट्र और कन्नड़ में मान्य खेटका-राष्ट्रकूट, देवगिरि में यादव राजवंश आदि थे।

राजपूत युग की संस्कृति

इस्लाम के आगमन के पूर्व हिन्दू सांस्कृतिक जीवन—बाह्य आतंक का अभाव और उसका प्रभाव—तोरमाण से गजनी के महमूद तक पाँच सौ वर्षों के युग में सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित करने वाले तत्त्वों में सबसे अधिक महत्त्वशाली तत्त्व बाह्य आक्रमण और आतंक का अभाव था। विदेशी अभि-धावन और आक्रमण के भय से भारत मुक्त था। सिन्ध को छोड़ जिसे बगदाद के खलीफाओं ने कुछ वर्षों तक अपने अधिकार में रखा था, भारत विदेशी आक्रमणों से निर्भय था। बाह्य सतर्कता के अभाव ने सातवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक हिन्दुओं को इतना अधिक दुर्बल कर दिया था कि वे देशभक्ति और राष्ट्रीय सम्मान की भावनाएँ विस्मृत कर चुके थे क्योंकि ये भावनाएँ बाह्य आक्रमणों व अभिधावन के आतंक से ही प्रोत्साहित होती हैं।

बाह्य आक्रमणों के आतंक के अभाव का अन्य प्रभाव भारतीयों का अपार दर्प था। अलबरूनी के वृत्तान्त से वह प्रमाणित होता है। वह लिखता है कि "हिन्दू ऐसा विश्वास करते हैं कि उनके देश के समान दूसरा देश नहीं, उनके विज्ञान के समान दूसरे विज्ञान नहीं। हिन्दुओं की ऐसी धारणा हो चली थी कि ईश्वर ने आदेश किया कि उनका देश सुरक्षित रहे और कोई भी विदेशी

वहाँ नहीं पहुँच सकता।" शान्ति की ऐसी भावना राष्ट्रीय महानता के स्रोत को शुष्क करने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकती थी।

विदेशी सम्पर्क का अभाव और उसका घातक प्रभाव—इस युग का दूसरा सबसे अधिक महत्त्वशाली तत्त्व यह है कि इस काल में भारत विश्व के अन्य देशों से पृथक रहा। मध्य एशिया में राजनीतिक उथल-पुथल के परिणामस्वरूप भारत का पश्चिमी देशों और चीन से थल-मार्ग का जो सम्पर्क था, वह नष्ट-प्राय हो गया था। समुद्र मार्ग की प्रभुता भारत के तामिल राज्यों से निकल कर जावा-सुमात्रा के शैलेन्द्र नरेशों के हाथ में चली गयी थी। कोई भी परिचित देश विश्व के अन्य देशों से पाँच सौ वर्षों के दीर्घ काल तक इतना पृथक् नहीं रहा, जितना कि भारत। इसका प्रभाव सुदूर तक प्रभावित करने वाला था। विचारों में पूर्ण पृथक् और विश्व में होने वाली घटनाओं के ज्ञान से वंचित होने पर भारतीय लोग अपना विचार करने में रुक गये थे। उनकी संस्कृति और सभ्यता क्षय होने लगी और विभिन्न अममान संस्कृतियों के उत्पादक सम्पर्क के अभाव में भारतीय संस्कृति में अस्वाभाविकता आ गयी थी। यह अवनति सभी क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होने लगी थी।

सांस्कृतिक ह्रास की प्रवृत्तियाँ—वास्तव में भारतीय जीवन के समस्त क्षेत्रों में प्रगतिशीलता, नवीनता, मौलिकता और दृष्टिकोण की विशालता का अन्त हो गया एवं गतिहीनता, प्रतिगामिता, शिथिलता और संकीर्णता की प्रवृत्तियाँ प्रबल होने लगीं। निरन्तर दो सहस्र वर्षों तक प्रगति करने के बाद भारत थकावट और वृद्धावस्था का अनुभव करने लगा। धीरे-धीरे यौवनकाल की क्रियाशीलता, उत्साह, साहस, शौर्य नष्टप्राय हो गये तथा वृद्धावस्था की कट्टरता, धर्म-प्रेम, रूढ़ि-प्रियता एवं अनुदारता प्रबल होने लगीं। इस परिवर्तन में कई शताब्दियाँ लग गयीं। समाज स्थूल हो गया और जाति-प्रथा अत्यन्त ही अपरिवर्तनशील हो गयी। पूर्व के युगों के विदेशियों को अपने में पूर्णरूपेण मिला लेने वाला हिन्दू समाज इस युग में अपनी पाचन सामर्थ्य खो बैठा। विदेशी तुर्कों और मंगोलों को अपना अंश बनाने में वह असमर्थ हो गया। साहित्य में काव्य-पद्धति की अवनति हो गयी। कालिदास की सुमधुर, सन्तुलित एवं प्रसाद-गुण-सम्पन्न शैली का स्थान अप्राकृतिक, अलंकार और अतिशयोक्ति-प्रधान शैली ने ले लिया। दार्शनिक अपनी समस्त विद्वता प्राचीन ग्रन्थों का भाष्य लिखने और बाल की खाल निकालने में ही नष्ट करने लगे। बौद्धिक क्षेत्र में अन्वेषण और मौलिकता की प्रवृत्तियाँ विलुप्त हो गयीं। वास्तु-कला में सुरुचि नष्ट हो गयी और प्राचीन भव्य मन्दिरों के स्थान पर अब पाषाण पर नैतिक दूपितता और कुटिलता को अंकित किया गया जो उच्च वर्गों के नितान्त नैतिक पतन को प्रकट करती है। धर्म भी विषाक्त हो गया। धर्म में कर्मकाण्ड की

वृद्धि और परलोक-वाद की प्रधानता इस युग की विशेषता हो गयी। साधारण हिन्दू का जीवन व्रत-उपवास, पूजा-पाठ आदि के नियमों से जटिल हो गया। जीवन को क्षणिक और नश्वर मानकर उसकी उपेक्षा की जाने लगी और सांसारिक ऐश्वर्य और समृद्धि की निस्सारता को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। पूजन-अर्चन में मांस, मछली, सुरा, नारी आदि प्रत्येक वस्तु को सम्मिलित करने की अनुमति हो गयी। शंकराचार्य द्वारा स्थापित मठ कालान्तर में विलासी-जीवन के केन्द्र हो गये। दक्षिण भारत में देवदासी प्रथा ने मन्दिरों में वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहित किया जिसके परिणामस्वरूप नैतिक बन्धन ढीले हो गये।

राजपूत

अभिमानी कुलीनतन्त्र—राजपूत अपने आपको देश में सबसे अधिक विशुद्ध रक्त का मानते थे और अपनी उत्पत्ति भारतीय देवी-देवताओं तथा वीर पुरुषों से बताते थे। वे शीघ्र ही अभिमानी कुलीनतन्त्र के रूप में अनेक विशेषाधिकार सहित विकसित हो गये। कुलीनतन्त्र के अभिमान के साथ-साथ उनमें वीरता की भावना भी विकसित हुई और वे सदैव उत्कृष्ट कार्यों के हेतु अपने आप को अर्पण कर देते थे, यद्यपि एक राजपूत की प्रबल प्रवृत्ति युद्ध करने की होती थी परन्तु वह पराजित शत्रु के प्रति, जो शरण की भिक्षा माँगता था, दयालु रहता था। विजय होने पर कोई भी राजपूत कदाचित ही नृशंसता के वे कार्य करता था जो मुस्लिम विजय के साथ-साथ अवश्यम्भावी होते थे। वह युद्ध में न तो कभी विश्वासघात करता था और न निर्धन तथा अनभिज्ञ लोगों को कष्ट पहुँचाता था। अपनी स्त्रियों का सम्मान करने में राजपूत अपना गौरव समझते थे और उनकी तथा उनके सम्मान की सुरक्षा के हेतु वे अपने प्राण की बाजी भी लगा देते थे। विदेशी आक्रमणकारियों का वे सबसे कड़ा प्रतिरोध करते थे; परन्तु एक बार वरिष्ठ शक्ति को आत्मसमर्पण कर देने पर और अपने अधिपति को स्वामि-भक्ति का वचन देने पर वे उसके प्रति तब तक स्वामि-भक्त रहते थे जब तक कि वह अधिपति अपना वचन अथवा करार स्वयं भंग न कर दे। युद्ध में मृत्यु प्राप्त करना एक राजपूत के लिए गौरव की बात मानी जाती थी। पुरुषों के समान राजपूत स्त्रियों में पति-भक्ति, सम्बन्धियों के प्रति स्नेह, सतीत्व, सत्यनिष्ठा और देश-भक्ति जैसे नारीत्व के उच्च आदर्शों की अन्तर्प्रेरणा थी। वे संकट के समय विलक्षण साहस, महान् उपाय-कुशलता और दृढ़ संकल्प प्रदर्शित करती थीं। उनका जीवन अत्यन्त साहस तथा शूरत्व का होता था। अपने सतीत्व और सम्मान की रक्षा के हेतु अग्नि में भस्म होने (जौहर-प्रथा) और मृत पति की चिता पर सती होने के उनके अनेक ज्वलन्त उदाहरण हैं।

राजपूतों की गोत्रीय संकीर्ण देशभक्ति—अपने वंश या कुल तथा गण के प्रमुख के प्रति राजपूत अत्यन्त ही स्वामिभक्ति होते थे। अपने कुल या गोत्र के लिए अथवा अधिपति की मृत्यु या घातक आघात से रक्षा करने के लिए रणक्षेत्र में मर जाने में राजपूत महान् गौरव समझते थे और इसे व्यक्तिगत विजय मानते थे। राजपूत अभिमानी होते थे और शीघ्र ही अपमान मानकर प्रतिहिंसा के लिए उद्यत हो जाते थे। राजपूत इतिहास कुलों के हेतु रक्तिम संघर्षों से भरा पड़ा है जो कभी-कभी सूक्ष्म उपक्षेत्रीय कारण से भी हो जाते थे। जातीय अहंकार की भावना इतनी प्रबल हो गयी थी कि छोटी-छोटी घटनाओं को लेकर उनमें परस्पर युद्ध हो जाया करते थे। अपनी इस संकीर्ण गोत्रीय भक्ति के कारण राजपूत समस्त भारत की देशभक्ति के प्रति उदासीन हो गये थे। परिणामस्वरूप जब विदेशी सैन्यों ने भारत पर आक्रमण किया, तब राजपूत कुलों ने एक ही नेतृत्व में सुसंगठित होकर प्रतिरोध करने की अपेक्षा प्रायः व्यक्तिगत रूप से उनका सामना किया, जिसका फल देश के लिए घातक सिद्ध हुआ। कतिपय अवसरों पर जब कभी वे संगठित हुए, उनकी एकता समस्त भारत के राजनीतिक एकीकरण की दृष्टि से प्रेरित नहीं थी, अपितु संकट-ग्रस्त राजपूत बन्धु की सहायता के निमन्त्रण के प्रत्युत्तर में थी। यदि वे अपने पारस्परिक वैमनस्य व ईर्ष्या-द्वेष को त्यागकर साधारण शत्रु के विरुद्ध किसी प्रकार के दीर्घकालीन संघ में संगठित हो जाते तो निस्सन्देह भारत का इतिहास दूसरे रूप में ही लिखा जाता।

राजपूत शासन—राजपूतों का शासन सामन्तवादी था। समस्त राज्य जागीरों में विभक्त था जिनके अधिपति जागीरदार भी राजा के कुल या गोत्र के ही होते थे। राज्य की शक्ति और सुरक्षा इन जागीरदारों या सामन्तों पर ही अवलम्बित थी। ये सामन्त, जब कभी उनसे माँग की जाती थी, अपने राजा को सैनिक सहायता देते थे। व्यक्तिगत स्वामिभक्ति और सेवा की भावना से ये अपने स्वामी से सम्बन्धित थे और संकट-काल तथा कठिनाई के समय अपनी स्वामिभक्ति को प्रदर्शित व प्रमाणित करने के लिए सदैव उत्सुक रहते थे। उन्हें अपने स्वामी को कुछ निश्चित कर भी देने पड़ते थे और युद्ध के समय सैनिक सहायता भी। इन सामन्तों के विविध वर्ग थे और प्रत्येक वर्ग के शिष्टाचार व व्यवहार के नियम निर्दिष्ट थे जिनका पालन सावधानी व सतर्कता से करना अनिवार्य था। राज्य की आय का प्रमुख साधन भूमि-कर था। इसके अतिरिक्त सामन्तों से प्राप्त होने वाले वार्षिक कर एवं व्यापार तथा उद्योग-धन्धों पर लगाये हुए करों से भी अच्छी आय होती थी। इस प्रकार का शासन दक्ष नहीं हो सकता था। यह व्यक्तिवाद को प्रोत्साहित करता था और राज्य में सभी के हेतु राजनीतिक तत्त्वों के संगठन में बाधक

था। राजा इस शासन-व्यवस्था के शिरोभाग पर था। वह निरंकुश ही नहीं स्वेच्छाचारी भी होता था। प्राचीनकाल की प्रचलित सभाएँ व समितियाँ सर्वथा विलीन हो गयी थीं। राजा अपने को ईश्वरीय अंश समझता था। जब तक वह दृढ़ और शक्तिशाली रहता, शासन-संचालन यथाविधि चलता, परन्तु दुर्बल होने पर उसकी राजनीतिक सत्ता नगण्य हो जाती और सामन्त अपनी सत्ता स्थापित कर लेते थे। युद्ध करना राजा का कर्तव्य समझा जाता था। फलतः वैमनस्य, संग्राम व संघर्ष परम्परागत हो गये थे। युद्ध भयंकर होते थे। ग्रामों व नगरों को जलाकर भस्मीभूत कर देते थे और पराजित राजा व अधिकारियों को बन्दी बना लिया जाता था। प्रोत्साहन व प्रेरणा देने के लिए राजसभा व युद्धों में भाट, कवि व चारण रहते थे।

क्षेमेन्द्र के ग्रन्थों, राजतरंगिणी और विष्णु धर्मशास्त्र में नियमित नौकरशाही के उल्लेख हैं। उनमें एक के ऊपर एक अधिकारी गण थे। अधिकारियों के लिए 'कायस्थ' शब्द का प्रयोग होता था। आठवीं सदी के मध्य से अंकित किये हुए अनेक अभिलेखों में कायस्थ नामक अधिकारियों का उल्लेख है। प्रमुख रूप से अधिकारी वर्ग की भर्ती ब्राह्मणों और शूद्रों की उन कतिपय जातियों में से होती थी जिनकी शिक्षा की कुछ परम्पराएँ थीं। राजा व प्रजा में घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं था। वास्तव में समाज में दो वर्ग थे। प्रथम वर्ग राजपूत शासकों का था जो आत्म-सम्मान, वंश-परम्परा व कीर्ति तथा धर्म के नाम पर युद्ध करना जीवन का एक प्रमुख धर्म मानता था। द्वितीय वर्ग जनसाधारण का था जो निरन्तर संग्रामों, सामन्तों व नरेशों के ऐश्वर्य व भोग-विलासमय जीवन का व्यय सहन करता था।

यद्यपि राजपूत राज्यों में ऐसी सुदृढ़ शासन-व्यवस्था का विकास न हो सका जो दीर्घकालीन शान्ति और सुरक्षा स्थापित कर सके, परन्तु फिर भी शासन-केन्द्रों से अति दूर ग्रामों में स्थानीय स्वायत्त शासन शान्तिपूर्वक चलता रहा। राजकुलों का उत्कर्ष और पतन ग्रामों में स्थानीय जीवन की धाराओं को प्रभावित न कर सका। ग्राम का प्रमुख प्रथानुसार अपने कर्तव्यों का पालन करता रहा। यह राज्य का भूमि-कर संग्रह करता था और ग्राम की पंचायत दीवानी और फौजदारी न्याय दान करती थी। इसी प्रकार गाँव के पटेल और पटवारी भी अपना-अपना कार्य करते थे।

सामाजिक जीवन—प्राचीन सामाजिक व्यवस्था नष्ट हो गयी थी। ब्राह्मणों ने जाति-बन्धन दृढ़ कर दिये और जाति की अपरिवर्तनशीलता में वृद्धि कर दी। परिणामस्वरूप चार मूल वर्णों के स्थान पर जिसमें हिन्दू समाज विभक्त था, अब अनेक नवीन जातियों और उप-जातियों का प्रादुर्भाव हो गया था। ये जातियाँ जन्म, उद्योग-धन्धे, निवासस्थान तथा ऐसे ही तत्त्वों से सम्बन्धित

हो गयीं। सम्भवतः विभिन्नीकरण की यह प्रक्रिया ब्राह्मण जाति से प्रारम्भ हुई। प्रारम्भ में ब्राह्मण विभिन्न जातियों में नहीं विभाजित थे। उनमें शाखा और गोत्र का ही भेद था। पर अब प्राचीनकाल के ऋग्वेदी और यजुर्वेदी ब्राह्मणों के अतिरिक्त उनकी उपजातियाँ परिवर्द्धित हुई और वे अपनी प्रादेशिक सीमाओं के अनुसार प्रसिद्ध हो गयीं, जैसे कन्नौजी, गौड़, तेलगू, कोकणस्थ ब्राह्मण आदि। इनका अनुकरण क्षत्रियों और वैश्यों ने भी किया और इनमें भी इसी प्रकार की उपजातियाँ बनने लगीं। कालान्तर में उद्योग-धन्धों के आधार पर अनेक जातियाँ निर्मित हो गयीं, जैसे जुलाहे, लुहार, मछुए, ग्वाले, बढ़ई, रस्सी बनाने वाले आदि। वास्तव में उनका उदय शिल्प-संघों के रूप में हुआ था और बाद में स्पष्ट उपजातियाँ मानी जाने लगीं। देश के सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर इन सबका दुष्प्रभाव हुआ क्योंकि प्रत्येक उपजाति की सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि उसके हित तक ही सीमित हो गयी। इसके अतिरिक्त सामाजिक प्रगति बन्द हो गयी और इन उपजातियों के बन जाने से हिन्दू समाज की प्राचीन पाचन-शक्ति और आत्मीयकरण की प्रवृत्ति लगभग विलुप्त हो गयी। पूर्व-काल में जिस प्रकार विदेशी जातियां हिन्दू समाज में घुल-मिल गयी थीं, वैसा अब सम्भव न रहा था। जाति-बन्धन इतने कठोर थे कि उनमें नवीन तत्त्वों का प्रवेश निषिद्ध हो गया, पर उद्योग-धन्धों की स्वतन्त्रता अब तक बनी हुई थी। क्षत्रिय केवल शस्त्र ही नहीं चलाते थे वरन् लेखक द्वारा महत्त्वशाली कृतियों की रचना भी करते थे। चौहान राजा विग्रहराज का 'हरिकेल नाटक' आज भी शिलाओं पर अंकित उपलब्ध है; राजा भोज का विद्यानुराग और विद्वत्ता का प्रमाण आज भी धार की भोज-शाला में विद्यमान है; पूर्वीय चालुक्य राजा विनयादित्य ने गणितशास्त्र के प्रकाण्ड पंडित होने से गुणक की पदवी प्राप्त की थी। वैश्य भी अनेक कर्म करते थे। वे शासन-संचालन में अधिकारी थे, राज-मन्त्री होते थे, सेनापति बनते एवं युद्धों में भी भाग लेते थे, पर उन्होंने शिल्प-कला के कार्य छोड़ दिये थे जिन्हें अब शूद्र करने लगे थे।

समाज में महिलाओं का सम्मान था। तत्कालीन साहित्य में ऐसे कोई सबल प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं जो उस समय दृढ़ पर्दा-प्रथा के अस्तित्व के पक्ष में हों। ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियों ने कला और विज्ञान को अपनी देन प्रदान की और विद्वानों के साथ वे तर्क-वितर्क करती थीं। कुलीन परिवारों की स्त्रियाँ वेदाध्ययन से वंचित होने पर भी मौलिक साहित्य और दर्शन का अच्छा अभ्यास करती थीं। हर्ष की भगिनी राज्यश्री प्रकाण्ड विदुषी थी। एक अवसर पर शंकराचार्य को मण्डन मिश्र की महान् विदुषी पत्नी ने शास्त्रार्थ में निरुत्तर कर दिया था। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि राजशेखर की धर्म-पत्नी

अवन्तिसुन्दरी भी अपने पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध थी। इस युग की संस्कृत साहित्य की कवयित्रियाँ इन्दुलेखा, मारुला, मोरिका, विज्जिका, शीला, सुभद्रा पद्मश्री, मदालसा और लक्ष्मी थीं। चित्रकला के अतिरिक्त नृत्य व संगीत की शिक्षा भी समाज के उच्च वर्णों की स्त्रियों को दी जाती थी और नरेशों तथा योद्धाओं की कन्याओं को घुड़सवारी की शिक्षा भी दी जाती थी। कतिपय नारियों ने इस युग में शासन-व्यवस्था तथा युद्ध-कौशल जैसे कार्यों में विशेष दक्षता प्राप्त की थी। दक्षिण भारत के पश्चिमी सोलंकी नरेश विक्रमादित्य की बहन अक्कादेवी वीर प्रकृति की ही नहीं थीं, अपितु शासन-कार्य में भी प्रवीण थीं। वह चार प्रदेशों की शासिका थीं और उसने जिला बेलगाँव के गोकागे के किले पर आक्रमण कर उसे घेर लिया था।

बाल्यकाल में ही विवाह करने की प्रथा का प्रचार हो रहा था। विधवा-विवाह निषिद्ध था और विधवाएँ जीवन भर भयंकर यातनाएँ सहन करती थीं। उनका जीवन तपस्विनी जैसा था। सती-प्रथा का प्रचार दिन-प्रतिदिन अधिक व्यापक होता जा रहा था। अनेक बार कन्याओं के उत्पन्न होते ही उन्हें मार डाला जाता था।

राजपूत लोग अपनी स्त्रियों से प्रेम करते और उनका सम्मान करते थे। राजपूत महिला स्वतन्त्रता और क्षत्रियों की प्राचीन स्वयंवर की प्रथा का आनन्द उठाती थीं। उनके हृदय में नारीत्व के उच्च आदर्शों की प्रेरणा थी, वे अपने आचार-विचार में विशुद्ध थीं, सतीत्व का पालन करती थीं, देशभक्ति की भावना रखती थीं और विदेशी विजेता के हाथों से दूषित होने की अपेक्षा 'जौहर' कर अपने धर्म और सतीत्व की रक्षा करती थीं। परन्तु साधारण स्त्रियों की पराधीनता और परवशता इस युग में निरन्तर बढ़ती ही गयी; दाम्पत्य के स्वत्वों में विषमता आने लगी और स्त्री का पद निम्न-स्तर पर हो गया। उन्हें वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित कर दिया गया। इसी समय धीरे-धीरे यह मत भी प्रतिपादित हुआ कि स्त्री सदैव परतन्त्र रहनी चाहिए, उसे दुश्चरित्र पति की भी सेवा करनी चाहिए। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे स्त्रियों को शूद्रों के समान समझा जाने लगा।

खान-पान में अहिंसा का बौद्ध सिद्धान्त लोगों के हृदयों पर अभी भी अपना प्रभुत्व जमाये हुए था। अतएव लोग भोजन में मांस का प्रयोग नहीं करते थे। परन्तु उच्च जातियाँ स्वच्छन्दता से मद्य-पान करती थीं। राजपूतों में अफीम का प्रयोग अत्यधिक था जिससे उनकी बुद्धि कुण्ठित हो गयी थी। धूम्रपान का प्रचार सम्भवतः नहीं हुआ था परन्तु पान का प्रयोग था।

संक्षेप में, हिन्दू समाज की आत्मीयकरण की प्रवृत्ति विलुप्त हो गयी थी। लोग अनभिज्ञता में रखे जाते थे; अपवित्र, अवांछनीय अन्धविश्वासों में पाले

जाते थे और दिव्य अगणित त्यौहारों द्वारा प्रसन्न किये जाते थे। उपजातियों की संख्या और जाति-प्रथा की अपरिवर्तनशीलता की वृद्धि और सभी प्रकार के आध्यात्मिक तथा ऐहिक ज्ञान के संरक्षक होने का दावा करने वाले ब्राह्मणों की प्रभुता ने जनता के राजनीतिक और सामाजिक दृष्टिकोण को संकुचित कर दिया और बन्धुत्व की भावना के विकास में बाधा पहुँचायी। इस युग में धीरे-धीरे हिन्दू-समाज में अनुदारता, असहिष्णुता, अन्धरूढ़िवादिता एवं शिथिलता आ गयी थी। उसकी प्राचीन व्यापकता व प्रगतिशीलता मन्द हो गयी थी और समाज में अब विदेशियों को अपनाने की शक्ति व सामर्थ्य नहीं रही थी।

साहित्य—राजपूत नरेश साहित्य और कला के बड़े संरक्षक थे। कुछ राजपूत राजा तो स्वयं यशस्वी लेखक थे। राजा मुंज में उच्च श्रेणी की काव्य-प्रतिभा थी। धार के राजा भोज चिकित्सा, ज्योतिष, व्याकरण, धर्म, वास्तु-कला, ललित-कलाएँ आदि विविध विषयों के ग्रन्थों के प्रणेता थे। उनकी राजसभा पद्मगुप्त, हलायुध, धनंजय, अमितगति आदि जैसे प्रख्यात साहित्यिकों से सुशोभित थी। राजकीय संरक्षण में विद्वानों और लेखकों ने उपयोगी ग्रन्थों की रचना की और काव्य, नाटक, कानून, राजनीति, इतिहास, विज्ञान और चिकित्सा पर कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ इस युग में लिखे गये। इस समय के काव्य-ग्रन्थों में भट्ट का 'रावण-वध', माघ का 'शिशुपाल वध' तथा श्री हर्ष का 'नैषधीय चरित' उल्लेखनीय है। मुक्तक और गीत-काव्य की रचना भी इस युग में हुई थी। भर्तृहरि के श्रृंगार, वैराग्य और नीतिशतक मुक्तक-काव्य के उत्तम उदाहरण हैं। महाकवि जयदेव का 'गीत गोविन्द' अद्वितीय गीत-काव्य है। इसके रमणीक गीतों की कोमलकान्त पदावली में कृष्ण तथा वृन्दावन की गोपियों का प्रेम-सम्बन्ध है। नाटकों के लेखकों में 'मालती-माधव', 'उत्तर रामचरित', 'महावीर चरित' के लेखक भवभूति अद्वितीय थे। पद और प्रतिष्ठा में वह कालिदास से ही नीचे हैं। दूसरे नाटककारों में 'वेणीसंहार' के लेखक भट्टनारायण, 'अनर्घ राघव' के मुरारि और 'कर्पूर मंजरी' के राजशेखर प्रमुख थे। संस्कृत गद्य के सबसे बड़े लेखक 'वासवदत्ता' के प्रणेता सुबन्धु, 'कादम्बरी' और 'हर्ष चरित' के लेखक बाणभट्ट और 'दशकुमार चरित' के प्रणेता दण्डी थे। पद-लालित्य की दृष्टि से दण्डी तथा वर्णन-कौशल की दृष्टि से बाणभट्ट अद्वितीय रहे। इसके अतिरिक्त 'धनपाल चरित', 'तिलक मंजरी' तथा 'यशस्तिलक' भी इस युग के गद्य के सुन्दर उदाहरण हैं। इतिहासकारों में राजतरंगिणी' के लेखक कल्हण और 'विक्रमांक चरित' के रचयिता बिल्हण और 'रामचरित' के साध्वकारनन्दिन्त तथा 'नवसाहसांक चरित' के पद्मगुप्त परिमल उल्लेखनीय हैं। 'रामचरित' में पाल-वंश का इतिहास रामपाल के समय तक दिया हुआ है, 'नवसाहसांक चरित' में राजा भोज के पिता सिन्धुराज का

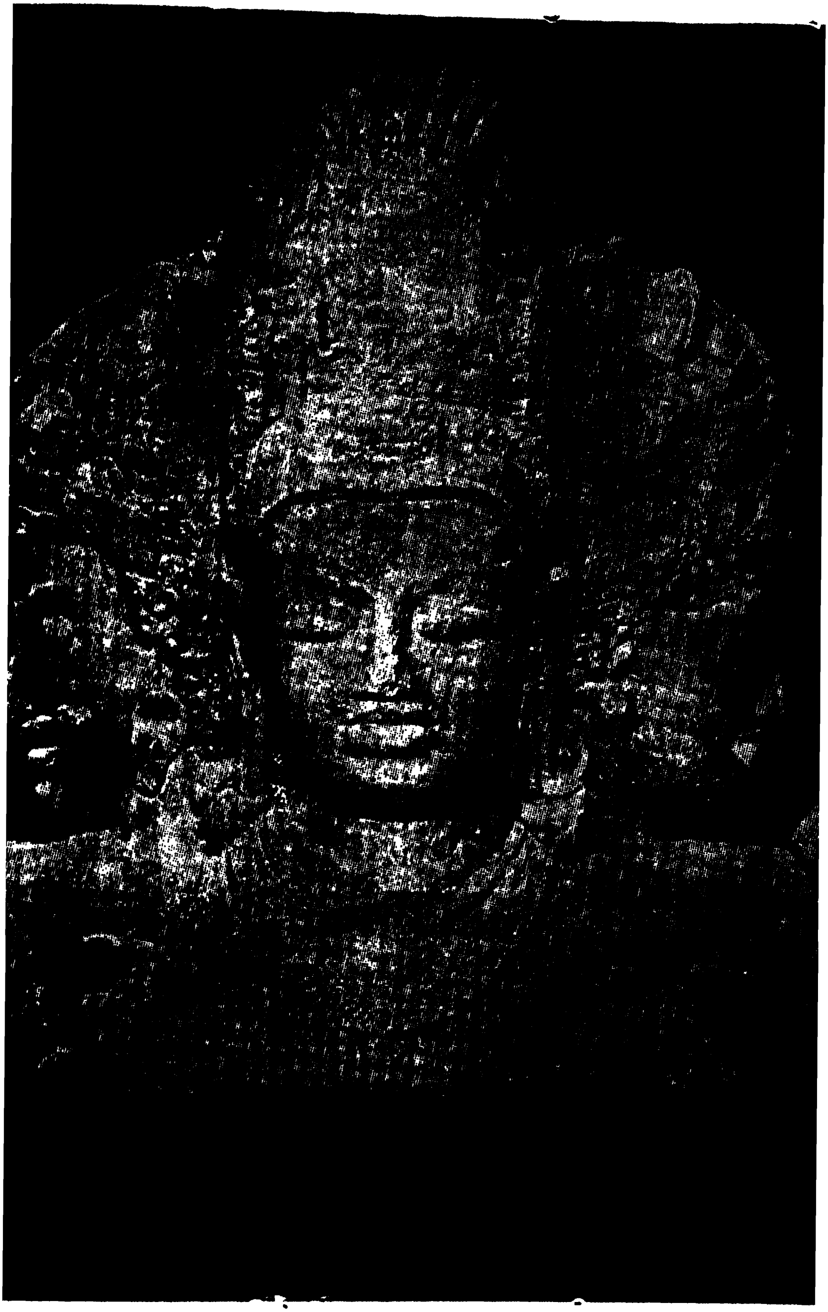
चरित्र है, और 'विक्रमांक चरित्र' में चालुक्य-वंश के विक्रमादित्य षष्टम का जीवन-चरित्र है तथा 'राजतरंगिणी' में बारहवीं सदी तक काश्मीर के इतिहास का सुन्दर एवं सरस वर्णन है। इनके अतिरिक्त 'पृथ्वीराज विजय' के लेखक जयानक और 'कुमारपाल चरित' के लेखक हेमचन्द्र भी उल्लेखनीय हैं। कथा-साहित्य में भी प्रगति हुई। इस क्षेत्र में क्षेमेन्द्र ने 'वृहत्कथा मंजरी' तथा सोमदेव ने 'कथा सरित्सागर' की रचना की। पिछला ग्रन्थ बहुत बड़ा है और कथाओं का अमूल्य भण्डार है। इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थ 'बैताल पंचविंशति', 'सिंहासन-द्वात्रिंशिका', और 'शुक सप्तति' हैं। अलंकारशास्त्र के विकास द्वारा काव्य के विविध अंगों जैसे रस, ध्वनि, गुण का दोष और अलंकारों का सूक्ष्म विवेचन किया गया। दण्डी, आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि विद्वानों ने काव्यशास्त्र को प्रौढ़ता तक पहुँचाया। इसका परिणाम यह हुआ कि कविता में सहज-सौन्दर्य की अपेक्षा अलंकार-प्रधान शैली प्रमुख हो गयी। व्याकरण में जयादित्य और वामन ने पाणिनीय सूत्रों पर 'काशिकावृत्ति' के नाम से भाष्य लिखा। भर्तृहरि ने 'वाक्य प्रदीप', 'महाभाष्य दीपिका' और महा-भाष्य त्रिपदी' नाम के ग्रन्थ लिखे। इसके अतिरिक्त शर्व वर्मा का 'कातन्त्र' व्याकरण ग्रन्थ लोकप्रिय रहा। सिद्धराज की राजसभा के विद्वान् हेमचन्द्र ने भी 'सिद्धहेम' नामक प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ लिखा। कानून, चिकित्सा और ज्योतिष के लेखकों में हिन्दू कानून के प्रसिद्ध भाष्य 'मिताक्षरा' के प्रणेता विज्ञानेश्वर, 'अष्टांग हृदय' के लेखक प्रसिद्ध वैद्य वाग्भट्ट और 'सिद्धान्त-शिरोमणि' के लेखक भास्कराचार्य विशेष उल्लेनीय हैं। इस युग में राजनीति-शास्त्र पर प्रसिद्ध रचना शुक्रनीति है। कामशास्त्र में वात्स्यायन के 'कामसूत्र' पर टीकाओं की रचना हुई और स्वतन्त्र रूप से कोका पण्डित द्वारा 'कोकशास्त्र' लिखा गया। संगीत शास्त्र पर भी शारंगदेव ने 'संगीत रत्नाकर' लिखा। धर्मशास्त्र के क्षेत्र में इस युग में नवीन मौलिक स्मृतियों की रचना तो नहीं हुई परन्तु प्राचीन स्मृतियों पर टीकाएँ और भाष्य लिखे गये। विभिन्न सम्प्रदायों के साम्प्रदायिक साहित्य की रचना भी इस काल में हुई। इसके अतिरिक्त कुछ दार्शनिक साहित्य का भी निर्माण हुआ जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण शंकराचार्य के वैदिक भाष्य थे। इस युग में साहित्य में एक नवीन प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है और वह है प्रादेशिक भाषाओं का उत्कर्ष। राजपूत भाट अपने स्वामियों, संरक्षकों और उनके पूर्वजों के वीरतापूर्ण कार्यों को जनता की उत्तेजित भाषा में गाते थे। इन भाटों में 'पृथ्वीराज रासो' का लेखक चन्द बरदाई सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में उसके संरक्षक नरेश पृथ्वीराज के वीरतापूर्ण कार्यों का दिग्दर्शन है।

शिक्षा—इस युग में शिक्षा-पद्धति प्राचीन ढंग की ही थी। आचार्यों के

आश्रम में जाकर विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। किन्तु बौद्ध-विहार भी अब धीरे-धीरे शिक्षा-प्रचार का कार्य करने लगे थे। बंगाल और बिहार ऐसे विहारों से भरा पड़ा था। इनमें नालन्दा सबसे अधिक प्रसिद्ध था। इसके अतिरिक्त पूर्वी बिहार में विक्रमशील, पूर्वी बंगाल में विक्रमपुर, उत्तरी बंगाल में जगधल और पटना जिले में ओदन्तपुरी भी शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे जहाँ धार्मिक व लौकिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी।

शिल्प और कला—राजपूतयुग में वास्तु-कला की विविध शैलियों का सुन्दर विकास हुआ। वस्तुतः भारतीय वास्तु-कला और मूर्ति-कला इस युग में अपने अति मनोहर रूप में अभिव्यक्त हुई। गुप्तयुग और इस युग की कला में विभेद यह है कि गुप्तयुगीन कला में ओज, स्वाभाविकता और नवीनता थी; इस युग में इनका अभाव रहा, पर लालित्य की वृद्धि हुई। कला-मर्मज्ञों ने इस कला के विकास को दो भागों में विभाजित किया है—प्रथम, पूर्व राजपूत काल या पूर्व मध्यकाल (ईसवी सन् ६००-९००) और उत्तर राजपूत-काल या उत्तर मध्यकाल (९००-१२००)। पूर्वार्द्ध-युग में मामल्लपुरम के रथ और प्रतिमाएँ, एलौरा का कैलाश मन्दिर व मूर्तियाँ और धारापुरी (एलिफेण्टा) टापू की भव्य मूर्तियाँ निर्मित हुई हैं। उत्तर मध्ययुग में शिल्प-कला के पाँच विशिष्ट केन्द्र थे—खजुराहो, उड़ीसा, राजस्थान, दक्षिण के चोल और होयसल राज्य। प्रथम युग में कला समुन्नत रही परन्तु दूसरे युग में कला को अलंकृत करने पर अधिक महत्त्व दिया गया और अलंकरणों की बाहुल्यता रही। इसके अतिरिक्त कला में प्राचीन कला की मौलिकता अदृश्य हो गयी। शिल्पीगण वास्तु-कला की प्राचीन परम्पराओं का अनुसरण करते हुए अपनी कृतियों को अत्यधिक भड़कीली बनाने में सतत् प्रयत्नशील रहे। इसलिए यह कहा गया है कि यह युग कला-सौन्दर्य का नहीं किन्तु चमत्कार का है। इस कला की कला-कृतियों में कला नहीं अपितु कला का भास है। कुछ स्थलों पर इस युग की कला पर तन्त्रवाद का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है जिससे अश्लील मूर्तियाँ निर्मित हुई। इसी प्रकार चित्र-कला भी प्रगति और विकास की अपेक्षा निम्नाभिमुख हुई एवं उसमें अपभ्रंश शैली प्रमुख हो गयी।

इस युग के राजपूत शासक योग्य निर्माता थे। उनके बनाये हुए सिंचाई के साधन, घाट, तालाब, बावड़ी, किले, परकोटे, बुर्ज, तोरण-द्वार तथा राजप्रासाद उनकी भवन-निर्माण-कला-कौशल का सुन्दर परिचय देते हैं। दुर्ग-निर्माण-कला तो इस युग में उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। चित्तौड़, रणथम्भौर, माण्डू, ग्वालियर, जोधपुर के दुर्ग व उनकी शिल्प-कला और इंजीनियरों की दक्षता के प्रबल प्रमाण हैं। राजपूतों के राजप्रासादों की निर्माण-कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना ग्वालियर में मानसिंह का महल, उदयपुर में पिछौला



घारापुरी (एलिफण्टा) टापू की गुफा में भव्य त्रिमूर्ति । (पृष्ठ ३०४)

की झील के महल, और आम्बेर (जयपुर) के महल हैं। राजपूतों के अनेक राजप्रासाद सुन्दर कृत्रिम झीलों के मनोरम तटों पर बने हुए हैं परन्तु जोधपुर का दुर्ग उच्च और अभेद्य चट्टान पर निर्मित है।

किन्तु इस युग की शिल्पकला के प्रमुख स्मारक मन्दिर हैं जिनके निर्माण में राजपूत नरेश खुले हाथ से दान देते थे। यद्यपि आक्रमणकारी विध्वंसकों द्वारा अनेक मन्दिर नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये हैं परन्तु पर्याप्त अध्ययन के लिए अनेक मन्दिर बच भी गये हैं। इन मन्दिरों में तीन प्रकार की शिल्प शैली अर्थात् भारतीय-आर्य, चालुक्य और द्राविड़ प्रणालियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। भारतीय आर्य-प्रणाली के मन्दिरों में मूर्ति-प्रकोष्ठ का ऊपरी भाग गुम्बदाकार होता है। यह गुम्बद वक्ररेखात्मक बुर्ज के समान होता है जो ऊपर की ओर छोटा होता चला जाता है। मूर्ति-प्रकोष्ठ के चतुर्दिक परिक्रमा के लिए मार्ग होता है। एवं ऊपर उच्च वर्तुलाकार शिखर होता है जो मन्दिर के गौरव और महिमा को अधिक प्रभावोत्पादक कर देता है। शिखर के ऊपर आमलक और उसके ऊपर कलश और ध्वज-दण्ड होता है। मूर्ति-प्रकोष्ठ के सम्मुख एक बड़ा सभामण्डप होता है जिसमें भक्त-गण एकत्र होते हैं। इसके ऊपर भी गोल गुम्बद होता है। उड़ीसा में भुवनेश्वर का 'लिंगराज' मन्दिर और बुन्देलखण्ड में खजुराहो का 'महादेव' मन्दिर आर्य-प्रणाली के उदाहरण हैं। उड़ीसा के मन्दिरों की अपनी एक शैली रही है। इस उड़ीसा शैली के मन्दिरों में चार प्रमुख भाग होते हैं—(१) श्री मन्दिर या विमान, (२) जगमोहन या स्तम्भ वाला सभामण्डप, (३) नट मन्दिर, और (४) भोग मन्दिर। छोटे-मोटे मन्दिर व भवन प्रमुख मन्दिर के चारों ओर होते हैं। भुवनेश्वर के मन्दिर का शिखर १८० फुट ऊँचा है और खजुराहो के मन्दिर का उच्च शिखर अनेक छोटे-छोटे शिखरों से मिलाकर निर्मित किया गया है और ऊपर से नीचे तक विविध प्रकार के अलंकरणों और प्रतिमाओं से सुशोभित किया हुआ है। दूसरी शैली, चालुक्य प्रणाली, के मन्दिरों की विशिष्टता यह थी कि ये मन्दिर वर्गाकार नहीं किन्तु तारकाकृति या बहु-कोषीय हैं, इनके आधार उच्च कुर्सियाँ हैं जिसका सदुपयोग शिल्पियों ने मूर्तियाँ अंकित करने के लिए किया। इसके शिखर पिरामिडाकार हैं, परन्तु भारतीय आर्य-प्रणाली की अपेक्षा नीचे हैं। चालुक्य-शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हालेबिद का होयलेश्वर का प्रख्यात मन्दिर और दूसरा बेलूर का मन्दिर है। द्राविड़-शैली के मन्दिरों में मूर्ति-प्रकोष्ठ का ऊपरी भाग या विमान चौकोर तथा अनेक मंजिल वाला होता है। ऊपर की प्रत्येक मंजिल नीचे की मंजिल की अपेक्षा छोटी होती है। आर्य-प्रणाली के समान उच्च कोनाकार शिखर न होकर इसमें चपटे गुम्बद होते हैं और मन्दिरों का आकार धरातल के समानान्तर मालूम होता है। इसके अतिरिक्त मूर्ति-प्रकोष्ठ के सम्मुख

विशाल मण्डप या कई स्तम्भों वाले हॉल होते हैं। मन्दिर की चतुर्दिक दीवारें हैं जिनके घेरे में द्वार होते हैं। इनमें से एक या अधिक द्वारों पर अत्यन्त ही उच्च शिखर के समान गोपुरम होता है। शिखरों और गोपुरम को मूर्तियों और अलंकरणों से सुशोभित किया गया है। कभी-कभी गोपुरम इतने भव्य, विशाल और ऊँचे होते हैं कि मन्दिर के विमान या मूल शिखर उससे दब जाते हैं। मन्दिर के घेरे में मध्य में जल का विशाल तालाब होता है जिसका जल भक्त व दर्शकगण पूजन-अर्चन के काम में लेते हैं। मन्दिरों में विस्तृत आँगन, परिक्रमा मार्ग, स्तम्भ वाले मण्डप तथा अन्य छोटे-मोटे गृह भी होते हैं जिनका उपयोग मन्दिर के कार्यों के लिए किया जाता है। इस द्राविड़-शैली के उदाहरण मामल्लपुरम के 'रथ' (मन्दिर), तंजौर का शिव मन्दिर, कांची के पल्लव नरेशों द्वारा निर्मित मन्दिर और कृष्णा नदी के तट पर ठोस चट्टानों से काटी हुई प्रसिद्ध गुफाएँ हैं।

प्रसिद्ध मन्दिर—इस युग के बचे हुए मन्दिरों में से निम्नलिखित मन्दिर प्रमुख हैं। सौराष्ट्र में सोमनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर है जिसे महमूद गजनवी ने सन् १०२५ में नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था परन्तु भारत के केन्द्रीय शासन की प्रेरणा से इस मन्दिर का नव-निर्माण हो गया है। उड़ीसा में भुवनेश्वर का 'लिंगराज' मन्दिर, कोणार्क का सूर्य मन्दिर और समुद्रतट पर पुरी में जगन्नाथ का मन्दिर उल्लेखनीय हैं। ये इस युग की कला के दिव्य नमूने हैं। कोणार्क का मन्दिर रथ के आकार का है जिसे अत्यन्त सजीव अश्व खींच रहे हैं। इस रथ में बड़े विशाल पहिये हैं। इन सब की विशालता एवं अलंकरण के बाहुल्य ने मन्दिर को भव्य बना दिया है। परन्तु उड़ीसा के इन मन्दिरों में अश्लील मूर्तियों की भरमार है। राजपूताना में आबू और सौराष्ट्र के गिरनार यथा शत्रुंजय के जैन मन्दिर भी इस काल की स्थापत्य-कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। आबू में दो जैन मन्दिर हैं—प्रथम विमलशाह नामक वैश्य ने १०३० ईसवी में और दूसरा तेजपाल ने १२३२ ईसवी में बनवाया था। दोनों ही सम्पूर्णतया विशुद्ध संगमरमर के बने हुए हैं। तेजपाल मन्दिर का केन्द्रीय गुम्बद और श्वेत संगमरमर का हॉल शिल्पियों की सर्वोत्कृष्ट कला-कुशलता प्रदर्शित करते हैं। दोनों मन्दिरों में अलंकरणों की सुन्दरता और बाहुल्य दर्शकों को मन्त्र-मुग्ध कर देते हैं। गुजरात अनहिलवाड़ा के सोलंकी नरेशों के संरक्षण में भी सुन्दर शिल्प-कलाकृतियों का निर्माण हुआ।

दक्षिण में द्राविड़-प्रणाली के मन्दिर पल्लव नरेशों ने निर्मित कराये। इनमें से सबसे प्रमुख मामल्लपुरम में नरसिंह वर्मन द्वारा निर्मित सात मन्दिर हैं। ये विशालकाय चट्टानों में से काटे गये हैं। इसी प्रकार हैदराबाद राज्य में एलौरा की विशाल चट्टान को काटकर बनाया हुआ भव्य कैलाश मन्दिर भारतीय शिल्पकला



मामल्लपुरम का रथ-मन्दिर (पृष्ठ ३०६)



खजुराहो का शिव मन्दिर। (पृष्ठ ३०७)

का अद्वितीय उदाहरण है। इस मन्दिर में अनेक पौराणिक दृश्य भी अंकित किये गये हैं। इसी हैदराबाद राज्य में चालुक्य-शासन-काल के बने हुए बादामी एवं ऐहोल के प्रसिद्ध मन्दिर हैं इसके अतिरिक्त कांची और तंजौर के मन्दिर भी अपनी अद्वितीय विशालता, भव्यता एवं कला के लिए प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार पाण्ड्य, कदम्ब, होयसल तथा यादव प्रत्येक राजवंश ने अपने-अपने राज्य के अन्तर्गत अनेक मन्दिर निर्मित कराये। दक्षिण भारत के चोल, होयसल, एलौरा आदि के मन्दिरों का वर्णन पिछले ग्यारहवें अध्याय में हो चुका है।

मूर्ति कला—इस काल में मूर्ति-कला का भी विकास हुआ। बंगाल के पाल नरेशों ने राज्याश्रय में एक विशिष्ट प्रकार की मूर्ति-कला विकसित हुई। फलस्वरूप अनेक पौराणिक देवताओं एवं बौद्ध-प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। पाल नरेशों की छत्रछाया में धीमान और वितपालो दो श्रेष्ठ व दक्ष कलाकार समृद्ध हुए। ये अपनी मनोरम चित्र-कला व कुशल मूर्ति-कला के लिए प्रसिद्ध थे। इस युग की मूर्तियों के बहुत कम अवशेष हैं। अधिकांश प्रतिमाएँ मुसलमानों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर डाली गयीं। इस काल की मूर्ति-कला की प्रथम विशेषता घटनाओं के विशाल दृश्यों का सफल अंकन है। गुप्त-युग में घटनाएँ संकुचित रूप में छोटे-छोटे पाषाण-फलकों पर उत्कीर्ण की गयी थीं, परन्तु इस युग में दृश्यों के अंकन के हेतु १०० फुट ऊँची विशाल चट्टानें तक चुनी गयीं और उनमें दुर्गा-महिषासुर युद्ध व शिव का रावण द्वारा कैलाश के उठाने जैसे विशाल दृश्यों को खूब सजीवता से उत्कीर्ण किया गया। इस युग की मूर्ति-कला की दूसरी विशेषता है शृंगार की प्रधानता। कोणार्क तथा पुरी के मन्दिरों की दीवारों पर उत्कीर्ण जो प्रतिमाएँ हैं उनका अधिकांश सम्बन्ध राधा-कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ा से है। इन्हीं मूर्तियों में भेद और नाग-कन्या की बड़ी सुभग मूर्तियाँ बनायी गयी हैं। इनके भोले मुखमण्डल पर से आँख हटाये नहीं हटती। पत्र लिखती हुई स्त्री की एक मूर्ति अत्यन्त भाव-भंगीमय एवं आकर्षक है। अनेक मूर्तियों में माता की ममता को अनूठे ढंग से अभिव्यक्त किया गया है। माता अपने शिशु को लाड़-प्यार करते हुए इस प्रकार अंकित की गयी है कि मानो वह अपने स्नेह से ओत-प्रोत हृदय को निकालकर रख रही है। कहीं-कहीं मूर्तियाँ अश्लील हो गयी हैं। इस काल को मूर्तिकला की तीसरी विशेषता यह है कि इनमें सजीवता, नवीनता या मौलिकता का अभाव है। परन्तु फिर भी शिल्पी की कला-पटुता, मुख-मण्डल की सुन्दर आकृति और शरीर के सौष्ठव को उत्कीर्ण करने में चमक उठी है।

धर्म

राजनीतिक और सामाजिक जीवन के क्षेत्र की भाँति धार्मिक जीवन के क्षेत्र में भी इस युग की प्रमुख प्रवृत्ति विभिन्नीकरण और विश्लेषण की थी।

बौद्ध धर्म का ह्रास हो रहा था और हिन्दू धर्म, जो विविध सम्प्रदायों में विभक्त था, बौद्ध धर्म का स्थान ले रहा था। जैन धर्म की प्रगति में भी कमी हुई। वस्तुतः इस युग में धर्म के क्षेत्र में अनेक महत्त्वशाली परिवर्तन हुए। यह युग हिन्दू धर्म की पूर्ण विजय और बौद्ध धर्म के पराभव का युग कहा जाता है।

बौद्ध धर्म—धर्म के क्षेत्र में इस युग में सबसे अधिक असाधारण घटना बौद्धों में विभिन्नीकरण और बौद्ध धर्म का ह्रास था। इस युग तक महायान सम्प्रदाय हीनयान सम्प्रदाय पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर चुका था। पूर्वी भारत में यह तन्त्रवाद के सिद्धान्तों से बहुत कुछ साम्य रखता था। अधिकांश में अब बौद्ध धर्म विहारों में ही केन्द्रीभूत हो गया था। बौद्ध संघों में घुसे हुए अन्धविश्वास, भ्रष्टाचार और घोर मतभेद, भिक्षुओं का आनन्द और भोगविलासमय जीवन, बौद्ध-धर्मावलम्बी साधारण जनता और भिक्षुओं में विभेद, ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान, कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य का धार्मिक उत्साह, बौद्ध धर्म के प्रति उच्च वर्गों की बढ़ती हुई उदासीनता, बौद्ध धर्म के अहिंसा के सिद्धान्त के प्रति शासन करने वाले राजपूतों में अनुराग का अभाव तथा विदेशी आक्रमण के कारण बौद्ध धर्म का पतन हुआ। परन्तु इसकी छाया कुछ काल तक बंगाल में बनी रही क्योंकि कुछ समय तक यह पाल शासकों की अध्यक्षता में बंगाल तथा बिहार में पलता रहा।

जैन धर्म—पश्चिमी चालुक्यों और दक्षिण के राष्ट्रकूटों के संरक्षण में जैन धर्म बना रहा परन्तु बाद में ब्राह्मण धर्म के उत्कर्ष से इसे क्षति पहुँची। धुर दक्षिण में चोल तथा पाण्ड्य शासकों ने जैन धर्म को आश्रय नहीं दिया। अब आजकल यह राजस्थान, गुजरात और उत्तरी भारत के कुछ भागों में ही प्रचलित है।

हिन्दू धर्म—अवतार का सिद्धान्त और भक्ति मार्ग—हमने आठवें अध्याय में इस बात का विवेचन किया है कि गुप्तकाल में हिन्दू धर्म लोकप्रिय आधार पर संगठित किया गया था। गुप्तकाल में धर्म में एक विशिष्ट प्रगति परिलक्षित हुई। पुराण और महाभारत की पुनः रचना हुई। इससे लोगों को देवी-देवताओं की गाथाएँ, वीरता का बेजोड़ इतिहास, लोकप्रिय सदाचार के नियम और साधारण जनता के लिए ऐसा धार्मिक साहित्य जिसमें हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदायों की क्रिया-विधियाँ और पूजन सम्मिलित थे, उपलब्ध हुए। छठी शताब्दी तक बुद्ध को भी विष्णु का अवतार मान लिया गया और हिन्दू उन्हें देवता मानकर उनकी उपासना भी करने लगे। मत्स्य पुराण और भागवत पुराण दोनों ही बुद्ध को विष्णु का अवतार बताते हैं। वस्तुतः गुप्तकालीन धार्मिक पुनरुत्थान की एक महान् देन यह रही है कि अवतार के सिद्धान्त पर अधिक जोर दिया गया और यही अवतार का सिद्धान्त इस युग में दृढ़ हो गया। अवतार के इस सिद्धान्त के उपासक को हिन्दू धर्म के अन्य

सिद्धान्तों से बिना विमुख हुए ही अपने इष्टदेव प्राप्त हो गये। निर्गुण ईश्वर उसके लिए मानव शरीरधारी हो गये। इस प्रकार अवतार के सिद्धान्त ने हिन्दू-दर्शन-शास्त्र के विचारों की अपरिवर्तनशीलता और इष्टदेव के प्रति भक्ति की लोकप्रिय भावना में सरलता से सामंजस्य स्थापित कर दिया। इसी से भक्ति मार्ग का आविर्भाव हुआ।

वैष्णव धर्म—इस भक्ति-मार्ग के अनुयायियों ने इस काल में विष्णु और शिव को इष्टदेव मानना प्रारम्भ कर दिया। भक्त अपने इष्टदेव को परमात्मा से अभिन्न मानने लगे। इस युग में हिन्दुओं के अन्य देवता लोकप्रियता के क्षेत्र से विलुप्त हो गये थे। केवल शिव और विष्णु दोनों ही देवता अपने परिवार सहित जनता की कल्पना, भक्ति व श्रद्धा के विषय थे। यह धारणा दिन-प्रतिदिन दृढ़ होती जा रही थी कि विष्णु पृथ्वी को संकट-मुक्त करने के हेतु बार-बार अवतार धारण करते हैं। राम और कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाने लगा था। विष्णु के भक्तों के अनेक सम्प्रदायों का धीरे-धीरे उत्कर्ष हुआ। दक्षिण में बारहवीं शताब्दी में विष्णु भक्त रामानुज ने श्री सम्प्रदाय की स्थापना की और तेरहवीं सदी में माधवाचार्य ने सद्-वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना की। वस्तुतः मध्य युग में वैष्णव धर्म के विकास में दक्षिण भारत ने प्रमुख भाग लिया।

शैव धर्म—छठी शताब्दी के अन्त तक शिव की पूजा लिंग रूप में होने लग गयी थी और शैव धर्म का पर्याप्त विकास और विस्तार हो चुका था। मध्य युग में शैव धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय स्थापित हो गये। सातवीं शताब्दी में शिव-उपासकों का पाशुपत सम्प्रदाय अधिक प्रवल हो गया। इसके अनुयायी साधु सिद्धि और ज्ञान प्राप्ति के हेतु शरीर पर भस्म रमाते, 'हा हा' की ध्वनि करते और लोगों द्वारा निन्दित ठहराये हुए कार्य करते थे। शिव-उपासकों के अन्य सम्प्रदाय कापालिक और कालमुख थे। ये पाशुपतों से अधिक उग्र थे। ये नर-मुण्ड या कपाल में भोजन करते, चिता-भस्म को देह पर रमाते, मांस भक्षण करते, कर में त्रिशूल रखते, पास में मदिरा-पात्र रखते एवं उसी में रखे महेश्वर (शिव) का पूजन करते थे। उपरोक्त सम्प्रदायों के अनुयायी अपने इष्टदेव शिव को खाल धारण किये हुए कर में मुण्ड-माल लिये, भूत-प्रेतों से चतुर्दिक घिरे हुए, श्मशानों में भ्रमण करते हुए व भयंकर वेश-भूषा वाला मानते थे। इन सम्प्रदायों से अधिक सौम्य रूप वाला 'शैव' सम्प्रदाय था। इसके अनुयायी शिव की भक्ति और आराधना पवित्र मन्त्रों के जप, अनुष्ठान, प्राणायाम, ध्यान, समाधि आदि से करते और शिवलिंग की पूजा करते थे। काश्मीर में नवीं और दसवीं शताब्दी में इसी 'शैव' सम्प्रदाय का, जिसमें उच्च दार्शनिक भाव थे, सुन्दर विकास हुआ। इसी 'शैव' सम्प्रदाय को दक्षिण में चोल तथा

पाण्ड्य नरेशों ने राज्याश्रय दिया। शिव-उपासकों का एक अन्य महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय वीरशैव या लिंगायत था जिसका समुदाय दक्षिण भारत में बारहवीं सदी के मध्य में हुआ था। दक्षिण में ये सदैव अधिक संख्या में रहे और शिव-लिंग की पूजा करते रहे। इनके प्रधान सिद्धान्त एक विशेष शब्द अष्टवर्तमन् या 'आठवीं परिस्थिति' (या धर्म सहायता तथा पाप एवं कष्ट से बचने के हेतु) तथा 'षष्टस्थल' (अर्थात् मुक्ति की छह अवस्थाएँ) में निहित हैं। ये वेद की प्रामाणिकता और पुनर्जन्म को नहीं मानते, बाल-विवाह का विरोध करते, विधवा-विवाह का समर्थन करते, लिंग-पूजा, भस्म-लेपन व गुरु-आज्ञा-पालन का प्रतिपादन करते, जाति-प्रथा का खण्डन करते, मुर्दों को गाड़ते, ब्राह्मणों से घृणा करते एवं पाप प्रायश्चित्त के हेतु तप-तीर्थ और श्राद्ध का खण्डन करते हैं। मध्य युग में महाराष्ट्र और दक्षिण में राष्ट्रकूटों और चोलों के राज्याश्रय में शैव धर्म अधिक लोकप्रिय हो गया।

शक्ति सम्प्रदाय—इस युग में शक्ति की उपासना का भी प्रचार हुआ। ये उपासक शक्ति सम्प्रदाय के कहलाते थे। ये दुर्गा, काली आदि रूपों में शक्ति की देवी की पूजा करते थे। यह देवी शिव की पत्नी एवं शक्ति की उत्पत्ति का आदि कारण मानी जाने लगी। शक्ति सम्प्रदाय के अनुयायी देवी के संहारक रूप को विशिष्ट महत्त्व देने लगे, वे ह्रिम, द्रुम, फर आदि मन्त्रों तथा योग से प्राप्त अलौकिक सिद्धियों में विश्वास करने लगे एवं देवी को प्रसन्न करने के लिए पशु तथा नर-बलि देने लगे।

तन्त्रवाद—मध्य-युग में तन्त्रवाद का भी प्रचार हुआ। इसके अनुसार मानव शरीर में कई गुप्त और रहस्यमयी शक्तियाँ हैं जो प्रज्वलित की जा सकती हैं। इसके लिए मन्त्र-तन्त्र-प्रणाली का अनुसरण करना पड़ता है। फलस्वरूप जादू-टोने, मन्त्र, ताबीज, टोटके आदि में विश्वास किया जाने लगा और सांसारिक प्रयोजनों के लिए इनका उपयोग होने लगा।

शंकराचार्य—यदि कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य का वर्णन नहीं किया गया तो धार्मिक जीवन का उपरोक्त विवेचन अपूर्ण ही रह जायगा। पूर्व-मध्य-युग में धार्मिक मत-मतान्तरों की बाढ़ आ जाने से धर्मों के आधारभूत मूल सत्यों को भुला दिया गया था। धार्मिक क्षेत्र में इस पतन व भ्रष्टाचार को रोकने के लिए कुमारिल भट्ट जैसे दृढ़ एवं धार्मिक सुधारक का प्रादुर्भाव हुआ। वह एक अत्यन्त उत्साही तथा विद्वान् ब्राह्मण धर्म-प्रचारक था। इसने जनता को सरल वैदिक कृत्यों तथा उत्सवों का अनुसरण करने के लिए प्रेरित कर बढ़ते हुए धार्मिक दोषों को रोका। इस काल में मीमांसा के सिद्धान्तों का विस्तार हुआ। मीमांसा कर्मकाण्ड से सम्बन्धित है। इसका मुख्य उद्देश्य यज्ञादि वैदिक अनुष्ठानों का विवेचन करना है। मीमांसक का कर्मकाण्ड को यथाविधि

समुचित रूप से पूर्ण करने से ही सम्बन्ध है। प्रभाकर और कुमारिल के अन्तर्गत सातवीं और आठवीं सदी में हिन्दू धर्म के अनुयायियों में मीमांसा के सिद्धान्त का प्रभुत्व खूब बढ़ा। मीमांसा के विकास में कुमारिल युग (६००-६०० ई० सन्) स्वर्ण-युग है। कुमारिल ने मीमांसा को बौद्धों के आक्षेपों से बचाया, सिद्धान्तों की सुबोध व्याख्या कर इसे लोकप्रिय बनाया। वस्तुतः मीमांसा लोगों के पौराणिक धर्म के विरुद्ध प्रतिरोध था और उपनिषद् तथा बौद्ध विचारधाराओं के प्रतिकूल था। इसने योग अथवा भक्ति के द्वारा साक्षात्कार होने वाले इष्टदेव को ही पृथक् नहीं माना अपितु बुद्ध के उपदेशों से भी टक्कर ली। धीरे-धीरे यह निर्जीव कर्मकाण्ड राष्ट्र-धर्म हो रहा था। परन्तु अद्वैत के समर्थक शंकराचार्य ने इसकी वृद्धि को रोका और हिन्दू धर्म को दार्शनिक सिद्धान्तों की शृंखला प्रदान की। वे नीरस कर्मकाण्ड प्रणाली के, जिसने धर्म का स्थान छीन लिया था, विरोधक थे और मीमांसा के समर्थकों पर उन्होंने आक्षेप किया।

शंकराचार्य दक्षिण भारत के निवासी थे। इनका जन्म सन् ७८८ में दक्षिण में मलाबार प्रदेश के एक देहात में ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बाल्यकाल में ही उन्होंने वेदों व अन्य धार्मिक ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन कर लिया था। उन्होंने समस्त भारत में भ्रमण कर बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित किया और हिन्दू धर्म की विजय-दुन्दुभी बजायी। उन्होंने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार आत्मा तथा परमात्मा में कोई भेद नहीं है, ब्रह्म ही परम सत्य है। सम्पूर्ण जगत उसी का बाह्य रूप है। उन्होंने सम्पूर्ण जगत को माया बतलाकर हीन ठहराया। यह माया सच्चा ज्ञान प्राप्त होते ही लुप्त हो जाती है। उन्होंने हिन्दू-वर्ण-व्यवस्था को दृढ़ किया, गृहस्थ जीवन को तुच्छ और संन्यास को श्रेष्ठ बतलाकर सांसारिक जीवन के प्रति उदासीनता उत्पन्न की और ज्ञान के द्वारा मुक्ति मानी। संक्षेप में उन्होंने 'एकेश्वरवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और उनके सिद्धान्त का नाम 'वेदान्त' रखा गया।

शंकराचार्य का महत्त्व यह है कि ये निर्भीक और मूल प्रणाली को प्राचीन युग की परम्पराओं और सिद्धान्तों से पुनः मिला देने वाले केवल दार्शनिक विचारक ही नहीं थे अपितु व्यावहारिक सुधारक भी थे। उन्होंने नीरस कर्मकाण्ड को दूर करने का प्रयत्न किया और देवी के जीवन में तान्त्रिक प्रथाओं के कारण जो अवांछनीय तत्त्व घुस गये थे उन्हें पृथक् किया। परन्तु हिन्दू धर्म के लिए शंकराचार्य का प्रमुख संगठन-कार्य चार महान् मठों की स्थापना थी—उत्तर में बद्रीनारायण का मठ, पूर्व में जगन्नाथपुरी का मठ, पश्चिम में समुद्र तट पर द्वारका, और दक्षिण में शृंगरी का मठ। धर्माध्यक्ष के ये स्थान शंकराचार्य के अधिकार में रहते थे जो अद्वैत के सिद्धान्तों और उपनिषद् के विचारों को विशुद्ध रूप से बनाये रखते थे। ये महान् मठ अपने अन्तर्गत छोटी संस्थाओं

सहित शंकराचार्य के उपदेशों की पवित्रता को बनाये रखने में सहायता ही नहीं देते थे वरन् जनता पर हिन्दू धर्म के प्रभुत्व को स्थिर रखते थे। इन मठों के संगठन से सम्बन्धित शंकराचार्य का साधु-संन्यासियों का संगठन भी था। उन्होंने नियमित संघ के रूप में संन्यासियों को संगठित किया और संन्यासियों के इन संघों ने समस्त भारत में शंकराचार्य के उपदेशों का प्रचार किया। बाद में शंकराचार्य के सिद्धान्तों का विस्तृत प्रचार मन्दिर महाविद्यालयों द्वारा किया गया। ये महाविद्यालय जो बड़े पैमाने पर निःशुल्क उच्च शिक्षा देते थे, प्रमुख रूप से धार्मिक थे और इन्होंने अपनी शिक्षा में से बौद्ध-दर्शनशास्त्र का अध्ययन पृथक् कर दिया। हिन्दू धर्म के पुनर्संगठन में इन महाविद्यालयों ने खूब हाथ बँटाया था। शंकराचार्य एक महान् धर्म प्रचारक, सुधारक व संयोजक ही नहीं थे, परन्तु संस्कृत के एक प्रकाण्ड विद्वान्, लेखक तथा कुशल वक्ता भी थे, उन्होंने कई धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की थी। उनमें इन्होंने धार्मिक संघर्षों की निरर्थकता तथा तत्कालीन सम्प्रदायों की शिक्षा की संकीर्णता बतलायी। शंकराचार्य के उपरोक्त वर्णित कार्यों को और इन महाविद्यालयों- के महत्त्व को श्री के० एम० पणिकर ने हिन्दू सुधारवादी आन्दोलन (Hindu Reformation) कहा है।

इस प्रकार यवनों के आगमन के पूर्व बौद्ध धर्म का पतन तीव्र गति से हो रहा था और हिन्दू धर्म समस्त भारत में अपनी सार्वभौमिक प्रभुता स्थापित कर रहा था। हिन्दू धर्म ने अपने लोकप्रिय सिद्धान्तों का पुनर्संगठन किया, उच्चतम दर्शनशास्त्र प्रदान किया जिसे सामान्य रूप से बौद्धिक वर्गों ने स्वीकृत कर लिया। नवीन लोकप्रिय प्रणालियाँ प्रस्तुत कीं जिसने जनसाधारण की धार्मिक प्रेरणाओं को सन्तुष्ट किया और बौद्ध धर्म को अपने अस्तित्व में मिला लिया। लोकप्रिय सिद्धान्तों जैसे परमात्मा, जीवात्मा व माया के सिद्धान्त, अहिंसा का सिद्धान्त, अवतार का सिद्धान्त, साधुओं और मठों का संगठन और मूर्तियों की पूजा सभी को एकत्र कर एक धर्म के रूप में संगठित कर दिया गया। यही नवीन हिन्दू धर्म था जिसके समर्थक कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य, माधवाचार्य और रामानुज थे। उत्तर में काश्मीर से लेकर दक्षिण में कुमारी अन्तरीप तक शिव, विष्णु और देवी की पूजा-उपासना होने लगी थी। विष्णु के अनुयायी राम और कृष्ण की पूजा करने लगे जिनके कृत्यों की गाथाएँ समस्त देश में व्याप्त हो गयीं। शिव के अनुयायी पाशुपत, कापालिक और लिंगायत जैसे विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त हो गये थे। शैव धर्म के इन विभिन्न सम्प्रदायों में से कुछ विद्रोही प्रथाओं का पालन करते थे। विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी राजा, रानियाँ और धन-सम्पन्न व्यापारी वर्ग अपने इष्टदेव के सम्मान में मन्दिर का निर्माण कराने में परस्पर होड़ करते थे। फलस्वरूप समस्त

देश मन्दिरों से परिपूर्ण हो गया था। इस युग में हिन्दू धर्म की अन्य महत्त्व शाली विशिष्टता उपयुक्त ऋतु में पवित्र तीर्थस्थानों की यात्रा करने की प्रथा थी

सामाजिक व्यवस्था में जातियों की वृद्धि हुई और जाति-नियमों के पालन में कठोरता दृष्टिगोचर होने लगी। छोटे शिल्पी-संघ बढ़े और प्राचीन जाति समुदाय बन गये। राजनीतिक व्यवस्था भी दुर्बल हो गयी थी। उस युग में भारत में राजनीतिक एकता और सामाजिक ठोसता का अभाव था। डाक्टर ईश्वरी प्रसाद ने ठीक ही कहा है कि उस समय भारत केवल भौगोलिक एकता का द्योतक था। देश-भक्ति का सर्वथा अभाव था। अपरिवर्तनशील जाति-प्रथा द्वारा प्रेरित संकीर्ण दृष्टिकोण, पुरोहित वर्ग की सर्वोपरिता, अनेक धार्मिक सम्प्रदायों का उत्कर्ष और विकास तथा विविध छोटे-छोटे सामन्तवादी राज्यों के समुदाय ने राष्ट्रीय भावना के विकास में रोड़े अटकाये। राजनीतिक व्यवस्था अहंकारी कुलीनतन्त्र और भ्रष्ट नौकरशाही पर निर्भर थी और राजवंशों के स्वार्थ के हित में दोनों एक हो गये थे। इस युग में भारतीय राजनीतिक प्रणाली जो अपने अस्तित्व में ही निर्बल और अवनत हो गयी थी, मुसलमानों के आक्रमणों के आघात को सहन करने में असमर्थ हो चुकी थी। मुसलमानों के आक्रमणों के तूफान और झंझावात के आने के पूर्व ही जल-पोत ध्वंस हो चुका था।

प्रश्नावली

१. भारत के सांस्कृतिक इतिहास में हर्ष के शासन के महत्त्व का निरूपण कीजिए।

२. "सातवीं शताब्दी के मध्य से लेकर बारहवीं सदी के अन्त तक का युग पृथक्करण, विभिन्नीकरण और विभेद का काल है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

३. राजपूत संस्कृति के प्रमुख तत्त्वों का वर्णन कीजिए।

४. "राजपूतों ने भारतीय संस्कृति को भारतीय कलाओं के क्षेत्र में अपनी सफलताओं द्वारा सुसम्पन्न किया है।" समझाइए।

५. ह्वानच्यांग के प्रमाणों का विशिष्ट रूप से हवाला देते हुए हर्ष के युग के सांस्कृतिक जीवन का वर्णन कीजिए।

६. "छठी शताब्दी अराजकता एवं पृथक्करण का युग था और इसके बाद आने वाला हर्ष का काल इसकी अन्तिम आभा थी।" इस कथन का पूर्णरूपेण विवेचन कीजिए।

७. मध्य युग में नवीन हिन्दू धर्म के विकास को आप कैसे समझाइएगा? प्राचीन ब्राह्मण धर्म से यह किस प्रकार विभिन्न था?

८. राजपूतयुग में ललित-कलाओं के विकास का संक्षिप्त वर्णन इस युग की वास्तु-कला की विभिन्न शैलियों पर प्रकाश डालते हुए कीजिए।

९. "बारहवीं सदी में राजपूत समाज सामन्तवादी तथा अवनत था और उसका विनाश अवश्यम्भावी था ।" इस मत की पुष्टि कीजिए ।
१०. आठवीं से बारहवीं सदी तक के राजपूतयुग में जो धार्मिक और सामाजिक विकास हुआ, उसका विवेचन कीजिए ।
११. उत्तरी भारत की मध्यकालीन मन्दिर-निर्माण-कला की विशेषताएँ बतलाइए और दक्षिण भारत की तत्कालीन मन्दिर-निर्माण-कला से इसका उदाहरण सहित भेद बतलाइए ।
१२. टिप्पणियाँ लिखिए :
नालन्दा, शंकराचार्य, वास्तु-कला की भारतीय आर्य-शैली, चालुक्य-धातु-कला, पल्लव-शैली, जैन मन्दिर, शैव सम्प्रदाय, कुमारिल भट्ट और भक्ति-मार्ग ।
१३. मुस्लिम विजय के पूर्व उत्तरी भारत की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का वर्णन कीजिए । किस प्रकार यह स्थिति आक्रमण करने वालों के लिए हितकर हुई ?

१३

भारत और इस्लाम

पिछले अध्याय में इस बात का विवेचन किया जा चुका है कि किस प्रकार विविध तत्त्वों ने इस्लाम के आवागमन के पूर्व भारतीय संस्कृति और सभ्यता की प्रगति के स्रोत को अवरुद्ध कर दिया था। भारत के लोगों का सांस्कृतिक विकास रुक गया था। हिन्दू संस्कृति की सृजनता की प्रतिभा सुषुप्त हो गयी थी। मध्य युग में हिन्दू संस्कृति को प्रतिकूल विदेशी प्रवृत्तियों का सामना करना पड़ा। इस युग में दो विभिन्न संस्कृतियों, हिन्दू और मुस्लिम, का समघात हुआ। फलस्वरूप सांस्कृतिक जीवन के नवीन समन्वय का विकास हुआ। अब हमें इसको समझने का प्रयास करना चाहिए।

भारत में नवीन इस्लामी या मुस्लिम संस्कृति अरबों द्वारा लायी गयी थी। इस्लाम धर्म और संस्कृति का प्रचार व प्रसार दो प्रकार से हुआ—शान्तिपूर्वक और शक्तिपूर्वक। प्रथम ढंग से प्रचार करने वाले अरब वणिक, मुस्लिम फकीर व दरवेश थे। द्वितीय प्रकार से प्रचार करने वाले अरब, तुर्की और मुगल आक्रान्ता थे। यह पहले बताया जा चुका है कि भारत के बाह्य वाणिज्य-व्यापार में यूनानी, रोमन और फारसी लोगों ने हाथ बँटाया था। बाद में पूर्व और पश्चिम के व्यापार में अरबों ने भी सक्रिय भाग लिया। यह इस्लाम के जन्म के पूर्व से ही था। अरब व्यापारियों व नाविकों के रूप में भारत आने लगे थे। पश्चिमी तट पर चोल, कल्याण और सुपारा में इस्लाम के प्रादुर्भाव के पूर्व ही अरबों की बस्तियाँ बन गयी थीं। सातवीं सदी के प्रारम्भ में इस्लाम के आविर्भाव और एक केन्द्रीय राज्य के अन्तर्गत अरब जाति के एकीकरण ने प्रसार के आन्दोलन को अत्यधिक प्रेरणा दी। शीघ्र ही मुस्लिम सेनाएँ भारत की सीमा पर मँडराने लगीं और अरब जलसेना भारतीय समुद्र में चक्कर काटने लगी। रोलेण्डसन और फ्रान्सिस डे के मतानुसार सातवीं शताब्दी के अन्त में मुस्लिम-मतावलम्बी अरब प्रथम मलाबार समुद्रतट पर विविध बन्दरगाहों में बस गये थे। आठवीं सदी में जलसेना के बेड़े ने भड़ौंच और काठियावाड़ के बन्दरगाहों पर आक्रमण किये। उनकी बस्तियाँ और व्यापार समृद्धिशाली होते गये। व्यापारियों के नाते उसका स्वागत किया गया और स्पष्ट रूप से उन्हें बसने, भूमि प्राप्त करने और अपने धर्म का स्वच्छन्दता से पालन करने

के लिए अनेक सुविधाएँ दी गयी थीं। नवीं शताब्दी का बहुत कुछ समय व्यतीत होने के पूर्व ही भारत के समस्त पश्चिमी तट पर वे फैल गये और संख्या, धन और शक्ति में उनकी वृद्धि हुई। उन्होंने शीघ्र ही मलाबार के हिन्दू शासकों में विशेषाधिकार और प्रभाव का पद प्राप्त कर लिया था। सौराष्ट्र के वल्लभी राजाओं और कालीकट के जमोरिनों की नीति इन अरब व्यापारियों को अपने राज्य में पूर्ण प्रोत्साहन देने की थी। यदि वल्लभी नरेशों ने इनके लिए मसजिदों का निर्माण किया तो मलाबार के राजाओं ने सुविधाएं और उच्च पद प्रदान किये। दसवीं शताब्दी में अरब लोग भारत के समुद्रतट पर प्रकट हुए और शीघ्र ही समस्त तट पर फैल गये। तुलनात्मक दृष्टि से थोड़े समय में ही इन्होंने राजनीति और समाज में बड़ा प्रभाव प्राप्त कर लिया था। यदि एक ओर उनके नेता मन्त्री, जल-सेनाध्यक्ष, राजदूत और भूमि-कर देने वाले कृषक हो गये तो दूसरी ओर उन्होंने कितनों को अपने धर्म की शिक्षा दी, उनके धार्मिक विचारों का प्रचार किया, मसजिदें निर्माण कीं और समाधियाँ व कब्रें बनवायीं जो उनके सन्तों और धर्म-प्रचारकों के कार्यों का केन्द्र हो गयीं। ये सब दक्षिण भारत में सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को प्रभावित किये बिना न रह सके। दक्षिण भारत में इस्लाम के प्रभाव का विवेचन करने के पूर्व हमें उत्तरी भारत में मुसलमानों के आगमन की ओर अपना ध्यान आकर्षित करना चाहिए।

भारत में मुस्लिम आक्रमण—पैगम्बर मुहम्मद (५७०-६३२) की मृत्यु के पश्चात् एक शताब्दी में ही अरबों ने विस्तृत प्रदेशों को जीत लिया और सन् ७११ में इस्लाम का साम्राज्य चीन की सीमा से लेकर अटलाण्टिक समुद्र तट तक विस्तृत हो गया। सातवीं शताब्दी के मध्य में अरबों ने उत्तरी भारत में प्रवेश करने का प्रयास किया परन्तु वे सर्वथा निष्फल रहे। फिर भी सन् ७११-७१३ में बसरा के अरब प्रान्तपति अल-हजाज के भतीजे मुहम्मद बिन कासिम ने अरबों के लिए सिन्ध और मुलतान जीत लिये। यद्यपि अरबों की विजय सिन्ध और मुलतान तक ही सीमित थी, तथापि दीर्घकाल तक वे अपनी राजनीतिक शक्ति उस प्रदेश में स्थिर न रख सके। अरबों के नेता मुहम्मद बिन कासिम की मृत्यु से सिन्ध में मुस्लिम-आधिपत्य का अन्त हो गया। यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से सिन्ध की अरब-विजय का कोई विशेष महत्त्व नहीं था, तथापि मुस्लिम-संस्कृति पर इसका सुदूर तक प्रभावित करने वाला प्रभाव पड़ा। इस्लाम को उसकी प्रभावित होने वाली युवावस्था में यूरोप ने नहीं, भारत ने शिक्षा दी थी। अरबों ने हिन्दुओं से दर्शन, ज्योतिष, गणित, चिकित्सा-विज्ञान, रसायनशास्त्र और शासन-कला सीखी और इन्हें वे पाश्चात्य देशों को ले गये।

इसके बाद गजनी के तुर्क सुबुक्तगीन और उसके पुत्र महमूद (९९५-१०३०) ने पंजाब को विजय कर लिया। इस समय पंजाब में हिन्दुओं के शाही राजवंश का राज्य था। सुबुक्तगीन ने इस वंश के राजा जयपाल को पराजित कर उसके सिन्ध-पार के प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया और उसके पुत्र महमूद ने धीरे-धीरे उसका समग्र राज्य हड़प लिया। भारत की अतुलनीय काल्पनिक धन-सम्पत्ति की प्राप्ति और तलवार के बल पर इस्लाम का प्रचार करना—इन दोनों ही उद्देश्यों ने महमूद को प्रति वर्ष भारत पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया था। यद्यपि उसके सत्रह आक्रमणों का कोई विशिष्ट स्थायी राजनीतिक परिणाम नहीं हुआ, तथापि वह एक अग्रदूत था जिसने मुस्लिम विश्व के सम्मुख भारत की राजनीतिक और सामाजिक दुर्बलता को प्रकट कर अपने सहधर्मियों द्वारा काफिरों के देश की विजय का मार्ग खोल दिया था।

मुस्लिम शासन की स्थापना—मुस्लिम शक्तियों के पूर्व निरन्तर आक्रमण होने पर भी भारत में मुस्लिम साम्राज्य की नींव शहाबुद्दीन गोरी (११७५-१२०६) ने डाली थी। सन् ११७३ ई० में गजनी में अपनी सत्ता स्थापित करने के बाद शहाबुद्दीन ने भारत की ओर ध्यान दिया और दस वर्ष में ही उसने मुलतान, सिन्ध और लाहौर को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद हमलावर गोरी ने राजपूत शासकों का सामना किया और सन् ११९२ ई० में तराइन के द्वितीय युद्ध में राजपूतों के नेता, दिल्ली के पृथ्वीराज चौहान को पराजित कर दिया। इसके बाद अजमेर, कन्नौज और बनारस विजय किये गये। शहाबुद्दीन के भारत से लौट जाने के बाद उसके सेनाध्यक्षों—कुतुबुद्दीन ऐबक और मुहम्मद बख्त्यार खिजली ने विजय-कार्य जारी रखा और ग्वालियर, कालिंजर, बंगाल और बिहार जीत लिये। तीस वर्ष की अवधि में सिन्ध और ब्रह्मपुत्र के मध्य का समस्त प्रदेश स्थायी रूप से मुसलमानों के अधिकार में आ गया। अब भारत में मुस्लिम-शासन की नींव स्थायी रूप से डाल दी गयी थी।

दिल्ली राज्य की स्थापना

गुलामवंश (१२०६-१२९०)—शहाबुद्दीन गोरी के पश्चात् उसके वाइस-राय कुतुबुद्दीन ऐबक ने गुलामवंश की नींव डाली। उसने गोरी की विजयों को विस्तृत किया। इस वंश के अन्य प्रसिद्ध शासक इल्तुतमिश और बलबन थे। प्रथम ने मुस्लिम साम्राज्य को उसके शैशव-काल में नष्ट-भ्रष्ट होने से बचाया और मालवा तथा सिन्ध तक साम्राज्य विस्तृत किया। द्वितीय ने अपने मन्त्रित्व-काल में विद्रोही हिन्दू नरेशों और मुस्लिम प्रान्तपतियों का दमन किया और मंगोलों के आक्रमणों का प्रतिकार किया। राजा होने पर उसने

शासन को सुसंगठित किया, साम्राज्य की उत्तरी-पश्चिमी सीमा को सुदृढ़ किया, राजकीय सम्मान व गौरव को बढ़ाया और भारत की भूमि में मुस्लिम सत्ता की जड़ें जमा दीं। इस वंश के अन्तिम सुलतान का बध कर दिया गया और जलालुद्दीन खिलजी दिल्ली का सुलतान हो गया।

दिल्ली राज्य का प्रसार और एकीकरण

खिलजी राजवंश (१२९०-१३२०)—खिलजी राजवंश का सबसे अधिक महत्त्वशाली और सफल शासक अलाउद्दीन खिजली (१२९६-१३१६) था। उसने देश में मुस्लिम सत्ता को अधिक स्थायी बना दिया। लगभग समस्त भारत उसके आधिपत्य में था। उसका साम्राज्य उत्तर में लाहौर से लेकर दक्षिण में द्वारसमुद्र तक और पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में लखनौती तक था। यह पहला मुस्लिम साम्राज्य था जिसने समस्त भारत को ढक लिया था। परन्तु इस साम्राज्य में स्थायित्व के तत्त्वों का अभाव था। साम्राज्य के विभिन्न भाग एक सूत्र में संगठित न हो सके थे। फिर भी खिलजी-शासन की कुछ विशेषताएँ रहीं। अलाउद्दीन की विजयों ने सल्तनत के इतिहास में अभिधावनात्मक उग्र साम्राज्यवाद का युग प्रस्तावित किया, सुलतान के हाथों में सत्ता का केन्द्रीकरण हुआ और सैनिक शासन व सुधार से समृद्धि व शान्ति स्थापित हुई। अलाउद्दीन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन और प्रसार किया कि राजा देश के उत्तम शासन के लिए उत्तरदायी है, अतएव वह मुस्लिम उलमाओं के निर्णयों से बाध्य नहीं है। भारत में यह धर्मनिरपेक्ष राज्य की प्रवृत्ति का सूत्रपात था। अतएव खिलजी शासन प्रादेशिक विस्तार और शासकीय सिद्धान्तों में नवीन आदर्श रखने के लिए प्रसिद्ध है। खिलजी राजवंश के अन्तिम सुलतान का बध कर दिया गया और गयासुद्दीन तुगलक सिंहासनारूढ़ हुआ।

तुगलक राजवंश (१३२०-१४१२)—गयासुद्दीन तुगलक ने तुगलक राजकुल की स्थापना की। गयासुद्दीन तुगलक और उसके उत्तराधिकारी मुहम्मद तुगलक विजय और अनुयोजन की नीति में विश्वास करते थे। फलतः उन्होंने दक्षिण के देवगिरि, वारंगल और द्वारसमुद्र के राज्य जीत लिये और उन्हें साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार तुगलकों के अन्तर्गत साम्राज्य की सबसे अधिक विस्तृत प्रादेशिक सीमाएँ हो गयीं। परन्तु सुदीर्घ काल तक उसकी पूर्णता व अखण्डता न रखी जा सकी। मुहम्मद तुगलक का शासनकाल (१३२४-१३५३) रुचिकर और उपदेशपूर्ण है। यह कथन कि वह 'विरोधी बातों का सम्मिश्रण' था, सत्य प्रतीत नहीं होता। वह एक लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् और विचारशील व्यक्ति था जिसने अनेक योजनाएँ प्रस्तुत कीं जैसे राजधानी का परिवर्तन, प्रतीक मुद्रा आदि। ये योजनाएँ असफल रहीं, इसलिए नहीं कि उनकी मौलिकता में कोई दोष था परन्तु इसलिए कि उन्हें

कार्यान्विन करने की प्रणाली दोषयुक्त थी। फिर जिस शासन को उसने सुसंगठित और सुव्यवस्थित किया, उस पर उसके व्यक्तित्व, सहिष्णुता और न्याय की भावना की छाप है। उसके शासन के अन्तिम दिनों में राज्यव्यापी विद्रोह होने लगे और साम्राज्य के विभिन्नीकरण का सूत्रपात हो गया था।

मुहम्मद तुगलक के बाद फीरोज तुगलक उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसके शासनकाल (१३५१-१३८८) में भारत में शान्ति रही। उसने विजय और अनुयोजन की नीति त्याग दी। इससे बंगाल, सिन्ध और दक्षिण साम्राज्य पृथक् हो गये। वह भारत का पहला मुस्लिम शासक था जिसने इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था कि राजा के कर्तव्य प्रजा की सुरक्षा तक ही सीमित नहीं हैं अपितु राज्य को साधारण जनता के सुख-शान्ति और हित के लिए भी कार्य करने चाहिए। इसलिए उसने लोक-कल्याण के अनेक कार्य किये, नगर बसाये, बाग लगवाये और राजप्रासाद तथा मस्जिदें निर्मित करायीं। उसने जागीर और गुलामी की प्रथा पुनः प्रारम्भ की। उसकी मृत्यु के पश्चात् तुगलक साम्राज्य का ह्रास शीघ्र होने लगा। तैमूर के आक्रमण ने तो इस लड़खड़ाते हुए तुगलक साम्राज्य को सांघातक आघात पहुँचाया।

दिल्ली सल्तनत का पतन (सन् १४१२-१५२६)

सैय्यद राजवंश (सन् १४१४-१४५१ ई०)—तुगलकों के पश्चात् सैयद खिज्र खाँ सिंहासनारूढ़ हुआ और उसने सैयद-वंश की स्थापना की। इस राज-वंश का इतिहास विद्रोही सामन्तों का दमन करने के लिए प्रयाण, पुनः प्रयाण और युद्ध की कहानी है। इस राजकुल के अन्तिम नरेश ने सन् १४५१ ई० में पंजाब के प्रान्तपति बहलोल लोदी के पक्ष में राज्य त्याग दिया।

लोदी राजवंश (१४५१-१५२६ ई०)—बहलोल लोदी ने लोदी राजवंश की स्थापना की। उसने जौनपुर, कालपी, धौलपुर आदि को जीतकर दिल्ली सल्तनत के प्राचीन वैभव को पुनः स्थापित कर दिया। उसका उत्तरा-धिकारी सिकन्दर लोदी लोदी राजकुल का सबसे अधिक प्रसिद्ध और प्रतिभा-शाली शासक था। उसकी मृत्यु राज्य के विभिन्नीकरण के लिए संकेत थी। उसके उत्तराधिकारी इब्राहीम लोदी को बाबर ने सन् १५२६ ई० में पानीपत के इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध में पराजित किया था। इससे दिल्ली की सल्तनत का अन्त हो गया।

जब दिल्ली सल्तनत का विभिन्नीकरण हो रहा था, उत्तरी भारत में अनेक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य स्थापित हो गये, जैसे सिन्ध, मुलतान, जौनपुर, बंगाल, गुजरात, मालवा, खानदेश, बहमनी राज्य आदि। इन राज्यों ने भी इस युग की सांस्कृतिक प्रगति में योग दिया था जिसका उल्लेख आगे किया जायगा।

भारत में मुस्लिम शासन की विशिष्टताएँ

(१) भारत में मुस्लिम विजय एक भिन्न कहानी है। भारत में मुसलमानों का इतिहास राष्ट्रीय विकास की अपेक्षा, राजाओं, राजसभाओं और विजयों का इतिहास है। नरेश और उनके कार्य ही मुस्लिम इतिहास के पृष्ठ पर पृष्ठ भरते हैं। लोग और उनकी संस्कृति का कोई महत्त्व नहीं होता, अतएव उन्हें गौण स्थान प्राप्त था। (२) भारत में मुस्लिम शासन की दूसरी विशेषता यह है कि प्रारम्भिक राजवंश अल्पकालीन थे। एक राजकुल के बाद दूसरा राजकुल बहुत अल्पकाल तक शासन करके विलुप्त होता गया। इन कुलों का इतिहास वीरता, महानता, वैमनस्य, संघर्ष और अधःपतन का है। (३) तीसरी विशिष्टता यह है कि मुसलमान ही भारत के सर्वप्रथम आक्रामक थे जिन्हें हिन्दू समाज अपने में सम्मिलित न कर सका। इनके पूर्व के अनेक आक्रमणकारी—यूनानी, सिथियन, मंगोलियन, पार्थियन, शक, हूण आदि भारत में बस जाने पर कतिपय पीढ़ियों के बाद अपने नाम, बोली, रहन-सहन, धर्म, विचार आदि में हिन्दू हो गये। हिन्दू धर्म और समाज ने इन जातियों को आत्मसात् कर लिया था। वस्तुतः भारतीय समाज के महासागर में वे अपने आप को खो बैठे। परन्तु मुस्लिम भारत में सदैव विभिन्न समुदाय ही बने रहे। मुसलमान ही प्रथम ऐसे आक्रान्ता थे जो हिन्दू समाज का अंग न बन सके। उनका इस्लाम धर्म दृढ़ एकेश्वरवादी धर्म होने के कारण बहुदेववाद से मतैक्य न कर सका; वह देवताओं का बाहुल्य स्वीकार न कर सका। इसके अतिरिक्त दूसरे धर्म को निगलकर उसे अपने रक्त, मांस व मज्जा में मिश्रित कर अपना अंग बना लेने की हिन्दू धर्म में जो प्राचीन विलक्षण शक्ति थी, वह मुसलमानों के आगमन-काल तक प्रायः क्षीण हो चुकी थी। जिन लोगों के पूर्वज विधर्मियों को अपना अंग बना लेते थे, वे उनका स्पर्शमात्र महापाप समझने लगे। अतएव हिन्दू और मुसलमान एक ही देश में रहने पर भी परस्पर घनिष्ठता से घुलमिल न सके। इस खाई को भरने में वे असमर्थ रहे। यद्यपि स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक Discovery of India में यह लिखा है कि मुसलमान आक्रमणकारी भारत में विलीन हो गये, उनके राजवंश सम्पूर्ण भारतीय हो गये और भारत को ही अपनी मातृभूमि मानने और विश्व के अन्य भाग को विदेश मानते थे, परन्तु सर जदुनाथ सरकार का यह मत भी असत्य नहीं कि भारतीय मुसलमान सदियों तक मक्का में एक स्थान की ओर ही मुड़ते रहे, वे अपने ही कानूनों का प्रयोग करते थे और उनकी स्वयं भिन्न शासन-प्रणाली और भाषा थी; उनके स्वयं के सन्त और उनकी समाधियाँ थीं। इनके विपरीत, मुसलमानों को अपने में सम्मिलित करने में एक समय हिन्दुओं में इतना अधिक उत्साह था कि उन्होंने अल्लोपनिषद् की रचना कर डाली और सम्राट् अकबर

को अवतार मान लिया। परन्तु मुसलमानों ने अपने धर्म के प्रमुख तत्त्वों के विषय में न तो आत्मसमर्पण किया और न उन कतिपय रूढ़ियों को ही स्वीकार किया जो हिन्दू समाज में प्रविष्ट होने के लिए अनिवार्य थीं। (४) इसके अतिरिक्त भारत के सभी आक्रमणकारियों में मुसलमान ही केवल ऐसे थे जिन्होंने भारत के विरुद्ध धर्म-युद्ध घोषित किया। उनमें अपने धर्म-प्रचार के लिए लगन और उत्साह था। वे धार्मिक उत्साह से परिपूर्ण थे और दूसरे लोगों को अपने धर्म की दीक्षा देने के निर्दिष्ट विचार से आये थे। दूसरों का धर्म-परिवर्तन करने की उनमें दृढ़ भावना थी, न कि दूसरों के धर्म में विलुप्त हो जाने की। उनमें अत्यधिक धार्मिक चेतनता थी। (५) अन्त में, सन् १२०० से १५८० ई० तक भारत में मुस्लिम राज्य और समाज ने अपनी मूलभूत सैनिक और घुमक्कड़ता की विशेषताओं को बनाये रखा। शासन करने वाली जाति देश में सशस्त्र समुदाय के समान रहती थी। वस्तुतः भारत में बसने वाले मुसलमान देश में रहने वाले थे परन्तु देश के नहीं थे। उन्होंने सदैव अपने पृथक एकात्म्य को सुरक्षित बनाये रखा और इसका मूल्य भारत को बीसवीं सदी में देश का विभाजन कर चुकाना पड़ा।

इतना होने पर भी हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म का जो संघर्ष हुआ, इतिहास में उसका विशेष महत्त्व है। दो विरोधी संस्कृतियों का सम्पर्क, सम्मिलन और सम्मिश्रण भारतीय इतिहास की ही नहीं किन्तु सर जॉन मार्शल के मतानुसार विश्व इतिहास की शिक्षाप्रद घटना है। इन दोनों संस्कृतियों के संयोग और समन्वय के कारण निम्नलिखित हैं :

अपने सीमित साधनों से मुस्लिम शासन भारत जैसे विस्तृत देश पर कभी भी स्थायी प्रभुत्व स्थापित न कर सके। यद्यपि वे राजनीतिक सत्ता को अपने हाथों में ले सके परन्तु आर्थिक सत्ता को हिन्दुओं से न छीन सके। फलतः देश में शान्ति और व्यवस्था के हेतु उन्हें हिन्दुओं की स्वीकृति और प्रसन्नता पर निर्भर रहना पड़ता था। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मुस्लिम नरेश सदैव वैमनस्य, संघर्ष और सम्पीड़न की नीति का अनुकरण नहीं कर सकते थे। रक्तिम युद्धों और नृशंस अमानुषिक अत्याचारों के पश्चात् विवश हो उन्हें सुख, शान्ति और सुरक्षा के कार्य करने पड़ते थे। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं के सहयोग व सहायता के बिना वे शासन कार्य चला ही नहीं सकते थे क्योंकि उनके अनुयायी कृषक, वणिक या कुशल अनुभवी राजनीतिज्ञ व शासन संचालक न थे। देश के आर्थिक क्षेत्र में हिन्दुओं की ही सर्वोपरिता थी। शासन संचालन में हिन्दू क्लर्क थे और ग्रामों में भूमि-कर एकत्र करने वाले अधिकारी हिन्दू ही थे। कृषि और वाणिज्य हिन्दुओं के हाथ में थे, भवन-निर्माण-कला में हिन्दू शिल्पज्ञ थे, न्याय-दान में हिन्दू पण्डित मुस्लिम न्यायाधीशों को परामर्श देते थे और

धर्म-परिवर्तन करने वाले हिन्दू भी अपनी प्राचीनतम हिन्दू प्रथाओं और आचार-विचार को बनाये रखते थे। इन्हीं कारणों से मुस्लिम शासकों को हिन्दुओं और उनकी संस्कृति की ओर झुकना पड़ा। इसके अतिरिक्त मुस्लिम शासकों को हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों से अधिक लोहा लेना पड़ा। केन्द्रीय सत्ता के निर्बल होने पर देश में अनेक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य स्थापित हो गये थे। दिल्ली के शासकों और इन विविध स्वतन्त्र राज्यों में सदैव संघर्ष और युद्ध होते रहे। समयानुकूल हिन्दुओं ने दोनों पक्षों को सहयोग व सहायता दी। हिन्दू जनता ने भी अब मुसलमान शासकों से दीर्घकाल तक युद्ध करना उचित न समझा। उन्होंने भी मुस्लिम शासकों की राजनीतिक सत्ता को स्वीकार कर लिया और शान्तिपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करना चाहा। मुस्लिम शासकों ने भी, कुछ को छोड़कर, वैमनस्य और संघर्ष की भावना त्याग दी और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय राज्य की स्थापना करने का प्रयास किया। उन्होंने ललित-कलाओं और साहित्य को राज्याश्रय देकर प्रोत्साहित किया और सहिष्णुता तथा सहयोग की भावना की वृद्धि व विकास में पूर्ण योग दिया। फलतः हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के संयोग का मार्ग सुलभ हो गया।

इन दोनों संस्कृतियों के समन्वय के विषय में विद्वानों और इतिहास-वेत्ताओं में परस्पर मतभेद है। दोनों संस्कृतियों के परस्पर प्रभाव की समस्या विवादग्रस्त है। कतिपय विद्वानों का मत है कि हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज इस्लाम की नवीन संस्कृति से मूलतः प्रभावित हुए। इसके विपरीत, अन्य विद्वानों का कथन है कि इस्लाम से प्रभावित होने की अपेक्षा हिन्दू संस्कृति ने अपनी गहरी छाप इस्लाम और उसके अनुयायियों पर छोड़ी है। डॉक्टर ताराचन्द ने अपनी पुस्तक Influence of Islam on Indian Culture में प्रथम मत का उत्साह-पूर्वक समर्थन किया है। उनका कथन है कि हिन्दू धर्म, हिन्दू कला, हिन्दू साहित्य और हिन्दू विज्ञान ने ही मुस्लिम तत्त्वों को ग्रहण नहीं किया वरन् हिन्दू संस्कृति की भावना और हिन्दू मस्तिष्क की सामग्री भी परिवर्तित हो गयी। दूसरे मत का प्रतिपादन E. B. Havell जैसे पाश्चात्य इतिहासज्ञों और प्रोफेसर शर्मा ने अपनी पुस्तक The Crescent in India[1] में किया है। अपनी राजनीतिक निर्बलता होने पर भी मध्ययुगीन भारत सांस्कृतिक दृष्टि से इतना चैतन्य था कि वह उस वृक्ष के समान था जो उस व्यक्ति को भी छाया देता है जो उसकी शाखाओं को काट देता है। इस्लाम ने भारत की राजनीतिक राजधानियों पर अपना आधिपत्य कर लिया था, उसकी सैनिक-शक्तियों को नियन्त्रित कर दिया था और उसकी आय को स्वाधीन कर लिया था, पर

[1] इसका हिन्दी रूपान्तर 'भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास' भी उपलब्ध है।

भारत ने अपना बौद्धिक साम्राज्य जो उसे सबसे अधिक प्रिय था, बनाये रखा और उसकी अन्तरात्मा को कभी वश में न किया जा सका। भारत ने जो कुछ भी रणक्षेत्र में खो दिया, वह उसने आध्यात्मिक शस्त्रों द्वारा पुनः प्राप्त कर लिया। परन्तु सत्य उपरोक्त दोनों मतों के मध्य में है। दोनों संस्कृतियों का सम्मिश्रण और समन्वय कभी भी सम्पूर्ण नहीं हुआ। मुस्लिम संस्कृति हिन्दू संस्कृति को कभी भी मूलतः रूपान्तरित न कर सकी। दोनों संस्कृतियों का जो कुछ भी पारस्परिक प्रभाव हुआ, वह जीवन के बाह्य स्वरूप तक ही था और वह भी विशेषकर नागरिक-जीवन तक ही सीमित रहा। जीवन के विभिन्न अंगों का निम्नलिखित विवेचन उपरोक्त कथन पर अधिक प्रकाश डालेगा।

मुस्लिम शासन की दुर्बलता—भारत में स्थापित तुर्क-अफगान शासन-यन्त्र में राष्ट्र की इच्छा और परम्परागत आदत की शक्ति का अभाव था। इस अफगान-शासन का सैनिक और सामन्तवादी चरित्र भारत देश के प्राचीन परम्परागत शासन के प्रतिकूल था। जिस ढंग से उसकी वृद्धि और विकास हुआ था उससे वह लोगों के समर्थन, सहायता और सद्भावना पर कदाचित् ही स्थापित किया जा सकता था। वस्तुतः शासकों और जनसाधारण में पारस्परिक सम्बन्ध और सम्पर्क का अनेक अवसरों पर अभाव रहा। राज्य अपनी सैनिक-शक्ति के आधार पर विकसित होता रहा। उसके शासक अपनी सत्ता और राज्य के कुलीनतन्त्र को सशक्त करने में ही प्रधानतया आतुर थे। नियमित, अनुकूल और स्थिर नीति की अपेक्षा उन्होंने अपने स्वार्थ के हित की नीति का ही अनुकरण किया और कालान्तर में वे अधिक महत्त्वाकांक्षी और दुर्दान्त बन गये। ऐसे शासन-यन्त्र वाले राज्य का पतन होने के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता था। परन्तु ऐसे शासन-यन्त्र का परिणाम हिन्दुओं की प्राचीनतम परम्परागत ग्रामीण शासन-प्रणालियों पर हितकर हुआ। हिन्दुओं की प्राचीन ग्रामीण स्थानीय संस्थाएँ पूर्ववत बनी रहीं। अपनी स्वायत्त-शासन-प्रणालियों सहित ग्राम अछूता रहा। न तो राज्य के अधिकारियों ने ग्रामीण शासन के साधारण कार्य में हस्तक्षेप किया और न दिल्ली के गृह-युद्धों और राजनीतिक क्रान्तियों ने उसे प्रभावित किया। ग्रामीण प्रजातन्त्र अपने स्वशासन में स्वतन्त्र बने रहे।

आर्थिक दशा—लोगों की स्थिति को समुन्नत करने के लक्ष्य को ध्यान में रखकर राज्य ने कोई विशद् व व्यापक आर्थिक नीति का अनुकरण नहीं किया। यद्यपि खिलजी और तुगलक शासकों ने नये प्रयोग किये परन्तु उन्होंने कोई स्थायी परिणाम प्रस्तुत नहीं किये। उत्पादन के साधनों पर पद्धतियों में कोई बड़ा सुधार करना, या आर्थिक धन-द्रव्य का अधिक समुचित वितरण

करना अथवा विविध सामाजिक वर्गों की आर्थिक दशा में पहले की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्था व समन्वय करना, राज्य की नीति के बाहर था। फिर भी अपनी स्वयं की राजनीतिक और आर्थिक आवश्यकताओं के हेतु दिल्ली के सुलतानों और छोटे प्रान्तीय शासकों ने वाणिज्य-व्यापार और उद्योगों को प्रोत्साहित किया। परन्तु उस समय कोई कारखाने या बड़े पैमाने के औद्योगिक संगठन नहीं थे जैसे कि आज विद्यमान हैं। यद्यपि कृषि अधिकांश जनता का प्रमुख धन्धा था, परन्तु देश के ग्रामीण तथा नागरिक क्षेत्र में कतिपय महत्त्वशाली उद्योग थे। वस्त्र-व्यवसाय (सूत, ऊन और रेशम के वस्त्र बुनना) धातु, पाषाण और ईटों के कार्य एवं शक्कर व कागज बनाना तथा रंगसाजी प्रमुख व्यवसाय थे। प्याले, जूते, शस्त्र, सुरा, सुवासित पदार्थ, तेल, इत्र आदि बनाना छोटे व्यवसाय थे।

भारत का आन्तरिक व्यापार विस्तृत और व्यापक था, परन्तु कभी-कभी वह राज्य के एकाधिकार या कठोर शासकीय नियन्त्रण के कारण अवरुद्ध हो सीमित हो जाता था। निरन्तर युद्धों और आन्तरिक विद्रोहों के कारण भी व्यापार को ठेस पहुँचती थी। बाह्य व्यापार की दृष्टि से उसका यूरोप के दूरस्थ प्रदेश तथा मलाया द्वीपसमूह, चीन एवं प्रशान्त महासागर के अन्य देशों से व्यापारिक सम्बन्ध था। अपने थल से मध्य एशिया, अफगानिस्तान, ईरान, तिब्बत और भूटान से भारत का सम्पर्क और संसर्ग था। भोग-विलास की वस्तुएँ, अश्व और खच्चर आयात के प्रमुख साधन थे और निर्यात में प्रधान वस्तुएँ कृषि की विविध उपज और वस्त्र थे। फारस की खाड़ी के चतुर्दिक कतिपय देश तो अपनी खाद्य-सामग्री के लिए सम्पूर्णतया भारत पर ही आश्रित थे।

विविध वर्गों के जीवन-स्तर के विषय में तो धन-सम्पन्न वर्गों और कृषकों के मध्य में पृथ्वी और प्रकाश का अन्तर था। जब शासकीय और अधिकारी वर्ग भोग-विलास, ऐश्वर्य और प्रचुरता में लोट रहे थे, तब कृषकों का जीवन-स्तर अत्यन्त ही निम्न था। सम्भवतः करानुपात उन्हें अत्यधिक भारी प्रतीत होता था और दुर्भिक्ष के समय तो उनकी दशा अत्यन्त ही दयनीय हो जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्ययुगीन भारत के कृषक उनके आधुनिक युग के वंशजों की अपेक्षा अधिक सम्पन्न थे। परन्तु वर्तमान युग के स्तर की दृष्टि से उनकी आवश्यकताएँ अल्प थीं। आर्थिक बातों में ग्राम आत्मनिर्भर होते थे, अतएव ग्रामीण जनता की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति संतोषपूर्वक स्थानीय वस्तुओं से हो जाती थी। वास्तव में मुस्लिम शासकों ने ग्रामों के संगठन और व्यवस्था में किसी प्रकार से हस्तक्षेप नहीं किया। फलतः ग्रामों की जनता शासन से उदासीन हो गयी और वह राजनीतिक स्थिति से अनभिज्ञ बन गयी।

उसकी आवश्यकताएँ और आकांक्षाएँ कम थीं और दृष्टिकोण सीमित । इसके अतिरिक्त राजधानी में राजनीतिक क्रान्तियों और षड्यन्त्रों के होने पर भी ग्रामीण लोग राजनीतिक विप्लवों के प्रति अत्यन्त उपेक्षित और उदासीन हो जीवन के साधारण व्यवसाय करते रहते थे । ग्रामीण जीवन के समदर्शी क्रम को राजसभा की राजनीति कदाचित् ही भंग करती थी ।

भारतीय और इस्लामी संस्कृतियों का संसर्ग व सम्मिश्रण एवं उसका प्रभाव

जैसा ऊपर वर्णित है प्राचीनतम हिन्दू संस्कृति और सभ्यता में एकीकरण करने की इतनी अधिक शक्ति थी कि देश के प्रारम्भिक आक्रान्ता जैसे यूनानी, शक, हूण आदि भारतीयों में पूर्णरूपेण मिल गये और वे अपने एकात्म्य व अनन्यता को सम्पूर्णतया खो बैठे । परन्तु भारत के तुर्क और अफगान आक्रमणकारियों के साथ ऐसा नहीं हुआ । मुस्लिम आक्रमणों के साथ-साथ भारत में नवीन, विभिन्न और निर्दिष्ट सामाजिक और धार्मिक विचार प्रवेश कर गये और इनका सम्पूर्ण एकीकरण असम्भव था । परन्तु जब कभी दो प्रकार की सभ्यता और संस्कृति सदियों तक परस्पर सम्पर्क में आती हैं तो वे परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं । इस प्रकार सुदीर्घकाल से संसर्ग, नवीन भारतीय मुसलमानों के समुदाय के विकास, मुस्लिम आक्रमणकारियों के भारत में बस जाने से हिन्दू स्त्रियों से विवाह, हिन्दू और मुस्लिम सन्तों और उनके अनुयायियों के पारस्परिक सम्पर्क, मुस्लिम शासकों द्वारा हिन्दू कलाकारों, शिल्पियों और साहित्यिकों के संरक्षण और उनके उदार आन्दोलनों के प्रभाव के कारण हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के विचार और प्रथाओं को अपना कर उनका समीकरण करने वाले थे और फलस्वरूप अनेक सामाजिक परिवर्तन हुए ।

हिन्दुओं की राजनीतिक पराधीनता और सामाजिक मान-मर्दन होने पर भी उनका सर्वोपरि प्रभाव—मुसलमानों की प्रभुता के अन्तर्गत अपनी राजसत्ता के विलुप्त हो जाने पर हिन्दू बड़े उद्विग्न और आतुर थे । वे विदेशी शासन के जो उनके मध्य में स्थापित किया गया था, सबसे अधिक दुष्टतम शत्रु समझे जाते थे । उन पर अत्यधिक कर लगाये गये थे, कुछ व्यक्तियों के अतिरिक्त ये उच्च पदों से वंचित कर दिये गये थे, इनके साथ अत्यन्त कठोर व्यवहार किया जाता था । इनकी अत्यन्त पतित और दयनीय दशा कर दी गयी थी एवं उन्हें दास के समान साम्राज्य में रहना पड़ता था । अलाउद्दीन का उद्देश्य तो हिन्दुओं की ऐसी अधम दशा कर देने का था कि वे घुड़सवारी करने, सुन्दर वस्त्र धारण करने, शस्त्र रखने और भोग-विलास का आनन्द उठाने में सर्वथा असमर्थ रहे । वे भारी धार्मिक अयोग्यताओं के बोझ से कराहते थे, उन्हें बारम्बार कठोर यन्त्रणाएँ सहन करनी पड़ती थीं और प्रायः

उन्हें 'जजिया' नामक एक विशिष्ट कर देना पड़ता था। इस कर से बचने के लिए कतिपय हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था। ऐसी दशा में हिन्दू प्रतिभा का विकास अवरुद्ध हो जाना स्वाभाविक था और इसे राजनीतिक क्षेत्र में अपना सम्पूर्ण विकास करने का कोई अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ।

इतना होने पर भी देश के आर्थिक जीवन में हिन्दू सर्वोपरि थे। वह मुस्लिम सेना ही थी जिसने दिल्ली को अपने अधीन कर लिया और हिन्दू राजतन्त्रों को विनष्ट कर दिया। मुस्लिम आक्रान्ता अपने साथ कृषकों को नहीं लाये थे और यद्यपि मुस्लिम अमीरों को भूमि जागीर के रूप में प्रदान कर दी गयी थी तब भी कृषि करने वाले वर्ग हिन्दू ही रहे। मुस्लिम धर्म-परिवर्तन भी इतने विस्तृत पैमाने पर न था कि हिन्दू जमींदार और हिन्दू कृषक को अपने स्थान से हटाकर मुसलमान प्रतिष्ठित किये जायँ। वस्तुतः भूमि-प्रणाली परिवर्तित नहीं हुई; अतएव मुस्लिम प्रभुत्व के होने पर भी हिन्दू साधारणतया पूर्ववत् जीवन व्यतीत करते रहे।

इसके अतिरिक्त व्यापार और वाणिज्य भी अवशेष रूप से दूसरे हाथों में नहीं गया। मुस्लिम आक्रान्ता केवल योग्य सैनिक ही थे जो व्यापार से घृणा करते थे एवं जो विस्तृत हिन्दू साख-प्रणाली (credit system) को जिस पर वाणिज्य आश्रित था, समझने में असफल रहे। निस्सन्देह मुस्लिम शासन में व्यापारी-वर्ग को अत्यधिक मुद्रा-दण्ड देना पड़ता था परन्तु फिर भी हिन्दू बनिया समाज की रचना में इस युग में वैसा ही अनिवार्य अंग बना रहा जैसा कि आज है।

उपरोक्त तत्वों के अतिरिक्त मुस्लिम शासन में आवश्यकता के कारण नौकरशाही की निम्न श्रेणियाँ हिन्दू बनी रहीं। मुसलमानों पर राज्य की अनुकम्पा होने से उनके साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया जाता था। उन्होंने उच्च पदों पर अपना एकाधिकार स्थापित कर रखा था, परन्तु कुशल शासक और दक्ष प्रबन्धक होने के कारण शासन में निम्न पदों पर हिन्दुओं को नियुक्त करना अनिवार्य हो गया था। जिलों में पटवारी, आय-व्यय लेखक, कोषाध्यक्ष और अन्य नौकर स्थायी रूप से सदैव ही हुआ करते थे; प्रान्तपति, न्यायाधीश और जिला अधिकारी मुसलमान होते थे। इस प्रकार मुस्लिम प्रभुत्व के होने पर भी हिन्दू नौकरशाही की नियुक्ति बनी रही।

जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध है, यह देखकर आश्चर्य होता है कि उत्तरी भारत पर मुसलमानों की सम्पूर्ण विजय होने पर भी हिन्दू धर्म लोगों के मस्तिष्क पर अपना प्रभुत्व स्थिर रखने के लिए पूर्ण समर्थ था। जो हिन्दू इस्लाम को ग्रहण कर लेता उसके लिए प्रत्येक वस्तु प्रस्तुत थी। मलिक काफूर, खुसरो और हेमू जैसे कतिपय सर्वोच्च पदाधिकारी धर्म परिवर्तित किये हुए हिन्दू थे।

हिन्दुओं के लिए समृद्धि और शक्ति का मार्ग इस प्रकार लघु, स्पष्ट, सुलभ और सरल हो जाने पर भी यह आश्चर्य है कि आज उत्तर प्रदेश में, जो मुस्लिम शासन के अन्तर्गत छह सौ वर्षों तक निरन्तर रहा, मुसलमानों की जनसंख्या केवल चौदह प्रतिशत है हिन्दू धर्म ने इस्लाम के आघात को सहन कर लिया। इससे भी अधिक अलाउद्दीन खिलजी और फीरोज तुगलक जैसे कट्टर धर्मान्ध सुलतानों के अन्तर्गत हिन्दुओं के धार्मिक नेताओं को सम्मान और मान्यता प्राप्त हुई थी। जैन साधनों से हमें यह ज्ञात होता है कि अलाउद्दीन ने जैन आचार्य महासेन के साथ धार्मिक सम्भाषण किया था। यह आचार्य कर्नाटक से इसी उद्देश्य के लिए लाया गया था। यह भी कहा जाता है कि दिल्ली के दिगम्बर जैन पूर्णचन्द और श्वेताम्बर साधु रामचन्द्र सूरी पर इस सुलतान की विशेष अनुकम्पा थी। गयासुद्दीन तुगलक के पास दो जैन पदाधिकारी थे जिन्होंने उसे अधिक प्रभावित किया था एवं फीरोज तुगलक हिन्दू कवि राजशेखर का अधिक सम्मान करता था।

यद्यपि हिन्दुओं की दशा अति दयनीय थी तो भी उनकी खिन्नता और शक्तिहीनता दीर्घकाल तक रही। राजपूतों ने मुस्लिम आक्रमणों के प्रतिरोध के लिए संगठन किया और दो सौ वर्षों तक इस संगठन को वीरतापूर्वक बनाये रखा। मुहम्मद गोरी द्वारा दिल्ली के चौहानों की पराजय होने के पश्चात् हिन्दुओं का नेतृत्व मेवाड़ के सिसोदिया राजकुल ने सँभाला। इस राजवंश के प्रसिद्ध राणा कुम्भा (१४३३–६८) और उनके उत्तराधिकारी हिन्दुओं के पुनर्जागरण आन्दोलन के समर्थक योद्धा थे। विशाल भू-भाग की मुस्लिम विजय से रक्षा करने के अतिरिक्त इन्होंने उत्तरी भारत के अन्य प्रदेशों के हिन्दुओं को खूब प्रेरणा दी। फलतः राजस्थान के बाहर भी हिन्दू प्रभाव पड़ने लगा। चौदहवीं सदी में तो गंगा की घाटी में बड़े-बड़े हिन्दू जमींदारों की सत्ता और प्रभाव इतना अधिक हो गया कि केन्द्रीय सत्ता के निर्बल होने पर उन्होंने उसके विरोध में विद्रोह छेड़ दिया और हम सुनते हैं कि सुलतान को जमींदारों के इस विद्रोह का निर्दयतापूर्वक दमन करना पड़ा।

इस प्रकार हिन्दू प्रभावशाली बने रहे और मुस्लिम समाज पर उनका प्रभाव पड़ा। निम्नलिखित विवेचन इस कथन को और भी स्पष्ट करेगा।

मुस्लिम समाज पर हिन्दुओं का प्रभाव—इस युग में मुसलमानों पर राज्य की विशेष कृपा थी और हिन्दुओं को अनेक प्रतिबन्ध और अयोग्यताएँ सहन करनी पड़ती थीं। राज्य के अनेक उच्च पद मुसलमानों के लिए सुरक्षित रखे जाते थे। सुगमता से अपरिमित धन की प्राप्ति और राजसभा के आनन्दोत्सवों में सहभागिता ने मुसलमानों में अनेक बड़े-बड़े दुर्गुण उत्पन्न कर दिये और शासकीय वर्ग को सरलता से आनन्द और भोग-विलास का जीवन व्यतीत

करने योग्य बना दिया। अन्त में इसने मुस्लिम सम्प्रदाय की शक्ति को चूस लिया।

मुस्लिम विजेताओं ने हिन्दू नारियों, रानियों और राजकुमारियों से विवाह किये। इन हिन्दू स्त्रियों ने अपने नवीन गृहों में हिन्दू प्रथाओं को प्रस्तावित किया जिससे मुसलमान प्रभावित हुए। मुसलमानों के अन्तःपुरों में हिन्दू महिलाओं का प्रभाव उन तत्वों में से एक था जिन्होंने इस्लाम और हिन्दू धर्म का समन्वय कराया। भारतीय मातृत्व की परम्परागत भक्ति, श्रद्धा, सहृदयता और दयालुता ने तुर्कों और मंगोल खानाबदोशों की बर्बरता व क्रूरता को कम कर दिया था। कतिपय विद्वानों का मत है कि मुसलमानों की नैतिकता हिन्दुओं के विचार और प्रथाओं से अत्यधिक प्रभावित हुई थी। "एक विचित्र क्रम द्वारा जिसमे पत्नी-परित्याग-प्रथा असम्भव हो गयी, मुसलमान व्यावहारिक रूप से एक-पत्नीत्व को मानने लगे। हिन्दू प्रभाव के अन्तर्गत विधवाओं का विवाह विरल हो गया।" इसके अतिरिक्त हिन्दू समाज से सम्पर्क के कारण मुसलमानों में वर्ग विभेद की भावना का उत्कर्ष हुआ। कतिपय मुसलमानों ने उच्च कुलीन व्यक्तियों को ही नियुक्त किया और बलबन ने तो अवसरवादियों को कभी भी प्रोत्साहित नहीं किया। मुसलमानों के विविध वर्ग एक ही नगर में परस्पर एक-दूसरे से पृथक् होकर विभिन्न मुहल्लों में रहने लगे। उनमें हिन्दुओं के समान उच्च और निम्न वर्ग की भावना उदय हुई। उदाहरण के लिए शेख और सैयद वर्ग। इसके अतिरिक्त निम्न श्रेणी के पेशेवर समुदाय भी जाति-प्रथा के आधार पर ही संगठित हुए और उनकी भी पंचायतें और उनके नियम और उपनियम बनने लगे। मुसलमानों ने जाति-प्रथा तथा अछूत-भावना अपना ली। उनमें जुलाहा, बुनकर, शेख, गोरी आदि जातियाँ बन गयीं। इसके अतिरिक्त परिवर्तित धर्म वाले नये मुसलमानों के साथ अछूतों का सा ही व्यवहार किया जाता है।

मुस्लिम समाज में धन की प्रचुरता होने पर धर्म का प्रभुत्व क्षीण होने लगा और अन्धविश्वास व अनभिज्ञता अपनी जड़ जमाने लगे। फीरोज तुगलक अपनी पुस्तक 'फतुहाई फीरोजशाही' में अनेक नास्तिक सम्प्रदायों का उल्लेख करता है जिनका उसने कठोरता से दमन किया था और उनके नेताओं को उसने या तो कारागृह में डाल दिया था अथवा उन्हें मृत्यु-दण्ड दिया था। हिन्दुओं का 'नजर लग जाने' का अन्धविश्वास मुस्लिम समाज में घर कर गया था और इस अन्धविश्वास की 'उतारा' और 'आरती' की प्रथा भी मुसलमानों ने अपना ली एवं इसे 'निसार' कहा गया। हिन्दुओं में परम्परागत मठों, उनके साधु-संतों और उनके शिष्यों की जो प्रथा थी, मुसलमानों ने उसे अपने संतों के लिए अपना लिया और उन्होंने इसके आधार पर पीर या शेख और उनके

वंशजों की प्रणाली का विकास किया। अपनी विविध आकांक्षाओं की पूर्ति के हेतु हिन्दुओं के समान मुसलमान भी इन संतों और योगियों के पास जाने लगे और 'मानताओं' या 'मिन्नतों' में उनका विश्वास दृढ़ होने लगा। मुहम्मद तुगलक जैसे मुस्लिम नरेश हिन्दू योगियों और साधु-संतों के पास अपनी आन्तरिक इच्छाओं की पूर्ति के हेतु जाने लगे। इस बात का भी उल्लेख है कि मुसलमानों ने राजपूतों की 'जौहर' प्रथा को अपना लिया था। भटनेर के मुस्लिम प्रान्तपति कमालुद्दीन और उसके अनुयायी अपनी स्त्रियों तथा सम्पत्ति को अग्नि में जलाकर तैमूर से युद्ध करने गये थे। दैनिक जीवन में भी मुसलमानों ने हिन्दुओं की प्रथाओं का अनुकरण किया। हिन्दू पगड़ी मुसलमानों में लोकप्रिय हो गयी। हिन्दुओं की दैनिक स्नान की प्रथा और धार्मिक कृत्य करने के पूर्व शरीर को शुद्ध व पवित्र करने की प्रणाली मुसलमानों ने ग्रहण कर ली। हिन्दुओं के उत्सवों और समारोहों तथा त्यौहारों के अनेक तत्त्वों को मुसलमानों ने ले लिया। उदाहरण के लिए अशरफ के मतानुसार मुसलमानों का 'शबेबरात' का त्यौहार हिन्दुओं के 'शिवरात्रि' के त्यौहार की नकल है। मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में भारतीय मुसलमान विदेशी मुसलमान की अपेक्षा भारत के हिन्दू के अधिक पास है। मकबरों की पूजा भारत के मुसलमानों में ही दिखती है और 'पीरों' की पूजा भारत की पूजा का ही दूसरा रूप है।

हिन्दू समाज पर इस्लाम का प्रभाव—मुस्लिम आक्रमण के प्रारम्भिक युग में हिन्दू समाज में जो अवांछनीय प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई थीं, भारत में मुस्लिम आधिपत्य के बाद उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति हुई। हिन्दुओं में शिशु-हत्या की प्रथा विस्तृत रूप से फैल गयी और हिन्दू समाज में पर्दा प्रथा भी विस्तृत रूप से प्रचलित हो गयी। स्त्रियाँ अपने गृहों के क्षेत्र में ही एकान्तवास में रहती थीं। वे पर्दों में ढकी पालकियों में बाहर जाती थीं। मुस्लिम स्त्रियों की स्वतन्त्रता भी सीमित कर दी गयी थी। नगर के बाहर संतों की समाधियों के दर्शनार्थ भी उन्हें जाने की अनुमति नहीं थी। इस आदेश का उल्लंघन करने वाली नारियों के विरुद्ध कठोर दण्ड निर्धारित कर फीरोज ने अपनी असहिष्णुता प्रकट की थी। मुसलमानों द्वारा कन्याओं का बलात् अपहरण होने से बाल-विवाह उस युग की सर्वमान्य प्रथा हो गयी थी। महिलाओं की दशा पहले की अपेक्षा अधिक निम्न-स्तर पर आ गयी थी। स्त्रियों का अपने स्वामियों अथवा अन्य पुरुष सम्बन्धी पर आश्रित होना समाज की प्रमुख विशिष्टता हो गयी थी। उनसे दाम्पत्य जीवन में पूर्ण पति-भक्ति बनाये रखने की आशा की जाती थी। यद्यपि स्त्रियों का सम्मान होता था तथापि कन्या का जन्म एक अशुभ घटना मानी जाती थी। अमीर खुसरो ने अपनी कन्या के जन्म पर स्वयं खेद प्रकट किया था। इसका प्रभाव हिन्दू समाज में भी होने

लगा था। मुसलमानों से अपने धर्म और सतीत्व की रक्षा करने हेतु हिन्दू स्त्रियों में सती-प्रथा देशव्यापी हो गयी थी। परन्तु इब्नबतूता के कथनानुसार किसी स्त्री को सती करने के पूर्व दिल्ली के सुलतान से एक प्रकार का अनुमति-पत्र प्राप्त करना पड़ता था।

मुसलमानों के आने के कारण भारतीय सामाजिक जीवन में दासता की अवांछनीय प्रथा घर कर गयी थी। दासता का प्रचलन हो गया था और दास रखना उस युग की सर्वमान्य प्रथा थी। पुरुष और स्त्री दोनों प्रकार के दास रखना सुलतानों और सामन्तों में प्रचलित रीति थी। राजकीय दासों की संख्या में प्रायः वृद्धि हो रही थी। अलाउद्दीन के पास ५०,००० गुलाम थे और फीरोज तुगलक के अधीन उनकी संख्या दो लाख हो गयी। बहुसंख्यक भारतीय गुलामों के अतिरिक्त पुरुष और स्त्री दोनों प्रकार के गुलाम चीन, तुर्किस्तान और फारस जैसे अन्य देशों से मँगाये जाते थे। सुलतान अपने इन गुलामों का भरण-पोषण राज्य की आय से करते थे। सुलतानों और अमीरों के लिए दासता की यह प्रथा उपयोगी रही हो परन्तु इनके घातक और दूषित सामाजिक परिणाम हुए। वस्तुतः समाज में यह अप्रगतिशीलता और अमानुषिक तत्त्व की छाप थी। परन्तु खामी जहान, मकमूल और मलिक काफूर के समान प्रतिभावान दासों का उत्कर्ष राज्य में सर्वोच्च पद तक हो सकता था। मुसलमानों की इस दास-प्रथा का अनुकरण हिन्दू राजाओं और सामन्तों ने भी किया। राजस्थान के राजप्रासादों व अन्तःपुरों में यह प्रथा आज भी विद्यमान है। आज भी राजपूत राजघरानों में स्त्री दासियाँ दहेज में दी जाती हैं।

मुसलमानों की वेश-भूषा और शिष्टाचार भी हिन्दू समाज में प्रचलित हो गये। जुआ खेलना और शराब पीना इस युग में सामान्य दुर्गुण हो गये। इनकी बहुलता व अवांछनीय भोग-विलासिता को रोकने के लिए अलाउद्दीन खिलजी और बलबन ने अनेक राज्याज्ञाएँ जारी की थीं। मुस्लिम राजसभा का जो शिष्टाचार था और बैठक के लिए जो विभिन्न श्रेणियाँ थीं, उनका अनुकरण हिन्दू नरेशों और सामन्तों ने किया। मुस्लिम प्रभाव की व्यापकता, हिन्दुओं के पारिवारिक जीवन के अंगों, रीति-रिवाजों, संगीत-नृत्य, वेश-भूषा, भोजन बनाने की प्रणाली, त्यौहारों, मेलों, समारोहों व मराठा, राजपूत तथा सिक्ख राजाओं की दरबारी संस्थाओं में विशालता व सुचारुता से व्यक्त है।

भारत में इस्लाम और मुस्लिम शासन के प्रस्तुत होने से अन्य सामाजिक प्रभाव लम्ब रूप में समाज का विभाजन था। तेरहवीं सदी के पूर्व हिन्दू समाज क्षितिज के समान समतल समानान्तर भागों में विभक्त था। न तो बौद्ध धर्म और न जैन धर्म ने इस विभाजन को प्रभावित किया परन्तु दोनों ही हिन्दू

समाज में मिला लिये गये। इसके विपरीत इस्लाम ने भारतीय समाज को ऊपर से नीचे तक हिन्दू और मुसलमानों को दो भागों में विभक्त कर दिया। एक ही देश में लम्ब रूप से स्थापित दो समानान्तर समाज हो गये। सभी स्तरों पर ये विभिन्न थे और इन दोनों में घनिष्ट सामाजिक सम्पर्क का अभाव रहा। इसके अतिरिक्त इस्लाम के धर्म परिवर्तन करने के उत्साह ने हिन्दुओं के सनातनी समुदायों में अनुदारता को दृढ़ कर दिया। इस्लाम के प्रसार के विरुद्ध अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए इन रूढ़िवादी समुदायों ने जाति के नियमों की कठोरता में वृद्धि कर दी और हिन्दू समाज को सुदृढ़ करने के हेतु स्मृति-ग्रन्थों में अनेक नियमों का निर्माण किया। इस प्रकार जाति-व्यवस्था की अधिक जटिलता और नवीन नियमों के निर्माण से हिन्दू समाज पर दो परिणाम हुए—प्रथम, हिन्दू संस्कृति की रक्षा हो सकी और द्वितीय, हिन्दुओं के जीवन से गतिशीलता, प्रवाह व प्रगति विलुप्त हो गयी और उनमें निर्जीवता घर कर गयी।

हिन्दू समाज के सम्मुख इस समय सामाजिक समंजन की समस्या थी। सुरक्षा के लिए हिन्दू समाज को इस प्रकार दृढ़ करना था कि स्वधर्म-त्याग दुष्कर हो जाय और साथ ही ऐसे नियम भी बनाये जायँ जिनसे वे व्यक्ति जो बलपूर्वक समाज से पृथक कर दिये गये थे पुनः उसमें लिये जा सकें। फलस्वरूप प्रतिरक्षा के लिए समाज अपने नियमों से अधिक दृढ़ हो गया एवं नियमों की अवहेलना व अपालन करने वालों के प्रति अधिक हिंसक बन गया। वस्तुतः समाज अब प्रतिक्रियावादी हो गया था। इसके विपरीत, समाज ने उन समस्याओं का हल खोज निकालने का प्रयास किया जिन्हें मूल स्मृतिकार स्वप्न में भी नहीं सोच सकते थे। अतएव कोई आश्चर्य नहीं, यदि हमें सन् १२०० से १५०० तक के युग में स्मृति और निबन्ध पर हिन्दुओं द्वारा रचित अनेक ग्रन्थों में सविस्तृत टीकाएँ प्राप्त हों; क्योंकि सामाजिक सम्बन्धों का समंजन एक महत्त्वशाली समस्या हो गयी थी, अतएव यह युग स्मृति लेखकों के पूर्ण विकास का है। 'मिताक्षर' का लेखक विज्ञानेश्वर, चौदहवीं सदी में मनुस्मृति का प्रसिद्ध भाष्यकार कुल्लुकभट्ट, चौदहवीं सदी के प्रारम्भ में मनुस्मृति पर अनेक निबन्धों का लेखक चण्डेश्वर, 'पारासर' स्मृति का टीकाकार, विजयनगर का माधव और 'मदन पारिजात' स्मृति का रचयिता विश्वेश्वर इसी युग में समृद्ध हुए थे। धार्मिक क्षेत्र में इस्लाम के प्रभाव से निर्गुण ईश्वर के प्रति पुनः श्रद्धा जागृत हो गयी। पर यह सब हिन्दू धर्म के लिए ऐसा था मानों सुरा को एक पात्र से दूसरे पात्र में रखा गया हो। हिन्दू धर्म के नेताओं ने इस्लाम की तरह हिन्दू धर्म को अधिक सजीव, सरल, भावुक व आकर्षक करने के लिए उसकी बाहरी रूपरेखा में परिवर्तन कर दिया।

परस्पर सामंजस्य, सहयोग और सहिष्णुता की भावना का विकास— हिन्दुओं और मुसलमानों के मूलभूत मतभेदों के होने पर भी आक्रमण और विप्लव की अशान्त सतह के नीचे कालान्तर में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में पारस्परिक सामंजस्य और सहिष्णुता की सुखद धारा प्रवाहित होने लगी थी। कुछ समय व्यतीत हो जाने पर हिन्दुओं और मुसलमानों ने युद्ध और सम्पीड़न की निष्फलता व निरर्थकता को समझ लिया था। धीरे-धीरे दोनों समुदायों में सामंजस्य और सहयोग की भावना प्रकट हो रही थी। परस्पर एक-दूसरे को जानने और समझने की चेष्टा करने लगे। फलतः हिन्दू धर्म, हिन्दू कला, हिन्दू साहित्य और हिन्दू विज्ञान ने मुस्लिम तत्त्वों को अपनाया ही नहीं प्रत्युत हिन्दू संस्कृति की भावना और हिन्दू मनीषा की प्रेरणा में भी परिवर्तन हो गया। इसी प्रकार मुसलमानों ने भी जीवन के हर क्षेत्र के प्रति उन्मुख होकर खुले हृदय से आदान-प्रदान किया। यदि हिन्दुओं के धार्मिक नेताओं और सन्तों ने हिन्दू-मुस्लिम विचारों के समन्वय का सफल प्रयास किया तो मुसलमानों के सूफी सम्प्रदाय तथा उनके लेखकों व कवियों ने भी हिन्दू सिद्धान्तों व परम्पराओं को ग्रहण किया। प्रसिद्ध मुस्लिम विद्वान् और सन्त भारत में इस्लाम के दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारों के प्रसार के लिए कठोर परिश्रम करने लगे। मुसलमानों के अध्यात्मवाद का एक साधन भारतीय था। पारस्परिक सहिष्णुता की भावना की अभिव्यक्ति मुसलमानों के सन्तों के प्रति विशेषकर रहस्यवादी आध्यात्मिक सन्तों के लिए हिन्दुओं की बढ़ती हुई श्रद्धा और भक्ति में हुई थी और इसी प्रकार मुसलमान भी हिन्दुओं के साधु-सन्तों के प्रति ऐसी ही श्रद्धा और भक्ति की भावना रखने लगे। हिन्दुओं ने उदारता-पूर्वक मुस्लिम पीरों और मजारों का पूजन प्रारम्भ किया। मुस्लिम पीरों की कब्रों पर हिन्दू मिठाइयाँ चढ़ाते और कुरान के पाठ को श्रवण करते। वे कुरान को एक देववाणी के समान मानने लगे, जीवन में बुरे प्रभावों और अपशकुनों से बचने के लिए घरों में कुरान की प्रतियाँ रखने लगे तथा भ्रातृत्व प्रदर्शित करने के लिए मुसलमानों को भोजन कराने लगे। पंजाब में अब्दुल कादिर जिलानी के मुरीदों, रावलपिण्डी के ब्राह्मणों और बहराइच में सैयद सालार मसूद की मजार के उपासक हिन्दुओं का उल्लेख है। इसी प्रकार अजमेर का शेख मुइनुद्दीन चिश्ती के भक्तों में बहुसंख्यक हिन्दू भी थे। इसी भाँति मुसलमान भी हिन्दू धर्म की ओर झुके। मूर्ति-पूजा के कट्टर विरोधी होने पर भी बंगाल में मुसलमानों ने हिन्दुओं के शीतल, काली, धर्मराज, वैद्यनाथ आदि अन्य देवी-देवताओं की पूजा को अपना लिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने सरिताओं के अधिष्ठाता ख्वाजा खिज्र, सुन्दरतम सघन वन में सिंह पर सवारी करने वाली देवी के प्रेमी व अंगरक्षक जिन्दागाजी आदि नवीनतम

मुस्लिम देवताओं का निर्माण किया। सामंजस्य, सहिष्णुता, सहयोग और सामीप्य की भावनाओं के इन परिणामों के साथ-साथ सत्यपीर नामक देवता का प्रादुर्भाव हुआ जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही मानते थे। गौड़ नरेश हुसेनशाह को इसका संस्थापक माना जाता है। इस प्रकार हिन्दू धर्म और इस्लाम की पारस्परिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कई विचित्र समन्वयकारी सम्प्रदायों और क्रियाओं का उदय हुआ।

सामंजस्य, सम्मिश्रण और सामीप्य की मंगलकारिणी भावना का प्रभाव इस्लाम पर भी कम न हुआ। उसमें कोमलता और सरसता आ गयी। उसके स्वरूप में खूब परिवर्तन हुआ और सूफी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही इस सम्प्रदाय के सन्तों को मानने लगे। उनकी समाधियाँ इन दोनों सम्प्रदायों के लिए तीर्थस्थान बन गयीं। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती जो अफगानिस्तान से सन् ११९२ ई० में भारत आये थे और सन् ११९२ ई० में अजमेर को अपना केन्द्र बना लिया था, ऐसे ही सूफी सन्त थे। इनकी समाधि ख्वाजा साहब की दरगाह के नाम से आज भी अजमेर में प्रसिद्ध स्थान है। यहाँ 'उर्स' के मेले पर बहुसंख्यक हिन्दू और मुसलमान आज भी आते हैं। तेरहवीं सदी में निजामुद्दीन औलिया और सोलहवीं सदी में शेख सलीम चिश्ती सूफी सम्प्रदाय के अन्य प्रसिद्ध सन्त थे। सन्तों के अन्य सम्प्रदाय सुहरावर्दी और कादरी थे। इन सम्प्रदायों का प्रभाव यह हुआ कि इस्लाम ने अपने भारतीय वातावरण में सन्त-पूजा को ग्रहण कर लिया। हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर मेल और सामीप्य तथा सहिष्णुता की भावनाओं का अन्य परिणाम यह हुआ कि सत्यपीर, सत्तनामी, नारायणी आदि ऐसे पंथों का प्रादुर्भाव हुआ जिनके अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे और जो परस्पर दोनों में कोई भेद-भाव नहीं मानते थे। कालान्तर में मुसलमानों में पन्थी साहित्य का विकास भी हुआ।

हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर एक दूसरे को समझने की भावना ने काश्मीर के जैनुल आबदीन और बंगाल के हुसेनशाह जैसे मुस्लिम शासकों की राज-सभाओं में मुसलमानों को हिन्दुओं के संस्कृत साहित्य का अध्ययन करने या अनुवाद करने के लिए प्रोत्साहित किया। बंगाल के मुस्लिम शासकों ने रामायण व महाभारत का संस्कृत से बँगला में जिसे वे बोलते व समझते थे, अनुवाद करने के लिए विद्वान् नियुक्त किये थे। बँगला भाषा और साहित्य के विकास नामक अपने ग्रन्थ में दिनेशचन्द्र सेन ने कहा है कि 'बँगला का एक साहित्यिक भाषा पर आसीन होना विभिन्न प्रभावों द्वारा सम्पन्न हुआ जिसमें मुस्लिम विजय निस्सन्देह सर्वप्रधान है।' हिन्दी पर भी मुस्लिम प्रभाव हुआ जो हिन्दी के शब्द भण्डार, व्याकरण, रूपक, छन्द और शैली में स्पष्ट दीखता

है। ऐसा ही प्रभाव मराठी, बंगाली, सिन्धी और पंजाबी पर भी हुआ। मुस्लिम राजसभाएँ, मुस्लिम धर्मोपदेशक एवं सन्त हिन्दुओं के योग, वेदान्त, चिकित्साशास्त्र तथा ज्योतिष-विज्ञान का अध्ययन करने लगे। इसी प्रकार हिन्दू ज्योतिषियों ने भी "मुसलमानों से कुछ वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द, अक्षांशों और देशान्तरों की मुस्लिम गणना, कलेण्डर के कुछ अंग और जन्म-कुण्डली का कुछ भाग जिसे तजिक कहते हैं, चिकित्साशास्त्र में धातु-क्षार का ज्ञान और रसायनशास्त्र की कुछ क्रियाएँ ले लीं।" देश में मुसलमानों ने कुछ नवीन कलाकौशल का भी निर्माण किया जैसे कागज बनाना, मीनाकारी का काम, बुनाई की विविध प्रणालियाँ व धातुओं में जड़ाऊ कार्य।

सम्मिलन, सामंजस्य, सहिष्णुता और सहकारिता एवं पारस्परिक प्रेम की भावनाओं की अभिव्यक्ति उच्चकुलीन मुसलमानों के बढ़ते हुए प्रयत्नों से हुई जो उन्होंने हिन्दू वातावरण में रहने पर हिन्दू प्रथाओं को अंगीकार करने के लिए किये थे। इन दोनों समुदायों के शासकीय वर्ग के सदस्यों में हुए परस्पर अन्तर्जातीय विवाहों ने इन सामंजस्यों को सहायता प्रदान की, इन दोनों समुदायों की बीच तीव्र मतभेद को कम करने का अधिक प्रयास किया एवं एक-दूसरे की प्रथाओं को अपनाने में सहयोग दिया।

राजनीतिक क्षेत्र में भी सामंजस्य और सहयोग की यह भावना दृष्टिगोचर हुई। स्थानीय शासन की हिन्दू-प्रणाली को स्थिर रखने के अतिरिक्त मुस्लिम राज्य ने कभी-कभी बहुसंख्यक हिन्दुओं को सेवा में नियुक्त किया जो शासन की विभिन्न शाखाओं में प्रभावशाली हो गये। उदाहरण के लिए चन्देरी के मेदिनीराय और उसके मित्र मालवा में माण्डू के सुलतान के यहाँ उच्च पदों पर थे। बंगाल में हुसेनशाह ने पुरन्दर, रूप और सनातन जैसे हिन्दुओं को नियुक्त किया। गोलकुण्डा के सुलतानों ने कतिपय हिन्दुओं को अपना मन्त्री बनाया, बीजापुर के यूसुफ आदिलशाह ने हिन्दुओं को उत्तरदायित्व के उच्च पदों पर नियुक्त किया और राज्य के अभिलेख व वृत्तान्त मराठी भाषा में रखे। मुस्लिम शासकों और नरेशों द्वारा विशेषकर प्रान्तों में हिन्दू मन्दिरों और धार्मिक समाधियों को अनेक प्रकार के अनुदान दिये जाते थे। बौद्ध गया के महन्त की जागीरदारी प्रमुख भाग मुहम्मदशाह का अनुदान था। काश्मीर का सुलतान प्रायः अमरनाथ और शारदादेवी के मन्दिर में दर्शनार्थ जाता था और यात्रियों की सुख-सुविधा के हेतु उसने वहाँ विश्राम-स्थल बनवाये थे। मुसलमानों के प्रति राजपूतों की उदारता और वीरता के उदाहरण भी प्रचुर हैं। मेवाड़ के राणा संग्रामसिंह अपने पराजित शत्रु मालवा के महमूद द्वितीय की स्वतन्त्रता का सम्मान करते थे; संतूर के राणा बनपाल के यहाँ कुतलुगखाँ ने शरण ली थी; रणथम्भौर के राणा हमीर ने यह जानते हुए

भी कि अलाउद्दीन सुलतान की क्रोधाग्नि भड़क उठेगी, सुलतान के विद्रोही सरदार को आश्रय दिया था और राणा संग्रामसिंह के पास बाबर से युद्ध करते समय मुसलमान सैनिकों का एक दल था। विजयनगर के हिन्दू सम्राट् भी अपनी सैनिक-सेवा में मुसलमानों को नियुक्त करते थे और उन्होंने "अपनी राजधानी में और उसके बाहर इस्लाम को संरक्षण दिया था।" ये राजनीतिक नियुक्तियाँ सम्भवतः सद्भावना की अपेक्षा राजनीतिक आवश्यकता के कारण हुई थीं। परन्तु निस्सन्देह इन्होंने हिन्दू और मुसलमानों के बीच सहृदयता और बन्धुत्व की वृद्धि का मार्ग सुलभ कर दिया।

धर्म

मुस्लिम धर्म पर इस्लाम का प्रभाव—प्रारम्भ में इस्लाम से हिन्दू धर्म को गहरा आघात लगा, पुरोहितों व पण्डितों की प्रतिष्ठा व प्रश्रय समाप्त हो गया, हिन्दू स्मारक नष्ट हो गये और हिन्दू धर्म राजकीय प्रोत्साहन से वंचित होकर गतिहीन हो गया व इस्लाम का खूब प्रचार हुआ। भारत में इस्लाम का प्रचार व प्रसार दिल्ली के मुस्लिम राजवंशों की अमूल्य देन है। अपने सुन्दरतम सिद्धान्तों के अतिरिक्त इस्लाम भारत में मानव समानता की विचार-धारा, धर्म में अभियान एवं ऐसी कानूनी-प्रथा जो उस युग के कानूनों से अनेक प्रकार से आगे बढ़ी हुई थी, लाया। इस्लाम के दृष्टिकोण और मुसलमानों के धार्मिक अभिमान ने हिन्दू समाज को प्रभावित किया। राजस्थान के हिन्दू नरेशों और विजयनगर के राजवंश ने धर्म के वीर समर्थक होने की जो भावना प्रदर्शित की थी, वह इस्लाम के सम्पर्क का प्रत्यक्ष परिणाम थी। धर्म की सहायता व रक्षा करना हम्मीर, कुम्भा, कृष्णदेव राय और रामराय का प्रधान कर्तव्य था। इस्लाम के फलस्वरूप धर्म हिन्दू नरेशों की नीति का एक सक्रिय अंग हो गया।

धार्मिक सुधार के आन्दोलन और भक्ति-सम्प्रदाय—इस्लाम और हिन्दू धर्म के परस्पर संसर्ग से महत्त्वशाली परिणाम हुए। इस सम्पर्क से कुछ ऐसे सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ जो हिन्दू और मुस्लिम धर्मों के भेद-भाव को मिटाने वाले थे और जिन्होंने हिन्दू धर्म के सुधार आन्दोलनों का रूप ले लिया। इस्लाम विश्व-बन्धुत्व का सन्देश देता है, धर्म की सादगी का समर्थन करता है, जाति-प्रथा और अस्पृश्यता का खण्डन करता है, मूर्ति-पूजा का विरोध करता है एवं एकेश्वरवाद का उपदेश देता है। इस्लाम के ये सिद्धान्त दार्शनिक हिन्दू-मस्तिष्क पर चेतन या अचेतन रूप में अपना प्रभाव डालने लगे और इन्होंने इतिहास में धार्मिक सुधारकों के नाम से प्रसिद्ध होने वाले संत उपदेशकों के उदार आन्दोलनों को प्रोत्साहित किया। विशिष्ट विस्तृत बातों में कतिपय मतभेदों को छोड़कर ये सुधारक उदार भक्ति-सम्प्रदाय के समर्थक थे।

इन्होंने मूर्ति-पूजा व जाति-प्रथा की घोर निन्दा की, सभी धर्मों को आधारभूत समानता का उपदेश दिया, एकेश्वरवाद का समर्थन किया, पुरोहित-वर्ग की प्रभुता व धार्मिक कर्मकाण्ड तथा बाह्याडम्बर का विरोध किया और मोक्ष-प्राप्ति के लिए भक्ति, श्रद्धा व विश्वास पर बल दिया। उन्होंने जन्म के स्थान पर कर्म को महत्त्व दिया एवं पण्डितों, पुरोहितों तथा मुल्लाओं की सर्वोपरिता की निन्दा की। उनका मत था कि सच्चा धर्म दार्शनिकों, पुरोहितों और पण्डितों के दृढ़ सिद्धान्तों एवं मिथ्या वादानुवाद में नहीं है और न निरर्थक कर्मकाण्ड में है परन्तु ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति में है। उन्होंने मुक्ति का एकमात्र साधन भक्ति को माना।

फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि एकेश्वरवाद जो इस्लाम का प्रमुख सिद्धान्त था और जिसने हिन्दुओं की धार्मिक विचारधारा में नये प्राण फूंक दिये थे, हिन्दुओं को अज्ञात नहीं था। मुस्लिम विजय के पूर्व भी हिन्दू-सुधारकों ने घोषणा की थी कि जनप्रिय पूजा के अगणित देवताओं के पीछे केवल एक और एक ही सर्वोपरि ईश्वर है। परन्तु इस्लाम के एकेश्वरवाद के सिद्धान्त के साथ जो संसर्ग हुआ उसने ऐसे विचारों को प्रेरणा दी और रामानन्द, नामदेव, कबीर जैसे धर्मोपदेशकों पर जिनमें हिन्दू और मुस्लिम प्रभाव का सुन्दर समन्वय है, बड़ा प्रभाव डाला।

इस युग में प्रथम दक्षिण भारत में और इसके बाद उत्तरी भारत में धार्मिक सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुए। दक्षिण भारत के सुधार-आन्दोलनों के अग्रगण्य नेता शंकराचार्य, रामानुज और बसरेश्वर थे एवं उत्तरी भारत में इनके प्रवर्तक रामानन्द थे। रामानुज और शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का मूल प्राचीन प्रणालियों में था और उनका विवेचन भी मौलिक था, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि रामानुज के सिद्धान्त दक्षिण भारत में प्रचलित नवीन विचारधाराओं से प्रभावित हुए बिना न रहे। किन्तु इससे अधिक इस्लाम का प्रभाव वीरशैव और लिंगायत सम्प्रदाय पर अधिक पड़ा। पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि दक्षिण भारत के समुद्री तट पर बहुसंख्यक मुसलमान बस गये थे। वहाँ इन्हें शासकीय और सामाजिक सम्मान भी प्राप्त हो गया था। कालान्तर में इन्होंने और इनके धर्मोपदेशकों ने वहाँ जाति-भेद, धार्मिक कर्मकाण्ड, आध्यात्मिक जीवन, एकेश्वरवाद, आस्तिकता आदि विषयों पर लोगों को सोचने के लिए प्रेरित किया। दक्षिण भारत में धार्मिक सुधार आन्दोलनों का सूत्रपात होना यह प्रकट करता है कि इन्हें इस्लाम से कुछ प्रेरणा अवश्य मिली। डा० ताराचन्द ने अपनी पुस्तक Influence of Islam on Indian Culture में इस मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि प्रारम्भ में इस्लाम का प्रभाव अप्रत्यक्ष रहा। फिर भी लिंगायत सम्प्रदाय पर तो

इस्लाम का प्रभाव आज भी दृष्टिगोचर होता है। ये हिन्दू होते हुए भी जाति-प्रथा को नहीं मानते, उनमें तलाक और विधवा-विवाह का प्रचलन है, शव-दाह-क्रिया की अपेक्षा वे शव को भूमि में गाड़ते हैं, श्राद्ध और पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते और खान-पान में किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखते हैं। संक्षेप में, दक्षिण भारत की विचारधाराओं की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो इस्लाम के प्रभाव की ओर अधिक संकेत करती हैं जैसे अद्वैतवाद पर विशेष जोर, भावपूर्ण उपासना, आत्म-समर्पण, गुरुभक्ति, जाति-प्रथा की कठोरता में कमी तथा कर्मकाण्ड की उपेक्षा।

रामानुज—सर्वप्रथम धार्मिक सुधारक शंकराचार्य का वर्णन पहले हो चुका है। इनके बाद रामानुज सबसे पहले धर्मोपदेशक थे जिनके सिद्धान्त भक्ति का आधार बन गये। रामानुज का जन्म दक्षिण में मद्रास के पास तिरुपती में सन् १०१६ में हुआ और इनका शिक्षा-काल कांजीवरम में बीता। अपनी विद्वत्ता के कारण वे शीघ्र ही महान् वैष्णव आचार्य अलवान्दर की गद्दी के उत्तराधिकारी हो गये और त्रिचनापल्ली के समीप श्रीरंगम उनका प्रमुख केन्द्र बन गया। उनका जीवन बहुमुखी था एवं कार्य-क्षेत्र व्यापक था। उन्होंने वैष्णवों का संस्थाबद्ध रूप में संगठन किया। उनके सतत् सफल प्रयासों से वैष्णव धर्म की नींव दृढ़ हो गयी और उसने स्थायी रूप ले लिया। रामानुज सुधारक थे। उनका मत था कि "समाज में पुरुष अथवा स्त्री की चाहे जो भी दशा हो परमात्मा के समीप सभी समान हैं, शर्त यह है कि वे सद्जीवन का पालन करते हों।" उन्होंने वैष्णव नाम के अन्तर्गत एकेश्वरवाद का उपदेश दिया और शंकराचार्य के अद्वैत मत का खण्डन किया। ईश्वर में अनन्य भक्ति को ही उन्होंने मुक्ति का एकमात्र साधन बतलाया। उनका मत था कि आत्मा तथा परमात्मा भिन्न हैं यद्यपि आत्माओं का समुदय आग से चिनगारी के समान उसी से होता है। उन्होंने निराकार ईश्वर का प्रतिरोध करते हुए कहा कि ईश्वर में अनेक विशिष्ट गुण हैं भक्त जिनका ध्यान कर सकता है। इस प्रकार उन्होंने सगुण ईश्वर का उपदेश दिया। उनका सिद्धान्त विशिष्ट अद्वैत नाम से प्रख्यात है। रामानुज का समकालीन निम्बार्क था जिसके सिद्धान्तों में कृष्ण सृष्टि के सर्वोपरि देवता के रूप में आते हैं। उसके अनुसार कृष्ण के चरण-कमलों की भक्ति से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

माध्व—अन्य प्रसिद्ध उपदेशक माध्व थे जो दक्षिण कन्नड़ में उदिपी नामक स्थान के निवासी थे। ये विष्णु के उपासक थे और शिव को कोई महत्त्व नहीं देते थे। इनके सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान से भक्ति होती है और मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य हरि का प्रत्यक्ष दर्शन है जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

रामानन्द—इसके बाद अन्य प्रसिद्ध वैष्णव धर्मोपदेशक रामानन्द थे जो

पन्द्रहवीं शताब्दी में हुए थे। उत्तरी भारत में वैष्णव धर्म के प्रसार के लिए वे ही अधिक उत्तरदायी हैं। उन्होंने जाति-प्रथा का खण्डन किया और बिना किसी भेद-भाव के सभी वर्गों और जातियों के लोगों को अपना शिष्य बनाया। उनके शिष्यों में एक नाई, एक मोची व एक मुसलमान था। उन्होंने ईश्वर के सम्मुख मनुष्य की समानता का उपदेश दिया और राम व सीता की पूजा का समर्थन किया। वे पहले सुधारक थे जिन्होंने अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए हिन्दी भाषा का उपयोग किया और इस प्रकार जनसाधारण में, विशेषकर निम्न वर्गों के लोगों में, उन्होंने बड़ी ख्याति प्राप्त की।

वल्लभाचार्य—अन्य प्रसिद्ध वैष्णव सन्त वल्लभाचार्य थे जो कृष्ण सम्प्रदाय के सबसे अधिक प्रसिद्ध प्रवर्तक माने गये हैं। जैसे रामानन्द ने राम-भक्ति का उपदेश दिया; उसी प्रकार वल्लभाचार्य ने कृष्ण-भक्ति का उपदेश दिया। ये दक्षिण के तेलंग ब्राह्मण थे और अपनी अद्वितीय प्रतिभा और विद्वत्ता से शीघ्र ही विद्वानों में प्रसिद्ध हो गये। उन्होंने शारीरिक यातनाएँ, वैराग और संसार-त्याग का उपदेश दिया एवं सर्वोपरि परमात्मा के साथ अपनी आत्मा व विश्व के सम्पूर्ण एकीकरण पर बल दिया। वे कृष्ण-भक्ति के इतने अधिक समर्थक थे कि उन्होंने अपने अनुयायियों को प्रत्येक वस्तु कृष्ण की सेवा में समर्पित कर देने का उपदेश दिया। उनका यह सिद्धान्त आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत था। उनका एकेश्वरवाद "शुद्ध अद्वैत" नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके अनुयायियों ने इस सिद्धान्त का भौतिक अर्थ लगाया। अतएव उनके सिद्धान्तों में दुर्गुण उत्पन्न हो गये और उनकी मौलिक पवित्रता व सरलता विनष्ट हो गयी। अपने पतित रूप में यह इन्द्रिय-सुख में निरत रहने वालों का विषयासक्त धर्म हो गया।

चैतन्य—वल्लभाचार्य के समकालीन प्रसिद्ध और जनप्रिय वैष्णव सन्त और सुधारक बंगाल के चैतन्य थे। नदिया में इनका जन्म हुआ था और पच्चीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने संन्यास ले लिया था। उन्होंने जाति-प्रथा की घोर निन्दा की, मनुष्य के विश्व-बन्धुत्व की घोषणा की और कर्मकाण्ड की निस्सारता प्रकट की। उनका मत था कि प्रेम और भक्ति, भजन और नृत्य के द्वारा आनन्द और उल्लास की ऐसी दशा उत्पन्न होती है जिसमें ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है। उन्होंने हरि-भक्ति का प्रचार किया एवं प्रेम, दया, भ्रातृ-भाव का उपदेश दिया। संन्यासी-जीवन के वे पक्षपाती थे और संकीर्तन प्रथा के वे जनक थे। उन्होंने गोसाइयों के संघ को प्रतिष्ठित किया था। प्रेम उनके सम्प्रदाय की प्रधानता थी और इसने जनसाधारण पर अत्यन्त ही गहन और विस्तृत प्रभाव डाला। बंगाल और बिहार में लाखों मनुष्य आज भी श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से चैतन्य महाप्रभु का स्मरण करते हैं। बंगाल

में वर्तमान वैष्णव सम्प्रदाय का अधिकांश श्रेय चैतन्य की भक्ति तथा सेवा के भावों से ओत-प्रोत उपदेशों को है।

कबीर—उत्तरी भारत के अन्य प्रसिद्ध सन्त कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों में सामंजस्य की भावना स्थापित करने के लिए उत्साहपूर्वक हार्दिक प्रयत्न किये। उन्होंने प्रेम के धर्म का उपदेश दिया जिसका उद्देश्य समस्त वर्गों और सम्प्रदायों में एकता का विकास करना था। उन्होंने इस्लाम और हिन्दू धर्म की विस्तीर्ण खाई को भरने तथा उनमें सहयोग, समन्वय और सम्मिलन की भावना उत्पन्न करने का सफल प्रयास किया। उन्होंने दोनों धर्मों के बाह्य भेदों, रूढ़ियों एवं आडम्बरों का खण्डन करते हुए उनकी आन्तरिक एकता पर अधिक जोर दिया। उन्होंने मूर्ति-पूजा और कर्मकाण्ड की निन्दा की, जाति-भेद को व्यर्थ बताया, मनुष्य की समानता पर अधिक बल दिया और इस बात की घोषणा की कि ईश्वर के उच्च सिंहासन के सम्मुख ऊँच और नीच, मुस्लिम और हिन्दू सभी समान हैं एवं विभिन्न धार्मिक मार्ग एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने का प्रयास करते हैं। कबीर की शिक्षाओं पर, जो रहस्यवाद से ओत-प्रोत थीं, इस्लाम के सूफी सन्तों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कबीर एक निर्मल भविष्य के स्वप्नद्रष्टा थे जिसमें असत्य और असमानता तथा आडम्बर और अहंकार का सर्वथा अभाव था। वे समाज के दृढ़ सचेतक, निर्भय आलोचक, हिन्दू-मुस्लिम समन्वय के प्रथम प्रयासक, मध्य वर्ग के प्रणेता, मार्ग-प्रदर्शक, हिन्दू-मुस्लिम एकता के महान् अग्रदूत और विशुद्ध मानव धर्म की प्रशस्त के प्रचारक तथा महान् धार्मिक क्रान्तिकारक थे।

नानक—इस युग के अन्य प्रसिद्ध धर्मोपदेशक सिक्ख धर्म के संस्थापक और उपनिषद् के विशुद्ध एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को पुनः जागृत करने वाले गुरु नानक थे। कबीर के समान उन्होंने एकेश्वरवाद का उपदेश दिया, मूर्ति-पूजा की निन्दा की, बहु-देव-पूजा का विरोध किया एवं हिन्दू धर्म तथा इस्लाम के कर्मकाण्ड का प्रतिरोध किया। उनका उद्देश्य विभिन्न धर्मों के संघर्ष का अन्त करना था। उनका कथन था कि ईश्वर नाम के सम्मुख जाति और कुल के बन्धन निरर्थक हैं। उन्होंने ईमानदारी, विश्वासपात्रता, सत्यनिष्ठा, दान-दया, मद्य-निषेध आदि उच्चतम आदर्शों का पालन करने का आदेश दिया। उनका मत था कि विश्व का परित्याग कर सन्यास लेना ईश्वर की दृष्टि में आवश्यक नहीं है; उसके लिए तो धार्मिक संन्यासी तथा भक्त व गृहस्थ सभी समान हैं। उन्होंने मृत्युपर्यन्त हिन्दू-मुसलमानों के तीव्र मतभेदों को दूर करने की सफल चेष्टा की। इनके शिष्यों में हिन्दू व मुसलमान दोनों ही थे। इनके अनुयायी बाद में सिक्ख कहलाये और उन्होंने उनके सिद्धान्तों को 'ग्रन्थ साहब' में संग्रहीत किया।

दादू—चैतन्य और नानक के बाद भक्ति-सम्प्रदाय के अन्य नेताओं में दादू का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनका जन्म तो अहमदाबाद में हुआ था पर इन्होंने अपने जीवन का विशेष समय राजस्थान के नराना और भगना नामक स्थानों में व्यतीत किया। अन्य सन्तों के समान इन्होंने भी मूर्ति-पूजा, जाति-बन्धन, तीर्थ, व्रत, अवतार आदि के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की। वे विभिन्न विरोधी सम्प्रदायों को भ्रातृत्व और प्रेम में बाँधकर एक करना चाहते थे। अतएव इन्होंने एक अलग पंथ का निर्माण किया जो दादू पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वे धार्मिक ग्रन्थों की प्रभुता व प्रामाणिकता में विश्वास करने की अपेक्षा ईश्वर के साक्षात्कार में विश्वास करते थे और इसलिए उनका उपदेश था कि हम पूर्णतया अपने आपको ईश्वर को समर्पित कर दें। ये एक सन्त कवि थे। इन्होंने भक्ति से सिंचित प्रभावोत्पादिनी कविताएँ रची थीं।

रैदास या रायदास—ये काशी के निवासी थे और चमारी का व्यवसाय करते थे। बाद में ये बड़े सिद्ध सन्त हो गये। संसार के आकर्षण से परे ये एक वीतराग महात्मा हो गये। इनकी कविताओं में आत्मसमर्पण और दीनता की भावना झलकती है। इनका कथन था कि "सभी में हरी है और सब हरी में हैं।"

मीराबाई—वैष्णव सन्तों में मीराबाई का स्थान उच्च है। राजस्थान के गौरवपूर्ण राठौर वंश की राजकुमारी और चित्तौड़ के प्रतिभा-सम्पन्न यशस्वी सिसौदिया कुल की रानी होने पर भी उन्होंने कृष्ण-भक्ति में मग्न हो संसार त्याग दिया। संतों की भक्ति-भावना का प्रभाव उन पर पड़ा और उन्होंने संत मत के अनुसार ईश्वर की भक्ति की। मीरा कृष्ण की अनन्य भक्त थीं।

सूफी मत और सूफी सन्त

इस्लाम में एक प्रकार का रहस्यवाद है जिसे सूफी मत कहा गया है। सूफी मत का मूल स्रोत कुरान और मुहम्मद साहब का जीवन है परन्तु इसमें हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म और निओप्लेटोनिज्म का भी प्रभाव है। यूनानी और हिन्दू सभ्यता के सम्पर्क पर यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने हिन्दू दार्शनिक तत्त्वों को अपने दर्शन में मिला लिया था। प्लेटो के इस दर्शन को नीओप्लेटोनिज्म (Neoplatonism) कहते हैं। जब नवीं सदी में यूनानी ग्रन्थ अरबी भाषा में अनुवादित हुए तब इन नवीन दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रभाव इस्लाम पर पड़ा। मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद इस्लाम के अनुयायियों में ऐसे व्यक्ति हो गये जिन्होंने अपनी भक्ति, श्रद्धा, प्रार्थना, वीतराग व आध्यात्मिक जीवन से संतों की परम्परा प्रारम्भ कर दी। इसका गहरा प्रभाव इस्लाम पर पड़ा और रहस्यवाद का सूत्रपात हुआ। इसके अतिरिक्त जब इस्लाम के अनुयायी हिन्दुओं के सम्पर्क में आये तब इस्लाम के रहस्यवाद पर बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों

और हिन्दुओं के वेदान्त का प्रभाव पड़ा। इन सब प्रभावों के कारण इस्लाम में एक नवीन धार्मिक विचारधारा प्रवाहित हुई जो सूफी मत के नाम से प्रख्यात हुई। इस प्रकार ईसाई धर्म और नवीन प्लेटोनिज्म ने अपने योगदान द्वारा सूफी मत को मांसल बनाया, ईरान के प्राचीन फारसी धर्म और मनीधर्म (Manism) ने अपने भाग से इसे समुन्नत किया तथा हिन्दू व बौद्ध धर्म ने इसे अनेक विचार-तन्त्र प्रदान किये, विशेषकर रहस्यवाद। नवीं सदी तक तो सूफी मत में केवल रहस्यवाद की आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ ही थीं प्रणाली नहीं, परन्तु इसके बाद इसमें दार्शनिक प्रणालियों और पीर तथा दरवेशों के संगठन का विकास हुआ। बारहवीं सदी से आगे मुस्लिम मस्तिष्क, साहित्य, दर्शन आदि पर सूफी मत की प्रधानता बढ़ने लगी। दसवीं सदी के प्रसिद्ध व्यक्ति हुसेन बिन मंसूर अलहल्लाज के आध्यात्मिक सिद्धान्त सूफी मत में विशेष महत्त्व रखते हैं। उसने ईश्वर के साक्षात्कार पर बल दिया। तेरहवीं सदी के शेख शहाबुद्दीन सुहरावर्दी और इब्नअल अरबी ने अपने सिद्धान्तों से सूफी मत का विकास किया। प्रथम ने अनन्त प्रकाश और परब्रह्म में आत्मा के विलीनीकरण पर जोर दिया तो दूसरे ने बताया कि ईश्वर का ज्ञान विश्वास, भक्ति और ध्यान से प्राप्त किया जा सकता है। इसने सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता की भावना रखने का आदेश दिया क्योंकि ईश्वर सभी धर्मों में दृष्टिगोचर होता है। इब्नअल अरबी के डेढ़ सौ वर्षों बाद अब्दुल करीम अल जिलि ने अपने सूफी मत के सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इसके मतानुसार मनुष्य चार विभिन्न स्तरों से होता हुआ आध्यात्मिक पूर्णत्व को प्राप्त होता है और अनन्त ब्रह्म में विलीन हो जाता है। सभी धर्म एक ही सत्य—ईश्वर के विषय में विचार मात्र हैं और पूजन के सभी प्रकार शाश्वत ब्रह्म के किसी न किसी अंग की पूजा करते हैं। स्पष्ट रूप से जिलि के सिद्धान्तों पर हिन्दुओं के वेदान्त की गहरी छाप है। अरबी और फारसी के कवियों और लेखकों ने अपने ग्रन्थों में सूफी मत का खूब प्रतिपादन किया। प्रत्येक सूफी का उद्देश्य परमेश्वर में अपनी आत्मा का विलीनीकरण है। वह ईश्वर को अपनी इच्छा समर्पित कर देता है, अपने पापों के लिए पश्चात्ताप करता है, स्वच्छता, प्रार्थना, व्रत, उपवास, दान और तीर्थयात्रा के नियमों का पालन करता है, शारीरिक यातनाओं और एकान्तवास व मौन से क्रोध, गर्व, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों का दमन करता है। यह सर्वप्रथम अवस्था है। द्वितीय अवस्था में वह आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करता है। सांसारिक वस्तुओं के प्रति उसमें विरक्ति की भावना हो जाती है। अन्तरात्मा के प्रकाश और अनन्त प्रेम से वह ईश्वर में विलीन होने का प्रयास करता है। प्रत्येक सूफी को आध्यात्मिक गुरु (पीर या शेख) की आवश्यकता होती है जो उसके आचार-विचार को नियन्त्रित कर उसकी आध्यात्मिक

प्रगति की देखभाल करता है। और उसे ईश्वर में विलीन होने की अनेक अवस्थाओं की ओर ले जाता है। ध्यान, भजन, नृत्य, गीत और प्रेम से भी सूफी ईश्वर का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने केलिए सूफी मत में साधन की पाँच सीढ़ियां मान ली गयी हैं। प्रथम, ईश्वर आराधना जो उसी की आज्ञानुसार हो; द्वितीय, भक्ति अर्थात् ईश्वर के प्रति आत्मा का आकर्षण; तृतीय, एकान्त स्थान में ईश्वर का ध्यान; चतुर्थ, ज्ञान अथवा ईश्वर के गुणादि का दार्शनिक विचार; और पाँचवाँ भावोद्रेक अर्थात् ईश्वरी शक्ति तथा प्रेम के पूर्ण प्राप्त हो जाने पर शरीर का भान न रह जाना। वास्तव में सूफी मत गहन भक्ति का धर्म है, प्रेम इसकी तीव्र उत्कण्ठा है, कविता, नृत्य, भजन इसकी पूजा है और ईश्वर में विलीन हो जाना इसका उद्देश्य है। धार्मिक कट्टरता से विमुक्त दार्शनिक, लेखक, कवि और रहस्यवादी सूफी मत में आनन्द लेते थे। सूफियों के लिए सभी धर्म समान थे और वे सभी धर्मावलम्बियों को अपने सिद्धान्तों का उपदेश देते थे।

सूफी मत के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इसके सिद्धान्तों पर हिन्दू धर्म की गहरी छाप रही। इस सूफी आन्दोलन के कारण मध्य-युग में भक्त तथा विद्वान्, हिन्दू और मुसलमान एक ही स्थान में बिना भेद-भाव के परस्पर हिल मिल सकते थे। ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती, निजामुद्दीन औलिया, शेख सलीम चिश्ती, मलिक मुहम्मद जायसी, कुतुबन आदि सूफी संतों को हिन्दू और मुसलमान दोनों ही श्रद्धा व भक्ति की दृष्टि से देखते थे।

महाराष्ट्र के संत—महाराष्ट्र में इस्लाम के सिद्धान्त समानता, बन्धुत्व, एकेश्वरवाद, मूर्ति-पूजन का खण्डन आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं भक्ति के सिद्धान्त का प्रचार होने लगा था। महाराष्ट्र में ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों प्रकार के संतों ने जाति-बन्धनों का विरोध किया, ईश्वर की भक्ति का समर्थन किया एवं एकेश्वरवाद का प्रचार किया। इसका प्रारम्भ संत ज्ञानेश्वर से होता है जो महाराष्ट्र में तेरहवीं सदी में प्रसिद्ध हुए थे। उन्होंने ब्राह्मणों के प्रभुत्व व जाति के प्रतिबन्धों के विरुद्ध आवाज उठायी और ईश्वर की सर्वोपरिता का समर्थन किया। इन्होंने महाराष्ट्र में आध्यात्मिक जीवन-सूत्र के आदर्श का निर्माण किया। इसके बाद रामानन्द के समकालीन विसोबा खेचर ने मूर्ति-पूजा का घोर विरोध किया। खेचर के शिष्य नामदेव ने महाराष्ट्र में धार्मिक संकीर्णता, बाह्य कर्मकाण्ड और जाति-बन्धनों को तोड़ने पर अधिक बल दिया। उनका उपदेश था कि मुक्ति ईश्वर की भक्ति और प्रेम द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अपने आराध्यदेव विठोबा के प्रति इनकी बहुत भक्ति थी। इनकी अलौकिक भक्ति के अनेक चमत्कार हैं—जैसे विठोबा (विष्णु) की मूर्ति का इनके हाथ से दूध पीना, अविन्द नागनाथ के शिव मन्दिर के द्वार का इनकी ओर घूम जाना आदि। इनके माहात्म्य ने महाराष्ट्र में यह सिद्ध कर दिया कि "जाति-पाँति

पूछै नहीं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।" नामदेव ने कीर्तन द्वारा भक्ति का प्रसार किया।

एकनाथ भी महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत थे। उनका उपदेश था कि गृहस्थाश्रम में रहकर भी भक्ति द्वारा परमार्थ हो सकता है और मुक्ति प्राप्त हो सकती है। एकनाथ के समकालीन दासोपंत नामक अन्य भक्त संत थे परन्तु संत तुकाराम इनसे भी अधिक प्रसिद्ध हैं। भक्ति से ओत-प्रोत तुकाराम के अभंग आज भी महाराष्ट्र में घर-घर में सुनाई पड़ते हैं। गृहस्थाश्रम के बाद वैराग्य लेने पर इन्होंने भक्ति का विशेष प्रचार किया और 'वारकरी' नामक पंथ भी चलाया। महाराष्ट्र के इन सन्तों के आराध्यदेव का रूप पाण्डुरंग, विठोवा या विट्ठल हैं। विट्ठल को विष्णु का अपभ्रंश माना गया है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में सन्त भक्तों का महत्त्व और उनकी देन

कबीर, नानक, दादू और नामदेव जैसे धर्म सुधारकों के उपदेशों पर इस्लाम का प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने अपने समीपवर्ती रहने वाले मुसलमानों से खूब प्रेरणा प्राप्त की थी। इस्लामी समाज का उदाहरण हिन्दुओं के ईर्ष्या-द्वेष को गलाने वाला पदार्थ था। सभी सुधारकों ने जाति-प्रथा की निन्दा की, बहुदेववाद और मूर्ति-पूजा का खण्डन किया और सत्य धर्म, सात्विक आचरण एवं पवित्र जीवन का समर्थन किया। उनका कथन था कि सत्य धर्म निरर्थक आडम्बरों में निहित नहीं है, पर भक्ति व ईश्वर के पवित्र प्रेम में है। जिस प्रमुख महत्त्वशाली सिद्धान्त का उन्होंने उपदेश दिया, वह यह था कि ईश्वर हिन्दुओं और मुसलमानों का, चाण्डालों और ब्राह्मणों सभी का है और उसके सम्मुख सब समान हैं। उन्होंने प्रेम व दया से पूर्ण अपने उपास्य देव की भक्ति का उपदेश दिया और उसी को मुक्ति का साधन बतलाया। भक्ति में सर्वोपरि ईश्वर ही भक्ति की उपासना, श्रद्धा एवं प्रेम की वस्तु बन जाता है और मुक्ति के लिए वह ईश्वर की अनुकम्पा की ओर देखते हैं। वस्तुतः सभी भक्ति-सम्प्रदाय एकेश्वरवादी हैं क्योंकि यद्यपि भक्तगण शिव, राम, कृष्ण, विष्णु या देवी किसी की भी उपासना करते हैं, परन्तु ये सब एक अनन्त ईश्वर के प्रतीक हैं। फलतः भक्ति ने सर्वप्रिय लोकधर्म का रूप धारण कर लिया और भक्ति-सम्प्रदाय ने तेरहवीं से पन्द्रहवीं सदी तक भारत की धार्मिक प्रवृत्तियों व भावनाओं का दमन करने वाले मुस्लिम शासकों के होते हुए भी प्रभूत प्रगति की।

इन प्रतिभाशाली संतों और सुधारकों की दूसरी देन यह है कि धार्मिक पुनर्जागरण का जो आन्दोलन इन्होंने प्रारम्भ किया, उसका उद्देश्य हिन्दू धर्म और इस्लाम में समन्वय करना, साम्प्रदायिक एकता व सद्भावना स्थापित करना एवं सहिष्णुता व सहयोग का वातावरण निर्माण करना था। इन्होंने मुसलमानों और हिन्दुओं में परस्पर मेल-जोल बढ़ाने में योग दिया एवं दोनों सम्प्रदाय के

लोगों को उत्तम मानवीय बनाने की शिक्षा दी। ऐसे ही वातावरण में देश में मुगल शासन की स्थापना हुई।

इन संतों और सुधारकों की तीसरी देन है, सामाजिक सुधार। इन संतों ने अपने उपदेशों से जनता के मस्तिष्क को पण्डितों, पुजारियों और मौलवियों के ढोंग से मुक्त करने में सहायता दी, धार्मिक पक्षपात, कट्टरता और असहिष्णुता को कम करने का प्रयत्न किया, धार्मिक कर्मकाण्ड और बाह्याडम्बर की निस्सारता प्रदर्शित की, बहुदेव-पूजा की रोक-थाम की एवं एकेश्वरवाद का पुनः प्रचार किया। उन्होंने हिन्दू वर्ण-व्यवस्था को कट्टर, अनुदार व अपरिवर्तनशील भावनाओं से मुक्त किया, निम्न श्रेणी के लोगों के लिए आध्यात्मिक तथा सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाया, जन्म की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्त्व दिया एवं समाज में उदारता, सहनशीलता, दान आदि की उच्चतम भावनाओं का प्रसार किया। वास्तव में उन्होंने "देश को विचार और कार्य दोनों दृष्टि से ऊँचा उठाने तथा उसे क्षमताशील बनाने में सफलता प्राप्त की।"

इन संत भक्तों की चौथी देन यह है कि उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में भी हिन्दू जीवन को सुरक्षित रखा एवं धर्म व साहित्य के गौरव की रक्षा की।

इन प्रतिभा-सम्पन्न सन्तों की पाँचवी देन है देशज भाषा के साहित्य की प्रगति। अपने धार्मिक आन्दोलन को देशव्यापी और जनप्रिय बनाने के हेतु इन्होंने संस्कृत के स्थान पर देशज भाषाओं को अपना माध्यम बनाया। फलतः इन भाषाओं में साहित्य की रचना हुई। भक्ति के आनन्द से विभोर होकर इन संतों की आत्मा नृत्य करने लगी और इस आध्यात्मिक हर्षातिरेक में उन्होंने जो कविताएँ व भजन रचे, वे अधिक सरस और मौलिक हो सके। भारतीय साहित्य की वास्तव में वे अमर निधि हैं। अब हम साहित्यिक गतिविधि का विवेचन करेंगे।

साहित्य

देशज भाषाओं के साहित्य का विकास—कतिपय मुस्लिम नरेश साहित्य में अधिक रुचि रखते थे और उनके राज्याश्रय में उच्चकोटि का साहित्य तैयार हुआ। अमीर खुसरो, मीर हसन देहलवी, अहमद थानेसरी, काजी अब्दुल मुक्तदीर शनीही, बद्र-ए-चाच, अनीउल मुल्क मुल्तानी दिल्ली के सुलतानों के युग में साहित्यिक नभ मण्डल के देदीप्यमान नक्षत्र थे। मुहम्मद तुगलक की राजसभा कवियों, तर्कशास्त्रज्ञों, दार्शनिकों और वैद्यों से सुशोभित थी। इसी प्रकार प्रख्यात कवि और लेखक प्रान्तीय राजवंशों की राजसभाओं में भी रहते थे, जिनके संरक्षण में प्रचुर साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। जौनपुर अरबी विद्वत्ता, इस्लाम दर्शन के अध्ययन और साहित्य का केन्द्र था और वहाँ का नरेश

इब्राहीम शाह शर्की विद्वानों का उदार आश्रयदाता था। उनके शासनकाल में अनेक साहित्यिक व दार्शनिक ग्रन्थों का सम्पादन हुआ। चौदहवीं शताब्दी में फीरोज तुगलक ने दर्शनशास्त्र, ज्योतिष आदि ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद कराया। लोदी वंश के सुलतान सिकन्दर के शासनकाल में संस्कृत आयुर्वेद ग्रन्थों का अनुवाद फारसी में किया गया।

परन्तु इस्लाम ने देशज भाषा के साहित्य को शीघ्र ही खूब प्रेरणा दी। यह साहित्य अपने विकास के काल में था। सुधारवादी धार्मिक आन्दोलन ने देशज भाषा के साहित्य के विकास को खूब प्रोत्साहित किया। धार्मिक सुधारकों और संतों ने अपना उपदेश देशज भाषाओं में दिया और अपने सिद्धान्त भी इन्हीं भाषाओं में लिखे जिससे साधारण जनता उन्हें भलीभाँति समझ सके। मुस्लिम संतों और पीरों ने भी अपने सिद्धान्तों के प्रसार के हेतु लोगों की बोल-चाल की भाषा का उपयोग किया। इस प्रकार रामानन्द और कबीर ने हिन्दी में अपना उपदेश दिया। मीराबाई और राधा-कृष्ण भक्ति के अन्य संतों ने ब्रज-भाषा में अपने भजन व गीत गाये। नानक और उनके शिष्यों ने पंजाबी और गुरुमुखी को प्रोत्साहित किया। इन सभी संतों ने हिन्दी काव्य को ही अधिक सम्पन्न नहीं बनाया वरन् हिन्दी साहित्य में अनेक पवित्र धार्मिक ग्रन्थों और पदों की रचना में भी बहुत योग दिया। इस साहित्यिक प्रगति का विवेचन इस प्रकार है।

हिन्दी साहित्य—प्रान्तीय राजसभाओं के उदार आश्रय ने देशज भाषाओं के साहित्य के विकास में अत्यधिक योग दिया। पृथ्वीराज चौहान की राज-सभा के कवि चन्द बरदाई और हिन्दी के प्रथम महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' के लेखक हिन्दी के सर्वप्रथम कवि थे। पृथ्वीराज रासो में दिल्ली के प्रसिद्ध वीर शिरोमणि नरेश पृथ्वीराज चौहान के जीवन-चरित्र और मुसलमानों से किये गये उनके युद्ध का वर्णन है। चन्द बरदाई का समकालीन लब्ध-प्रतिष्ठ जगनिक था जिसने 'आल्हा-खण्ड' नामक प्रसिद्ध गीति काव्य की रचना की है। इसमें ओजस्वी भाषा में महोबा के आल्हा और ऊदल के युद्ध और प्रेम के कार्यों का वर्णन है। विद्याधर ने कन्नौज के नरेश जयचन्द्र के प्रताप और पराक्रम का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है। राजस्थान में राजपूत राजाओं और सामन्तों की वीरतापूर्वक कार्यों से सम्बन्धित गाथाओं के विशद् साहित्य का उत्कर्ष हुआ। शारंगधर का 'हम्मीर रासो' और 'हम्मीर काव्य' इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय हैं। इस रासो में रणथम्भौर के नरेश हम्मीर का गौरव-गान है। अलाउद्दीन की सेना से हम्मीर का जो युद्ध हुआ था, उनका इसमें ओजस्वी वर्णन है। इसी प्रकार नाल्हसिंह ने 'विजयपाल रासो' जिसमें करौली नरेश विजयपाल के युद्धों का ओजपूर्ण वर्णन है, नरपति नाल्ह ने वीर-गीत के रूप

में 'बीसलदेव रासो' और एक अज्ञात भाट ने 'खुमान रासो' जिसमें श्रीराम से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन है, लिखा है। इन ग्रन्थों का काल वीर-गाथा काल कहा गया है। इसके बाद हिन्दी में धार्मिक सुधारकों व संतों के पवित्र ग्रन्थों का युग प्रारम्भ होता है।

इसमें सर्वप्रथम गोरखनाथ और महाराष्ट्र के संत नामदेव सम्मुख आते हैं। इन्होंने जन-समुदाय की भाषा में अपने पद लिखे हैं। परन्तु सबसे अधिक प्रसिद्ध कबीर, मीरा और नानक हैं। कबीर ने हिन्दी साहित्य को लगभग २०,००० पद दिये हैं। इनकी रचनाओं में गुरुभक्ति, निर्गुण उपासना का गुणगान और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना की प्रधानता है। कबीर का रहस्य-वाद हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखता है। सिक्ख धर्म के प्रणेता गुरुनानक ने भी अपने पदों से हिन्दी साहित्य को सम्पन्न किया। कबीर, नानक, धरमदास, दादूदयाल, सुन्दरदास, सुन्दर विलास, मलूकदास आदि ने संत साहित्य की रचना की। कृष्ण की अनन्य भक्त, मीराबाई ने, जिनकी उपासना माधुर्य भाव की थी, राजस्थानी व ब्रजभाषा में अनेक पद लिखे हैं। 'नरसीजी का मायरा', 'गीत-गोविन्द टीका' और 'राग गोविन्द' मीरा के प्रसिद्ध ग्रन्थ माने गये हैं। इन सन्तों के अतिरिक्त सूफी मत को मानने वाले प्रेममार्गी संतों ने भी अपने अनेक ग्रन्थों से हिन्दी साहित्य को सम्पन्न किया है। इनमें मुल्ला दाउद ने 'चन्द्रावत', कुतुबन ने 'मृगावती', मंझन ने 'मधुमालती' और मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' की रचना की। इसमें प्रेम-साहित्य का प्रतिपादन किया गया। जायसी के ग्रन्थ में सूफी सिद्धान्तों का सरल एवं मनोरंजन निरूपण है और आध्यात्मिक अभिव्यंजना इसकी विशेषता है। काव्य-कला का यह ग्रन्थ उत्कृष्ट उदाहरण है। इस काल के हिन्दी-साहित्य का वर्णन अधूरा ही रह जायगा, यदि यहाँ अमीर खुसरो का विवेचन न किया गया। खुसरो खिलजी और तुगलक साम्राज्य का राजकवि और हिन्दी में मनोरंजक साहित्य का जन्मदाता था। उसने अनेक ग्रन्थ लिखे थे और उसकी रचनाएँ आज भी आदर से देखी एवं पढ़ी जाती हैं। यह बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न था। अतएव इसने गजलें, इतिहास (फारसी में) कोष, संगीत व पहेलियों से पूर्ण साहित्य की रचना की। जनसाधारण की खड़ी बोली की भाषा को साहित्यिक रूप देने में खुसरो सबसे प्रथम सफल हुआ।

मराठी साहित्य—मध्ययुग में लगभग चार सौ वर्ष पूर्व से मराठी साहित्य का श्रीगणेश होता है। पर जनसाधारण की दृष्टि में आ सके और उन पर साहित्य का प्रभाव रह सके, ऐसे विकसित मराठी साहित्य की रचना मध्ययुग में ही होती है। तेरहवीं सदी के प्रसिद्ध महाराष्ट्री संत ज्ञानेश्वर से ही मराठी वाङ्मय का विकसित स्वरूप प्रारम्भ होता है। यद्यपि इनके पूर्व चक्रधर

(महानुभाव पन्थ के प्रवर्तक), भास्कर भट्ट, नरेन्द्र व मुकन्दराज हो गये थे। प्राकृत मराठी में लिखी हुई ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी' मराठी का अमर काव्य है। यह ग्रन्थ जनसाधारण के लिए गीता पर लिखा गया था संत नाम के भक्ति से ओत-प्रोत पद (अभंग) भी मराठी में प्रसिद्ध हैं। ज्ञानेश्वर से लगभग ढाई सौ वर्ष बाद संत एकनाथ का उत्कर्ष हुआ। ये संस्कृत के महान् पण्डित थे। इन्होंने भागवत का अनुवाद निर्भीकतापूर्वक मराठी भाषा में किया। इनके अन्य ग्रन्थ 'रुक्मिणी स्वयंवर' और 'भावार्थ रामायण' विख्यात हैं। एकनाथ के समकालीन दासोपन्त की अनेक फुटकर व पुस्तकाकार रचनाएँ हैं जिनमें 'गीतावर्ण' व 'पदार्णव' मराठी में प्रसिद्ध हैं। परन्तु इनसे प्रसिद्ध संत तुकाराम के अभंग हैं। महाराष्ट्र का प्रत्येक गृह इन अभंगों से आज भी प्रतिध्वनित होता है। मराठी में इन सन्तों ने सन्त वाङ्मय की परम्परा प्रारम्भ की।

गुजराती साहित्य—मराठी के समान ही गुजराती भाषा के साहित्य का विकसित स्वरूप भी मध्ययुग में ही दृष्टिगोचर होता है। दसवीं सदी में गुजरात में अपभ्रंश भाषा का प्रयोग होने लगा और इसी भाषा में मध्ययुग के प्रारम्भ में राजसभा के भाटों और चारणों द्वारा राजपूत नरेशों की कीर्तिगान के हेतु 'रास' की रचना हुई और जैन साधुओं ने भी धनाढ्य और धार्मिक व्यक्तियों के यश-गौरव में कहानियाँ और कविताएँ लिखीं। इन लोगों की भाषा मारवाड़ी, व्रज तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं का सम्मिश्रण थी। गुजराती भाषा का उत्कर्ष इसी सम्मिश्रित भाषा से हुआ। मध्ययुग में जब १२६८ से १४१० तक मुसलमानों ने अनहिलवाड़ा, खम्भात, सोमनाथ, गोंडल, इडर जीतकर अहमदाबाद की नींव सन् १४१२ में डाली तब जैन साधुओं ने गुजराती साहित्य की परम्पराओं और पवित्रता को बनाये रखा और इससे पन्द्रहवीं सदी में लोकप्रिय गुजराती साहित्य का बीजारोपण हुआ। जैन साधुओं ने अपने धर्म प्रचार के हेतु लोगों को उनकी बोलचाल की भाषा में उपदेश देने के लिए काव्य में अनेक 'रास' रचे हैं। जयान्द सूरी का 'क्षेमप्रकाश', गुणरत्न सूरी का 'भारत-बाहुबली रास', विजयभद्र का हंसराज' 'बछरज' और 'शीलरास', उदयवन्त विजयभद्र सूरी का 'गौतम स्वामी' और हरसेवक का 'मदनरेखा' (मयणरेहा) विशेष उल्लेखनीय रास हैं। ईसवी सन् १३६६ के लगभग श्रीमुनि सुन्दर सूरी ने गुजराती गद्य और पद्य में 'शान्तिरास' की रचना की। चौदहवीं सदी में जैन साधुओं ने अनेक सूत्रों का अनुवाद गुजराती में किया। चौदहवीं शताब्दी तक उपरोक्त लेखकों ने लोकप्रिय कहानियाँ, जीवन-चरित्र, धार्मिक विधियाँ, चिकित्सा धार्मिक तथा अन्य विषयों पर रचनाएँ लिखीं।

उत्तरी भारत में धार्मिक सुधार के आन्दोलन और भक्ति-सम्प्रदाय की जो लहरें उत्पन्न हुई थीं, उनसे गुजराती साहित्य भी हिन्दी व मराठी साहित्य के

समान अधिक सम्पन्न हुआ। गुजरात के भक्त संतों व कवियों में मीराबाई और नरसिंह मेहता का स्थान ऊँचा है। मीरा के भक्ति व माधुर्य भाव से ओतप्रोत अनेक पद गुजराती में हैं। मीरा के ये पद आज भी गुजरात में घर-घर में गूँजते हैं। अन्य कृष्ण-भक्त नरसिंह मेहता (१४१४-१४८१) गुजरात में अपनी कृष्ण-भक्ति के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध हो गये हैं। अनुश्रुतियों के अनुसार गुजराती में उनके सवा लक्ष पद माने गये हैं। उनकी रचनाएँ शृंगार और भक्ति दो भागों में विभाजित हैं, पर उनमें अध्यात्मवाद की गहरी छाप है। 'हारमाला', 'सुदामा चरित्र', 'चातुरी षोडशी', 'चातुरी छत्रीशी', 'सामलवाह नो विवाह', 'धानलीला' और 'गोविन्दगमन' इनके लोकप्रिय और प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। मेहता के पश्चात् भालन और भीम प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। प्रथम ने गुजराती बाणभट्ट की 'कादम्बरी का अनुवाद किया और द्वितीय ने भागवत गाथाओं की रचना की। इनके समकालीन पद्मनाभ ने ऐतिहासिक काव्य ग्रन्थ की रचना की जिसमें मुसलमानों द्वारा गुजरात व काठियावाड़ की विजय और राजपूतों के शौर्य की कहानी है। सोलहवीं सदी में गुजराती साहित्य के वत्सों, वच्छराज और तुलसी विशेष उल्लेखनीय कवि हैं। वत्सो के 'शुकदेव आख्यान', 'सुभद्रा हरण' और 'साधु चरित्र', बच्छराज की 'राम मंजरी' और तुलसी का 'भक्त ध्रुव' पर लिखा काव्य-ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त कुशल लाभ-वाचक नामक जैन साधु ने अनेक काव्य-ग्रन्थ लिखे जिनमें 'मारू ढोला चौपाई' और 'माधवानल काम कण्डला राम' अधिक प्रसिद्ध हैं। सोलहवीं सदी में गुजराती गद्य का विकास होने लगा था और 'पंचतन्त्र', 'रामायण', 'योगवशिष्ठ' और 'भागवत् गीता' का अनुवाद गुजराती गद्य में हो गया था।

बँगला साहित्य—इस युग में कवि विद्यापति और चण्डीदास के ग्रन्थों से बँगला साहित्य का विकास हुआ। प्रारम्भ में इन्होंने कृष्ण सम्बन्धी गीतों की रचना की। विद्यापति की संगीतमय पदावली राधा-कृष्ण के चरणों में समर्पित की गयी है। उनकी कविता में शृंगार और भक्ति स्पष्ट झलकते हैं। विद्यापति को मैथिली भाषा का भी प्रमुख कवि माना जाता है। बँगला साहित्य को वहाँ के स्थानीय मुस्लिम शासकों ने खूब प्रोत्साहित किया। उन्होंने संस्कृत के रामायण और महाभारत को बँगला भाषा में अनुवादित करने के लिए विद्वानों को नियुक्त किया। इस प्रकार गौड़ के सुलतान नसरतशाह ने बँगला में महाभारत का अनुवाद करवाया। कृत्तिवास ने जिसका ग्रन्थ उच्च-कोटि के व्यक्तियों के लिए यथार्थ में 'बाइबिल' है, बंगाल में साधारण जनता की भाषा में संस्कृत रामायण का अनुवाद किया। गौड़ के सुलतानों का कृत्तिवास को राज्याश्रय प्राप्त था। सुलतान हुसेनशाह के संरक्षण में मलधर वसु ने गीता का अनुवाद बंगला में किया। इसके बाद चैतन्य ने अपने गीतों और भजनों

से बँगला को सम्पन्न किया। उनके अनुयायियों ने अपने गीतों, कविताओं और संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादों से बँगला साहित्य की श्रीवृद्धि की। चैतन्य के युग के बाद बँगला को सोलहवीं शताब्दी में शिव-दुर्गा सम्बन्धी साहित्य ने आच्छादित कर लिया था।

दक्षिण की देशज भाषाओं का साहित्य—तेरहवीं और चौदहवीं सदी में दक्षिण में शैव सम्प्रदाय के आन्दोलन ने साहित्यिक प्रयासों को खूब प्रोत्साहन दिया और तामिल शैव धर्म में नवीन साहित्य का विकास हुआ। विजयनगर के नरेशों द्वारा तेलगू साहित्य को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। कृष्णदेव राय साहित्य में अभिरुचि रखता था और वह स्वयं उच्चकोटि का ग्रन्थकार था एवं एक काव्य-ग्रन्थ की रचना भी उसने की थी। उसे आन्ध्र का भोज कहा जाता था। तेलगू साहित्य में उसका वही स्थान है जो संस्कृत साहित्य में भोज का था। उसकी राजसभा का प्रमुख कवि अल्लामानी पेड्डन बड़ा प्रतिभा-सम्पन्न मौलिक लेखक था। तेलगू में मौलिक काव्य का उसे जनक माना जाता है। उसकी सबसे प्रसिद्ध कृति 'मनुचरत' है। मारकण्डेय पुराण से इस ग्रन्थ की सामग्री ली गयी है। इसमें एक ब्राह्मण 'प्रवराख्य' की रोचक कथा है जिसके हृदय में मनु के जन्म-स्थान हिमालय के शृंग पर पहुँचने की उत्कण्ठा थी। इस काल का अन्य महान् कवि 'पारजात अपहरण' का रचयिता नन्दि तिम्मण था। इस ग्रन्थ में नारद ऋषि की सहायता से इन्द्र के उद्यान से कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के लिए पारिजात पुष्प लाने की कथा वर्णित है। इसके कई वर्षों बाद अप्पाय दीक्षित हुआ जो तामिल ब्राह्मण था। वह अपने युग का बहुत बड़ा प्रसिद्ध दार्शनिक माना जाता है।

इस मध्ययुग में जैनियों ने भी अत्यधिक धार्मिक और ऐहिक साहित्य की रचना की। अनुप्रास और यमक-युक्त कविता जो देशज भाषाओं की विशेषता मानी जाती है, जैनियों ने अपने 'अपभ्रंश' भाषा के ग्रन्थों में खूब लिखी है। दिगम्बर सम्प्रदाय के जैन लेखकों ने अपने ग्रन्थों से कन्नड़ और तामिल भाषाओं के साहित्य को खूब प्रेरणा दी। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के हेमचन्द्र सूरी ने संस्कृत में अनेक ग्रन्थों की रचना की। उसने अपने ग्रन्थों में जैन विचारधारा और आर्य संस्कृति का समन्वय करने के सफल प्रयास किये। अन्य जैन साधुओं ने भी अपभ्रंश और गुजराती भाषाओं में विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। यह स्मरण रखने योग्य बात है कि इस्लाम के आगमन के फलस्वरूप धर्म के समान साहित्य पर भी विद्वानों का एकाधिकार कम और कम होता गया और साधारण जनता का अधिक से अधिक बढ़ता गया।

संस्कृत में साहित्यिक प्रगति—देशज भाषाओं में रचनाओं का बाहुल्य एवं उनमें प्रभूत प्रगति होने पर भी संस्कृत साहित्य की उन्नति अवरुद्ध नहीं हुई

और यह युग संस्कृत साहित्य के धार्मिक तथा ऐहिक ग्रन्थों से सर्वथा शून्य नहीं रहा। ईसवी सन् १३०० के लगभग पार्थसारथी ने कर्म मीमांसा पर अनेक ग्रन्थ लिखे। इस युग में कतिपय ऐसे भी ग्रन्थ लिखे गये थे जो दर्शन के योग, वैशेषिक और न्याय-प्रणाली के सिद्धान्तों का विवेचन करते थे। अनेक महत्त्व-शाली नाटक जैसे जयसिंह का 'हमीर-मद-मर्दन', रविवर्मन का 'प्रद्युम्न अभ्युदय', विद्यानाथ का 'प्रदापरुद्र कल्याण', वामन का 'पार्वती परिणय', रूप गोस्वामी का 'विदग्ध माधव' तथा 'ललित माधव' विशेष उल्लेखनीय हैं। शास्त्रीय साहित्य के विषय में कहा जा सकता है कि इस काल में कुछ उत्तम टीकाएँ लिखी गयीं। स्मृति और व्याकरण का साहित्य मिथिला और बंगाल में खूब समृद्ध हुआ। विज्ञानेश्वर और जीमूतवाहन की पद्धति पर प्राचीन न्याय-ग्रन्थों के अनेक भाष्य रचे गये। इस क्षेत्र में मिथिला अत्यधिक प्रसिद्ध हो गयी थी और न्याय के क्षेत्र में उसका अपना एक विभिन्न मत (school) उत्पन्न हो गया था तथा पन्द्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में समृद्ध हुआ। संस्कृत व मैथिल भाषा का विद्वान् वाचस्पति मिश्र मिथिला के ग्रन्थकारों में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसी प्रकार सोलहवीं शताब्दी में पश्चिम भारत में न्यायशास्त्री नीलकान्त हुआ जिसने 'व्यावहारमयूख' की रचना की। बंगाल में भी न्याय, स्मृति और भक्ति-दर्शन खूब फले-फूले। इस क्षेत्र में रघुनाथ शिरोमणि और रघुनन्दन मिश्र अधिक प्रसिद्ध हुए। मेवाड़ में राणा कुम्भा की राजसभा संस्कृत-ज्ञान व संस्कृति का केन्द्र था। दक्षिण भारत में विजयनगर के नरेशों के राज्याश्रय में माधव और सायण बन्धुओं के साथ पण्डितों के एक दल ने वेदों पर आधारित ग्रन्थों और भाष्यों की रचना की। माधवाचार्य ने वेदों के पथ का निर्माण किया। 'सर्वदर्शन' नामक भारतीय दर्शन पर उनका लिखा ग्रन्थ प्रख्यात है। सायण ने भी ऋग्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण तथा अन्य ग्रन्थों पर भाष्य लिखे। मेवाड़, कालिंजर, गुजरात और विजयनगर ऐसे दूरस्थ स्थानों में संस्कृति के इस प्रकार आकस्मिक फूलने-फलने का कारण यह था कि गंगा की घाटी में मुसलमानों की विजय के उपरान्त विद्वानों और कवियों ने दूरस्थ प्रदेशों के हिन्दू नरेशों की राजसभाओं में जाकर शरण ली।

यद्यपि संस्कृत भाषा में रचे गये ग्रन्थ देशज भाषाओं में रचित ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक कृत्रिम, अलंकारपूर्ण, वैज्ञानिक और लोगों की आकांक्षाओं और जीवन से असम्बन्धित थे, तथापि संस्कृत ऐसी भाषा थी जिसने इस युग में हिन्दू लोगों को एक सूत्र में संगठित कर दिया था। कन्याकुमारी अन्तरीप से लेकर काश्मीर तक हिन्दू विद्वानों और विचारकों की भाषा संस्कृत ही बनी रही और संस्कृत के इस उपयोग के बिना हिन्दू लोग एकता की अपनी समस्त भावना खो देते। इसके अतिरिक्त देशज भाषाओं को संस्कृत की परम्पराओं,

विचारधाराओं और रचनाओं से सम्बन्धित कर देने से विभिन्न प्रान्तों के मध्य में एक सांस्कृतिक कड़ी हो गयी—इस मध्य-युग की यह एक सफलता-सिद्धि है।

उर्दू का विकास—मध्य-युग के साहित्य के क्षेत्र में अन्य सफलता उर्दू का समुदय और विकास था। संस्कृत में उत्पन्न हुई विचारधाराओं और भाषाओं के साथ फारसी और तुर्की शब्दों और विचारों के सम्मिश्रण से उर्दू भाषा का प्रादुर्भाव हुआ। इसमें अरबी, फारसी, तुर्की, पश्चिमी, हिन्दी एवं दिल्ली प्रदेश की स्थानीय भाषा के शब्द हैं। इस भाषा का व्याकरण और बनावट अधिकांशत: हिन्दी के समान है। कालान्तर में इसके विदेशी शब्दों का विदेशीपन और विशेषकर फारसी शब्दों का फारसीपन कम होता गया और हिन्दी का रंग प्रकट होता गया। मुसलमानों और हिन्दुओं के सम्पर्क तथा दैनिक आवश्यकताओं से प्रेरित आदान-प्रदान के कारण धीरे-धीरे एक समान भाषा का विकास हुआ जिसे उर्दू कहा गया। उस हिन्दी के साथ जो मुसलमानों के सैनिक पड़ावों में और सुलतानों-बादशाहों के निवासस्थान के पास बोली जाती थी, भारत के आक्रान्ताओं व आगन्तुकों की भाषा के मिश्रण से उर्दू का रूप गठित हुआ। वास्तव में यह हिन्दुओं और मुसलमानों के साहित्यिक समन्वय का परिणाम था। कालान्तर में मुस्लिम नरेशों की राजसभा के कवियों, लेखकों और इतिहासवेत्ताओं ने इसके साहित्यिक रूप को निखारा और उत्तरी भारत में अठारहवीं शताब्दी में यह एक अच्छी साहित्यिक भाषा हो गयी। अमीर खुसरो ने सर्वप्रथम इस भाषा में रचनाएँ कीं।

ऐतिहासिक साहित्य—मुस्लिम सुलतानों के काल में ऐतिहासिक साहित्य का विकास हुआ। भारत को मुसलमानों की यह एक देन है। हिन्दुओं में रुचि-पूर्वक इतिहास लिखने की भावना का पूर्णतया विकास नहीं हुआ था जिसके फलस्वरूप मुस्लिम विजय के पूर्व उन्होंने ऐतिहासिक साहित्य की उपेक्षा की। मुसलमानों ने ललित गद्य में श्रेष्ठ ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना की। वे इतिहास लेखन में प्रवीण थे। मिनहाजुद्दीन सिराज की 'तबकाते नासिरी' (इस्लामी दुनिया का इतिहास), अमीर खुसरो की 'मसनवी' शम्से सिराज अफीफ की 'तारीखे फीरोजशाही' और सरहिन्दी का इतिहास 'तारीखे मुबारकशाही' विशेष उल्लेखनीय हैं। इस युग का सबसे प्रसिद्ध इतिहासज्ञ जियाउद्दीन बरनी था जो मुहम्मद बिन तुगलक और फीरोजशाह का समकालीन था। अन्य प्रसिद्ध इतिहास लेखक मुहम्मद कासिम उपनाम फरिश्ता भी इसी मध्य-युग की देन है। तुगलक-काल के एक बहुत बड़े अमीर ऐनु मुल्क ने कई पत्र और खतबे लिखे थे जो शाही खतोकिताबत के नमूने माने जाते हैं। इन इतिहासज्ञों ने अध्ययन के लिए प्रचुर सामग्री ही प्रस्तुत नहीं की अपितु ऐसा उदाहरण रखा जिसकी नकल करने में हिन्दू लेखक और हिन्दू नरेश पीछे नहीं रहे।

स्थापत्य-कला या वास्तु-कला

स्थापत्य-कला में भी प्रारम्भिक मुसलमानों की एक बड़ी देन रही है। सामंजस्य की जो प्रवृत्ति धार्मिक विचारों में थी, वह विभिन्न कलाओं में भी प्रकट होती है। स्थापत्य-कला इसका ठोस और ज्वलन्त उदाहरण है। मुसलमानों की अपनी स्वयं की एक विशिष्ट वास्तु-कला थी। इस्लाम का प्रसार व प्रगति शुष्क और कम वर्षा वाले प्रदेशों में हुई, जो पश्चिम में भूमध्य सागरतट से लेकर पूर्व में चीन की प्राचीर तक विस्तृत थे। इन प्रदेशों में मीलों तक सुन्दर हरे-भरे दृश्य या वनस्पति अथवा लहलहाते खेत नहीं दिखते थे। इसके अतिरिक्त सच्चे मुसलमान तथा काफिर के तीव्र भेद के लिए मुस्लिम उपासकों को साधारण सामूहिक प्रार्थना के हेतु एक ही विशाल खुले स्थल में एकत्र होना पड़ता था जिसमें विस्तार, पवित्रता, शान्ति और सुरक्षा की भावना निहित होती थी। अतः मुस्लिम वास्तु-कला धर्म और उपासना को कतिपय व्यावहारिक आवश्यकताओं और प्रदेश की प्राकृतिक स्थिति से अधिक प्रभावित हुई थी। फलतः मुस्लिम-कला की विशेषताएँ विशाल भवन, विराट गोल गुम्बद, ऊँची मीनारें, खुले आँगन तथा साफ और सुथरी दीवारें थीं। इसके विपरीत, भारत विशाल पर्वतों उत्तुंग शृंगों, विस्तृत मैदानों, दुर्भेद्य जंगलों, विभिन्न ऋतुओं, सुन्दर वनस्पतियों, हरे-भरे खेतों और घने नगरों तथा ग्रामों का देश रहा है। ऐसी भौगोलिक स्थिति के फलस्वरूप हिन्दू कला में विशालता, स्थूलता, विस्तार, विविधता और सम्पन्नता है। जिस प्रकार भारतीय भूमि विविध मनोरम, पुष्प, पत्ती, लता आदि से आच्छादित है उसी प्रकार हिन्दू मन्दिरों और भवनों में ऐसा कोई स्थान नहीं जो तक्षण-कला के अलंकरणों से वंचित हो। इस्लाम के आगमन से इन दोनों प्रकारों की विभिन्न कलाओं का सम्मिश्रण और समन्वय हुआ। इस्लाम के अनुयायी पश्चिमी और मध्य एशिया, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिणी-पश्चिमी यूरोप से अपने साथ कुछ कला लाये थे। उनमें भवन-निर्माण की अभिरुचि होने के कारण इस कला का हिन्दू कला की मौलिक प्रणालियों से समन्वय हुआ और वास्तु-कला की एक नवीन शैली का विकास हुआ जो जौनपुर, बंगाल, बीजापुर, गुजरात जैसे प्रान्त में स्पष्ट हो गयी। हिन्दू कला अलंकरणयुक्त और चमक-दमक वाली थी, पर मुस्लिम कला की विशेषता उसकी सादगी थी। हिन्दुओं की निर्माण प्रणाली स्तम्भों, पंक्तियों और सीधे पाटों पर आश्रित थी, मुस्लिम निर्माण-शैली धनुपाकार थी और मेहराबों तथा गुम्बदों पर निर्भर थी। हिन्दुओं के लिए स्तम्भ-पंक्तियाँ अनिवार्य थीं और मुसलमानों के लिए मेहराब वन्धवाकार छतें। हिन्दुओं के मन्दिर ऊँचे शिखर वाले होते थे तो मुसलमानों की मसजिद विशाल गुम्बदयुक्त। हिन्दू उत्कीर्ण कला द्वारा पाषाण में सुन्दर अलंकरण

की आकृतियाँ बनाते थे और रुचिकर सजीव प्रतिमाओं का निर्माण करते थे, इसके विपरीत मुसलमान अत्यधिक सादगी व सरलता पसन्द करते और मूर्तियों का खण्डन करते थे। दृढ़ता व सौन्दर्य हिन्दू भवनों की सबसे बड़ी विशेषता थी कल्पना की व्यापकता, विशालता व सरलता मुस्लिम भवनों की विशेषताएँ थीं। हिन्दू कला में शक्ति और सौम्यता का सुन्दर समन्वय था। मुस्लिम-कला में स्थान का आधिक्य अधिक था। हिन्दू-कला में कमल और कलश के प्रतीकों का बाहुल्य रहा, पर मुस्लिम-कला में इसका अभाव था। हिन्दू मन्दिरों और भवनों में अनेक आले रखे जाते थे उनके मन्दिरों के कोणों के शिखर पिरामिडों के आकार के होते थे। मुस्लिम भवनों में इनका अभाव रहा। पर मुस्लिम इमारतें वायु और प्रकाशयुक्त होती थीं, हिन्दू भवनों की भाँति अन्धकारमय नहीं। हिन्दू और मुस्लिम कलाओं में कोष्ठों से परिवेष्ठित आँगन रहा है। ये दोनों कलाएँ अपने आदर्शों और प्रणालियों में इतनी भिन्न होने पर भी परस्पर हिल-मिल गयीं और एक नयी भारतीय कला का प्रादुर्भाव हुआ। फर्ग्युसन जैसे विद्वानों ने इसे "इण्डोसरसैनिक" या "पठान" संज्ञा देते हुए इसे इस्लामिक कला की स्थानीय शैली कहा है; परन्तु हैवल जैसे विद्वानों ने इसे पूर्णतया भारतीय बताया है और इसे भारतीय कला की संशोधित शैली से भिन्न नहीं माना है। सर जॉन मार्शल और मजूमदार जैसे विद्वान इन मतों से सहमत नहीं हैं और वे प्रमाणित करते हैं कि 'इण्डो-इस्लामिक कला' मुस्लिम कला का न तो केवल स्थानीय रूप है न केवल हिन्दू कला का परिवर्तित रूप ही है। वास्तव में इस युग की संस्कृति के अन्य अंगों के समान वास्तु-कला भी ब्राह्मण, बौद्ध और जैन शैलियों का पश्चिमी और मध्य एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका की उन शैलियों के साथ सम्मिश्रण है जिन्हें मुस्लिम तत्त्व भारत में अपने साथ लाये थे। इस सम्मिश्रण में दो बातें प्रमुख रूप से सहायक हुई हैं; अनेक मन्दिर मसजिदों में परिवर्तित कर दिये गये और उन्हीं का अनुकरण कर मसजिदें बनवायी गयीं। मुस्लिम बादशाहों ने अपने भवन-निर्माण में प्राचीन हिन्दू मन्दिरों एवं भवनों की विध्वस्त सामग्रियों का उपयोग किया।

हिन्दू और मुस्लिम-कला के सम्मिश्रण में हिन्दू-कला का अधिक प्रभाव रहा या मुस्लिम-कला का—इस पर इतिहासज्ञों में मतभेद है। हिन्दू और इस्लाम के प्रभावों में कौन अधिक स्पष्ट और सशक्त है, विवादग्रस्त विषय है। कला-मर्मज्ञ हैवल का मत है कि मध्ययुगीन कला में हिन्दू प्रभाव का बाहुल्य है। मुसलमानों का कलात्मक दृष्टिकोण हिन्दू-कला से बहुत ही प्रभावित हुआ। मध्य युग की अनेक इमारतों पर हिन्दू-कला का प्रभाव स्पष्ट है। फर्ग्युसन, स्मिथ और एलफिन्स्टन का मत है कि हिन्दू प्रभाव नगण्य रहा, यह बाहरी सतह तक ही सीमित था। सर जॉन मार्शल का कथन है कि भारत की **मध्य-**

कालीन कला हिन्दू और मुस्लिम दोनों उपादानों से पल्लवित हुई है। भारत में इस्लामिक निर्माण कला का स्वरूप अनेक असम साधनों से विकसित हुआ है। भारत में आने वाले अरबों में कलात्मक-दृष्टिकोण का अभाव था। स्थापत्य-कला की महानता को वे समझ न सके। उनमें कला-ज्ञान नगण्य था। इसके विपरीत, तुर्क स्थापत्य-कला के उदार संरक्षक थे। उन्होंने फारस में जिस स्थापत्य-कला का विकास किया वह भारत में लायी गयी और उसका समन्वय हिन्दू-कला से हुआ। सच बात तो यह है कि भारत में मुसलमान प्रायः हिन्दू भवनों व मन्दिरों को मुस्लिम इमारतों व मसजिदों में परिवर्तित करते रहे। उन्होंने देशी निर्माण-कला को जो सर्वत्र प्रचलित थी, अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल बना लिया। इस प्रकार कला को परिवर्तित करने में उन्होंने हिन्दू-कला के अनेक विचार व धारणाएँ ग्रहण कर लीं। हिन्दू-कला के प्रति मुस्लिम-कला का सबसे बड़ा ऋण दृढ़ता व सौन्दर्य के क्षेत्र में था। दिल्ली के आसपास मुस्लिम-कला पर हिन्दू-कला का प्रभाव नगण्य-सा रहा। परन्तु जौनपुर और गुजरात में अधिक रहा। बंगाल और दक्षिण में तो उस पर हिन्दू-कला का पूर्णरूपेण आधिपत्य था।

हिन्दू भवन-निर्माण-शैली में मुसलमानों ने अधिक विस्तार, विशालता तथा चौड़ाई की विशिष्टता सम्मिलित कीं। उन्होंने आकृति और नवीनता में भी वृद्धि की। रंग के लिए उन्होंने विविध रंगों के पाषाणों का उपयोग किया। भारतीय कला में उन्होंने मेहराब, गुम्बद और मीनार जोड़ दिये। अलंकरण के लिए उन्होंने भूमिति की गहन एवं दुर्बोध आकृति का उपयोग किया और कभी-कभी कुरान की आयतों को अथवा ऐतिहासिक अभिलेखों को उत्कीर्ण कर उन्हें सुशोभित किया। हिन्दू मन्दिरों के शिखरों पर जो स्वर्ण कलश होते थे उनकी नकल मसजिदों के गुम्बद के पाषाण कलश-निर्माण में की गयी। मेहराबों में भी नक्काशी कर हिन्दू अलंकरण शैली अपनायी गयी। भवनों को सुदृढ़ और मनोरम बनाने में भी मुसलमानों ने हिन्दू प्रणाली का अनुकरण किया।

नवीन 'इण्डो-इस्लामिक' या हिन्दू-मुस्लिम वास्तु-कला की सबसे अधिक महत्त्वशाली विशेषता यह थी कि उनमें एक विस्तृत खुला आँगन या चौक होता था जिसके चतुर्दिक प्रकोष्ठ या बरामदा होता था। मनोरम मध्य गुम्बद इस वास्तु-कला की अन्य विशिष्टता है। मसजिदों में ऊँची मीनारें थीं जिनका उपयोग अजान के लिए होता था। श्रीनिवास चारी और रामास्वामी आयंगर का मत है कि हिन्दू मन्दिरों का विस्तृत खुला हुआ सहन और उसके चारों ओर का बरामदा—भारत की मसजिदें इसी का परिवर्तित रूप हैं। चौहानों के शासनकाल में दिल्ली तथा अजमेर में जिस शैली से हिन्दू

मन्दिरों का निर्माण हुआ था उसी को मुस्लिम विजेताओं ने कतिपय हेर-फेर के बाद अपना लिया।

दिल्ली की भवन-निर्माण-कला में मुसलमानी प्रभाव सर्वोपरि रहे, क्योंकि इस प्रदेश में अपनी बहुसंख्या के कारण मुसलमानों का प्रभुत्व अधिक था। जौनपुर और दक्षिण में स्थानीय शैलियों की अधिक प्रधानता रही। बंगाल में मुसलमानों ने ईंटों से भवन-निर्माण करने की शैली ही नहीं अपनायी, अपितु उन्होंने अपने भवनों को सुन्दर उत्कीर्ण आकृतियों से अलंकृत भी किया और इस प्रकार हिन्दुओं के ऐसे ही मौलिक भवनों और आकृतियों की उन्होंने स्वच्छन्दतापूर्वक नकल की। पश्चिमी भारत में तो उन्होंने सम्पूर्णतया गुजराती शैली को अपना लिया और काश्मीर में भी उन्होंने लकड़ी के भवनों के लिए भी ऐसी ही नकल की।

भारत में मुस्लिम भवनों का निर्माण गुलाम वंश के सुलतान कुतुबुद्दीन से प्रारम्भ हो जाता है। दिल्ली के आसपास जिस शैली का उपयोग किया गया उसे दिल्ली की भवन-निर्माण-कला कहते हैं। इस शैली में गोलाकार गुम्बद, कहीं-कहीं आलें तथा कुछ मसजिदों में सिंह दरवाजे व कुछ में जुलूस मार्ग रखे गये थे।

दिल्ली की भवन-निर्माण-कला के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कुतुब मसजिद और कुतुब मीनार हैं। इसके दो अन्य नमूने जमातखाँ मसजिद और अलाई दरवाजा हैं। कुतुब मसजिद और कुतुब मीनार में हिन्दू तत्त्वों की छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इन दोनों में हिन्दू भवन और मन्दिरों की सामग्रियों का उपयोग किया गया है और अलंकरण में हिन्दू नक्काशी कला की नकल की गयी है। बदायूँ में इल्तुतमिश की बनवायी हुई मसजिद अब तक विद्यमान है। इस प्रकार अजमेर में कुतुबुद्दीन की बनवायी मीनार व मसजिद जिसे अढ़ाई दिन का झोंपड़ा कहते हैं और दिल्ली में इल्तुतमिश का मकबरा है। इन सब में भी हिन्दू कला की छाप है। इल्तुतमिश की मृत्यु और अलाउद्दीन के सिंहासनारोहण के बीच का काल कला की दृष्टि से शून्य है। इस युग का स्मारक केवल बलबन का मकबरा है। अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में भारतीयकरण के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और फलतः उसके काल के स्थापत्य में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। उसने अरबी कला को अपना आधार बनाया। निजामुद्दीन औलिया की दरगाह में जो जमातखाँ की मसजिद बनी है वह अलाउद्दीन के काल में निर्मित हुई थी। दिल्ली के समीप सीरी में अलाउद्दीन का बनवाया हुआ दुर्ग और महान् दरवाजा अपनी शान की दृष्टि से उल्लेखनीय है। अलाई दरवाजा तो भारत में मुस्लिम वास्तु-कला का बहुमूल्य रत्न है। उसके अन्य प्रसिद्ध भवन हौज अलाई, हौज खास व हजार सितून महल हैं। तुगलकों की वास्तु-कला

में खिलजी और गुलाम वंश की वास्तु-कला की विशिष्टताएँ विलुप्त हो गयी थीं एवं चमक-दमक, दिव्यता, भव्यता और विविधता का अभाव हो गया था। तुगलक-युग में हिन्दू-प्रभाव विनष्ट हो रहा था। इस युग के भवन ठोस, दृढ़, सादे और भरकम थे। इस शैली के उदाहरण तुगलकशाह का मकबरा और तुगलकाबाद का नगर व उसका दुर्ग है। फीरोज तुगलक एक वैभवशाली महान् निर्माता था जिसने नगरों, उद्यानों, मसजिदों, महलों व तालाबों के निर्माण में अपरिमित धन व्यय किया। सैयद और लोदी राज्य-वंशों के युग में वास्तु-कला में हिन्दू प्रतिभा पुनः जागृत हो उठी और फलस्वरूप इस काल के बने भवनों में हिन्दू प्रभाव की छाया दीखती है। सुलतानों और सामन्तों के मकबरे इस युग की श्रेष्ठ इमारतें हैं, जिनमें सिकन्दर लोदी का मकबरा विशेष उल्लेखनीय है। मकबरे के गुम्बद के भीतरी भाग का मनोरम अलंकरण और प्रवेश-द्वार की प्रणाली हिन्दू प्रभाव प्रदर्शित करती है। पाषाण पर यह अलंकरण विकसित होते-होते मुगलकाल में उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। सामन्त वर्ग के स्मारकों में बड़े खाँ तथा छोटे खाँ के मकबरे, शीश गुम्बद, बड़े गुम्बद तथा दादी का गुम्बद प्रख्यात हैं। पर इनमें सिकन्दरशाह के प्रधान मन्त्री द्वारा बनवायी मोती की मसजिद अधिक सुन्दर व प्रभावशाली है।

बड़े-बड़े प्रान्तीय राज्यों में भी स्थापत्य-कला का व्यक्तित्व स्थानीय रूप में और भी उभरकर प्रकट हुआ था। जौनपुर में वास्तु-कला की एक नवीन शैली का विकास हुआ जो हिन्दू-कला के स्पष्ट प्रभाव को प्रदर्शित करती है। जौनपुर की कला-शैली की प्रशंसा फ्युरर (Fuhrer) और बर्गेस (Burgess) ने खूब की है। हैवल का मत है कि इस शैली की विशेषता यह है कि इसमें हिन्दू व मुस्लिम रचनात्मक विचारों का रुचिकर समन्वय है। मार्शल भी इस शैली के भवनों की सजावट की प्रशंसा करते हैं। जौनपुर में बने अनेक भवन व मसजिदें प्रान्तीय कला के विलक्षण नमूने हैं। इनकी भरकम ढालू दीवारें, वर्गाकार स्तम्भ, छोटी गैलरियाँ आदि हिन्दू विशेषताएँ हैं। जौनपुर शैली का सर्वश्रेष्ठ ज्वलन्त नमूना इब्राहीमशाह शर्की के समय की अटाला मसजिद है। इसके अतिरिक्त वहाँ के लाल दरवाजे की निर्माण शैली स्पष्टतया हिन्दू है। बंगाल में भी मिश्रित शैली का विकास हुआ जिसकी विशिष्टता ईंटों का उपयोग, छोटे स्तम्भों पर नोकदार मेहराबें और हिन्दुओं की अलंकरण की शैली थी। सन् १३६८ ई० में निर्मित अदीना मसजिद इसका उदाहरण है। इसके अतिरिक्त गौड़ में बने ईंटों के महलों में हिन्दू मन्दिरों की कला का अनुसरण दृष्टिगोचर होता है। फर्ग्युसन के मतानुसार गौड़ प्रदेश की शैली की विशेषता उसके स्थूल एवं छोटे पत्थर के स्तम्भों में है जिन पर ईंटों की नुकीली डाटें (arches) तथा धन्वाकार छतें आधारित हैं। गौड़ प्रान्त के

विशेष उल्लेखनीय भवन, हुसेनशाह का मकबरा, बड़ी व छोटी सुनहरी मसजिदें तथा सुलतान नसरतशाह का कदम रसूल है। गुजरात में मुसलमानों के भवनों में शानदार हिन्दू निर्माण-शैली के प्रभाव-चिह्न स्पष्ट हैं। मन्दिरों की निर्माण-शैली और स्थानिकता का जितना अधिक प्रभाव गुजरात की मुस्लिम इमारतों पर पड़ा है। उतना अन्यत्र कहीं नहीं। गुजरात में मुसलमानों द्वारा निर्मित अनेक भवनों, मसजिदों और मकबरों में प्राचीनतम हिन्दू कला की परम्पराओं की प्रधानता रही, यद्यपि मुसलमानों की आवश्यकताओं के अनुसार ये कतिपय अंशों में रूपान्तरित कर दी गयी थीं। खम्भात् में सन् १३३५ ई० में निर्मित जामा मस्जिद और अहमदाबाद के अन्य भवन इसके उदाहरण हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अहमदशाह ने अहमदाबाद नगर की स्थापना की। अहमदाबाद की इमारतों में लकड़ी में सुन्दर नक्काशी, मनोरम पाषाण की जालियाँ और अलंकरण हिन्दू-प्रभाव को प्रकट करते हैं। इस नगर की जामा-मसजिद, जिसका प्रारम्भ सन् १४११ में हुआ था, गुजरात की प्रान्तीय-कला का एक उदाहरण है, जिसमें स्थानीय कला का समस्त सौन्दर्य और पूर्णता मिश्रित है। इसी प्रकार चम्पानेर की जामी मसजिद और अहमदाबाद में सन् १५१४ में निर्मित रानी सिपरी की मसजिद भी गुजरात की सम्पन्न शैली के नमूने हैं जो हिन्दू-कला के गहन प्रभाव को प्रदर्शित करते हैं। मसजिदों व मकबरों के अतिरिक्त गुजरात में बावड़ियाँ, सिंचाई के साधन तथा सार्वजनिक फलोद्यान भी खूब निर्मित हुए।

मालवा की राजधानी माण्डू में मुस्लिम शासकों ने जो भवन व मसजिद निर्मित कराये हैं उनमें दिल्ली के समान मुस्लिम कला-परम्पराओं का प्राधान्य रहा है। इनमें प्रान्तीय कला की अभियक्ति का दमन किया गया और नोकदार मेहराब शैली का ही प्रभुत्व दृष्टिगोचर होता है। जामी मसजिद, हिंडोला महल, जहाज महल, हुसेनशाह का मकबरा, बाजबहादुर और रूपमती के राजप्रासाद, माण्डू के महल दिव्य भवन-निर्माण-कला के उदाहरण हैं। इसमें हिन्दू-मुसलमान कला-प्रणालियों का उतना सुन्दर समन्वय नहीं हुआ है जितना गुजरात में।

दक्षिण भारत में बहमनी सुलतानों की इमारतों की वास्तु-कला में दक्षिण कला का प्रभाव है। बहमनी सुलतानों की इमारतों में तुर्की, मिस्री और ईरानी तत्त्वों के होने पर भी भारतीय शिल्पियों की प्रतिभा विदेशी प्रभाव से ऊपर उठ गयी और उन्होंने विदेशियों की कृतियों पर अपनी छाप पहले की अपेक्षा अधिक गहरी छोड़ दी। बहमनी सुलतानों की इमारतें प्रायः गुलबर्गा, बीजापुर और बीदर में हैं। गुलबर्गा और बीदर की मसजिदें दक्षिण कला के आदर्श हैं। गुलबर्गा में फीरोजशाह का मकबरा बढ़ते हुए हिन्दू

प्रभाव को प्रकट करता है। बीजापुर में मुहम्मद आदिलशाह की कब्र, जिसे गोल गुम्बद कहते हैं, दक्षिणी भारत की शिल्प-कला से प्रभावित एक उत्कृष्ट इमारत है। बहमनी सुलतानों ने कई दुर्गों का निर्माण करवाया जिनकी विस्तृत योजना व विशुद्धता की प्रशंसा मीडोज टेलर (Meadows Taylor) ने भी की है।

मध्ययुगीन हिन्दू वास्तु-कला और उत्कीर्ण-कला के विषय में हम यह कह सकते हैं कि उस समय अपनी-अपनी स्पष्ट विशिष्टताओं के लिए अनेक स्थानीय शैलियाँ थीं जो विविध राजवंशों द्वारा प्रोत्साहित थीं। इनमें लालित्य की भावनाओं की अपेक्षा धार्मिक प्रभाव धीरे-धीरे अधिकाधिक प्रभुत्वशाली हो रहा था। उन्होंने कतिपय धार्मिक धारणाओं को कला में प्रकट किया। नटराज शिव की कल्पना दक्षिण भारत में मध्ययुगीन कला की एक बहुमूल्य देन है। उत्तरी भारत में यद्यपि हम बहुसंख्यक मन्दिरों, भवनों, राजप्रासादों, दुर्गों आदि को देखते हैं परन्तु उनमें कदाचित् ही मौलिक कल्पना है। फिर भी चित्तौड़ में राणा कुम्भा द्वारा निर्मित जय-स्तम्भ मध्ययुगीन हिन्दू भवन-निर्माण-कला और उत्कीर्ण कला का सर्वोत्कृष्ट स्मृति-चिह्न है।

संगीत

दिल्ली सुलतानों के प्रारम्भिक शासन में संगीत का विकास नहीं हुआ था क्योंकि इस्लाम के सिद्धान्त इसके निषेध में थे। पर हिन्दू संस्कृति के संसर्ग और सामीप्य से मुसलमानों में संगीत के प्रति अधिक अभिरुचि हुई। इसमें दो बातें अधिक सहायक हुईं। प्रथम इस्लाम के सूफी मत के सन्तों ने श्रद्धा, भक्ति और प्रेम से ओत-प्रोत अपने भजन, गीत और कविताओं में वृद्धि की। द्वितीय, जो हिन्दू धर्म-परिवर्तन करके मुसलमान बन गये थे उन्होंने हिन्दू परम्पराओं के भक्ति-गीतों व भजनों को नहीं त्यागा। इससे मुस्लिम-समाज में संगीत को प्रेरणा मिली। मुसलमानों ने हिन्दुओं के वाद्य यन्त्रों को अपना लिया और ध्रुपद को स्वीकार कर लिया, साथ ही उन्होंने 'ख्याल' और 'कव्वाली' का आविष्कार कर तबला और सितार जैसे वाद्य यन्त्रों को प्रस्तुत किया। पर संगीत की प्रभूत प्रगति मुगलकाल में हुई, फिर भी इस युग में हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक समन्वय की भावना का आभास संगीत के क्षेत्रों में भी दृष्टिगोचर होता है।

सिक्कों का मुद्रण

सल्तनत युग में सिक्कों का मुद्रण भी हिन्दू-मुस्लिम समन्वय के चिह्न प्रकट करता है। मुहम्मद गोरी ने कन्नौज के हिन्दू नरेशों के सिक्कों की नकल की थी जिन पर लक्ष्मी की प्रतिमा अंकित थी। कतिपय मुस्लिम सिक्कों पर शिव के नन्दी की प्रतिमा और देवनागरी लिपि में सुलतान का नाम तथा

अश्वारोही अंकित किये गये थे। प्रारम्भिक युग में ऐसे ही सिक्कों पर कभी-कभी हिन्दू नरेश का नाम मुस्लिम सुलतान के नाम के साथ जोड़कर अंकित किया जाता था।

निष्कर्ष

इस प्रकार राजनीतिक सम्बन्धों में विद्वेष होने पर भी हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के हेल-मेल से सुदूर तक प्रभावित करने वाले परिणाम हुए। मुस्लिम विजेता अपने साथ निर्दिष्ट सामाजिक और धार्मिक विचार लाये थे जो हिन्दुओं के विचारों से मौलिक रूप में भिन्न थे। परन्तु सुदीर्घकाल के सम्पर्क से हिन्दुओं और मुसलमानों के दो विभिन्न समुदाय परस्पर अधिक समीप आ गये जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू संस्कृति का विकास इस्लामी रंग से रंजित हो गया। परन्तु हिन्दू संस्कृति भी मुसलमानी तत्त्वों को प्रभावित किये बिना न रही। वास्तव में हिन्दू और मुसलमान दोनों ने ही सांस्कृतिक देन के विकास में अपना-अपना योग दिया है। मध्य-युग में दो विभिन्न संस्कृतियों का परस्पर संसर्ग और हेल-मेल हुआ परन्तु उनका पूर्ण समन्वय नहीं हुआ। वे एक-दूसरे में पूर्णतया नहीं घुलमिल गयीं। प्रथम इन दोनों संस्कृतियों में संघर्ष हुआ और तब समन्वय, परन्तु यह पूर्णरूपेण न था।

हिन्दू धर्म पर इस्लाम की प्रतिक्रिया विविध रूप से हुई। हिन्दू समाज के अनुदार सनातनी तत्त्वों ने विस्तृत, कठोर और अपरिवर्तनशील जाति-नियमों को बनाकर अपनी सामाजिक और धार्मिक प्रणालियों को दृढ़ कर लिया। परन्तु उदार तत्त्वों ने इस्लाम के कतिपय लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों को अंगीकार कर लिया। ये सिद्धान्त रामानन्द, कबीर, नानक, दादू और चैतन्य जैसे संतों के उपदेशों और मतों में अभिव्यक्त हुए। बंगाल में वैष्णव धर्म और महाराष्ट्र में भक्ति-सम्प्रदाय का विकास हिन्दू धर्म व इस्लाम के सम्पर्क की देन मानी जाती है। इस संसर्ग की दूसरी देन सहयोग, सहिष्णुता और सामंजस्य की भावना है जिसकी अभिव्यक्ति सूफी संतों के विचारों और मुस्लिम संतों के प्रति हिन्दुओं की श्रद्धा में हुई थी। सूफी मत का आधार हिन्दू विचारधाराओं से अत्यधिक प्रभावित हुआ है।

इस सम्पर्क का अन्य महत्त्वशाली प्रभाव प्रादेशिक भाषाओं और उर्दू के विकास में दृष्टिगोचर होता है। वैष्णवों की कविता हिन्दू धर्म और इस्लाम के समन्वय का सर्वोत्कृष्ट विलक्षण उदाहरण है। समाज में शिशु-हत्या, स्त्रियों का एकान्तवास और पर्दा एवं पुरुषों पर उनका अवलम्बन, बाल-विवाह, नवीन वेश-भूषा, प्रथाएँ, आचार-विचार, उत्सव, समारोह, त्यौहार आदि उस युग की सामाजिक व्यवस्था प्रकट करते हैं।

कला के क्षेत्र में मेहराब, गुम्बद और मीनारों की विदेशी कल्पनाएँ हिन्दू

कला की परम्पराओं के साथ मिश्रित हो गयीं। हिन्दू और मुस्लिम तत्त्वों के समन्वय से भवन-निर्माण-कला की एक नवीन शैली का विकास हुआ। मुस्लिम वास्तु-कला की कठोरता और सादगी कम हो गयी और हिन्दुओं की अत्यधिक लालित्यपूर्ण अलंकारिता संक्षिप्त कर दी गयी। वास्तु-कला में मुसलमानों की रचना-कृति और सामंजस्य हिन्दुओं की दिव्यता और अलंकरण में घुल-मिल गये। परिणामस्वरूप विशाल प्रांगण वाली मसजिदें, भव्य सभामण्डप वाले मन्दिर, विशाल भवन कलापूर्ण अलंकरणों सहित बनने लगे। मेहराब व गुम्बद जो मुसलमानी भवनों व मसजिदों में समुचित अनुपात के साथ बनाये जाते थे हिन्दू-कला में प्रविष्ट हो गये। इसी प्रकार विविध रंगों के झरने और सुनहरे फूल-पत्तियों के बनाने का कार्य भी भवन-निर्माण-कला में स्थान पाने लगा।

प्रश्नावली

१. किस रूप में इस्लाम ने भारत में मुस्लिम राज्य के स्थापित हो जाने के पश्चात् देश के विभिन्न प्रदेशों में हिन्दू समाज व संस्कृति को प्रभावित किया ?

२. मध्य-युग में भारत में इस्लाम की सांस्कृतिक सफलताओं के परिणामों का मूल्यांकन कीजिए।

३. दिल्ली के सुलतानों के शासन के अन्तर्गत मध्ययुगीन भारत में लोगों की सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक दशाओं का वर्णन कीजिए।

४. भक्ति आन्दोलन की उत्पत्ति, प्रकार और विकास का वर्णन कीजिए।

५. हिन्दू धार्मिक आन्दोलनों ने किस प्रकार इस्लाम के प्रसार का प्रतिरोध किया ?

६. भारत में मुस्लिम शासन के प्रतिष्ठित हो जाने के पश्चात् देश के विभिन्न भागों में हुए भारतीय साहित्य के विकास का पूर्णरूपेण विवेचन कीजिए।

७. इण्डो-मुस्लिम वास्तु-कला की क्या विशेषताएँ थीं ? अपने उत्तर में इसको समझाने के लिए निर्दिष्ट उदाहरण दीजिए।

८. मध्य-युग में भारत के धार्मिक और साहित्यिक आन्दोलनों का वर्णन कीजिए। इसके लिए कौन से तत्त्व उत्तरदायी हैं।

९. तेरहवीं शताब्दी की भवन-निर्माण कला के तत्त्वों को बताइए और इस मत का विवेचन कीजिए कि यह कला इस युग की राजनीतिक दशा की अभिव्यक्ति थी।

१०. मुगल-युग के पूर्व के काल में इस्लाम ने धर्म, भाषा और कला को कैसे प्रभावित किया ? इसके लिए कौनसे तत्त्व सहायक हुए ?

११. भारत में मुस्लिम शासन के प्रारम्भिक वर्षों में वास्तु-कला की नवीन 'भारतीय' शैलियों के विकास में जिन तत्त्वों ने सहायता दी उनका

विवेचन कीजिए। मध्य-युग की इस नवीन शैली में जो भवन निर्मित हुए हैं उनका वर्णन कीजिए।

१२. इस कथन की व्याख्या कीजिए कि दिल्ली सल्तनत कला और साहित्य की उत्साही संरक्षक थी और यह सांस्कृतिक राज्य कहलाने के योग्य है।

१३. सूफी मत क्या है ? इण्डो-मुस्लिम संस्कृति के विकास में सूफी सन्तों की क्या देन रही है ?

अथवा

पूर्व मध्यकालीन भारत में हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक समन्वय के निर्माण में मुस्लिम सूफी सन्तों ने क्या कार्य किये ?

१४. उन विविध सामाजिक और राजनीतिक प्रभावों का वर्णन कीजिए जिनके कारण उन सुधारवादी आन्दोलन का उत्कर्ष हुआ जो भक्ति आन्दोलन के नाम से प्रख्यात है। भक्ति-सम्प्रदाय के किन्हीं दो सुधारकों के सिद्धान्तों पर टिप्पणी लिखिए।

१५. भारतीय संस्कृति के विकास में सुधारवादी सन्तों की देन का विवेचन कीजिए।

१६. क्या आप इस मत से सहमत हैं कि पूर्व मुगलकालीन युग (Pre-Mughal Period) भारतीय इतिहास का सबसे अधिक अन्धकारमय काल है ?

१७. टिप्पणियाँ लिखिए—अलबरूनी, अमीर खुसरो, गुरु नानक, कबीर, 'इण्डो सरसैनिक' कला-शैली (Indo-Saracen Art)।

१८. भारत के धार्मिक तथा कला-कौशल के इतिहास में सल्तनत युग के महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।

१९. "दिल्ली और अन्य कई नगरों मे मुस्लिम शासन के स्थायी रूप से स्थापित हो जाने से भारत में कई उल्लेखनीय परिवर्तन हुए।" सल्तनत युग की स्थापत्य-कला और धर्म का विशेष उल्लेख करते हुए इन परिवर्तनों का विवेचन कीजिए।

२४

भारतीय संस्कृति और मुगल

मुगल-शासन की स्थापना—मध्य एशिया में फरगाना के राजकुमार जहीरुद्दीन बाबर ने भारत पर आक्रमण किया। अप्रैल सन् १५२६ में दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी को पराजित कर दिया और दूसरे ही वर्ष कानवाह के युद्ध में राणा साँगा पर भी विजयश्री प्राप्त की। इससे भारत में मुगल राज्य स्थापित हो गया। बाबर का उत्तराधिकारी हुमायूँ हुआ जिसे उत्तरी भारत में अपनी शक्ति को संगठित करना पड़ा। इसके हेतु उसने गुजरात पर आक्रमण कर बहादुरशाह को पराजित कर दिया परन्तु वह स्वयं अफगान नेता शेरखाँ द्वारा सावधानी से आयोजित युद्ध में पराजित हुआ और भारत छोड़ उसे फारस जाना पड़ा।

सूर राजवंश (१५४०-५५) और शेरशाह सूरी—शेरखाँ दिल्ली के राज्य सिंहासन पर शेरशाह के नाम से आरूढ़ हुआ और उसने सन् १५४० में सूर राजवंश की स्थापना की। अपने दक्ष शासन, मौलिक भूमि-सुधार, लोक-कल्याण के कार्य और न्याय तथा सहिष्णुता की नीति से वह भारत के महान् शासकों में प्रतिष्ठित है। वह प्रथम सुलतान था जिसने लोगों की इच्छा पर आश्रित भारतीय साम्राज्य की नींव डालने का प्रयास किया। उसके उत्तराधिकारी दुर्बल थे, अतएव तत्कालीन अराजकता का लाभ उठाकर हुमायूँ ने भारत पर आक्रमण किया और पन्द्रह वर्ष की अनुपस्थिति के पश्चात् पुनः अपना खोया हुआ दिल्ली का राज्य प्राप्त कर लिया।

हुमायूँ का पुनः स्थापन और इसका सांस्कृतिक महत्त्व—हुमायूँ की पुनः स्थापना अपने साथ ईरानी सांस्कृतिक प्रभाव भारत में ले आयी। ईरानी साम्राज्य में हुमायूँ के दीर्घकाल के निवास ने उसके उत्तराधिकारी के साम्राज्य को ईरानी रंग में रँग दिया। उसके साथ ईरान जाने वाले सामन्त और उसके साथ ईरान से भारत आने वाले ईरानी भारत में ईरानीकरण के केन्द्र बन गये। इसके अतिरिक्त गुणवान और योग्य ईरानी व्यक्ति निरन्तर भारत में आते रहे और मुगल राजसभा में उच्च पद पर प्रतिष्ठित होते रहे। फलतः आगामी सौ वर्षों में मुगल साम्राज्य ईरानी सांस्कृतिक तत्त्वों से अधिक रंजित हो गया था।

अकबर और मुगलों के अन्तर्गत राष्ट्रीय राजतन्त्र की स्थापना—हुमायूँ का उत्तराधिकारी अकबर हुआ, जिसने १५५६ में हेमू को पराजित किया। इससे अफगान शासन की इतिश्री और मुगल शासन की स्थापना हो गयी। अनेक युद्धों के पश्चात् अकबर ने मलाया, गोंडवाना, गुजरात, रणथम्भौर, चित्तौड़, बंगाल, काबुल, काश्मीर, सिन्ध, बलूचिस्तान, उड़ीसा और अहमदनगर जीत लिये और उन्हें अपने राज्य में मिला लिया। बीस वर्ष में मेवाड़ को छोड़कर समस्त उत्तरी भारत में अकबर ने अपनी प्रभुता स्थापित कर ली। तब उसने नवीन नीति का अनुसरण किया। अकबर ने राजपूतों के साथ मित्रता की उदार नीति और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्धों, हिन्दुओं पर लगाये गये जजिया और तीर्थ-कर के उन्मूलन, अपनी धार्मिक सहिष्णुता की नीति और हिन्दुओं को राज्य में उच्च पदों पर नियुक्त करने की नीति से अपने शासन का विदेशीपन कम कर दिया और राष्ट्रीय राज्य का निर्माण किया। हिन्दुओं को अपने पक्ष में करने की उदार नीति से उसने राष्ट्रीय राजतन्त्र का मार्ग सुलभ कर लिया। उसके सामाजिक सुधारों, उसकी भूमिकर और मनसबदारी की प्रथाओं व उसके सुदक्ष व स्वस्थ शासन से वह मुगल साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक माना जाता है। उसके उत्तराधिकारी जहाँगीर के शासनकाल में उसकी चतुर नीतियों का यथार्थ प्रभाव प्रकट हुआ और जब औरंगजेब ने उनकी नीतियों को पलट दिया, तब मुगल साम्राज्य को मृत्यु-सम आघात लगा।

जहाँगीर (१६०५-१६२७)—अकबर के बाद जहाँगीर सिंहासनारूढ़ हुआ। दीनइलाही को छोड़कर उसने अकबर द्वारा निर्धारित नीति का अनुकरण किया। उसका शासन साम्राज्य में शान्ति व समृद्धि का काल था, परन्तु नूरजहाँ और उसके परिवार के प्रभाव के कारण राजसभा और साम्राज्य में ईरानी सांस्कृतिक तत्त्व प्रविष्ट होने लगे थे।

शाहजहाँ (१६२७-१६५८)—कठोर संघर्ष के पश्चात् शाहजहाँ जहाँगीर का उत्तराधिकारी हुआ। बुन्देलों और खानजहान लोदी के विद्रोहों का दमन करके उसने दक्षिण के गोलकुण्डा और बीजापुर के सुलतानों के विरुद्ध युद्ध किया और उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हुआ। उसने राज्य के राष्ट्रीय रूप को बनाये रखा। मुगलों में शाहजहाँ सबसे महान् निर्माता था। उसके शासन को मुगलकाल का स्वर्णयुग कहा जाता है। यद्यपि उसका शासन मुगल साम्राज्य के चरम उत्कर्ष का समय था परन्तु उसके शासन में ही पतन के बीज बो दिये गये थे।

औरंगजेब (१६५८-१७०७)—राज्यारोहण के लिए बन्धुओं में हुए अनिष्टकारी युद्ध के पश्चात् औरंगजेब दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

उसने प्रारम्भ से ही अकबर की राष्ट्रीय राज्य की नीति परिवर्तित कर दी और राज्य का इस्लामी रूप पुनः स्थापित कर दिया। अपनी धार्मिक अनुदारता और इस्लामी सिद्धान्तों के प्रतिपादन से अपनी हिन्दू विरोधी सक्रिय नीति से (मन्दिरों का विध्वंस, हिन्दू व्यापारियों पर दमनकारी कर, जजिया कर का पुनः आरोपण, हिन्दू अधिकारियों की सेवा-निवृत्ति, राजसभा में हिन्दू प्रथाओं का अन्त, हिन्दुओं का बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन आदि), और राजपूतों के साथ स्वस्थ सम्बन्धों का विच्छेद करके औरंगजेब ने धर्मतन्त्रवादी राज्य का निर्माण किया और इससे राष्ट्रीय राज्य का अन्त हो गया। अपने विचारों और चरित्र से औरंगजेब सुदृढ़ राज्य का निर्माण करने में सर्वथा अयोग्य था। अकबर ने मुगल साम्राज्य की नींव डाली और राष्ट्रीय राज्य का निर्माण किया परन्तु औरंगजेब ने इसका अन्त कर दिया।

औरंगजेब के पश्चात् निर्बल उत्तराधिकारियों की एक दीर्घ पंक्ति है जिनमें से अन्तिम सम्राट् बहादुरशाह को अंग्रेजों ने सन् १८५७ ई० के विद्रोह के पश्चात् सिंहासनच्युत कर रंगून को देश निकाला दे दिया, जहाँ सन् १८६२ में कारावास में उसका देहावसान हो गया।

मराठों का उत्थान और पतन

महाराष्ट्रों में मुस्लिम शासनकाल में भक्ति आन्दोलन ने राष्ट्रीय भावना जागृत कर दी और उसकी पराकाष्ठा शिवाजी (१६२७-१६८०) जैसे नेता के उत्कर्ष में हुई। उसने राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हो, मराठों को सैनिक समुदाय में संगठित किया और बीजापुर तथा मुगल सेनाओं को पराजित कर भयंकर प्रतिरोध के होने पर भी हिन्दू राज्य की स्थापना की। स्वदेश-भक्त, सेनापति, शासक और राजनीतिज्ञ के रूप में शिवाजी अपने समकालीन लोगों में अधिक उच्चतम पद पर प्रतिष्ठित हैं।

शिवाजी का उत्तराधिकारी उनका पुत्र शम्भाजी (१६८०-१६८६) हुआ। औरंगजेब ने उसे बन्दी बनाकर उसका बध कर दिया और उसके अबोध पुत्र शाहू को अपने संरक्षण में ले लिया। इसके बाद मराठों की स्वतन्त्रता के लिए मुगलों से एक दीर्घकालीन युद्ध प्रारम्भ हो गया। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् शाहू महाराष्ट्र में लौट आया और सतारा में राजगद्दी पर बैठा। शाहू के शासनकाल में महाराष्ट्र में शक्तिशाली पेशवाई शासन विधि का प्रादुर्भाव हुआ। द्वितीय पेशवा बाजीराव (१७२०-१७४०) ने हिन्दू-पद-पादशाही के सिद्धान्त की घोषणा की जिसका अभिप्राय यह था कि अखिल भारतीय हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की जाय और महाराष्ट्र उसका केन्द्र हो। तृतीय पेशवा बालाजी बाजीराव (१७४०-१७६१) के शासनकाल में यह कल्पना मूर्त स्वरूप हो गयी और मराठा साम्राज्य के अन्तर्गत लगभग

समस्त भारत आ गया। सन् १७५७ में जब मराठों ने अपने मनमाने ढंग से कठपुतली मुगल सम्राट् को सन्धि की शर्तें लिखवायी तब मराठों ने मुगलों की प्रभु-सत्ता को सम्पूर्ण नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। अब दिल्ली में मुगल सम्राट् की केवल छाया ही शासन कर रही थी। परिणामस्वरूप सन् १७६१ ई० में पानीपत के रणक्षेत्र में अफगान शासक अहमदशाह के नेतृत्व में मुस्लिम सत्ताओं और मराठों के बीच संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया। यद्यपि पानीपत के युद्ध का परिणाम मराठों के विपक्ष में हो गया, तथापि वे इस आघात से शीघ्र ही सँभलकर उठ खड़े हुए।

सन् १७६१ ई० के पश्चात् उत्तरी भारत में मराठा शक्ति सामन्तवादी बड़े मराठा नरेशों (ग्वालियर के सिन्धिया, इन्दौर के होल्कर, नागपुर के भोंसले और बड़ौदा के गायकवाड़) द्वारा स्थापित की गयी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थ भाग में अंग्रेजों ने धीरे-धीरे एक के बाद दूसरे इन चारों सत्ताओं को पराजित कर दिया और स्वतन्त्र मराठों का अन्तिम चिह्न विलुप्त हो गया।

मुगलों के अन्तर्गत जीवन[1]

डाक्टर बेनीप्रसाद ने अपने ग्रन्थ 'जहाँगीर' में लिखा है कि "मुगलों का एक सांस्कृतिक साम्राज्य था।" प्रोफेसर शर्मा ने अपनी पुस्तक "The Crescent in India" में मुगल संस्कृति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि मुगल संस्कृति के तत्त्व विशुद्ध रूप से न तो हिन्दू हैं और न मुस्लिम; परन्तु दोनों का सुन्दरतम समन्वय है। प्रारम्भिक मुसलमानों ने प्रत्येक वस्तु जो हिन्दू थी विनष्ट कर दी, पर मुगलों ने उनको अपने में मिलाकर, उनका एकीकरण कर अमर सांस्कृतिक तत्त्वों की रचना की। सच बात तो यह है कि दिल्ली सुलतानों के शासन से उत्तरार्द्ध में सामंजस्य, सहिष्णुता और सहयोग की जो प्रवृत्तियाँ समुदित हुई थीं, मुगल शासन में वे पूर्णतया प्रस्फुटित हुई एवं सुन्दर सांस्कृतिक जीवन की अभिव्यक्ति हुई। इसकी छाप हमारे सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न अंगों पर आज भी दृष्टिगोचर होती है। मुगल शासन में आर्थिक समृद्धि और शान्तिमय जीवन ने इस सांस्कृतिक समन्वय व विकास में पूर्ण सहयोग दिया।

सामाजिक दशा

समाज की रचना—मुगलकाल में समाज सामन्तवादी आधार पर संगठित

---

[1] यह प्रधानतया निम्नलिखित पुस्तकों पर आधारित है :
(a) An Advanced History of India by Dr. R. C. Majumdar and others.
(b) The Cambridge History of India, Vol. IV.
(c) Muslim Rule in India by Dr. Iswari Prasad.

था जिसमें बादशाह सर्वप्रधान था, बादशाह के नीचे शासकीय सामन्त थे जिनके विशिष्ट अधिकार, सुविधाएँ एवं सम्माननीय पद होते थे। यह सामन्त वर्ग इच्छानुकूल शासन चलाता था। इन सामन्तों में विभिन्न श्रेणियाँ व स्तर थे। यद्यपि सामन्तवाद में विदेशी तत्त्व भी सम्मिलित थे, परन्तु किसी को भी धन-द्रव्य बाहर ले जाने की आज्ञा नहीं थी। सामन्तों के नीचे छोटा और मितव्ययी मध्यम-वर्ग था और इसके नीचे निम्न-वर्ग थे।

भोग-विलासपूर्ण उच्च जीवन का स्तर—सामन्त लोग धन-द्रव्य और सुख-सुविधाओं में डूबे रहते थे और धनाढ्य लोग अपने पास साधनों की प्रचुरता के कारण भोग-विलास, ऐश्वर्य और मद्यपान में संलग्न रहते थे। मुगल पदाधिकारी भी आमोद-प्रमोद में अपना जीवन व्यतीत करते थे। भोग-विलास से परिपूर्ण जीवन मुगल राज-दरबार और मुगल-युग के सम्मान के लिए एक आवश्यक वस्तु थी। उच्च वर्गों के वस्त्र, भोजन और जीवन-निर्वाह एवं रहन-सहन में भी विलासिता की आभा झलकती थी। इससे धनवानों और सामन्तों के जीवन-स्तर तथा साधारण लोगों के जीवन-स्तर में वृहद् अन्तर होना स्वाभाविक था। इस युग में भारतीय राजसभाओं और सामन्तों के जीवन में सबसे अधिक आकर्षक तत्त्व भोग-विलास की अतुलनीय भावना थी। बादशाह का दरबार धन और संस्कृति का केन्द्र था। अकबर ने ही मुगल दरबार के दिव्य और शानदार जीवन का सूत्रपात किया। जब कभी सम्राट् बाहर पर्यटन करने जाते थे, तब किसी भी रूप में उनकी शान-शौकत में कमी नहीं होती थी और राजधानी भी अपनी दिव्यता और भव्यता के साथ भ्रमण करती थी। दूरस्थ प्रदेशों में युद्ध-संचालन करते समय भी शाही दरबार के रंग-ढंग में विरक्ति की कोई भावना नहीं रहती थी। सम्राट् दरबार और अपने संरक्षकों का अनुकरण करके सामन्त भी अपव्यय और भोग-विलास का जीवन व्यतीत करते थे। राजवंश, सामन्त और उच्च-वर्ग के लोगों के जीवन का प्रमुख उद्देश्य अधिक से अधिक सुख, विलास व ऐश्वर्य का जीवन व्यतीन करना था, यद्यपि उनमें दानशीलता, वीरता, विद्या-प्रेम आदि गुण थे। उनमें गर्व व आत्मसम्मान कूट-कूट कर भरा था। वे शोषक थे और श्रमिकों व निम्न-श्रेणी के लोगों द्वारा उत्पन्न धन का अपव्यय करते थे। वेश-भूषा, भोजन और जीवन के ढंगों में सामन्तों और उच्च-वर्गों ने ऐश-आराम की भावना प्रदर्शित की। जरी के बेल-बूटेदार कपड़े, छपे हुए रेशम और मलमल के वस्त्र बड़े-बड़े सामन्तों की साधारण वेश-भूषा थी। बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण करना बादशाह और दरबारी अपनी शान समझते थे। भोजन बहुमूल्य, अत्युत्तम, विशिष्ट व स्वादिष्ट होता था जैसा कि सर टॉमस रो ने वर्णन किया है। हिन्दुओं के सादे, रूखे-सूखे भोजन का स्थान अब धनी और उच्च

वर्गों के चटपटे, मसाले वाले बहुमूल्य व विशिष्ट भोजन ने ले लिया था। मध्य पूर्व की बहुमूल्य विविध भोजन सामग्री का उपयोग होने लगा था। मध्य एशिया और ईरानी अमीरों के रीति-रिवाजों का अनुकरण करके हिन्दू सामन्त भी बड़ी-बड़ी दावतें देने लगे थे। दुर्लभ फल, अद्‌भुत उबाले हुए पदार्थ, पाकशास्त्र-कला के अनुसार बनाये गये स्वादिष्ट, रुचिकर भोजन, जिनका विकास ईरान के समाज में हुआ था, भारत में आ गये और शीघ्र ही हिन्दू तथा मुसलमानों दोनों के ही धन-सम्पन्न वर्गों में लोकप्रिय हो गये। मांस भोजन का सामान्य पदार्थ था परन्तु गो मांस प्रायः प्रयुक्त न होता था। फलों का खूब प्रचार था और बहुधा ये बुखारा तथा समरकन्द से मँगाये जाते थे। ग्रीष्मकाल में सभी श्रेणी के लोग बर्फ का प्रयोग करते थे परन्तु सामन्त लोग इसका उपयोग वर्ष भर करते थे। मद्यपान का दुर्व्यसन अधिक था और विदेशों से उत्तम से उत्तम मदिरा मँगाकर उसका उपयोग किया जाता था।

विशाल अन्तःपुर इस युग की साधारण बात थी और राजा से लेकर नीचे सामन्तों तक प्रत्येक बहुसंख्यक स्त्रियों, दासियों और नर्तकियों को रखता था। अबुलफजल के अनुसार अकबर के अन्तःपुर में ५,००० स्त्रियाँ थीं जिनकी देख-रेख महिला अधिकारियों का पृथक मण्डल करता था। अन्तःपुर की इन नारियों पर सहस्रों रुपये व्यय होते थे और अवसर आने पर प्रीतिभोज भी दिये जाते थे। स्त्रियों का कोई महत्त्व न था, वे केवल भोग-विलास की वस्तु समझी जाती थीं।

अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद और खेल-तमाशों में सामन्त लोग भाग लेते थे। सामन्तों व धनवानों के मकान भव्य प्रासाद थे जो अधिक धन व्यय करके सुसज्जित किये गये थे। शाहजहाँ के शासन के अन्तिम वर्षों में सामन्त-गण अपनी प्राचीनतम उपयोगिता को खोने लगे और अधिक पतित होने लगे थे। औरंगजेब के शासनकाल और अठारहवीं सदी में उनमें उत्तरोत्तर पतन होने लगा था। शिक्षित के अभाव, असंयम तथा अत्यधिक मद्यपान ने उन्हें अवनति के गड्ढे में ढकेल दिया था एवं उनके ईर्ष्या-द्वेष, वैमनस्य और षड्यन्त्रों से सामाजिक जीवन दूषित हो गया था।

मध्यम-वर्ग के लोग—मध्यम-वर्ग में प्रायः राजकर्मचारी और व्यापारी सम्मिलित थे। मध्यम-वर्ग के लोग गर्व व बाह्याडम्बर से अधिक व्यय नहीं करते थे। परन्तु वे अपने-अपने धन्धों व व्यवसायों के अनुकूल स्तर के अनुसार रहते थे। राजसभा के निम्न पदाधिकारी अपने-अपने कार्य द्वारा निर्धारित स्तर के अनुसार रहते थे। जैसा प्रसिद्ध इतिहासज्ञ मोरलैण्ड (Moreland) संकेत करते हैं कि इन लोगों का जीवन अपेक्षाकृत सुखी व सम्पन्न था। साधारणतया व्यापारीगण सादा, शान्त और संयमी जीवन व्यतीत करते थे।

या तो वे अपना धन छिपाकर रखते थे अथवा अत्यन्त ही मितव्ययी जीवन व्यतीत करते थे जिससे स्थानीय अधिकारी या फौजदार उन्हें धन से वंचित न कर दें। पश्चिमी समुद्रतट के व्यापारियों ने, जिन्होंने अपने विस्तृत व उन्नत व्यापार से अधिक धन संग्रह किया था, उच्च जीवन-स्तर को बनाये रखा और वे भोग-विलास में रत रहते थे क्योंकि उन्हें अन्य व्यापारियों के समान धनापहरण का भय नहीं था।

निम्न-वर्गों के लोग—निम्न-वर्ग के अन्तर्गत नगर के शिल्पी, श्रमजीवी, ग्रामीण, कृषक आदि थे। उपरोक्त दो श्रेणियों की अपेक्षा इनका जीवन कठोर एवं असन्तोषजनक था। इनके पास वस्त्रों का अभाव रहता था; ऊनी वस्त्र और जूते तो उनकी सामर्थ्य के बाहर थे। साधारण स्थिति में भुखमरी नहीं थी, परन्तु अकाल और दुर्भिक्ष के समय उनके कष्ट अनेक रहे होंगे। फ्रांसिस्को पलसीर्ट (Francisco Palsaert) के वर्णन से हमें विदित होता है कि उस समय लोगों की तीन श्रेणियाँ थीं जिनका स्तर दासता से कुछ ही ऊँचा था। वे श्रमजीवी, चपरासी, सेवक और दुकानदार थे। श्रमजीवियों का कार्य स्वेच्छाकृत नहीं था; वेतन कम था, खाद्य-सामग्री और गृहों में दरिद्रता थी और केन्द्रीय सरकार की दमन-नीति के वे शिकार होते थे। वेतन कम होने से नौकरों की संख्या अत्यधिक थी। उनमें ईमानदारी दुर्लभ थी और अपने वेतन को पूरा करने के लिए वे 'दस्तूर' माँगते थे, यद्यपि दूकानदार धनवान और प्रतिष्ठित होते थे, परन्तु ये साधारणतया अपने धन को छिपाकर रखते थे। इन्हें अत्यधिक हानि उठानी पड़ती थी क्योंकि इन्हें राजा और उसके अधिकारियों को बाजार भावों की अपेक्षा नीची दरों पर वस्तुएँ देनी पड़ती थीं।

अकबर के समय में कृपक सुखी जीवन व्यतीत करते थे क्योंकि राज की माँग निर्दिष्ट थी और उनके प्रति बादशाह की भावना उदार थी। राज्य की ओर से कृपकों का विशेष ध्यान रखा जाता था और राज्य कर्मचारी सरकारी आदेशों के अनुसार उनके साथ नम्रता का व्यवहार करते थे। परन्तु शाहजहाँ के अन्तिम वर्षों में प्रान्तपतियों द्वारा कृपकों को अधिक कष्ट दिये जाते थे; अतः उनकी दशा निकृष्ट होती गयी और दरिद्रता बढ़ने लगी। साधारणतया लोग ईमानदार और वचन के पक्के होते थे एवं उनमें संतोष की मात्रा अधिक थी। इसीलिए उन्होंने प्रचलित राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक प्रतिबन्धों या अन्यायों के विरुद्ध आवाज बुलन्द नहीं की।

मनोरंजन के साधन—उस समय आमोद-प्रमोद के अनेक साधन विद्यमान थे। सभी मुगल बादशाहों को खेल-कूद व्यायाम में अभिरुचि थी। शिकार, पोलो तथा पशुयुद्ध प्रचलित थे और कुश्ती लड़ने तथा कबूतर उड़ाने का शौक भी लोगों को था। इसके अतिरिक्त शतरंज, चौपड़, पाँसा आदि खेल खेलने

में लोग आनन्द लेते थे। मद्यपान से लोग अनभिज्ञ नहीं थे। उच्च वर्ग के लोग सामन्त और औरंगजेब को छोड़कर सभी मुगल बादशाह मद्यपान के आदी थे। "बाबर के आमोद-प्रमोद, हुमायूँ का अफीम की पीनक में धुत रहना, मदिरा के प्रभाव से अकबर का झक्कीपन, अत्यधिक मदिरापान के कारण अकबर के दो पुत्रों की अल्पायु में ही मृत्यु हो जाना और जहाँगीर का मदिरा-प्रेम आदि बातें इस कथन की पुष्टि करती हैं।" मद्य-पान और अफीम-सेवन के अतिरिक्त लोग तम्बाकू भी पीते थे।

वस्त्राभूषण—मुगल युग अपने वस्त्रानुराग के लिए प्रसिद्ध था। जरी के बहुमूल्य वस्त्र व रेशम तथा मलमल के सुन्दर कपड़े उच्च वर्ग के लोग पहनते थे। जाति-चिह्न के अतिरिक्त, जिससे हिन्दू लोग पहचाने जा सकते थे, हिन्दू और मुसलमान दोनों वर्गों के सामन्तों की वेश-भूषा एकसी ही थी। दरबार की शान उन्हें बहुमूल्य वसन और रत्न-जड़ित आभूषण धारण करने के लिए बाध्य करती थी। अबुलफजल के कथनानुसार बादशाह अकबर को प्रति वर्ष एक सहस्त्र वेश बनवाने पड़ते थे जो प्रायः राजसभा में आने वाले लब्ध-प्रतिष्ठ व्यक्तियों में वितरित कर दिये जाते थे। यद्यपि साधारण हिन्दू आज-कल के ही समान धोती पहनते थे, परन्तु उच्च वर्ग के लोग उत्सव समारोह के समय पजामा और अचकन का प्रयोग करते थे। हिन्दुओं ने मुसलमानों की वेश-भूषा और शिष्टाचार अपना लिये थे। आभूषणों का प्रयोग हिन्दू और मुसलमान दोनों ही करते थे।

स्त्रियों की दशा—यद्यपि पर्दा-प्रथा की कठोरता के कारण महिलाओं की स्थिति पतित होती जा रही थी, परन्तु मुगल-युग में कतिपय प्रसिद्ध स्त्रियाँ हो गयी हैं। इस युग की सम्मानित स्त्रियाँ दाराशिकोह की साथिन राजकुमारी जहाँनारा, औरंगजेब की साथिन राजकुमारी रोशनआरा, औरंगजेब की कन्या जेबुन्निसा जिसकी कविताएँ आज भी हम सुनते हैं, अहमदनगर की चाँदबीबी, साम्राज्ञी नूरजहाँ, शिवाजी की माता जीजाबाई और महाराष्ट्र में राजाराम की रानी ताराबाई थीं। पर इनसे तत्कालीन समाज में स्त्रियों की वास्तविक दशा का आभास नहीं होता। संक्षेप में, हिन्दू नारीत्व ने धर्म व रूढ़ि से अपनी शक्ति प्राप्त करते हुए अपनी परम्पराओं को बनाये रखा था, परन्तु इस युग की साधारण प्रगति के अनुपात में महिलाओं की उन्नति के कोई प्रमाण नहीं हैं। हिन्दू स्त्रियों में सती और बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित थी।

सामाजिक रूढ़ियाँ और प्रथाएँ—साधारण मनुष्यों में असंयम का दुर्गुण इतना नहीं था जितना कि धनवान और सामन्तों में था। प्रायः लोग अपने भोजन में संयमित थे और विदेशियों के प्रति शिष्टाचार का व्यवहार करते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही कुशल व्यापारी थे और मुसलमान सभी

प्रकार के व्यवसाय करते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समान रूप से ज्योतिष की भविष्यवाणियों में विश्वास करते थे। प्रत्येक वर्ग के लोग अन्धविश्वासों में डूबे हुए थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्मात्मा पुरुषों के स्मारकों की पूजा करते थे। मनुष्य-पूजा की हीन प्रवृत्ति ने लोगों के चरित्र को निम्न स्तर पर पहुँचा दिया था। हिन्दू, सिक्ख और मुसलमान तीनों वर्गों के लोग गुरुओं, महन्तों और पीरों की सेवा करते थे एवं उनसे चमत्कार-प्रदर्शन की आशा की जाती थी। शियाओं और सुन्नियों में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष था एवं दोनों ही एक दूसरे को काफिर कहते थे। उस युग में दासता का भी आधिक्य था। इसने भारतीय समाज की नैतिकता व बौद्धिक शक्ति को क्षीण कर दिया था। हिन्दू गंगा को पवित्र मानते थे और यात्री उसमें स्नान करते थे। इस युग की प्रमुख सामाजिक प्रथाएँ सती, बाल-विवाह और दहेज की रस्म थीं। अकबर ने यौवनावस्था के पूर्व विवाह करने की प्रथा, पास के सम्बन्धियों से विवाह करने की रस्म, अधिक दहेज को स्वीकार करने एवं बहु-पत्नी विवाह के निषेध करने का प्रयत्न किया था, पर व्यर्थ रहा। जिस प्रकार जमुना नदी की घाटी और पंजाब में जाटों में विधवा विवाह की प्रथा प्रचलित थी, उसी प्रकार महाराष्ट्र में भी कुछ अंशों तक यह प्रथा थी। हिन्दू प्रधानतया होली, दशहरा और रक्षा-बन्धन के त्यौहार मानते थे। इन सुअवसरों पर वे सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करते एवं संगीत का आयोजन करते थे तथा परस्पर प्रीतिभोज देते थे। मुसलमानों के प्रमुख त्यौहार, ईद, बकरीद और मुहर्रम थे। हिन्दुओं के समान वे भी इन त्यौहारों के समय विविध आयोजन करते थे। ईद के अवसर पर गोबध नहीं किया जाता था। जाति और छूआ-छूत की प्रथा भी विद्यमान थी; उसमें किसी प्रकार से शिथिलता न आयी थी।

ट्रेवरनीयर जैसे विदेशी यात्री ने, जो शाहजहाँ के शासनकाल में भारत आया था, हिन्दुओं को मितव्ययी, ईमानदार, संयमी व गम्भीर बतलाकर उनकी प्रशंसा की है। उनका कथन है कि "नैतिकता में हिन्दू अच्छे हैं, विवाह करने पर वे कदाचित् ही अपनी पत्नियों के प्रति अश्रद्धा व अविश्वास रखते हैं। उनमें व्यभिचार का अभाव है और उनके अस्वाभाविक अपराधों के विषय में तो कभी कोई सुनता ही नहीं।"

सामाजिक अधःपतन—शाहजहाँ के शासन के प्रारम्भिक काल में शान्ति, समृद्धि व प्रचुरता थी, परन्तु अन्तिम समय में लोगों की दशा खराब हो गयी थी। उनमें भिखारीपन था। औरंगजेब के शासनकाल में लोगों की दशा अधिक बिगड़ने लगी। मुगल सामन्तों की आन्तरिक नैतिकता, बल और सहन-शक्ति विनष्ट हो गयी थी। स्त्री और मदिरा के अनवरत साहचर्य ने उनकी नैतिकता को समूल नष्ट करने में अधिक योग दिया। जनता का नैतिक स्तर

भी उच्च नहीं था और निम्न श्रेणी के अधिकारी निर्लज्ज होकर बिना किसी हिचक के घूस लेते थे। राज-कर्मचारी जन-कल्याण का किंचित भी ध्यान नहीं रखते थे। मसजिदें भी दुर्गुणों से वंचित नहीं थी। राजसभा विलास-प्रिय, षड्यन्त्रकारी, ईर्ष्यालु एवं चापलूस व्यक्तियों का गढ़ बन गयी थी तथा सामन्तों और दरबारियों की शूरवीरता, विद्वत्ता, उदारता, नैतिकता एवं सत्य-वादिता विलुप्त हो गयी थी। सच्चे धर्म का विश्वास अन्धविश्वासों ने ले लिया था। साधुओं व फकीरों की पूजा दिन-प्रतिदिन बलवती हो रही थी। यन्त्र-मन्त्र, जादू-टोने, तावीज और चमत्कारिक ओषधियों का प्रयोग होने लगा था और कभी-कभी तो साधना-सिद्धि के हेतु नर-बलि भी दे दी जाती थी। मुसलमान वैद्य कभी-कभी रोगियों को स्वस्थ करने के लिए जीवों की चर्बी का उपयोग भी करते थे। अठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में हम सामाजिक प्रथाओं, राजनीति और धर्म तथा कला में असृजनात्मक प्रवृत्ति और पतित परम्पराओं के वातावरण में प्रविष्ट करते हैं।

सामंजस्य और सम्मिश्रण की भावना—इस युग में चारों ओर इस प्रकार पतन होने पर भी आनन्द की एक यह बात थी कि हिन्दुओं और मुसलमानों के कटु राजनीतिक ईर्ष्या-द्वेष होने पर भी दोनों सम्प्रदायों के समन्वय और सम्मिश्रण की प्रवृत्ति थी। फलतः एक नवीन समन्वयात्मक सभ्यता का उत्कर्ष हुआ जो न हिन्दू थी न मुसलमान ही, किन्तु हिन्दू और मुस्लिम दोनों संस्कृतियों के सुन्दर तत्त्वों का मिश्रण थी। हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की भावना के लिए अकबर का शासन महत्त्वशाली है। धार्मिक समन्वय अकबर की दीनइलाही में प्रदर्शित हुआ। उसने वह मानव-धर्म दिया जो जाति-पाँति व संकीर्णता से विमुक्त था, पुरोहितों के प्रभुत्व व बाह्याडम्बर से वंचित था और एकेश्वरवाद व सदाचार पर बल दे रहा था। औरंगजेब के समय सतनामी और नारायणी सम्प्रदायों ने हिन्दू व मुसलमान दोनों को मिलाने का प्रयास किया। सतनामी पन्थ में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्मिलित होते थे। इस पन्थ के अनुयायी पूर्व दिशा की ओर मुँह करके दिन में पाँच बार प्रार्थना करते थे, ईश्वर के नामों में अल्लाह को सम्मिलित करते थे एवं शव को गाड़ते थे। वास्तु-कला में ईरानी और भारतीय शैलियों का सुन्दर समन्वय हुआ जिसका चरम उत्कर्ष अकबर व शाहजहाँ की इमारतों में दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार मुगल चित्र-कला में भी भारतीय व विदेशी चित्र-कलाओं का सुन्दर समन्वय हुआ। उद्यानों की योजना व निर्माण भारतीय कला-क्षेत्र में मुगलों की बड़ी देन है। वसन, रहन-सहन, खान-पान और शिष्टाचार में भी हिन्दू-मुस्लिम समन्वय प्रकट हुआ। हिन्दुओं के विवाह में सेहरा और जामा का प्रयोग होने लगा, वेश-भूषा में पजामा और अचकन का उपयोग होने लगा, भोजन में

बालूशाही, गुलाबजामुन, बरफी, शाहजहाँई पुलाव, जहाँगीरी कबाब आदि नवीन मिठाइयाँ व भोज्य पदार्थ प्रयुक्त होने लगे। हुक्का और तम्बाकू का प्रयोग हिन्दू और मुसलमान दोनों ही करने लगे। पुत्र प्रसव पर दोनों ही सम्प्रदाय सुन्दर संगीत का आयोजन करने लगे। स्त्रियों के आभूषण दोनों में ही समान होने लगे। हिन्दुओं को विभिन्न भाषा—हिन्दी, बँगला व मराठी में सैकड़ों फारसी, अरबी व तुर्की शब्दों की वृद्धि हुई। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही परस्पर एक-दूसरे के त्यौहारों को मानने लगे। यदि हिन्दू मुहर्रम मानने लगे तो सैयद भाइयों में अब्दुल्ला खाँ होली और बसन्त के त्यौहार मानता था। सिराजुद्दौला और मीरजाफर अपने इष्ट मित्रों और सम्बन्धियों से होली खेलते थे और दिल्ली दरबार में तो सन् १८२५ तक भी दुर्गा पूजा का समारोह मनाया जाता था। दौलतराव सिन्धिया अपने अधिकारियों सहित मुसलमानों के समान हरे वस्त्र पहनकर मुहर्रम के समारोह में भाग लेते थे।

आर्थिक दशा

बाबर ने अपनी आत्मकथा में भारत के लोगों की आर्थिक दशा का उल्लेख किया है परन्तु वह वास्तविकता से बहुत दूर है। गुलबदन बेगम के 'हुमायूँनामा' में हिन्दुस्तान में प्रचलित सस्ते भावों का विवरण है और यह बताया गया है कि अमरकोट में बकरे एक रुपये में खरीदे जा सकते थे। शेरशाह के विस्तृत आर्थिक सुधारों ने उसके राज्य में लोगों की आर्थिक दशा में अधिक सुधार किया प्रतीत होता है और अकबर के शासन ने तो शान्ति और समृद्धि का काल ला दिया। देश में खाद्य-सामग्री सस्ती थी और सुकाल में सर्वत्र भोजन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता था। स्मिथ के कथनानुसार अकबर के समय श्रमिकों के पास वर्तमान युग से अधिक खाद्य-सामग्री विद्यमान थी और कतिपय भारतीय इतिहासज्ञ भी इस बात से सहमत हैं। परन्तु मुगलकाल में आधुनिक युग के समान ही समाज के विभिन्न वर्गों में धन का समुचित विभाजन नहीं था। समाज का ढाँचा निम्न वर्ग के शोषण पर ही आश्रित था। इतना होने पर भी लोगों की आर्थिक दशा आज से अधिक श्रेष्ठ थी।

समृद्धिशाली नगर—मुगलों के समय अनेक बड़े-बड़े प्रसिद्ध नगर थे जिनमें समृद्धि और प्रचुरता का राज्य था। लाहौर और आगरा इस समय विश्व के सबसे बड़े नगरों में से थे; खानदेश में बुरहानपुर और गुजरात में अहमदाबाद भी बड़े नगर थे। पूर्वी भारत में बनारस, पटना, राजमहल, वर्दवान, ढाका और हुगली जैसे नगरों में खूब ऐश्वर्य और धन-सम्पन्नता थी। इलाहाबाद, जहाँ अकबर ने बड़ा दुर्ग बनवाया था, शीघ्र ही महत्त्वशाली नगर हो गया, क्योंकि इसकी सामरिक स्थिति थी और इसका नदियों द्वारा होने वाला व्यापार बंगाल के समुद्रतट पर स्थित यूरोपीयों के नवीन व्यापारिक केन्द्रों

के लिए महत्त्वपूर्ण था। आगरा राजधानी थी परन्तु शाहजहाँ के बाद देहली हो गयी।

आवागमन के साधन—सड़कों और नदियों के रूप में व्यापार के हेतु आवागमन के अच्छे साधन थे। साम्राज्य के प्रमुख केन्द्र और नगर सड़कों द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्धित थे। ये सड़कें छायादार वृक्षों की पंक्तियों, प्याउओं और ऐसी सरायों से स्पष्टतया निर्धारित थीं जहाँ यात्री और व्यापारी रात्रि में शान्ति व सुरक्षापूर्वक रह सकते थे। साधारणतया यात्रा सुरक्षित होती थी; यद्यपि कतिपय क्षेत्रों ने लूट-खसोट के लिए कुख्याति प्राप्त की थी, तथापि सड़कों को चोरों, डाकुओं, लुटेरों आदि से सुरक्षित रखने के लिए स्थानीय अधिकारी सफल कार्यवाही करते थे। राज्य में सड़क-निर्माण की प्राचीन परम्पराओं को शूर शासकों ने बनाये रखा और मुगलों ने उनका अनुकरण किया। साम्राज्य के प्रधान केन्द्रों को सड़कों द्वारा सम्बन्धित और नियन्त्रित कर दिया था। शेरशाह ने ग्राण्ड ट्रंक रोड को पूरा किया जो मौर्यों की देन है। बंगाल के साथ, जो साम्राज्य का एक प्रधान प्रान्त था, आवागमन समुचित व्यवस्था में रखा गया था। एक अन्य महत्त्वशाली सड़क आगरे को अहमदाबाद से जोड़ती थी और वहाँ से सूरत होती हुई मक्का के मुख्य द्वार तक जाती थी और विश्व के अन्य व्यापारिक केन्द्रों से सम्बन्ध स्थापित करती थी। यह साम्राज्य की प्रमुख व्यापारिक सड़क थी। दक्षिण भारत में जाने वाली सड़क, दक्षिण के युद्धों के कारण जो साम्राज्यवादी नीति का नियमित अंग थी, अच्छी दशा में रखी जाती थी। नदियाँ भी माल लाने-ले जाने के लिए श्रेष्ठ साधन थीं। गंगा नदी का जलमार्ग अधिक लोकप्रिय था और इलाहाबाद से बंगाल के लिए नावों के बेड़े नियमित रूप से चलते थे। वास्तव में गंगा नदी के द्वारा जलमार्गों की पूर्ति होती थी।

कृषि—देश में कृषि कार्य खूब होता था और अकबर ने इसकी उन्नति के लिए विशेष प्रयास किया था। इस समय की फसलें अधिकांश में आज के ही समान थीं। गन्ना और नील, कपास और रेशम देश के कतिपय क्षेत्रों में विस्तृत रूप से होते थे। लोगों ने तम्बाकू की खेती प्रारम्भ की थी जो सन् १६०४ या १६०५ के प्रारम्भ में प्रस्तावित की गयी थी। कृषि के औजार भी अधिकतर वे ही थे जो आज हैं। सिंचाई के साधनों का अभाव था। अन्य वर्गों के लोगों की अपेक्षा निस्सन्देह कृषक अधिक समृद्ध थे। परन्तु स्थानीय अधिकारी उन्हें अधिक तंग करते थे और उनसे अधिक वसूली भी करते थे। निरन्तर दीर्घकालीन युद्धों और सैनिकों के आवागमन से, जिससे फसलों को खूब क्षति होती थी, कृषकों को अधिक कष्ट झेलने पड़ते थे।

अकाल, महामारी और संक्रामक रोग—अकालों के समय लोगों और

कृषकों के कष्टों का कोई अन्त नहीं था, क्योंकि तत्कालीन मुगल राज्य सहायता कार्य के लिए व्यवस्थित और दीर्घकालीन कार्यवाही नहीं करता था और न भूमि-कर-संग्रह में कोई विशेष कमी ही करता था। जो कुछ भी मुगल राज्य ने किया वह उन अपरिमित लोगों के तीव्र कष्टों को कम करने के लिए अपर्याप्त था जो भुखमरी और उसके बाद आने वाले भीषण संक्रामक रोगों से मर जाते थे। उस समय देश में प्रचलित रोगों में हैजा और इन्फ्लुएंजा मुख्य थे।

उद्योग-धन्धे और हस्त-कला-कौशल—इस युग में लोगों के विस्तृत और विविध उद्योग-व्यवसाय थे। व्यवसायी सामन्तों और कुलीन वंशों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के अतिरिक्त एशिया के अनेक भागों और यूरोप से आने वाले व्यापारियों की माँगों को भी पूरा कर सकते थे। इस युग का सबसे अधिक महत्त्वशाली व्यवसाय सूती कपड़ों को बनाना था। सूती कपड़े का व्यवसाय किसी एक क्षेत्र तक सीमित नहीं था परन्तु सम्पूर्ण देश इस व्यवसाय में भाग लेता था। सूती कपड़े बुनने के प्रमुख केन्द्र सम्पूर्ण देश में व्याप्त थे, उदाहरण के लिए गुजरात में पाटण, खानदेश में बुरहानपुर, संयुक्त प्रान्त में बनारस व जौनपुर, बिहार में पटना व बंगाल में ढाका और अन्य स्थान सुन्दर महीन मलमल के वस्त्र बनाने के लिए प्रसिद्ध थे। मध्य भारत में चन्देरी अपने सुन्दर कपड़ों के लिए प्रसिद्ध था। मछलीपट्टम कपड़ों की छपाई, सूरत गोटा-किनारी, बनारस जरी के बेल-बूटों के कपड़ों, लाहौर शालों, फतहपुर-सीकरी दरियों और ढाका सूती कपड़ों के लिए प्रसिद्ध थे। रँगाई का व्यवसाय भी समृद्ध दशा में था। मोटा सूती कपड़ा या तो रँगा जाता था या उस पर अच्छे रंग के विविध मनोरम पुष्प और आकृतियाँ ऐसी छापी जाती थीं कि उन्हें पानी से धोकर नष्ट नहीं किया जा सकता था। भारत में उस समय हर प्रकार के कपड़ों की बुनाई होती थी और केवल यहीं से कपड़े उत्तमाशा अन्तरीप के पूर्व, मध्य-पूर्व, ब्रह्मा, मलाया, जावा आदि देशों को भेजे जाते थे।

अकबर के शासनकाल में राजकीय संरक्षण के कारण रेशम के व्यवसाय को खूब प्रोत्साहन मिला। लाहौर, आगरा, फतहपुरसीकरी और गुजरात के अतिरिक्त रेशम के उत्पादन और रेशमी वस्त्रों के बनाने के लिए बंगाल भी एक प्रमुख केन्द्र था। ऊनी कपड़े विशेषकर मोटे कम्बल बुने जाते थे। काश्मीरी शालें आजकल के समान विलासयुक्त वस्तुएँ मानी जाती थीं। यद्यपि भारत ने अपनी प्राचीन सामुद्रिक प्रभुता खो दी थी, तथापि इस समय तक पोत-निर्माण का व्यवसाय विलुप्त नहीं हुआ था और समकालीन साहित्य में इस विषय के हवाले हैं। कच्छ, खम्भात और अन्य बन्दरगाहों वाले नगरों में विशाल आकार के पोत बनाये जाते थे। मुगलों ने बंगाल के समुद्र में अपना एक सामुद्रिक स्थान निर्दिष्ट कर लिया था जहाँ वे पोत का निर्माण करते थे।

इस युग में भारतीय पोत-निर्माण-कला ने इतना अधिक यश प्राप्त किया था कि पुर्तगालियों ने उस समय अपने सर्वश्रेष्ठ पोतों का निर्माण भारत में करवाया था। सज्जीखार या शोरा, जो भारत में बारूद बनाने के लिए प्रधानतया प्रयुक्त होता था और जिसे अंग्रेज व डच व्यापारी देश से बाहर भेजते थे, भारत के विविध प्रदेशों में तैयार किया जाता था और विशेषकर बिहार तथा दक्षिणी भारत में।

मुगलकाल में इन प्रमुख व्यवसायों के अतिरिक्त अनेक हस्त-कला-कौशल भी थे। विविध विलक्षण पेटियाँ, ट्रंक, कलमदान, मसी-पात्र, अलंकृत तश्तरियाँ, लेखन-सामग्री की छोटी सन्दूकचियाँ जो हाथी-दाँत तथा लकड़ी की बनी होती थीं तथा ऐसी ही अन्य वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में बनायी जाती थीं।

राज्य वस्तुओं के अधिक से अधिक उत्पादन के लिए सतत् प्रयत्नशील था एवं उसकी ओर से विभिन्न स्थानों पर कारखाने खोले गये थे, जहाँ बहुमूल्य वस्तुएँ बनायी जाती थीं। लाहौर, आगरा, फतहपुरसीकरी और अहमदाबाद में राजकीय कारखानों में राज्य के लिए सभी प्रकार के शिल्पी कार्य करते थे। सत्रहवीं शताब्दी में भ्रमण करते हुए बर्नियर ने ऐसे अनेक कारखाने देखे थे। प्रान्तपतियों को प्रान्तीय वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहित करना पड़ता था क्योंकि उन्हें अपने क्षेत्र में उत्पन्न सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं को सम्राट् को भेंट-स्वरूप देना पड़ता था। परन्तु बर्नियर के कथनानुसार जुलाहों और हस्त-कला-कौशल के शिल्पियों के साथ उचित व्यवहार नहीं होता था। सामन्त और अधिकारीगण उन्हें सस्ते भावों में अपनी वस्तुएँ बेचने के लिए बाध्य करते थे।

कीमतें—देश में सर्वत्र खाद्य-सामग्री की प्रचुरता के कारण वस्तुओं में प्रमुखतया खाने-पीने की साधारण वस्तुओं जैसे चावल, साग-भाजी, मसाले, मांस, दूध आदि की कीमतें बहुत ही कम थीं। एक हिन्दुस्तानी और काश्मीरी भेड़ प्रत्येक एक रुपये आठ आने में खरीदी जा सकती थी और दिल्ली के प्रान्त में एक गाय दस रुपये में मोल ली जा सकती थी और पैंसठ 'दाम' प्रति मन के भाव से मांस बेचा जा सकता था (उस समय एक मन आजकल के चालीस सेर के मन का दो-तिहाई होता था)। श्रमिक के वेतन बहुत कम थे। अकुशल श्रमजीवी प्रायः प्रतिदिन दो 'दाम' या एक रुपये का बीसवाँ भाग उपार्जन करता था और उच्चतम श्रमजीवी को प्रतिदिन ७ 'दाम' या लगभग तीन आने मिलते थे। परन्तु "यह निश्चित है कि मुगलों के अन्तर्गत जन-साधारण के लिए प्रचुरता व धन-सम्पन्नता का कोई स्वर्णयुग नहीं था, क्योंकि यद्यपि वस्तुओं के भाव सस्ते थे, तथापि औसत आमदनी अनुपात से कम और कदाचित् अधिक कम थी। फिर भी वे दुख व कष्ट में उद्विग्न और असन्तोष में व्यथित नहीं थे।"

टकसाल, सिक्के और तौल—शेरशाह और अकबर ने राज्य के सिक्कों को नियमित करने का प्रयास किया। दिल्ली में केन्द्रीय सरकार की टकसाल के अतिरिक्त बंगाल, लाहौर, जौनपुर, अहमदाबाद, पटना और बाद में सूरत में भी प्रान्तीय टकसालें थीं। अकबर ने स्वर्ण, चाँदी और ताम्र के सिक्के प्रचलित किये थे। विभिन्न वजन व मूल्य के कम से कम छब्बीस प्रकार के स्वर्ण सिक्के थे। अकबर ने वर्गाकार चाँदी का रुपया प्रचलित किया जिसे 'जलाली' कहते थे। शेरशाह और अकबर के शासनकाल में ताँबे के प्रमुख सिक्के को 'दाम' या 'पैसा' भी कहते थे। धनवानों और गरीबों दोनों के लिए यह अधिक प्रयोग में आने वाला सिक्का था और हिसाब के लिए यह पच्चीस 'जीतल' में विभाजित था। साम्राज्य में व्यापारिक लेन-देन स्वर्ण की गोल 'मुहरों' रुपयों और 'दामों' में होता था। मुगल राज्य के सिक्के और विशेषकर अकबर के काल के सिक्के "धातु की विशुद्धता, वजन की पूर्णता और कलापूर्ण कार्यान्विति (execution) में सर्वश्रेष्ठ थे।"

तौल की साधारण इकाइयाँ 'सेर' और 'मन' थे परन्तु अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के काल के 'सेर' तौल में भिन्न थे। अकबर का 'मन' ५४$\frac{१}{२}$ पौण्ड के बराबर या लगभग चालीस सेर के वर्तमान मन के दो तिहाई के बराबर होता था।

विदेशी व्यापार—मुगल शासन के अधिकांश समय तक भारत यूरोप व एशिया के विभिन्न देशों से सक्रिय रूप से अत्यधिक विदेशी व्यापार करता रहा। वस्तुओं को बाहर भेजने के लिए उत्तर-पश्चिम में दो प्रमुख थलमार्ग थे—प्रथम, लाहौर से काबुल तक और द्वितीय, मुलतान से कन्धार तक। सिन्ध में लाहौरी बन्दर; गुजरात में सूरत, भड़ौंच, खम्भात, रत्नागिरि जिले में बेसीन और चोल; बम्बई प्रान्त में गोआ और उत्कल; मलाबार में कालीकट और कोचीन; पूर्वी समुद्रतट पर नीगापट्टम, मछलीपट्टम और कतिपय छोटे बन्दरगाह और बंगाल में सीतागाँव, श्रीपुर, चिटगाँव और सोनागाँव प्रमुख बन्दरगाह थे। सूरत पश्चिमी व्यापार की मण्डी और मक्का का प्रवेश-द्वार था। सूरत विश्व-बन्धुत्व का नगर था जहाँ सभी देशों के व्यापारीगण परस्पर मिलते और लेन-देन करते थे और इस बन्दरगाह में सभी देशों के सौ से अधिक जलपोत लंगर डाले पड़े रहते थे।

यूरोप से आने वाली प्रमुख वस्तुओं में सोना-चाँदी, कच्चा रेशम, अश्व-धातु, हाथीदाँत, मूँगा, कस्तूरी, बहुमूल्य रत्न, मलमल, जरी के कपड़े, सुगन्धित द्रव, ओषधियाँ, चीनी मिट्टी का सामान और अफ्रीका के गुलाम थे और देश से बाहर भेजी जाने वाली वस्तुओं में विविध वस्त्र, काली मिर्च, नील, अफीम, अन्य ओषधियाँ तथा अनेक प्रकार का माल होता था। राज्य द्वारा निर्दिष्ट

चुंगी बहुत अधिक नहीं थी और इससे विदेशी व्यापारियों को खूब प्रोत्साहन मिला था। परन्तु देश की अधिकांश जनता निर्धन थी और मध्यम वर्ग में कतिपय व्यक्ति धनी थे, इससे विदेशी वस्तुओं की ओर अपनी अभिरुचि प्रकट कर सकने में वे सर्वथा असमर्थ थे। अतएव जनसाधारण में बाह्य-वस्तुएँ मँगाने का उत्साह नहीं था। इसके अतिरिक्त देश की आन्तरिक स्थिति इतनी अव्यवस्थित और असंगठित थी कि देश के आन्तरिक व्यापार की प्रगति असम्भव-सी हो गयी थी। वस्तु उत्पादकों के लिए शाही कानून का अभाव था। अतएव या तो वे प्रान्तीय अधिकारियों की अनुकम्पा पर निर्भर रहते थे अथवा उनकी दमन-नीति के शिकार हो जाते थे। अकबर के शासनकाल के व्यापार का महत्त्वशाली तत्त्व अंग्रेजों और डच लोगों की व्यापारिक गतिविधि थी। इन्होंने देश के विभिन्न स्थानों में धीरे-धीरे अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिये थे और देश के समृद्ध प्रदेशों में इनका प्रसार तीव्रगति से हो रहा था।

आर्थिक पतन—औरंगजेब के राज्यकाल में वाणिज्य व्यवसाय तथा कृषि की अवनति होने लगी थी। उसके काल के अनवरत युद्धों, शासन के दिवालियापन और राज कोष के नष्ट निधित्व से शान्ति और राजनीतिक व्यवस्था विलुप्त हो गयी थी। सैनिकों के अनवरत आवागमन से फसलों को क्षति पहुँचती थी एवं चतुर्दिक विद्रोह व अशान्ति के कारण सड़कें अरक्षित हो गयी थीं। सुरक्षा व शान्ति के अभाव में व्यापार को भारी आघात लगा। इन सबका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि आर्थिक पतन हो गया, कृषि विनष्ट हो गयी और उद्योग तथा हस्त-कला-कौशल इतने बुरे प्रकार से प्रभावित हुए कि कुछ समय के लिए व्यापार लगभग स्थगित-सा हो गया। बर्नियर ने शिल्प-कलाओं और हस्त-कला-कौशल के पतन और देश की अव्यवस्थित दशा का विस्तृत वर्णन किया है। सर जदुनाथ सरकार ने ठीक ही कहा है कि "इस प्रकार भारत की आर्थिक शक्तिहीनता और दरिद्रता का प्रारम्भ हुआ। राष्ट्रीय भण्डार में ही कमी नहीं हुई थी परन्तु यान्त्रिक दक्षता (mechanical skill) और सभ्यता के स्तर शीघ्र ही निम्न हो गये थे और देश के विस्तृत क्षेत्रों में कला और संकृति विलुप्त हो गयी थी।"

शिक्षा

शिक्षा, व्यक्तिगत विषय—मुगलकालीन भारत में राज्य ने वर्तमान शिक्षा प्रणाली के समान कोई शिक्षा पद्धति न तो स्थापित की थी और न किसी विशिष्ट प्रथा को ही बनाये रखा था। हिन्दू और मुसलमान दोनों में ही शिक्षा धर्म की चेरी थी, एक व्यक्तिगत विषय था। मुगल राज्य ने नागरिकों को शिक्षित करना राज्य का कर्तव्य नहीं माना था फलस्वरूप शिक्षा का कोई विभाग नहीं था। बादशाह मसजिदों, मठों, विहारों, व्यक्तिगत सन्तों और

विद्वानों को धन या भूमि के रूप में अनुदान देते थे। यह राजनीतिक नहीं वरन् एक धार्मिक कर्तव्य माना जाता था और अनुदानों को लेने वाले व्यक्ति इस धन से शालाएँ चलाने के लिए बाध्य नहीं थे। परन्तु व्यावहारिक रूप में लगभग प्रत्येक मसजिद में एक नवीन मकतब (प्राथमिक शाला) होता था जहाँ पड़ोस के बालक-बालिकाएँ प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करते थे। इसमें मसजिद का मुल्ला बच्चों को कुरान कण्ठाग्र करवाता था। सुन्दर आकर्षक लेखनकला का अभ्यास कराया जाता था और यदि कोई बालक हस्त-कला-कौशल या अन्य विशिष्ट धन्धा सीखना चाहता था तो उसे किसी 'उस्ताद' के पास शिष्य (apprentice) बनकर रहना पड़ता था। मकतब की शिक्षा समाप्त करने के बाद उच्च शिक्षा के इच्छुक व्यक्ति मदरसा या कॉलेज में जाते थे, जहाँ अध्ययन के विषय प्रधानता धार्मिक थे और वहाँ पढ़ाये जाने वाले प्रमुख विषय धर्मशास्त्र, गणित और भौतिक-विज्ञान थे। मकतबों के अतिरिक्त हिन्दी, संस्कृत और देशज भाषाओं की पाठशालाएँ भी नागरिक और ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यार्थियों के लाभार्थ कार्य करती थीं। यद्यपि मुगलकाल के कतिपय विहारों में विद्वान आचार्य और धर्मशास्त्रज्ञ अवश्य थे, परन्तु ये बौद्धयुग के विहारों तथा यूरोप के ईसाई मठों के समान शिक्षा और ज्ञान केन्द्र नहीं थे। फिर भी कतिपय नगरों में कुलागात मुसलमान विद्वानों के ऐसे परिवार थे जिनका यश देश के सभी भागों से विद्यार्थियों को आकर्षित करता था और जो व्यावहारिक रूप में विद्यालय और महाविद्यालय स्थायी रूप से चलाते तथा उनके विशिष्ट विषयों में सर्वोच्च शिक्षा देते थे।

शिक्षा का माध्यम अरबी भाषा—यद्यपि तेरहवीं सदी से अरबी मृत भाषा हो गयी थी, तथापि सर्वोच्च मुस्लिम शिक्षा इसी भाषा के माध्यम द्वारा दी जाती थी। धर्म-ज्ञान की पुस्तकें तो इस भाषा में थी हीं परन्तु विज्ञान की पुस्तकें भी इसमें विद्यमान थीं। यूरोप में फ्रेंच भाषा के समान ही फारसी का भी अध्ययन सुसंस्कृत समाज में निपुणता व शिष्टाचार के हेतु किया जाता था। सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक मुस्लिम विद्यार्थी मक्का जाया करते थे और अपनी शिक्षा को पूर्णता का अन्तिम रूप देने के लिए मक्का में एक वर्ष तक रहते थे। भारत में उस समय मक्का की उपाधि का सबसे अधिक सम्मान होता था और काजी बनने के लिए यह उपाधि प्रायः अनिवार्य योग्यता मानी जाती थी। अधिकतर राजकुमारों के शिक्षक इसी वर्ग के व्यक्तियों में से चुने जाते थे।

स्त्री-शिक्षा—पर्दा-प्रथा होने के कारण स्त्रियाँ सर्वसाधारण संस्थाओं में शिक्षा के हेतु नहीं जाती थीं। परन्तु लगभग प्रत्येक अमीर या सामन्त के भवनों में एक अध्यापिका रखी जाती थी और मुगल सम्राट् अपनी राज-

कुमारियों को पढ़ाने के लिए विदुषी ईरानी स्त्रियाँ रखते थे। स्त्रियाँ धर्मशास्त्रों की अपेक्षा अन्य विषयों का और अरबी की अपेक्षा फारसी का अध्ययन करती थीं। परन्तु उन सभी स्त्रियों को जिन्होंने अपने अध्ययन में प्रगति की थी कुरान को कण्ठाग्र करना पड़ता था। ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक मुस्लिम नारियाँ स्वयं लेखिकाएँ और साहित्य की संरक्षिकाएँ थीं। गुलबदन बेगम की आत्म-कथा प्रसिद्ध है और अकबर की धाय आहम अनगा ने दिल्ली में एक कॉलिज के लिए अनुदान दिया था। कतिपय मुगल राजकुमारियाँ जैसे अकबर की पत्नी सलीम सुल्ताना, जेबुन्निसा, नूरजहाँ, मुमताजमहल और जहाँनारा साहित्य में लब्ध-प्रतिष्ठित थीं। बहुत दुर्लभ उदाहरणों को छोड़कर, जहाँ पिता स्वयं शिक्षक बन घर में पढ़ाता था मध्यम-वर्ग के लोग प्रायः अपनी कन्याओं को शिक्षा से अनभिज्ञ रखते थे। अरब और फारस देश के विपरीत भारत में लड़के-लड़कियों की सह-शिक्षा एक साथ नहीं होती थी और गरीब लोगों की कन्याएँ तो निरक्षर ही रह जाती थीं।

शिक्षा को राजकीय संरक्षण—मुगल सम्राट शिक्षा के संरक्षक थे। हुमायूँ पुस्तकों का बड़ा शौकीन था। उसने दिल्ली में एक मदरसा स्थापित करवाया और पुराने किले में शेरशाह द्वारा निर्मित आमोद-प्रमोद के भवन को ग्रन्थालय में परिवर्तित कर दिया। अकबर का शासनकाल विद्यालयों और महाविद्यालयों की शिक्षा की प्रगति में युग-प्रवर्तक है। उसने फतहपुरसीकरी, आगरा और अन्य स्थानों में महाविद्यालय निर्मित कराये और पुस्तकों तथा अध्ययन-प्रणालियों में कतिपय परिवर्तन किये। जहाँगीर ने अपने साम्राज्य में यह नियम जारी किया था कि जब कभी किसी धनवान व्यक्ति या यात्री का बिना उत्तराधिकारी के देहावसान हो जाय तो उसकी सम्पत्ति मदरसों, मठों आदि के निर्माण और जीर्णोद्धार के लिए राज्य-कोष में सम्मिलित की जाय। अपने राज्यारोहण के बाद जहाँगीर ने उन मदरसों का जीर्णोद्धार किया जो तीस वर्ष से पशु-पक्षियों के निवासस्थान बन गये थे और उन्हें विद्यार्थियों, शिक्षकों और आचार्य से पूर्ण कर दिया। शाहजहाँ ने पुरस्कार देकर शिक्षा को प्रोत्साहित किया और दारुवक नामक महाविद्यालय का, जो लगभग नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था, जीर्णोद्धार किया। मुगल राजवंश का सबसे महान् विद्वान राजकुमार दाराशिकोह था। यद्यपि औरंगजेब ने हिन्दू पाठशालाओं और मन्दिरों को विध्वंस कर दिया था, तथापि उसने मुस्लिम युवकों की शिक्षा को विविध प्रकार से प्रोत्साहित किया और 'अनेक महाविद्यालय और शालाओं' को स्थापित किया।

साहित्य

मुगल सम्राट् साहित्य के संरक्षक थे और इसकी विभिन्न शाखाओं के विकास को उन्होंने खूब प्रेरणा दी। सम्राट् ही नहीं परन्तु हुमायूँ की माता से

लेकर औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा तक अन्तःपुर की स्त्रियाँ भी साहित्य और कला की संरक्षिकाएँ थीं। वे सुन्दर वस्तुओं, उद्यानों, चित्रकारी के कामों, जरी के कामों और सुन्दर भवनों को अधिक पसन्द करती थीं। बाबर और जहाँगीर ने स्वयं अपनी-अपनी आत्म-कथा लिखी है। अकबर के राज्याश्रय में अनेक विचारक और विद्वान् समृद्ध हुए और उन्होंने रुचिकर एवं महत्त्वशाली ग्रन्थों की रचना की। अकबर में विद्वानों के प्रति उत्तम आदर व श्रद्धा की भावना थी, तथा धर्मों व दार्शनिक कार्यों में उसका प्रगाढ़ स्नेह था। इसके फलस्वरूप एशिया के विविध प्रदेशों के विद्वान्, कवि और साहित्यिक उसकी राजसभा में एकत्र हुए थे।

फारसी साहित्य—अकबर के काल का फारसी साहित्य तीन भागों में विभक्त किया जाता है—(अ) ऐतिहासिक ग्रन्थ, (ब) अनुवाद, और (स) काव्य-ग्रन्थ। इस युग के प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ मुल्ला दाउद रचित 'तारीख-ए-अल्फी', अबुलफजल द्वारा लिखित 'आईन-ए-अकबरी' और 'अकबरनामा', बदायूनी द्वारा लिखी हुई 'मुन्तखब-उत-तवारीख' निजामुद्दीन अहमद की 'तबकात-ए-अकबरी', फैजी सरहिन्दी का 'अकबरनामा' और अब्दुल बाकी का 'मासीर-ए-रहीमा' हैं। अकबर के समय का फारसी का सबसे प्रसिद्ध लेखक अबुलफजल था। उसकी रचनाएँ विचारात्मक और राजनीतिक आधार पर होती थीं। वह एक बड़ा विद्वान्, कवि, लेखक, निबन्धकार, समालोचक और इतिहासज्ञ था। हिन्दुओं के उच्च साहित्य का फारसी में अनुवाद करने की दृष्टि से भी वह प्रख्यात था। अकबर की आज्ञा से संस्कृत और अन्य भाषाओं के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद फारसी में हुआ था। अनेक मुस्लिम विद्वानों ने महाभारत के विविध भागों का फारसी में अनुवाद किया और 'रज्म नामाह' के नाम से इनका संकलन हुआ। सन् १५८९ ई० में बदायूनी ने रामायण का अनुवाद पूर्ण किया, हाजी इब्राहीम सरहिन्दी ने अथर्ववेद का अनुवाद किया, फैजी ने गणित के ग्रन्थ 'लीलावती' का अनुवाद और मुहम्मदखाँ गुजराती ने ज्योतिष पर लिखे एक निबन्ध का फारसी भाषा में अनुवाद किया। कुछ यूनानी और अरबी भाषा के ग्रन्थ भी फारसी में अनुवाद हुए। इस युग में गद्य और पद्य दोनों में ग्रन्थों की रचना हुई। अकबर के संरक्षण में अनेक कवियों ने अच्छे काव्य-ग्रन्थों की रचना की। इन कवियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध गिजाली, फैजी, गजलों का लेखक मुहम्मद हुसेन नजीरी और कसीदों का लेखक सैयद जमालुद्दीन उर्फी थे। गिजाली के प्रमुख ग्रन्थ 'मीर-तुल-केनात', 'नक्श-ए-वदीद' और 'इसरार-ए-मतूकब' हैं। अकबर के दरबार का यह प्रतिभाशाली कवि था। फैजी भी राजसभा का प्रमुख कवि था परन्तु वह फारसी भाषा में हिन्दू ग्रन्थों के अनुवाद के नाते अधिक प्रसिद्ध था। अब्दुर-

रहीम खान-ए-खाना जो दरबार का प्रमुख अमीर था फारसी भाषा का प्रसिद्ध विद्वान् और कवि भी था।

जहाँगीर को भी सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक रुचि थी और वह भी विद्वानों को राज्याश्रय देता था। वह विद्वानों का आदर करता था। उसके दरबार को सुशोभित करने वालों में गयास बेग, नकीबखाँ, नियामतुल्ला और अब्दुल हक प्रसिद्ध थे। उसके शासनकाल में कतिपय ऐतिहासिक ग्रन्थ भी लिखे गये थे। शाहजहाँ ने भी विद्वानों को राज्याश्रय देने में अपने पिता का अनुकरण किया। अनेक कवियों और धर्मशास्त्र के अतिरिक्त 'पादशाहनामा' के रचयिता अब्दुल हमन लाहौरी और 'शाहजहाँनामा' के लेखक इनायतखाँ जैसे प्रसिद्ध इतिहासज्ञ भी थे। राजकुमार दाराशिकोह के विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ फारसी भाषा के श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। उसने भगवद्गीता, उपनिषद और योगवशिष्ठ का फारसी में अनुवाद किया और मौलिक ग्रन्थ भी लिखे। कट्टर सुन्नी होने पर भी औरंगजेब मुस्लिम धर्मशास्त्रों और न्यायशास्त्र का उच्चकोटि का विद्वान् था। उसके आदेशानुसार 'फतवा-ए-आलमगीरी' की रचना हुई। उसके शासन-काल में 'आलमगीरनामा', 'मासिर-ए-आलमगीरी' तथा 'खुलासत-उत-तवारीख' जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे गये।

ग्रन्थालय—ग्रन्थों के लिए मुगल सम्राटों की अभिरुचि के फलस्वरूप शाही ग्रन्थालय की स्थापना हुई जो प्रत्येक प्रकार के साहित्य का खजाना बन गया। अकबर के शासनकाल में इस ग्रन्थालय में २४,००० हस्तलिखित ग्रन्थ थे जिनमें से अनेक सम्राट् के लिए चित्रित और नकल किये गये थे। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ ग्रन्थों के महान् संग्रहकर्ता थे और हिन्दू तथा मुसल-मान दोनों समुदाय के सामन्तों ने शाही दरबार का अनुकरण किया। उत्तरी भारत में हस्तलिखित ग्रन्थों के बड़े-बड़े व्यक्तिगत पुस्तकालयों का आविर्भाव इसी काल में हुआ। बीकानेर की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, जयपुर का पोथीखाना और जैसलमेर का ग्रन्थों का बड़ा संग्रह ऐसे मध्यकालीन ग्रन्थालयों के उदाहरण हैं।

देशज भाषाओं का साहित्य—अकबर द्वारा स्थापित शान्ति और सुव्यवस्था इस युग के धार्मिक आन्दोलनों के विश्व-हितैषी भावों और सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा में सन्तों के उपदेशों ने साहित्यिक प्रतिभाओं को सुमन की पंखड़ियों के समान अभिव्यक्त और विकसित होने को प्रेरित किया। इसके परिणामस्वरूप कई अर्थों में सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी हिन्दुओं के ज्ञान-विकास का युग था। इसके अतिरिक्त इन सदियों को हिन्दुस्तानी साहित्य का 'अगस्टन युग (Augustan Age) भी कहा जाता है। देशज भाषाओं के साहित्य का निम्नलिखित विवेचन इस कथन की पुष्टि कर देगा।

हिन्दी साहित्य—हिन्दी में सन् १५२६ ई० के बाद प्रसिद्ध महाकाव्य 'पद्मावत' के रचयिता मलिक मुहम्मद जायसी प्रथम प्रसिद्ध लेखक हुए। इस ग्रन्थ में चित्तौड़ की रानी पद्मिनी की कहानी है। अकबर का शासनकाल हिन्दी साहित्य के लिए स्वर्णयुग प्रमाणित हुआ। हिन्दी कविता में अकबर की तीव्र अभिरुचि और राज्याश्रय ने हिन्दी साहित्य को खूब प्रोत्साहित किया। अकबर की शानदार विजयों और शासन-सुधारों ने एक नवीन युग का सूत्रपात किया। सोलहवीं सदी का उत्तरार्द्ध कल्पना की प्रचुरता और दिव्य अभिव्यक्ति का युग था—यह उन साहसी कार्यों का काल था जिसने मनुष्य की सर्वोत्कृष्ट शक्तियों को प्रदर्शित किया। कवियों, विचारकों, लेखकों और विद्वानों ने देशज भाषाओं के साहित्य को देदीप्यमान कर दिया। अकबर के दरबारियों में राजा बीरबल, राजा मानसिंह, राजा भगवानदास और पृथ्वीराज राठौर प्रसिद्ध कवि थे। राजा टोडरमल ने हिन्दुओं के धर्मशास्त्र पर एक विचारपूर्ण पुस्तक लिखी है और हिन्दी में कविताएँ भी रची हैं। पृथ्वीराज राठौर वेलिकृष्ण राग के लेखक थे। परन्तु अकबर के दरबारियों में सबसे अधिक लब्ध-प्रतिष्ठ प्रतिभा-सम्पन्न कवि अब्दुररहीम खान-ए-खाना था जिसके दोहे आज भी अधिक अभिरुचि और उत्साह से पढ़े जाते हैं। इसके द्वारा लिखित 'रहीम सतसई' का हिन्दी साहित्य में आदरणीय स्थान है। नरहरि, करण, हरीनाथ और गंग भी अकबर के दरबार के प्रसिद्ध हिन्दी लेखक व कवि थे।

इस युग का अधिकांश साहित्य धार्मिक था। कृष्ण या राम की जीवन-गाथाएँ ही इस युग की अधिकांश कविता के विषय थे। कृष्ण-उपासना के अनेक लेखक जमुना नदी की घाटी में ब्रज-भूमि में रहते थे। इनमें से आठ प्रसिद्ध व्यक्तियों को 'अष्टछाप' नाम दिया गया है जिनमें सूरदास सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। इन्होंने ब्रज-भाषा में अपनी काव्य रचना करके अपने ग्रन्थ 'सूर-सागर' में कृष्ण के प्रारम्भिक जीवन की क्रीड़ाओं का वर्णन किया है और कृष्ण तथा उनकी प्रेमिका राधा के सौन्दर्य पर अनेक छन्दों की रचना की है। इनके सरस तथा मार्मिक छन्द अपनी मधुरता तथा हृदयहारिता के लिए हिन्दी साहित्य की अनुपम कृति हैं। इन्होंने ब्रज-भाषा का प्रयोग कर उसे साहित्य का रूप दिया। अष्टछाप के अन्य प्रसिद्ध कवि नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्द-दास, कुम्भनदास व चतुर्भुजदास हैं। हिन्दी का प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवि रसखान वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलदास का शिष्य था और अनेक सरस छन्दों का रचयिता था। राममार्गी लेखकों में सबसे अधिक प्रसिद्ध तुलसीदास थे। उन्होंने लोगों की बोलचाल की भाषा में लिखा और इसलिए उन्हें भारत का कवि कहा जा सकता है। वे उच्चकोटि के कवि ही नहीं थे वरन् एक आध्यात्मिक गुरु भी थे जिनका नाम आज भी घर-घर में श्रद्धापूर्वक लिया

जाता है और लाखों मनुष्य उन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं। इनके प्रमुख ग्रन्थ 'राम गीतावली', 'कृष्ण गीतावली', 'विनयपत्रिका', 'पार्वती मंगल', 'जानकी मंगल', 'दोहावली' और 'वैराग्य सन्दीपनी' हैं। परन्तु उनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामचरितमानस' है जो राम के गुण-गौरव की गाथा है। यह कवि-प्रतिभा का दिव्य महाकाव्य ही नहीं अपितु लोगों का धार्मिक ग्रन्थ भी है जिसकी ओर भारत के हिन्दी भाषा-भाषी सभी व्यक्ति आध्यात्मिक प्रेरणा के लिए देखते हैं और जिसकी नैतिकता के नियम राजा से रंक तक सभी लोगों की जिह्वा पर रहते हैं। वास्तव में रामायण लाखों लोगों का 'बाइबिल' ग्रन्थ है। साहित्यिक कृति और धार्मिक अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टि से तुलसीदासजी की रामायण सर्वोत्कृष्ट है। तुलसीदासजी ने अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल पर राम-काव्य को धर्म तथा साहित्य के सर्वोत्कृष्ट शिखर पर पहुँचा दिया, गुमराह जनता का मार्ग-प्रदर्शन किया और हिन्दुत्व की रक्षा की। तुलसीदासजी का सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्त्व विलक्षण है। उन्होंने हिन्दू धर्म की सम्प्रदायों और विभेदों से रक्षा की, क्योंकि 'रामचरितमानस' का धर्म राम की उपासना सर्वोत्कृष्ट बनाने पर भी इतना विशाल था कि उसने सभी सम्प्रदायों को अपना लिया था और भक्ति को अधिक दृढ़ रूप से प्रेरणा दी थी। केशवदास, सेनापति और त्रिपाठी बन्धुओं ने शाहजहाँ और औरंगजेब के शासनकाल में काव्य-कला को व्यवस्थित करने के सफल प्रयत्न किये। केशवदास ने साहित्य की मीमांसा शास्त्रीय पद्धति पर करके काव्य-रचना का पाण्डित्यपूर्ण आदर्श प्रस्तुत किया। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामचन्द्रिका' है। इसी युग के अन्य प्रसिद्ध कवि सुन्दर, सेनापति, भूषण, देव और बिहारी हैं। भूषण ने अपने हिन्दू समुदाय के यश-गौरव की गाथाएँ गायीं और शिवाजी तथा छत्रसाल बुन्देला ने उन्हें राज्याश्रय दिया। इनके प्रमुख ग्रन्थ 'शिवाबावनी', 'छत्रसाल शतक' और 'शिवराज भूषण' हैं। सुन्दर कवि ने सुन्दर-श्रृंगार की रचना की। इनकी कवि-प्रतिभा से प्रभावित होकर सम्राट् शाहजहाँ ने इन्हें 'महा कविराय' की उपाधि दी थी। बिहारी का प्रमुख ग्रन्थ 'बिहारी सतसई' है जिसमें सात सौ दोहे हैं। ये बड़े मार्मिक और हृदयग्राही हैं।

बँगला साहित्य—इस युग में बंगाल में दिव्य, अलौकिक वैष्णव साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। बँगला साहित्य की अनेक शाखाएँ जैसे पद, गीत, भजन और चैतन्य के जीवन-चरित्रों ने बंगाल के लोगों के हृदयों को प्रेम और उदारता की भावनाओं से ओत-प्रोत ही नहीं किया वरन् इन्होंने इस युग के प्रान्तीय सामाजिक जीवन की झाँकी भी प्रदर्शित की है। इसी काल में 'भागवत' और बड़े-बड़े महाकाव्यों के बँगला में अनेक अनुवाद हुए और चण्डीदेवी तथा मनसादेवी के गुणगान में ग्रन्थ लिखे गये। इस काल में बंगाल में काशीरामदास,

मुकन्दराम चक्रवर्ती और धनाराम जैसे कवि हुए। भारतचन्द्र और रामप्रसाद के ग्रन्थ मुगलों के साम्राज्य के पतन के बाद लिखे गये। इसके अतिरिक्त अन्य हिन्दू मुसलमान कवियों ने अपनी कृतियों द्वारा बँगला साहित्य की सेवा की।

मराठी साहित्य—इस युग में एकनाथ, दासोपन्त मुक्तेश्वर, वामन पण्डित, तुकाराम, रामदास और मोरोपन्त जैसे प्रतिभा-सम्पन्न कवियों ने मराठी साहित्य के भण्डार को अपनी बहुमूल्य रचनाओं से भरा। इस युग की मराठी रचनाओं में पाण्डित्य खूब झलकता है। इस युग के प्रारम्भ में श्रीधर स्वामी ने महाभारत, रामायण और भागवत की गाथाओं को लेकर ग्रन्थों की रचना की। उनके ग्रन्थों में 'हरिविजय', 'रामविजय', 'पाण्डव-प्रताप' और 'शिवलीलामृत' मुख्य हैं। मुक्तेश्वर ने भी अपनी कविताओं के विषय रामायण और महाभारत के ग्रन्थों से ही लिये हैं। इनके लिखे हुए महाभारत के पाँच पर्व उपलब्ध हुए हैं। परन्तु इनका श्लोकबद्ध रामायण सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसके बाद 'नल दमयन्ती स्वयंवराख्यान' के रचयिता रघुनाथ पण्डित, मध्यमुनीश्वर, अमृतराय और महिपति बाबा विशेष उल्लेखनीय हैं। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त व कवि श्री समर्थ रामदास भी इसी युग की प्रतिभा थे। ये महाराष्ट्र में प्रथम उपदेशक व कवि थे जिन्होंने यह उपदेश दिया कि गृहस्थ जीवन के साथ-साथ परमार्थ-जीवन भी व्यतीत किया जा सकता है। उनके मतानुसार ऐहिक प्रगति के बिना परमार्थ की बात करना व्यर्थ है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दासबोध' है। इनके शिष्य माधव स्वामी ने खूब काव्य की रचना की। महाराष्ट्र में कृष्ण भक्ति-मार्ग के कवियों में वामन पण्डित सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने श्लोकात्मक कविता की रचना की। मराठी साहित्य में इनके यमक अलंकार प्रसिद्ध हैं। राम-भक्ति मार्ग के कवियों में मोरोपन्त अधिक प्रख्यात हैं। अन्य कवियों की अपेक्षा इनका काव्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत रहा। इनकी 'केकावली' भक्ति-रस से ओत-प्रोत सरस काव्य है। इन्होंने सम्पूर्ण महाभारत की रचना आर्याछन्द में की है। इसीलिए इन्हें आर्यापति भी कहते हैं। इसी युग में प्रसिद्ध भक्त तुकाराम भी हुए जिनके अभंग मराठी साहित्य में अमर हैं। मराठी साहित्य क्षेत्र में यह प्रसिद्ध है कि :

> "सुश्लोक वामनाचा, किंवा आर्या मयूरपंताची,
> ओवीज्ञानेशाचीं, अभंग वाणी प्रसिद्ध तुकयाची।"

वामन पण्डित के सुश्लोक, मोरोपन्त के आर्याछन्द, ज्ञानेश्वर की ओवी और तुकाराम के अभंग प्रख्यात हैं।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद मराठों का उत्कर्ष होता है। मराठा साम्राज्य के अभ्युदय के साथ-साथ ही मराठी साहित्य में भी एक नवीन युग का प्रादुर्भाव होता है जिसे शाहिरी युग या पौवाड़े का युग कहते हैं। इस युग के रामजोशी,

अनन्तफन्दी, होनाजी बाल, सगन, भाऊ, प्रभाकर, परशराम आदि प्रसिद्ध प्रतिभा-सम्पन्न कवि हैं और रामचन्द्र पन्त आमात्य प्रख्यात गद्य लेखक हैं। इस युग में शृंगार व वीर रस दोनों ही प्रधान रहे। सैनिकों को प्रेरणा देने के लिए कवियों ने "लावणी" और 'पौवाड़ों' का आश्रय लिया और इन्हीं में काव्य रचना की। लावणी में शृंगार और पौवाड़ों में वीर रस कूट-कूटकर भरा गया है। पौवाड़े वस्तुतः वीरों की गाथाएँ हैं।

गुजराती साहित्य—हिन्दी और मराठी के समान गुजराती साहित्य भी इस युग में पूर्ण सम्पन्न होता रहा। अकबर के शासनकाल में गुजराती में प्रसिद्ध भक्त और कवि अरवा था। संसार से वैराग्य ले लेने पर वह भक्ति की ओर झुका और गुजराती में अनेक ग्रन्थों की रचना की, जैसे 'चित्त-विचार-संवाद', 'शत-पद', 'केवल्य-गीता', 'परमपद-प्राप्ति', 'पंचदशी तात्पर्य' आदि। उसने अपने काव्य में विश्व के मिथ्यावाद की व्यंगोक्ति द्वारा धज्जियाँ बिखेर दीं। उसकी भाषा अपरिमार्जित पर व्यंगपूर्ण है। उसकी कविता कृष्ण-भक्ति की परम्परा को छोड़ दर्शन, प्रेमानन्द और मानव-प्रकृति का मार्मिक विवेचन करने लगी। इसीलिए अरवा गुजराती साहित्य में युग प्रवर्तक कवि है। इसके बाद प्रसिद्ध कवि भट्ट प्रेमानन्द हुआ। गुजराती को उच्च साहित्यिक स्तर पर लाने का श्रेय प्रेमानन्द को ही है। उसने लगभग छत्तीस ग्रन्थों की रचना की है। उसकी कविताएँ इतनी अधिक लोकप्रिय हैं कि आज भी वे गुजरात में प्रतिदिन अभि-रुचि से पढ़ी जाती हैं। अलंकारों व रसों में वह बेजोड़ रहा है। प्रेमानन्द के पुत्र वल्लभ का समकालीन सामलभट्ट था जो औरंगजेब के बाद समृद्ध हुआ था। कविताओं में पौराणिक कहानियों का वर्णन करने में सामल खूब सफल हुआ। उसकी 'मदनमोहना' की कहानी और 'सामल रत्नमाल' अधिक प्रसिद्ध है। अरवा, प्रेमानन्द और सामल गुजराती साहित्य के तीन देदीप्यमान नक्षत्र हैं। ये ऐसे प्रसिद्ध लोक-कवि थे कि इन्होंने अपने युग के ही नहीं परन्तु बाद के समय के लोगों को भी प्रभावित किया। इन तीनों के अतिरिक्त वल्लभ, मुकुन्द, देवीदास, शिवदास, विष्णुदास, विश्वनाथ, ज्ञानी, विर्जी, रत्नेश्वर आदि अन्य कवि भी थे। आनन्दघन और नेमीविजय जैसे जैन कवि भी सत्रहवीं सदी में हुए थे। औरंगजेब की मृत्यु के बाद गुजराती साहित्य में प्रतिभावान कवियों और लेखकों का अभाव हो गया और अठारहवीं सदी में सृजनात्मक साहित्य की रचना नहीं हुई। परन्तु इस सदी में गर्भा साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें देवी अम्बा या काली के गुण-गौरव की गाथाएँ कविता में हैं।

उर्दू साहित्य—मुगलयुग में उर्दू का उच्चतम विकास नहीं हुआ। फिर भी नूरी आजमपुरी जो फैजी का मित्र था, और हजरत कमालुद्दीन मखदूम

शेख सादी और मोहम्मद अफजल अकबर युग के उर्दू के कवि थे। इसी प्रकार नासिर अफजली इलाहाबादी और पण्डित चन्द्रभान ब्रह्मन शाहजहाँ के समय के प्रसिद्ध उर्दू कवि माने गये हैं। कतिपय विद्वानों का मत है कि भारत में गजल की प्रथा वली औरंगाबादी से नहीं अपितु नासिर अफजली से प्रारम्भ होती है। मुगलों की अपेक्षा दक्षिण में बीजापुर और गोलकुण्डा के बादशाहों ने उर्दू को अधिक प्रोत्साहित किया। गोलकुण्डा का सुलतान मुहम्मदकुली कुतुबशाह (१५१६-१५५५) स्वयं उर्दू का प्रसिद्ध लेखक व कवि था। इसके बाद इब्न निसाती' व गवासी दो अन्य कवि हुए। गोलकुण्डा के समान बीजापुर के नरेश भी उर्दू साहित्य वालों के लिए उदार संरक्षक थे। उनके संरक्षण में 'अलीनामा' और 'गुलशने इश्क' के रचयिता मुहम्मद नसरत और 'यूसुफ व जुलेखा' मसनवी के लेखक शाह हाशिम हुए थे। परन्तु इस युग में औरंगाबाद का वली (१६६८-१७७४) प्रसिद्ध कवि था जिसने 'गजल', 'ममनवी' और 'रुबाइयान' सादी, स्वाभाविक और मनोरम शैली में लिखीं। इसका रेख्ता का दीवान और 'देह मजलिश' नामक ग्रन्थ विख्यात है। विद्वानों ने वली को उर्दू का जन्मदाता मानकर उसकी प्रशंसा की है। इसकी रचनाएँ भाषा तथा काव्य की दृष्टि से बड़ी मनोहर हैं। इसका समकालीन हैदराबाद निवासी सैय्यद कमरअली उपमान सिराज भी अपनी काव्य-प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध था। इसने भी एक 'दीवान' लिखा है। अनेक कवियों ने वली की शैली की नकल की। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हातिम, खान आर्जू, आबरू और मजहर हैं जो उत्तरी भारत में उर्दू कविता के पिता कहे जाते हैं। अठारहवीं सदी के प्रारम्भ में दिल्ली उर्दू साहित्य का केन्द्र हो गया था। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उर्दू कविता की प्रभूत प्रगति हुई एवं गालिब, शाह, नसीर, जौक, मोमिन जैसे कवियों ने उर्दू साहित्य के भण्डार को भरा। इन सबका वर्णन आगे किया जायगा।

संस्कृत साहित्य—मुगल युग ने उत्तरी भारत में संस्कृत साहित्य की अन्तिम सुगन्ध प्रसारित होते हुए भी देखी थी। इस युग का सबसे बड़ा संस्कृत का लेखक जगन्नाथ पण्डित था जिसे सम्राट शाहजहाँ ने कविराय की उपाधि से सम्मानित किया था। संस्कृत के बड़े कवियों में जगन्नाथ अन्तिम था जिसके ग्रन्थों में काव्य और भावना का सौन्दर्य है। उसकी 'गंगा-लहरी' और अन्य ग्रन्थ श्रेष्ठतम माने गये हैं। यद्यपि एक दूसरे कवि कविन्द्र का अलंकारपूर्ण रचनाएँ जगन्नाथ की समानता की नहीं हैं तथापि वे उल्लेखनीय अवश्य हैं। 'विदग्ध माधव' नाटक तथा अन्य ग्रन्थों के रचयिता रूप गोस्वामी, नाटककार गिरधरनाथ और कई दूसरे इस युग के संस्कृत के प्रसिद्ध कवि हैं। पुरुषों के अतिरिक्त वैजयन्ती जिसने 'आनन्दलतिका चम्पू' के सम्पादन में अपने पति

कृष्णनाथ की सहायता की थी और 'सुभाषितरलि' की प्रसिद्ध लेखिका वल्लभ देवी प्रख्यात विदुषी स्त्रियाँ थीं।

औरंगजेब के शासन के अन्तिम भाग में महान् कवियों के युग की इतिश्री हो गयी थी और विभिन्न साहित्यों पर मुगल साम्राज्य के पतन का बुरा परिणाम हुआ।

मुगलकालीन धार्मिक विचारधाराएँ

पन्द्रहवीं शताब्दी के समान सोलहवीं शताब्दी भी धार्मिक विप्लव का युग था, जबकि वैष्णव धर्म ने उत्तरी भारत और बंगाल के लाखों मनुष्यों को आकर्षित कर लिया। राम और कृष्ण के भक्त विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त हो गये और उन्होंने अपने-अपने मतानुसार पूजा और उपासना विधि का प्रतिपादन किया। कृष्ण-भक्ति-मार्ग के प्रवर्तक वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ थे। इनके बाद आठ भक्तों ने जिन्हें अष्टछाप कहते हैं कृष्ण-भक्ति का उपदेश दिया। इनमें सूरदास सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। इन्होंने ब्रजभाषा में रचना की और सगुण उपासना का उपदेश दिया एवं कृष्ण की बाल-क्रीड़ा का सरसता, श्रद्धा व भक्ति से वर्णन किया। सन् १५५१ के लगभग हरीवंश ने राधा-वल्लभी सम्प्रदाय की स्थापना की। इस सम्प्रदाय के अनुयायी कृष्ण की प्रेमिका राधा की उपासना करते हैं और उसी की सहायता से कृष्ण की अनुकम्पा प्राप्त करना चाहते हैं। वृन्दावन में इस युग के अन्य प्रसिद्ध वैष्णव सन्त रूप, सनातन और जीव गोस्वामी थे जिन्होंने राधादामोदर के मन्दिर की स्थापना की थी।

राम-भक्ति-मार्ग का उपदेश तुलसीदासजी ने दिया। ये राम को विष्णु का अवतार मानते थे और उनकी पूजा व उपासना का उपदेश देते थे। इन्होंने रुढ़िवादी सनातनी हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों व प्रथाओं को अंगीकार कर लिया, जाति-प्रथा का प्रतिपादन किया, ब्राह्मणों की सर्वोपरिता पर अधिक बल दिया, नारियों की स्वतन्त्रता का विरोध किया और भक्ति के सिद्धान्त का उपदेश दिया। इन्होंने किसी सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की, परन्तु वे एक सुधारक और उपदेशक थे। तुलसीदास के अतिरिक्त ऐसे अन्य सुधारक भी थे जिन्होंने अपने-अपने सम्प्रदायों की स्थापना की। इनके सिद्धान्तों पर इस्लाम का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। राजस्थान के संत और सुधारक दादू (१५४४-१६०३) ने मूर्ति-पूजा व जाति-प्रथा की घोर निन्दा की, हिन्दुओं के धार्मिक कर्मकाण्ड का प्रतिरोध किया और ईश्वर में अटूट भक्ति रखने पर बल दिया। लालदास और उसके अनुयायियों ने राम-नाम और साधु-जीवन पर अधिक बल दिया। धर्मदास और उनके अनुयायियों ने ईश्वर के नाम को बार-बार दोहराने और पवित्र जीवन व्यतीत करने की ओर संकेत

किया । इस प्रकार हिन्दुओं में कृष्ण-भक्ति, राम-भक्ति ज्ञान-मार्ग के मानने वाले सन्त थे ।

बंगाल में चैतन्य के अनुयायियों ने भक्ति-मार्ग का उपदेश दिया । उन्होंने इस मत का प्रतिपादन किया कि बिना भक्ति के मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता । उनके लिए भक्ति ही सर्वेसर्वा थी । उनके मतानुसार कृष्ण ही परमात्मा हैं तथा उपासना और पूजा के लिए वे सर्वोपरि इष्टदेव हैं ।

दक्षिण भारत में भी सोलहवीं शताब्दी में बड़े-बड़े धार्मिक आन्दोलनों का उत्कर्ष हुआ । महाराष्ट्र में इन आन्दोलनों के प्रवर्त्तकों में से एकनाथ प्रमुख सन्त थे । इन्होंने भक्ति पर खूब बल दिया । इनके मतानुसार भक्ति से ही नारियाँ, शूद्र और अन्य सभी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं । महाराष्ट्र के अन्य प्रमुख संत तुकाराम थे । उन्होंने विशुद्ध और उच्च हृदय से ईश्वर की पूजा करने का सन्देश दिया और लोगों को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार दया प्रदर्शित करने की प्रेरणा दी । तुकाराम के अभंग जो आत्मा को ऊँचा उठाते हैं और भावों को पवित्र करते हैं, आज भी दक्षिण में गाये जाते हैं और लाखों मनुष्यों को उनके शोक व कष्ट में शान्ति तथा सान्त्वना देते हैं । अन्य भक्त जिनका मराठों के जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा समर्थ रामदास थे । ये शिवाजी के आध्यात्मिक गुरु थे । ये वेदान्ती और वैष्णव सन्त थे जिनके मतानुसार मुक्ति राम की भक्ति से ही उपलब्ध हो सकती है । विचार तथा कर्म की पवित्रता, निःस्वार्थता, सत्यनिष्ठा, क्षमा, नम्रता और सब के प्रति दया व दान की भावना से निस्सन्देह मनुष्य स्वर्गीय आनन्द प्राप्त कर सकता है ।

मध्ययुग के प्रारम्भ से प्रवाहित भक्ति का स्रोत मुगलकाल में निरन्तर प्रवाहित होता रहा और भक्तों तथा सन्तों के उपदेशामृत का प्रभाव जनता पर पड़ता रहा । हिन्दू धर्म का स्रोत अभी भी बराबर जारी रहा । मुसलमानों की सार्वभौमिक राजकीय शक्ति और उनकी धार्मिक कट्टरता उसका सर्वनाश करने में सर्वथा असमर्थ रही ।

हिन्दू भक्तों व सन्तों के अतिरिक्त मुसलमान समाज में सूफी फकीर भी थे । ये ईश्वर को सुन्दरतम व प्रेम करने वाला मानकर मनुष्य को उसकी भक्ति में तल्लीन होने की शिक्षा देते थे । उनका कथन था कि मानव-जीवन का लक्ष्य ईश्वर से प्रेम करना और अन्त में उसी में विलीन हो जाना है । अतएव सूफी सन्त सच्ची उपासना व प्रेम पर अधिक बल देते थे एवं आध्यात्मिक प्रगति के लिए विशेष साधन बतलाते थे । ये गुरु की महिमा पर बल देते थे, ध्यान, उपासना, प्रार्थना और आत्म-शुद्धि को मोक्ष-प्राप्ति का साधन कहते थे एवं विभिन्न धर्मों को ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग समझते थे । वे सभी धर्मानुयायियों को उपदेश देते थे, पर किसी को भी अपना धर्म त्याग करने

का आदेश नहीं देते थे। सूफी सन्तों के ऐसे उपदेशों से विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में परस्पर धार्मिक सहिष्णुता, समानता व सौहार्द्र की भावनाओं का उत्कर्ष हुआ और एकेश्वरवाद के मत का प्रतिपादन हुआ। शाहजहाँ का ज्येष्ठ राजकुमार दाराशिकोह सूफी मतावलम्वी था।

भवन-निर्माण-कला

औरंगजेब को छोड़कर, जिसकी धार्मिक भावनाएँ कला के संरक्षण से मेल नहीं रखती थीं, सभी प्रारम्भिक मुगल सम्राट महान् निर्माता थे। वास्तव में, मुगलों के आगमन पर भारतीय भवन-निर्माण-कला अपने दिव्य नवीन क्षेत्र में पदार्पण करती है जिसमें प्रारम्भिक सुलतानों की इमारतों की सादगी ईरानी प्रभाव से कम हो गयी थी। मुगल सम्राटों के अपूर्व वैभव और असीमित धनागार ने उनमें अत्यन्त मनोरम भवन-निर्माण, उद्यान-निर्माण तथा नगर-निर्माण की शक्ति उत्पन्न कर दी। वास्तव में मुगल-ऐश्वर्य का युग कला के वैभव का युग था। इस युग में सभी ललित-कलाओं की प्रभूत प्रगति हुई। कला-प्रेमी मुगल सम्राटों ने ईरानी और हिन्दू शैली के समन्वय के विकासपूर्ण मुगल-शैली का निर्माण किया जिसकी छाप तत्कालीन चित्र-कला, स्थापत्य-कला आदि विभिन्न ललित-कलाओं पर तथा सोने-चाँदी और रत्नों के कामों पर स्पष्टतया अंकित है। इनमें सर्वत्र ऐश्वर्य का उल्लास है।

मुगलकालीन विविध इमारतों की प्रमुख विशेषताएँ गोल गुम्बद, पतले स्तम्भ और विशाल खुले प्रवेश-द्वार हैं।

फर्ग्युसन जैसे कतिपय ऐसे इतिहासज्ञ हैं जो यह विश्वास करते हैं कि मुगलों की भवन-निर्माण-कला की शैली विदेशी है। फर्ग्युसन के इस सिद्धान्त की हैवेल ने आलोचना की है, जो इस मत का प्रतिपादन करता है कि मुगल-कला देशी और विदेशी शैलियों का उत्तम सम्मिश्रण है। हैवेल के मतानुसार भारत में विदेशी तत्त्वों को अपने में सम्मिलित कर लेने की अपूर्व शक्ति रही है। विदेशियों की कला और संस्कृति ने भारत की कला व संस्कृति को प्रभावित किया, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि भारत के प्रवीण शिल्पियों ने सम्पूर्णतया विदेशों से ही प्रेरणा प्राप्त की थी। सत्य तो यह है कि मुगलों के अन्तर्गत संस्कृति और कला दोनों का अत्यधिक समन्वय हुआ था। कला-मर्मज्ञ सर जॉन मार्शल ने भी लिखा है कि भारत जैसे विशाल और असमानता व विभिन्नता वाले देश में यह नहीं कहा जा सकता कि भवन-निर्माण-कला किसी एक ही विशिष्ट देशव्यापी शैली को लेकर स्थिर रही। भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न शैलियों का प्रयोग किया गया। सम्राटों की अभिरुचि पर अधिक बातें निर्भर रहती थीं। बाबर के पश्चात् भारतीय कला पर ईरानी प्रभाव बढ़ गया और अकबर के शासनकाल तक जारी रहा। परन्तु अकबर की

प्रतिभा ने ईरानी आदर्शों को भारतीय कला की परम्पराओं के हित में अपना लिया। अकबर के उत्तराधिकारियों के शासनकाल में भारतीय भवन-निर्माण-कला और चित्र-कला पूर्णतया भारतीय हो गयी और उनके शासनकाल की भव्य और मनोरम इमारतों में ऐसा कुछ नहीं है जो निर्दिष्ट रूप से ईरानी प्रतीत होता हो। वास्तव में, भारतीय शिल्पियों ने विदेशी कला के सिद्धान्तों को इस प्रकार परिवर्तित और संशोधित रूप में अपना लिया कि वे भारतीय कला के साथ मिलकर देशी प्रतीत होते हैं। विदेशी तत्त्व भारतीय कला में ऐसे घुल-मिल गये कि अब भारतीय कला के पृथक् अस्तित्व का पता लगाना भी दुर्लभ है। "मुगल कला जो अनेक प्रभावों का सम्मिश्रण थी अपने पूर्व काल की कला की अपेक्षा अधिक विशिष्ट और अलंकरण वाली थी और इसकी रमणीयता तथा अलंकरण इसके पूर्व की कला की सादगी और भीमकायता के विपरीत थे।"

अकबर के पूर्व की भवन-निर्माण-कला—दिल्ली और आगरा में जो इमारतें बाबर ने देखी थीं उनसे वह सन्तुष्ट नहीं था। भारतीय कला तथा कला-कौशल के विषय में उसके विचार अच्छे नहीं थे, इसलिए उसने कुस्तुनतुनिया से तथा इस्लामी संस्कृति के अन्य केन्द्रों से अपने भवन बनाने के लिए शिल्पियों को आमन्त्रित किया था। मुगल इमारतों में वेझण्टाइन शैली के प्रभाव के कोई भी चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होते; यह बहुत कुछ सम्भव है कि भारत में विदेशी शिल्पियों और अल्बेनियन शिल्पी सिनान के शिष्यों ने मसजिदों और अन्य स्मारकों पर कार्य नहीं किया। फिर भी बाबर ने अपने भवनों के बनाने के लिए भारतीय कारीगरों को नियुक्त किया। आगरा, सीकरी, बयाना, धौलपुर और ग्वालियर में उसके महलों के निर्माण में १४६१ व्यक्ति प्रतिदिन काम करते थे। यद्यपि बाबर की अधिकांश इमारतें विध्वंस हो चुकी हैं परन्तु दो आज भी शेष हैं। ये पानीपत के काबुल बाग की बड़ी मसजिद और रुहेलखण्ड में सम्भल की जामा मसजिद हैं। उसके उत्तराधिकारी हुमायूँ को कष्टों, चिन्ताओं और युद्धों के कारण कलापूर्ण भवन बनवाने का अवसर नहीं मिला। पंजाब में हिसार जिले में फतहाबाद में उसके समय की एक मसजिद आज भी विद्यमान है। वह ईरानी प्रणाली के अनुसार अलंकृत की गयी है।

हुमायूँ के निर्बल करों से सत्ता छीनने वाले सूर शासक भी निर्माता थे। पंजाब, रोहतास और मकोत के दुर्गों के अतिरिक्त उन्होंने मध्ययुगीन शिल्प-कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने भी हमारे लिए छोड़ दिये हैं। शेरशाह सूरी की प्राचीर वाली राजधानी, दिल्ली के दो अवशिष्ट प्रवेश-द्वार जो उसकी आकस्मिक मृत्यु के कारण पूर्ण नहीं किये जा सके और पुराना किला उस युग की भवन बनाने की कलापूर्ण अलंकरण की सुन्दरतम शैली प्रदर्शित करते हैं।

दिल्ली के समीप पुराने किले की किला-ए-कुहन मसजिद अपनी भव्यता और शिल्प-कला की विशेषताओं के कारण उत्तरी भारत की इमारतों में श्रेष्ठ स्थान रखती है। इसके प्रवेश-द्वार गुम्बद के चतुर्दिक छोटी मीनारों और सुन्दरतम राजगीरी में ईरानी प्रभाव झलकता है। परन्तु अन्य बातों में यह भारतीय है। बिहार में सहसराम में झील के मध्य में बना हुआ शेरशाह का मकबरा अपनी भव्यता, सुन्दरता व सुडौलपन की दृष्टि से हिन्दू-मुस्लिम शिल्प-कला का आश्चर्यजनक नमूना है और यह हिन्दू तथा मुस्लिम शिल्प-कला के विचारों का समन्वय प्रकट करता है। इस प्रकार कला और संस्कृति में अफगान शासक शेरशाह ने मुगल-सम्राट् अकबर का मार्ग सुलभ कर दिया। भारतीय भवन-निर्माण-कला में उसका शासनकाल परिवर्तन का युग है।

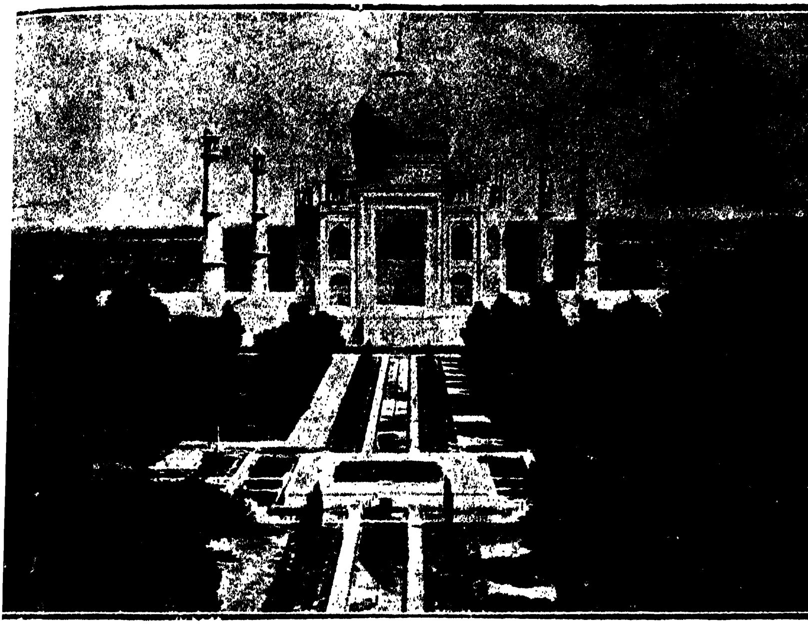
अकबर के अन्तर्गत भवन-निर्माण-कला—मुगल भवन-निर्माण-कला सभी दृष्टियों से अकबर के शासनकाल से ही प्रारम्भ होती है। उसे भवन बनवाने की बड़ी लालसा थी। अबुलफजल ने ठीक ही लिखा है कि "शाहंशाह भव्य भवनों की योजनाएँ बनाते हैं और अपने मस्तिष्क और हृदय की रचना को पाषाण तथा मिट्टी के वस्त्र पहनाते हैं।" फर्ग्युसन का कथन है कि फतहपुर-सीकरी बड़े आदमी (अकबर) के मस्तिष्क का दर्पण था। अकबर के शासन-काल ने शिल्प-कला के विलक्षण विकास को देखा है। अकबर ने कला के प्रत्येक सूक्ष्म तत्त्व का पूर्ण ज्ञान उपलब्ध किया और उदार तथा समन्वय की दृष्टि से उसने विभिन्न साधनों द्वारा कलापूर्ण विचारों को प्राप्त किया जिन्हें उसके शासनकाल के प्रवीण शिल्पियों ने मूर्त रूप दिया। उसके राज्यकाल में हिन्दू और ईरानी प्रभाव दोनों ही पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हुए। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से उसके काल के भवनों को देखने से प्रतीत होता है कि राज्य में भारतीय कला का अधिक बोलबाला था। अपनी ईरानी माता द्वारा प्राप्त ईरानी विचारों का अनुसरण करते रहने पर भी, हिन्दुओं के प्रति उसकी सहिष्णुता, उनकी संस्कृति के लिए उसकी सहानुभूति और अपने हित के लिए उन्हें अपने पक्ष में कर लेने की नीति से उसने अपने अनेक भवनों में हिन्दू शिल्प-शैली का प्रयोग किया जिसके अलंकरण के तत्त्व हिन्दू और जैन-मन्दिरों से लिये गये थे। आगरा किले में जहाँगीरी महल और उसके वर्गाकार स्तम्भों तथा छोटी-छोटी मेहराबों की पंक्तियों में, फतहपुरसीकरी के अनेक भवनों और लाहौर के किले में हिन्दू-शैली अलौकिक रूप से प्रकट हुई है। पुरानी दिल्ली में हुमायूँ के प्रसिद्ध मकबरे में भी, जो प्रायः ईरानी कला का प्रदर्शन करने वाला माना जाता है, कब्र की बनावट भारतीय है और इमारत के बाह्य भाग में श्वेत संगमरमर का स्वच्छन्द प्रयोग भी भारतीय है।

अकबर के भवन-निर्माण के कार्य शिल्प-कला की श्रेष्ठतम इमारतों तक

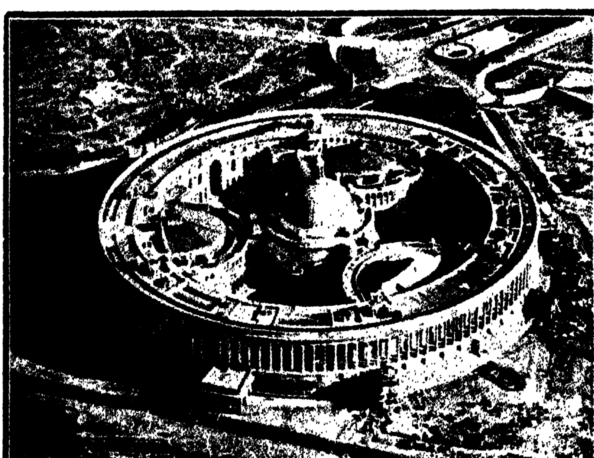
ही सीमित नहीं थे, परन्तु उसने अनेक दुर्ग, राजप्रासाद, आमोद-प्रमोद के भवन, स्तम्भ (towers), सराय, शालाएँ, तालाब और कुएँ भी बनवाये। उसकी सबसे अधिक महत्त्वशाली इमारतें फतहपुरसीकरी के राजमहल हैं। इनमें सबसे अधिक भव्य इमारतें निम्नलिखित हैं—जोधाबाई का महल और दो अन्य भवन जो सम्भवतः उसकी अन्य रानियों के निवासस्थान थे; हिन्दू रचना-कृति का बना हुआ दीवाने-आम; रचना, निर्माण और अलंकरण में स्पष्टतया भारतीय ढंग से बना हुआ दीवाने-खास; 'फतहपुरसीकरी की शान' जामी मसजिद; अकबर की गुजरात की विजय को चिरस्मरणीय करने के लिए बनाया हुआ विशाल बुलन्द दरवाजा और पाँच मंजिलों वाला पंचमहल जो भारतीय बौद्ध विहारों का नक्शा प्रदर्शित करता है। फतहपुरसीकरी की अन्य प्रसिद्ध इमारतें बीरबल का गृह, ख्वाबगाह और आमेर की राजकुमारी का निवासस्थान सुनहला महल हैं।

इस युग की अन्य दो प्रसिद्ध इमारतें इलाहाबाद का चालीस स्तम्भों वाला राजप्रासाद और सिकन्दरा में अकबर का मकबरा है। इलाहाबाद का राजमहल जिसमें छत वाला बरामदा हिन्दू-स्तम्भों की पंक्तियों पर अवलम्बित है निश्चित रूप से भारतीय-रचना-कृति का उदाहरण है। सिकन्दरा में अकबर के मकबरे की विशालकाय इमारत जिसका निर्माण स्वयं अकबर ने कराया, पर जिसे जहाँगीर ने पूर्ण किया था, भारत के बौद्ध विहारों की शिल्प-शैली के आधार पर बनी है। इसके पाँच वर्गाकार चबूतरे एक के बाद एक ऊपर उठते हैं और ऊपर उठते हुए वे अपने आकार में कम होते जाते हैं। इसकी अन्तिम मंजिल के ऊपर अकबर का विचार सुनहली छत वाला संगमरमर का गुम्बद बनवाने का था। यदि यह कल्पना पूर्ण हो जाती तो हिन्दुस्तान के सबसे बड़े मुस्लिम सम्राट के मकबरे की गणना विश्व के सबसे शानदार मकबरों में होती और यह ताजमहल से द्वितीय श्रेणी पर होता। अकबर का अन्य विशिष्ट भवन-निर्माण-कार्य लाल पाषाण का बना हुआ आगरा का किला है। इसकी प्राचीर सत्तर फुट ऊँची है और इसमें ऊँचे प्रवेश-द्वार हैं। अकबर ने आगरा नगर में अनेक भवनों का निर्माण कर उसे सुशोभित किया। अकबर के भवनों में प्रायः दो विशेषताएँ प्रमुख हैं—यदि एक ओर उनमें ओज और दृढ़ता है तो दूसरी ओर भारतीय व मुस्लिम शैलियों का समन्वय।

जहाँगीर के अन्तर्गत भवन-निर्माण-कला—जहाँगीर को वास्तु-कला से उतना प्रेम न था जितना कि चित्र-कला से। अतएव उसके पिता द्वारा बनवाये भवनों की तुलना में उसके द्वारा निर्मित भवन कम थे। परन्तु उसके शासन-काल की दो इमारतें अपने गुणों के लिए विशेष उल्लेखनीय हैं, इनमें से एक तो अकबर का मकबरा था जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है और दूसरी



ताजमहल, आगरा। (पृष्ठ ३९३)



.पार्लियामेण्ट भवन, नई दिल्ली। (पृष्ठ ५५९)

इमारत नूरजहाँ के पिता एत्मादुद्दौला का मकबरा है जिसे साम्राज्ञी नूरजहाँ ने स्वयं १६२८ ई० में आगरा में बनवाया था। असन्तोषप्रद रचना-कृति का होने पर भी इसमें दुर्लभ सौन्दर्य है और यह सम्पूर्ण श्वेत संगमरमर का बना हुआ है जिसमें विभिन्न रंगों के बहुमूल्य पाषाण सर्वोत्कृष्ट रमणीय ढंग से जड़े हुए हैं। यह राजपूत शैली थी अथवा यह भी अधिक सम्भव है कि यह प्राचीनतम भारतीय शैली थी। अन्य महत्त्वशाली इमारत लाहौर के समीप रावी नदी के तट पर जहाँगीर का मकबरा है जिसे नूरजहाँ ने बनवाया था।

शाहजहाँ के अन्तर्गत भवन-निर्माण-कला—मुगल-सम्राटों में सबसे अधिक शानदार निर्माता शाहजहाँ था। उसके द्वारा निर्मित अनेक भवन, राजप्रासाद, दुर्ग, उद्यान और मसजिदें आगरा, दिल्ली, लाहौर, काबुल, काश्मीर, कन्धार, अजमेर, अहमदाबाद तथा अन्य स्थानों पर है। शाहजहाँ की इमारतें अकबर की इमारतों की अपेक्षा भव्यता और मौलिकता में निम्नकोटि की हैं, परन्तु सरसता, रमणीयता और सम्पन्नता व कलापूर्ण अलंकरण में वे उच्चकोटि की हैं। फलस्वरूप शाहजहाँ की इमारतें बड़े पैमाने पर रत्नजड़ित आभूषणों के समान हैं। उसके राज्याश्रय में जड़िया (jeweller) और चित्रकार की कलाएं सफलतापूर्वक सम्मिश्रित हो गयीं। यदि अकबर की इमारतों का सौन्दर्य विराट् है तो शाहजहाँ की इमारतों का सौन्दर्य सूक्ष्म और कोमल है। यदि अकबरकालीन कला में महाकाव्य की विराट् गरिमा और दिगन्त का विस्तार है तो शाहजहाँ की कला में अलंकृत गीति-काव्य की रसात्मकता और सूक्ष्म चमत्कार हैं। मणिकुट्टिम की चित्र-विचित्र-कला शाहजहाँ के भवनों में चरम पराकाष्ठा को पहुँची है। सोने के रंग का मुक्त प्रयोग, नक्काशी की सूक्ष्मता तथा रत्नों व मणियों का कलापूर्ण जड़ाव शाहजहाँ की इमारतों में विलक्षण है। शाहजहाँयुगीन स्थापत्य में नक्काशी-कला व चित्रण-कला की विशिष्टता भी अधिक है। यदि ताज में नक्काशी-कला का आधिक्य है तो दीवान-ए-खास में चित्रण-कला का। वस्तुतः शाहजहाँ के अन्तर्गत मुगल-कला अपने उत्कर्ष की चरमसीमा पर पहुँच चुकी थी। हिन्दू प्रभाव जो अकबर के अन्तर्गत इतना दृढ़ था, शाहजहाँ की इमारतों में सम्पूर्णतया विलुप्त हो गया था। शाहजहाँ के समय की प्रमुख इमारतें दिल्ली के लाल किले में दीवान-ए-आम व दीवान-ए-खास, जामी मसजिद, मोती मसजिद, ताजमहल और साम्राज्य के विभिन्न भागों में अनेक छोटी इमारतें हैं। दीवान-ए-खास शाहजहाँ की अन्य इमारतों की अपेक्षा अधिक अलंकरणयुक्त है। संगमरमर के इसी भवन में शाहजहाँ मयूर वाले सिंहासन पर बैठकर मुगल राजकुमारों, सामन्तों और विदेशी राजदूतों से व्यक्तिगत रूप से मिलता था। उसकी बहुमूल्य रजत छत और संगमरमर, बहुमूल्य पाषाण और स्वर्ण का सम्मिश्रित अलंकरण एवं

उसकी भव्यता व सौन्दर्य उसकी दीवार पर अंकित निम्नलिखित पद की सत्यता को प्रमाणित करते हैं :

अगर फिरदौस बर रूए जमीं अस्त।
हमीं अस्तो हमीं अस्तो हमीं अस्त ।।

(यदि पृथ्वी पर कहीं आनन्द का स्वर्ग है (तो) वह यही है, यही है, यही है ।)

सच्ची कला की दृष्टि से आगरा की मोती मसजिद शाहजहाँ के समय की वास्तु-कला की चरम पराकाष्ठा है । अपनी पवित्रता व सादगी, अनुपात की पूर्णता और रचना-कृति के सामंजस्य के लिए यह अपने ही ढंग की सबसे अधिक सुन्दर उच्चकोटि की इमारत है । इसके मेहराबों और स्तम्भों में हिन्दू-प्रतीक और रचना-कृति की पुनरावृत्ति है जिन्हें अन्त में मुस्लिम धार्मिक कार्यों के हेतु अपना लिया गया था । जामी मसजिद जो दिल्ली में सर्वसाधारण के नमाज के लिए बनवायी गयी थी मोती ममजिद की अपेक्षा अधिक भव्य, गौरवशाली और सुन्दर प्रतीत होती है ।

परन्तु शाहजहाँ के समय की सबसे अधिक महत्त्वशाली इमारत ताजमहल है । यह एक दिव्य मकबरा है जो शाहजहाँ की प्रेमिका साम्राज्ञी मुमताज महल की कब्र पर तीन करोड़ रुपयों की लागत से २२ वर्ष में बनवाया गया था । यह विश्व में दाम्पत्य प्रेम, स्वामिभक्ति, सच्चा अनुराग और समन्वय का सर्वश्रेष्ठ शानदार स्मारक है। सुन्दरता, दिव्यता, अलंकरण, रचना-कृति और कलापूर्ण बनावट के कारण यह विश्व की अद्भुत वस्तुओं में से एक माना जाता है । ऐसा कहा जाता है कि इसके निर्माण के लिए ईरान, अरव, तुर्की तथा अन्य विदेशों से शिल्पी आमन्त्रित किये गये थे । परन्तु विश्वास करने योग्य ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो इस कथन की पुष्टि करे कि यूरोपीय शिल्पियों ने ताज का नक्शा बनाया और पाषाण की जड़ाई के काम का निरीक्षण किया । इसके विपरीत विवेकपूर्ण आधार पर यह प्रमाणित कर दिया गया है कि ताज भारतीय प्रतिभा का फल है । इसकी पच्चीकारी का कलापूर्ण काम इतनी उच्चकोटि का है कि कला-मर्मज्ञ उसे देखकर आज भी आश्चर्य करते हैं ।

शाहजहाँ के शासनकाल की अन्य प्रसिद्ध कलाकृति मयूर वाला सिंहासन है जिसे तख्ते ताऊस कहते हैं । यह स्वर्णिम पायों के एक प्रकार के पलंग के समान था । इसकी लम्बाई ३½ गज, चौड़ाई २½ गज और ऊँचाई ५ गज थी । इसकी मीनाकारी की छत पन्ने के बारह छतों पर आश्रित थी जिनमें से प्रत्येक पर रत्नजड़ित दो-दो मयूर अंकित थे । हीरों, पन्नों, लालों और मोतियों से जड़ा हुआ एक वृक्ष मयूर के प्रत्येक जोड़े के बीच स्थित था । यह सिंहासन

कई वर्षों के कठोर परिश्रम के बाद निर्मित हुआ था और उसकी लागत चौदह लाख से भी अधिक थी। सन् १७३९ में नादिरशाह यह सिंहासन ईरान ले गया था। इसके अतिरिक्त अजमेर में भी शाहजहाँ की बनवायी हुई कतिपय इमारतें हैं, जिनमें सबसे प्रसिद्ध जामा मसजिद है जो ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के मकबरे के पश्चिम में बनी है।

औरंगजेब के अन्तर्गत भवन-निर्माण—शाहजहाँ की मृत्यु के बाद वास्तु-कला का पतन हो गया क्योंकि औरंगजेब ने कट्टर धर्मानुयायी होने के कारण शिल्प-कला को प्रोत्साहन नहीं दिया और न नवीन भवनों का निर्माण ही कराया। इसके शासनकाल में जो कुछ थोड़ी-बहुत इमारतें बनीं, उसमें सबसे अधिक महत्त्वशाली अपने व्यक्तिगत प्रयोग के लिए बनवायी हुई दिल्ली में संगमरमर की छोटी मसजिद, और दूसरी काशी में विश्वनाथ मन्दिर के भग्नावशेषों पर बनवायी हुई विशाल मसजिद तथा तीसरी इमारत लाहौर में बादशाही मसजिद है। परन्तु कला की दृष्टि से प्राचीन इमारतों की तुलना में इनका स्थान निम्न कोटि का है।

मुगल उद्यान—मुगल सम्राट् प्रकृति के प्रेमी थे। बाबर और उसके उत्तराधिकारी राजनीतिक जीवन की कठोरता से विरक्त हो कुंजों, उद्यानों और प्राकृतिक दृश्यों में खूब आनन्द मनाते थे। फलस्वरूप उन्होंने विस्तृत उद्यान-निर्माण कराये। उनके लगवाये हुए उद्यान और उनके अमीरों द्वारा लगाये हुए बगीचे, जिनमें कालका के पास पिंजोर का उद्यान है, मुगलों की सौन्दर्य भावना प्रदर्शित करते हैं। जहाँगीर और उसकी प्रेमिका साम्राज्ञी नूरजहाँ जहाँ-कहीं भी ठहरे, वहीं उन्होंने उद्यान लगवाये। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में इन उद्यानों से प्राप्त आनन्द का उल्लेख किया है। काश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य को उन्होंने मानवीय प्रयत्नों से बहुत ही बढ़ाया। काश्मीर के शालीमार और निशात उपवन मुगलों के प्राकृतिक प्रेम, उद्यान-अभिरुचि और सौन्दर्यानुराग के सम्भवतः सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। लाहौर नगर का शालीमार उद्यान मुगलकालीन है।

हिन्दुओं की भवन-निर्माण-कला और उसमें परिवर्तन—मुगलकाल में हिन्दू नरेश भी कला को राज्याश्रय देते थे उन्होंने भी राजप्रासाद, दुर्ग, मन्दिर आदि निर्मित कराये थे। परन्तु उस युग में हिन्दुओं की भवन-निर्माण-कला में विशेष उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। हिन्दू नरेशों और अमीरों ने अपनी राजधानियों में जो बड़े-बड़े राजप्रासाद बनवाये वे दीवान-ए-खास, दीवान-ए-आम, शीशमहल और शाही महलों की बारादरी की नकल थे और फलस्वरूप उनकी शिल्प-कला और प्राचीन हिन्दू-भवनों और मुगल महलों दोनों की कला से भिन्न थी। इसमें राजपूत और ईरानी प्रभाव का समन्वय था। इस

युग की हिन्दू भवन-निर्माण-कला के शेष नमूने वीरसिंह बुन्देला का विशाल महल, बीकानेर का दुर्ग और राजप्रासाद, उदयपुर के भवन और झील-महल, जोधपुर दुर्ग और राजप्रासाद, आमेर के महल और अजमेर झील के भवन हैं। मुसलमानों का अनुकरण कर हिन्दू-नरेश भी अपनी छतरियाँ और समाधियाँ बनवाने लगे थे। सूरजमल, छत्रसाल व उनकी रानी की छतरियाँ इसके उदाहरण हैं।

धार्मिक सहिष्णुता के कारण इस युग में परम्परागत शिल्प-शैली के अनुसार मन्दिर-निर्माण के कार्य भी पुनर्जागृत हुए। प्रारम्भिक मुगलों की धार्मिक सहिष्णुता के कारण हिन्दू राजाओं, सामन्तों और व्यापारियों ने प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया और नवीन मन्दिरों का निर्माण कराया। मथुरा और बनारस पुनः मन्दिरों के लिए लोगों का ध्यान आकर्षित करने लगे। इन मन्दिरों में सबसे अधिक प्रसिद्ध वीरसिंह का मन्दिर था जिसे शाहजहाँ ने नष्ट कर दिया था। उत्तरी भारत के बहुसंख्यक बड़े-बड़े मन्दिर जो आज भी विद्यमान हैं, इसी युग में बने थे।

दक्षिण की भवन-निर्माण-कला—इस युग में बीजापुर व गोलकुण्डा के सुल्तानों ने दक्षिण की भवन-निर्माण-कला में चार चाँद लगा दिये थे। दक्षिण के सुल्तानों के सुन्दर उद्यान, रमणीक राजप्रासाद, सुन्दरतम मसजिदें और शानदार मकबरे राज्यों की धन-सम्पन्नता, सुलतानों की शिष्ट अभिरुचि, हिन्दू और मुस्लिम शैलियों का सुन्दर समन्वय और सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में दक्षिण में प्रचलित ऐश्वर्य की भावना प्रदर्शित करते हैं। गोल गुम्बद, इब्राहीम रौजा, ताज सुलताना का मकबरा, आदिलशाह द्वितीय का मकबरा, गगन महल, आसार महल, सतमंजिल व मिथारी महल ने बीजापुर को दिल्ली व आगरा के समान ही वैभव प्रदान किया था। इसी प्रकार कुली कुतुबशाह का मकबरा, पाँच मसजिदें और राजमहलों ने गोलकुण्डा को वह अपूर्व सौन्दर्य प्रदान किया था जो किसी भी रूप में बीजापुर के सौन्दर्य से कम न था।

चित्र-कला

भारत में चित्र-कला सदैव राजसभाओं की विशेषता रही है। संस्कृत साहित्य के प्रमाणों से यह प्रकट होता है कि भित्ति-चित्र चित्रकार की कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने समझे जाते थे परन्तु नरेश और सामन्त मनुष्यों के चित्रों और तस्वीरों में विशेष अभिरुचि रखते थे और राजसभाएँ चित्र-कला को प्रोत्साहित करती थीं। जम्मू, काँगड़ा और राजस्थान में चित्र-कला की विभिन्न शैलियाँ समृद्ध थीं। चित्रकारों द्वारा जो विषय चुने जाते थे वे प्रायः पौराणिक और धार्मिक होते थे। रामायण और महाभारत की गाथाएँ तथा कृष्ण व गोपियों के जीवन की कथाएँ चित्रकारों के प्रिय विषय होते थे।

कभी-कभी हिन्दुओं के संगीत के राग भी चित्र-कला में किसी रूपक या प्रतीक के द्वारा चित्रित होते थे। किसी राग को किसी एक ऋतु विशेष से सम्बन्धित करके हिन्दू चित्रकारों ने कतिपय विशिष्ट रागों को विशिष्ट विचारों से सम्बन्धित कर दिया था। इसके अतिरिक्त दैनिक हिन्दू-जीवन के दृश्य जैसे मन्दिर में पूजन करती हुई कन्याएँ; वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ योगी, हाथी, चौपाये, हिरन आदि अत्यधिक चित्रित किये जाते थे। प्रकाश और अन्धकार-युक्त रात्रि के दृश्य भी चित्रकारों में अति प्रिय थे। इन सभी रचनाओं में सादे और अलंकरण के ढंग से प्रकृति को प्रकट किया जाता था। महत्त्वहीन, जटिल मिथ्या तत्त्वों के अतिरिक्त सभी रूपों की अभिव्यक्ति इनमें होती थी। यह ऐसी कला थी जो देश के आदर्शों के अनुरूप ही थी।

दिल्ली के सुलतानों ने हिन्दुओं की चित्र-कला को प्रोत्साहित नहीं किया। इसके विपरीत, फीरोज तुगलक जैसे सुल्तानों ने दीवारों को चित्रों से सुसज्जित करने और मनुष्यों के चित्र बनाने पर प्रतिबन्ध लगा दिये थे। चित्र-कला के पुनर्जागरण का श्रेय मुगलों को है। मुगल-युग की चित्र-कला भारतीय और ईरानी तत्त्वों का सुन्दर सुखद समन्वय है। तेरहवीं सदी में ईरान के मंगोल विजेताओं ने चीनी कला का एक प्रान्तीय स्वरूप, जो भारतीय बौद्ध, ईरानी, बेक्ट्रिया और मंगोलों के प्रभावों का सम्मिश्रण था, ईरान में प्रस्तुत किया। मंगोलों के तैमूरवंशीय उत्तराधिकारियों ने उसे जारी रखा। ईरानी राज-सभा से घनिष्ठ सम्पर्क होने के कारण मुगल इस कला को भारत में ले आये। अकबर के राज्यकाल में इस भारतीय-चीनी-ईरानी कला की विशिष्टताएँ भारत की तत्कालीन चित्र-कला की शैलियों की रचनाओं में सम्मिलित होकर घुल-मिल गयी। ये शैलियाँ गुजरात, राजस्थान, विजयनगर, बीजापुर, अहमद-नगर और कतिपय अन्य स्थानों में प्रचलित थीं। इसीलिए कहा जाता है कि प्रारम्भिक मुगल-चित्र-कला ईरानी-कला से अधिक प्रभावित हुई थी पर धीरे-धीरे यह भारतीयता के रंग में रँग गयी। उपरोक्त वर्णित सम्मिश्रण के फलस्वरूप ही चित्र-कला की एक नवीन शैली का प्रादुर्भाव हुआ जिसे भारतीय ईरानी शैली (Indo-Persian School) कहते हैं। परन्तु क्रमशः विदेशी मंगोल तत्त्व विलुप्त हो गये और स्पष्टतया भारतीय प्रतिभा सर्वोपरि हो उठी। पटना की खुदाबख्श लाइब्रेरी में सुरक्षित 'खानदान-ए-तिमुरिया' और 'पादशाहनामा' के चित्रों की नकलों से यह स्पष्ट हो जाता है। संक्षेप में, मुगलकालीन चित्र-कला अकबर की राजसभा में फली-फूली, जहाँगीर के युग में चरम पराकाष्ठा को पहुँची, शाहजहाँ के वैभवकाल में उसका उच्चतम उत्कर्ष दृष्टिगोचर हुआ और औरंगजेब के शासनकाल में अन्य ललित-कलाओं के ह्रास के साथ उसका भी अवसान हो गया।

अकबर के शासनकाल में चित्र-कला—अपने तैमूरवंशी पुरखाओं के समान बाबर भी चित्र-कला को प्रोत्साहित करता था। वह प्रकृति के रम्य रूपों को देखकर अत्यन्त आह्लादित होता था। भारत से निर्वासित हो जाने के बाद ईरान में रहते समय हुमायूँ ने भी चित्र-कला के प्रति अभिरुचि उत्पन्न कर ली थी। वह ईरान से लौटते समय अपने साथ मीर सैयद अली तबरिजी और ख्वाजा अब्दुस्समद नामक ईरान के दो निपुण चित्रकारों को 'दास्तान-ए-अमीर-हमजा' की सुन्दर, पूर्ण सचित्र प्रति बनाने के लिए भारत ले आया था। इन्होंने अपने भारतीय सहायकों के साथ कार्य करते हुए मुगल-चित्र-कला का केन्द्र स्थापित किया जो अकबर के शासनकाल में प्रसिद्ध हो गया। ऐसा कहा जाता है कि अकबर ने इन दो चित्रकारों से चित्र-कला की शिक्षा प्राप्त की थी। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता और हिन्दुओं के साथ उसके सक्रिय संसर्ग से इस युग की चित्र-कला प्रभावित हुई। परिणामस्वरूप हिन्दू और चीनी-ईरानी शैलियों का समन्वय हुआ। अकबर ने स्वयं चित्र-कला को बड़ा प्रोत्साहन दिया। सौ से अधिक चित्रकारों ने ख्याति प्राप्त कर ली और कम प्रतिभा-सम्पन्न चित्रकारों की संख्या तो सैकड़ों हो गयी थी। अकबर के दरबार मे ईरानी या अन्य विदेशी कलाकार संख्या में कम थे। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध अब्दुस्समद, फर्रुखबेग और जमशेद थे। हिन्दू चित्रकार अधिक प्रभुत्वशाली थे और अकबर के शासन में सत्रह प्रमुख चित्रकारों में कम से कम तेरह हिन्दू थे। अबुलफजल का मत था कि समस्त विश्व में ऐसे विरले ही होंगे जो कला में इनके सानी थे। अकबर विशेष रूप से उनकी प्रशंसा करता था। वे मनुष्यों की तस्वीर बनाने, पुस्तक को चित्रित करने और पशुओं के चित्र बनाने में अत्यन्त ही निपुण थे। इनमें प्रमुख दसवन्त, बसावन, साँवलदास, ताराचन्द, लालकेसु, मुकुन्द, हरीवंश और जगन्नाथ थे। पृष्ठभूमि के चित्रण तथा भाव व्यंजना में बसावन अत्यन्त कुशल था।

अकबर ने चित्र-कला को प्रत्येक सम्भव रूप में प्रोत्साहित किया और 'चंगेजनामा', 'जफरनामा', 'रामायण', 'कालियादमन' जैसे अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों के चित्रों को बनाने के लिए उसने प्रवीण और सफल चित्रकारों को नियुक्त किया था। जब सम्राट अकबर फतहपुरसीकरी में निवास करता था तब चित्र-कला की सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ बनायी गयी थीं।

अकबर ने इस मत का प्रतिपादन करके कि "चित्रकार के पास ईश्वरीय सत्ता से साक्षात्कार करने के विचित्र साधन हैं" चित्र-कला को धार्मिक रूप देने का प्रयास किया। इस प्रकार मुसलमानों की दृष्टि में चित्र-कला को ऊँचा उठाकर, दरबार में साप्ताहिक प्रदर्शनियों की व्यवस्था करके और उचित पुरस्कार प्रदान करके, कलाकारों के लिए चित्रशालाओं (Studios)

का प्रबन्ध करके, सौ से अधिक कलाकारों को मनसबदार, अहदी और पैदल सिपाहियों के पदों पर नियुक्त करके तथा चित्र-कला की सामग्री के उत्पादन और क्रय-विक्रय में सुधार करके अकबर ने भारतीय चित्र-कला को बहुत ही अधिक प्रोत्साहन दिया। अकबर का चित्र-कला का अनुराग इतना श्रेष्ठ था कि गुजरात पर आक्रमण करते समय वह अपने सैनिकों के साथ तीन चित्रकारों को भी लेता गया था। परन्तु अकबरकालीन चित्र-कला जनता की कला बनने की अपेक्षा दरबार की कला बनकर ही रह गयी। सम्राट, राजसभा व राजाज्ञाओं का चित्रण ही इस समय की चित्र-कला का प्रधान विषय था और इसके व्यक्ति-चित्र ही साधारण जनता तक पहुँच सके।

जहाँगीर के शासनकाल में चित्र-कला—चित्र-कला की जो शैली अकबर के शासन के अन्तर्गत विकसित हुई थी, जहाँगीर के शासनकाल में उसके उत्साह-पूर्वक संरक्षण के कारण फलती-फूलती रही। अकबर के शासनकाल में ईरानी व भारतीय शैली के समन्वय से जो नवीन शैली विकसित हुई वह जहाँगीर के शासनकाल में पुष्ट और परिपक्व होकर पूर्णता को प्राप्त हुई। सामंजस्य व समाहार के काल का अन्त हो गया एवं अभिव्यक्ति व प्रसार के युग का सूत्रपात हुआ। जहाँगीर स्वयं ऐतिहासिक चित्रों का अच्छा संग्रहकर्ता और उच्चकोटि का निपुण कला-मर्मज्ञ था। उसे चित्र-कला का ऐसा अनुभव हो गया था कि वह चित्र को देखकर ही चित्रकार का नाम बता सकता था। प्राकृतिक दृश्य जहाँगीर के चित्रकारों के प्रिय विषय थे। जहाँगीर सौन्दर्यो-पासक था और उसके चित्रकार अपने संरक्षक की भावना में रँग गये थे। पौधों, पुष्पों, पशु-पक्षियों और अन्य प्राकृतिक वस्तुओं का चित्रण अपनी प्रगति के सर्वश्रेष्ठ स्तर पर पहुँच चुका था। जहाँगीर स्वयं चित्र-कला का विद्यार्थी होने के कारण भारत और उसके बाहर अन्य देशों की चित्र-कला की समस्त शैलियों के सर्वोत्कृष्ट नमूने राज्य के चित्रालय में निरन्तर एकत्र करता था। उसके उत्साह और उसके कलाकारों के कला-चातुर्य से मुगल चित्र-कला ईरानी प्रभावों से मुक्त हो गयी एवं नवीन भारतीय शैली का विकास हुआ जो हिन्दू परम्पराओं की ओर अधिक झुकती थी। जहाँगीर के समय भारतीय चित्र-कला ने ईरानी-कला के ऊपर विजय प्राप्त कर ली थी। अब वह पूर्णतया भारतीय हो गयी थी और विदेशी तत्त्व भारतीय तत्त्वों में घुल-मिलकर एक हो गये थे। ऐसा माना जाता है कि मुगल चित्र-कला जहाँगीर के शासनकाल में अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। जहाँगीर का युग मुगल चित्र-कला का स्वर्णयुग था। इस काल की चित्र-कला में नवीनता, स्वाभाविकता, स्वस्थता, गतिशीलता और सजीवता का समावेश हो गया था। वह सम्राट जहाँगीर के मनोभावों की अभिव्यक्ति का सरल साधन और उसके रंगीन

व्यक्तित्व का महज माध्यम बन गयी थी। व्यक्ति-चित्र और आखेटों तथा युद्धों का दृश्य चित्रण ही इस काल के प्रमुख विषय थे। प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण अत्यन्त सूक्ष्म और भावपूर्ण, स्वाभाविक और यथार्थ हुआ जिसमें अलंकारिक जड़ता नाममात्र को भी नहीं है। असाधारण वृक्ष, पुष्प और पशु-पक्षियों के यथार्थ चित्रण और नकल सम्राट की आज्ञा से किये जाते थे, परन्तु कभी-कभी उनकी यथार्थता में भ्रम होता है। जहाँगीर के समय के प्रसिद्ध चित्रकार फारुखबेग, मुहम्मद नादिर, मुहम्मद मुराद, आकारजा और उस्ताद मंसूर थे। यद्यपि हिन्दू चित्रकारों को जहाँगीर की राजसभा में अधिक प्रोत्साहन उपलब्ध नहीं हुआ, तो भी विशनदास, केशव, मनोहर, माधव और तुलसी जैसे हिन्दू चित्रकारों ने यश प्राप्त किया था। जहाँगीर के साथ मुगल-कला की अन्तरात्मा का भी अन्त हो गया था। पर्सी ब्राउन (Percy Brown) ने ठीक ही कहा है कि "उसके (जहाँगीर) देहावसान के साथ ही मुगल चित्र-कला की आत्मा भी विलीन हो गयी।"

शाहजहाँ के युग में चित्र-कला—जहाँगीर के बाद चित्र-कला का पतन प्रारम्भ हो गया। शाहजहाँ चित्र-कला की अपेक्षा भवन-निर्माण-कला में अधिक रुचि रखता था और उसके शासनकाल में दरबारी चित्रकारों की संख्या भी घट गयी। फलत: शाहजहाँकालीन चित्र-कला में सजीवता, मौलिकता और सरसता नहीं है। उसकी रचना व सृजन में किसी भी प्रकार की विलक्षणता नहीं है। सम्राट् जहाँगीर ने व्यक्तित्व से संयोजित कर चित्र-कला में जो जीवन की नवीन स्फूर्ति पैदा कर दी थी; वह शाहजहाँ की राजसभा के गहन शिष्टाचार में विलुप्त हो गयी। राजसी शिष्टाचार, वैभव एवं मर्यादाओं के परिणामस्वरूप चित्रकारों को राजसभा और राजमहलों की आन्तरिक जीवन की झाँकी के अवलोकनोपरान्त उसका चित्रण करने की राजाज्ञा न थी। अतएव शाही वैभव, धन-सम्पन्न सामन्तों, उनकी सभाओं, अमूल्य वस्त्राभूषण तथा रत्नजड़ित पर्दों के चित्रण तक ही उनकी चित्र-कला सीमित थी। पर इस प्रकार के चित्रण में अलंकरण की प्रचुरता है। जहाँगीर की कला में रंगों का जैसा सुन्दरतम समन्वय है, उसकी अपेक्षा शाहजहाँ के दरबारी चित्रों में श्रेष्ठ रंगों और स्वर्ण का प्रयोग अधिक है—यही शाहजहाँ के समय की चित्र-कला की विशिष्टता है। चित्रण में रंगों का इतना सूक्ष्म प्रयोग है कि अधिकतर दर्शकों को यह भ्रम हो जाता है कि रंगों के स्थान पर मणियों के टुकड़े जड़े गये हों। यद्यपि मुगलकाल के वैभव का चित्रण शाहजहाँकालीन चित्र-कला ने पूर्णरूपेण किया, परन्तु चित्रकार की तूलिका शक्तिविहीन और नीरस थी, उसमें जीवन का अभाव झलकता था, भाव-व्यंजना का ह्रास था और रंगों की उत्पत्ति में सूक्ष्म बातों को भी प्रधानता

दी जाती थी। इससे प्रकट होता है कि इस काल में चित्र-कला धीरे-धीरे पतन की ओर अग्रसर होने लगी थी। यद्यपि इस समय चित्रों की संख्या में कमी नहीं हुई थी, परन्तु उनके गुणों में अवश्य ह्रास हो गया था।

शाहजहाँ के समय के चित्रों में व्यक्ति-चित्र ही विशिष्ट माने गये हैं। ये चित्र प्रायः व्यक्तियों की स्थिर मुद्राओं के हैं। इनमें रेखाओं की स्पष्टता के साथ-साथ रंगों और रेखाओं का मिश्रण अति सूक्ष्म है। परन्तु इनमें भाव-व्यंजना क्षीण है और मुख-मुद्राओं की आन्तरिक अभिव्यक्ति में सजीवता का अभाव है। फलतः व्यक्तित्व व चरित्र के अध्ययन में ये चित्र उत्तम साधन न बन सके। कालान्तर में जब इन व्यक्ति-चित्रों की माँग बढ़ने लगी और इसके व्यवसाय में बहुलता आ गयी तब व्यक्ति चित्र के स्वतन्त्र चित्रण की अपेक्षा उसके स्थान पर स्टेन्सिल (stencil) की सहायता से उनकी प्रतिक्रियाएँ बनायी जाने लगीं। चित्र-कला के ह्रास का यह एक प्रमुख उदाहरण है। इसी प्रकार पशु-पक्षियों के चित्रांकन में भी स्वाभाविकता और सजीवता का अभाव हो गया। नभ में पंख खोलकर विचरण करते हुए या उन्मुक्त वन-विहार करते हुए पक्षियों के चित्रों की अपेक्षा, उनके ऐसे अस्वाभाविक चित्र निकाले गये मानो वे जान-बूझकर चित्र बनवाने के हेतु स्वयं तैयार होकर खड़े हों। रायकृष्णदास ने अपने ग्रन्थ 'भारत की चित्र-कला' में मुगलकालीन चित्र-कला का विवेचन करते हुए ठीक ही कहा है कि इस युग की कला में अत्यधिक सूक्ष्मता, रंगों की दिव्यता, अंग-प्रत्यंगों का प्रदर्शन व हाव-भाव, मुद्राओं की स्पष्टता होने पर भी शाही दरबार के शिष्टाचार की जटिलता और शाही दबदबा इतना अधिक है कि इन चित्रों में एक प्रकार का सन्नाटा दृष्टि-गोचर होता है।

शाहजहाँ के राज्यकाल में मुगल-चित्र-कला से राजकीय आश्रय लगभग उठा लिया गया था। अतएव कलाकारों को सामन्तों और राजकुमारों के यहाँ नौकरियाँ ढूँढ़ने के लिए बाध्य होना पड़ा, बाजारों में चित्र-गृह स्थापित करने पड़े और अपनी जीविका-उपार्जन के हेतु अपने चित्र सर्वसाधारण को बेचने पड़े। ऐसी दशा में कलाकारों को प्रगति कर श्रेष्ठता प्राप्त करने के कोई अवसर प्राप्त नहीं होते थे और उन्हें विपरीत परिस्थितियों में बहुत छोटे परिश्रम के हेतु कार्य करना पड़ता था। फिर भी मुगल राजकुमार दारा-शिकोह (जिनका चित्रों का संग्रह इंगलैण्ड में इण्डिया ऑफिस में है) कला के उदार संरक्षक थे। उनकी आकस्मिक मृत्यु से कला को बहुत भारी आघात पहुँचा। शाहजहाँ के काल के प्रमुख चित्रकार मीर हाशिम, अनूपचित्र और चित्रमणि थे।

औरंगजेब के राज्यकाल में चित्र-कला—औरंगजेब कला को राज्याश्रय देना धर्म के पवित्र नियमों के विरुद्ध मानता था। इसलिए उसने मुगल-चित्र-

कला को अन्तिम आघात पहुँचाया। उसके राज्यकाल में अन्य ललित-कलाओं के समान चित्र-कला का भी ह्रास हुआ। ऐसा कहा जाता है कि बीजापुर के आसार महल के चित्रों को उसने कुरूप कर नष्ट कर दिया था एवं सिकन्दरा में अकबर के मकबरे की आकृतियों पर सफेदी पुतवा दी थी। इतना होने पर भी चित्रकार सम्पूर्णतया विलीन नहीं हुए थे। औरंगजेब के युद्धों और दुर्गों के घेरों के चित्र आज भी विद्यमान हैं जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि उसने पूर्ण रूप से कला को निरुत्साहित नहीं किया था। इसके अतिरिक्त विभिन्न दशा में उसके बहुसंख्यक चित्र उसकी स्वीकृति या अस्वीकृति से अंकित किये गये थे और ऐसा कहा जाता है कि वह समय-समय पर अपने विद्रोही पुत्र मुहम्मद सुलतान के चित्रों का निरीक्षण करता था जिससे कि वह कारागृह में उसकी दशा से अवगत हो जाय।

औरंगजेब के पश्चात् चित्र-कला—औरंगजेब के बाद में मुगल-चित्र-कला का अवशिष्ट वैभव भी विनष्ट हो गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् कतिपय शेष चित्रकार बंगाल, मैसूर, हैदराबाद और अवध के प्रान्तीय राज्यों की राजधानियों में चले गये और वहाँ उन्होंने अपनी प्राचीन परम्पराओं को जारी रखा। परन्तु उन्हें वहाँ जो राज्याश्रय प्राप्त हुआ और जो कृतियाँ उन्होंने वहाँ बनायीं वे मुगलों के संरक्षण और कृतियों की अपेक्षा अत्यन्त निम्नकोटि की थीं। फिर भी प्रान्तीय शासकों के राज्याश्रय में नयी-नयी शैलियों का उत्कर्ष हुआ।

मुगलकालीन चित्र-कला की विशषताएँ—मुगल-चित्रों के विषय विविध रहे। उनमें आखेट, युद्ध, शाही राजसभा के जीवन, रामायण, महाभारत आदि भारतीय पौराणिक आख्यायिकाओं, ऐतिहासिक घटनाओं, शाहनामा जैसे अभारतीय गाथाओं, प्रकृति के नाना रूपों जैसे पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, फल-फूल आदि के चित्र हैं। परन्तु इन चित्रों में न तो आध्यात्मिकता को स्थान है और न घरेलू जीवन को। यद्यपि मुगल-चित्र-कला में भारतीय वातावरण को स्थान प्राप्त हुआ है, परन्तु इसमें भारतीय जीवन की भावनाएँ अभिव्यक्त नहीं हुई। इसमें न तो जनता का जीवन ही चित्रित हुआ न जनता का हृदय ही। यद्यपि मुगल-चित्रों में केला, बड़, पीपल, आम, मयूर, मृग, सिंह, गज, भृंग आदि भारतीय वस्तुएँ, विषय, प्राकृतिक वातावरण तथा भारतीय वस्त्राभूषणों का स्वाभाविक व यथार्थ चित्रण हुआ है परन्तु उनमें साधारण जनता के तत्कालीन जीवन की झाँकी नहीं झलकती। ये चित्र उस युग की जनता की दशा का बोध करने में पूर्ण सहायक नहीं हैं।

शैली की दृष्टि से मुगल-चित्र-कला में ईरानी अलंकारिता के स्थान पर सजीवता और स्वाभाविकता आ गयी थी। इस चित्र-कला में रेखाओं की गोलाई और कोमलता, आकृतियों में गति और स्फूर्ति, हस्त-मुद्राओं में सजीवता

और उनके प्रयोग का बाहुल्य है। विविध चटकीले, सुनहले और रुपहले रंगों का भी प्रयोग खूब हुआ है। व्यक्ति-चित्र के चित्रण में आकृति के अंकन, व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण और मुख व मस्तक के बनाने में चित्रकारों ने सूक्ष्मता और पटुता प्रदर्शित की है। परन्तु इस शैली में भाव व जीवन का अभाव-सा है। मुगल-काल के वैभव और विलास की परिधि में यह कला जकड़ गयी और शाही दरबारी अदब-कायदे में बँध गयी थी। फलस्वरूप इसमें एक प्रकार की कृत्रिमता और जड़ता उत्पन्न हो गयी।

राजपूत या राजस्थानी चित्र-कला—हिन्दुओं की प्राचीन चित्र-कला-शैली मुगलों के अन्तर्गत विकसित नवीन शैली में विलीन नहीं हुई थी। ईरानी और मुगल शैलियों के सम्पर्क के फलस्वरूप इसकी पुनः जागृति हुई। राजपूत चित्र-कला शैली राजस्थान और मध्य भारत के हिन्दू नरेशों की राजसभाओं में समृद्ध थी। यह प्रारम्भिक हिन्दू परम्पराओं का प्रस्फुटित रूप था। इस शैली की अभिव्यक्ति हिन्दू है और इसे अजन्ता शैली से उत्पन्न माना गया है। भक्ति आन्दोलन और नवीन हिन्दू धर्म की प्रेरणा पा इसमें नवजीवन का संचार हुआ और यह नवीन दशा में विकसित हुई। राजस्थान के जयपुर में इसका प्रधान केन्द्र रहने से इसे राजस्थानी कहा गया। सत्रहवीं शताब्दी में यह पहाड़ी शैली के नाम से प्रसिद्ध हुई और इसमें कतिपय विशिष्ट परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे। सन् १५५० के आसपास राजस्थानी शैली का समुदय माना गया है और दो सौ वर्षों तक फलने-फूलने के पश्चात् इसका पतन होने लगा। इसके पतन के साथ-साथ पहाड़ी शैली के उत्थान का युग है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में पहाड़ी शैली विभिन्न रियासतों में फलती-फूलती रही। राजस्थानी और पहाड़ी शैली का अन्तर उल्लेखनीय है। यदि राजस्थानी चित्र-कला शैली अलंकारिक है तो पहाड़ी भाव-प्रधान। राजस्थानी शैली की अपेक्षा पहाड़ी शैली के विषय अधिक विस्तृत हैं। उसमें रामायण, महाभारत व पुराणों की आख्यायिकाओं के अतिरिक्त लोक-कथाओं और कृषक-जीवन का सफल चित्रण है। यद्यपि दोनों में रसों का उच्चतम चित्रण, रेखाओं में भावानुकूलता और जीवन की गतिशीलता का प्रवाह है, परन्तु पहाड़ी शैली में रागमालाओं का चित्रण कर चित्र-कला और संगीत का सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है।

राजस्थानी चित्र-कला व मुगल चित्र-कला में अन्तर—यदि राजस्थान और पहाड़ी शैली में अन्तर है तो राजस्थानी और मुगल चित्र-कला शैली में भी विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। राजपूत शैली अपनी चमक-दमक और अलंकरण के प्रभाव के कारण प्रसिद्ध थी। इसके विषय लोकप्रिय थे और उनसे सभी अवगत थे। अपने दिव्य गुणों के लिए प्रख्यात राजपूत जाति की भावनाओं

को यह शैली रेखाओं और रंगों में अभिव्यक्त करती थी। सीधे-सादे ग्रामीण के जीवन, उसके धर्म तथा आमोद-प्रमोद को यह शैली स्पष्टतया प्रकट करती थी। गाँव के बाजार, पनघट, खेत, खलिहान, घरेलू काम-धन्धे और उद्योग-धन्धे, आमोद-प्रमोद सफलतापूर्वक चित्रित हुए हैं और चित्रकार की तूलिका से ये सजीव हो उठे हैं। यात्रा और यात्रा के विश्राम-स्थल तथा रामायण व महाभारत के चित्रों का भी अंकन इस शैली में हुआ है। अजन्ता की चित्र-कला में जो स्थान बुद्ध और उनकी जीवन-घटनाओं ने लिया था, वही स्थान राजस्थान शैली में कृष्ण और उनकी जीवन लीलाओं ने ले लिया था। कृष्ण के साथ-साथ गाय, हाथी, मयूर आदि पशु-पक्षियों का चित्रण भी श्रेष्ठ हुआ है। शिव और पार्वती के भी कतिपय चित्र अंकित हुए। इसके अतिरिक्त करुणा, सहानुभूति, स्नेह, प्रेम, वात्सल्य आदि मानवी गुणों का चित्रण इतना श्रेष्ठ हुआ है कि चित्र सौन्दर्य-युक्त हो गये और मूक भाव सहसा प्रकट हो सजीव हो उठे। इस प्रकार राजपूत-शैली ने धर्म और मानव-जीवन का कला से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर लिया था और उसकी आध्यात्मिक तथा भावनामय प्रेरणाओं से यह ऐहिक मुगल-शैली से आगे बढ़कर अधिक श्रेष्ठ हो गयी। मुगल चित्र-कला शैली शाही राजसभा की शान-शौकत और वैभव में ही सीमित रह गयी। मुगलों की विलासिता और वैभव के प्रदर्शन में ही कला संकुचित और कृत्रिम हो गयी। इसके विपरीत, राजस्थानी चित्र-कला धार्मिक, रहस्यमय और व्यापक होकर साधारण जनता की वस्तु बन गयी। यदि मुगल-शैली में ऐहिकता की पराकाष्ठा है तो राजस्थानी में आध्यात्मिकता की। यदि एक का लक्ष्य मनोरंजन था तो दूसरी का धर्म का क्रियात्मक रूप प्रदर्शित कर जन-जीवन की झाँकी झलकाना।

मुगल-शैली के समान राजपूत-शैली के व्यक्ति-चित्र भी उपलब्ध हुए हैं जिनमें सामन्तों और नरेशों के चित्र अधिकतर हुक्का पीते हुए हैं। इनमें यथार्थता पूर्णरूपेण है। मुगल सम्राटों की नकल करके हिन्दू राजा और सरदारगण भी अपने-अपने पुस्तकालयों में चित्रों के संग्रह व सचित्र पुस्तकें रखते थे जिसकी उत्कृष्टता व भव्यता की कल्पना जयपुर के संग्रह से की जा सकती है।

सुन्दर लेखन-कला

चित्र-कला से अत्यधिक सम्बन्धित सुन्दर लेखन-कला थी। यही एक ऐसी कला थी जिसका अभ्यास करने की अनुमति कट्टर धार्मिक मुसलमानों ने दी थी और मुस्लिम देशों में तत्परता से इसका अभ्यास किया जाता था। सुन्दर अक्षर लिखने वाले प्रसिद्ध व्यक्तियों को उनके कार्यों के लिए प्रचुर धन प्रदान किया जाता था। मसजिदों की सजावट के लिए सुन्दर लेखन-कला का अधिक उपयोग किया जाता था। मसजिदों के प्रवेश द्वारों; दीवारों और खिड़कियों

पर कुरान की आयतें लिखी जाने लगीं। विभिन्न प्रकार के अक्षर लिखे जाते थे। अकबर के दरबार के प्रसिद्ध सुन्दर लेख लिखने वालों में जिनकी एक सूची 'आईन-ए-अकबरी' में सुरक्षित है, काश्मीर का मुहम्मद हुसेन सबसे अधिक प्रतिष्ठित था। अकबर ने इसे 'जरींकलम' की उपाधि दी थी।

संगीत

मुगल सम्राटों ने संगीत को भी राज्याश्रय दिया और उसे खूब प्रोत्साहित किया था। बाबर स्वयं संगीत-प्रेमी था। उसने अनेक गीतों की रचना की जो उसके देहावसान के पश्चात् भी प्रचलित रहे। हुमायूँ भी संगीत में रुचि रखता था वह प्रति सोमवार और बुधवार को गायकों व संगीतज्ञों के सहवास का आनन्द उठाता था और उनके सरस गान सुनता था। संगीत-कला के संरक्षण में सूर बादशाह भी मुगलों से पीछे नहीं थे। इनमें इस्लामशाह और आदिल-शाह विशेष उल्लेखनीय हैं। अकबर भी संगीत में अधिक अभिरुचि रखता था। उसे स्वयं संगीत की विशेषताओं का ज्ञान था और वह नक्कारा बड़े सुन्दर ढंग से बजा लेता था। ऐसा कहा जाता है कि उसने कतिपय रागों की रचना भी की थी। उसके संगीत-प्रेम ने उसकी राजसभा में हिन्दू, ईरानी, तूरानी, काश्मीरी आदि संगीतज्ञों को आकर्षित कर लिया था। इनमें नर और नारी दोनों ही सम्मिलित थे। शाही दरबार के संगीतज्ञ सात समुदायों में विभक्त थे और प्रत्येक के लिए सप्ताह में एक दिवस निश्चित था। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्वालियर का मियाँ तानसेन था जिसके विषय में अबुलफजल लिखता है, कि 'भारत में उसके समान गायक एक सहस्र वर्षों से नहीं हुआ है।' अकबर द्वारा शाही दरबार में नियुक्त मालवा के बाजबहादुर के विषय में भी यही कहा जाता है कि वह हिन्दी के गीतों में और संगीत के विज्ञान में अपने युग का सबसे अधिक निपुण व्यक्ति था।' अकबर के दरबार में ३६ उच्चकोटि के गायक रहते थे। अबुलफजल और मुबारक के अतिरिक्त अब्दुररहीम खान-ए-खाना, राजा भगवानदास और मानसिंह जैसे अकबर के राज-दरबारी संगीतज्ञों को संरक्षण देते थे। इससे हिन्दुस्तानी संगीत के विकास को खूब प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। प्रसिद्ध गायकों द्वारा रागों के नवीन प्रकार प्रचलित किये गये और संगीत पर संस्कृत में लिखे ग्रन्थों का फारसी भाषा में अनुवाद किया गया। हिन्दू और मुसलमानों के सहवास और विचारों के आदान-प्रदान से संगीत-कला की प्रभूत प्रगति हुई और तराना, ठुमरी, गजल, कव्वाली आदि नवीन रागों का सृजन हुआ। कतिपय विद्वानों का मत है कि प्राचीन भारतीय तथा ईरानी संगीतों के सम्मिश्रण से एक नवीन संगीत-शैली का प्रादुर्भाव हुआ जो दोनों शैलियों से अधिक उत्कृष्ट और मनोहारिणी थी।

संगीत-प्रेमी होने से जहाँगीर ने भी अपने पिता के दरबार की परम्पराओं

को जारी रखा और संगीतज्ञों को प्रोत्साहित किया। शाहजहाँ भी संगीत का बड़ा रसिक और प्रेमी था। वह स्वयं कतिपय मधुर और सुखद हिन्दी गीतों का रचयिता था और वाद्य तथा गेय दोनों प्रकार के संगीत को वह सुनता एवं आनन्दित होता था। अन्य संगीतज्ञों के साथ-साथ उसने हिन्दू संगीतज्ञों को भी राज्याश्रय दिया था। प्रमुख हिन्दू संगीतज्ञों में जगन्नाथ और बीकानेर के जनार्दन भट्ट विशेष उल्लेखनीय हैं। शाहजहाँ के देहावसान के पश्चात् संगीत-कला की अवनति हो चली थी। औरंगजेब का युग संगीत के परम अपकर्ष का युग था। यद्यपि औरंगजेब संगीत-विज्ञान में निपुण था, परन्तु गाने-बजाने का प्रतिकार करता था। नृत्य और संगीत को वह अधार्मिक कृत्य समझता था। इसलिए उसने संगीत को प्रोत्साहित नहीं किया और उस पर प्रतिवन्ध लगा। दरबार से उनका सर्वथा बहिष्कार कर दिया। यही नहीं, उसने अपनी राजसभा से समस्त संगीतज्ञों को निकाल दिया। फलतः संगीतज्ञ और संगीताचार्य मुगल-दरबार से निराश होकर प्रान्तीय नरेशों और नवाबों की शरण मे चले गये। इस समय सबसे अधिक प्रसिद्ध और उल्लेखनीय संगीताचार्य भागदत्त था जो राणा अनूपसिंह के राज्याश्रय में रहता था। मुगल सम्राट् औरंगजेब के पश्चात् मुहम्मदशाह रंगीले ने संगीत को प्रोत्साहित कर उसे जीवन दान दिया। उसके काल में श्रीविहीन मुगल-दरबार अदारंग और सदारंग 'ख्यालों' से गुंजित हो उठा। इसके अतिरिक्त शोरी मियाँ ने भी टप्पा गायन का प्रचार किया जिसकी विशिष्टता कण्ठ से दानेदार स्वर निकलना है। इसी समय हिन्दू और ईरानी शैलियों के सम्मिश्रण से और भी नवीन सुमधुर सरल संगीत शैलियों व ध्वनियों का निर्माण हुआ। इनमें से अधिकतर शृंगारिक हैं। इसके कतिपय वर्षों बाद श्रीनिवास ने संगीत पर 'रागतत्त्व नवबोध' नामक ग्रन्थ की रचना की। ये उत्तरी भारत के मध्ययुगीन संगीत पर लिखने वाले अन्तिम ग्रन्थकार माने गये हैं। मुगलों के अतिरिक्त दक्षिण के सुलतान भी संगीतज्ञों की एक सेना रखते थे; गोलकुण्डा में तो बीस हजार संगीतज्ञ माने जाते थे। इसके अतिरिक्त समस्त हिन्दू राजसभाओं में संगीत जीवन का एक आवश्यक अंग माना जाता था। मुगलयुग में संगीतज्ञों की स्थिति में परिवर्तन हो गया था। हिन्दू संगीत को प्रधानतया एक धार्मिक कला व कृत्य समझते थे और संगीत के प्रति प्रेम, श्रद्धा व भक्ति रखने से समाज में उनका स्थान निम्न नहीं होता था। दक्षिण भारत में आज भी अनेक निपुण और सफल संगीतज्ञ सर्वश्रेष्ठ सामाजिक स्तर के ब्राह्मण हैं। यद्यपि मुस्लिम दरबारों में संगीत को खूब प्रोत्साहन मिला, परन्तु नृत्य व गाना-बजाना एक ही व्यवसाय समझा जाता था, क्योंकि संगीतज्ञों में प्रधानतया कुख्यात नर्तकियाँ होती थीं। परिणामस्वरूप शिक्षित मध्यम-वर्ग में संगीत की लोकप्रियता कम

हो गयी और लोग संगीत को सामन्तों के भोग-विलास की वस्तु समझने लगे। सर्वसाधारण में संगीत की शिक्षा को निरुत्साहित किया जाने लगा। फलतः पाठशालाओं और 'उस्ताद' के संगीत तथा लोकगीतों और लोकनृत्यों में विभेद की उन भावनाओं का उत्कर्ष हुआ जो उत्तरी भारत में आज भी दृष्टि-गोचर होती हैं। इसके विपरीत, दक्षिण भारत में संगीत राजा से लेकर रंक तक सभी व्यक्तियों का विषय बना रहा।

मुस्लिम-युग और मुगल शासन की देन

भारत में मुस्लिम-युग और मुगल-शासन की निम्नलिखित देन हैं :

१. **बाह्य देशों के सम्पर्क की पुनः स्थापना**—भारत के एशिया के अन्य देशों से प्रारम्भिक बौद्ध-युग में जो घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हुए थे, वे आठवीं सदी के लगभग विनष्ट हो गये। परन्तु बारहवीं सदी के अन्त में मुस्लिम विजय से से इनकी स्थापना पुनः हो गयी। भारतीय जलसेना और भारतीय सामुद्रिक व्यापार पुनरुज्जीवित हो गये। सहस्रों विदेशी भारत में आये और मुगलों के डेढ़ सौ वर्षों के शासन में भारत का नाम विश्व में उच्च स्तर पर हो गया और उसकी गणना सबसे अधिक सशक्त और सभ्य देशों में होने लगी थी।

२. **आन्तरिक शान्ति**—भारत के अधिकांश भाग में, विशेषकर विन्ध्याचल के उत्तर में आन्तरिक शान्ति व सुव्यवस्था स्थापित हो गयी थी। इससे उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन मिला और लोग समृद्धिशाली हो गये।

३. **एकसी केन्द्रीय शासन-व्यवस्था**—लगभग दो सौ वर्षों के मुगल शासन ने समस्त उत्तरी भारत को और दक्षिण के अधिकांश भाग को एक समान केन्द्रीय शासन-व्यवस्था, सुदृढ़ व सुसंगठित प्रान्तीय शासन, एक शासकीय भाषा, सिक्के और हिन्दू पुरोहितों तथा स्थायी ग्रामीण लोगों के अतिरिक्त सब के लिए लोकप्रिय राष्ट्रीय भाषा प्रदान की। मुगल-शासन-प्रणाली के कतिपय तत्त्व आज भी भारत में दृष्टिगोचर होते हैं। भूमि-कर-पद्धति, 'सूबा' और 'सरकार' में देश का विभाजन और अन्न तथा सिक्कों में भूमि-कर-संग्रह प्राचीन मध्ययुगीन दशा में स्पष्ट सुधार थे।

मुगल साम्राज्य के सभी बीसो 'सूबाओं' में एकसी शासन-व्यवस्था थी, एकसा ही शासकीय क्रम, एकसी ही शासकीय उपाधियाँ; और शासकीय भाषा फारसी थी। अधिकारी और सैनिक दोनों ही अधिकतर एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में स्थानान्तर किये जाते थे और इस प्रकार सभी विशाल भारत की एकता का अनुभव करते थे।

४. **सांस्कृतिक जीवन**—मुस्लिम युग और मुगल शासन ने हिन्दू संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया। मुगलों ने जिन सामाजिक सुविधाओं, वेश-भूषा, शिष्टाचार व रीति-रिवाज को प्रसारित किया था, उन्हें सर्वसाधारण ने

स्वीकृत किया। अचकन व पाजामे को प्रमुख स्थान दिया गया। हमारी सुन्दर हिन्दुस्तानी वेश-भूषा, स्त्री और पुरुष दोनों की, आज भी वही है जो हम मुगल काल के चित्रों में देखते है। हमारी शानदार हिन्दुस्तानी भाषा और शिष्टाचार तथा वेश-भूषा के ढंग मुगल दरबारियों और नागरिकों की देन हैं। वसन, बोली, विचार, साहित्य, संगीत, चित्र-कला और वास्तु-कला सभी पर मुगलों की छाप है। ये न तो विशुद्ध रूप से हिन्दू हैं और न मुस्लिम, पर दोनों का सुन्दर सम्मिश्रण और समन्वय हैं। विभिन्न मतों और सम्प्रदायों के होने पर भी सामाजिक रीति-रिवाजों और वसनों में एकरूपता उत्पन्न हो गयी थी। वास्तव में संस्कृति के क्षेत्र में मुगलकाल में पुनर्जागृति और समन्वय दोनों ही हुआ।

५. भोग-विलास की भावना और ललित-कलाएँ—भोग-विलास और ललित-कलाओं की सामग्री पर मुस्लिम प्रभाव अधिक पड़ा और मुगलों ने भोग-विलास की बेजोड़ भावना प्रोत्साहित की। मुगलों ने, जो हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक भोग-विलास का जीवन व्यतीत करते थे, ललित-कलाओं और ऐश-आराम की अनेक वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया। इन्होंने भोजन की नवीन सामग्री, नये फल, पाकशास्त्र की नवीन प्रणालियाँ एवं नयी प्रथाएँ, सुगन्धित इत्र व तेल, सजावट के साधन आदि प्रचलित किये। ये सभी भोग-विलास की भावना में रँगे हुए थे। फलस्वरूप शाल बनाने, कमखाब, मलमल, दरियाँ व कालीन आदि जैसे सुन्दर विलास की सामग्री के उत्पादन को उदारता-पूर्वक प्रोत्साहन मिला। संगीत और चित्र-कला को खूब प्रेरणा मिली। मुगल-कालीन संगीत की छाप हमारे संगीत पर कव्वाली, ठुमरी, गजल आदि के रूप में आज भी विद्यमान है। इसी प्रकार तबला व सारंगी भी इसी मुस्लिमयुग की देन है। हमारा हिन्दुस्तानी संगीत और वाद्य यन्त्र आज भी वे ही हैं जो उस युग में मुगल सम्राटों, सरदारों और साधारण जनता को आनन्द देते थे। चित्र-कला का नवीन रूप भी मुगलों की एक देन है। हमारे रमणीय और आनन्ददायक हिन्दुस्तानी चित्रों में आज भी उस रंग-बिरंगे युग की आभा झलकती है। मुगल चित्र-कला-शैली की अनेक कृतियाँ आज भी विश्व के सबसे प्रसिद्ध अजायबघरों के संग्रहों की शोभा बढ़ा रही हैं। ईरानी और चीनी प्रभाव विनष्ट कर दिये गये और जहाँगीर के शासनकाल में चित्र-कला के क्षेत्र में भारतीयकरण का क्रम अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच गया था। मुगल-युग में भारतीय कलाकारों ने सर्वोत्कृष्ट प्रतिभा प्रदर्शित की।

६. हिन्दू-मुस्लिम कला (Indo-Saracen Art)—मुस्लिम-युग और मुगल शासन की सर्वश्रेष्ठ देन भवन-निर्माण-कला की नवीन शैली है जो विशेष-कर महलों और मकबरों तथा उद्यान-निर्माण में विकसित हुई है। सम्राटों के

अपरिमित धन और ऐश-आराम की प्रबल भावना ने उन्हें उच्चतम सौन्दर्य के भवन-निर्माण करने और उद्यान लगवाने की प्रेरणा दी। उनके लगाये हुए उद्यानों में आज भी लाखों मनुष्य आनन्द लेते हैं। मुगलों के पूर्व बाग केवल फल-फूलों के लिए वन-से थे। परन्तु मुगलों के बाग विकसित उद्यान-कला के प्रतीक थे। मुगलों के उद्यानों की विशेषता यह थी कि उनमें ऊँचे स्थानों से नहरों को लाकर उनके जल से उद्यान में कृत्रिम जल-प्रापत निर्मित किये जाते थे। नहरों में झूमते हुए फव्वारे होते थे और नहरों के दोनों ओर रमणीय हरे-भरे वृक्षों की पंक्तियाँ और रंग-बिरंगे सुमनों की क्यारियाँ होती थीं। उद्यान में या तो सबसे ऊँचे या सबसे नीचे फव्वारे पर बारहदरी होती थी। वहाँ से उद्यान व उद्यान के समीप के समस्त दृश्यों का सिंहावलोकन किया जा सकता था। काश्मीर के शालीमार, निशात, अच्छावल, वैरीनाग और लाहौर के शालीमार उद्यान मुगलों की देन हैं।

मुगलों ने अनेक नवीन नगरों व भवनों का निर्माण कराया। इनमें हिन्दू व मुस्लिम आदर्शों का तथा कला-लालित्य और कला-शैलियों का सुन्दरतम समन्वय था। फतहपुरसीकरी नगर जिसे अकबर ने बसाया था और जिसके भवन भी अकबर ने बनवाये थे, भवन-निर्माण-कला के हिन्दू-मुस्लिम विचारों के सम्मिश्रण का उदाहरण है, जो आज भी विद्यमान है। ताजमहल, मोती मसजिद, एत्मादुद्दौला का मकबरा और लाल किला तथा उसके महल व मकबरों के विषय में जितना अधिक कहा जाय उतना ही कम है। इस युग के भवनों, महलों, मकबरों व मसजिदों की विशेषता विस्तृत प्रांगण, जिसके चतुर्दिक प्रकोष्ठ, विशाल गुम्बद, भव्य दरवाजे, उच्च मीनारें और कटे व तराशे हुए पाषाण, टुकड़ों व ईंटों की समानुपातिक जुड़ाई है।

७. देशी भाषाओं के साहित्य का विकास—मुगलों ने सुरक्षा की भावना प्रदान की जिससे लोगों को अवकाश मिला और उनमें अपने मस्तिष्क के विचारों को प्रकट करने की उत्कट लालसा उत्पन्न हुई। फलस्वरूप समस्त प्रान्तों में साहित्य का सहसा विकास हुआ। भक्ति और एकेश्वरवाद के आन्दोलनों को नवीन प्रेरणा मिली जिससे देशज भाषाओं के साहित्य भी प्रभावित हुए। अकबर के सुदीर्घ शासन की शान्ति व समृद्धि तथा उसके व उसके अधीनस्थ नरेशों के राज्याश्रय ने साहित्यिक प्रेरणा दी, जिससे सोलहवीं शताब्दी के अन्त में और सत्रहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारतीय बौद्धिक प्रतिभा विलक्षण रूप से प्रस्फुटित हो उठी। बनारस हिन्दू ज्ञान के पुनर्जागरण का केन्द्र हो गया। हिन्दू संस्कृति को प्रसारित करने का यह प्रमुख स्थान हो गया और पुनः विश्वविद्यालय का स्थान बन गया। खण्डदेव रघुनाथ शिरोमणि, शाहजहाँ के मित्र और दारा-शिकोह के गुरु कविन्द्र आचार्य जैसे बड़े-बड़े विद्वान् व आचार्य बनारस के बड़े

केन्द्र को सुशोभित करते थे। मुसलमान कवियों ने भी अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य को सम्पन्न किया। देशज भाषाओं, उर्दू तथा संस्कृत के साहित्यों पर उन लेखकों व कवियों की छाप आज भी हमें दीखती है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुगल-सम्राट् की अनुकम्पा व संरक्षण का आनन्द उठाते थे।

८. भारतीय फारसी साहित्य—मुगलकाल में फारसी साहित्य का भी अत्यधिक सृजन हुआ। भारतीय संस्कृति के कोष को भारतीय इस्लाम की यह एक प्रमुख देन है। मुस्लिम व मुगल-युग में भारत में फारसी भाषा के बड़े बड़े कवि हुए जिनमें अमीर खुसरो, फैजी, मुहम्मद हुसेन आदि प्रसिद्ध थे। भारत के अनेक ग्रन्थ जैसे रामायण, महाभारत, अथर्ववेद आदि का अनुवाद फारसी में हुआ।

६. हिन्दुस्तानी—मुस्लिम शासन की अन्य देन शासकीय गद्य-शैली हिन्दुस्तानी है। फारसी भाषा में लिखने वाले हिन्दू मुंशियों का हिन्दुस्तानी के सृजन करने में अधिक हाथ था। बाद में मराठा चिटनीसों ने इसे अपना लिया था।

१०. युद्ध-कला में सुधार—इस युग में युद्ध-कला में सुधार हुआ। बारूद व तोपखाने का प्रसार हुआ जो हिन्दुओं की प्राचीन प्रथाओं से अधिक श्रेष्ठ थे। अश्व और अश्वारोही का महत्त्व सेना में अधिक बढ़ गया और उस युग में यह कहावत प्रचलित हो गयी कि घोड़े की जीन मुसलमानों के लिए राज-गद्दी के समान है। साहसी व दृढ़ अश्वारोही सेना के बल पर ही मुसलमानों ने अनेक युद्धों में विजयश्री उपलब्ध की। रणक्षेत्र में विशिष्ट संगठन और तोपों के समुचित प्रयोग से ही मुसलमानों को विजय प्राप्त करना सुलभ था। परन्तु सेना के हेतु खाद्य सामग्री का उचित प्रबन्ध न होने के कारण सैनिकों को अपने और अपने अश्व के लिए अनुचित साधनों का उपयोग करना पड़ता था फलतः खेतों में खड़ी फसलों का काटना, गाँवों को लूटना और उजाड़ना युद्धकाल में साधारण बात थी। हिन्दू नरेशों ने मुसलमानों की नकल करके गजसेना के स्थान पर अश्वारोही सेना और तोपखाने का प्रयोग करना आरम्भ किया।

११. ऐतिहासिक साहित्य—मुस्लिम शासकों के उदार संरक्षण के फल-स्वरूप ही भारत के पास ऐतिहासिक साहित्य का सुन्दर संग्रह है। मध्य युग और मुगलकाल के प्रसिद्ध इतिहासकार बरनी, मिनहाजसिराज, बदायूनी, अबुलफजल, फरिश्ता और खाफीखाँ थे। ऐतिहासिक लेख, जीवनियाँ आत्म-कथाएँ, पत्र, राज्य-वंशों का वृत्तान्त आदि इस युग की देन हैं जो तत्कालीन इतिहास निर्माण में बहुत सहायक हैं। इस प्रकार इस युग में भारतीय संस्कृति में आत्म-कथाओं, पत्र, जीवनियों आदि का एक नवीन व उपयोगी तत्त्व आ गया।

१२. एकेश्वरवादी धार्मिक पुनरुत्थान और सूफी मत—इस्लाम धर्म और इस्लामी समाज का हिन्दुओं पर प्रभाव पड़ा। हिन्दू तथा मुसलमानों के परस्पर सम्पर्क से भारतीय धार्मिक तथा सामाजिक जीवन अत्यन्त प्रभावित हुआ। इसके परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म में एकेश्वरवादी पुनर्जागरण और हिन्दू समाज में जाति-व्यवस्था विरोधी आन्दोलन तथा इस्लाम में सूफी मत प्रारम्भ हो गये। हिन्दुओं के सुधारवादी आन्दोलनों को मुसलमानों से खूब प्रेरणा प्राप्त हुई। रामानन्द, कबीर, दादू, नानक और चैतन्य तथा इन सबके सम्प्रदाय इस पुनर्जागरण और आन्दोलन की ही उपज थे। इसके अतिरिक्त प्राचीन धार्मिक विश्वासों में अन्धविश्वास भी घर कर गया। पीर और शहीद, साधु और सन्त उनके विलक्षण कार्यों में कृष्ण और राम के समान माने जाने लगे और आज भी ग्रामों में यही भावना विद्यमान है। इस्लाम धर्म का सूफी सम्प्रदाय हिन्दुओं के वेदान्त का एक अंग है। अकबर और उसके प्रपौत्र दाराशिकोह के उदार संरक्षण में सूफी मत का खूब विकास व प्रचार हुआ और दाराशिकोह ने तो यह घोषणा कर दी थी कि उसे वेदान्त में पूर्ण सर्वेश्वरवाद या तौहीद (Pantheism) प्राप्त हुआ है। ईरान से आने वाले अनेक उदार विचार वाले व्यक्तियों ने भी सूफी मत के प्रसार व प्रचार में खूब योग दिया।

१३. मुस्लिम प्रभाव के अन्य उदाहरण—मुसलमानों के छह शताब्दियों के सुदीर्घ शासन का सांस्कृतिक प्रभाव बड़ा व्यापक रहा। आखेट, बाज का उड़ाना और अन्य खेल अपने ढंग, प्रणाली और शब्दों में मुस्लिम हो गये। हिन्दी, बंगाली, गुजराती और मराठी भाषाओं में तथा शासन के अनेक विभागों में फारसी, अरबी और तुर्की शब्दों की प्रचुरता बढ़ गयी। युद्ध-कला में मुगल सम्राट् की सेना एक नमूना थी जिसका अनुकरण हिन्दू नरेशों ने बड़े उत्साह से किया। सभ्यता के विकास और तोपखाने के उत्कर्ष के कारण किलेबन्दी की कला में भी बहुत सुधार हुआ।

शासन-प्रणाली, दरबारी प्रथाएँ व वेश-भूषा, उच्च वर्गों का जीवन, भोग-विलास की सामग्री, ललित-कलाएँ, वास्तु-कला, उद्यान-निर्माण कला आदि पर मुस्लिम प्रभाव बड़ा गहन रहा। दरबारी जीवन, उपाधियाँ और राज्याधिकारियों की शासकीय कार्यवाही में मुगल-साम्राज्य नवीन आदर्श रखता था जिनका अनुकरण हिन्दू नरेश करते थे। राजस्थान और मालवा के कतिपय हिन्दू और राजपूत राज्यों में बीसवीं सदी में प्रारम्भ के तीस वर्षों तक शासकीय भाषा उर्दू बनी रही और देवनागरी के स्थान पर फारसी लिपि का प्रयोग किया जाता था। मालगुजारी प्रथा और दफ्तरों की व्यवस्था और प्रणालियों में भी मुसलमानों ने परिवर्तन किये और हिन्दू राजाओं ने उनका अनुकरण किया।

मुसलमानों ने अधिक विलासप्रिय होने के कारण नागरिक जीवन को प्रोत्साहित किया। उन्होंने अपने दैनिक जीवन की अधिक सुसंस्कृत अभिरुचि को भी प्रोत्साहन दिया और अपने दुर्गुणों में भी वृद्धि की जिनका धन-सम्पन्न हिन्दुओं और अधिकारी-वर्ग ने अनुकरण किया। बाह्य प्राकृतिक सौन्दर्य में सुवासित पदार्थों व इत्रों में और कुछ अंश तक संगीत और नृत्य में भी मुस्लिम राजवंशों ने समस्त भारतीय समाज की अभिरुचि का पथ-प्रदर्शन किया।

इसी युग में मुसलमानों ने भारत में कागज का प्रचार किया और परिणामस्वरूप ताड़-पत्रों पर नुकीले लौह-कलम से लिखने की अपेक्षा अधिक आकर्षक और टिकाऊ पुस्तकों की संख्या में अभिवृद्धि होने लगी। हस्तलिखित पुस्तकों को सुन्दर चित्रयुक्त बनाना एक कला है जिसके लिए भारत मुगलों का ऋणी है। अकबर के समय से ही हिन्दू राजकुमारों के लिए हिन्दी और संस्कृत ग्रन्थों की नकल कर उन्हें आकर्षक ढंग से सचित्र किया जाने लगा था और भारत में फारसी पुस्तकों की सचित्रता और सुन्दर लेखन-कला को यूरोप में भी उस समय यश प्राप्त हुआ था। पुस्तकों की नकल करके उनका प्रचार कर ज्ञान की अभिवृद्धि करने की जो प्रथा प्रारम्भ हुई उसके लिए हम मुसलमानों के ऋणी हैं। इसके पूर्व हिन्दू लेखक अपने ज्ञान और पुस्तकों को गुप्त रखने का प्रयास करते थे। मुसलमानों की अन्य देन जो अभी तक प्रचलित है यूनानी चिकित्सा पद्धति है।

प्रश्नावली

१. मुगलकाल के समाज और सामाजिक रचना का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

२. मुगल साम्राज्य में लोगों की आर्थिक व सामाजिक दशाओं का वर्णन कीजिए और सम्राटों के संरक्षण में होने वाले हस्त-कलाओं और ललित-कलाओं के विकास का हाल लिखिए।

३. मुगलों के अन्तर्गत भारत के वाणिज्य-व्यापार और कल-कारखानों का संक्षेप में वर्णन कीजिए और इस मत का विवेचन कीजिए कि उन दिनों भारत उस अर्थ में धनाढ्य देश नहीं था जिस अर्थ में आज धनी समझा जाता है।

४. "अकबर के अन्तर्गत मुगल राजधानी में कला और संस्कृति की ऐसी समृद्धि हुई थी जैसी कि पहले कभी नहीं हुई थी।" इस कथन की सत्यता की व्याख्या कीजिए।

५. "मुगल दरबार की कला और संस्कृति हिन्दू और मुस्लिम आदर्शों के समन्वय की प्रतीक थी।" विवेचन कीजिए।

६. "ललित कलाओं और वास्तु-कला में मुगल-युग पूर्णरूपेण आविष्कार और पुनर्जागरण का काल ही नहीं परन्तु उन प्रणालियों की अविच्छिन्नता

और उत्कृष्टता का युग था, जिनका सूत्रपात तुर्की-अफगान काल के उत्तरार्द्ध में हो चुका था।" इस कथन का विवेचन कीजिए।

७. मुगल भवन-निर्माण-कला के प्रमुख तत्त्वों को समझाइए और मुगल इमारतों के ठोस उदाहरण देकर अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए।

८. मुगल राजवंश के प्रथम शासकों के अन्तर्गत मुगल वास्तु-कला और उसके विकास का विवेचनात्मक हाल लिखिए।

९. अकबर की मृत्यु के पश्चात् मुगल वास्तु-कला के प्रमुख तत्त्वों को समझाइए और अपने उत्तर के लिए शाहजहाँ के राज्यकाल के भवनों का वर्णन करते हुए उदाहरण दीजिए।

अथवा

"भवन-निर्माण-कला-क्षेत्र में शाहजहाँ का शासनकाल सबसे अधिक प्रतिष्ठित है।" इस कथन की व्याख्या करके समझाइए।

१०. "वास्तु-कला और अन्य ललित-कलाओं के क्षेत्र में यह निर्विवाद है कि मुगलकाल में सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ शाहजहाँ के शासनकाल में हुई।" (वी० ए० स्मिथ) विवेचन कीजिए।

११. मुगल साम्राज्य में चित्र-कला के उत्कर्ष का हाल लिखिए। किन कारणों से इसका ऐसा विकास हुआ ?

१२. मुगलकाल में चित्र-कला के प्रकार और समुदाय का विवेचन कीजिए।

अथवा

चित्र-कला और स्थापत्य-कला के क्षेत्र में मुगलकाल की सफलता-सिद्धियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

अथवा

मुगल चित्र-कला की प्रमुख विशिष्टताओं को समझाइए और राजपूत चित्र-कला तथा मुगल चित्र-कला दोनों की तुलना कीजिए।

१३. "उसके (जहाँगीर) अवसान के साथ ही मुगल चित्र-कला की अन्तरात्मा भी विलीन हो गयी।" (पर्सी ब्राउन) इस कथन की व्याख्या कीजिए।

१४. महान् मुगलों के अन्तर्गत भारत में हुई शिक्षा की प्रगति का विवेचन कीजिए। उन्होंने कहाँ तक इसको सुधारने का प्रयास किया ?

१५. मुगलों के अन्तर्गत हुई संगीत की प्रगति का संक्षिप्त हाल लिखिए।

१६. मुगलयुग में नारियों की दशा पर विवेचनात्मक टिप्पणी लिखिए।

१७. मुगलयुग के राम व कृष्ण सम्प्रदायों के प्रमुख प्रवर्तकों के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों और उपदेशों का विश्लेषण कीजिए और लोगों के जीवन और साहित्य पर इनका जो प्रभाव पड़ा उनका मूल्यांकन कीजिए।

१८. हिन्दी साहित्य की प्रगति पर विशिष्ट प्रकाश डालते हुए मुगलयुग की साहित्यिक गतिविधि पर एक छोटा निबन्ध लिखिए।

१९. मुगलकाल की देन का विवेचन कीजिए।

२०. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

तुलसीदास, फतहपुरसीकरी, ताजमहल, अबुलफजल, सूफी मत, सूरदास, अरवा, मुगल-उद्यान, राजपूत चित्र-कला शैली, तानसेन।

२१. भारत में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता स्थापित करने के लिए अकबर द्वारा किये गये कार्यों का विवेचन कीजिए। वह अपने प्रयासों में कहाँ तक सफल हुआ?

१५

भारत में ईसाई सामुद्रिक शक्तियाँ और महान् पुनरुत्थान

पुर्तगाली—मध्ययुग में भारतीय शासकों की नीति में सामुद्रिक नीति का सर्वथा अभाव था। फलस्वरूप कालीकट में वास्कोडिगामा के आगमन के पश्चात् सन् १४९९ में पुर्तगालियों की सामुद्रिक शक्ति जिसका केन्द्र यूरोप में था भारतीय समुद्र में प्रविष्ट हो गयी। लगभग डेढ़ सौ वर्षों के युग में उन्होंने भारत में विशाल प्रादेशिक साम्राज्य ही नहीं, अपितु पश्चिमी समुद्रतट पर कतिपय स्थानों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर अपने भारतीय व्यापार का साम्राज्य प्रतिष्ठित कर दिया। यद्यपि भारत में यूरोप के अन्य सामुद्रिक शक्तियों के आगमन के पश्चात् पुर्तगाली साम्राज्य विलीन हो गया, तथापि भारत के सांस्कृतिक जीवन के विकास में उन्होंने भी अपनी कुछ देन दी है। उन्होंने कुछ अंश तक भारतीय शब्द-भण्डार और चिकित्साशास्त्र को अधिक सम्पन्न किया है। भारत की जड़ी-बूटियों पर गरसिया डी ओर्टा (Garcia de Orta) की पुस्तक एक महत्त्वशाली विषय पर सर्वप्रथम नियमित अध्ययन का उदाहरण है। वेरापोली और गोआ में मुद्रणालयों का प्रयोग और भारतीय पादरियों की शिक्षा के हेतु धार्मिक शालाओं की स्थापना ज्ञान-क्षेत्र में पुर्तगालियों की प्रशंसनीय देन हैं। अलंकरणयुक्त विशिष्ट भवन-निर्माण-कला (Ornate Manuelesque architecture) जिसे उन्होंने पश्चिमी समुद्रतट पर अधिक लोकप्रिय बनाया और उसके द्वारा प्रचारित बँगलों के ढंग के भवन विशेष उल्लेखनीय हैं। उत्साही कैथोलिक धर्म-प्रचारकों के नाते पुर्तगालियों ने बहुसंख्यक सीरियन (Syrian) ईसाइयों को कैथोलिक समुदाय के अन्तर्गत एकत्र कर लिया और पूर्व में फिलिपाइन द्वीपसमूह को छोड़कर भारत को कैथोलिक सम्प्रदाय का सबसे बड़ा क्षेत्र बना दिया। इन्हीं धर्म-प्रचारकों के प्रयास के परिश्रमस्वरूप भारत में कैथोलिक सम्प्रदाय का वैयक्तिक अस्तित्व आज भी है और यहाँ के कैथोलिक ईसाइयों की संख्या ईसाइयों के विभिन्न सम्प्रदायों के सभी सदस्यों की संख्या से कहीं अधिक है। वर्तमान युग में भारत की धार्मिक भवन-निर्माण-कला और विशेषकर दक्षिण भारत की कला पुर्तगाली है। मीलापुर (Mylapore) का विशाल गिरजाघर तथा पश्चिमी समुद्रतट

के अन्य गिरजाघर पुर्तगालियों के धार्मिक उत्साह के सबल प्रमाण हैं। व्यापार में पुर्तगालियों के एकाधिकार ने भारतीय वस्तुओं के लिए और विशेषकर मसाले और मलमल के लिए विश्व में ऐसे विशाल पैमाने पर बाजार स्थापित कर दिया था जैसा अभी तक नहीं हुआ था और पुर्तगाली व्यापार ने ही भारत में यूरोप व चीन की वस्तुएँ, विशेषकर चीनी बरतन, प्रसारित कीं। पुर्तगाली व्यापार का अन्य महत्त्वशाली अंग विजयनगर राज्य को ईरानी घोड़े देना था। वस्तुतः विजयनगर साम्राज्य का बाह्य-व्यापार पुर्तगालियों के हाथों में ही था।

डच—सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ में हालैण्ड के निवासी डच लोगों ने मलाबार और कारोमण्डल समुद्रतट पर अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिये और सन् १६५४ में लंका को जीत लिया। इससे पुर्तगालियों की सत्ता और व्यापार के एकाधिकार को भारी क्षति पहुँची। परन्तु डच भारत में कोई विशाल सैनिक शक्ति स्थापित न कर सके और अंग्रेजों की बढ़ती हुई बस्तियों और व्यापार के कारण डच लोगों के वाणिज्य-व्यापार का महत्त्व धीरे-धीरे कम होता गया और अन्त में अंग्रेजों ने उन्हें भारत से खदेड़ दिया।

अंग्रेजों और फ्रांसीसियों का आगमन--सन् १६०० में पूर्वी देशों से व्यापार करने के लिए ब्रिटेन में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुई। पुर्तगालियों के विरोध का दमन करके इस कम्पनी ने भारत में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिये और मुगल सम्राटों से कतिपय व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त कर लीं। सन् १६६४ में फ्रेंच ईस्ट कम्पनी की स्थापना के बाद फ्रांस भी इस क्षेत्र में कूद पड़ा। मद्रास के समुद्रतट पर इसने कुछ बस्तियों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। अठारहवीं सदी के मध्य में दक्षिण भारत पर अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए फ्रांसीसियों और अंग्रेजों में निरन्तर संग्राम हुए जो कर्नाटक युद्ध के नाम से प्रख्यात हैं। दोनों पक्षों ने भारतीय राज्यों के प्रतिद्वन्द्वियों की सहायता प्राप्त की, परन्तु क्लाइव की प्रतिभा तथा फ्रांस की जलसेना को समुद्र पर से प्रभुत्व-विलीन हो जाने के कारण अंग्रेजों के हाथ विजयश्री लगी। सन् १७६१ में फ्रांसीसी बस्तियों की राजधानी पाण्डिचेरी पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया और इस घटना से फ्रांसीसियों को ऐसा भयंकर आघात लगा कि वे फिर भारत में उठ न सके। फ्रांसीसियों की शक्ति के पतन और मैसूर नरेश टीपू सुलतान के अवसान के पश्चात् दक्षिण भारत अंग्रेजों के नियन्त्रण में आ गया। इसी बीच में उत्तरी भारत में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की मालगुजारी वसूल करने का अधिकार भी मुगल सम्राट शाह आलम की ओर से सन् १७६५ में अंग्रेज कम्पनी को प्राप्त हो गया। इसके फलस्वरूप भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी राज्य-प्रभुता वाली शक्ति बन गयी।

भारत का ब्रिटिश साम्राज्य—बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी के अधिकार प्राप्त होने के पश्चात् इंगलैण्ड ने भारत में सर्वभौमिक सत्ता के हेतु नियमित रूप से युद्ध किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सर्वप्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज (१७७४-१७८५) ने कम्पनी के प्रदेशों को एक सूत्र में संगठित करने के लिए मराठों, हैदरअली, टीपू सुल्तान और रुहेलों से युद्ध किया और शासन में सुधार भी किये। उसके उत्तराधिकारी लार्ड कार्नवालिस ने कम्पनी के प्रदेशों के एकीकरण के कार्य को जारी रखा, शासन को विशुद्ध किया, अराजकता को दूर कर व्यवस्था स्थापित की और बंगाल का प्रसिद्ध इस्तमुरारी बन्दोबस्त किया। लार्ड वेलेजली के आगमन से एक नवीन युग प्रारम्भ होता है। अल्पकालीन युद्ध द्वारा उसने मैसूर की शक्ति का अन्त कर दिया। और मराठों के नेता पेशवा को कम्पनी के अधीन कर लिया। सहायक सन्धियों द्वारा उसने भारतीय राज्यों को कम्पनी पर आश्रित कर दिया। इसके पश्चात् लार्ड हेस्टिंग्ज (१८१३-१८१८) ने मराठा नरेश—होल्कर और सिन्धिया—की शक्ति कम कर दी, राजपूत राज्यों को अंग्रेजी संरक्षण में ला दिया, पेशवा को राजगद्दी से उतारकर उसके दक्षिण के साम्राज्य को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। सन् १८४५-४८ में युद्ध करने के बाद पंजाब भी अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया और इसके पश्चात् अवध का राज्य भी। इसी बीच में डलहौजी की हड़प नीति और गोद न लेने-देने की प्रथा ने सतारा, झाँसी, नागपुर आदि राज्यों को अंग्रेजी राज्य में मिला दिया। सन् १८५६ तक सिन्धु नदी से ब्रह्मपुत्र तक, हिमालय पर्वत से कुमारी अन्तरीप तक सार्वभौमिक रूप से अंग्रेजों का यूनियन जेक फहराने लगा। सन् १८५७ में सिपाही-विद्रोह नामक एक राष्ट्रव्यापी क्रान्ति हुई। इसका उद्देश्य अंग्रेजों को भारत से खदेड़ना और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करना था। यद्यपि निर्दयता से दमन किया गया, तथापि इसका महत्त्व दो प्रकार से है—प्रथम राष्ट्रीय स्वतन्त्रता व सम्मान को पुनः उपलब्ध करने का यह अन्तिम प्रयास था। इसका अपनी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए सत्ताविहीन लोगों का यह साहसपूर्ण प्रयत्न था। द्वितीय, यह भारतीय इतिहास में युग-विभाजन की एक महान् रेखा है, क्योंकि इसके पश्चात् आने वाले शासन के आदर्श, नीति, प्रणाली और व्यवहार इसके पूर्व के ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन से मौलिक रूप से भिन्न थे। सन् १८५८ में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने भारत का शासन अपने हाथों में ले लिया और भारतीय इतिहास के रंगमंच से ईस्ट इण्डिया कम्पनी अदृश्य हो गयी। सन् १८५८ से १९१३ तक भारत की सरकार के कार्य प्रधानतया मालगुजारी वसूल करने, शान्ति-व्यवस्था बनाये रखने और भारत की सीमाओं की सुरक्षा करने तक ही सीमित रहे। अंग्रेजी शासन ने न तो समाज

के पुनर्संगठन के हेतु, न जनसाधारण के नैतिक और भौतिक स्तर को ऊँचा करने के लिए और न देश की राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि करने के लिए कोई योजना ही कार्यान्वित की। भारत में अंग्रेजों ने सभ्यता व संस्कृति के सहायक साधन उपस्थित किये परन्तु सभ्यता व संस्कृति के प्रसार-कार्य स्वयं नहीं किये।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से भारतीयों ने अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए सक्रिय आन्दोलन प्रारम्भ किया। गांधीजी के नेतृत्व में सुदीर्घ काल तक संग्राम करते हुए भारतीयों ने अंग्रेजों को भारत की पूर्ण स्वाधीनता स्वीकृत करने के लिए बाध्य किया और अंग्रेजों के भारत छोड़ देने तथा अगस्त १९४७ में भारत को पूर्ण राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने पर भारत के इतिहास में एक नवीन अध्याय प्रारम्भ हुआ।

अंग्रेजों के अन्तर्गत भारत की भौतिक प्रगति

भारत में अंग्रेजों के शासन के परिणामस्वरूप कुछ विशिष्ट भौतिक प्रगति हुई जिसका विवरण निम्नलिखित है :

१. **यातायात**—उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारत में आवागमन के साधन तुलनात्मक दृष्टि से दोषयुक्त थे। रेलों से लोग अनभिज्ञ थे और भारतीय शासकों द्वारा निर्मित जो कतिपय सड़कें थीं, वे भी अपर्याप्त थीं तथा दिन-प्रतिदिन उनकी दशा भी गिरती जा रही थी। लॉर्ड डलहौजी के समय से इस दिशा में जो प्रगति हुई थी उससे देश में सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति हो गयी।

(क) रेलें—रेलों का जाल बिछाने का श्रेय अंग्रेजी शासन को ही है। ये रेलें भारत के यातायात प्रणाली का सबसे अधिक भाग हैं। सन् १८५७ के सिपाही विद्रोह के समय रेलों का सामरिक महत्त्व और अकालों के समय उसकी आर्थिक महत्ता का अनुभव हुआ। सन् १८९० के दुर्भिक्ष कमीशन की सिफारिशों पर अंग्रेज सरकार ने रेलों का निर्माण तत्परता से उत्साहपूर्वक किया। रेलों से जो आर्थिक लाभ हुआ उससे रेलें दूध पीते शिशु से दूध देने वाली गाय के समान हो गयीं। सन् १९०८ के मेके (Mackay) कमेटी की सिफारिशों के आधार पर रेलों के जाल ने देश के दूरस्थ प्रदेशों को जोड़ दिया और तब से अधिकाधिक रूप से रेलों का विस्तार होता ही गया।

(ख) सड़कें—भारत के प्रत्येक भाग में पहाड़ों और मैदानों में होती हुई अच्छी पक्की सड़कों का निर्माण हुआ। अनेक स्थानों में डामर और सीमेण्ट की सड़कें भी निर्मित हुई। इसके अतिरिक्त सहस्रों कच्ची सड़कें भी देश में बन गयीं।

(ग) जलमार्ग—यद्यपि कतिपय नदियों में नावों द्वारा यातायात हो सकता है परन्तु देश के जलमार्गों का विकास संतोषजनक ढंग से न हो सका। फिर भी इस दिशा में प्रगति उल्लेखनीय रही।

(घ) पोस्ट, टेलीग्राफ और टेलीफोन—अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत डाक तथा तार-क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई। डाक व तार विभाग सन्देश भेजने का सरल और सुलभ साधन है। लार्ड डलहौजी ने सर्वप्रथम तार की लाइन डलवायी; दो पैसे के पोस्टकार्ड का प्रचार उसका ही सुधार है। डाकखाना जनसाधारण के लिए बैंक का काम करता है और वे इसमें अपना बचा हुआ धन जमा कर सकते हैं। वहाँ उनका धन सुरक्षित रहता है और संकटकालीन अवस्था में यह उनके काम आता है। टेलीफोन प्रणाली ने दूरी का सम्पूर्णतया अन्त कर दिया, फलतः आज किसी भी बड़े नगर में कोई भी व्यक्ति अन्य किसी भी बड़े नगर में किसी भी मनुष्य से बात कर सकता है।

(ङ) बेतार का तार (Wireless) **और उड्डयन**—बीसवीं सदी के ये दो आश्चर्यजनक आविष्कार हैं जिनका प्रचार अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत भारत में हुआ। उड्डयन विभाग भारतीय यातायात तथा आवागमन का प्रमुख अंग माना जाता है। आज भारत विश्व के महत्त्वशाली देशों से हवाईमार्गों द्वारा जुड़ा हुआ है। बेतार के तार द्वारा आज विभिन्न स्थानों को तथा देश के भीतर और बाहर सन्देश भेजे और प्राप्त किये जाते हैं।

(च) रेडियो—अंग्रेजी शासन में ही भारत में रेडियो का प्रचार हुआ। इससे भारत समस्त विश्व के देशों से सम्बन्धित हो गया। आज रेडियो राष्ट्रीय प्रगति के विभिन्न अंगों के हेतु काम में लिया जा रहा है।

२. कृषि और सिंचाई—अंग्रेजी शासन के समय सुदीर्घ काल तक कृषि के लिए कुछ नहीं किया गया। परन्तु लॉर्ड कर्जन ने कृषि विभाग की स्थापना की और तब से इस क्षेत्र में निरन्तर प्रगति हो रही है। सन् १९२५ में पूना में कृषि सम्बन्धी एक अनुसन्धानशाला (Imperial Research Institute) स्थापित की गयी; कुछ प्रान्तों में कृषि कालिज खोले गये और कृषकों की ज्ञान वृद्धि के लिए प्रयोगात्मक विशाल खेत बनाये गये। इससे विद्यार्थियों को कृषि सम्बन्धी शिक्षा देना सुलभ हो गया, कृषकों का कृषि सम्बन्धी ज्ञान बढ़ गया और वे कृषि के नवीन वैज्ञानिक सिद्धान्तों व साधनों से अधिक परिचित होने लगे। सिंचाई में भी उन्नति हुई और अनेक प्रान्तों में नहरों का एक जाल-सा बिछ गया जिसके परिणामस्वरूप लाखों एकड़ बंजर भूमि कृषि के योग्य हो गयी। सक्खर बाँध, सतजल घाटी योजना, हैवल योजना, मण्डी जलविद्युत योजना और कुछ अन्य योजनाएँ इन्जीनियरिंग कार्य-कुशलता के आश्चर्यजनक उदाहरण हैं।

३. व्यापार, वाणिज्य व उद्योग—अठारहवीं शताब्दी में इंगलैण्ड की रक्षित-व्यापार-नीति (Protectionist Policy) और उन्नीसवीं सदी के मुक्त-व्यापार-नीति ने भारतीय व्यापार व उद्योग-धन्धों को भारी क्षति पहुँचायी। परन्तु

अन्तिम दो विश्वयुद्धों ने भारतीय वाणिज्य व उद्योग को खूब प्रोत्साहित किया। फलतः रुई व कपड़े का उद्योग, लोहा और फौलाद का उद्योग, पटसन, कोयला, पेट्रोलियम, सोना, मैंगनीज, रेशम, कागज, सीमेण्ट आदि भारत के प्रमुख उद्योग हो गये। यद्यपि आज उद्योग-धन्धों के लिए पूँजी बाहर नहीं आ रही है, श्रम अपर्याप्त है और औद्योगिक शिक्षण दोषपूर्ण है, फिर भी आश्चर्यजनक गति से भारतीय वाणिज्य और उद्योगों ने प्रगति की है।

४. शिक्षा—ब्रिटिश शासन में ही पाश्चात्य शिक्षा का बीजारोपण हुआ। पाश्चात्य साहित्य, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास और ज्ञान-विज्ञान की अन्य शाखाओं की शिक्षा का प्रसार भारतीय शिक्षण संस्थाओं में हो गया था। ऐसी शिक्षण-संस्थाएँ समस्त देश में स्थापित हो गयी थीं।

अंग्रेजी शासन की देन

लगभग दो शताब्दी के अंग्रेजी शासन ने भारत में अपनी देन छोड़ दी है। जो निम्नलिखित है :

१. विशाल शासन-यन्त्र का संगठन व प्रबन्ध—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के समय धीरे-धीरे एक शासन-व्यवस्था स्थापित हो रही थी। इसकी नींव लार्ड कॉर्नवालिस ने डाली थी। सिपाही-विद्रोह के पश्चात् के युग में केन्द्र व प्रान्तों में इस शासन-यन्त्र का विकास हुआ। केन्द्रीय भारतीय नौकरियों में भारतीय सिविल सर्विस (I. C. S.) भारतीय पुलिस सर्विस, (I. P. S.) और भारतीय मेडिकल सर्विस (I. M. S.), भारतीय ऑडिट और एकाउण्ट सर्विस (The Indian Audit and Accounts Service), भारतीय इंजीनियरिंग सर्विस (I. E. S.) आदि प्रमुख थीं और प्रान्तीय नौकरियों में माल-विभाग और न्याय-विभाग की नौकरियों ने ऐसे शासन यन्त्र का निर्माण किया जिसने चालीस कोटि मनुष्यों के शासन का भार सँभाल लिया। ऐसा भार पहले किसी भी सत्ता को नहीं सहन करना पड़ा था। ऐसी विशाल कुशल शासन-व्यवस्था बड़े पैमाने पर शासन-कार्य चलाने के लिए योग्य व समर्थ ही नहीं थी, अपितु शान्ति व सुरक्षा बनाये रखकर दुर्भिक्ष, प्लेग, खाद्यान्न समस्या, यातायात के साधन, कृषि सम्बन्धी योजना आदि को भी सँभालने में सशक्त थी। न्याय-दान उचित कानूनों के आधार पर पक्षपात-रहित था और न्याय-व्यवस्था समुचित थी। भूमि का नाप व उपज का परिणाम निर्दिष्ट कर लिया गया था और कृषकों से सरकारी भूमि-कर की माँग पूर्णरूपेण स्पष्ट और निश्चित कर दी गयी थी। शासन का नियन्त्रण सभी व्यक्तियों पर था। अंग्रेजों ने सुव्यवस्थित कुशल नौकरशाही द्वारा, जिसका अस्तित्व भारत में पहले नहीं था, शासन किया। उन्होंने यहीं के लोगों से अपने नियन्त्रण में देश का शासन संचालन किया और उनके ही

द्वारा देश पर नियन्त्रण रखा। वस्तुतः लगभग सौ वर्षों तक भारत ने शान्तिपूर्ण कुशल शासन का आनन्द उठाया परन्तु राष्ट्रीय प्रगति और सुख-वैभव की दृष्टि से अंग्रेजी शासन असफल रहा। वह लोगों की न्यायोचित माँगों को पूर्ण करने में असमर्थ था। अंग्रेजों की इस शासन-व्यवस्था ने व्यापारिक और आर्थिक शोषण की नीति अप्रत्यक्ष रूप से अपनायी, जिससे देश का धन बाहर ही बहता चला गया।

२. **लोकप्रिय राजनीतिक संस्थाओं का विकास**—भारत में लोकप्रिय संस्थाओं में वृद्धि व विकास का श्रेय अंग्रेजी शासन को ही है। भारत में अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत ही जनता में लोकतन्त्रवाद की विचारधाराएँ दृढ़ होती गयीं और प्रजातन्त्र की संस्थाओं का क्रमशः निर्माण होता गया। सन् १८५३ में कतिपय मनोनीत (nominated) सदस्यों के हेतु इसका विस्तार भी किया गया। मिण्टो-मार्ले-सुधारों के समय से प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाएँ लोकमत को धीरे-धीरे प्रकट करने लगीं और कालान्तर में संसदीय कार्यों के शिक्षण के लिए ये बहुमूल्य स्थान हो गयीं। मॉन्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों ने केन्द्र और प्रान्तों में प्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्त को कार्यान्विन करके और प्रान्तीय शासन में थोड़ा उत्तरदायित्व देकर संसदीय प्रशिक्षण के कार्य को और भी आगे बढ़ाया। बाद में सन् १९३५ के भारत सरकार के कानून के अन्तर्गत प्रान्तों में स्वायत्त शासन स्थापित हो गया। इसके अतिरिक्त लार्ड रिपन के स्थानीय स्वराज्य के सुधारों ने स्थानीय और म्युनिसिपल शासन की नींव डाली। कालान्तर में ये उच्च क्षेत्रीय प्रजातन्त्रीय संस्थाओं के लिए आधारशिला बन गये।

३. **देश का एकीकरण**—अंग्रेजी शासन की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण देन भारत का एकीकरण है। सिपाही विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजों ने जान-बूझकर एकीकरण की ऐसी प्रणाली का अनुकरण किया जिसका उद्देश्य भारतीय रियासतों में सम्पूर्ण व सफल रूप से अंग्रेजी सत्ता स्थापित करना ही नहीं था वरन् समस्त भारत को एक करना था। रेल, डाक, तार, मुद्रा, नमक-व्यवस्था आदि प्रमुख बाह्य स्वरूप थे जिनके द्वारा एकता सुलभ हो गयी। इसी प्रकार देशी रियासतों और ब्रिटिश प्रान्तों का भेदभाव एक ही वाइसराय की अधीनता में न्यून हो गया। प्रभुसत्ता के सिद्धान्त (Doctrine of Paramountcy) से अंग्रेजों ने देशी रियासतों की स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया और उन्हें प्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी सत्ता पर आश्रित कर दिया। इंगलैण्ड की रानी विक्टोरिया के साम्राज्यवादी उपाधि ग्रहण करने और दिल्ली में होने वाले तीन दरबारों ने विश्व के सम्मुख भारत की एकता प्रदर्शित कर दी। शासन की एकता और यातायात के सुलभ साधनों ने इस एकता को और भी दृढ़ कर दिया। लोगों

की सामाजिक विचारधाराओं में परिवर्तन हुआ, विभिन्न जातियों का सामाजीकरण हुआ। लोगों ने प्रान्तीय दृष्टिकोण त्याग दिया और एक भारतीयता की भावना अपनायी। एकसी वेश-भूषा, खान-पान, रीति-रिवाज, उत्सव, समारोह, राजनीतिक जागृति की भावना आदि ने इस प्रकार से उत्पन्न एकीकरण में खूब सहयोग दिया।

४. देशव्यापी शान्ति व सुरक्षा—भारत को अंग्रेजों की अन्य महत्त्वपूर्ण देन देशव्यापी शान्ति और आन्तरिक अराजकता तथा बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा की देन है। विदेशी आक्रमणों से मुक्ति एवं आन्तरिक सुरक्षा से देश में सर्वत्र शान्ति स्थापित हो गयी। विस्तृत प्रदेशों में प्रसारित ऐसी सुदीर्घकालीन शान्ति भारत में पहले स्थापित नहीं हुई थी। ऐसी सार्वभौम शान्ति राष्ट्रीय विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। शान्ति, सुरक्षा व सुव्यवस्था के जिस कार्य का अकबर ने सूत्रपात किया था, पर मुगल साम्राज्य के पतन ने जिसे अवरुद्ध कर दिया था, अंग्रेजों ने उसे धीरे-धीरे नष्ट कर सर्वत्र शान्ति व सुव्यवस्था स्थापित की।

५. बाह्य देशों से हमारे सम्पर्क की पुनः स्थापना—विश्व के अन्य देशों से प्राचीनकाल में हमारा जो सम्पर्क था अंग्रेजों ने उसे पुनः स्थापित कर दिया। प्राचीनकाल में चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, मलाया द्वीपसमूह, बाली, बोर्नियो, ईरान, अफ्रीका, रोम साम्राज्य आदि से भारत का सम्पर्क था। मुगल राज्य के पतन के पश्चात् ये बाह्य सम्बन्ध भी विच्छिन्न हो गये परन्तु अंग्रेजों ने पुनः हमारा सम्बन्ध विश्व के विभिन्न देशों से कर लिया; एशिया में ही नहीं अपितु अन्य महाद्वीपों से हमारा सम्बन्ध हो गया और विश्व के अन्य देशों को हमारे देश से सम्बन्धित कर दिया। मुस्लिम शासन के अन्तर्गत ऐसे सम्बन्धों की कल्पना स्वप्न में भी नहीं की जा सकती थी। अब भारत बदलते व प्रगति करते हुए महान् विश्व के मुख्य घटना-प्रवाहों के सम्मुख है और विश्व में होने वाले राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों से प्रभावित होता है। अब आजकल एकान्त स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करना हमारे सदस्य ग्रामों के लिए भी असम्भव हो गया है। आज भारत अपनी प्राकृतिक सीमाओं के अन्दर एकान्त-जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। विश्व के अन्य देशों से यह इतना अधिक सम्बन्धित हो गया है कि विश्व की घटनाओं का प्रभाव भारत पर और भारतीय घटनाओं का प्रभाव अन्य देशों पर अवश्यम्भावी है।

६. लोगों में एकान्विति (Homogeneity)—अंग्रेजी शासन के एक समान स्वरूप और देशव्यापी शान्ति ने भारत में विभिन्न जातियों और धर्मों को एक सूत्र में संगठित कर दिया। फलतः लोगों में एकान्विति की भावना उत्पन्न

हो गयी। सामाजिक समानता और जीवन व विचार की एकता की धाराएँ प्रबल हो गयीं। राष्ट्रीयता के मूल आधार-स्तम्भ ये ही हैं।

७. भारतीय समाज का आधुनिकीकरण—अंग्रेजों की अन्य महान् देन भारतीय समाज का आधुनिकीकरण है। धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों की बेड़ियों से भारत मुक्त होने लगा। सती-प्रथा, शिशु-हत्या, बाल-विवाह आदि कुरीतियों की अन्त्येष्टि हो गयी, अस्पृश्यता का जनाजा निकल गया और जाति-भेद का दुर्ग नष्ट हो गया। अंग्रेजी शासन के प्रभाव के अन्तर्गत ही आधुनिक सामाजिक प्रथाएँ, शिष्टाचार, खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन आदि का प्रचार हुआ।

८. आधुनिक शिक्षा—अंग्रेजों की एक विशेष महत्त्वशाली देन भारत में पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिक्षा का देश में खूब प्रचार हुआ। इस विषय का विशिष्ट वर्णन अन्यत्र हुआ है। इस शिक्षा के फलस्वरूप देश में भाषा की एकता का निर्माण और सांस्कृतिक एकता का प्रादुर्भाव हुआ। अंग्रेजी भाषा व शिक्षा ने स्वतन्त्रता की भावना को प्रोत्साहित किया, भारतीयों को अपनी हीन दशा का अनुभव कराया, इंगलैण्ड की रक्तहीन क्रान्ति, फ्रांस की ज्वलन्त क्रान्ति, अमरीका के स्वतन्त्रता-संग्राम और रूस की आर्थिक व राजनीतिक क्रान्ति के अध्ययन ने भारतीयों में क्रान्ति की प्रबल भावना उत्पन्न कर दी। इसके अतिरिक्त भारत को पाश्चात्य सभ्यता के समीप लाने और भारत में नवाभ्युत्थान उत्पन्न करने का श्रेय भी अंग्रेजी शिक्षा और यूरोपीय संस्कृति को ही है।

९. प्रगति की नवीन भावना—अंग्रेजी राज्य के प्रत्यक्ष कार्यों और अंग्रेजों के अप्रत्यक्ष उदाहरणों तथा पाश्चात्य शिक्षा व सभ्यता ने भारतीयों में उन्नति की एक नवीन प्रबल भावना उत्पन्न कर दी। इसके साथ-साथ आलोचना की एक नवीन प्रवृत्ति भी जागृत हो गयी। भारत के सर्वश्रेष्ठ विचारक तत्कालीन दशा से तीव्र असन्तोष प्रकट करने लगे और इस असन्तोष के परिणामस्वरूप उन्होंने हमारे राज्य, धर्म, शिक्षा, उद्योग-व्यवसाय, जीवन और विचारधारा को अधिकाधिक उत्तम बनाने का सतत् प्रयत्न किया। वे पश्चिमी सभ्यता की श्रेष्ठ बातों को ग्रहण करने लगे और अपने देश की दशा सुधारने का हार्दिक प्रयास करने लगे। हमारे सर्वोत्कृष्ट विचारक और सबसे अधिक प्रभावशाली सफल नेतागण पूर्वी अकर्मण्यता और भाग्यवाद (fatalism) का घोर विरोध करने लगे। उन्होंने अपनी दृष्टि भविष्य की ओर निर्दिष्ट कर दी। वे भूत की अपेक्षा भविष्य की ओर उत्सुकता से देखने लगे और उन्होंने व्यवहार में प्रगति के सिद्धान्त को अंगीकार कर लिया। इस दृष्टिकोण का परिणाम यह

हुआ कि शासन में अधिक विशुद्धता और कार्यक्षमता आ गयी तथा भारतीय जीवन के समस्त क्षेत्रों में विशिष्ट प्रगति हुई।

१०. ललित-कलाओं का पुनर्जागरण—अंग्रेजी शासन की प्रसिद्ध एवं प्रशंसनीय सफलता ललित-कलाओं के क्षेत्र में है। सन् १८६० ई० में एलेकजेण्डर कनिंघम पुरातत्त्व विभाग का सर्वप्रथम डाइरेक्टर नियुक्त हुआ। इस घटना ने तथा फर्ग्युसन के चिरस्मरणीय ग्रन्थ ने जिसमें भारत की वास्तु-कला के भव्य स्मारकों का विशद विवरण है ललित-कलाओं के प्रति भारतीय अभिरुचि को पुनः जागृत कर दिया। भारत सरकार के हेतु शिला-लेख सम्बन्धी विषयों के लिए डा० हल्ट्ज (Hultz) की नियुक्ति भारतीय इतिहास को सूत्र-बद्ध करने के एक महान् कार्य का श्रीगणेश था। समस्त देश में शिलालेखों के लिए सरकारी खोज और प्राचीन भारतीय लिपियों के अध्ययन ने भारत को उस सामग्री की प्रथम किश्त प्रदान की जिससे उसके इतिहास की समुचित रचना प्रारम्भ की जा सके। कालान्तर में अनेक शिलालेख उपलब्ध हो गये और उनके सारांश उद्धृत किये गये। इन सबने भारतीयों में ऐतिहासिक प्रवृत्ति जागृत कर दी तथा उनकी प्राचीन सफलता-सिद्धियों और राष्ट्रीयता में अभिमान उत्पन्न कर दिया। भारतीयों को यह पूर्णरूपेण ज्ञान होने लगा कि उनके भाग्य में केवल विदेशी आक्रमणकारियों की दासता स्वीकार करना ही नहीं था, अपितु वे एक ऐसे प्रगतिशील राष्ट्र थे जिन्हें शताब्दियों तक निरन्तर प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने का श्रेय था। भारत में अंग्रेजी शासन की सेवाओं में नियुक्त यूरोपीय विद्वानों के अथक प्रयत्नों से भारतीय इतिहास के मौर्य, गुप्त, चालुक्य और पल्लव युगों की स्वर्णिम गाथाएँ ग्रन्थों के रूप में भारतीयों को विदित हुईं और अन्त में उन्होंने अपनी भारतीय संस्कृति की देन को पहचान लिया।

भारत में आधुनिक ढंग पर संस्कृत के अध्ययन को जागृत करने का श्रेय भी अंग्रेज सरकार और उन विद्वानों को है जिन्हें अंग्रेज सरकार आश्रय देती थी। पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया और संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थों का यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद किया। बनारस में क्वीन्स कॉलिज स्थापित कर भारतीय नवयुवकों को नियमित यथाक्रम से संस्कृत की शिक्षा देने का सर्वप्रथम प्रयास था। भारत के वेद, उपनिषद् तथा धर्मशास्त्र जैसे अनेक महान् धार्मिक ग्रन्थ यूरोपीय विद्वानों के अनुवादों द्वारा भारत में इतने अधिक लोगों के हाथों में अध्ययन के लिए आने लगे जितने कि आज दिन तक पहले कभी नहीं प्राप्त हुए थे।

वास्तु-कला के क्षेत्र में उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में न तो एलौरा, अजन्ता और महाबलिपुरम हमारे लिए कोई अर्थ रखते थे और न एलीफेण्टा की भव्य

तक्षण-कला उड़ीसा के मन्दिर और चोल-युग की धातु-मूर्तियाँ ही हमारे लिए कोई विशिष्ट महत्त्व की थीं। भारतीय स्वयं अपने पूर्वजों की देन के प्रति उदासीन ही नहीं रहे अपितु उससे अनभिज्ञ हो गये थे। 'हिन्दु स्टुअर्ट' नामक व्यक्ति कदाचित् सर्वप्रथम यूरोपीय था जिसने भारतीय तक्षण-कला की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। कालान्तर में भारत अपने कला-कोष को पहले जान ले इसके पूर्व ही यूरोपीय कला-मर्मज्ञों में भारतीय-कला के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो गयी। हमारी कलात्मक भावना के पुनर्जागरण के लिए हम हैवेल, कुमारस्वामी, फर्ग्युसन और मार्शल जैसे व्यक्तियों के अति ऋणी हैं। उपरोक्त समस्त बातों का श्रेय निस्सन्देह ब्रिटेन को है। यह वास्तव में उसकी एक महान् सफलता थी। ये सब बातें हमको हमारे इतिहास के नवीन अंग—नवाभ्युत्थान या पुनर्जागरण (Renaissance) की ओर ले जाती है। अब हम इसका विवेचन करेंगे।

नवाभ्युत्थान या पुनर्जागरण

पुनर्जागरण का अर्थ और उसका महत्त्व—हमारे इतिहास की उन्नीसवीं सदी की विशेषता नवाभ्युत्थान या पुनर्जागरण है। भारतीय पुनर्जागरण यूरोप के पुनर्जागरण के समान भारत के अतीत की ओर पुनर्नयन करना या प्रस्थान करना नहीं है। यह तो पुनः जागृत राष्ट्रीय भावना द्वारा आत्माभिव्यक्ति की नवीन सृजनात्मक अन्तर्प्रेरणा की खोज करने का प्रयास है जिसने दिव्य पुर्ननिर्माण के हेतु नवीन आध्यात्मिक बल दिया। अतएव भारतीय पुनर्जागरण भारतीय सांस्कृतिक जीवन की नवीन यौवनावस्था है जिसने बिना प्राचीन सिद्धान्तों को तोड़े नवीन वेश-भूषा धारण कर ली है। प्राचीन भारतीय संस्कृति ने ही वह मूलाधार प्रदान किया है जिस पर वर्तमान नवाभ्युत्थानी भारत ने अपने भव्य भवन का निर्माण किया है। इस प्रकार भारतीय पुनर्जागरण प्रमुखतः एक भावना का विषय है जिसने राष्ट्र के विकास की माँग के साथ-साथ धर्म, समाज और संस्कृति में विलक्षण परिवर्तन कर दिये हैं। एक नवीन आत्म-जागृति की भावना का प्रादुर्भाव हुआ है। भारतीय आत्मा की कला विकसित हो रही है और भारत वर्तमान और भूतकालीन विदेशी वातावरण द्वारा उत्पन्न बेड़ियों को तोड़ रहा है। आधुनिक भारत का विकास उन्नीसवीं सदी के भारतीय पुनर्जागरण का केवल एक अंग-मात्र है। इस पुनर्जागरण ने भारतीय आत्मा को उसकी गहराई तक हिला दिया है और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में महत्त्वशाली परिवर्तन उत्पन्न कर दिये हैं। आधुनिक भारत प्रत्येक विषय के लिए इस पुनर्जागरण का ऋणी है।

हैवेल ने कहा है कि "बिना पुनर्जागरण के कोई भी सुधार सम्भव नहीं

है" और यहाँ यह भी निश्चयात्मक ढंग से कहा जा सकता है कि सामाजिक व धार्मिक सुधार तथा विस्तृत सांस्कृतिक पुनर्जागरण के आधार पर ही नीति में क्रान्ति हो सकती है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतीय जीवन के अनेक क्षेत्रों में पुनर्जागरण की भावना प्रसारित हो गयी थी। अठारहवीं सदी में भारत सर्वतोन्मुखी पतन की जिस हीन दशा से घिर गया था, उसकी मुक्ति के हेतु अनेक व्यक्ति सक्रिय प्रयत्न करने लगे थे। ये ही प्रयत्न पुनर्जागरण के नाम से प्रसिद्ध हुए। पुनर्जागरण का आन्दोलन एक विस्तृत आन्दोलन था जिसने राष्ट्रीय जीवन के लगभग समस्त क्षेत्रों को प्रभावित किया। पुनर्जागरण और पुनरुज्जीवन की भावना राष्ट्रीय जीवन के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में समाज, धर्म, साहित्य और राजनीति को प्रभावित करती हुई प्रसारित हो गयी। वास्तव में धर्म, साहित्य, कला, विज्ञान, शिक्षा, राजनीति और समाज में नवीनतम बातों का विकास हुआ। इन समस्त क्षेत्रों में ऐसे महान् पुरुषों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने भारत के नाम को और भी अधिक चमकाया है।

भारतीय नवाभ्युत्थान प्रारम्भ में एक बौद्धिक पुनर्जागरण था और इसने हमारे साहित्य, शिक्षा, कला और विचारधारा को प्रभावित किया। दूसरी पीढ़ी में यह एक नैतिक शक्ति हो गयी और इसने हमारे समाज व धर्म को सुधारा। तीसरी पीढ़ी में इसने प्रारम्भ से ही भारत का आर्थिक दृष्टि से आधुनिकीकरण करने का प्रयास किया और अन्त में राजनीतिक मुक्ति प्राप्त की।

पुनर्जागरण के पूर्व की दशा—जब अठारहवीं सदी के मध्य में भारत में अंग्रेजी सत्ता ने अपने पैर जमा लिये थे, तब भारत राजनीतिक निर्बलता और नैतिक पतन के निम्नस्थ स्तर पर था। मुगल-साम्राज्य के पतन के पश्चात् समृद्धि नष्ट हो गयी थी, आबादी कम हो गयी थी, वाणिज्य और व्यापार में विघ्न उत्पन्न हो गये थे, आर्थिक अव्यवस्था और अराजकता हो गयी थी तथा छोटी-छोटी रियासतों के निरन्तर संग्रामों के कारण संस्कृति पीछे ढकेल दी गयी थी। सामाजिक प्रथाओं व रूढ़ियों में, राजनीति, धर्म और कला के क्षेत्र में हमने असृजनात्मक प्रवृत्ति अपना ली थी। हमने अपनी मानवता का प्रयोग करना भी त्याग दिया था। भारतीय सभ्यता व संस्कृति लगभग मरणोन्मुखी, क्षयशील एवं प्रभावहीन हो चुकी थी। अठारहवीं सदी के मध्य से लगभग सौ वर्ष तक वह पतन के अत्यन्त ही निम्न स्तर पर हो गयी थी। उस अन्धकार-मय युग में किसी भी भारतीय भाषा में किसी भी सर्वश्रेष्ठ महत्त्वशाली कृति की रचना नहीं हुई थी। धर्म में भी कोई नया विकास नहीं हुआ था और संरक्षण के अभाव में लगभग समस्त ललित-कलाएँ प्राणहीन हो विलुप्त हो गयी थीं। लोगों की अनभिज्ञता तथा असावधानी एवं विदेशियों के अति लाभ से ललित-कलाओं के अनेक ग्रन्थ लुप्त हो गये थे। ऐसे कतिपय ग्रन्थ विदेशों

में भी चले गये थे। थोड़े समय के लिए एक बिलकुल भिन्न पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क ने धर्म, कला, विज्ञान, दर्शन और बौद्धिक ज्ञान में सृजनात्मक शक्ति का अन्त कर दिया। शिक्षित वर्गों के लोग सभी पाश्चात्य वस्तुओं की बिना सोचे-समझे प्रशंसा करने लगे और उन्हें अपनाने लगे तथा सभी देशी वस्तुओं को घृणा की दृष्टि से देखने लगे।

सामाजिक जीवन के क्षेत्र में अराजकता और अव्यवस्था का राज्य आ गया था। जीवन और सम्पत्ति सुरक्षित नहीं थी। देहातों में भाग्य की खोज करने वाले भाड़े के सैनिकों द्वारा लूट-खसोट, मार-पीट, खून-खच्चर और डाकेजनी की घटनाएं होती थीं। समाज के मूल में जो सड़न पैदा हो गयी थी वह सर्वप्रथम सैनिक और राजनीतिक निर्बलता के रूप में प्रकट हुई। देश उग्र सामुद्रिक शक्तियों के तीव्र आक्रमणों से स्वयं अपनी रक्षा न कर सका। नौकरियों के सभी विभागों में भ्रष्टाचार, कार्यहीनता, असमर्थता, अयोग्यता और छल-कपट घर कर गये थे। ऐसे पतन, विनाश, अव्यवस्था और अस्त-व्यस्तता के मध्य में हमारा साहित्य, कला और धर्म नष्ट हो गया था। वस्तुतः जब अंग्रेजी विजय प्रारम्भ हुई तब प्राचीन व्यवस्था मृत हो गयी थी और उसके स्थान की पूर्ति करने के लिए कुछ भी नहीं था।

नवीन भारत का बीजारोपण (लगभग १७८४-१८३०)—वारेन हेस्टिंग्ज से लेकर बैण्टिक तक के युग में प्राचीन व्यवस्था मृत हो चुकी थी। नवीन व्यवस्था के आगमन के हेतु यह अत्यन्त ही अनिवार्य था। जिस प्रकार नवीन फसल की तैयारी के हेतु खेत में पुरानी काटी हुई फसल के बचे-खुचे डण्ठलों को जलाना आवश्यक है, उसी प्रकार प्राचीन व्यवस्था-क्रम का विनाश भावी, सुखद, सुनहली व्यवस्था के लिए भी अनिवार्य है। लार्ड कार्नवालिस के पश्चात् आने वाला युग नवीन भारत के लिए बीजारोपण का काल था, क्योंकि इस युग के अन्त में, अर्थात् विलियम बैण्टिक के शासनकाल में, भारतीय अपने देशवासियों के विचारों के पथ-प्रदर्शन में, राष्ट्रीय जीवन के निर्माण में और अपने देश के शासन चलाने में सम्माननीय भाग लेने लगे थे। परन्तु नवीन रूप से पोषित इन भारतीयों ने अपनी शक्ति और प्रेरणा पूर्व की अपेक्षा पश्चिम से प्राप्त की थी। इन्होंने अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा ली थी, अतएव ये आधुनिक युग के कार्य के लिए पूर्णरूपेण सुसज्जित थे। भारत मध्यकालीन युग से आधुनिक युग में प्रवेश कर रहा था। नवीन भारत के प्रादुर्भाव का यह उषाकाल था। भारतीय पुनरुत्थान का यह प्रारम्भ था।

पुनर्जागरण या पुनरुत्थान के कारण

१. अंग्रेजों का आगमन और पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव—अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत की राजनीतिक हीनता और सामाजिक दुर्दशा

के कारण भारत में अंग्रेज अपने पाँव दृढ़ व स्थायी रूप से जमाने में समर्थ हो सके। उनके राजनीतिक विस्तार और प्रभुता के साथ-साथ उनकी आर्थिक सत्ता भी यहाँ स्थापित हो गयी। उनके देश में हुए वैज्ञानिक आविष्कारों, मशीनों का असीम प्रयोग, व्यावसायिक क्रान्ति और वाणिज्य तथा व्यापार की अपार वृद्धि से भारत में अंग्रेज अपनी आर्थिक प्रभुता प्रतिष्ठित करने में पूर्ण सफल हो सके। अपनी राजनीतिक सार्वभौमिकता और आर्थिक सत्ता के साथ-साथ अंग्रेजों ने भारत में पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति का भी बीजारोपण कर दिया। इससे भारत की प्राचीन लड़खड़ाती हुई व्यवस्था को गहरा आघात लगा। प्राचीनतम विचारधाराएँ, प्रणालियाँ तथा रूढ़ियाँ विलुप्त होने लगीं और नवीन विचारों और प्रथाओं ने उनका स्थान ले लिया। सांस्कृतिक धाराओं का एक नवीन रूप दृष्टिगोचर होने लगा। इसके अतिरिक्त भारत में अंग्रेजों और उनके सुदृढ़ साम्राज्यवाद ने अनेक विरोधी तत्त्वों के मध्य में हमें शान्ति, राजनीतिक एकता और शासकीय सभ्यता दी। इससे राष्ट्रव्यापी पुनर्जागरण का मार्ग सुलभ हो गया।

२. **विश्व के अन्य देशों से और विशेषकर पश्चिम से सम्पर्क**—अंग्रेजों के शासन के फलस्वरूप अमरीका, यूरोप, चीन, जापान, रूस आदि देशों से भारतीय सम्पर्क बढ़ा। इससे भारतीयों को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सृजनात्मक प्रवृत्तियों और अपरिमित सम्भावनाओं के दृश्य निरन्तर दृष्टिगोचर होने लगे। परिणामस्वरूप भारतीय बुद्धिजीवी-वर्ग जागृत हुए। अंग्रेजों के आगमन से डेविड हैरी जैसे शिक्षाशास्त्री के प्रयासों, केरी जैसे धर्म प्रवर्तकों के प्रयत्नों और मेकॉले जैसे शासकों के परिश्रम से भारत का पाश्चात्य देशों से जो सम्पर्क बढ़ा उसने भारतीयों के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण में विशिष्ट परिवर्तन कर दिया। इन सब से पुनरुत्थान को खूब प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

३. **अंग्रेजी शिक्षा**—भारतीय पुनर्जागरण का एक प्रमुख कारण यहाँ की अंग्रेजी शिक्षा है। इस अंग्रेजी शिक्षा के प्रारम्भ के लिए भारत ईसाई धर्म प्रवर्तकों का बहुत ऋणी है। इन्होंने बंगाल, मद्रास व बम्बई में अंग्रेजी पाठशालाएँ खोलीं। इनके उदाहरण का अनुकरण कतिपय शिक्षा और उदार भारतीयों ने किया जिनमें राजा राममोहन राय प्रमुख थे। इनकी सहायता व सहयोग से अनेक अंग्रेजी शालाएँ स्थापित हो गयीं जिनमें एक हिन्दू कॉलिज भी था जो बाद में कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कॉलिज के रूप में विकसित हो गया। सन् १८३५ में बैण्टिक के शासनकाल में लॉर्ड मेकॉले ने अपने निर्णय से भारतीय शिक्षण-क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। इसके अनुसार पाठशालाओं में अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाने लगी। फलतः शीघ्र ही

अंग्रेजी शालाओं की वृद्धि हुई। सन् १८४४ में लार्ड हार्डिंग्ज ने यह घोषणा की कि शासकीय नौकरियों में उन व्यक्तियों को प्राथमिकता दी जायगी जिनका शिक्षण सरकारी अंग्रेजी शालाओं में हुआ है। इससे अंग्रेजी शिक्षा को खूब प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और दस वर्ष के पश्चात् ही भारत में लन्दन विश्वविद्यालय के नमूने पर बम्बई, कलकत्ता और मद्रास विश्वविद्यालयों की स्थापना हो गयी।

स्कूलों और कॉलिजों में दी जाने वाली अंग्रेजी शिक्षा ने लोगों के विचारों और दृष्टिकोण में खूब परिवर्तन कर दिया। इस अंग्रेजी शिक्षण ने भारतीय मस्तिष्क के बौद्धिक पृथकत्व को भंग कर दिया और उसे पाश्चात्य विज्ञान, साहित्य और इतिहास के सम्पर्क में ला दिया। फलस्वरूप यहाँ ऐसी ही विशाल मानसिक प्रगति हुई जैसी कि यूरोप के राष्ट्रों में पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में पुनर्जागरण के समय हुई थी। स्कूलों, कॉलिजों और विश्वविद्यालयों में हमारे नौजवान विद्यार्थियों के सम्मुख नवीन विचारों का एक संसार खुल गया। धार्मिक व पौराणिक भूगोल, काल्पनिक इतिहास और मिथ्या विज्ञान के स्थान पर जिनसे वे परिचित थे, अब पृथ्वी के रूप व आकृति के विषय में गम्भीर विशुद्ध सत्य, पश्चिम के नवीन विकसित सामाजिक व राजनीतिक विचार, राष्ट्रों के उत्थान व पतन एवं प्रकृति के अपरिवर्तनशील नियम उनके ध्यान में आ गये। इस सबने भारतीयों के हृदय में भूतकाल में भारत में जो कुछ भी श्रेष्ठ था उसके आधार पर राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन की तीव्र लालसा जागृत कर दी। वस्तुतः भारतीय पुनर्जागरण अंग्रेजी साहित्य, आधुनिक दर्शन और विज्ञान के अध्ययन से ही प्रारम्भ होता है।

४. प्रारम्भिक ईसाई धर्म-प्रवर्तक—जैसा ऊपर वर्णित है, सरकारी और ईसाई धर्म के प्रवर्तकों के स्कूलों व कालिजों में भारतीयों को अंग्रेजी माध्यम द्वारा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान प्राप्त हुआ। परन्तु इस नवीन पाश्चात्य ज्ञान के साथ-साथ हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज पर प्रारम्भिक ईसाई धर्म-प्रवर्तकों के आक्रमण भी हुए। पश्चिमी देशों से भारत में आये हुए उत्साही ईसाई धर्म-प्रवर्तक जो हिन्दुओं की धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं की ओर अपनी घृणा की अँगुली उठाने में कभी नहीं चूकते थे, शिक्षा देने वाले और धार्मिक युद्ध करने वाले दोनों ही थे। उन्होंने जहाँ अंग्रेजी स्कूल और कॉलिज शिक्षा के लिए स्थापित किये। वहाँ उन्होंने केवल नवीन धर्म-निरपेक्ष ज्ञान ही प्रदान नहीं किया परन्तु उन्होंने यह भी शिक्षा दी कि विश्व में ईसाई धर्म केवल एक सच्चा धर्म है। इसके परिणामस्वरूप भारतीय शिक्षित वर्गों के हृदय में थोड़े समय के लिए ईसाई धर्म के प्रति विशिष्ट अनुराग उत्पन्न हो गया। साथ-साथ उनमें तीव्र सन्देह की भावना भी जागृत हुई। परन्तु अन्त में इन

सबने हिन्दू धर्म को अपनी कुम्भकर्णी निद्रा से जगा दिया। हिन्दू धर्म की आन्तरिक प्रबल प्राणभूत शक्ति पुनः स्वत्वारूढ़ हो उठी। फलतः ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन जैसे अनेक धार्मिक आन्दोलन आरम्भ हो गये। ये आन्दोलन पुनर्जागरण के प्रमुख अंग थे।

५. भारतीय मुद्रणालय, पत्र, मासिक और साहित्य—पुनरुत्थान के लिए भारतीय मुद्रणालय, पत्र, मासिक और साहित्य सशक्त सहायक और उत्तेजक प्रमाणित हुए। हमने अपनी प्राचीन पैतृक सम्पत्ति को उन यूरोपीय लोगों के प्रयत्नों से ढूँढ़ लिया, जिन्होंने भारतीय साहित्य और इतिहास का अध्ययन किया और ग्रन्थों को प्रकाशित किया। पाश्चात्य विद्वानों ने अपने ग्रन्थों द्वारा हमारे हृदय में हमारी ललित-कलाओं के प्रति सक्रिय चेतना जागृत कर दी। अनेक पत्रों का प्रकाशन आरम्भ हुआ और ये हमें बाह्य विश्व के घनिष्ठ सम्पर्क में ही नहीं लाये अपितु इन्होंने हमारे देश की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक बुराइयों को भी हमारे सम्मुख प्रकट कर दिया। हमें अपनी दुर्दशा का आभास हुआ और इनके उन्मूलन के लिए हमारे शिक्षित-वर्ग ने दृढ़ संकल्प किया। इससे भारतीय पुनरुत्थान के अंग का कार्य प्रारम्भ हो गया।

उपरोक्त वर्णित सभी कारणों ने लोगों को झकझोर दिया और उन्हें युगों की तीव्र कुम्भकर्णी निद्रा से जागृत कर दिया। यह भारतीय पुनरुत्थान का सूत्रपात था। "भूतकाल पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण और भविष्य के लिए नवीन महत्त्वाकांक्षाएँ इस नवीन पुनर्जागरण की विशिष्टताएँ रहीं। धर्म और विश्वास का स्थान विवेक और न्यायसंगत निर्णय ने ले लिया था; अन्धविश्वास ने विज्ञान को आत्मसमर्पण कर दिया था; गतिहीनता का स्थान प्रगति ने ले लिया था एवं निर्दिष्ट दोषों और बुराइयों को दूर कर सुधार करने के तीव्र उत्साह ने युगों की उदासीनता व आलस्य पर विजय प्राप्त कर ली थी। शास्त्रों के परम्परागत अर्थों की समालोचनात्मक दृष्टि से जाँच की गयी और नैतिकता तथा धर्म की नवीन धारणाओं ने सनातनी विश्वासों और प्रथाओं के ढाँचे को परिवर्तित कर दिया।" नवीन विचार और भावनाएँ प्रथम तो लोगों के एक छोटे-से समुदाय तक ही सीमित रहीं, धीरे-धीरे ये लोगों के विस्तृत क्षेत्र में प्रसारित होती गयीं और अन्त में इनका प्रभाव जनसाधारण तक पहुँच गया।

भारतीय नवाभ्युत्थान या पुनर्जागरण के लक्षण

१. पुनरुज्जीवन के विविध आन्दोलन—प्रारम्भ में पुनर्जागरण से लोगों ने महत्त्वशाली भारतीय तत्त्वों को त्याग दिया और उन सभी वस्तुओं की दासतापूर्ण नकल की जिन्हें पाश्चात्य देशवासी अच्छा समझते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि भारतीय रंग के अतिरिक्त और सभी बातों में यूरोपीय बन

रहे थे । इसे 'प्रगतिशील समुदाय' कहा जा सकता है । इसने यूरोप से जीवन के आदर्श और समाजशास्त्रीय तत्वों और मार्क्स के सिद्धान्तों को अपना लिया और भारत को उस मार्ग पर ले जाने का प्रयास किया जो हमारी संस्कृति के बिलकुल प्रतिकूल था । ऐसी परिस्थिति ने समय आने पर एक दृढ़ प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी । फलस्वरूप पुनरुज्जीवन की एक नवीन भावना का प्रादुर्भाव हुआ और उस प्रत्येक वस्तु का सहर्ष स्वागत किया जाने लगा जिसमें भूतकाल की सुगन्ध व रस होता था । यह पुनरुज्जीवनवादियों का समुदाय था। यह हृदय से उनका पक्षपात था जो प्राचीनतम तत्वों को अंगीकार करते थे । इन दोनों के मध्य में एक नवीन आन्दोलन प्रकट हुआ जिसका सूत्रपात राजा राममोहन राय ने किया । यह भूतकाल की ओर स्वयं स्पष्ट दृष्टि से देखता था और जहाँ अतीत की प्रशंसा की आवश्यकता होती थी वहाँ प्रशंसा व समालोचना भी करता था और समय की माँग के अनुसार पश्चिम से शिक्षा भी ग्रहण करता था । इस समुदाय ने यूरोपीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ स्थायी तत्वों का भारतीय संस्कृति के तत्वों के साथ एकीकरण करने का प्रयास किया, पर इसमें भारतीय संस्कृति के प्रमुख लक्षणों को परित्याग नहीं किया गया । बीसवीं सदी के आरम्भ में एक नवीन आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसके प्रवर्तक श्री अरविन्द थे । इसके अनुसार भारतीय पुनर्जागरण भारत की आत्मा की शक्ति की नवीन देह में पुनर्जन्म था । यह भारत की आन्तरिक और प्राचीन भावना का नवीन स्वरूप था । इसने सारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आध्यात्मिक उद्देश्य को अधिक कार्यान्वित करने पर जोर दिया । इसका लक्ष्य वे सभी उच्चतम कार्य हैं जिनका अन्त मानव में ईश्वरीय आत्मा की खोज और उसकी अभिव्यक्ति में होता है । मनुष्य के मन, मस्तिष्क व भाव का विकास उनके अधिक सन्तोष और मनुष्य की श्रेष्ठ प्रवृत्ति व प्रकृति के हेतु होना चाहिए । दूसरे शब्दों में, इस आन्दोलन ने सम्पूर्ण बहुमुखी आध्यात्मिकता में वह चाभी प्राप्त कर ली जिससे केवल अतीत के कोष ही नहीं खोले जा सकें अपितु पूर्व और पश्चिम दोनों के ही वास्तविक मूल्यांकन के आधार पर वर्तमान का निरूपण किया जा सके ।

२. **हिन्दू धर्म का पुनरुज्जीवन**—पुनरुत्थान के प्रथम प्रवेश में ही हमारे उत्साही युवकों ने भारतीय धर्मों के सिद्धान्तों और धार्मिक क्रिया-विधियों को त्याग दिया और शीघ्र ही वे ईसाई धर्म की ओर अधिक आकर्षित हो गये । क्योंकि हिन्दू धर्म की आन्तरिक मूलभूत भावना की शिक्षा उन्हें कभी भी नहीं दी गयी थी और उनके युग में प्रचलित हिन्दू धर्म में वे अविवेक, अप्रियता तथा घृणा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं पा सकते थे । ऐसे धर्म में सुधार करना उन्हें असम्भव कार्य प्रतीत होता था । फलस्वरूप सिपाही विद्रोह के पूर्व के

युग में कृष्णमोहन बनर्जी, लालबिहारी डे और कवयित्री तोरुदत्त के पिता गोविन्ददत्त जैसे अनेक उच्च शिक्षित बंगाली लोगों ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। परन्तु इस प्रवृत्ति का अन्त उन धार्मिक आन्दोलनों ने कर दिया जिनका उद्देश्य भारत में धार्मिक और सामाजिक जीवन में प्राण फूँकना था। बंगाल का ब्रह्म समाज, बम्बई का प्रार्थना समाज, स्वामी दयानन्द सरस्वती का आर्य समाज, विवेकानन्द का रामकृष्ण मिशन, मद्रास का थियोसोफीकल सोसाइटी और सिक्खों व पारसियों की सुधारवादी धार्मिक प्रवृत्तियाँ इन आन्दोलनों में प्रमुख थे। इनका विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

इन धार्मिक आन्दोलनों के परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म की स्वाभाविक प्राणशक्ति अपने महान् और दिव्य अतीत के साथ प्रकट होने लगी। प्रथम तो पुनरुज्जीवित हिन्दू धर्म अपनी प्रतिरक्षा में लगा रहा, अपनी स्थिति को बनाये रखने में सतर्क और डरपोक रहा तथा शत्रु से समझौता करने को भी उद्यत रहा; परन्तु शीघ्र ही इसने आक्रमणकारी प्रवृत्ति अपना ली। साहसपूर्वक कूच कर यह शत्रु के खेमे में भी प्रविष्ट हो गया तथा मानवों को एक सभ्य बनाने वाले प्रभावशाली धर्म के रूप में अन्य धर्मों के साथ जीवित रहने का दावा दृढ़तापूर्वक डंके की चोट पर करने लगा। यह नवीन हिन्दुत्व और हिन्दू धर्म था जो पुनरुत्थान का प्रारम्भिक फल था।

इन धार्मिक आन्दोलनों के परिणामस्वरूप इस युग में अनेक सुधारक, शिक्षक, सन्त और विद्वानों का उत्कर्ष हुआ। उन्होंने हिन्दू धर्म में बाद में घुसे हुए खराब तत्त्वों की निन्दा करके, उसके अनिवार्य और वांछनीय तत्त्वों को अनावश्यक सिद्धान्तों से पृथक् करके और उसके प्राचीनतम सत्यों को अपने स्वयं के अनुभव से प्रमाणित करके हिन्दू धर्म को विशुद्ध कर सुधारा। वे यूरोप तथा अमरीका में इसका सन्देश ले गये। वे अपने इस हिन्दू धर्म को उसके पौराणिक, सामाजिक और धार्मिक क्रिया-विधियों के स्वरूप से जिसमें कि वह दब गया था पृथक् करने में समर्थ थे। उन्होंने हिन्दू धर्म और उसके धार्मिक दर्शन को भारतीय जाति-प्रथा, पौराणिक गाथाएँ, धार्मिक क्रिया-विधियों और कर्मकाण्ड से स्वतन्त्र रखकर उसकी व्याख्या की। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि आज हिन्दू धर्म वैसा ही ताजा और सशक्त है जैसा कि वह पहले किसी भी युग में था। अब ऐसा कोई भय नहीं है कि हिन्दू धर्म ईसाई धर्म या पाश्चात्य सभ्यता से पराजित होकर दब जायगा। जिस प्रकार मध्य युग में मुसलमानों के दमन व आतंक से और प्राचीनकाल में बौद्ध धर्म के पृथकत्व से हिन्दू धर्म बचकर जीवित रहा, उसी प्रकार आधुनिक युग में भी ईसाइयों के धर्म-प्रचार के बावजूद भी यह जीवित रहा है। अब यह सार्वजनिक हित के लिए विश्व के किसी भी धर्म से समान स्तर

पर उसके मित्र और सहयोगी के रूप में टक्कर लेने में समर्थ है। यदि आज विश्व अपनी अस्तव्यस्त, अशान्त दशा में आध्यात्मिक सन्देश की आवश्यकता का अनुभव करता है और अन्धकार में, जिसने उसका मार्ग आच्छादित कर दिया है, पथ-प्रदर्शन के लिए प्रकाश को खोजता है तो पुनरुज्जीवित भारत अपने सबसे महान् धर्म-प्रवर्तकों के द्वारा इस आध्यात्मिक सन्देश व अनन्त प्रकाश को देने में समर्थ है।

३. **सामाजिक सुधार**—ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन जैसे धार्मिक सुधारवादी आन्दोलनों और गांधीजी जैसे नेताओं के प्रयासों के परिणामस्वरूप हमारी सामाजिक व्यवस्था में महान् परिवर्तन हुआ। इन्होंने हिन्दू समाज में महान् हलचल उत्पन्न कर दी और सामाजिक सुधारों के लिए वैयक्तिक और सामूहिक प्रयासों को खूब प्रोत्साहन दिया। नवीन हिन्दू धर्म ने पीड़ित मानवता की सेवा-सुश्रूषा करने का बीड़ा उठाया। आज सैकड़ों और सहस्रों नर-नारी धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर रामकृष्ण मिशन, आर्य समाज, थियोसोफीकल सोसाइटी के भारतीय विभाग में ही सेवा-कार्य नहीं कर रहे हैं, अपितु गांधीजी तथा अन्य नेताओं द्वारा प्रारम्भ किये गये सामाजिक सेवा के अनेक क्षेत्रों में भी कार्य कर रहे हैं। आधुनिक पुनर्जागरण का एक विशाल अंग सामाजिक सुधार है। वस्तुतः नवाभ्युत्थान के आन्दोलन का सूत्र-पात सामाजिक और धार्मिक सुधारों से ही हुआ। फलतः सती प्रथा और शिशु-हत्या अतीत की अविश्वसनीय बात हो गयी। स्त्रियों को स्वच्छन्दतापूर्वक शिक्षा दी जा रही है। बाल-विवाह गैर-कानूनी हो गये हैं। विधवा-विवाह सम्भव हो गये हैं। बहुविवाह अत्यन्त ही दुर्लभ हो गये हैं। पर्दा प्रथा मृत है और नर-नारी की सामाजिक समानता पूर्ण रूप से स्थापित हो गयी है। महिलाओं ने अनेक विभिन्न धन्धों को अपना लिया है और आज उनमें से कई विवेकशील प्रसिद्ध नेत्री हैं। विदेश यात्रा अब साधारण बात हो गयी है। अन्तर्जातीय खानपान और अन्तर्जातीय विवाह पर से प्रतिबन्ध उठा लिये गये हैं। हिन्दू समाज के प्रतिक्रियावादी तत्त्व भंग कर दिये गये हैं। जाति-व्यवस्था कम जटिल हो गयी है। महात्मा गांधी को धन्यवाद है कि अस्पृश्यता का राक्षस पराभूत कर दिया गया है। इस प्रकार पुनरुत्थान ने इस ऐहिक जीवन और समाज के सुख-वैभव की ओर अधिक ध्यान देने के लिए भारत को बाध्य किया। इसने उस अकर्मण्यता और उदासीनता से भारतीयों का पीछा छुड़ाया जिसने पतन के युग में उनको अपने शिकंजे में जकड़ लिया था।

४. **भारतीय इतिहास की पुनः प्राप्ति**—पुनरुत्थान ने हिन्दू महानता की भावना को पुनरुज्जीवित और सुदृढ़ ही नहीं किया, अपितु भारतीय इतिहास

की गौरवमय दिव्य गाथाओं को भी प्रकाश में लाने का सफल प्रयास किया। अनेक यूरोपीय विद्वानों के मन्द और शान्त श्रम ने भारत की महानता की विलुप्त गाथा को पुनर्निर्मित करने में खूब सहायता प्रदान की। जेम्स फर्ग्युसन, डॉ० बुलर, डॉ० फ्लीट, हैवेल, पर्सी ब्राउन, मार्शल और डॉ० आनन्दकुमार स्वामी जैसे पुरातत्ववेत्ताओं, मुद्रा और शिलालेख विशेषज्ञों और कलामर्मज्ञों ने हमारे प्राचीन स्मारकों का यश-गौरव प्रकट किया और हमें हमारे अतीत पर गर्व करना सिखाया। धीरे-धीरे हिन्दू लोग इस बात को समझने लग गये कि अतीत की अनेक सदियों में प्रत्येक क्षेत्र में सफलता-सिद्धि प्राप्त करने का श्रेय उनको है और वे किसी भी विदेशी जाति द्वारा अब पराजित नहीं हो सकते। अनेक नरेशों और सम्राटों के नाम जिनकी स्मृति सुदीर्घ काल से विलुप्त हो गयी थी, पुनः प्रकाश में आये। अशोक के शिलालेखों का वर्गीकरण और उनके गूढ़ाक्षरों को पढ़कर उनका स्पष्टीकरण करना, साम्राज्यों के निर्माण की कहानी, समुद्र-पार भारतीय साम्राज्य के विस्तार की गाथा और वास्तु-कला के विलक्षण अतुलनीय स्मारकों की कथा ने भारतीयों में राष्ट्रीय गर्व की भावना उत्पन्न कर दी जिसे वे शताब्दियों पूर्व खो चुके थे। जदुनाथ सरकार, भण्डारकर, हरप्रसाद शास्त्री, महादेव गोविन्द रानाडे, राजवाड़े, सरदेसाई, मेकडॉनल, रेपसन, स्मिथ, टॉड, ग्राण्ट डफ, एल्फिन्स्टन जैसे इतिहासज्ञों और भण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट और इतिहाससमण्डल जैसी इतिहास-संस्थाओं ने भारतीय इतिहास में हमारे राष्ट्रीय गर्व को ही नहीं प्रोत्साहित किया, अपितु भारत की महानता के प्राचीन इतिहास के निरूपण का मार्ग सुलभ कर दिया।

५. हमारे प्राचीन साहित्य की पुनः प्राप्ति—पुनरुत्थान के कारण हम अपने प्राचीन वैदिक और बौद्ध धर्म के साहित्य को पुनः प्राप्त करने में समर्थ हो सके। वेद और उनकी टीकाएँ आर्यावर्त के मैदान में से लगभग पूर्णरूपेण विलुप्त हो गयी थीं। अब आर्यावर्त में न तो कोई इन ग्रन्थों का विशुद्ध रूप से अध्ययन ही कर सकता था और न इनकी व्याख्या ही। इससे भी बढ़कर दुर्भाग्य की बात तो यह थी कि यहाँ किसी के पास भी इन ग्रन्थों के मूल रूप की सम्पूर्ण हस्तलिखित प्रति नहीं थी। इसी प्रकार एक सहस्र वर्ष तक बुद्ध विस्मृत हो चुके थे और बौद्ध धर्म का पाली और संस्कृत में लिखा हुआ साहित्य भी लोग भूल चुके थे तथा उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। परन्तु अंग्रेज लोग ही थे जिन्होंने हमारे वैदिक साहित्य को छापकर प्रकाशित किया और उसे हमारे सम्मुख लाये। यूरोपीय लोगों की विद्वत्ता और साहस ने ही बौद्ध धर्म के प्राचीन साहित्य को नेपाल, चीन, मध्य एशिया और जापान से हमें दिलवाया। अंग्रेज, फ्रेंच और जर्मन विद्वानों ने बौद्ध

ग्रन्थों को यूरोप भेजा और यूरोप ने उन्हें छापकर हमारे लिए उनकी प्राप्ति सुलभ कर दी।

यूरोपीय विद्वानों ने जिन्होंने संस्कृत का गहन अध्ययन किया था, भारतीयों की आँखें उस महान् भण्डार के प्रति खोल दीं जिसे उनके पूर्वज छोड़ गये थे। सर चार्ल्स विल्किंस, सर विलियम जोन्स, कोलब्रुक, विलसन, म्यूर, मॉनियर विलियम्स और मैक्समूलर जैसे यूरोपीय विद्वानों के भारतीय संस्कृति के प्रति उत्साह ने भारत में संस्कृत के आधुनिक अध्ययन को सर्वप्रथम प्रोत्साहित किया। इन्होंने पाश्चात्य विश्व में संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों को प्रस्तुत करने में अकथनीय प्रयास किये। विल्किंस ने गीता का अनुवाद किया, जोन्स ने अन्य ग्रन्थों के साथ-साथ मनुस्मृति, शकुन्तला और संस्कृत के अनेक नाटक संकलित किये। कोलब्रुक ने पाणिनि का व्याकरण व हितोपदेश जैसे अनेक संस्कृत ग्रन्थों का संकलन किया। जर्मनी के ग्लासेनहेप ने संस्कृत के अनेक दर्शन ग्रन्थों पर भाष्य लिखे और मध्वाचार्य पर भी उसने एक ग्रन्थ लिखा। पोलैण्ड के संस्कृत के महान् पण्डित स्टेनिसला एफ० माइकेलस्की ने अपना समस्त जीवन संस्कृत और प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन के हेतु अर्पण कर दिया। मैक्समूलर की प्रेरणा से भारत के अनेक धर्मशास्त्रों का अनुवाद कर उन्हें प्रकाशित किया गया और पश्चिम में भारतीय दर्शन का अध्ययन किया जाने लगा। इन सब बातों से हमें प्राचीन बहुमूल्य ग्रन्थ पुनः प्राप्त हो गये, हम अपने प्राचीन विचारों, श्रेष्ठतम बातों को जान सके, भारत में विश्व की अभिरुचि जागृत करने में सहायता प्राप्त हुई और हमारी राष्ट्रीय भावना को अधिक उत्तेजना मिली।

६. **भारत की देशी भाषाओं के साहित्य का विकास**—नवाभ्युत्थान का एक महत्त्वपूर्ण अंग कतिपय बहुश्रुत प्रतिभावान व्यक्तियों का उत्कर्ष था और द्वितीय, भारत की देशी भाषाओं के साहित्य का विलक्षण विकास। इस क्षेत्र में बंगाल सबका अगुआ रहा। बंगाल के महान् लेखकों के प्रथम समुदाय में राजा राममोहन राय, अक्षयकुमार दत्त, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, देवेन्द्रनाथ टैगोर, मधुसूदन दत्त, राजनारायण बोस, द्विजेन्द्रलाल राय और बंकिमचन्द्र थे। इनके चतुर्दिक ऐसे साहित्यिकों का उत्कर्ष हुआ जिन्होंने सृजनात्मक प्रतिभा वालों, श्रेष्ठ समालोचना व उचित प्रशंसा करने वालों, निपुण विद्वानों, संगीत व ललित-कलाओं में विद्या-सम्पन्न व्यक्तियों, संक्षेप में, मौलिक संस्कृति के सभी क्षेत्र के व्यक्तियों के लिए भूमि तैयार कर दी थी। ये सभी लेखक रवीन्द्रनाथ के प्रादुर्भाव के लिए उपक्रम थे। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने साहित्य व संस्कृति के सभी अंगों—गद्य, पद्य, नाटक, उपन्यास, गल्प, निबन्ध, संगीत, चित्र-कला, नृत्य आदि—को अपनी देन दी है। वे साहित्य के माने हुए सम्राट् थे। इनका प्रभाव इतना विस्तृत और गहन हो गया था कि आन्ध्र, गुजरात, महा-

राष्ट्र और हिन्दी के साहित्य की नवीन भावनाएँ व प्रवृत्तियाँ न्यूनाधिक रूप में इनसे ही प्रस्फुटित हुई थीं। उर्दू-फारसी के मुहम्मद इकबाल, हिन्दी के प्रेमचन्द और बंगाल के शरतचन्द्र चटर्जी भारतीय साहित्य के अन्य महान् व्यक्ति हो गये हैं। इन्होंने नवीन शैलियाँ प्रस्तुत कीं और गद्य के क्षेत्र मे विषयों को धर्म-निरपेक्ष बना दिया।

पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप देशी भाषाओं के साहित्यिकों की विभिन्न तीन पीढ़ियों का उत्कर्ष हुआ। प्रथम, पाश्चात्य अंग्रेजी शिक्षा के कारण ऐसे लोगों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने यूरोप के साहित्य, दर्शन, इतिहास व विज्ञान को ग्रहण कर लिया और अपने देशवासियों के हित के लिए इनका प्रचार अपनी-अपनी भाषा के साहित्य में अंग्रेजी पुस्तकों का अनुवाद करके किया उन्होंने नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भाषा को निर्माण करने का प्रयास किया। उन्होंने विचार या शैली में कोई क्रान्ति नहीं की। बंगाल के कृष्णमोहन बनर्जी, राजेन्द्रलाल मित्र, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, हिन्दी के लल्लूलालजी और मराठी के 'अंग्रेजी अवतार' के लेखक इसी प्रथम पीढ़ी के हैं इनके बाद साहित्यिकों की दूसरी पीढ़ी का उदय होता है जिसने देशकाल की नवीन क्रम व्यवस्था को साहित्य में पूर्ण रूप मे प्रकट करने की चेष्टा की इस पीढ़ी का प्रत्येक महान् साहित्यिक अपने-अपने विभाग का दिग्गज था इस काल के साहित्यिकों ने अपनी-अपनी भाषा के साहित्य में विदेशी भावना व शैली भारतीय परम्परा और आवश्यकता के अनुसार अपना ली। यद्यपि साहित्यिक भावना, दृष्टिकोण, उक्ति व विषयों के निर्वाचन तथा निरूपण में ये पाश्चात्य हो गये थे, तथापि प्राचीन भारत के जीवन व साहित्य में जो कुछ भी श्रेष्ठ था, उससे इन्होंने अपना सम्पर्क बनाये रखा। इन व्यक्तियों में बँगला के माइकेल मधुसूदन दत्त, बंकिमचन्द्र चटर्जी, हिन्दी के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि प्रमुख हैं। इनके बाद के आने वाले साहित्यिकों ने इनकी परम्परा को निवाहा। तीसरी पीढ़ी उन साहित्यिकों की है जिन्होंने साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में मौलिक साहित्य की रचना की है और जिसका प्रभुत्व आज भी विद्यमान है।

जहाँ तक भारत की विभिन्न देशी भाषाओं के साहित्य की बात है, हमारे आधुनिक साहित्य के विकास में सदियों का कार्य थोड़े से वर्षों में पूर्ण हो गया। अंग्रेजी शिक्षा के प्रारम्भ के पूर्व कतिपय देशी भाषाएँ इतनी कम विकसित और महत्त्वहीन थीं कि आधुनिक विचारधाराएँ उनमें अभिव्यक्त नहीं हो सकती थीं। पुनरुत्थान के पूर्व देशी भाषाएँ धार्मिक विषयों का ही वर्णन करती थीं, इनमें पौराणिक गाथाएँ और वीरों की कथाएँ ही प्रमुख होती थीं। गद्य का अस्तित्व तो नहीं के बराबर था। विचारों की अभिव्यक्ति

कविता, गीतों और भजनों द्वारा होती थी। सारपूर्ण तेजस्वी कथनों और कहावतों तथा व्यापारिक पत्र-व्यवहार को छोड़कर अन्य बातों की अभिव्यक्ति के लिए कविता ही एक माध्यम था। सबसे अधिक बुरी बात तो यह थी कि स्कूलों के लिए उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकों का सर्वथा अभाव था। यूरोप में सन् १८५७ के पूर्व सदियों के लोकप्रिय इतिहास, उपन्यास और गल्प प्रौढ़ों के लिए विद्यमान थे, वैसे ग्रन्थ भारत में अज्ञात थे। पुनर्जागरण के परिणाम-स्वरूप हमारी भाषाएँ अधिक सरल और अधिक कठिन दोनों ही हो गयीं। यदि एक ओर उनमें लचीलापन, विभिन्नता, विलक्षणता और प्राकृतिक प्रवाह उत्पन्न हो गये तो दूसरी ओर उनके शब्द-कोष में अत्यधिक वृद्धि हुई। उनकी प्राचीनकाल की कठोरता और मिथ्या पाण्डित्य-प्रदर्शन विनष्ट हो गया। पुनर्जागरण के प्रारम्भ की दशा में जब ईसाई धर्म-प्रवर्तकों ने भारत की देशी भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद करना प्रारम्भ किया, तब एक गद्य शैली का सूत्रपात हुआ। मुद्रणालय की स्थापना, भारतीय समाचार-पत्रों, मासिक-पत्रों तथा पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन ने नवीन शैली के विकास में खूब योग दिया। अनेक लेखकों ने विचारों की स्पष्टता के साथ-साथ अभिव्यक्ति का सौन्दर्य और शब्द-विन्यास की दृढ़ता तथा विशुद्धता प्रदर्शित की।

देशी भाषाओं के साहित्य के अनेक अंगों में अत्यधिक परिवर्तन व सुधार हुए। उन्नीसवीं सदी के मध्य से ही भारतीय नाटक में पूर्णरूपेण परिवर्तन हुआ। यह आधुनिक यूरोपीय नाटक की सम्पूर्ण नकल है। नाटक की शैली भी पश्चिमी ढंग की हो गयी। यूरोपीय नाटक के अनेक अंग को अपनाने से भारतीय नाटक को लाभ ही हुआ। वस्तुतः उपन्यास और नाटक में हमने पश्चिम से बहुत कुछ ग्रहण कर लिया। पश्चिम से ही हमने समालोचना की कला पूर्ण रूप से ले ली। इसी प्रकार हमारी देशी भाषाओं के गद्य साहित्य के अन्य अंगों का निरूपण भी पाश्चात्य नमूनों पर हुआ। मासिक-पत्रों, दैनिक-पत्रों तथा मुद्रणालयों ने हमारी देशी भाषाओं के साहित्य को लोकप्रिय कर दिया और पाश्चात्य साहित्यों के अध्ययन से ये धर्म-निरपेक्ष हो गये। नवाभ्युत्थान के पूर्व साहित्य में धार्मिक विषयों का ही बाहुल्य था, परन्तु अब साहित्य के विषय जीवन के सभी अंगों से सम्बन्धित रहने लगे हैं।

यूरोप के प्रभाव ने साहित्य में देश-भक्ति की भावना प्रज्वलित कर दी और हमारे अतीत के इतिहास के प्रति श्रद्धा व भक्ति उत्पन्न कर हमारे साहित्य को सुसम्पन्न किया। राष्ट्रीयता की इस नवजागृत भावना ने भारतीय साहित्यों में दिव्य और श्रेष्ठ तत्त्व जोड़ दिये और उन्हें उत्तम मानवीय विचार-धाराओं से ओत-प्रोत कर दिया। यदि बंकिमचन्द्र के उपन्यासों और द्विजेन्द्र-लाल के नाटकों ने भारतीय इतिहास से अपनी-अपनी प्रेरणाएँ लीं, तो भारती

व टैगोर के गीत, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ग्रन्थ व इकबाल के प्रारम्भिक गीत अत्यधिक राष्ट्रीय थे। बँगला भाषा में एक ऐसे आधुनिक साहित्य का निर्माण हो गया जिससे जीवन का दृष्टिकोण विशाल हो गया और जिसके विविध अंग सुसम्पन्न बन गये। अल्पकाल में ही बँगला साहित्य ने विश्व-विख्यात लेखक उत्पन्न किये। हिन्दी, गुजराती, मराठी, उर्दू तथा दक्षिण की बड़ी-बड़ी द्राविड़ भाषाएँ—तेलगू, तामिल, मलयालम और कन्नड़—सभी में महत्त्वशाली विकास हुआ। फलस्वरूप हमारे सर्वश्रेष्ठ साहित्य को अन्तरराष्ट्रीय सम्मान व ख्याति प्राप्त हो गयी एवं उसमें विश्वव्यापी अभिरुचि उत्पन्न हो गयी। इन भाषाओं के इस प्रकार के विकास से भारत में विभिन्न भाषा-भाषियों का और भाषा सम्बन्धी राष्ट्रीयताओं का एकीकरण हो गया। परन्तु इसने विविध भेद उत्पन्न करने वाली विशिष्टताओं की प्रवृत्तियों को भी प्रोत्साहन दिया जिससे अन्त में भाषावार प्रान्त बनाने की माँग बढ़ी।

७. **अनुसन्धान की वैज्ञानिक भावना का विकास**—पुनर्जागरण के एक विलक्षण अंग की अभिव्यक्ति अनुसन्धान की वैज्ञानिक भावना में हुई। सन् १७८४ में बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के पश्चात् बहुसंख्यक यूरोपीय और भारतीय विद्वानों ने अध्ययन और अनुसन्धान की इस शाखा के लिए अपने आपको अर्पण कर दिया और उनके अथक परिश्रम का आश्चर्यजनक परिणाम हुआ। लॉर्ड कर्जन के प्राचीन स्मारकों के रक्षा सम्बन्धी कानून (The Ancient Monuments Preservation Act) ने अनुसन्धान के कार्य को उत्तेजना दी। भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के तथा कतिपय अन्य संस्थाओं के पथ-प्रदर्शन में मोहनजोदड़ो, हरप्पा, नालन्दा जैसे प्रागैतिहासिक स्थानों पर बहुमूल्य वैज्ञानिक उत्खनन कार्य हुए जिससे भारत के प्राचीन इतिहास सम्बन्धी अनेक मतों में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया। विभिन्न स्थलों पर अनुसन्धान व शिक्षा-केन्द्रों के समान अजायबघर प्रतिष्ठित करने की ओर भी अधिक ध्यान दिया गया। विज्ञान और दर्शन के अध्ययन में भी असाधारण प्रगति हुई। आधुनिक विज्ञान की उन्नति में भारत ने भी कम योग नहीं दिया है। विशुद्ध गणितशास्त्र के क्षेत्र में रामानुजम की खोज और विज्ञान के अन्य विभाग में सर जगदीशचन्द्र बोस की खोज ज्ञान के क्षेत्र में नवीन भारत की सच्ची देन हैं। आइन्स्टाइन की एक विशिष्ट खोज Theory of Relativity के साथ एक भारतीय का नाम भी जुड़ा हुआ है। भौतिक विज्ञान और रसायनशास्त्र के क्षेत्र में विश्व-ख्याति प्राप्त करने वालों में कतिपय प्रसिद्ध भारतीय भी हैं। यदि सर सी० वी० रमण और डॉ० मेघनाद शाह ने भौतिक विज्ञान में अपूर्व कार्य किया है, तो पी० सी० राय, जे० सी० घोष और एस० एस० भटनागर भी रसायनशास्त्र के विभिन्न क्षेत्रों में अपने-अपने कार्यों के

लिए विश्व-विख्यात हैं। एस० सी० राय और सहानी ने भी अपनी-अपनी खोजों के लिए विस्तृत यश प्राप्त किया है। ज्योतिष के क्षेत्र में एस० चन्द्रासकर सबसे अधिक प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। डायनेमिक्स (Steller Dynamics) में अपने मौलिक कार्य के लिए आज वे अन्तरराष्ट्रीय वैज्ञानिक माने जाते हैं। बी० एन० सील और एस० राधाकृष्णन जैसे शिक्षकों तथा अन्य लोगों की प्रेरणा से दर्शनशास्त्र के अध्ययन की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा है। राधाकृष्णन के ग्रन्थों और यूरोप व अमरीका में उनके व्याख्यानों ने इन महाद्वीपों की अभिरुचि भारतीय विचारधाराओं में अत्यधिक बढ़ा दी है। राधाकृष्णन ने जिस अनूठे ढंग से भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक विचारों का प्रतिपादन किया है उसने आधुनिक मनुष्य के मस्तिष्क को तरंगित कर दिया है। इन सब कार्यों ने भारत को विश्व की दृष्टि में बहुत ऊँचा उठा दिया है।

८. **ललित-कलाएँ**—नवाभ्युत्थान की भावना से चित्र-कला, वास्तु-कला, संगीत, नृत्य जैसी विभिन्न ललित-कलाओं के अध्ययन का कार्य भी प्रारम्भ हो गया। भारतीय कला की चेतना शक्ति के पुनर्जागरण से भारत में एक नवीन युग का उदय हुआ। मानव के सौन्दर्य के नेत्र प्राचीन भारतीय कला की दिव्यता के लिए खुल गये।

चित्र-कला—सिस्टर निवेदिता और हैवेल उन विदेशियों में से हैं जिन्होंने भारत की कलात्मक अभिव्यंजना की सच्ची भावना को पहचान लिया है और उसे विश्व के सम्मुख प्रकट किया है। इस भावना का अनूठा पुनरुज्जीवन अनेक आधुनिक भारतीय कलाकारों के कार्यों व ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है। हैवेल और अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने नवीन आध्यात्मिक और सृजनात्मक चित्र-कला की नींव डाली। हैवेल, जिसने भारतीय संस्कृति के प्रति अपनी सहज स्वाभाविक सहानुभूति के कारण प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय कला के प्रमुख तत्त्वों को भलीभाँति पहचान लिया था, भारतीय चित्र-कला के पुनरुज्जीवन को प्रोत्साहित करता रहा। भारतीयों पर अवनीन्द्रनाथ का प्रभुत्व क्रान्तिकारी और निश्चयात्मक रहा। अवनीन्द्र द्वारा स्थापित "The Indian Society of Oriental Art" नामक संस्था ने भारतीय कला की परम्पराओं के पुनरुज्जीवन के लिए कला का एक नवीन आन्दोलन प्रारम्भ किया। अवनीन्द्रनाथ ने अपने शिष्य सुरेन्द्र गंगोली, नन्दलाल बोस और असितकुमार हलधर सहित चित्र-कला के पुनरुज्जीवन के कार्य के लिए बहुत कुछ किया। चित्र-कला के पुनर्जागरण को प्रोत्साहित करने वाले अन्य प्रसिद्ध कलाकार अब्दुररहमान चगताई और अमृत शेरगिल थे। ललित-कलाओं का पुनर्जागरण डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर और डा० ए० के० कुमारस्वामी का भी बहुत ऋणी है। यदि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कलाकारों के एक समुदाय को

शिक्षा और प्रेरणा दी, तो डॉ० कुमारस्वामी ने भारतीय कला की दिव्यता, यश और गौरव को प्रदर्शित करने एवं भारतीय कला के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण में क्रान्ति करने के लिए बहुत कार्य किये हैं। इनके अतिरिक्त शान्तिनिकेतन, बम्बई और लखनऊ तथा कलकत्ता के कला-मन्दिर (School of Arts) चित्र-कला के पुनरुज्जीवन के लिए नवीन प्रतिभावान कलाकारों को उत्पन्न कर रहे हैं। बम्बई के कला मन्दिर ने तो आधुनिक भारतीय वातावरण के लिए पाश्चात्य 'टेकनिक', पद्धति और रीति का उपयोग कर चित्र-कला में एक नवीन शैली का विकास करने का प्रयत्न किया है।

वास्तु-कला तथा तक्षण-कला—चित्र-कला के समान ही दो प्रकार से वास्तु-कला और तक्षण-कला में पुनर्जागरण हुआ है—प्रथम, पुनरुज्जीवन उन भवनों में दृष्टिगोचर होता है जो भारत के देशी निपुण कारीगरों और मिस्त्रियों द्वारा निर्मित किये गये हैं और जो भारतीय देशी रियासतों में, विशेषकर राजस्थान में उपलब्ध हैं। द्वितीय, पाश्चात्य नमूनों पर निर्मित किये हुए भवनों में भी पुनरुज्जीवन का आभास है। इन भवनों में नयी दिल्ली का पार्लियामेण्ट भवन, कलकत्ता का विक्टोरिया मेमोरियल और लखनऊ की कौंसिल चैम्बर प्रमुख हैं।

संगीत और नृत्य—हमारे देश में संगीत और नृत्य में भी एक नवीन भावना का उत्कर्ष हुआ। इस क्षेत्र में भी पुनर्जागरण की एक नवीन लहर दौड़ गयी। कलकत्ते का संगीत समाज और बम्बई की ज्ञानोत्तेजक मण्डली ने संगीत में एक नवीन पुनरुज्जीवन की भावना प्रज्वलित की। ज्ञानोत्तेजक मण्डली के एक सदस्य पण्डित पी० एन० भातखण्डे ने संगीत में नवीन शिक्षा का सूत्रपात किया। उन्होंने सर्वप्रथम ग्वालियर में एक संगीत-शाला खोली और बाद में सन् १६१६ में बड़ौदा में अखिल भारतीय संगीत अधिवेशन आयोजित किया। संगीत के पुनर्जागरण में सहायता देने वाले अन्य व्यक्ति विष्णु दिगम्बर थे जिनके शिष्य समस्त उत्तरी भारत और बम्बई में व्याप्त थे। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी अनेक गीत लिखकर भारतीय संगीत को पुनरुज्जीवित किया। अब बम्बई, पूना, कलकत्ता, बड़ौदा, लखनऊ, इन्दौर में भारतीय संगीत के वैज्ञानिक अध्ययन व शिक्षा के लिए संगीतशालाएँ खोल दी गयी हैं।

नृत्य में भी महान् पुनर्जागरण दृष्टिगोचर होता है। भारतीय नृत्य को भी अनेक स्थलों पर प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है। यदि दिलीकुमार राय ने पश्चिम में भारतीय संगीत के प्रदर्शन से पाश्चात्य देशों में अधिक यश प्राप्त किया तो उदयशंकर ने भारत में और भारत के बाहर विदेशों में अपने नृत्य के प्रदर्शन से भारतीय नृत्यों में एक विशिष्ट अभिरुचि उत्पन्न कर दी। प्रसिद्ध

कला-मर्मज्ञों ने उदयशंकर की उनकी नृत्यकला की निपुणता के लिए ही नहीं किन्तु आधुनिक विचारों को भारतीय नृत्य की परम्पराओं और 'टेकनिक' के साथ आश्चर्यजनक समन्वय करने के लिए भी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। भारतीय नृत्य के अन्य प्रसिद्ध प्रदर्शक और प्रवर्तक श्रीमती रुक्मणीदेवी, रामगोपाल, राधा, श्रीराम और कुमारी दमयन्ती जोशी हैं। आसाम के प्राचीन कुमार नृत्य संघ, विश्वभारती केरल कलामण्डलम्, भारतीय विद्या-भवन कलाक्षेत्र जैसी अनेक संस्थाओं में भारत के विभिन्न नृत्य और नाटकों को पुनरुज्जीवित करने के लिए प्रशंसनीय प्रयास किये जा रहे हैं। इससे नृत्य-कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हो रही है।

९. **औद्योगीकरण की भावना**—नवाभ्युत्थान ने आर्थिक क्षेत्र में भारतीयों को साधारण जनता की दरिद्रता और निर्धनता का कटु अनुभव कराकर पुनर्जागरण की एक नवीन भावना को जन्म दिया। भारतीय अंग्रेजी सरकार की आर्थिक नीति के दोषों को और कृषि पर अत्यधिक निर्भर रहने की नीति के अवगुणों को भलीभाँति समझने लगे। इनके निवारण के लिए औद्योगीकरण का सुझाव रखा गया। फलस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत हुआ, नवीन आर्थिक उद्देश्यों का उत्कर्ष हुआ तथा नवीन उद्योगों, व्यवसायों और कल-कारखानों का जन्म हुआ। इससे एक ओर पूँजी और श्रम में, तो दूसरी ओर जमींदार और कृषक में संघर्ष का एक नया वातावरण बन गया। इन बातों से भारत में समाजवादी और साम्यवादी सिद्धान्तों के प्रचार और प्रसार के हेतु नवीनतम क्षेत्र निर्मित हो गया।

१०. **नवीन मध्यम-वर्गों का उत्कर्ष**—सिपाही विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजों ने अपने पिट्ठुओं का एक विशेष वर्ग बना लिया था। तोपों की सलामी की एक सूची निर्माण की गयी थी और अनेक गर्वीली पदवियों का एक कोष बनाया गया था। 'फरजन्दे-खेरे-दौलते-इंगलिशिया' (अंग्रेजी साम्राज्य का प्रिय पुत्र) 'इन्दर महेन्दर' (देवताओं का सर्वोच्च देवता इन्द्र), 'सिफरे सल्तनत' (साम्राज्य की ढाल), 'खानबहादुर' 'रायबहादुर', 'रायसाहब' 'सर' (Knighthood) जैसी दिव्य और भव्य उपाधियों की रचना की गयी। वे उपाधियाँ उन कुलीनवंशी भारतीयों और शासकीय पदाधिकारियों को दी जाती थीं जो अंग्रेज सरकार के अस्तित्व के पक्षपाती थे और सदैव उनकी जय-जयकार करते थे। इन उपायों के अनुसार कुलीनवंशीय लोग अंग्रेजी साम्राज्य के पक्ष में कर लिये गये थे। देशी राजकुमार, नरेश, बड़े-बड़े जमींदार इन उपाधियों को प्राप्त करने में तथा अंग्रेज सरकार की सबसे अधिक स्वामिभक्त प्रजा और सेवक माने जाने में परस्पर एक-दूसरे की स्पर्द्धा करते थे। बड़े-बड़े शासक और नरेश अंग्रेज सम्राट् से उपाधियाँ और पदक प्राप्त करने के लिए प्रार्थना

करते थे और जब मिथ्या अर्थहीन सैनिक उपाधियाँ उन्हें दी जाती थीं तो वे अपने आपको अत्यधिक प्रतिष्ठित समझते थे। रायसाहब और नाइट ग्राण्ड कमाण्डर (Knight Grand Commander) की उपाधियाँ प्राप्त करने वाले महानुभाव अपने आपको ब्रिटिश साम्राज्य के स्तम्भ मानते थे। यदि कुलीन-वंशों के लोगों पर इस प्रकार विजय प्राप्त कर अंग्रेजों ने उन्हें अपने पक्ष में कर लिया तो उन्होंने मध्यम-वर्ग के विकास और वृद्धि के लिए भी प्रोत्साहन दिया। यह मध्यम वर्ग अंग्रेजी साम्राज्य को एक भार की अपेक्षा स्वर्ण अवसर मानता था। इसे वे एक सौभाग्य की घटना मानते थे। मध्य-युग में भारतीय नौकरशाही वर्ग—कायस्थ, ब्राह्मण, खत्री और अन्य—पर क्षत्रियों का अथवा सामन्तिक रजवाड़ों का प्रभुत्व था। ब्रिटिश साम्राज्य के उत्कर्ष के साथ-साथ इन सामन्तिक रजवाड़ों का महत्त्व भी विलुप्त हो गया था। भारत के ब्रिटिश प्रान्तों में नवाबों, राजाओं, महाराजाओं, सरदारों और ठाकुरों को कोई भी शक्ति और अधिकार नहीं थे। धीरे-धीरे उनकी सब सत्ता छीन ली गयी थी। इसके अतिरिक्त जब से राजपूत, जाट, मेवाती जैसा लड़ाकू साहसी जातियों को भारतीय सेनाओं में रहकर सन्तोष करना पड़ा, तब से इन वीर जातियों का महत्त्व चला गया था। अतएव अब सत्ता, अधिकार व प्रभाव उन जातियों को चले गये थे जिनमें से क्लर्क, बाबू और पदाधिकारियों की विशाल सेना के लिए भरती होती थी। जब अंग्रेजी शिक्षा का देशव्यापी प्रचार हुआ तब इन मध्यम-वर्ग की जातियों के भेद पूर्णतया स्पष्ट हो गये। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में डब्ल्यू० बी० बनर्जी व फीरोजशाह मेहता जैसे वकील, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले और बालगंगाधर तिलक जैसे शिक्षक, राजा माधवराय और आर० सी० दत्त जैसे शासनकर्ता एवं जी० सुब्रह्मण्य अय्यर और मोतीलाल घोष जैसे पत्रकार इन्हीं जातियों में से आये। उदार उद्योग-धन्धों के व्यक्ति, परोपकार और लोक-कल्याण के कार्य करने वाले मनुष्य तथा उच्च अधिकारी-गण भी इन्हीं जातियों से लिये जाते थे। इन जातियों के लिए सरकारी नौकरी के अतिरिक्त वकीली, डाक्टरी, मास्टरी और पत्रकारिता के ही धन्धे खुले थे। ये जातियाँ दूसरों की अपेक्षा अधिक शिक्षित थीं। उनमें राष्ट्र की तत्कालीन आवश्यकताओं का विस्तृत समुचित ज्ञान था एवं उनमें एकता व दृढ़ता की भावना विद्यमान थी तथा वे आधुनिक भारत की प्रगति के पक्ष में थे। कालान्तर में ये जातियाँ मध्यम-वर्गों के नाम से प्रख्यात हो गयीं। प्राचीन कुलीनवंशी लोग और सामन्तिक रजवाड़े अपनी दिव्य अतीत की स्मृति को याद करके जीवित रहने लगे परन्तु धीरे-धीरे वे अपना प्रभुत्व और प्रतिष्ठा खो बैठे।

पुनर्जागरण और पुनरुत्थान के कार्य में इन मध्यम-वर्गों ने अत्यधिक भाग

लिया। औद्योगिक क्षेत्र को छोड़कर बाकी समस्त क्षेत्रों में नवीन भारत का निर्माण इन मध्यम-वर्गों का ही कार्य था। ये नवीन शिक्षण और ज्ञान के प्रवर्तक थे तथा जो नवीन भारत बन रहा था उसके ये दीपदर्शक थे। इन्हीं वर्गों ने ही पुनरुत्थान और पुनर्जागरण की भावना को प्रोत्साहित किया, धार्मिक आन्दोलनों और सामाजिक सुधारों को उत्तेजना दी और राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव डाली, उसे संगठित कर सफल बनाया। इन बातों का वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

पुनरुत्थान या पुनर्जागरण के परिणाम

ऊपर पुनरुत्थान या नवाभ्युत्थान का अर्थ, उसका महत्त्व, उसके कारण व उसके विविध अंगों का विवेचन हो चुका है। अब हम संक्षेप में यहाँ नवाभ्युत्थान के परिणामों पर प्रकाश डालेंगे।

इस पुनरुत्थान से ही भारत ने कई शताब्दियों की कुम्भकर्णी निद्रा त्याग दी। इसी भारत में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, बौद्धिक, वैज्ञानिक और आर्थिक क्षेत्र में विलक्षण जागृति और अपूर्व प्रगति हुई। राजनीतिक क्षेत्र में जो जागृति हुई उससे राष्ट्रीयता की लहर समस्त देश में फैल गयी और अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष व विद्रोह की भावना का उत्कर्ष हुआ। फलतः दादाभाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले, बालगंगाधर तिलक, मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधी, सरदार पटेल, सुभाषचन्द्र बोस, जवाहरलाल नेहरू आदि के नेतृत्व में अंग्रेजों से संघर्ष कर भारत ने अपनी खोयी हुई स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त कर ली।

सामाजिक क्षेत्र में पुनर्जागरण की जो लहर व्याप्त हुई उससे समाज की कायापलट हो गयी। जब ब्रिटिश राज्य भारत में स्थापित हुआ था तब भारतीय समाज में सती-प्रथा, बाल-बध, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, अशिक्षा, अस्पृश्यता और जटिल जाति-व्यवस्था जैसी घातक और अनिष्टकारी कुप्रथाएँ प्रचलित थीं, इससे समाज की दुर्दशा हो गयी थी और देश का अधःपतन हो गया था। परन्तु नवाभ्युत्थान के कारण इन कुप्रथाओं का निवारण हो गया और सामाजिक दशा सुधर गयी। फलतः आज भारतीय समाज प्रगतिशील हो रहा है। देश में सर्वांगीण सुधार की ज्योति जगमगा रही है। आज अन्धविश्वास और श्रद्धा का स्थान बुद्धि और तर्क ने ग्रहण कर लिया है एवं उदारता व स्वतन्त्र विचार कट्टरता और शास्त्रवाद पर विजयी हो गये हैं। धार्मिक क्षेत्र में जो जागृति हुई उससे भारतीयों ने देशव्यापी दुरवस्था देखी और लोगों को विविध अन्धविश्वासों, जटिल रूढ़ियों, बाह्य आडम्बरों, नीरस खर्चीली क्रिया-विधियों, शुष्क कर्मकाण्ड तथा भ्रान्त विचारों में फँसा देखा। इनके निवारण के लिए देशव्यापी धार्मिक आन्दोलन हुए। राजा राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्रनाथ,

केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द, महात्मा रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, श्री अरविन्द, महर्षि रमण प्रभृति महापुरुषों ने प्राचीन धार्मिक सत्यों को पुनः प्रतिष्ठित किया, विश्व को भारतीय आध्यात्मिकता का सन्देश दिया और भारत का मस्तक ऊँचा किया। भारतीयों को अपने हिन्दू-धर्म में दृढ़ विश्वास हुआ, स्वर्णिम अतीत का ज्ञान हुआ और उन्हें अपने उज्ज्वल भविष्य में आशा व विश्वास का संचार हुआ।

साहित्यिक क्षेत्र में जो पुनर्जागरण हुआ उसके फलस्वरूप पाश्चात्य विद्वानों और अंग्रेज पण्डितों ने संस्कृत का अध्ययन किया जिससे भारत विषयक अध्ययन का उदय हुआ। भारतीयों को अपने राष्ट्र के विलुप्त यश-गौरव और अतीत के स्वर्णिम इतिहास का प्रामाणिक परिचय मिला। इससे भारतीय इतिहास का पुर्नर्निर्माण हुआ। भारतीयों ने अपने अतीत की निधि और सांस्कृतिक देन की रक्षा का बीड़ा उठाया। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार और पाश्चात्य विचारों के प्रचार से भारतीयों में बौद्धिक जागरण हुआ जिसकी विलक्षण अभिव्यक्ति प्रान्तीय भाषाओं के विकास में हुई। बंकिमचन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरतचन्द्र, प्रेमचन्द्र, इकबाल, मैथिलीशरण गुप्त, त्र्यम्बक बापूजी ठोमरे, वीरेशलिंगम आदि विभूतियों ने देशी भाषाओं के साहित्य को सुसम्पन्न किया है।

पुनर्जागरण के फलस्वरूप भारतीयों का ध्यान विविध ललित-कलाओं की ओर भी गया। चित्र-कला ने प्राचीन परम्परा से प्रेरणा पाकर नयी शैली का विकास किया। संगीत और नृत्य में भी प्राचीन शैलियों का उद्धार हो रहा है। संगीत और वाद्यों की शिक्षा अनेक स्थलों पर दी जा रही है और भारतीय नृत्य-कला को पुनरुज्जीवित किया जा रहा है। वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रफुल्लचन्द्र राय, जगदीशचन्द्र बोस, श्रीनिवास, रामानुजम्, चन्द्रशेखर वेंकट रमण, मेघनाथ शाह, बीरबल साहनी, श्रीकृष्णन आदि ने अपने अनुसन्धानों और आविष्कारों से भारतीयों में यह आत्म विश्वास जागृत कर दिया कि वैज्ञानिक क्षेत्र में पाश्चात्य वैज्ञानिकों का ही एकाधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त विज्ञान में भारत का मस्तक ऊँचा कर वैज्ञानिक अनुसन्धानों में अनुराग की जो वृद्धि इन्होंने की है वह भारत के उज्ज्वल भविष्य का सूचक है।

आर्थिक क्षेत्र में पश्चिम में हुए वैज्ञानिक आविष्कारों और यन्त्रों के आधार पर भारत का औद्योगीकरण करने का प्रयास किया गया है। इससे नवीन कल-कारखानों का जन्म हुआ, उत्पादन में वृद्धि हुई और टाटा, डालमिया, बिड़ला जैसे उद्योगपतियों का प्रादुर्भाव हुआ। इनके परिणामस्वरूप यद्यपि आर्थिक जीवन में कायापलट हो गयी, तथापि पश्चिमी देशों के आर्थिक सिद्धान्त और नवीन राजनीतिक विचारधाराएँ देश में प्रविष्ट हो गयीं। देश साम्यवाद

समाजवाद, आदर्शवाद, पूँजीवाद आदि का संग्राम-स्थल बन गया। वास्तव में यह सब भारत की पाश्चात्य संस्कृति की देन है। आधुनिक युग में भारत पर पश्चिम का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। अब नीचे हम इस प्रभाव का विस्तृत विवेचन करते हैं।

भारत और पाश्चात्य देश व संस्कृति

भारत में पाश्चात्य ईसाई धर्मावलम्बी सामुद्रिक शक्तियों के आगमन से देश में पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति भी आ गयी। इसने भारत में केवल नवीन तत्त्व ही प्रस्तावित नहीं किये वरन् भारतीय समाज के व्यवस्था-क्रम को भी भंग कर दिया। इससे परिवर्तन का युग प्रारम्भ हो गया जिसका अन्त अभी तक नहीं हुआ है और इसके भविष्य को अभी भी कोई निर्दिष्ट रूप से नहीं देख सका है।

विलक्षण विरोधाभास और अस्तव्यस्तता—अंग्रेजी शासन ने देश में अस्त-व्यस्तता उत्पन्न कर दी। स्वभाव से अंग्रेज अप्रगतिशील और अनुदार माने जाते हैं। उनमें प्रगति और परिवर्तन बहुत ही धीरे-धीरे होता है। भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने के बाद उन्होंने यहाँ उन सभी व्यक्तियों और संस्थाओं का विरोध किया जो राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों के लिए कार्य करते थे। इसके साथ-साथ उन्होंने समाज में प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का संगठन कर उनको खूब प्रोत्साहन भी दिया। इसके अतिरिक्त वे यहाँ के लोगों को दास और असभ्य समझते थे। यहाँ के निवासियों की प्राचीन दिव्य गौरव-मयी संस्कृति की प्रशंसा करने और उसके विकास में सहायता देने के लिए अंग्रेज सर्वथा असमर्थ थे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि भारत में विचार और कार्य में एक विलक्षण प्रकार का विरोधाभास और अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो गयी। हमारे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के उद्देश्य भी धुँधले हो गये और उनमें भी भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी। अंग्रेजों की छत्रछाया में हमारी सामाजिक और राष्ट्रीय प्रगति भी ऐसी कर दी गयी कि हमारा देश विरोधाभास का देश कहा जाने लगा। आर्थिक दृष्टि से भारत सुसम्पन्न देश कहा जाता है परन्तु वस्तुतः यह दरिद्र, वैभवहीन लोगों से भरा पड़ा है; राजनीतिक दृष्टि से इसे स्वतन्त्र गणतन्त्र माना गया है, किन्तु इसमें अज्ञानता और निरक्षरता का घोर अन्धकार है; धार्मिक दृष्टि से इसे आध्यात्मिक क्षेत्र में विश्व का दीप-दर्शक और पथ-प्रदर्शक समझा गया है, लेकिन यहाँ के निवासी अनेक अवांछनीय अन्धविश्वासों और निरर्थक कर्मकाण्ड में अत्यधिक श्रद्धा रखते हैं; नैतिकता में यह बुद्ध और गांधीजी के अहिंसा और सत्य के मार्ग का अनुकरण करने वाला समझा जाता है, परन्तु व्यावहारिक रूप में यहाँ पर भ्रष्टाचार, पक्षपात और काले बाजार का बोलबाला है।

पाश्चात्य संस्कृति की चुनौती और उसका परिणाम—अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हमारी संस्कृति की विभिन्न धाराएँ शुष्क और नीरस हो गयी थीं। ललित-कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शन और धर्म में सृजनात्मक प्रवृत्ति निष्क्रिय हो गयी थी और बौद्धिक जीवन नीरस हो गया था एवं समाज के विविध तत्त्वों में कुप्रथाओं के कारण सड़न-सी उत्पन्न हो गयी थी। इन सबके निवारण के लिए हमें एक गहरे आघात की आवश्यकता थी जो झकझोर कर हमारी कुम्भकर्णी निद्रा और अवांछनीय अकर्मण्यता को दूर करता। यह आघात पाश्चात्य देशवासियों और उनकी संस्कृति ने दिया। यह मान लेना कि इस आघात, चुनौती और पाश्चात्य सभ्यता का भारत में प्रवेश अंग्रेजी शासन के कारण ही हुआ, युक्तिसंगत नहीं है। कभी-कभी तो अंग्रेजों ने पश्चिम के लाभप्रद प्रभाव को प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के द्वारा रोकना चाहा, परन्तु चीन व जापान के समान भारत में भी पाश्चात्य प्रभाव ऐतिहासिक क्रम व काल का परिणाम है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति ने हमारी समस्त प्राचीन धारणाओं, विश्वासों और माहात्म्य को चुनौती दे दी। फलस्वरूप धर्म, विश्वास और प्रथाओं के प्राचीन स्वरूप लड़खड़ा गये; सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संस्थाएँ तुमुल नाद के साथ ढह गयीं। तब पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता ने भारत में हमारी सांस्कृतिक संस्थाओं के भग्नावशेषों पर अपना भव्य भवन खड़ा करना चाहा। इस घटना ने पश्चिमी सभ्यता व संस्कृति के सम्पर्क में आने वालों के दृष्टिकोण में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीयों ने जीवन के पाश्चात्य ढंगों और रीतियों की नकल विवेकशून्य होकर की। वास्तव में कुछ लोगों ने भारतीय भूमि पर नवीन यूरोप बसाने का प्रयत्न किया। परन्तु यह क्रम भारतीय नवाभ्युत्थान और पुनर्जागरण ने रोक दिया। फिर भी पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति ने हमारी संस्कृति पर स्थायी चिह्न छोड़े हैं। इनका विवेचन निम्नलिखित है।

पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव समस्त वर्गों, ग्रामों और नगरों तक व्याप्त—इस्लाम के आगमन से प्रमुखतया हिन्दू सामन्तगण और कुलीनवंशी लोग एवं नगरों के निवासी ही प्रभावित हुए। उन्होंने सम्पूर्ण समाज का रूप और अंग ही नहीं अपितु उसकी प्रवृत्ति भी बदल दी। इसके विपरीत, पाश्चात्य संस्कृति ने जिन परिवर्तनों का सूत्रपात किया वे नगरों तक ही सीमित नहीं रहे अपितु वे ग्रामों में भी अपने प्रभाव की वृद्धि करते हुए पहुँच गये। पाश्चात्य संस्कृति से हमारे नगरवासी ही नहीं किन्तु ग्रामवासी भी अत्यधिक प्रभावित हुए। एक वर्ग विशिष्ट पर ही नहीं बल्कि सभी वर्गों पर उसका प्रभाव पड़ा। समय, दूरी और गतिहीनता की समस्या को दूर करने वाले यातायात के आधुनिक

साधनों के कारण पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव और प्रसार का यह क्रम अत्यधिक शीघ्रता से होता गया।

शिक्षा में पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव—पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता का सर्वप्रथम प्रभाव और प्रसार शिक्षण के क्षेत्र में हुआ। ईसाई धर्म-प्रवर्तकों द्वारा जो अंग्रेजी शिक्षा प्रारम्भ की गयी थी, उसे मेकॉले के निर्णय और लार्ड हार्डिग्ज के शासनकाल की घोषणा ने खूब प्रोत्साहित किया। शिक्षा की इस पाश्चात्य पद्धति ने भारत में ऐसे शिक्षित वर्गों का निर्माण किया जिन्होंने अपने आदर्श और विचार-प्रणालियाँ देश की प्राचीनतम परम्पराओं से नहीं किन्तु पश्चिम से ग्रहण कीं। इससे भारत में शिक्षित और अशिक्षित वर्गों के मध्य विशाल खाई उत्पन्न होती गयी। इसके साथ-साथ पाश्चात्य शिक्षा से देश में नवीन मध्यम वर्गों का प्रादुर्भाव हुआ। धीरे-धीरे उनकी विविध समस्याओं का भी उत्कर्ष हुआ जिनको हल करने में देश की कायापलट हो गयी।

देशी भाषाओं के साहित्य पर प्रभाव—पाश्चात्य सभ्यता व शिक्षा का प्रभाव हमारी देशी भाषाओं के साहित्य पर खूब हुआ। इससे यद्यपि भारत के प्राचीन जीवन और साहित्य में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया था, तथापि देशी भाषाओं के सर्वश्रेष्ठ नमूने भावना, दृष्टिकोण, साहित्यिक युक्तियों, साधनों तथा विषय के निर्वाचन व प्रतिपादन में पाश्चात्य ही रहे। उन्होंने पश्चिमी सभ्यता व संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण की। उन्होंने पश्चिम की भावना अर्द्धपूर्वीय वेशभूषा में प्रदर्शित की।

अंग्रेजी माध्यम के द्वारा अंग्रेजी साहित्य ही नहीं अपितु पाश्चात्य देशों के विविध साहित्यों के अध्ययन का सुअवसर भी भारतीयों को मिला। इन साहित्यों में स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता, समानता आदि का साहित्य के विविध अंगों के साथ-साथ जैसा निरूपण हुआ है उसकी गहरी छाप हमारी देशी भाषाओं के साहित्यों पर पड़ी है। सन् १९१९ के पूर्व के हमारे राजनीतिक नेतागणों ने अपने व्याख्यानों और लेखों के हेतु पाश्चात्य साहित्य से ही प्रेरणा ग्रहण की और उन्हें पाश्चात्य साहित्य के ढंग पर ही ढाला एवं विचार तथा कार्य में उन्होंने सक्रिय रूप से अंग्रेज नेताओं व वक्ताओं की नकल की। अंग्रेजी ग्रन्थों और पुस्तकों ने हमारे देश में नवीन विचारधाराएँ प्रस्तुत कीं। पाश्चात्य साहित्य ने साहित्य के विविध क्षेत्रों में विभिन्न नमूने प्रदर्शित किये जिनकी नकल हमारे साहित्यकारों ने की।

हमारा गद्य साहित्य प्रायः अंग्रेजी पुस्तकों के अनुवाद से ही शुरू होता है। हमारे गद्य साहित्यकारों ने पाश्चात्य आदर्शों के अनुकूल ही लेख लिखे हैं। उन्होंने अपने लेखों व निबन्धों में पाश्चात्य कथानक शैली का अनुकरण किया। स्वयं रवीन्द्रनाथ टैगोर भी इस अपवाद से मुक्त नहीं हैं।

भारतीय नाटकों पर पाश्चात्य नाटकों की छाप पड़ी। वर्तमान भारतीय नाटकों में रंगमंच के विस्तृत संकेतों का प्रयोग तथा सामाजिक और वैयक्तिक समस्याओं का विश्लेषण पाश्चात्य नाटकों के प्रभाव का फल है। इब्सन, गाल्सवर्दी, बर्नार्ड शॉ जैसे पाश्चात्य नाट्यकारों की शैली एवं प्रवृत्तियों की नकल भारतीय नाटककारों ने की। हमारे साहित्य में एकांकी नाटक एवं समस्या नाटक का प्रादुर्भाव पाश्चात्य नाटक-साहित्य के प्रभाव का स्पष्ट फल है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, श्री गोविन्दवल्लभ पन्त, श्री अश्क, श्री प्रेमी, श्री उदयशंकर भट्ट, श्री कैलाशनाथ भटनागर, सेठ गोविन्ददास जैसे नाटककारों की कृतियों में पाश्चात्य नाट्य-साहित्य का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर है।

छोटी-छोटी कहानियों और उपन्यासों में भी पाश्चात्य साहित्य की गहरी छाप है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक तो हमारे साहित्य में इनका सर्वथा अभाव ही रहा है। पश्चिमी गल्पों और उपन्यासों के अनुवाद के साथ-साथ इस क्षेत्र में मौलिक रचनाओं का भी प्रारम्भ हुआ। ये मौलिक रचनाएँ भी विचारधारा, शैली और विषय के चुनाव में पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त नहीं रहीं। उनमें पाश्चात्य कथानक और शैली का अनुकरण किया गया। समालोचना में पाश्चात्य तत्त्वों को अपनाया गया।

काव्य के क्षेत्र में भी पश्चिम की छाप पड़ी। अंग्रेजी सॉनेट (Sonnet) और ओड (Ode) का अनुकरण करके 'चतुर्दश पदियाँ' और 'सम्बोधन गीत' लिखे गये। अतुकान्त कविताओं (Blank Verse) का भी खूब प्रचार बढ़ा। बँगला में मधुसूदन दत्त और हिन्दी में अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अतुकान्त कविता में अपूर्व सफलता प्राप्त की। अंग्रेजी गीतों (Lyrics) का भी खूब अनुकरण होने लगा। प्रेम की कविताओं और छायावादी कविताओं में अंग्रेजी विचारों और शैली का अनुकरण किया गया। निबन्ध में भी पश्चिम की नकल की गयी। देशी भाषाओं के कोष और व्याकरण बनाने में पाश्चात्य विद्वानों का खूब हाथ रहा। ईसाई पादरियों और धर्म-प्रचारकों ने बाइबिल का सन्देश जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए देशी भाषाओं के लिए टाइप निर्माण किये, मुद्रणालय खोले और देशी भाषाओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन भाषाओं के व्याकरण और शब्द-कोष बनाये। अधिकतर सभी प्रान्तीय भाषाओं के प्रथम व्याकरण लेखक ईसाई पादरीगण हैं। पश्चिमी विद्वानों ने देशी भाषाओं के इतिहास भी लिखे हैं और उनके विकास और प्रचार के लिए संस्थाएँ भी स्थापित की हैं। सन् १८४८ में फार्ब्स ने 'गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी' की स्थापना की जिससे साहित्य की उन्नति के लिए संगठित प्रयत्न किये जाने लगे। अंग्रेज पादरियों व धर्म-प्रवर्तकों ने मराठी भाषा के ऐसे कोष व व्याकरण-ग्रन्थ निर्मित किये कि मराठी का नया विकसित रूप प्रकट होने लगा, पर यह रूप

प्राचीन परम्पराओं से इतना भिन्न हो गया कि श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने तो अपने निबन्धों में मराठी के इस नवीन अंग्रेजी रूप की खूब खबर ले ली।

पाश्चात्य प्रभाव के अन्तर्गत देशी भाषाओं के भी मुद्रणालय स्थापित किये गये और समाचारपत्र व अखबार निकाले गये। सन् १७८० में हिकी (Hicky) ने प्रथम अंग्रेजी पत्र 'बंगाल गजट' प्रकाशित किया। इसका अनुकरण करके सन् १८१६ में देशी भाषा का प्रथम भारतीय पत्र 'बंगाल समाचार' निकला और १८२२ से गुजराती 'बम्बई समाचार' प्रकाशित होने लगा। सन् १८४५ में हिन्दी का सर्वप्रथम पत्र 'बनारस अखबार' निकला। देशी भाषाओं के इन पत्रों तथा मासिकों ने हमें विश्व के अन्य देशों से ही सम्बन्धित नहीं किया, वरन् उन देशों के साहित्यावलोकन में तथा उनके श्रेष्ठ अंगों का अनुकरण करने का सुअवसर भी दिया।

हमारे देश की प्राचीनतम भाषा संस्कृत के अध्ययन का पुनरुद्धार तो अंग्रेजी भाषा के द्वारा हुआ। संस्कृत सीखने वाला प्रथम अंग्रेज चार्ल्स विल्किंस था और संस्कृत का समुचित महत्त्व समझने वाला व्यक्ति सर विलियम जोन्स था जो सन् १७८३ में कलकत्ता की सुप्रीम कोर्ट का न्यायाधीश नियुक्त होकर भारत आया था और जिसने पूर्वी साहित्य और ज्ञान-विज्ञान की खोज करने के लिए 'बंगाल एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना की थी। विल्किंस, विलियम जोन्स, कोलब्रुक, विलसन, विलियम्स, मैक्समूलर आदि विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन किया, प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थों का संकलन और अनुवाद किया और विश्व का, विशेषकर भारतीयों का ध्यान संस्कृत की ओर अधिक आकृष्ट किया।

पाश्चात्य सभ्यता और भारतीय राजनीति—राजनीतिक क्षेत्र में पाश्चात्य ढंग के विचारों और शासन ने हमें राजनीतिक एकता तथा वैधानिक नियमों की भावना और स्वतन्त्रता व समानता की प्रबल उत्कण्ठा दी है। पाश्चात्य विचार-प्रणालियों से ही भारत में राष्ट्रीय चेतनता व जागृति का विकास हुआ और उग्र राष्ट्रीयता की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। वस्तुतः राष्ट्रीयता की भावना पश्चिम से ली गयी और इसने आधुनिक भारतीय इतिहास को अत्यधिक प्रभावित किया है। वाशिंगटन, क्रॉमवेल, मेजिनी, गैरीबाल्डी, नेपोलियन आदि से हमने राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रीयता के लिए प्रेरणा ली। राजनीतिक जागृति और राष्ट्रीयता की लहर में देश के सभी तत्त्व एक हो गये। परन्तु इतने पर भी अंग्रेजी शासन ने साम्प्रदायिकता और पृथक् निर्वाचन की दूषित प्रणाली का सूत्रपात कर दिया। इसका अन्त हमें देश का विभाजन करके करना पड़ा।

अंग्रेजी शासन की समानता, शान्ति, एकता और शासन-विधान के विकास

तथा पाश्चात्य राजनीतिक सिद्धान्तों के प्रसार से हमारे देश में लोकतन्त्रीय और प्रजातन्त्रीय संस्थाओं पर अधिक जोर दिया जाने लगा। राष्ट्रीयता की भावना और प्रजातन्त्र के विचारों ने देश में तीव्र असन्तोष के बीज बो दिये। देश की बढ़ती हुई दरिद्रता और प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के विनाश से यह असन्तोष अधिक गहरा और देशव्यापी होता गया। फलस्वरूप मध्यम वर्ग अधिक उग्र हो गये और अपने स्वत्वों की रक्षा व राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए उनकी माँगें उत्तरोत्तर बढ़ने लगीं। इसके अतिरिक्त वे साम्यवाद, समाजवाद, व्यक्तिवाद जैसे पाश्चात्य राजनीतिक सिद्धान्तों को अपनाने लगे।

भारतीय समाज और पाश्चात्य सभ्यता—पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति के प्रभाव से हमारे समाज में एक क्रान्ति उत्पन्न हो गयी है। एक ओर अनुदार प्रतिक्रियावादियों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने अतीत की दुहाई देकर हमारे सामाजिक ढाँचे पर पश्चिम की काली छाया की वृद्धि को रोकना चाहा, सभी प्रकार की प्रगति का घोर विरोध किया और भूतकाल के विचारों व प्रथाओं के अनुसार ही चलने के नारे लगाये। दूसरी ओर प्रगतिशील व्यक्तियों का उत्कर्ष हुआ जिन्होंने अस्पृश्यता, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, देवदासी-प्रथा, बहु-विवाह, निरक्षरता आदि सामाजिक कुरीतियों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कराया और पश्चिम की अच्छी बातों को ग्रहण करने पर अधिक जोर दिया। इससे हमारी सामाजिक चेतनना जागृत हो गयी और नवीन मध्यम वर्गों का उदय हुआ। इन वर्गों ने पश्चिम की अनेक बातों को ग्रहण कर लिया। समाज व देश की कायापलट करने में इन वर्गों का अधिक हाथ रहा। देशव्यापी क्रान्ति के अग्रगामी दूत और पथ-प्रदर्शक उत्पन्न करने का सौभाग्य इन्ही वर्गों का रहा है।

पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति के सम्पर्क से हमारे प्राचीन नैतिक विचार इतने परिवर्तित हो गये हैं कि हम उनके प्राचीन स्वरूप को पहचान भी नहीं सकते। हमारी वेश-भूषा, खान-पान, आचार-विचार, शिष्टाचार-व्यवहार आदि पाश्चात्य प्रभाव की गहरी झलक प्रकट करते हैं। हिन्दू-समाज के मूल आधार जाति-प्रथा का दुर्ग धराशायी हो रहा है एवं सामाजिक कुरीतियों की अंत्येष्टि हो रही है। पश्चिम ने जीवन का और चरित्र का नवीन दृष्टिकोण उत्पन्न कर दिया है। व्यक्तिवाद, स्नेहवाद और क्रान्ति की एक नवीन लहर समाज में दौड़ रही है। व्यक्तिवाद पर अधिक जोर देने से हमारे सामाजिक बन्धन ढीले पड़ गये हैं। संयुक्त-परिवार-प्रणाली और जाति-प्रथा को इसके गहरे आघात लगे हैं। पहले समाज और उसकी संस्थाओं के हित के लिए व्यक्ति सर्वस्व प्रदान कर देते थे। वे अपना अस्तित्व भी मिटा देते थे। परन्तु अब व्यक्ति अपने को समाज से ऊपर समझता है; वह समाज को गौण मानता

है। इससे प्राचीन सामाजिक संतुलन बिगड़ गया और समाज का ढाँचा लड़खड़ाने लगा है।

परन्तु पश्चिम का प्रभाव हमारी सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओं के निवारण के लिए लाभप्रद हुआ। सामाजिक सुधारों की प्रेरणा पश्चिम के प्रभाव का ही परिणाम है। भारतीय स्त्रियों को धार्मिक और सामाजिक बेड़ियों से मुक्त करने और उनके उत्थान के प्रयत्न करने में पश्चिम के प्रभाव ने अत्यधिक योग दिया। अखिल भारतीय महिला परिषद् की स्थापना हुई। महिलाओं के उत्थान व प्रगति के लिए इसने देशव्यापी सफल आन्दोलन किया।

भारतीय धर्म और पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति—धार्मिक क्षेत्र में भी पश्चिम के प्रभाव से एक विशिष्ट क्रान्ति हो गयी। अन्धविश्वास और श्रद्धा का स्थान बुद्धि और तर्क ने ले लिया एवं उदारता तथा स्वतन्त्र विचार कट्टरता और शास्त्रवाद पर विजयी होने लगे। पश्चिम ने हमें भौतिकवाद का नवीनतम दर्शन, बौद्धिक उत्तेजना और धार्मिक बातों के प्रति अन्वेषण और जिज्ञासा की तीव्र भावना प्रदान की। प्राचीन विश्वासों, परम्पराओं और सिद्धान्तों को विज्ञान-तर्क और समालोचना की कसौटी पर उतारा गया और उनमें से अनेक की निन्दा कर उन्हें त्याग दिया गया। कहीं-कहीं अच्छी बातों को भी छोड़ दिया गया क्योंकि वे अतीत की परम्पराओं और प्रथाओं पर आश्रित थीं। अनेक भारतीयों को हिन्दू धर्म ढकोसला-मात्र प्रतीत होने लगा और उन्होंने पश्चिम की अनेक बातों के साथ-साथ ईसाई धर्म को भी ग्रहण कर लिया। भारतीय दर्शन के स्थान पर पाश्चात्य दर्शन और बाइबिल का गहन अध्ययन किया जाने लगा। सौभाग्य से इस प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द जैसे धार्मिक और सामाजिक सुधारकों ने अपने आन्दोलनों से इस प्रवृत्ति का अन्त कर दिया।

वैज्ञानिक अन्वेषण और अनुसन्धान की भावना—मध्ययुग में भारत की वैज्ञानिक अन्वेषण की भावना और अनुसन्धान की तीव्र लालसा का अन्त हो चुका था। आधुनिक युग में पश्चिम के सम्पर्क से भारतीयों को यह अनुभव हुआ कि पश्चिम की अभूतपूर्व उन्नति का प्रमुख कारण विज्ञान की उन्नति है। उन्होंने यह भलीभाँति जान लिया कि पश्चिम में ज्ञान की वृद्धि और विकास के लिए विज्ञान ने अगणित मार्ग खोल दिये हैं। उन्होंने पश्चिम के अन्वेषणों, आविष्कारों और वैज्ञानिकों से जीवन का गतिशील दृष्टिकोण, तर्क और विचार करने की वैज्ञानिक व विवेकशील प्रणाली तथा जीवन के विविध क्षेत्रों में विज्ञान का सुन्दर सदुपयोग करना सीखा। पश्चिम ने हमें वैज्ञानिक अन्वेषण और अनुसन्धान की भावना, प्रयोग की प्रणाली और साहसी कार्य करने की क्षमता प्रदान की है। पश्चिम से ही हमने नवीन ज्ञान-विज्ञान और सत्य की

खोज करने की प्रबल उत्कण्ठा एवं जीवन के आन्तरिक रहस्यों को समझ लेने की शक्ति, जिसे हम मध्ययुग में भूल चुके थे, पुनः प्राप्त कर ली है। इसके फलस्वरूप भारतीय शिक्षण-संस्थाओं और विश्वविद्यालयों में वैज्ञानिक विषयों के शिक्षण और परीक्षण की समुचित व्यवस्था हो गयी एवं वैज्ञानिक अनुसन्धानों के लिए विविध संस्थाओं और प्रयोगशालाओं की स्थापना हुई जिनमें बंगलौर के 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑव साइन्स' का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

भारत की ललित-कलाएँ और पश्चिम—हमें अपने प्राचीन ललित-कलाओं और अतीत के गौरव का ज्ञान पश्चिम ने ही कराया है। इन्हें हम मध्ययुग में पूर्ण रूप से विस्मृत कर चुके थे। सिस्टर निवेदिता, हैवेल, फर्ग्युसन, हिन्दू स्टुअर्ट जैसे यूरोपीय विद्वानों ने भारत की ललित-कलाओं के प्रधान तत्त्वों, प्रमुख प्रवृत्तियों एवं कलात्मक अभिव्यंजना को विश्व के सम्मुख प्रदर्शित किया। कनिंघम, कुमारस्वामी, मार्शल, पर्सी ब्राउन, स्मिथ, टॉड, मैक्समूलर ने भारत के अतीत की गौरव-गाथाओं का सजीव वर्णन अपने ग्रन्थों में किया। अंग्रेज और यूरोपीय विद्वानों ने भारत के शिलालेखों का स्पष्टीकरण किया, गूढ़ाक्षरों का अर्थ निकाला, उत्खनन-कार्य किया एवं इतिहास-लेखन की विविध सामग्री प्रस्तुत की। इस प्रकार पश्चिम के सफल प्रयासों के कारण ही हम अपने अतीत के गौरव को समझ सके और अपने पूर्वजों की देन को पुनः प्राप्त कर सके।

भारत का आर्थिक जीवन और पश्चिम का प्रभाव—आर्थिक क्षेत्र में पश्चिम की भौतिक सभ्यता के उच्चतम जीवन-स्तर ने भारतीय जीवन-स्तर को चुनौती दे दी। फलस्वरूप हमारे देश के जीवन की प्राचीन और सरल प्रणालियाँ व साधन नष्ट-भ्रष्ट होने लगे। अब पैतृक धन्धे और वंश-परम्पराओं के व्यवसाय जीवन-निर्वाह करने या सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए अनुपयुक्त हो गये। अंग्रेजों की आर्थिक और व्यापारिक नीति के कारण भारत के प्राचीन उद्योग-धन्धे विनष्ट हो गये और देश कृषि-प्रधान हो गया। पर जन-संख्या की वृद्धि और नवीन उद्योगों के अभाव से कृषि भी जीवन-निर्वाह का समुचित साधन न हो सकी। इससे नवीन आर्थिक समस्याओं का उत्कर्ष हुआ। इसी बीच जापान, जर्मनी और अमरीका के पूँजीवाद और औद्योगीकरण ने भारतीयों में जागृति पैदा कर उनकी आँखें खोल दीं। देश के खनिज पदार्थ, कच्चा माल, औद्योगिक साधनों का बाहुल्य और श्रम की प्रचरता ने भी भारतीयों को देश के औद्योगीकरण के हेतु उत्तेजित किया। पाश्चात्य प्रभाव के अन्तर्गत देश में धीरे-धीरे नवीन उद्योगों और व्यवसायों का निर्माण हुआ और औद्योगीकरण की ओर ठोस कदम उठाये जाने लगे। इसके परिणाम-स्वरूप प्राचीन आर्थिक मूल्यांकन परिवर्तित हो गया और रहन-सहन का

स्तर भी ऊँचा उठने लगा। जीवन की भौतिक दशाओं में हुए परिवर्तनों ने भारतीयों के दृष्टिकोण में भी गहन परिवर्तन कर दिया। उन्हें अपनी दरिद्रता और आर्थिक हीनता अधिक अखरने लगी। इनके निवारण के लिए और आर्थिक उन्नति के लिए ठोस कदम उठाये जाने लगे। ग्रामों में कृषि की उन्नति के साथ-साथ नगरों के उद्योगों की भी प्रगति होने लगी। इसमे हमारे आर्थिक जीवन का आधुनिकीकरण होने लगा।

परन्तु पश्चिम की सबसे बड़ी आर्थिक और राजनीतिक घटना, जिसने भारत के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक विकास को प्रभावित किया, रूस की क्रान्ति है। मास्को में ही नहीं चीन देश में भी श्रमजीवियों द्वारा राज्य-शक्ति और अधिकार धारण कर लेने से भी भारत के नवयुवकों पर गहरा प्रभाव पड़ा। वे साम्यवाद और समाजवाद की ओर अधिक झुकने लगे। श्रमजीवियों और कृषकों की हीन दशा की ओर लोगों का ध्यान अधिक आकर्षित होने लगा। सन् १६२० के पूर्व भारत में शायद ही श्रमिकों अथवा कृषकों का कोई संगठन रहा हो। परन्तु दोनों विश्वयुद्ध के बीच के युग में और उसके बाद के काल में श्रम आन्दोलन और कृषकों की हलचल प्रारम्भ हो गयी तथा कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हो गयी। मार्क्स और एंजिल्स से प्राप्त सामाजिक आन्दोलन की विचारधारा भारत में आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था के लिए क्रान्तिकारी प्रमाणित हुई है। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था-क्रम और भारतीय जीवन का परम्परागत ढाँचा संयुक्त-परिवार प्रथा और इस्लाम तथा हिन्दू-धर्म के वैयक्तिक कानूनों पर आश्रित रहा है। पश्चिम के आर्थिक व सामाजिक विचार और धर्म-निरपेक्षता इस व्यवस्था-क्रम और परम्परागत ढाँचे के लिए घातक हो गये।

पश्चिम की नवीनतम विचार-प्रणालियों ने भारत में स्वतन्त्रता की उत्कण्ठा, सामाजिक न्याय की तीव्र लालसा, क्रान्ति की दृढ़ भावना और विप्लवकारी अराजकता की चित्तवृत्ति प्रस्तुत की। इन सबने धर्म, पूँजीवाद और शोषण के साम्राज्य को चुनौती दे दी और समानता की एक नवीन माँग उत्पन्न हो गयी तथा आर्थिक अंगों पर आश्रित विभिन्न प्रकार की राष्ट्रीय भावना उदित हो गयी। इसके परिणामस्वरूप विश्व का प्राचीन रणक्षेत्र भारत आज पुनः विरोधी सांस्कृतिक शक्तियों का संग्राम-स्थल बन गया है। नवीन मानवता के उदय होने के पूर्व ही भारत में नवीनतम और प्राचीनतम मूल्यांकन में परस्पर संघर्ष छिड़ गया। इस संघर्ष के बीच भारत की युवक पीढ़ी ही ऐसा समन्वय उत्पन्न कर सकती है जिसमें हमारे देश की सांस्कृतिक देन और भी अधिक सुसम्पन्न हो जाय।

आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति पर भारत का प्रभाव

उपरोक्त वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिम ने आधुनिक युग में भारत को अत्यधिक प्रभावित किया और वह उसके प्रभाव से दब-सा गया है। यह बात ठीक है कि पाश्चात्य प्रभाव से भारत में नवीन जागृति हुई और नवाभ्युत्थान का सूत्रपात्र हुआ। परन्तु भारत ने भी पाश्चात्य संस्कृति को कम प्रभावित नहीं किया। प्रस्तुत पुस्तक के नवम् अध्याय में प्राचीनकाल की पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति पर भारत के प्रभाव का विशद् वर्णन है। मध्ययुग में भी अरब और इटली के निवासी जो यूरोप और एशिया के व्यापार की प्रमुख शृंखला थे, भारत की व्यापारिक वस्तुओं के साथ-साथ भारतीय सांस्कृतिक विचारधाराओं और तत्त्वों को पाश्चात्य देशों में ले गये। इसके अतिरिक्त मध्ययुग में बर्नियर, सर टॉमस रो, ट्रेवरनीयर, पीटर मण्डी, मण्डल स्लो, मनुची जैसे यात्रियों, जेसुइट पादरियों आदि ने भारत में भ्रमण किया था और यहाँ से सांस्कृतिक प्रेरणा पश्चिम को ले गये थे। सर टामस रो ने भारत की सम्पन्नता के विचारों से इंगलैण्ड के प्रसिद्ध कवि मिल्टन को इतना अधिक प्रभावित किया था कि उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पैराडाइज लॉस्ट' (Paradise Lost) में शैतान का वर्णन करते हुए भारत की प्रचुर सम्पत्ति का उल्लेख कर दिया। इसी प्रकार ड्रेडन भी इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने 'औरंगजेब' नामक नाटक लिख डाला।

सन् १६७१ में फ्रेंच यात्री बर्नियर प्रसिद्ध मुगल राजकुमार दाराशिकोह द्वारा फारसी भाषा में अनुवादित उपनिषद् की पाण्डुलिपि फ्रांस ले गया था। इसके पश्चात् फ्रेंच और जर्मन ईसाई (जेसुइट) पादरियों और धर्म-प्रवर्तकों ने संस्कृत का अध्ययन किया एवं वेदों तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित किये। एक जेसुइट पादरी ने तो सन् १७३२ में संस्कृत व्याकरण की रचना भी की। इसका प्रभाव यह हुआ कि फ्रांस के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी लेखक वाल्टेयर (Voltaire) की श्रद्धा व भक्ति भारत और उसके ज्ञान के प्रति अधिक बढ़ गयी और बाद में एमिल (Amiel) ने तो इस बात पर बल दिया कि आध्यात्मिक प्रगति के लिए मानवता को 'आत्माओं का ब्राह्मणकरण' करना अनिवार्य है।

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में यूरोपीय विद्वानों ने भारत की संस्कृति के अध्ययन के हेतु सामूहिक रूप से व्यवस्थित प्रयास किये। तीन अंग्रेज विद्वान सर चार्ल्स विल्किस, सर विलियम जोन्स और कोलब्रुक ने, जिनका उद्देश्य हिन्दू और यूरोपीय ज्ञान का सुन्दर समन्वय करना था, पाश्चात्य विश्व में प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों को प्रस्तुत करने का प्रशंसनीय कार्य किया। सन् १७८५ ई० में सर चार्ल्स विल्किस ने सर्वप्रथम हिन्दुओं के प्रसिद्ध ग्रन्थ

गीता का अनुवाद अंग्रेजी में किया और सन् १७८५ ई० में ही सर विलियम जोन्स ने 'बंगाल एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना की। इस सोसाइटी के तत्त्वावधान में भारत के ऐसे सुप्रसिद्ध ग्रन्थों का पाश्चात्य भाषाओं में अनुवाद हुआ जिससे यूरोप व अमरीका में भारतीय संस्कृति की ध्वनि गूंज उठी। विलियम जोन्स ने 'मनुस्मृति' का अंग्रेजी में अनुवाद किया और कालिदास के शकुन्तला तथा अन्य नाटकों के अनुवाद के साथ-साथ अन्य ग्रन्थों का संकलन भी किया। जोन्स ही सर्वप्रथम व्यक्ति था जिसने यह बताया कि संस्कृत सबसे अधिक वैज्ञानिक भाषा है और यूरोप की प्राचीन साहित्यिक भाषाओं, यूनानी व लैटिन तथा ईरान की पुरानी जन्द का संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके शब्दों में बहुत समानता है और ये सब एक मूल से प्रादुर्भूत भाषाएँ हैं। इस प्रकार उसने इन भाषाओं से तुलनात्मक भाषाशास्त्र की नींव डाली। बाद में इससे यह भी विदित हुआ कि इन भाषाओं को बोलने वाली जातियों के धर्म-कर्म, देव-गाथाओं, प्रथाओं और संस्थाओं में भी बड़ा सादृश्य था। इस प्रकार आर्य जाति और उसके मूल निवासस्थान का पता लगा और उस पर अधिक प्रकाश पड़ा।

विलियम जोन्स ने पुराणों के चन्द्रगुप्त तथा यूनानी लेखकों के सेण्ड्राकोट्टस की अभिन्नता मानकर प्राचीन भारत के तिथिक्रम की आधारशिला रख दी। इससे प्राचीन अभिलेख और सिक्कों को पढ़ने की अभिरुचि उत्पन्न हो गयी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कोलब्रुक ने अनुवाद के क्षेत्र में सबसे अधिक कार्य किया। उसने हिन्दू कानून, दर्शन, व्याकरण, धर्म और ज्योतिष का अध्ययन कर अनेक संस्कृत के ग्रन्थों का संकलन किया जिनमें पाणिनि का व्याकरण और हितोपदेश प्रमुख थे। ऐसा कहा जाता है कि हेमिल्टन नामक अंग्रेज ने कुछ जर्मन और फ्रांसीसी विद्वानों को संस्कृत की शिक्षा दी। इससे जर्मनी और फ्रांसीसी विद्वानों द्वारा भारतीय संस्कृति की खोज के अकथनीय प्रयत्न किये गये एवं जर्मनी ने ही संस्कृत साहित्य के गुप्त कोष को सबसे अधिक प्रकाश में लाने का सराहनीय कार्य किया। इसका प्रभाव जर्मन दार्शनिकों और लेखकों पर खूब हुआ। प्रसिद्ध विद्वान शोपेनहोर (Schopenhour) को तो उपनिषद् ईश्वरीय ज्ञान और प्रकाश से प्रतीत हुए। उसने कहा था कि उपनिषद् उसके जीवन की चिर-शान्ति है। प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट (Kant) का प्रमुख सिद्धान्त कि अनुभव की वस्तुएँ और बातें स्वयं उन वस्तुओं और बातों का केवल प्रतिभास हैं, उपनिषदों का एक माना हुआ सिद्धान्त है। शिलर के 'मेरिया स्टुअर्ट' पर कालिदास के 'मेघदूत' का प्रभाव बिलकुल स्पष्ट है। प्रसिद्ध कवि गेटे (Goethe) ने तो कालिदास के शकुन्तला नाटक की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। गेटे ने अपने 'फोस्ट' (Faust) की प्रस्तावना

कालिदास के नाटक के अनुरूप ही की है। मैक्समूलर ने तीस वर्ष के निरन्तर श्रम के पश्चात् ऋग्वेद का अनुवाद पूर्ण किया। इस विद्वान को भारतीय संस्कृति से इतनी अधिक प्रेरणा मिली थी कि उसने अपनी मौलिक रचनाओं, संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादों और संकलनों द्वारा पश्चिम के निवासियों को भारतीय संस्कृति की दिव्यता और बिलक्षणता का अनुभव करा दिया। इसके अतिरिक्त उसने भाषा, विज्ञान और धर्म के तुलनात्मक अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित कर धर्म और दर्शन के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दी।

अमरीका के विद्वान् भी भारतीय संस्कृति, धर्म व दर्शन से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। अमरीका के प्रसिद्ध लेखक व विचारक इमरसन (Emerson), थोरे (Thoreau), कवि वाल्ट ह्वाइटमैन (Walt Whitman) और अलकॉट पर भारतीय दर्शन का अत्यधिक प्रभाव रहा। इमरसन ने, जो बार-बार अपने साथी कवियों, लेखकों और विचारकों को गीता और उपनिषद् पढ़कर सुनाया करते थे, वेदान्त पर खूब लिखा है। इमरसन के 'ओवर सोल' और 'सर्किल्स' ('The Over-Soul' and 'Circles') जैसे निवन्ध और 'ब्रह्म' जैसी कविता में उपनिषद् के विचारों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। कवि ह्वाइटमैन की कविता 'पैसेज टू इण्डिया' और 'लीव्ज ऑव ग्रास' में भारत की अध्यात्म विद्या और गीता तथा उपनिषद् के विचारों की स्पष्ट आभा है। स्वामी विवेकानन्द के अमरीका भ्रमण करने पर वहाँ भारतीय संस्कृति और वेदान्त का अधिक प्रचार हुआ और आज भी वहाँ स्वामीजी के आश्रम भारतीय संस्कृति व दर्शन के केन्द्र-स्वरूप विद्यमान हैं। थोड़े समय पूर्व जे० कृष्णमूर्ति ने अमरीका में भारतीय दर्शन व आत्म-तत्व-ज्ञान को वैज्ञानिक ढंग से लोगों के सम्मुख रखकर उन्हें प्रभावित किया है। यदि उत्तरी अमरीका में वेदान्त के अध्ययन और अनुकरण के लिए 'केलीफोर्निया ग्रूप' की स्थापना हुई तो दक्षिणी अमरीका में ब्राजील में एक संस्था 'Circulo Esoterico da Communaho do pensamanto in Sao paulo' प्रतिष्ठित हुई है जिसका उद्देश्य भारत की अध्यात्म विद्या को समझना और उसका अनुकरण करना है। इसके अतिरिक्त इण्डिया सोसाइटी और इन्टरनेशनल स्कूल ऑव वैदिक एण्ड अलाइड रिसर्च जिन्हें अमरीका में भारतीयों ने स्थापित और संगठित किया है, भारतीय संस्कृति के प्रसार में प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं। यूरोप व अमरीका के समान ही इंगलैण्ड के विद्वानों, लेखकों, विचारकों, दार्शनिकों और कवियों पर भी भारतीय धर्म व दर्शन का गहरा प्रभाव रहा है। शैली वर्ड्सवर्थ, रॉबर्ट ब्राउनिंग और कारलाइल की कविताओं में वेदान्त की आभा स्पष्टतया झलकती है। जब इमरसन ने सर्वप्रथम कारलाइल से भेंट की तो कारलाइल ने उसे गीता की एक सुन्दर प्रति ही उपहार में देने के लिए पसन्द

की। टेनीसन ने भी अपनी कतिपय कविताओं में भारतीय विषयों का वर्णन किया है। सर जान वुडरोफ (Sir John Woodroff) ने भारत के तान्त्रिक ग्रन्थों का अनुवाद और संकलन अंग्रेजी भाषा में किया और आधुनिक युग में पश्चिम को भारत के तन्त्रवाद का ज्ञान कराया। जिराल्ड हर्ड (Gerald Heard) और अल्डूस हक्सले (Aldous Huxley) जैसे अंग्रेज दार्शनिकों के ग्रन्थों और विचारों में भारतीय दर्शन का प्रभाव है और इन्होंने इंगलैण्ड में एक योग स्कूल की स्थापना भी की है। आयरलैण्ड के केल्टिक (Celtic) पुन-र्जागरण के कवियों और विशेष कर जॉर्ज रसैल और यीट्स पर हिन्दू-दर्शन का अत्यधिक प्रभाव रहा है। भारत के जीवन और अध्यात्मवाद की ओर इन दोनों का खूब झुकाव रहा है। रसैल की कविता तो भारतीय रहस्यवाद से ओत-प्रोत है।

अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत अनेक अंग्रेज भारत में अधिकारियों, व्यापारियों और धर्म-प्रवर्त्तकों के नाते भारतीयों के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। इनमें से अनेक भारतीय संस्कृति से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने भारत विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना कर डाली। एलफिन्स्टन, टॉड, मालकम, स्मिथ, डफ जैसे इतिहासज्ञ, सर एडविन आरनोल्ड तथा किपलिंग जैसे कवि और थेकरे जैसे उपन्यास लेखक ऐसे ही अंग्रेजों में से हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी का दैनिक जीवन इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि उनमें भारतीय हुक्का, पुलाव और चटनियाँ अधिक लोकप्रिय हो गयी थीं एवं भारतीय रीति-रिवाजों के प्रति अधिक अभिरुचि उत्पन्न हो गयी थी।

फ्रांस का प्रसिद्ध विद्वान् रोमां रोलां (Romain Rolland) भारतीय संस्कृति के गूढ़ अर्थ को समझने के लिए प्रख्यात है। उसने श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गांधी पर श्रद्धा और भक्ति से ग्रन्थ लिखे। प्रसिद्ध फ्रेंच रहस्यवादी पॉल रिचर्ड श्री अरविन्द के सिद्धान्तों से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। अन्य प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् सिलवेन लेवी (Sylvain Levy) ने भारतीय कला, साहित्य और संस्कृति के अध्ययन में प्रशंसनीय बहुमूल्य कार्य किया। फ्रांस में 'Instiut de Civilisation Indienne' एक ऐसी संस्था है जिसका उद्देश्य भारतीय जीवन और सभ्यता के विविध अंगों को समझना, अध्ययन करना एवं उनकी प्रगति व प्रसार करना है। पेरिस विश्व-विद्यालय के लुई रेनो (Louis Renou) ने जो फ्रांस में संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् हैं सन् १९४९ में उन्होंने शान्तिनिकेतन में अपने व्याख्यान में कहा था कि फ्रांस के सर्वश्रेष्ठ विचारक और लेखक भारतीय विचार और संस्कृति से अधिक प्रभावित हुए हैं। रेनो वेद, व्याकरण तथा कोषों के पण्डित हैं। फ्रांस के लियो विश्वविद्यालय में शतपथ ब्राह्मण के समस्त पदों पर वर्षों से काम चल रहा है।

प्रसिद्ध जर्मन विचारक काउण्ट हरमन केसरलिंग भारतीय अध्यात्म विद्या या आत्म-तत्त्व-ज्ञान से इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि दर्शन के क्षेत्र में उसने भारतीय दर्शन की सर्वश्रेष्ठता अंगीकार कर ली थी और इसलिए उस पर यह आरोप लगाया गया था कि वह पश्चिम में भारतीय मूल्यांकन और मान्यताओं को प्रतिष्ठित कर रहा है। डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन तथा फिनलैण्ड में पाली व संस्कृत पर अनुसन्धान हो रहे हैं। स्विटजरलैण्ड में लूजर्न विश्वविद्यालय में प्राध्यापक डा० रेगामी कारण्डव्यूह का संस्कृत संस्करण निकाल रहे हैं। इसी प्रकार स्विटजरलैण्ड में एसकोना की अध्यात्म विद्या के अनुसंधान की एक संस्था 'The Summer School of Spiritual Research in Ascona' ने आधुनिक भारत के धर्मों का अध्ययन एक विशिष्ट विषय कर दिया है। हालैण्ड में कर्न इन्स्टीट्यूट और इटली में ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट अनुसन्धान के प्रख्यात केन्द्र हैं जहाँ यूरोपीय विद्वानों के पथ-प्रदर्शन में भारतीय कला, साहित्य और पुरातत्त्व पर महत्त्वशाली मौलिक कार्य किया गया है। हालैण्ड के चार विश्वविद्यालयों ने संस्कृत और भारतीय इतिहास के अन्वेषण को ऊँचे स्तर पर पहुँचाया है। यहाँ के विशेष उल्लेखनीय प्राध्यापक जे० खोन्दा हैं जिन्होंने महाभारत का भीष्म-पर्व, गरुड़-पुराण आदि को सम्पादित किया है। बेलजियम में पादरी अध्यापक लामोत ने आचार्य नागार्जुन के प्रज्ञापारमिता शास्त्र का अद्वितीय अध्ययन करके Le Traits dele Grand Vertu de Saggesse नामक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा। नार्वे के स्टेन कोनोव (Sten Konov) भारत के धार्मिक विचार के विकास के विषय में अनुसन्धान करने के लिए प्रसिद्ध हैं। जर्मनी के ग्लासेनहप (Glassenhap) संस्कृत के अनेक दर्शनशास्त्रों पर भाष्य लिखने के कारण प्रख्यात हैं। चेकोस्लोवाकिया के विण्टरनिट्ज़ (Winternitz) ने भारतीय साहित्य के इतिहास पर महान् ग्रन्थ लिखने के कारण और इटली के प्राध्यापक तुच्ची (Tucci) ने भी वैष्णव विचारधाराओं के विशिष्ट अध्ययन करने के कारण यूरोप में खूब यश प्राप्त किया है। तुच्ची ने संस्कृति तथा भारतीय अनुसन्धान में इटली को गौरवास्पद बना दिया है। उन्होंने भारत, नेपाल, तिब्बत से अनोखे हस्तलेखों तथा चित्रों की सामग्री संग्रहित की है। पोलैण्ड के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् प्रोफेसर स्टेनिसला एफ० माइकलस्की (Stanislaw F. Michalski) ने, जो वारसा साइण्टिफिक सोसाइटी के ओरिएण्टल सेक्शन के संस्थापक हैं, प्राचीन भारतीय साहित्य और संस्कृति के अध्ययन हेतु अपना समस्त जीवन अर्पित कर दिया है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले जर्मनी संस्कृति का बड़ा क्षेत्र था। वहाँ के प्रत्येक विश्वविद्यालय में भारतीय साहित्य, धर्म, कला आदि का अध्ययन करने के लिए विशेष प्रबन्ध था। संस्कृत भाषा व उसका साहित्य

आर्य-साहित्य है। जर्मन भी आर्य जाति है। जर्मन देश में प्राचीन आर्यों का साहित्य नहीं है पर भारत में है। क्योंकि वहाँ युगों से आर्यों का विकास होता रहा है, इसीलिए जर्मनी में संस्कृत के लिए विशेष भावना व रुचि उत्पन्न हो गयी। शोपनहॉर, हुबोल्ट आदि विचारकों ने संस्कृतान्तर्गत दर्शन की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। जर्मन भाषा का आदि स्रोत समझने के लिए भाषा-विज्ञों ने वहाँ संस्कृत को प्रथम स्थान दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी में पुनः संस्कृत का अध्ययन शुरु हो गया। मार्बुर्ग में संस्कृत का एक उत्कृष्ट पुस्तकालय है। मुस्टर विश्वविद्यालय के डॉ० हाकर ने श्री शंकराचार्य के वेदान्त का अध्ययन करने के लिए अपना समस्त जीवन अर्पित कर दिया है। इसी प्रकार प्रख्यात संस्कृतज्ञ प्राध्यापक हेलमुण्ट फान ग्लाजनाप ने भारतीय सम्प्रदायों पर कई निबन्ध लिखे हैं और बौद्ध, जैन तथा हिन्दू धर्म पर बड़े सर्वांग पूर्ण ग्रन्थों की रचना कर जर्मन साहित्य को सुसम्पन्न किया है। संस्कृत के कई ग्रन्थों का जर्मनी भाषा में मधुर व रुचिकर अनुवाद करने में श्री हरमान वेलर अधिक प्रसिद्ध हैं। जर्मनी के उत्तर में कील के विद्यापीठ में वैष्णव आगम साहित्य तथा उपनिषदों के प्रकाण्ड विद्वान् हैं जिनका नाम ऑटोश्राडर है। ये भारत की तेलगू और तामिल भाषा भी पढ़ाते हैं। जर्मनी का हैम्बर्ग नगर सारे यूरोप में जैन अनुसन्धान का प्रख्यात केन्द्र है। यहाँ जैन पुराण, कथा साहित्य, चरित्र साहित्य व प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं का अनुसन्धान हो रहा है। यहीं के डॉ० अल्जडॉफ दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों का ज्ञान रखते हैं और अनेक बार भारत भ्रमण कर चुके हैं। यहीं पर डॉ० तवाड़िया नामक भारत के एक पारसी सज्जन हिन्दी, मराठी व गुजराती पढ़ाते हैं। बौद्ध धर्म में भी जर्मन विद्वान् रुचि रखते हैं। गोटिंगन विश्वविद्यालय के डॉ० वाल्टश्मिट महायान बौद्ध लुप्त-परम्परा के विशेषज्ञ हैं। जर्मनी के रूसी क्षेत्र में वाल्टर रूबन संस्कृत के विद्वान् हैं और अध्यापक हैं। इनकी विशेषता यह है कि ये साम्यवाद के ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुए संस्कृत के काव्य-ग्रन्थों में से भी सामाजिक संघर्ष के प्रमाण निकालने का प्रयत्न करते हैं। जर्मनी में संस्कृत के अनेक ग्रन्थालय हैं जैसे म्यूनिक व ट्यूलिंगन विद्यापीठ के पुस्तकालय। जर्मनी के रूसी क्षेत्र में हाले विश्वविद्यालय में Biblio Theckder Dent-schen Morgen Lannischen Gesllschaft नामक संस्था है जिसका चालीस हजार का पूर्वी देश के ग्रन्थों का संग्रह अक्षुण्ण है। इसी प्रकार बॉन में Bonner Orientalistisclle Studien नामक प्राच्य पुस्तकमाला कई वर्षों से प्रकाशित हो रही है। इंगलैण्ड की इण्डिया सोसाइटी और थोड़े समय पूर्व स्थापित "सोसाइटी फॉर कल्चरल फेलोशिप विथ इण्डिया" (Society for

Cultural Fellowship with India) लन्दन में स्थापित स्कूल ऑव ओरिएण्टल एण्ड अफ्रिकन स्टडीज (School of Oriental and African Studies) भी यह प्रमाणित करती है कि इंगलैण्ड भी भारतीय संस्कृति की दिव्यता और माहात्म्य को स्वीकार करता है और भारत से अपने सांस्कृतिक सम्बन्ध बनाये रखना चाहता है। इंगलैण्ड में प्रोफेसर टर्नर संस्कृत और आधुनिक भाषाओं के वेत्ता हैं। डॉ० बाके संस्कृत-शास्त्रीय तथा भारतीय लोकनृत्यों में निपुण हैं। प्राध्यापक ब्रफ ने भर्तृहरि-कृत 'वाक्यपदीय' नामक व्याकरण-दर्शन को अपना इप्टदेव माना है।

बीसवीं शताब्दी में थियोसोफीकल सोसाइटी और उसके सभापतियों डॉ० एनी बेसेण्ट, डॉ० अरुण्डेल, सी० जिनराजदास और श्रीराम ने यूरोप और अमरीका में सोसाइटी के केन्द्रों द्वारा भारतीय संस्कृति के शाश्वत सत्य एवं अध्यात्मवाद के प्रसार के हेतु सराहनीय कार्य किये हैं। डॉ० एनी बेसेण्ट, जिन्होंने अपना समस्त जीवन भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उत्थान के लिए अर्पण कर दिया था, अपने लेखों, ग्रन्थों, व्याख्यानों, यात्राओं आदि के द्वारा पश्चिम में भारतीय संस्कृति व धर्म के माहात्म्य का प्रसार करती रहीं और विश्व में भारत का नाम उज्ज्वल कर उसका गौरव बढ़ाती रहीं। इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री अरविन्द, महात्मा गांधी, डॉ० राधाकृष्णन, स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू आदि के ग्रन्थों, व्याख्यानों, विदेश-भ्रमण आदि से पश्चिम में भारत-विषयक ज्ञान व संस्कृति की वृद्धि हुई। यूरोप व अमरीका में अनेक स्थलों पर भारतीय कला व औद्योगिक प्रदर्शनी के तथा भारतीय संस्कृति के विविध कार्यक्रम के आयोजन किये गये। इससे भारतीय ललित-कलाओं में पश्चिम की अभिरुचि बढ़ी। नन्दलाल बोस जैसे प्रतिभा सम्पन्न भारतीय चित्रकार के चित्रों के पश्चिम में प्रदर्शन, उदयशंकर, रामगोपाल, राधा, श्रीराम जैसे श्रेष्ठ कलाकारों द्वारा पश्चिम में भारतीय नृत्य के दिग्दर्शन से भारतीय ललित-कलाओं के प्रभाव की आभा पश्चिम में बढ़ने लगी। इसके फलस्वरूप यूरोप व अमरीका में भारतीय संस्कृति के शाश्वत सत्य को समझने और पूर्व तथा पश्चिम के जीवन में श्रेष्ठ, सुन्दर समन्वय करने के लिए सफल प्रयास किये जाने लगे।

प्रश्नावली

१. ब्रिटिश-शासन के अन्तर्गत हुई भारत की भौतिक प्रगति का वर्णन कीजिए।

२. "भारत का आधुनिकीकरण अंग्रेजों का कार्य है और इसने समस्त भारतीय महाद्वीप को प्रभावित किया है।" (जदुनाथ सरकार) इस कथन की व्याख्या कीजिए।

३. भारत को अंग्रेजों की क्या देन रही है ?
४. "ब्रिटिश शासन की प्रथम सदी (सन् १७५७-१८५८) में भारत ने मध्ययुग से आधुनिक युग में प्रवेश किया।" क्या आप इस मत से सहमत हैं ?
५. "कार्नवालिस से बैंण्टिक तक का युग अर्थात् मोटे रूप से सन् १७६० से १८३० तक का काल आधुनिक भारत के अन्धकारमय युग की अपेक्षा नवीन भारत के बीजारोपण का युग है।" इस कथन का विवेचन कीजिए।
६. पुनर्जागरण या पुनरुत्थान से क्या तात्पर्य है ? भारतीय पुनर्जागरण के उदय और विकास के लिए कौन-कौनसे तत्त्व उत्तरदायी हैं।
७. भारतीय पुनरुत्थान के कौन-कौनसे प्रमुख अंग और लक्षण हैं ?
८. भारतीय पुनर्जागरण के प्रधान फल और प्रभाव का विवेचन कीजिए ?
९. "समाज के आधुनिकीकरण और देशव्यापी शान्ति के पश्चात् अंग्रेजी की सबसे बड़ी देन पुनर्जागरण है जो हमारी उन्नीसवीं शताब्दी की विशिष्टता है। आधुनिक भारत प्रत्येक बात के लिए इसका ऋणी है।" इस कथन को समझाइए।
१०. भारत पर पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

अथवा

पश्चिम के सम्पर्क से भारतीय समाज किन महत्त्वपूर्ण बातों से प्रभावित हुआ ?
११. भारत में क्रान्तिकारी परिवर्तन अंग्रेजों के कार्यों के अकालिक (incidental) और अप्रत्याशित (unexpected) परिणाम के रूप में हुए।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
१२. "यह सत्य है कि यूरोपीय संस्कृति के प्रभाव से भारतीयों में नवीन दृष्टिकोण का निर्माण हुआ, परन्तु यह बात भी निस्सन्देह सत्य है कि पश्चिम की ही नहीं अपितु मानव की सभ्यता और संस्कृति के लिए भारत की देन स्थायी रूप से प्रेरणा का अखण्ड स्रोत है।" इस कथन का स्पष्ट विवेचन कीजिए।

१६
शिक्षा

शिक्षा वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय प्रगति के लिए ही नहीं अपितु सभ्यता और संस्कृति के विकास के लिए भी अनिवार्य है। भारतीयों ने शिक्षा के इस गहन महत्त्व को समझ लिया था और इसलिए भारत में सुदूर अतीत में भी शिक्षा की सुन्दर व्यवस्था की गयी थी। राज्य द्वारा अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध न होने पर भी शिक्षा का अत्यधिक प्रसार हुआ था। भारत की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली से सैकड़ों वर्षों तक भारत का विशाल वैदिक साहित्य ही सुरक्षित नहीं रहा, बल्कि प्रत्येक युग में दर्शन, न्याय, गणित, ज्योतिष, वैद्यक, रसायन आदि विविध शास्त्रों और ज्ञान के क्षेत्रों में ऐसे मौलिक विचारक और विद्वान् उत्पन्न हुए जिनसे हमारे देश का मस्तक आज भी यश-गौरव से उन्नत है।

भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति

वैदिक काल—वेदों में अनेक ऐसे उदाहरण हैं जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि सुदूर अतीत में संगठित रूप से गुरुओं द्वारा शिक्षा दी जाती थी। ऋग्वेद के एक मन्त्र में अनेक छोटे-छोटे बालकों के एक साथ पढ़ने की उपमा दी गयी है। अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य की महिमा के गीत गाये गये हैं और विद्याध्ययन पर प्रकाश डाला गया है। छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में इस बात का उल्लेख है कि अनेक ब्राह्मण अपने बालकों को घर पर ही शिक्षा देते थे तथा बहुत से अपने गुरु के घर जाकर विद्याध्ययन करते थे। वैदिक युग में शिक्षा का इतना अधिक प्रसार था कि छान्दोग्य उपनिषद् में अश्वपति कैकेय कहते हैं कि मेरे साम्राज्य में अशिक्षित व्यक्ति कोई नहीं है। आर्यों में उपनयन संस्कार के पश्चात् शिक्षा अनिवार्य ही थी। इससे साक्षरता का अत्यधिक प्रसार हुआ होगा और सम्भवतः शत-प्रतिशत व्यक्ति साक्षर रहे होंगे। पश्चिमी सभ्यता के मूल स्रोत यूनान देश में शिक्षा की समुचित व्यवस्था होने से यूनान के प्रमुख नगर एथेन्स में दस प्रतिशत और स्पार्टा में चार प्रतिशत व्यक्ति ही साक्षर थे।

बौद्ध-युग—शिक्षा का प्रसार बौद्ध-युग में भी बना रहा। गुरुकुल और आश्रम व्यवस्था के साथ-साथ इस युग में विशाल महाविद्यालय और विश्व-

विद्यालयों का निर्माण हुआ था। बौद्ध विहारों में भी शिक्षण-कार्य किया जाने लगा था और जनसाधारण ने इससे खूब लाभ उठाया। ब्राह्मणों के घर व जैन साधुओं के स्थान भी छोटे-छोटे शिक्षा-केन्द्र थे। सशुल्क और निःशुल्क दोनों प्रकार की शिक्षा का प्रचार था। चीन, जापान और अन्य पूर्वी देशों से विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए भारत आते थे।

प्राचीन शिक्षा-पद्धति के उद्देश्य व विशेषताएँ—प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली के चार प्रधान उद्देश्य थे। प्रथम उद्देश्य चरित्र-निर्माण था। ब्रह्मचर्य अवस्था में शिक्षा द्वारा चरित्र-गठन इतना सुन्दर और आदर्श होता था कि मेगस्थनीज, मार्कोपोलो, ह्वानच्यांग आदि विदेशी यात्रियों ने भारतीय चरित्र की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। द्वितीय उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास था। तपोवनों और आश्रमों में, और कालान्तर में विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में, आचार्य-संरक्षण में विद्यार्थी की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास और मौलिक भावनाओं और प्रवृत्तियों का प्रस्फुरण होना था। तीसरा उद्देश्य विद्यार्थी में उत्तरदायित्व और कर्तव्य की भावना जागृत कराकर सामाजिक और नागरिक अधिकारों व कर्तव्यों का समुचित ज्ञान कराना था। स्नातक को लोक-कल्याण के हेतु अपना स्वार्थ-त्याग करने की शिक्षा दी जाती थी एवं गृहस्थी व राजा के उच्चतम कर्तव्यों व अधिकारों का बोध कराया जाता था। चौथा उद्देश्य प्राचीन संस्कृति और साहित्य का संरक्षण करना था। वैदिक साहित्य तथा प्राचीन ज्ञान-विज्ञान तपोवन व आश्रम-प्रणाली तथा गुरु-शिष्य परम्परा से सुरक्षित ही नहीं रहा, अपितु प्रत्येक युग में समृद्ध और सुसम्पन्न होता रहा।

इन उद्देश्यों के साथ-साथ भारत की प्राचीन शिक्षण-प्रणाली की कतिपय विशिष्टताएँ भी रही हैं जैसे उपनयन संस्कार द्वारा शिक्षा का प्रारम्भ करना, ब्रह्मचर्य अवस्था, व्यावसायिक शिक्षा, स्त्री-शिक्षा की व्यवस्था, चरित्र-गठन, सामाजिक व नागरिक गुणों का विकास, गुरु-शिष्य का वैयक्तिक सम्बन्ध, गुरुकुल व आश्रम के जीवन का उच्चतम आदर्श, सादा जीवन उच्च विचार, समानता की भावना, साहित्यिक, धार्मिक और आध्यात्मिक शिक्षण तथा उपयोगी ललित-कलाओं की शिक्षा एवं विशिष्ट पाठ्य-विषय और पाठ्य-प्रणाली हैं। नीचे इनका सूक्ष्म विवेचन करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

१. उपनयन संस्कार और ब्रह्मचर्य आश्रम—भारत की प्राचीन शिक्षण-पद्धति का मूल प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता था। इस संस्कार द्वारा बालक गुरु के समीप जाकर विद्याभ्यास के लिए उसका शिष्य बनता था। मनुस्मृति (२। ३९) के अनुसार इस संस्कार के न करने पर मनुष्य समाज से पतित एवं बहिष्कृत समझा जाता था। यह संस्कार ७ या ८ वर्ष की आयु

में होता था। मनुष्य-जीवन के प्रथम पच्चीस वर्ष के भाग को ब्रह्मचर्य आश्रम कहते थे। इस काल में मनुष्य विद्यार्थी रहकर गुरु से विद्या प्राप्त करता था एवं शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति करता था। आठ वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार के पश्चात् या आश्रम में गुरु के पास विद्याध्ययन के लिए भेज दिया जाता था। वहाँ वह ब्रह्मचर्य-अवस्था में गुरु की आज्ञा और अनुशासन में रहकर शिक्षा ग्रहण करता था। उसका जीवन आमोद-प्रमोद से दूर संयम व सदाचार का था। उसका इन्द्रिय-निग्रह का व्रत बड़ा कठोर होता था। उसका भोजन सादा होता था, मांस, मदिरा, गन्ध, रस, स्त्री आदि उसके लिए निषिद्ध थे और उसकी पोशाक भी सादी होती थी। प्रारम्भ में ब्रह्मचारी को प्रतिदिन गाँव से भिक्षा माँगकर लानी पड़ती थी, परन्तु कालान्तर में यह प्रथा विलुप्त हो गयी थी और तक्षशिला तथा नालन्दा जैसे विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों के लिए बड़े भण्डारों में से भोजन-व्यवस्था होती थी। यह भोजन-व्यवस्था लोगों के दिये हुए दान से चलती थी। भिक्षा के नियम का मूल उद्देश्य यह था कि विद्यार्थी को विनयशील होना चाहिए और यह भी समझना चाहिए कि वह समाज की सहायता व सहानुभूति से ज्ञान प्राप्त कर रहा है। इसके अतिरिक्त शिक्षा की व्यवस्था से धनी व निर्धन दोनों ही शिक्षा प्राप्त कर सकते थे और समाज को भी यह बोध होता था कि नयी पीढ़ी की शिक्षा के लिए उसे सतत् दान व भिक्षा देकर यत्न करना चाहिए।

विद्यार्थी—विद्यार्थी दो प्रकार के होते थे। एक तो वे जो निरन्तर गुरु के यहाँ रहते थे। उनका जीवन गुरु के जीवन के साथ ही घुल-मिल जाता था। इन्हें 'अन्तेवासी' कहा जाता था। शिक्षा समाप्त करने पर जब वे अपने घर लौटते थे तो उनका 'समावर्तन' होता था। गुरु की वैयक्तिक देख-रेख और संरक्षण में शिक्षा उत्तम होती थी। दूसरे साधारण प्रकार के विद्यार्थी होते थे, जो प्रतिदिन गुरु के घर केवल विद्याध्ययन के लिए आते थे और पढ़ने के पश्चात् प्रतिदिन अपने घर लौट जाया करते थे। अधिकतर ऐसे विद्यार्थी बड़ी उम्र के होते थे जो अपनी ज्ञान-पिपासा तृप्त करने के लिए गुरु के पास आते थे।

गुरुकुल-प्रणाली—ब्रह्मचारियों को प्रारम्भिक शिक्षा के पश्चात् उच्च शिक्षा के लिए गुरुकुलों में भेजा जाता था। कुछ गुरुकुल और आश्रम नगरों और गाँवों के कोलाहल और हलचल से दूर प्राकृतिक सौन्दर्य के मध्य वनों में शान्तिमय स्थानों में होते थे। ऐसे स्थानों में विद्यार्थी चित्त की पूर्ण एकाग्रता और चिन्तन से स्वस्थ वातावरण में भलीभाँति विद्याभ्यास कर सकते थे। अनेक गुरुकुल और शिक्षा-केन्द्र शहरों और गाँवों में ही होते थे जैसे तक्षशिला का शिक्षा-केन्द्र। राज्य की ओर से गुरुकुलों को कतिपय ग्राम

दान कर दिये जाते थे जिनकी स्थायी आय से उनका व्यय चलता था। कतिपय गुरुकुल जनसाधारण के चन्दे और दान से भी चलते थे। सब दानों में विद्यादान को श्रेष्ठ समझ लोग मुक्तहस्त से गुरुकुलों और शिक्षा-केन्द्रों को दान देते थे। सेवा-वृत्ति, स्वावलम्बन, इन्द्रिय-निग्रह और सादगी गुरुकुल-जीवन की विशेषताएँ थीं। जब तक ब्रह्मचारी गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करते थे तब तक उनमें परस्पर ऊँच-नीच, गरीब-अमीर का कोई भी भेद-भाव नहीं रहता था। समानता की भावना सब में थी। गुरु भी सबको समान समझता था और ब्रह्मचारीगण भी आपस में एक-दूसरे को समान समझते थे। समानता की यह भावना रहन-सहन, खान-पान, वस्त्र व व्यवहार आदि में दृष्टिगोचर होती थी। गुरु के पास रहकर सम्राट् का पुत्र अपने राजसी ठाठ-बाट और ऐश्वर्य को भुला देता था तथा रंक का पुत्र अपने ऐहिक अकिंचनत्व को भूलकर अपनी निसर्ग-सिद्ध-सम्पत्ति को पहचान कर अपने अस्तित्व को समझ लेता था। फलतः विद्यार्थियों में परस्पर बड़ी प्रीति, सहिष्णुता और सहानुभूति थी। विद्या-समाप्ति तक ब्रह्मचारीगण निरन्तर गुरुकुलों में ही रहते थे।

गुरु और शिष्य के सम्बन्ध—भारतीय शिक्षण-पद्धति में गुरु और शिष्य का आनन्ददायक, सुमधुर पारिवारिक सम्बन्ध था। ब्रह्मचारी शिष्य अपने गुरु के घर उसके परिवार का सदस्य बनकर विद्याभ्यास के लिए रहता था। गुरु उसे अपने पुत्र के समान समझकर उसका पालन-पोषण करता था और समुचित शिक्षा भी देता था। वह अपने शिष्यों के अध्ययन की ही नहीं किन्तु खान-पान, वस्त्र, चिकित्सा आदि की भी पूरी चिन्ता करता था और आवश्यकता होने पर रुग्णावस्था में गुरु उनकी परिचर्या भी करता था। शिष्य भी गुरु को पिता के तुल्य समझते थे और पुत्र, दास तथा प्रार्थी की तरह उसकी सेवा करते थे।

शिक्षा-शुल्क—धनी और समर्थ शिष्य अपनी शिक्षा प्रारम्भ होने से पूर्व या पश्चात् गुरु-दक्षिणा के रूप में गुरु को शिक्षा-शुल्क अर्पण करते थे और निर्धन विद्यार्थीगण अपनी सेवाओं द्वारा शुल्क प्रदान करते थे। सेवा करके विद्याभ्यास करने वाले शिष्यों के लिए गुरु रात्रि को विशेष श्रेणियों की व्यवस्था करते थे क्योंकि ये शिष्य दिन में उनके कार्यों में संलग्न रहते थे। शिक्षा-शुल्क पूर्व में ही देने के अतिरिक्त अन्त में गुरु-दक्षिणा के रूप में भी कुछ धन-द्रव्य देने की प्रथा थी। इस प्रकार शुल्क की प्रणाली होने पर भी कोई भी ज्ञान-प्राप्ति से वंचित नहीं रहता था। साधारणतया गुरु किसी शिष्य को शिक्षा व ज्ञान देने से इनकार नहीं करता था। किसी ब्रह्मचारी शिष्य की निर्धनता के बहाने वह उसे टाल नहीं सकता था, क्योंकि शिष्य

सदैव गुरु सेवा के हेतु तत्पर रहता था। निर्धनता की अवस्था में खान-पान और वस्त्र का व्यय भिक्षा के द्वारा पूर्ण हो जाता था। तक्षशिला, नालन्दा, पाटलिपुत्र जैसे विशाल विश्वविद्यालयों में केवल प्रवेश के समय ही शुल्क लिया जाता था।

शिक्षा की अवधि—साधारणतया शिक्षा की अवधि बारह वर्ष की होती थी। सामान्यतः उच्च शिक्षा बारह वर्ष की अवस्था से प्रारम्भ होकर चौबीस वर्ष की उम्र में समाप्त हो जाती थी। किसी ब्रह्मचारी के विद्याध्ययन की समाप्ति पर बड़ा समारोह मनाया जाता था जिसे 'समावर्तन' संस्कार कहते थे। इस अवसर पर गुरु सबको एकत्र करके अपना उपदेश देते थे।

अध्ययन के विषय—वैदिक युग और महाभारत काल में वेद, पुराण, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द, दर्शन, कला आदि का अध्ययन किया जाता था। संक्षेप में, भारतीय, विद्या का विभाजन दो भागों में था—परा विद्या और अपरा विद्या। परा विद्या में आत्मा व परमात्मा का ज्ञान होता था और शेष लौकिक विद्याओं का ज्ञान अपरा में। गुरुकुलों में दोनों प्रकार की विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी। अपरा विद्या की शिक्षा वर्ण व व्यवसाय के अनुसार दी जाती थी। ब्राह्मणों को विशेषकर धर्म-कर्म की शिक्षा दी जाती थी, क्षत्रियों को धनुर्विद्या, युद्ध-विद्या, राजनीति तथा अन्य साधारण शिक्षा दी जाती थी, वैश्यों को वाणिज्य व कृषि-विज्ञान की शिक्षा और शूद्रों को विविध साधारण कलाओं और हस्तकार्य की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार श्रम विभाजन पर अवलम्बित समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने वर्ण के अनुसार समुचित शिक्षा प्राप्त होती थी। साधारणतया बालकों को श्रेष्ठ, सच्चरित्र और सांसारिक कार्यों में सफल बनाने की शिक्षा दी जाती थी।

जातक ग्रन्थों से विदित होता है कि बौद्ध युग में क्षत्रिय और ब्राह्मण युवक तीनों वेदों और अठारह शिल्पों का अध्ययन करते थे। इन शिल्पों में धनुर्विद्या, सर्पविद्या, जादू, गणित, कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य आदि सम्मिलित थे। इस युग में दर्शन, साहित्य, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, चिकित्सा, मूर्ति, भवन व पोतनिर्माण विद्या में खूब प्रगति हुई थी, अतएव इनका भी अध्ययन किया जाता था। वेदों और यज्ञों की महत्ता कम हो जाने से वेदों और वैदिक विषयों का अध्ययन कम हो गया; परन्तु नवविकसित विषय जैसे व्याकरण, पुराण, न्याय, दर्शन, धर्मशास्त्र, स्मृति, तर्कशास्त्र, वैद्यक, काव्य, साहित्य, कोष, फलित एवं गणित ज्योतिष, आदि के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाता था। दिन-प्रतिदिन लौकिक विषयों का महत्त्व बढ़ता जाता था। कालान्तर में चित्र-कला और गृह-निर्माण-कला पर भी उचित ध्यान दिया जाता था एवं इन विद्याओं में विशेष योग्यता प्राप्त की जाती थी। लकड़ी और पत्थर पर

खुदाई करने की शिल्प-कला की शिक्षा भी दी जाती होगी । अजन्ता व बाघ की गुफाएँ, एलीफेण्टा, महाबलिपुरम्, राजगृह तथा अन्य स्थानों के कलात्मक अवशेष तथा प्राचीन ग्रन्थ इस बात की ओर संकेत करते हैं कि विविध शिल्प-कलाओं की शिक्षा की विशेष परम्पराएँ रही होंगी और तभी तो ललित-कलाओं में इतनी प्रशंसनीय प्रगति सम्भव हो सकी । संक्षेप में, गुरु, पुरोहित, योद्धा, वेदान्ती, शासक, सेवक, व्यवसायी, वणिक, शिल्पी आदि सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए शिक्षा-व्यवस्था थी और उनके अध्ययन के विषय निर्दिष्ट थे ।

पाठ्य प्रणाली----अधिकतर शिक्षा मौखिक होती थी । गुरु-मुख से पाठ श्रवण करने तथा उसके सम्मुख उसे दोहराने व प्रश्न पूछकर ज्ञान प्राप्त करने की प्रणाली थी । विषय को कण्ठस्थ करने पर अधिक जोर दिया जाता था क्योंकि अधिकांश वैदिक साहित्य लिपिबद्ध नहीं था । कालान्तर में विविध विषयों की पुस्तकें हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में तैयार कर ली गयीं । यद्यपि रटने पर जोर दिया जाता था फिर भी इससे शिक्षित व्यक्तियों का पाण्डित्य अत्यन्त गम्भीर होता था ।

विद्यार्थियों पर व्यक्तिगत रूप से अधिक ध्यान दिया जाता था । गुरु एक-एक विद्यार्थी को अलग-अलग पढ़ाता, उसका पाठ सुनता और अशुद्धियों को ठीक करता था । इस पद्धति का दोष यह था कि गुरु अधिक छात्रों को शिक्षा नहीं दे सकता था । साधारणतया तक्षशिला और नालन्दा में एक गुरु के पास १५-२० से अधिक विद्यार्थी नहीं रहते थे । शिक्षण-कार्य में गुरु बड़े और शिक्षित विद्यार्थियों का भी सहयोग लेता था । चीनी यात्री ह्वानच्यांग के मतानुसार शिक्षा-प्रणाली श्रेष्ठ थी । प्रत्येक विषय के अध्यापक प्रकाण्ड पण्डित होते थे । विद्यार्थियों के मस्तिष्क में जबरदस्ती कोई भी बात ठूंसने का प्रयास नहीं किया जाता था बल्कि इसके विपरीत, उनके मानसिक विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था । सुस्त विद्यार्थियों को अच्छी प्रकार पढ़ाया जाता था और मन्द-बुद्धि विद्यार्थियों को तीक्ष्ण-बुद्धि बना दिया जाता था । शिक्षा प्रश्न तथा वार्तालाप की प्रणाली से भी दी जाती थी । आवश्यक विषयों पर गुरु विद्यार्थियों के साथ वाद-विवाद करके उसके ज्ञान की वृद्धि भी करते थे । कभी-कभी अन्य लोगों के साथ सार्वजनिक शास्त्रार्थ भी होते थे जिनके श्रवणार्थ ग्राम और नगर के लोग आते थे । इस प्रणाली से विद्यार्थियों में विचार और विश्लेषण की प्रवृत्ति विकसित होती थी, उनमें वाक्-पटुता, चिन्तन, मनन, निरीक्षण, तुलना आदि विविध मानसिक शक्तियाँ प्रस्फुटित एवं पुष्ट होती थीं और विद्यार्थियों को वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति होती थी ।

अन्वेषण कार्य—विद्वान् अध्यापक और आचार्य अध्ययन-कार्य से अवकाश

पाने पर अपना पर्याप्त समय विविध विद्याओं के अन्वेषण और अनुसन्धान के कार्यों में लगाते थे। परिणामस्वरूप ये साहित्य, काव्य, नाटक, वेदान्त, भाष्य, तर्कशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजनीति, ज्योतिष, गणित, युद्ध-विद्या, चिकित्सा आदि विभिन्न ज्ञान-विकास के विषयों पर अनेक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखने में समर्थ हुए।

परीक्षाएँ, पदवियाँ एवं उपाधियाँ—प्राचीन भारत में शिक्षा-समाप्ति के उपरान्त न तो किसी प्रकार की परीक्षाएँ ही होती थीं और न विद्यार्थियों को कोई प्रमाणपत्र या उपाधियाँ ही दी जाती थीं। परन्तु प्रतिदिन गुरु द्वारा कड़ी मौखिक परीक्षा लेने की प्रथा थी। गुरु प्रतिदिन नया पाठ पढ़ाने के पूर्व गुरुतर मौलिक परीक्षा द्वारा यह जान लेता था कि शिष्य को पिछला पाठ पूर्णरूप से स्मरण हुआ है या नहीं। शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् समावर्तन संस्कार से पूर्व अनेक बार गुरु अपने शिष्यों को विद्वानों की मण्डलियों और परिषदों में तथा राजसभाओं में उपस्थित करते थे। वहाँ उनसे विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछे जाते थे अथवा उन्हें शास्त्रार्थ में भाग लेना पड़ता था। इस प्रकार योग्यता, विद्वत्ता और पाण्डित्य की परीक्षा वाद-विवाद या शास्त्रार्थ द्वारा होती थी। कालान्तर में विक्रमशिला विश्वविद्यालय में समावर्तन के समय विद्यार्थियों को उपाधियाँ देने की प्रथा प्रचलित हो चली थी और मध्यकालीन बंगाल में तर्कचक्रवर्ती, तर्कालंकार आदि प्रतिष्ठित पदवियाँ दी जाने लगी थीं।

स्त्री-शिक्षा—पुरुषों के समान स्त्रियों को भी शिक्षा प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार था। वैदिक युग में उन्हें सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। फलतः कुछ स्त्रियाँ तो इतनी अधिक विदुषी हो गयीं कि उन्होंने अनेक वेद-मन्त्रों की रचना की और आध्यात्मिक विद्या पर शास्त्रार्थ किये। बालकों और बालिकाओं की शिक्षा में विभिन्नता थी। यदि बालकों की शिक्षा का उद्देश्य उन्हें श्रेष्ठ, सच्चरित्र और लौकिक जीवन में सफल बनाना था तो बालिकाओं की शिक्षा का लक्ष्य उन्हें उत्तम गृहिणी और श्रेष्ठ माता बनाने का था। उस समय बालक-बालिकाओं की सह-शिक्षा (co-education) की प्रणाली नहीं थी। दोनों के लिए पृथक-पृथक गुरुकुल या शिक्षा स्थान होते थे। इसका प्रमाण भवभूति के नाटक उत्तर रामचरित में वर्णित कन्या गुरुकुल है। इसी प्रकार वात्स्यायन के कामशास्त्र से भी यह प्रकट होता है कि कन्याओं को अन्य विषयों के साथ-साथ विविध ललित-कलाओं की शिक्षा भी दी जाती थी।

विशिष्ट शिक्षण-संस्थाएँ—प्राचीन भारत में आजकल की भाँति सुसंगठित शिक्षण-संस्थाएँ नहीं थीं। पर ऐसी संस्थाओं का उत्कर्ष बौद्ध युग में हुआ था।

बौद्ध विहार इनका प्रथम स्वरूप था। इनमें प्रथम तो बौद्ध धर्म के भिक्षुणियों को और बाद में साधारण जनता को व्यवस्थित ढंग से शिक्षा प्रदान की जाती थी। इन विहारों के आधार पर नालन्दा और विक्रमशिला विश्व-विद्यालयों का प्रादुर्भाव हुआ। नवीं और दसवीं शताब्दी में हिन्दू मन्दिरों ने भी शिक्षण कार्य में बौद्ध विहारों का अनुकरण किया।

विभिन्न विशिष्ट स्थानों पर विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए समुचित प्रबन्ध था। शिक्षा के ऐसे केन्द्र प्राय: पाँच प्रकार के थे—विशाल राजधानियाँ, प्रमुख तीर्थ स्थान, बौद्ध विहार, हिन्दू मन्दिर और अग्रहार ग्राम। अनेक राजा और शासक स्वयं विद्वान् होने से शिक्षा की ओर अधिक ध्यान देते थे। स्वयं लेखक व विद्या-प्रेमी होने से वे विद्वानों व पण्डितों के उदार आश्रयदाता होते थे। उनकी राजसभाओं में दूर-दूर के विद्वानों का जमघट रहना था। फलत: उनकी राजधानियाँ विद्वानों, आचार्यों व साहित्यिकों का केन्द्र होती थीं और उनका लाभ उठाने के लिए दूर-दूर से विद्यार्थी वहाँ आते थे। इस प्रकार कालान्तर में राजधानियाँ शिक्षा-केन्द्र हो गयीं। कन्नौज, मिथिला, धारा, उज्जैन, तक्षशिला, पैठन, कल्याणी आदि ऐसे ही शिक्षा-केन्द्र थे। प्रसिद्ध धार्मिक तीर्थस्थान प्राचीनतम काल से ही विद्वानों और पण्डितों के केन्द्र रहे हैं। ये लोग अपने पृथक-पृथक अध्यापन केन्द्र चलाते थे। बनारस, कांची, नासिक व उज्जयिनी विद्वान् ब्राह्मणों एवं आचार्यों के कारण प्रधान शिक्षा-केन्द्र हो गये थे। बनारस या काशी शिक्षा का उच्च केन्द्र माना जाता था। जब कभी पण्डितों में साहित्यिक वाद-विवाद होता था तो काशी के पण्डितों की बात का निर्णय अन्तिम माना जाता था। उज्जैन तो हिन्दू ज्योतिष विद्या की शिक्षा के लिए प्रधान केन्द्र बन गया था। यहाँ एक उत्तम वेधशाला थी। यह प्राचीन भारत का ग्रीनविच (Greenwich) था। ऐसा माना जाता है कि प्रथम मुख्य मध्य रेखा उज्जैन में होकर डाली गयी थी एवं ज्योतिष तथा खगोल विद्या सम्बन्धी समस्त गणना इसी के आधार पर की जाती थी। यदि बौद्ध विहार बौद्ध संस्कृति, बौद्ध धर्म और बौद्ध दर्शन व शास्त्र के शिक्षण केन्द्र थे, तो कालान्तर में हिन्दू मन्दिर भी हिन्दू धर्म, संस्कृति और शास्त्रों के शिक्षण के प्रमुख केन्द्र बन गये, विशेषकर दक्षिण भारत में उन विद्वान् ब्राह्मण कुलों को जो अध्यापन कार्य करते तथा धार्मिक क्रिया-विधियों के कार्य करते थे, राज्य की ओर से कुछ ग्राम स्थायी रूप से जीवन-निर्वाह के हेतु दान दिये जाते थे। ऐसे ग्रामों को अग्रहार कहते थे। इन ग्रामों में ब्राह्मण पठन-पाठन का कार्य करते थे। फलत: ये ग्राम उच्च शिक्षण केन्द्र बन गये थे। सर्वज्ञपुर (हसन जिले के आर्सिकेरी) तथा राष्ट्रकूट राज्य का काडिपुर (वर्तमान कलस) ऐसे ही अग्रहार गाँव थे जो शिक्षा के लिए प्रसिद्ध थे।

प्राचीन भारत के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय

तक्षशिला—हमारे देश का सबसे प्राचीन और प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र तक्षशिला था। यह पश्चिमी पंजाब के रावलपिण्डी नगर से लगभग अठारह मील दूर पर स्थित था। ऐसा कहा जाता है कि राम के छोटे भाई भरत के कनिष्ठ पुत्र तक्ष ने तक्षशिला नगर बसाया था और वह उसका प्रथम शासक था। पुरातन युग में यह सभ्यता का प्रसिद्ध केन्द्र रहा था। ईसवी सन् के पाँच सौ वर्ष पूर्व से लेकर ईसवी सन् की छठी शताब्दी तक इस नगर की प्रगति हुई। परन्तु सीमा पर स्थित होने के कारण इसका सामरिक महत्त्व था। फलतः भारत पर निरन्तर होने वाले आक्रमणों के कारण यह नगर विध्वंस हो गया था। यद्यपि रामायण और महाभारत के युग में यह प्रख्यात शिक्षण-केन्द्र नहीं था, तथापि ईसवी सन् की प्रारम्भिक सदियों में यह स्थान इतना प्रसिद्ध हो चुका था कि यहाँ देश-विदेश के विद्यार्थी वेद, अर्थशास्त्र, राजनीति, आयुर्वेद तथा अन्य विद्याओं के अध्ययन के लिए आते थे। राजगृह, बनारस, मिथिला जैसे दूरस्थ नगरों से भी अनेक छात्र यहाँ विद्याभ्यास के लिए आते रहते थे। पाणिनि जैसे व्याकरण के धुरन्धर पण्डित एवं अर्थशास्त्र तथा राजनीति के महापण्डित विष्णुगुप्त कौटिल्य और भृत्य कुमारजीव जैसे प्रख्यात शल्य-चिकित्सक (सर्जन) ने तक्षशिला विश्वविद्यालय में ही शिक्षा प्राप्त की थी।

तक्षशिला में आजकल के समान विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, सुव्यवस्थित विद्यापीठ या वेतनभोगी शिक्षक नहीं थे, न कोई निर्दिष्ट पाठ्यक्रम व शिक्षा-अवधि ही थी और न कोई परीक्षा, प्रमाणपत्र या उपाधियाँ ही थीं। यह तो शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र था जहाँ विभिन्न विद्याओं और कलाओं के धुरन्धर पण्डित और विद्वान् रहते थे। इनके घरों पर रहकर छात्र विद्याध्ययन करते थे। किसी-किसी ग्रन्थ में यहाँ के एक-एक आचार्य के पास पढ़ने वाले सौ छात्रों का उल्लेख है तो जातक ग्रन्थों में पाँच सौ विद्यार्थियों का। प्रायः यहाँ उच्च शिक्षा प्रारम्भ करने की आयु सोलह वर्ष की थी और छह से आठ वर्ष तक अध्ययन चलता था। निर्धन विद्यार्थी दिन में काम करते और रात्रि के अवकाश में पढ़ते थे; कभी-कभी छात्र शिक्षा समाप्त होने के पश्चात् शुल्क देने की प्रतिज्ञा करते थे; शुल्क देने वाले छात्र गुरु के घर पुत्र के समान रहते थे। गुरु व्यक्तिगत रूप से छात्र की ओर ध्यान देता था और उसके श्रेष्ठ सादे जीवन व उच्च आचरण पर विशेष बल दिया जाता था। यहाँ साहित्यिक, धार्मिक और लौकिक सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी जिनमें तीनों वेद और १८ शिल्प-विद्याएँ प्रधान थीं। व्याकरण, धनुर्विद्या, हस्त-विद्या, मन्त्र-विद्या, शल्य-विद्या और चिकित्सा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। प्रत्येक आचार्य अपना कोर्स और शिक्षाकाल निश्चित करने के लिए स्वतन्त्र

था। शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् छात्रगण और शिल्पी कलाओं और व्यवसायों का क्रियात्मक अनुशीलन और अध्ययन करने तथा विभिन्न प्रदेशों के रीति-रिवाज, रहन-महन आदि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पर्यटन करते थे।

नालन्दा—तक्षशिला के समान दूसरा प्रसिद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा था। यह आधुनिक पटना के दक्षिण-पश्चिम में ४० मील दूर स्थित बड़गाँव में विद्यमान था। शक्रादित्य सम्भवतः कुमारगुप्त प्रथम (सन् ४१४-४५४ ई०) ने एक बौद्ध विहार की स्थापना करके नालन्दा की नींव डाली थी। इसके पश्चात् गुप्त राजाओं के उदार दानों से इसका बड़ा विकास हुआ। कालान्तर में इस विश्वविद्यालय में चर्तुदिक गगनचुम्बी विहार बन गये जिनके बीच-बीच में सभा-गृह और विद्यालय स्थित थे। इनके चर्तुदिक बौद्ध आचार्यों व प्रचारकों के निवास के लिए चार मंजिल वाले भवन थे। इस विश्वविद्यालय में भव्य बौद्ध मन्दिर केन्द्रीय देवालय था, कई विशाल पुस्तकालय थे और छह बड़े विद्यालय थे। कुल आठ बड़े-बड़े हॉल और तीन सौ छोटे कमरे थे जिनमें प्रतिदिन व्याख्यान होते थे। विश्वविद्यालय में तीन प्रमुख भव्य भवन थे—रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरंजक। रत्नोदधि नौमंजिला था जिसमें धार्मिक और तान्त्रिक ग्रन्थ रखे जाते थे। भिक्षुओं के लिए अनेक कक्ष थे। कुछ कमरे एक ही भिक्षु के हेतु व कुछ दो के लिए थे; पर सभी में शयन के लिए एक या दो प्रस्तर शैय्याएँ, दीपक तथा पुस्तकों के हेतु निर्दिष्ट ताक थे। ह्वानच्यांग के वर्णनानुसार नालन्दा की सबसे ऊपर की मंजिल बादलों से भी ऊँची थी। वहाँ बैठकर व्यक्ति यह देख सकता था कि नभ में घन किस प्रकार अपनी आकृति और रूप बदलते हैं।

नालन्दा में लगभग दस सहस्र विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। इसका यश-गौरव इतना था कि कोरिया, चीन, तिब्बत, मंगोलिया, मध्य एशिया आदि दूर-दूर देशों के छात्र विद्याध्ययन के लिए यहाँ आते थे। विद्यार्थियों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। उनको भोजन, वस्त्र, शैया, निवासस्थान, चिकित्सा, शिक्षा सभी कुछ निःशुल्क था। प्रवेश के समय विद्यार्थियों से बड़े कठिन प्रश्न पूछे जाते थे उनका समुचित उत्तर देने पर ही उनका प्रवेश सम्भव था। बहुधा दस में दो तीन ही सफल होते थे।

शिक्षा केवल धार्मिक विषयों तक ही सीमित नहीं थी और न किसी विशेष एक धर्म या सम्प्रदाय से ही उनका सम्बन्ध था। सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य, धर्म और दर्शन के अतिरिक्त वेद, गणित, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, व्याकरण, चिकित्सा, दर्शन, तन्त्र-मन्त्र आदि का भी अध्ययन होता था। गृह, नक्षत्र आदि को देखने और उनका अध्ययन करने के लिए यहाँ एक वेधशाला थी। 'धर्मगंज' नामक विशाल पुस्तकालय नालन्दा की एक विशेषता थी। वाद-विवाद तथा

व्याख्यान द्वारा शिक्षा दी जाती थी और प्रतिदिन एक सहस्र व्याख्यान होते थे। शिक्षा-विभाग में धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभाकर मित्र, जनमित्र, भद्रसेन, जिनचन्द्र, शान्तिरक्षित, शीलभद्र आदि प्रसिद्ध आचार्य थे। आचार्य शान्ति-रक्षित के समय नालन्दा विश्वविद्यालय की कीर्ति विश्वव्यापी हो चुकी थी और विश्वविद्यालय के एक अन्य कुलपति शीलभद्र अपने समय के अद्वितीय विद्वान् थे जिनके चरणों पर बड़े-बड़े सम्राट् भी अपना मस्तक झुकाते थे। नालन्दा मगध और भारत का ही ज्ञान-भंडार नहीं था अपितु विश्व में ज्ञान-विज्ञान का पथ-प्रदर्शक भी था और आठवीं शताब्दी तक उसे अन्तर-राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हो चुका था। ग्यारहवीं शताब्दी में पालवंशी राजाओं द्वारा विक्रमशिला विश्वविद्यालय को प्रोत्साहन देने से बारहवीं शताब्दी में तुर्कों के भयंकर आक्रमणों और अमानुपिक प्रहारों से यह विश्वविद्यालय नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

वलभी—सातवीं शताब्दी में सौराष्ट्र में वलभी नामक विश्वविद्यालय था जो नालन्दा के समान ही प्रसिद्ध था। अनेक विद्यार्थी अपनी उच्च शिक्षा पूर्ण करने के लिए नालन्दा तथा वलभी में निवास करते थे। इस विश्वविद्यालय को राजाओं के प्रचुर दान से पूर्ण सहायता प्राप्त होती थी। कई बार समूचे भारत के विद्वान् विवादग्रस्त तथा सम्भव और असम्भव सिद्धान्तों पर वाद-विवाद और विचार-विनिमय करने के लिए वलभी में एकत्रित हुए थे। यहाँ के आचार्यगण अपने पाण्डित्य और विद्वत्ता के लिए समस्त देश में प्रख्यात थे और इसीलिए देश के दूर-दूर के प्रदेश से छात्र वहाँ अध्ययन के लिए आते थे।

विक्रमशिला—बिहार में भागलपुर से चौबीस मील दूर पथरघाटा स्थान पर पालवंश के नरेशों ने आठवीं शताब्दी में विक्रमशिला विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। यह अन्य विश्वविद्यालयों की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित था। चार शताब्दियों तक यह भारत का प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र रहा। इस विश्वविद्यालय के चतुर्दिक चार प्रवेश द्वार थे और प्रत्येक पर प्रवेशार्थी विद्यार्थियों की परीक्षा के हेतु एक विद्वान् पण्डित रहता था। यहाँ भारतीय विद्यार्थियों के साथ-साथ अन्य विदेशी छात्र भी विद्याध्ययन करते थे। उनके निवास, भोजन, वस्त्र आदि की व्यवस्था विश्वविद्यालयों की ओर से होती थी। विदेशी विद्यार्थियों के लिए अनेक सुविधा और साधन थे। इस विश्वविद्यालय का तिब्बत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण यहाँ तिब्बती विद्यार्थियों के लिए धर्मशाला की विशेष व्यवस्था थी। यहाँ के अनेक विद्वान् आचार्य तिब्बत गये थे और उन्होंने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बत की भाषा में किया। इस विश्वविद्यालय में रत्नवज्र, कृष्णसमरवज्र, लीलावज्र, तथागतरक्षित, दीपंकर श्रीज्ञान, बोधिभद्र, कमलरक्षित और नरेन्द्र श्रीज्ञान जैसे

धुरन्धर आचार्य थे। इनमें दीपंकर श्रीज्ञान विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने लगभग दो सौ पुस्तकें लिखीं एवं अनुवाद कीं। इस विश्वविद्यालय में एक विशाल पुस्तकालय, सहस्रों तान्त्रिक देवालय एवं मध्य में बोधिसत्व की भव्य प्रतिमा थी। यहाँ धर्म, साहित्य, व्याकरण, न्याय, दर्शन तथा तन्त्र-मन्त्र-शास्त्र का विशेष अध्ययन होता था। शिक्षा समाप्त हो जाने पर यहाँ पाल नरेशों द्वारा उपाधियाँ और पदवियाँ प्रदान की जाती थीं। सन् १२०३ में विजयमदान्ध मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने इस विश्वविद्यालय को दुर्ग समझकर आक्रमण किया और बर्बरता से इसका विध्वंस कर दिया।

काश्मीर—ग्यारहवीं शताब्दी में विदेशी यात्री अलबरुनी ने काश्मीर को शिक्षा का बड़ा केन्द्र बताया है। दूर-दूर देशों के विद्यार्थी यहाँ साहित्य और वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के पण्डित और आचार्यगण अपने अलग-अलग अध्यापन-केन्द्र चलाते थे। नालन्दा या विक्रमशिला जैसा कोई सुसंगठित या सुव्यवस्थित विश्वविद्यालय यहाँ नहीं था।

उपरोक्त वर्णन से ऐसा भास होता है कि भारतीय शिक्षण पद्धति ऐसी सुसम्पन्न थी कि उसमें भारतीयों के शारीरिक और मानसिक प्रवृत्तियों का ऐसा उच्चतम विकास हुआ कि ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में प्राचीन युग में भारतीय विश्व का नेतृत्व करते रहे। परन्तु धर्मोन्मत्त मुसलमान आक्रमण-कारियों ने इस शिक्षण-प्रणाली को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

मुस्लिम-युग में शिक्षा-व्यवस्था

मुस्लिम-शासन के प्रारम्भिक युग में यवनों ने अनेक शिक्षण-संस्थाएँ विध्वंस कर दीं, आचार्यों को कत्ल कर दिया और हस्तलिखित ग्रन्थों से भरे हुए अनेक पुस्तकालयों में आग लगा दी। इससे प्राचीन शिक्षण-पद्धति अस्तव्यस्त हो गयी। परन्तु जब शान्ति व्यवस्था स्थापित हुई तब दिल्ली के सुलतानों ने शिक्षा की ओर किंचित ध्यान दिया। यद्यपि शिक्षा का कोई क्रम निर्दिष्ट नहीं था और न कोई सुव्यवस्थित विद्यालय ही स्थापित किये गये थे, तथापि अनेक स्थानों पर मसजिदों में मकतब खोले गये, जिनमें कुरान की आयतों व अरबी का अध्ययन होता था। संस्कृत का स्थान अब अरबी और फारसी ने ले लिया था। हिन्दू जनता के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। स्त्री-शिक्षा की ओर तो किसी का ध्यान ही नहीं था।

कालान्तर में जब हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का सम्मिश्रण हुआ और मुगल-काल में अराजकता का दमन होकर शान्ति व व्यवस्था स्थापित हुई, तब शिक्षा में भी परिवर्तन हुआ। मुगल सम्राटों और शासकों ने शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। मुगल सम्राट् स्वयं साहित्य व शिक्षा के प्रेमी थे

और पण्डितों विद्वानों तथा आचार्यों के उदार संरक्षक थे। बाबर ने सुन्दर लेखन-कला की ओर विशेष ध्यान दिया, हुमायूँ ने एक ग्रन्थालय स्थापित किया, ज्ञान-विज्ञान के अनेक विद्वानों को आश्रय दिया, कलाओं और विद्याओं का प्रसार किया, एवं जहाँगीर तथा शाहजहाँ ने अनेक पाठशालाएँ स्थापित कीं। शिक्षा-प्रणाली और पाठ्यक्रम में सुधार हुआ और शिक्षा-व्यवस्था पहले की अपेक्षा सुव्यवस्थित हो गयी।

मुस्लिम शासनकाल में शिक्षण-संस्थाएँ दो प्रकार की थीं—(१) मकतब, और (२) मदरसे। गाँवों और नगरों में मसजिदों से सम्बन्धित मकतब होते थे। मकतब एक छोटी-सी पाठशाला के समान थे। यहाँ बालक-बालिकाओं को प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी। उन्हें लिखना-पढ़ना, गणित, कुरान, प्रख्यात धर्मोपदेशकों और सन्तों की जीवन-गाथाएँ और ऐतिहासिक कहानियाँ पढ़ायी जाती थीं। शिक्षा मुस्लिम धर्म के अनुसार होती थी। अरबी और फारसी की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। हिन्दू बालकों के लिए शिक्षा की कोई पृथक व्यवस्था नहीं थी। मकतबों में शिक्षा ग्रहण करना उनके लिए कठिन था। अतएव पण्डित या ब्राह्मण अपने-अपने घरों में हिन्दू बालकों को शिक्षा देते थे। मकतब से ऊपर मदरसे होते थे। ये उच्च शिक्षण-संस्थाएँ थीं जिनमें मुस्लिम दर्शन कानून, धर्म, व्याकरण, इतिहास, चिकित्सा और तर्कशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। इन मदरसों में अरबी, फारसी और मुस्लिम धर्म के प्रकाण्ड विद्वान् अध्यापन-कार्य करते थे। ऐसे मदरसे दिल्ली, आगरा, फतहपुरसीकरी, जौनपुर, बदायूँ, बीदर आदि प्रसिद्ध नगरों में थे। इनके व्यय के लिए मुस्लिम नरेशों और शासकों की ओर से भूमि तथा धन की व्यवस्था थी।

स्त्रियों की शिक्षा की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी, यद्यपि प्रारम्भ में बालक और बालिकाएँ साथ-साथ पढ़ते थे, परन्तु ऊँची कक्षाओं में उनकी शिक्षा के लिए कोई प्रबन्ध नहीं था। मुसलमानों में पर्दा प्रथा होने से अधिकांश स्त्रियाँ शिक्षा से वंचित रहती थीं। परन्तु राजकुमारियों की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध हो जाता था। सामन्तगण भी अपनी कन्याओं की शिक्षा की व्यवस्था कर लेते थे। व्यावसायिक शिक्षा या विभिन्न शिल्प-कलाओं की शिक्षा के हेतु भी कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी शिक्षा प्रायः उस व्यवसाय या शिल्पी के जानने वाले उस्ताद के पास रहकर ही प्राप्त की जाती थी।

अंग्रेजी शासनकाल में शिक्षा

१. प्रारम्भिक युग—मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् हमारे देश में शिक्षा की प्रगति धीमी पड़ गयी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना से और

देश के राजनीतिक मामलों में उसके द्वारा हस्तक्षेप होने से भारत की राजनीतिक परिस्थिति डावाँडोल होने लगी। इसका प्रभाव हमारी शिक्षा तथा शिक्षण-संस्थाओं पर भी पड़ा। अपना राज्य स्थापित करने के पश्चात् भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी देश में शिक्षा प्रसार करने के प्रति उदासीन रही। भारतीयों में शिक्षा की उन्नति के लिए कोई ध्यान ही नहीं दिया गया और उसने उसे अपना कर्तव्य ही नहीं समझा। उसका प्रमुख उद्देश्य धनोपार्जन होने से प्रत्येक कार्य में उसकी व्यापारिक नीति रही। इसके अतिरिक्त वह यह सोचती था भारतीय धर्म-प्रेमी हैं, ऐसा न हो कि कम्पनी के शिक्षा-कार्य से वे अपने धर्म पर आघात समझें और कम्पनी के विरुद्ध विद्रोह कर दें। अन्त में जब ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने उसे भारतीय शिक्षा की ओर ध्यान देने को बाध्य किया तब उसने भारत में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली को जारी रखने में सहयोग व सहायता दी।

परन्तु कम्पनी द्वारा इस दिशा में कोई निश्चयात्मक कदम उठाने के पूर्व देश में ईसाई धर्म-प्रचारकों; ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कतिपय अधिकारियों और जन-सेवा के भावी उदार भारतीयों के प्रयत्नों से शिक्षा में प्रगति हो चली थी। सन् १७२५ में यूरोपीय धर्म-प्रचारकों (Missionaries) ने नास्तिकों (ईसाई धर्म में अविश्वास करने वाले) और मुसलमानों के बच्चों के लिए सत्रह पाठशालाओं की स्थापना की एवं ईसाइयों के हेतु चार मिशनरी शालाएँ भी स्थापित कीं। सन् १७२७ में प्रथम अंग्रेजी प्रोटेस्टेण्ट 'मिशन' मद्रास पहुँचा और शिक्षा की ओर बाद में प्रयास किया। सन् १८०४ में लन्दन 'मिशनरी सोसाइटी' ने लंका, दक्षिणी भारत और अन्त में बंगाल में भी अंग्रेजी पाठशालाएँ स्थापित कीं। इन मिशनरी शालाओं में निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था थी और इनमें उच्च वर्ग के वे ही हिन्दू अपने बालकों को शिक्षा के लिए भेजते थे जो अपने लड़कों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी में कारकून की नौकरी दिलवाना चाहते थे।

इन ईसाई धर्म प्रचारकों ने कलकत्ता से सोलह मील दूर सेरामपुर को अपना केन्द्र बना लिया। वहाँ से वे भारतीयों की शिक्षा और उनका धर्म-परिवर्तन करने के प्रयत्न करने लगे। वहाँ उन्होंने एक पत्र निकाला और एक मुद्रणालय स्थापित कर छब्बीस देशज भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद कर प्रकाशित कर दिया। ईसाई धर्म-प्रचारकों में केरी, टॉमस, मार्शमन, वार्ड और डेविड ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने शिक्षा-क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया। इन प्रचारकों के प्रयत्नों से ही सन् १८१० में कलकत्ता में बिशप्स कालिज (Bishop's College) की स्थापना हुई।

शिक्षा-क्षेत्र में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों ने भी प्रमुख भाग लिया।

सन् १७८१ में वारेन हेस्टिंग्स ने कलकत्ता में एक मदरसा स्थापित किया। इसमें अरबी माध्यम के द्वारा मुसलमान बालकों को शिक्षा दी जाती थी। सन् १७६१ में बनारस के अंग्रेज रेजीडेण्ट जोनाथन डंकन ने संस्कृत कालिज की स्थापना की। इसमें हिन्दुओं के धर्म, साहित्य और कानून की शिक्षा दी जाती थी जिससे ऐसे योग्य हिन्दू सहायक प्राप्त हो सकें जो यूरोपीय न्यायाधीशों को न्याय-दान में सहायता दें। सन् १७८४ में कलकत्ता सुप्रीम कोर्ट के विलियम जोन्स ने वारेन हेस्टिंग्स की सहायता से बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की। प्राचीन भारतीय विचारों और तत्त्वों को विश्व के समक्ष प्रकट करके इस संस्था ने आधुनिक भारत के सांस्कृतिक इतिहास में महत्त्वशाली कार्य किया है।

जन-सेवा व परोपकारी भारतीयों ने भी इस युग के शिक्षा क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किये। इनमें राजा राममोहन राय, राजा राधाकान्त देव और जयनारायण घोपाल विशेष उल्लेखनीय हैं। राजा राममोहन राय, डेविड और सुप्रीम कोर्ट के तत्कालीन प्रमुख न्यायाधीश हाइड ईस्ट ने सन् १८१६ में कलकत्ता के हिन्दू कालिज की स्थापना की जो कालान्तर में कलकत्ता का प्रसिद्ध प्रेसीडेंसी कालिज हो गया। सन् १८१७ में राजा राममोहन राय ने हिन्दू बालकों की निःशुल्क शिक्षा के हेतु कलकत्ता में एक अंग्रेजी पाठशाला खोली।

२. ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सन् १८१३ की सनद और शिक्षा-क्षेत्र में अनुदान की नीति—सन् १८१३ में जब ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सनद में परिवर्तन किया तब भारतीय शिक्षा के लिए कम्पनी का उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया गया और निश्चित किया गया कि प्रति वर्ष कम्पनी कम से कम एक लाख रुपये शिक्षा की प्रगति के लिए व्यय करे। सन् १८२३ में इसी धनराशि में से 'कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी' और 'कलकत्ता स्कूल सोसाइटी' को शिक्षा के हेतु अनुदान (Grants) दिये गये और इस अनुदान-वितरण के लिए एक कमेटी 'Committee of Public Instruction' की भी स्थापना की गयी। इस कमेटी ने विशुद्ध संस्कृत शिक्षा की ओर ध्यान दिया एवं सन् १८२४ में कलकत्ता में और सन् १८२५ में दिल्ली में संस्कृत कालिज की स्थापना की। कलकत्ते के मदरसे के लिए कम्पनी ने सन् १८१९ से तीस हजार रुपये वार्षिक अनुदान देना प्रारम्भ कर दिया। सन् १८१६ में भी मद्रास में एक विद्यालय तथा कतिपय पाठशालाएँ खोली गयीं।

सन् १८३५ के पूर्व तीन प्रकार की शालाएँ विद्यमान थीं—(१) वर्नाक्यूलर पाठशालाएँ, (२) ईसाई मिशनरी स्कूल जिसमें अंग्रेजी शिक्षा की व्यवस्था थी, और (३) ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकारी पाठशालाएँ जिनमें

शिक्षा या तो अंग्रेजी अथवा हिन्दी या उर्दू के माध्यम द्वारा दी जाती थी। सन् १८३० तक कम्पनी की सरकार अपनी उपेक्षा को हटाकर शिक्षा-प्रचार की समर्थक हो गयी। सन् १८२३ और १८३३ के बीच शिक्षा का प्रधान अंग अंग्रेजी प्रचार ही समझा जाता था। लोग अरबी या संस्कृत माध्यम को छोड़कर उच्चतम शिक्षा के लिए अंग्रेजी माध्यम को ही अधिक पसन्द करते थे। ईसाई पादरियों और धर्म-प्रचारकों तथा राजा राममोहन राय जैसे धर्म-सुधारकों के शिक्षा-प्रसार के कार्य से अंग्रेजी शिक्षा को प्रोत्साहन मिला। कम्पनी ने भी शिक्षा का समर्थन किया क्योंकि उसे अपने दफ्तरों, गोदामों और कारखानों में अंग्रेजी ढंग से शिक्षित व अंग्रेजी भाषा से पूर्ण अवगत ऐसे युवकों की आवश्यकता थी जो कम्पनी के कारकुन बनें।

३. अंग्रेजी माध्यम का निश्चय और शिक्षा-प्रसार (सन् १८३५-१८५४)—इसी बीच शिक्षा के माध्यम की समस्या के लिए दो विभिन्न विरोधी समुदायों का उत्कर्ष हुआ। राजा राममोहन राय और उनके अनुयायी अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में थे और विलसन तथा अन्य विद्वान देशी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में थे। वे संस्कृत व अरबी की प्रगति चाहते थे। इसी बीच लार्ड मेकॉले जो भारत के गवर्नर जनरल की कौंसिल का कानून-सदस्य (Law-Member) था, 'Committee of Public Instruction' का सभापति हो गया। उसने कमेटी में २ फरवरी को अंग्रेजी शिक्षा और माध्यम का समर्थन किया। वह इस बात पर सहमत हो गया कि संस्कृत या अरबी सीखने की अपेक्षा अंग्रेजी भाषा को सीखना अधिक सरल है। उसका मत था कि पूर्वीय भाषाओं में अध्ययन के हेतु कोई साहित्य ही नहीं है। उसने पूर्वीय साहित्य की हँसी उड़ाते हुए उसकी निन्दा की। एक अंग्रेज कूटनीतिज्ञ के नाते उसने यह स्पष्ट कह दिया था कि "हमें अपनी समस्त शक्ति लगाकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हम भारतवासियों की एक ऐसी श्रेणी बना सकें जिसके व्यक्ति, जाति और रंग में तो भारतीय ही रहें परन्तु रुचि, विचार, भाषा में पूर्ण अंग्रेज हों।" वास्तव में उस समय भारत में अंग्रेजी-साम्राज्य को सुदृढ़ रखने के हेतु यह अनिवार्य था कि भारतीय अपनी संस्कृति और सभ्यता को विस्मरण कर अंग्रेजी सभ्यता व संस्कृति को ग्रहण कर लें। इसके अतिरिक्त शासन-कार्य में भाग लेने-देने के लिए यह भी आवश्यक प्रतीत हुआ कि यहाँ के निवासी अंग्रेजी भाषा को सीखें। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रसार भी आवश्यक समझा गया। फलस्वरूप मेकॉले के प्रयास से तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैण्टिक ने ७ मार्च, १८३५ को अपनी कौंसिल में एक प्रस्ताव स्वीकृत कर दिया। इसके अनुसार अंग्रेज सरकार का उद्देश्य भारतवासियों में यूरोपीय साहित्य

व विज्ञान का प्रसार करना हो गया और शिक्षा के हेतु कम्पनी का जो धन स्वीकृत होना था वह केवल अंग्रेजी शिक्षा के प्रयास में व्यय करना निश्चित हो गया। इससे शिक्षा के माध्यम के विवाद का अन्त हो गया तथा अंग्रेजी राज्यभाषा घोषित हो गयी। बम्बई, मद्रास और उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) की प्रान्तीय सरकारों ने इस नीति व योजना का अनुमोदन किया।

उपरोक्त प्रस्ताव के परिणामस्वरूप सन् १८३५-३६ में २३ राजकीय पाठशालाएँ खोली गयीं और सन् १८४३ तक इसकी संख्या ५१ हो गयी। सन् १८४२ में Committee of Public Instruction के स्थान पर Council of Education की स्थापना हुई; पर इसके कार्य बंगाल तक ही सीमित रहे। तत्कालीन उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त (आधुनिक उत्तर प्रदेश) में सन् १८४३-१८५३ तक के काल में 'हल्कावन्दी' पाठशालाओं की योजना कार्यान्वित हुई। इसके अनुसार कतिपय ग्रामों को एक मण्डल में संगठित किया गया और प्रत्येक मण्डल के जमींदार को उसकी पाठशाला के लिए अपने भूमिकर पर एक प्रतिशत कर देना पड़ता था। सन् १८५३ के पश्चात् यह योजना अन्य जिलों में भी कार्यान्वित की गयी। इस प्रकार शिक्षा का व्यय सरकार और जमींदार दोनों ही उठाने लगे। बम्बई और मद्रास प्रान्तों में भी ऐसे ही प्रयास किये गये, पर इन सब में एकरूपता का अभाव था। सन् १८३५ में बैंण्टिक ने कलकत्ते में एक मेडिकल कालिज की स्थापना की, रुड़की में थॉमसन इंजीनियरिंग कालिज खोला गया और मद्रास में सन् १८५२ में मद्रास यूनीवर्सिटी हाईस्कूल की स्थापना की गयी। सरकारी स्कूलों में कतिपय छात्रवृत्तियाँ देने की व्यवस्था की गयी और देशी भाषाओं की प्रगति में भी कुछ धन व्यय किया गया। सन् १८३५-४५ तक के युग में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने 'शिक्षा के छनाई सिद्धान्त' (Filtration Theory of Education) का पालन किया अर्थात् उच्च वर्ग विशेष को शिक्षा दो, वह अपने आप ही छनकर वृहत् समाज में पहुँच जायगा। इस सिद्धान्त के अतिरिक्त इस युग की अन्य प्रमुख विशेषता वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूलों तथा अंग्रेजी हाईस्कूलों का उत्कर्ष है। अंग्रेजी शिक्षा की माँग इतनी बढ़ गयी थी कि सरकार उसे पूर्ण करने में असमर्थ रही।

अंग्रेजी शिक्षा के इस प्रकार के प्रसार से अंग्रेजी साहित्य, सभ्यता व संस्कृति का प्रचार भी होने लगा और कालान्तर में भारतीयों के हृदय में अपनी संस्कृति के प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी। भारतीय युवकों में अंग्रेजी की मानसिक दासता भरने लगी। भाषा, वेश-भूषा और भावों में वे अपने आपको अंग्रेजों का मानस पुत्र कहने लगे। अंग्रेजी संस्कृति के चकाचौंध में वे प्रत्येक

भारतीय वस्तु को तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे। भारतीयों की मौलिकता, विचार-स्वातन्त्र्य और कार्यक्षमता कुण्ठित होने लगी। भारतीय पाश्चात्य सभ्यता में रँगे जाने लगे और अंग्रेजों का अन्धानुकरण करने लगे। इससे अराष्ट्रीयता की प्रवृत्तियाँ जागृत हुई और भारतीय संस्कृति को भारी आघात लगा। इन हानियों के होने पर अंग्रेजी शिक्षा लाभप्रद प्रमाणित हुई। अंग्रेजी शिक्षा द्वारा भारतीयों को पश्चिमी विज्ञान व साहित्य की विशेषताओं की कुंजी प्राप्त हो गयी। उनकी प्राचीन विचारधाराएँ परिवर्तित हुई एवं उनका दृष्टिकोण अधिक विस्तृत हुआ। अंग्रेजी शिक्षा-प्रसार से भारतीय संस्कृति और यूरोपीय संस्कृति का परस्पर सम्पर्क हुआ। भारतीयों को अपनी संस्कृति के अभावों का अनुभव होने लगा एवं उन्हें सामाजिक कुरीतियाँ व अन्धविश्वास स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने लगे। फलतः नवाभ्युत्थान, सामाजिक व धार्मिक सुधारों का युग प्रारम्भ हुआ। अंग्रेजी शिक्षा व साहित्य द्वारा पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान का प्रचार व प्रसार भारत में होने लगा जिससे भारत में राजनीतिक जागृति और उग्र राष्ट्रीय भावना का उत्कर्ष हुआ। धीरे-धीरे भारतीय शासन-सुधारों की माँग करने लगे और स्वतन्त्रता-संग्राम प्रारम्भ हो गया।

४. चार्ल्स वुड की योजना व अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार (सन् १८५४-१८८२ तक)—सन् १८५४ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बोर्ड ऑव कण्ट्रोल के प्रेसीडेण्ट चार्ल्स वुड ने एक शिक्षा सम्बन्धी योजना बनाकर कम्पनी के डाइरेक्टरों के मण्डल को कार्यान्वित करने के लिए भेजी। यह योजना भारतीय शिक्षा-इतिहास में युग-प्रवर्तक है। इसका ध्येय अंग्रेजी और देशी शिक्षा के प्रसार का सुधार करना था। इस योजना में निम्नलिखित बातें थीं :

(१) प्रत्येक प्रान्त में एक डाइरेक्टर की अधीनता में शिक्षा-विभाग की स्थापना करना; (२) देश के प्रमुख स्थानों पर विश्वविद्यालय खोलना; (३) अध्यापकों के प्रशिक्षण (training) की व्यवस्था करना; (४) सरकारी कालिजों और हाईस्कूलों को बनाये रखकर उनकी संख्या में वृद्धि करना; (५) नवीन मिडिल स्कूलों की स्थापना करना व प्राथमिक शिक्षा के लिए वर्नाक्यूलर स्कूलों की वृद्धि करना; (६) अनुदान देना और छात्रवृत्तियाँ प्रदान करना; तथा (७) स्त्रियों की शिक्षा के लिए विशेष व्यवस्था करना।

यद्यपि चार्ल्स वुड की योजना पूर्ण रूप में स्वीकार नहीं की गयी तथापि उसकी कुछ बातें मान ली गयीं। इनके अनुसार भारत के तत्कालीन प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा-विभाग की स्थापना हो गयी। इसका प्रमुख अधिकारी डाइरेक्टर ऑव पब्लिक इन्स्ट्रक्शन (Director of Public Instruction) नियुक्त हुआ जिसकी सहायता के लिए निरीक्षकगण भी नियुक्त हुए। अब शिक्षा-विभाग पर शासकीय रंग चढ़ने लगा था।

विश्वविद्यालय—सन् १८७५ ई० में लन्दन विश्वविद्यालय के ढाँचे पर बम्बई, मद्रास और कलकत्ता के विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। सन् १८८२ ई० में लाहौर में पंजाब विश्वविद्यालय और १८८७ ई० में उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। ये विश्वविद्यालय केवल परीक्षक संस्थाएँ थीं न कि शिक्षा देने वाली। इनका एक चांसलर (जो प्रान्त का गवर्नर होता था) एक वाइस चांसलर (जो प्रधान होता था) और सदस्य (Fellows) होते थे। इन विश्वविद्यालयों की सम्पत्ति तथा अन्य मामलों का प्रबन्ध एक सीनेट (Senate) करती थी। अपनी परीक्षाओं द्वारा ये अपने सम्बन्धित कालिजों के अध्ययन-अनुक्रम (courses of study) पर नियन्त्रण रखते थे। सर्वप्रथम मैट्रिकुलेशन या एण्ट्रेन्स परीक्षा होती थी जिसके उत्तीर्ण होने पर विद्यार्थी कालिज में भरती होते थे। इसके बाद इण्टरमीडिएट, बी० ए० और एम० ए० की परीक्षाएँ होती थीं। विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कालिज प्रथम और द्वितीय श्रेणी के वर्गों में विभक्त थे। यह विभाजन इण्टरमीडिएट परीक्षा के विद्यार्थियों की शिक्षा के अथवा बी० ए० की श्रेणी के अनुसार होता था।

माध्यमिक शालाएँ—कालिजों के नीचे माध्यमिक वर्नाक्यूलर विद्यालय थे। इनमें हिन्दी या उर्दू के माध्यम द्वारा शिक्षा दी जाती थी और इनका उद्देश्य विश्वविद्यालय में प्रवेश करने के लिए विद्यार्थियों को तैयार करना था। इससे विश्वविद्यालयों में अयोग्य विद्यार्थियों की संख्या बढ़ने लगी। इस प्रकार ये विद्यालय शिक्षा-क्षेत्र में समुचित कार्य करने में असफल रहे।

प्राथमिक शालाएँ—माध्यमिक शालाओं के नीचे प्राथमिक शालाएँ थीं। इन शालाओं की शिक्षा में भी दो भाग थे—निम्न प्राथमिक परीक्षा और उच्च प्राथमिक परीक्षा। प्रथम में पठन-पाठन, लेखन व अंकगणित का अध्ययन होता था और द्वितीय में इन विषयों के साथ-साथ भूगोल, इतिहास व प्रारम्भिक विज्ञान भी सम्मिलित कर लिये जाते थे।

सन् १८५४ से १८८२ ई० तक के युग में विश्वविद्यालय की शिक्षा में प्रभूत प्रगति हो रही थी, परन्तु प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा में कोई प्रशंसनीय उन्नति नहीं हुई थी। इसके अतिरिक्त प्रान्तों में भी शिक्षा का स्तर भिन्न-भिन्न था। प्राविधिक शिक्षा (technical education) का तो सर्वथा अभाव ही था। यद्यपि रुड़की और कलकत्ता में इंजीनियरिंग कालिज बम्बई, मद्रास व कलकत्ता में मेडिकल कालिज स्थापित हो गये थे, तथापि देश के विस्तार व शिक्षा की माँग को देखकर ये नगण्य थे।

५. हण्टर कमीशन और शिक्षा-व्यवस्था में परिवर्तन (सन् १८८२-१९०१ तक)—सन् १८८२ में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड रिपन ने सर डब्ल्यू०

डब्ल्यू० हण्टर के सभापतित्व में बाईस सदस्यों का एक एज्यूकेशन कमीशन नियुक्त किया। इसका कार्य यह था कि वह इस बात की जाँच करे कि सन् १८५४ की शिक्षा योजना के सिद्धान्त कहाँ तक कार्यान्वित हुए और उस योजना को अधिक सफल बनाने के लिए कौनसे उपाय अपनाये जायँ। प्राथमिक शिक्षा की दशा की जाँच कर उसके प्रसार के लिए सुझाव रखना भी इसका अन्य उद्देश्य था। इस हण्टर कमीशन ने भारतीय शिक्षा के विषय में महत्त्वपूर्ण सुझाव रखे। इसने यह सलाह दी कि देशी भाषाओं की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाय और शिक्षा प्रसार के लिए वैयक्तिक प्रयत्नों और व्यवस्था पर अधिक निर्भर रहा जाय।

विश्वविद्यालय शिक्षा का प्रभाव—सन् १८८२ से १९०१ तक विश्वविद्यालयों ने सैकड़ों स्नातक (Graduates) और सहस्रों मैट्रिकुलेट व्यक्ति उत्पन्न कर दिये। परन्तु वे मनवांछित पद प्राप्त न कर सके, अतएव वे असन्तुष्ट और राजनीतिक दृष्टि से विद्रोह व कोलाहल करने वाले तत्त्व बन गये।

माध्यमिक और प्राथमिक शिक्षा----सन् १८८२ से भारतीय शिक्षा नीति का इतिहास विश्वविद्यालयों द्वारा स्कूलों पर प्रगतिशील प्रभुत्व का इतिहास रहा है। इसी युग में School Leaving Certificate परीक्षा प्रणाली का जन्म हुआ एवं मद्रास, पंजाब तथा यू० पी० के अनेक विद्यालयों में हस्तकला की शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। फिर भी माध्यमिक शिक्षा की विशेष प्रशंसनीय उन्नति नहीं हुई।

प्राथमिक शिक्षा-क्षेत्र में समस्त प्राथमिक शालाओं में हिन्दी या उर्दू माध्यम द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। अंग्रेजी प्राथमिक विद्यालय उच्च और माध्यमिक विद्यालयों से सम्बन्धित कर दिये गये। ये नवीन प्राथमिक विद्यालय दो भागों में विभक्त कर दिये गये—प्रथम लोअर या निम्न विद्यालय जिनमें तीसरी कक्षा तक अध्ययन होता था और द्वितीय अपर या उच्च जिसमें तीसरी से पाँचवीं कक्षा तक की शिक्षा दी जाती थी। सन् १८८२ के बाद स्थानीय स्वराज्य में प्रगति होने लगी। फलतः हण्टर कमीशन के सुझाव के अनुसार म्युनिसिपैलिटी और लोकल बोर्ड जैसी स्थानीय स्वराज्य-संस्थाओं को उनकी शालाओं का प्रबन्ध करने का अधिकार दे दिया गया। प्राथमिक शिक्षा के उत्तरदायित्व का भार अब स्थानीय संस्थाओं पर पड़ा। पर प्रान्तीय आय से इन पाठशालाओं को आर्थिक सहायता भी दी जाने लगी।

६. शिक्षा-क्षेत्र में सुधार का युग (सन् १९०१-१९३५ तक), विश्वविद्यालय शिक्षा—(अ) लॉर्ड कर्जन और यूनीवर्सिटी एक्ट, सन् १९०४—भारत के गवर्नर जनरल लार्ड कर्जन (सन् १८९९-१९०५) ने तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली में सुधार करना चाहा। उसने शिक्षा-विभाग में केन्द्रीकरण

की नीति का अनुसरण किया और देश की शिक्षा-प्रणाली को सरकार के निरीक्षण में करना चाहा। उसने भारत की शिक्षण-पद्धति पर विचार-विनिमय करने के लिए शिमला में सितम्बर, १९०१ में एक कान्फ्रेन्स आमन्त्रित की। इसके पश्चात् जनवरी, १९०२ में उसने टॉमस रेले के सभापतित्व में एक यूनीवर्सिटी कमीशन नियुक्त किया जिसका उद्देश्य भारतीय विश्वविद्यालयों की दशा की जाँच करना था और विश्वविद्यालयों के विधान व कार्य में सुधार करने, उनके शिक्षण के स्तर को उच्च करने एवं विद्या का प्रसार करने के लिए सुझाव रखना था। इस कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर सन् १९०४ में यूनीवर्सिटी एक्ट स्वीकृत किया गया। इस कानून ने विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियन्त्रण को दृढ़ कर दिया। सीनेटों (Senates) के निर्वाचित सदस्यों की संख्या कम कर चांसलर द्वारा निर्देशित सदस्यों की संख्या में वृद्धि कर दी। यद्यपि विश्वविद्यालयों की कार्यकारिणी, सिण्डीकेट (Syndicate) में कालिज के अध्यापकों की संख्या बढ़ गयी परन्तु इसमें वे ही व्यक्ति सदस्य होते थे जो सीनेट के सदस्य हों। सीनेटों और सिण्डीकेटों के अधिकार-क्षेत्र को कम कर दिया गया। विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त किये गये व्यक्ति को निकालने व नियुक्ति को रद्द करने का अधिकार भी सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत कालिजों के निरीक्षण के नियम भी कठोर कर दिये गये और नवीन कालिजों को विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत करने की शर्तें भी कड़ी कर दी गयीं। सरकार ने यह अधिकार अपने पास रख लिया कि वह चाहे जिस संस्था को विश्वविद्यालयों के अधीन रहने दे या न रहने दे। विश्वविद्यालय की परीक्षाओं और पाठ्यक्रम के लिए नवीन विभागों (Faculties) का निर्माण हुआ। विश्वविद्यालयों की स्वतन्त्रता में इस कानून द्वारा इतनी काट-छाँट कर दी गयी थी कि व्यावहारिक रूप में सरकार की बिना स्वीकृति के कुछ भी नहीं किया जा सकता था। इतना दोषपूर्ण कानून होने पर भी इसके आधार पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में विश्वविद्यालय की ओर से पढ़ाने का विभाग खोला गया।

(ब) सुधार व संशोधन—सन् १९०६ में एक अन्य एक्ट स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार विश्वविद्यालयों में विज्ञान की शिक्षा देने का प्रयास किया गया। सन् १९१० में भारतीय सरकार के गृह-विभाग के हाथों से शिक्षा का प्रबन्ध निकालकर नवनिर्मित शिक्षा विभाग को सौंप दिया गया। इसके बाद ढाका और पटना यूनीवर्सिटी कमीशन नियुक्त हुए, पर युद्ध व अन्य कारणों से इनके सुझाव कार्यान्वित न हो सके; फिर भी विश्वविद्यालयों के संविधान दुहराये गये और संशोधित किये गये एवं उन्हें अध्यापन सम्बन्धी अधिक अधिकार प्रदान किये गये तथा पाठ्यक्रम में भी सुधार व संशोधन किये गये। शासकीय

अनुदान की सहायता से कालिज-भवनों का जीर्णोद्धार व वृद्धि दोनों हुए, पुस्तकालयों व प्रयोगशालाओं का विकास किया गया, नवीन कक्षाएँ खोली गयीं, एवं अध्यापकों की वृद्धि की गयी तथा डाक्टरी, इंजीनियरी, कृषि, पशु-चिकित्सा, कलात्मक और औद्योगिक शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया। स्त्री-शिक्षा को भी प्रोत्साहित किया गया। सरकार ने सार्वजनिक शिक्षा संस्थाओं की आर्थिक सहायता में वृद्धि की और उन संस्थाओं के निरीक्षण करने का अधिकार भी अपने हाथ में रखा।

(स) सेडलर कमीशन—परन्तु ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया विश्व-विद्यालय की शिक्षा का स्तर निम्न होता गया। अतएव सन् १९१७ में लॉर्ड चेम्सफोर्ड (भारत का गवर्नर जनरल सन् १९१६-२१) ने माइकेल सेडलर के सभापतित्व में कलकत्ता यूनीवर्सिटी कमीशन नियुक्त किया। इस कमीशन ने विस्तारपूर्वक यह सम्मति दी कि कलकत्ता विश्वविद्यालय को पुनः क्रम में लगाया जाय, ढाका में एक शिक्षण विश्वविद्यालय स्थापित किया जाय और बंगाल के हाईस्कूल तथा इण्टर कालिजों की शिक्षा को अधिकार में लाया जाय। इस कमीशन की रिपोर्ट पर काम करने के लिए अन्य विश्वविद्यालयों ने भी कमेटियाँ नियुक्त कीं जिनकी रिपोर्ट के आधार पर शिक्षण-विश्वविद्यालयों (teaching universities) की स्थापना हुई एवं हाईस्कूल और इण्टर कालिजों की शिक्षा के प्रबन्ध के लिए बोर्ड स्थापित हुए। सन् १९१९ में मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों ने शिक्षा को प्रान्तीय विषय कर दिया और अब प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा का उत्तरदायित्व मन्त्री पर हो गया। इस प्रकार अब शिक्षा पर से सरकारी अधिकार बिलकुल हट गया।

(द) विश्वविद्यालयों की संख्या में वृद्धि—राजनीतिक चेतना, शिक्षा की प्रगति तथा स्थानीय व साम्प्रदायिक भावनाओं के कारण विभिन्न स्थानों में अनेक विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। सन् १९१७ से १९२२ तक के काल में विश्वविद्यालयों की संख्या पाँच से चौदह हो गयी। पटना, लखनऊ, रंगून व आन्ध्र विश्वविद्यालय स्थानीय देशभक्ति के कारण निर्मित हुए, बनारस विश्वविद्यालय धार्मिकता, अलीगढ़ साम्प्रदायिकता तथा ढाका धार्मिकता व साम्प्रदायिकता दोनों के कारण स्थापित हुए। मैसूर तथा उस्मानिया विश्व-विद्यालयों की स्थापना इस काल में हुई तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर के शान्ति-निकेतन में विश्व भारती और पूना में इण्डियन वीमन्स यूनीवर्सिटी (Indian Women's University) भी इसी युग में निर्मित हुई।

माध्यमिक शिक्षा—शिक्षा-प्रसार के साथ-साथ देश के विभिन्न प्रान्तों में माध्यमिक शालाओं का भी विकास हुआ। परन्तु इनमें औद्योगिक शिक्षण का सर्वथा अभाव रहा।

प्राथमिक शिक्षा—लॉर्ड कर्जन के सन् १९०४ के प्रस्ताव ने यह बात स्वीकार कर ली कि "प्राथमिक शिक्षा का क्रियात्मक विस्तार करना राज्य का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है।" इसका फल यह हुआ कि देश में प्राथमिक शिक्षा का प्रसार हुआ। सन् १९१२ में इस बात की घोषणा की गयी कि प्राथमिक शालाओं की संख्या में पचहत्तर प्रतिशत वृद्धि की जाय। सन् १९१७ तक प्रति ८ वर्ग मील पर एक प्राथमिक विद्यालय था। सन् १९१९ के बाद प्रान्तीय सरकारों ने नवीन शिक्षा सम्बन्धी कानूनों द्वारा म्युनिसिपल तथा जिला बोर्डों को यह अधिकार दिया कि वे अपने अधीनस्थ क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क व अनिवार्य कर दें।

हार्टजोग कमेटी—जब सन् १९२७-२८ में भारतीयों की प्रगति की जाँच करने के लिए Indian Statutory Commission नियुक्त हुआ, तब इस कमीशन ने भारत में शिक्षा की उन्नति की जाँच करने के लिए सर फिलिप हार्टजोग (Sir Phillips Hertzog) की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी की रिपोर्ट बड़ी लाभदायक थी, पर यह कार्यान्वित नहीं हुई।

७. नवीन शिक्षण-योजनाओं का युग (१९३५-१९५२) : विश्वविद्यालय की दोषपूर्ण शिक्षा का प्रसार और यूनीवर्सिटी कमीशन, १९४९—इस युग में भी नवीन विश्वविद्यालय स्थापित हुए जैसे त्रावनकोर, उत्कल, सागर, राजस्थान, पूर्वी पंजाब, गोहाटी, पूना, रुड़की, काश्मीर, बड़ौदा व गुजरात विश्वविद्यालय। इस युग में विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि होने लगी। पर उन्हें इस शिक्षा से समुचित लाभ नहीं हुआ। व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से विश्वविद्यालय की अधिकांश शिक्षा निरर्थक ही होती रही। विश्वविद्यालय का शिक्षित युवक-वर्ग कृषि व हस्त-कौशल को हेय समझता रहा। उपयुक्त औद्योगिक शिक्षा का अभाव होने से विश्वविद्यालय की शिक्षा और विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों में वृद्धि हुई परन्तु यह सब अधिकांश रूप में अवांछनीय दिशा में हुई। कतिपय विश्वविद्यालयों को छोड़कर अनेक में अनुसन्धान, अन्वेषण तथा वैज्ञानिक शिक्षा का अभाव रहा है। इसलिए सन् १९४७ में राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के बाद कांग्रेस सरकार ने सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री एवं विश्वविख्यात दार्शनिक डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में सन् १९४९ में यूनीवर्सिटी कमीशन (University Commission) नियुक्त किया। इसके निम्नलिखित सुझाव मुख्य थे :

(१) शिक्षा को उसके तत्त्वों में पूर्णरूपेण भारतीय बनाया जाय। (२) विश्वविद्यालय में योग्य विद्यार्थियों को ही भरती किया जाय और शेष के लिए औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था की जाय। (३) कृषि व ग्राम-सुधार की शिक्षा के हेतु ग्राम्य विश्वविद्यालय स्थापित किये जायें। (४) विद्यार्थियों व

अध्यापकों के मध्य वैयक्तिक सम्पर्क के हेतु ट्यूटोरियल कक्षाएँ (tutorial classes) प्रारम्भ की जायें। (५) हिन्दी का अध्ययन अनिवार्य हो। (६) अध्यापकों के वेतन में वृद्धि की जाय। (७) प्रथम डिग्री कोर्स तीन वर्ष का रखा जाय। (८) प्राथमिक शालाओं और कालिजों में सह-शिक्षा (co-education) हो परन्तु माध्यमिक शालाओं में नहीं। (९) शिक्षण का स्तर ऊँचा उठाया जाय। (१०) वर्तमान परीक्षा-प्रणाली के स्थान पर 'Objective Test' प्रारम्भ किये जायँ।

उपरोक्त सुझाव अभी पूर्ण रूप से कार्यान्वित नहीं किये गये हैं।

माध्यमिक शिक्षा—सन् १९३५ ई० के बाद माध्यमिक शालाओं की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई, परन्तु शिक्षा-स्तर उच्च नहीं हुआ। यत्र-तत्र औद्योगिक-शिक्षण जैसे कताई-बुनाई, लुहारी, सुनारी, जिल्दसाजी आदि प्रारम्भ हो गया था, तथापि परम्परागत साहित्यिक शिक्षा ही प्रधान रही। विद्यार्थियों के व्यावहारिक ज्ञान की कोई व्यवस्था नहीं रही और न उनके मानसिक विकास व सांस्कृतिक उत्थान के लिए कोई विशेष प्रयास ही किये गये। सन् १९३७ ई० में स्थापित कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने माध्यमिक शिक्षा के लिए सुधार करने के प्रयत्न किये।

द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में युद्धोत्तर शिक्षा के लिए योजना बनाने के हेतु भारत सरकार ने सर जान सार्जेण्ट की अध्यक्षता में सन् १९४४ ई० में एक समिति नियुक्त की। इसकी रिपोर्ट में पूर्व प्राथमिक शिक्षा, आधारभूत शिक्षा (basic education), हाईस्कूल शिक्षा, विद्यालय शिक्षा, औद्योगिक, व्यापारिक तथा कला शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, मूक-बधिर तथा अन्धों की शिक्षा, शिक्षा क्षेत्र में मनोरंजन और सामाजिक प्रवृत्तियाँ, शिक्षा-प्रबन्ध आदि विषयों पर अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये गये और दीर्घकालीन योजना रखी गयी। यद्यपि भारत सरकार ने सार्जेण्ट-शिक्षा योजना की स्वीकृति दे दी थी परन्तु अर्थाभाव के कारण यह कार्यान्वित न की जा सकी। फिर भी प्रत्येक प्रान्तीय सरकार माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में सुधार करने के लिए सतत् प्रयत्नशील है। उसके पाठ्यक्रम में विविध ढंग के प्रयोग किये जा रहे हैं।

प्राथमिक शिक्षा—माध्यमिक शालाओं के साथ-साथ प्राथमिक शालाओं की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई। स्थानीय समितियाँ तथा शिक्षा कौंसिल, जो पहले प्राथमिक शिक्षा का नियन्त्रण किया करती थीं, समाप्त कर दी गयीं। विभिन्न प्रान्तों में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी। प्रत्येक प्रान्तीय सरकार के शिक्षा विभाग ने प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना, उनकी देखभाल, उनके लिए व्यय की स्वीकृति, निरीक्षण, प्रशिक्षित (trained) शिक्षक, उनमें नवीन योजनाओं का प्रयोग आदि का प्रबन्ध अपने हाथों में

ले लिया है। प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य किया जा रहा है क्योंकि जागृत नागरिक के हेतु, जो सफल प्रजातन्त्र शासन के लिए अनिवार्य है, प्राथमिक शिक्षा मेरुदण्ड के समान है। प्राथमिक शिक्षा में गांधीजी की वर्धा योजना या 'बेसिक शिक्षा' और माण्टेसरी शिक्षण पद्धति को कार्यान्वित किया जा रहा है। प्राथमिक शिक्षा पर पहले की अपेक्षा अधिक धन व्यय किया जा रहा है और विविध प्रकार के प्रयोग किये जा रहे हैं। सन् १९४८ में केन्द्रीय शिक्षा परामर्शदात्री समिति (Central Advisory Board of Education) ने भी निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के हेतु योजना बनायी है।

औद्योगिक शिक्षा—भारत में कलात्मक, औद्योगिक एवं व्यावसायिक शिक्षा की ओर यथेष्ट ध्यान दिया गया। जो भी थोड़े बहुत औद्योगिक विद्यालय हैं वे देश की जनसंख्या और आवश्यकताओं को देखते हुए अपर्याप्त हैं। सन् १९३६ ई० में भारत सरकार ने भारत में औद्योगिक शिक्षा के विकास के लिए इंगलैण्ड से दो विशेषज्ञ आमन्त्रित कर एक कमेटी का निर्माण किया था जिसके अध्यक्ष एवट थे। इस कमेटी ने औद्योगिक संस्थाओं के निर्माण व शिक्षा की योजना प्रस्तुत की थी। अब स्वतन्त्र भारत की सरकार इस शिक्षा की प्रगति करने में विशेष प्रयत्नशील है। अनेक नवीन औद्योगिक शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित की जा रही हैं तथा औद्योगिक शिक्षा के अध्ययन के हेतु छात्रवृत्तियाँ देकर विदेशों में विद्यार्थियों को विशेष अध्ययन के लिए भेजा जा रहा है।

प्रौढ़-शिक्षा—सामाजिक प्रजातन्त्र के विकास व सफलता के हेतु शिक्षित नागरिकों की आवश्यकता होती है। शिक्षित लोगों की संख्या कुल जनसंख्या की केवल १२ प्रतिशत (१९४७-४८) है। इस छोटी संख्या में भी अनेक ऐसे हैं जो प्राथमिक शिक्षा के पश्चात् अधिक समय व्यतीत हो जाने के कारण निरक्षर बन जाते हैं। भविष्य में इस देश का शासन किसी विशेष वर्ग द्वारा नहीं वरन् जनसाधारण के प्रौढ़ समाज द्वारा होगा और प्रौढ़ों पर ही यह उत्तरदायित्व होगा कि ऐसे व्यक्तियों का निर्वाचन करें जो देश का शासन-संचालन दक्षतापूर्वक कर सकें। अतएव सामाजिक, नैतिक व राष्ट्रीय दृष्टि से प्रौढ़ों का शिक्षित होना अनिवार्य है। प्रौढ़ों के बौद्धिक और भावपूर्ण दृष्टि-कोणों में महान् व स्थायी परिवर्तन करने के लिए, उनमें नवजीवन और नवीन भावनाओं का प्रादुर्भाव करने के लिए, उनकी आलोचनात्मक शक्तियों का विकास करने के लिए प्रौढ़ शिक्षा की विविध योजनाएँ बनायी गयीं और केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारें भी इस दिशा में सतत् प्रयत्नशील हैं। इस कार्य के लिए एक अखिल भारतीय संस्था भी है। केन्द्रीय शिक्षा

परामर्शदात्री समिति ने भी प्रौढ़ शिक्षा के लिए अपने सुझाव रखे हैं, प्रौढ़ पाठशालाओं एवं पुस्तकालयों का संगठन किया है एवं प्रौढ़-शिक्षा का क्षेत्र विस्तृत किया है।

स्त्री-शिक्षा—सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक प्रगति के लिए स्त्री-शिक्षा अनिवार्य है। अशिक्षित स्त्री-समाज गृहस्थ जीवन को ही नहीं अपितु व्यक्तिगत और राष्ट्रीय चरित्र को भी अत्यधिक प्रभावित कर उसे दुःखद बना देता है। इसीलिए प्राचीन भारत में और मध्यकालीन भारत में स्त्री-शिक्षा का प्रचार था। राजनीतिक उथल-पुथल और सामाजिक अव्यवस्था होने पर भी स्त्री-शिक्षा की परम्परा उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में भी बनी रही। यद्यपि इस शिक्षा-क्षेत्र में धार्मिक भावनाओं की ही प्रधानता रही परन्तु ऐहिक उद्देश्य भी विद्यमान थे। उन्नीसवीं शताब्दी में नवाभ्युत्थान (Renaissance) के कारण स्त्री-शिक्षा को नवीन प्रोत्साहन मिला। परन्तु इस दिशा में महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों ने और सरकार ने अधिक भाग लिया। कतिपय ईसाई पादरियों, धर्मोपदेशकों और राजा राधाकान्त देव, कलकत्ता के राजा बैजनाथ राय और राजा राममोहन राय जैसे उदारवृत्ति शिक्षा-प्रेमियों ने सरकार के कदम उठाने के पूर्व स्त्री-शिक्षा के लिए प्रयत्न किये। परन्तु उन्हें न तो कोई विशेष प्रशंसनीय सफलता प्राप्त हुई और न सरकार ने उनकी सहायता ही की।

सन् १८४९ में कलकत्ता में गवर्नर जनरल की कौंसिल के कानून-सदस्य ड्रिंक वाटर बेथुन और पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयत्नों से उच्चवर्णीय हिन्दू परिवारों की कन्याओं के लिए सर्वप्रथम स्कूल स्थापित किया गया। लार्ड डलहौजी ने कन्या पाठशालाओं की सहायता के लिए अनुदान दिये। यद्यपि सन् १८५४ की चार्ल्स वुड की योजना में स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित करने और कन्या-शालाओं को अनुदान देने की नीति का समर्थन किया गया था, तथापि लॉर्ड केनिंग के समय और बाद में सन् १८६७ में यह घोषणा की गयी थी कि कन्या-शालाओं को सरकारी सहायता और अनुदान की अपेक्षा वैयक्तिक अनुदान पर निर्भर रहना चाहिए और सरकार स्त्री-शिक्षा की ओर स्वयं कोई कदम नहीं उठावेगी। फिर भी सन् १८७० में बंगाल, पंजाब, बम्बई और उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त (आज का उत्तर प्रदेश) में कन्या-शालाओं को सरकार की ओर से उदारतापूर्वक अनुदान दिये गये। सन् १८८२ में लार्ड रिपन के समय के हण्टर कमीशन ने स्त्री-शिक्षा को विशिष्ट रूप से प्रोत्साहित करने का सुझाव रखा। अतएव पहले की अपेक्षा सरकार ने कन्या-शालाओं को अधिक अनुदान भी दिये और नवीन सरकारी कन्या-शालाएँ भी स्थापित कीं। फलतः कुछ ही वर्षों में स्त्री-शिक्षा की प्रभूत प्रगति हुई।

शासकीय प्रयासों और धर्म-प्रचारकों के प्रयत्नों के अतिरिक्त ब्रह्म समाज,

आर्य समाज, सर्वेण्ट्स आँव इण्डिया सोसाइटी जैसी अनेक सुधारवादी सामाजिक संस्थाओं ने स्त्री-शिक्षा के कार्य को खूब प्रोत्साहित किया। ब्रह्म समाज में केशवचन्द्र सेन, शशीपाद बनर्जी, श्रीमती जे० सी० बोस और श्रीमती पी० के० राय जैसे व्यक्तियों ने स्त्री-शिक्षा के लिए ठोस प्रयास किये। इस समाज के अनेक सदस्यों ने महिलाओं में शिक्षा व संस्कृति के प्रसार व प्रगति के हेतु समय-समय पर 'बाम बोधनी', 'अबला बान्धव', 'महिला', 'अन्तःपुर', 'भारती', 'भारत महिला' जैसे पत्र निकाले। आर्य समाज ने भी अनेक स्थलों पर कन्या-गुरुकुल स्थापित कर स्त्री-शिक्षा में पर्याप्त सहायता पहुँचायी। बड़े-बड़े नगरों में स्त्री-शिक्षा के लिए महिला विद्यापीठ, सेवा-सदन, गर्ल्स हाईस्कूल व मिडिल स्कूल, हस्त-कला भवन आदि स्थापित किये गये। दक्षिण शिक्षा समिति ने भी स्त्री-शिक्षा के लिए सफल प्रयत्न किये। पूना फर्ग्युसन कालिज से सम्बन्धित कर्वे और भण्डारकर के प्रयासों से सन् १९१६ में महिला विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। अखिल भारतीय सम्मेलन ने भी स्त्री-शिक्षा पर अधिक बल दिया और अखिल भारतीय महिला-कोष खोला गया। इसके अतिरिक्त कस्तूरबा फण्ड भी यथेष्ट सहायता दे रहा है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिसिपैलिटी जैसे स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं ने भी अनेक कन्या-शालाएँ स्थापित कीं। देश की राजनीतिक और सामाजिक जागृति ने स्त्री-शिक्षा को अत्यधिक प्रोत्साहित किया और अब आजकल स्त्रियाँ कालिजों और विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने लगी हैं। परन्तु पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति में रँगी होने के कारण स्त्री-शिक्षा में भारतीय संस्कृति के उच्च आदर्शों का अभाव रहा है।

स्त्री-शिक्षा की यह प्रगति नगरों तक ही सीमित रही है, देहातों में कन्याओं के लिए शिक्षा की पर्याप्त सुविधा नहीं है। ग्रामीण कन्याओं एवं महिलाओं को भी शिक्षित एवं सुसंस्कृत बनाने की ओर प्रयास करना चाहिए।

विविध शिक्षण-प्रणालियों के प्रयोग—विश्व में शिक्षा-प्रणालियों के विषय में समय-समय पर विविध प्रयोग होते रहे। परन्तु अंग्रेजी शासनकाल में भारत का सरकारी शिक्षा-विभाग एक विशिष्ट ढंग से चलता रहा और शिक्षा भी पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति से प्रभावित होती रही। उसमें देश, काल व समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमता न थी। वैयक्तिक संस्थाएँ भी सरकारी नमूने का अनुकरण कर प्रगति करती रहीं। सर्वप्रथम आर्य-समाज ने प्राचीन वैदिक पद्धति पर बड़े पैमाने पर शिक्षा देने का प्रयत्न किया और गुरुकुलों की स्थापना की। इसके अतिरिक्त प्रेम महाविद्यालय, वृन्दावन आदि जैसी कतिपय संस्थाओं में बौद्धिक शिक्षा के साथ-साथ हस्त-कला की शिक्षा भी दी जाने लगी। कलकत्ता के पास बोलपुर में टैगोर के शान्तिनिकेतन में शिक्षा-क्षेत्र में स्वतन्त्र प्रयोग किये गये। गुजरात में भावनगर में दक्षिणामूर्ति

ने बालकों की शिक्षा में नवीन प्रयोग किये। उनके प्रयोगों में मॉण्टेसरी पद्धति की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। बालकों की शिक्षा के हेतु विविध संस्थाओं में डाल्टन प्रणाली और किंडरगार्टन पद्धति के प्रयोग भी होने लगे। इसी बीच थियोसोफीकल सोसाइटी ने सन् १९३९ ई० में मद्रास में मैडम मॉण्टेसरी को आमन्त्रित किया और मॉण्टेसरी शिक्षण-पद्धति का प्रचार किया। इस प्रणाली के आधार पर बालकों की ज्ञानेन्द्रियों का वैज्ञानिक ढंग से विकास किया जाता है। मैडम मॉण्टेसरी ने स्वयं भारत के विभिन्न स्थानों पर मॉण्टेसरी शिक्षण के हेतु अनेक शिक्षकों को ट्रेनिंग दी और नवीन बालशालाओं की स्थापना की। परन्तु ये सब प्रणालियाँ रूप व आदर्श में विदेशी थीं और हमारे देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ-सी रहीं। अतएव महात्मा गांधी ने देश के हित को ध्यान में रखकर शिक्षा का पुनर्निर्माण करने के लिए एक योजना बनायी जिसे वर्धा-शिक्षा योजना कहते हैं। इसका उद्देश्य बालकों को बुनियादी शिक्षा या व्यावहारिक ज्ञान देकर शिक्षित करना है। इसमें कताई-बुनाई, कृषि, सुनारी, लोहारी, जिल्दसाजी आदि हस्त-कलाओं के द्वारा बालकों को शिक्षा दी जाती है। ऐसी आशा की जाती है कि यह योजना देश की निरक्षरता को दूर कर, बेकारी की समस्या को हल कर समाज व देश के उत्कर्ष में सहायता पहुँचायेगी।

प्रश्नावली

१. प्राचीनयुग में भारत की शिक्षण-पद्धति के क्या प्रमुख उद्देश्य थे और उनकी प्राप्ति में कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई थी ?

२. प्राचीनकाल में भारत में जो शिक्षा-प्रणाली थी उसका विवेचन कीजिए।

३. प्राचीन भारतीय शिक्षण-प्रणाली आधुनिक शिक्षा-पद्धति से किन-किन बातों में भिन्न थी ?

४. प्राचीन भारत में कौन-कौनसी शिक्षण-संस्थाएँ थीं और उनका प्रबन्ध किस प्रकार होता था ?

५. मुसलमानों के शासनकाल में शिक्षा की क्या व्यवस्था थी ?

६. अंग्रेजी राज्य में शिक्षा-प्रसार के लिए कब और कौन-कौनसे प्रमुख प्रयत्न किये गये ?

अथवा

ब्रिटिश शासन के युग में हुई भारतीय शिक्षा के इतिहास की प्रमुख महत्त्वशाली घटनाओं का वर्णन कीजिए।

७. सन् १८५८ के पश्चात् अंग्रेजी सरकार की शिक्षा-नीति का वर्णन

कीजिए। उसके प्रमुख उद्देश्य क्या थे और वास्तविक शिक्षा की प्रगति में वे कहाँ तक सहायक हुए ?

८. सन् १८५८ से १९०४ ई० तक के युग में भारत में हुई शिक्षा की प्रगति का विवेचन कीजिए और लॉर्ड कर्जन के समय यूनीवर्सिटी एक्ट की व्याख्या कीजिए।

९. आधुनिक भारतीय शिक्षण-पद्धति के क्या दोष रहे ? सन् १८८२-१९३५ तक के युग में अंग्रेज सरकार ने उनके निवारण के लिए क्या प्रयत्न किये।

१०. टिप्पणियाँ लिखिए—तक्षशिला, विक्रमशिला, नालन्दा, चार्ल्स वुड की शिक्षण योजना, हण्टर कमीशन, सन् १९०४ ई० का यूनीवर्सिटी एक्ट, सेडलर कमीशन, प्रौढ़-शिक्षा, स्त्री-शिक्षा क्षेत्र में आधुनिक योजनाएँ, बीसवीं सदी में विश्वविद्यालय शिक्षा की प्रगति, वर्धा शिक्षा योजना, सार्जेण्ट रिपोर्ट और सन् १९४९ ई० का यूनीवर्सिटी कमीशन।

१७

आधुनिकीकरण

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से हमारे देश में युगान्तर आरम्भ होता है। यह आधुनिकीकरण का सूत्रपात था। इसका श्रीगणेश तब हुआ जब हमने पश्चिमी शिक्षा, सभ्यता व संस्कृति से प्रभावित होकर ज्ञान व प्रकाश के लिए अपना मुँह पूर्व से पश्चिम की ओर मोड़ा और देश में आधुनिकीकरण कर सर्वांगीण सुधार की ज्योति को जगमगाया।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक हमारे देश में धर्मान्धता, अन्धविश्वास, अस्पृश्यता, सामाजिक रूढ़ियाँ, कुप्रथाएँ आदि ऐसे दोष उत्पन्न हो गये थे कि हमारा सामाजिक और आर्थिक जीवन जीर्ण और जर्जरित हो गया था, उसकी जीवन-शक्ति क्षीण हो चुकी थी। अंग्रेजों की विशिष्ट व्यापारिक नीति के कारण भारत का आर्थिक जीवन अस्तव्यस्त और असंतुलित हो गया था। दरिद्रता और भुखमरी का ताण्डव-नृत्य होने लगा था। और उद्योग-धन्धे विनष्ट हो गये थे। फलतः आर्थिक विकास अवरुद्ध हो गया और समृद्धि का प्रवाह शुष्क हो गया था। इस आर्थिक दुर्दशा ने भारत के सामाजिक जीवन को भी प्रभावित किया। विभिन्न ललित-कलाओं की प्रगति रुक गयी, जीवन नीरस हो गया और भारत का प्राचीनतम आध्यात्मिक स्रोत सूख गया। पश्चिम के प्रभाव के अन्तर्गत धीरे-धीरे इन दोषों का निवारण किया गया और आर्थिक तथा सामाजिक जीवन की प्रगति के साथ-साथ आधुनिकीकरण भी किया गया।

अंग्रेजों के आगमन के पूर्व हमारा आर्थिक जीवन कैसा था? अंग्रेजी प्रभुता प्रतिष्ठित हो जाने पर अंग्रेजों की आर्थिक नीति क्या रही? उससे हमारा आर्थिक जीवन किस प्रकार अपंग और असन्तुलित हो गया और किस प्रकार उसमें आधुनिक परिवर्तन हुए? इसका वर्णन अगले पृष्ठों में किया जायगा।

अंग्रेजों की व्यावसायिक और आर्थिक नीति

भारत एक कृषि-प्रधान देश है। परन्तु कोई भी देश केवल एक ही व्यवसाय पर नहीं चल सकता। भारत जैसे विस्तृत और घने बसे हुए देश के लिए विशेष रूप से कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायों का आश्रय लेना अनिवार्य है। इसीलिए भारत में कृषि के साथ-साथ उद्योग-धन्धे भी प्रचलित थे। इससे

आर्थिक जीवन सुव्यवस्थित था। मध्य-युग में भारत की कृषि की और विभिन्न व्यवसायों की दशा यथेष्ट रूप से श्रेष्ठ थी। इसलिए यहाँ यूरोपीय व्यापारियों का आगमन हुआ था जिनमें अंग्रेज भी थे। धीरे-धीरे व्यापार और कूटनीति के सहारे अंग्रेजों ने यहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उन्होंने अपनी व्यावसायिक और आर्थिक नीति से देश के जीवन में बड़ी उथल-पुथल मचा दी।

भारत में गत दो शताब्दी तक अंग्रेजों का शासन विद्यमान रहा। इस दीर्घकाल में उन्होंने अपने देश के लाभार्थ एक विशिष्ट आर्थिक नीति का अनुकरण किया। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इंगलैण्ड में महान् औद्योगिक क्रान्ति हुई। अनेक कल-कारखानों का उत्कर्ष हुआ और इंगलैण्ड की उत्पादन शक्ति अत्यधिक बढ़ गयी। प्रत्येक प्रकार की वस्तुओं का निर्माण भीमकाय मशीनों से होने लगा और विविध प्रकार के तैयार व्यापारिक माल के ढेर के ढेर हो गये। इसके दो परिणाम हुए—प्रथम, इंगलैण्ड को कच्चे माल की आवश्यकता हुई; और द्वितीय, अपने मिलों तथा कारखानों में उत्पादित अपरिमित माल को निर्यात करने की। उस काल तक भारत पूर्ण रूप से अंग्रेजों के आधिपत्य में आ चुका था। उस युग में भारत ही एक ऐसा देश था जहाँ वे समस्त कच्चे माल प्राप्त होते थे जिनसे इंगलैण्ड के कल-कारखानों में वस्तुएँ निर्मित होती थीं। यहाँ पर कच्ची रुई; कच्चा जूट, खदानों से सरलतापूर्वक निकला हुआ अस्वच्छ, पर अच्छे गुणों वाला कोयला और लोहा होता था तथा खाद्य-पदार्थों का अभाव नहीं था। इसके अतिरिक्त इंगलैण्ड में बने हुए माल के लिए भारत के नगर व ग्राम अच्छी मण्डियाँ थीं। अतएव भारत में अंग्रेजों की व्यापारिक और आर्थिक नीति इंगलैण्ड की उपरोक्त दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्दिष्ट की गयी थी।

अपनी आर्थिक नीति के अनुसार अंग्रेजी शासन ने भारत में कच्चे माल की उपज बढ़ाने के लिए प्रयास किये। सिंचाई के साधनों द्वारा कृषि को प्रोत्साहन दिया गया और विदेशी पूँजी से खानों का माल निकाला गया। सड़कें, रेल, मोटर तथा जलपोत द्वारा यातायात के अधिक सुलभ साधन प्रस्तुत किये गये जिससे देश की खाद्य-सामग्री तथा कच्चा माल अधिक परिमाण में एक स्थान से दूसरे स्थान को सरलता से भेजा जा सके और उसका सुगमता से निर्यात किया जा सके। इस प्रकार भारत का अधिकाधिक कच्चा माल व खाद्यान्न इंगलैण्ड भेजा जाने लगा और वहाँ से मिलों तथा कारखानों का बना हुआ माल प्रचुर संख्या व अपरिमित मात्रा में यहाँ आने लगा। इनमें कपड़ा, लोहे व फौलाद की वस्तुएँ, औषधियाँ, चीनी के बरतन तथा दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली अनेक वस्तुएँ होती थीं।

इस प्रकार भारतीय औद्योगिक और उत्पादन-क्षेत्र में अंग्रेजों ने अकर्मण्यता की नीति का अनुकरण किया तथा भारतीय सार्वजनिक निर्माण व उत्पादन के प्रति अत्यन्त ही उपेक्षा की नीति का पालन किया।

भारत का अधिकाधिक कच्चा माल व खनिज पदार्थ इंगलैण्ड जाने, वहाँ के बने हुए माल का यहाँ अपरिमित आयात होने एवं अंग्रेजों की अकर्मण्यता व उपेक्षा की नीति से भारत के उद्योग-धन्धों को भारी क्षति हुई। विदेशों से मशीनों का बना हुआ सस्ता माल भारत के बाजारों में बिकने लगा। स्वदेशी हाथ का बना हुआ महँगा माल प्रतिस्पर्द्धा में विदेशी माल के सम्मुख टिक न सका इनसे भारतीय उद्योग-धन्धों का ह्रास होने लगा और भारत अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पाश्चात्य देशों पर निर्भर रहने लगा। भारतीय उद्योगों और व्यवसायों की अवनति होने पर लोग कृषि की ओर झुके और खेती के हेतु जमीन की माँग बढ़ने लगी। परन्तु भूमि की उत्पादन-शक्ति की सीमा होती है। एक निर्दिष्ट संख्या से अधिक व्यक्तियों के लिए भूमि भी पर्याप्त हो गयी, इसी बीच जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि होती गयी, पर उत्पादन की वृद्धि का पलड़ा बराबर ही रहा। इस प्रकार देश की औद्योगिक और व्यावसायिक उन्नति रुक गयी और भूमि-खण्ड पर आवश्यकता से अधिक मनुष्य आश्रित हो गये। इसके स्वाभाविक परिणाम भयंकर दरिद्रता और प्रचण्ड दुर्भिक्ष थे। अंग्रेजी शासन की ऐसी अवांछनीय स्वार्थ-लोलुप नीति के कारण देश के आर्थिक जीवन का संतुलन बिगड़ गया। भारतीय व्यापार और उद्योग के निम्नलिखित इतिहास से अंग्रेजों की उपरोक्त वर्णित आर्थिक नीति पर प्रकाश पड़ेगा।

भारतीय व्यापार व उद्योग, सन् १७५७–१८५७ तक—अंग्रेजी शासन की प्रथम शताब्दी (सन् १७५७ से १८५७) के पूर्वार्द्ध में भारत का विदेशी व्यापार यूरोप के विभिन्न देशों—फ्रांस, इंगलैण्ड, हालैण्ड आदि के हाथों में आ गया था। इसमें अंग्रेजों का सबसे अधिक भाग रहता था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत में अंग्रेजों ने एक के बाद एक यूरोप के व्यापारी देशों को पराजित कर स्वयं अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी और अंग्रेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों में ही भारत का विदेशी व्यापार पूर्णरूपेण आ गया था। इस समय भारत से सूत व रेशम के वस्त्र, कच्चा रेशम, शक्कर, नमक, जूट और अफीम बाह्य देशों को भेजा जाता था। ढाका की मलमल की माँग विश्व के विभिन्न देशों में बहुत थी। अंग्रेजी व्यापार का केन्द्र इस युग में बंगाल था। इस समय भारत का प्रमुख व्यवसाय सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्र बुनना था। ढाका, लखनऊ, अहमदाबाद, नागपुर और मदुरा इस व्यवसाय के केन्द्र थे। पंजाब व काश्मीर में श्रेष्ठ शाल बनाये जाते थे। ताँबा, पीतल

और काँसे के बर्तन व वस्तुएँ तो समस्त भारत में बनायी जाती थीं और बनारस, तंजौर, पूना, नासिक और अहमदाबाद इसके प्रसिद्ध केन्द्र थे। सोने-चाँदी के तारों का काम, संगमरमर, चन्दन की लकड़ी, हाथीदाँत तथा काँच पर कलापूर्ण नक्काशी के काम एवं रत्नों के जड़ने का काम प्रमुख उद्योग थे। इसके अतिरिक्त चमड़े की वस्तुएँ बनाने, कागज बनाने, सुवासित द्रव व पदार्थ बनाने आदि के व्यवसाय भी प्रचलित थे। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत में जलपोत-निर्माण का व्यवसाय इंगलैण्ड की अपेक्षा अधिक उन्नत था।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में भारत के उद्योग-व्यवसायों की अवनति होने लगी थी और उन्नीसवीं सदी के मध्य तक यह पूर्णतया अवनत हो गयी थी। इसके निम्नलिखित कारण हैं।

उन्नीसवीं सदी में भारतीय उद्योग-व्यवसायों की अवनति के कारण

१. **विशिष्ट अर्थ-निस्सृति** (Large Economic Drain)—अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी और इसके अधिकारियों ने राजाओं और नवाबों से करोड़ों रुपये वसूल किये, घूस ली, अपरिमित धन देश से बाहर भेजते रहे। मीरजाफर, मीरकासिम, चेतसिंह, अवध के नवाब, कर्नाटक के नवाब आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं. अंग्रेजी कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार के अतिरिक्त अनेक अंग्रेज अधिकारी व्यक्तिगत रूप से वाणिज्य-व्यापार करने और अपरिमित धन-संग्रह करने में संलग्न रहते थे। कम्पनी के अंग्रेज अधिकारियों व कर्मचारियों को इस विषय में अनेक सुविधाएँ थीं और बंगाल के नवाबों की ओर से तो इन्हें 'दस्तक' की विशिष्ट सुविधा थी, जिसका दुरुपयोग इतना अधिक हुआ कि बंगाल के व्यापार-व्यवसाय को अतुलनीय हानि उठानी पड़ी। इस सबका परिणाम यह हुआ कि प्रति वर्ष अपरिमित धन देश से बाहर जाता रहा। इस अर्थ-निस्सृति ने देश में दरिद्रता की वृद्धि की, पूँजी को अपंग कर दिया और भारतीय व्यापार व व्यवसाय को भारी क्षति पहुँचायी।

२. **अंग्रेजी प्रतिस्पर्द्धा और इंगलिश पार्लियामेण्ट की नीति**—जब भारत के रेशमी व सूती वस्त्र इंगलैण्ड में अधिक लोकप्रिय हो गये, तब अपने देश के व्यवसाय के हित में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने सन् १७००-१७२० तक के युग में ऐसे कानून स्वीकृत किये जिनसे भारतीय वस्त्रों का पहनना या उनका अन्य उपयोग करना निषिद्ध कर दिया गया। सन् १७८० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों ने बंगाल से सूती वस्त्रों को इंगलैण्ड में कम्पनी द्वारा आयात करना निषिद्ध कर दिया। इंगलैण्ड में सूती वस्त्रों के आयात को रोकने के लिए शासन ने जो कानून बनाये थे उनसे इंगलैण्ड के वस्त्र-उत्पादन को खूब प्रोत्साहन मिला। इसी बीच मशीनों के प्रयोग तथा वाष्प-शक्ति के उपयोग से इंगलैण्ड के वस्त्र-उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हो गयी। फलतः भारत में

इंगलैण्ड से उत्पादित कपड़ा अत्यधिक मात्रा में ईस्ट इण्डिया कम्पनी व बाद में अंग्रेज व्यापारियों द्वारा लाया जाने लगा और भारतीय वस्त्र-उत्पादन व्यवसाय इस प्रतिस्पर्द्धा में न टिक सका।

३. देश की अव्यवस्थित राजनीतिक दशा—अंग्रेजी शासन के प्रारम्भिक युग में अंग्रेजों की कूटनीति तथा पारस्परिक युद्धों से देश में अव्यवस्था बनी रही जिसके फलस्वरूप देश में व्यापार व व्यवसाय उन्नति करने में सर्वथा असमर्थ रहे।

४. पूँजी और व्यापार—यदि देश का बाह्य व्यापार अंग्रेजों के हाथ में आ गया था तो आन्तरिक व्यापार भी अंग्रेजों के साथ-साथ उनके सहायक एक विशिष्ट व्यापारिक समुदाय के हाथ में चला गया जिससे देश की पूँजी, व्यापार, व्यवसाय, उद्योग व उत्पादन की वृद्धि में लगने की अपेक्षा देश से निर्यात ही होती रही। जो कुछ पूँजी अवशिष्ट रही वह कृषि में लग गयी। कालान्तर में देश का वाणिज्य-व्यापार यूरोपीय लोगों के हाथ में जाने के कारण यहाँ उन्होंने अपनी व्यापारिक व्यवस्था और पाश्चात्य बैंकिंग प्रणाली स्थापित की जिसमें भारतीयों का भाव नगण्य था।

५. भारतीय सरकार की उदासीनता—भारत के उद्योगों और व्यवसायों के प्रति अंग्रेज सरकार की नीति अकर्मण्यता की रही। भारतीय कलाओं और उद्योगों को प्रोत्साहित करने में सरकार उदासीन और असमर्थ रही। उसने भारतीय उद्योगों के संरक्षण के हेतु न तो कोई विशिष्ट नीति अपनायी और न उद्योग की अवनति को रोकने का कोई सफल प्रयास ही किया। इसके विपरीत यहाँ की अंग्रेज सरकार ने देश की औद्योगिक प्रगति में रोड़े अटकाये और इंगलैण्ड के उद्योग-व्यवसायों को प्रोत्साहित किया।

उपरोक्त कारणों का प्रभाव यह हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विश्व के वाणिज्य-व्यापार तथा उद्योग-व्यवसायों में दो सहस्र वर्षों से भारत का जो श्रेष्ठ पद था वह विनष्ट हो गया। धीरे-धीरे वह कच्चे माल के उत्पादन का देश और मशीनों द्वारा पश्चिम में बनाये हुए सस्ते माल की विशाल मण्डी में परिवर्तित कर दिया गया। यहाँ की विदेशी सरकार ने इस दुर्भाग्य को टालने का कोई प्रयास नहीं किया।

भारतीय वाणिज्य व उद्योग, सन् १८५८-१९०५ तक—उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध में जब सन् १८१९ में स्वेज नहर का मार्ग खुल गया, तब भारत का बाह्य-व्यापार अत्यधिक बढ़ गया। इस नहर के प्रारम्भ होने के पाँच वर्ष में भारत का वार्षिक आयात व निर्यात प्रति वर्ष लगभग ९० करोड़ रुपये का था, सन् १९२८-२९ में यह ६०० करोड़ रुपये का हो गया। इस व्यापार में निर्यात की अपेक्षा आयात का भाग अधिक रहता था। भारत में बनी हुई

वस्तुएँ अब भारत से वाह्य देशों को जाने की अपेक्षा इंगलैण्ड और यूरोप के देशों की मशीनों से बनी हुई सस्ती वस्तुएँ भारत में आने लगीं तथा भारत कच्चा माल जैसे कपास, जूट, तिलहन, गेहूँ, चाय आदि वाह्य देशों को भेजने लगा। अंग्रेजी शासन द्वारा स्थापित शान्ति, व्यवस्था व सुरक्षा तथा रेल, सड़क, तार, डाक, नहर, जलपोत, जैसे आवागमन के साधनों के विकास के कारण एवं मुक्त-व्यापार नीति (Free Trade Policy) अपनाने से भारत के आन्तरिक व वाह्य व्यापार में अत्यधिक वृद्धि हुई।

अंग्रेजी शासन, पाश्चात्य सभ्यता व शिक्षा ने तथा मशीनों द्वारा निर्मित सस्ती वस्तुओं ने भारतीयों की सामाजिक व आर्थिक रुचि में परिवर्तन कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में ही निर्मित वस्तुएँ धीरे-धीरे बाजारों में से अदृश्य होने लगीं और उनका स्थान मशीनों से बनी हुई विदेशी वस्तुओं ने ले लिया। इससे भारत के गृह उद्योग विनष्ट हो गये। भारत में आने वाली वस्तुओं में प्रधानतया अब विलास की सामग्री थी जैसे रेशमी व सूती वस्त्र, चमड़ा और चमड़े की वस्तुएँ, कमरों की सजावट का सामान, फर्नीचर, घड़ियाँ, चीनी व काँच की वस्तुएँ, बरतन, कागज, खिलौने, स्टेशनरी, सिगरेट, सुवासित पदार्थ, तेल, खेल के सामान, गाड़ियाँ, साइकिलें, मोटरें व मोटर-साइकिलें आदि। दैनिक जीवन की अनेक नवीन अनिवार्य वस्तुओं का भी हमारे देश में आयात होने लगा, उदाहरणार्थ दियासलाई, साबुन, टॉर्च, अल्यूमीनियम और लोहे के पालिश किये हुए बरतन व वस्तुएँ, छाते, सीने की मशीनें, काँच और सस्ते चीनी के बरतन, मिट्टी का तेल, आदि।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में कतिपय शिक्षित भारतीय दूरदर्शी उद्योगपति और व्यवसायी तत्कालीन आर्थिक नीति तथा व्यावसायिक परिवर्तन को समझने लगे थे। फलतः धीरे-धीरे भारतीय उद्योगों का आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से संगठन किया जाने लगा। कपास, जूट, लोहा, कागज, चमड़ा आदि के उद्योग बड़े पैमाने पर संगठित किये गये। यद्यपि इनमें से अधिकांश की व्यवस्था व पूंजी यूरोपीय लोगों की थी तथापि यह शुभ प्रारम्भ था। औद्योगिक पुनर्जागरण का यह सूत्रपात था। यद्यपि कलकत्ता में सन् १८१८ में एक सूती कपड़े की मिल स्थापित हो गयी थी तथापि इसका प्रारम्भ वस्तुतः बम्बई में सन् १८५४ में हुआ जबकि वहाँ सर्वप्रथम कपड़े की मिल खोली गयी। सन् १८७७ के बाद रुई-उत्पादन के क्षेत्रों में जैसे नागपुर, अहमदाबाद, शोलापुर आदि स्थानों में अनेक सूती कपड़े के कारखाने स्थापित किये गये। सन् १९०५ के स्वदेशी आन्दोलन ने इस उद्योग को अत्यधिक प्रोत्साहित किया और देश के विभिन्न स्थानों में अनेक मिलों का निर्माण किया गया। इस उद्योग को इंगलैण्ड के मैनचेस्टर और लंकाशायर के मिलों के कपड़ों की

प्रतिस्पर्द्धा, इंगलैण्ड का संरक्षण और मुक्त-व्यापार की नीति तथा भारत में अंग्रेजी शासन की उदासीनता का सामना करना पड़ा। फलतः इसकी प्रगति धीमी रही।

भारतीय व्यापार, व्यवसाय व उद्योग, सन् १९०५ से १९४७ तक—सुदीर्घकाल तक भारत के व्यापारिक क्षेत्र में इंगलैण्ड का सर्वोपरि अधिकार व सत्ता रही। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चात् भारतीय व्यापार के क्षेत्र में विश्व के अन्य देश जैसे जर्मनी, अमरीका, जापान आदि भी आ गये। परिणामस्वरूप प्रतिस्पर्द्धा और वाणिज्य दोनों की ही वृद्धि हुई। परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१९१८) के कारण यह व्यापार कम हो गया, विशेषकर भारत में आयात। इस युद्ध के पश्चात् देश के वाणिज्य-व्यापार में वृद्धि हुई, परन्तु १९३२-३४ के आर्थिक पतन (economic depression) के कारण इसमें क्षति हुई और भारत का आयात व निर्यात दोनों ही कम हो गये। द्वितीय विश्वयुद्ध से पुनः इस व्यापार में खूब वृद्धि हुई। एशिया, अफ्रीका व यूरोप के देशों के साथ भारत का व्यापार बढ़ा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लॉर्ड कर्जन के शासनकाल से अंग्रेजी सरकार की औद्योगिक नीति में परिवर्तन होने लगा। अकर्मण्यता व उदासीनता की नीति पहले की अपेक्षा कम होने लगी और औद्योगीकरण की दिशा में विशेष प्रयत्न किया जाने लगा। राजनीतिक आन्दोलन, देश की दरिद्रता, दुर्भिक्ष और आर्थिक असन्तोष ने भी अंग्रेजी सरकार को अपनी नीति बदलने के लिए बाध्य किया। सन् १९०५ में व्यापार व उद्योग के लिए एक सरकारी विभाग (Imperial Department of Commerce and Industries) खोला गया। प्रथम विश्वयुद्ध ने भारत की औद्योगिक दरिद्रता ही प्रकट नहीं की अपितु सरकार को भी औद्योगीकरण का सैनिक व आर्थिक महत्त्व विदित करा दिया। फलतः सैनिक आवश्यकता से विवश होकर अंग्रेज सरकार को औद्योगिक विकास के लिए सक्रिय नीति अपनानी पड़ी और फरवरी १९१७ में उसने म्युनीशन बोर्ड (Munitions Board) की स्थापना की; यद्यपि इस बोर्ड का कर्तव्य सरकारी भण्डार गृहों की वस्तुओं की खरीद और युद्ध-सामग्री के निर्माण क्रय पर नियन्त्रण रखना था तथापि भारतीय कारखानों से सामग्री मोल लेकर तथा उद्योग सम्बन्धी अनेक प्रकार की नवीन सूचनाएँ देकर इसने भारतीय औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित किया। भारतीय जनता की औद्योगीकरण की माँग को सन्तुष्ट करने के लिए सरकार ने सन् १९१६ में इण्डस्ट्रियल कमीशन (Industrial Commission) की स्थापना की। इसका उद्देश्य औद्योगिक विकास की योजना बनाना, व्यापार तथा उद्योग में भारतीय पूंजी को लगाने के नवीन साधन बतलाना और उद्योगों को प्रोत्साहित करने के नवीन उपाय सरकार को सुझाना था। इस कमीशन के

सुझावों को सरकार ने स्वीकृत कर उन्हें कार्यान्वित करने का प्रयास किया। इसी कमीशन के आधार पर उद्योगों के लिए एक राजकीय विभाग "Department of Commercial Intelligence and Statistics" खोला गया। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रान्त में भी औद्योगिक विभाग की स्थापना की गयी जिससे केन्द्र और प्रान्त की सरकारें इस क्षेत्र में परस्पर सहयोगपूर्वक कार्य कर सकें। सन् १६१६ के सुधारों के बाद सरकार ने सन् १६२१ में एक 'फिसकल कमीशन' (Fiscal Commission) की स्थापना की। इसने संरक्षण की नीति का सुझाव रखा। अतएव सन् १६२३ में उद्योग-धन्धों के संरक्षण के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करने के हेतु सरकार ने 'आयात बोर्ड' (Tariff-Board) की स्थापना की। इसकी सिफारिशों के आधार पर लोहा, फौलाद, सूत, कागज, शक्कर, नमक, दियासलाई और अन्य उद्योगों को संरक्षण मिल गया।

सन् १६३० के बाद अनेक कानूनों द्वारा आयात व निर्यात में महत्त्वशाली परिवर्तन कर दिये गये। इन कानूनों में सन् १६३२ का Indian Tariff Amendment Act विशेष उल्लेखनीय है। इस कानून से भारत में इंगलैण्ड और अंग्रेजी उपनिवेशों में आने वाले माल को विशेष सुविधाएँ प्रदान की गयीं जिससे भारत के उद्योगों को आघात पहुँचा। इसी बीच देश की औद्योगिक तथा व्यापारिक प्रगति के लिए सरकार ने विदेशों से अनेक समझौते किये और बाह्य देशों में भारतीय ट्रेड कमिश्नर नियुक्त किये।

प्रान्तीय सरकारें भी औद्योगिक विकास के विषय में अब धीरे-धीरे अपनी-अपनी योजनाएँ कार्यान्वित करने लगीं और देश में स्थापित गैर-सरकारी भारतीय व्यापारिक संस्थाओं (Indian Chambers of Commerce) ने भी उद्योग-धन्धों के विकास के लिए प्रयास करना प्रारम्भ किया। सन् १६३७ में जब प्रान्तों में लोकप्रिय सरकारें स्थापित हुईं तब औद्योगिक योजनाओं को कार्यान्वित करने के प्रयत्न किये गये और पण्डित नेहरू की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय योजना समिति स्थापित हुई। परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध (सन् १६३६-४५) के प्रारम्भ हो जाने से इस दिशा में कोई उल्लेखनीय कदम नहीं उठाया जा सका। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय भारत में युद्ध-सामग्री बनाने के हेतु विभिन्न प्रकार के कल-कारखानों का निर्माण हुआ। इससे औद्योगिक शिक्षा की प्रगति हुई एवं देश के औद्योगिक और व्यावसायिक विकास को प्रोत्साहन मिला। युद्ध की समाप्ति पर सरकार की औद्योगिक-नीति में परिवर्तन हुआ और इस आशय की घोषणा की गयी कि देश के प्रमुख व्यवसायों व उद्योगों जैसे लोहा, फौलाद के कारखानों, कोयले की खानों, रासायनिक पदार्थों का उत्पादन करने वाले कारखानों एवं इंजन, मशीनों के पुर्जे, रेडियो, जहाज

बनाने वाले कल-कारखानों की व्यवस्था व नियन्त्रण सरकार के हाथों में रहेंगे। सन् १६४७ में जब देश को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई एवं राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो गयी तब सरकार ने राष्ट्रीयकरण (nationalisation) की नीति अपनाने की घोषणा की, परन्तु देश की दशा को देखते हुए प्रमुख उद्योगों का राष्ट्रीयकरण दस वर्ष के लिए स्थगित कर दिया गया। फिर भी राष्ट्रीय सरकार अनेक उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन दे रही है और स्वयं भी विशाल कारखाने खोल रही है। चितरंजन में रेलवे इंजन बनाने का विशाल कारखाना, सिन्दरी में वैज्ञानिक ढंग के खाद बनाने के तथा पूना के पास पेनिसिलिन बनाने के कारखाने स्थापित किये गये हैं। मशीनें, रासायनिक पदार्थ आदि की आवश्यकताएँ अधिकांश में देश में उत्पन्न हुई वस्तुओं से पूर्ण होने लगी हैं। सीमेण्ट, काँच, चमड़ा, जूट, कागज, प्लास्टिक, रबर, रेशम, फौलाद, शक्कर, सूती वस्त्र, वनस्पति घी, ऊनी वस्त्र, जहाज बनाने आदि के उद्योग-धन्धों में प्रभूत प्रगति हो रही है। खनिज उत्पादन और शोधन का उद्योग भी उन्नति कर रहा है। इस प्रगति व परिवर्तन के फलस्वरूप देश के वाणिज्य-व्यापार का स्वरूप भी बदल गया, स्वयं सरकार की व्यापारिक नीति भी परिवर्तित हो गयी। अब देश से कच्चे माल का निर्यात घट गया। उसका अधिक उपयोग अब देश में ही किया जाने लगा। इसी प्रकार विभिन्न वस्तुओं का आयात सरकारी नियन्त्रण में होने लगा। उन्हीं वस्तुओं को देश में मँगाने के लाइसेंस दिये जाते हैं जिनकी अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है। अब व्यापारिक नीति का यह उद्देश्य हो गया है कि देश में बनायी हुई वस्तुओं का निर्यात बाह्य देशों की वस्तुओं के आयात के अनुपात में अधिक किया जाय जिससे देश को अधिक धन (favourable trade balance) प्राप्त हो।

औद्योगिक श्रम

श्रम-आन्दोलन व श्रमिक संघ (Trade Unions)—भारत में औद्यौगीकरण के साथ-साथ औद्योगिक श्रम और उसकी समस्याओं का सूत्रपात भी हुआ। मिलों और कारखानों के मालिकों व उद्योगपतियों ने न तो श्रमिकों की दशा की ओर ध्यान दिया और न आधुनिक उद्योगवाद के अभिशापों से श्रमिकों की रक्षा करने के हेतु सरकार ने किसी प्रकार से कोई हस्तक्षेप किया।

नवीन कारखानों व मिलों के कारण औद्योगिक श्रमिकों में प्राचीन सदाचार-युक्त पारिवारिक जीवन नहीं रहा। उनमें धार्मिक नियन्त्रण व जातीय बन्धन ढीले पड़ गये। उनके निवास स्थानों की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी। उन्हें या तो अस्वास्थ्यप्रद चालों में अथवा गन्दी मजदूर बस्तियों में रहना पड़ता था। उनके जीवन की नैतिकता का सदैव ह्रास होने लगा। ऐसी दशा में उन्हें जीवन के नये-नये प्रलोभन व दुर्गुण आकर्षित करने लगे। इसमें उन्हें

अधिक मजदूरी मिलने से और भी अधिक सहायता मिलने लगी। उन्हें प्रारम्भ में मिलों व कारखानों में प्रतिदिन बारह घण्टे कार्य करना पड़ता था। उनके काम करने के स्थानों में शुद्ध वायु एवं प्रकाश का समुचित प्रबन्ध नहीं था। निरन्तर दीर्घ समय तक एकसा कार्य करते रहने से वे थक जाते थे। उनके लिए कोई निश्चित विश्राम काल, स्थान व मनोरंजक के साधन नहीं थे। न तो उनके लिए स्वास्थ्य, स्वच्छता व चिकित्सा का कोई प्रबन्ध ही था और न उनके बालकों के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था ही थी। उनके काम के परिणाम व समय को देखते हुए उन्हें वेतन भी कम प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त वे सदैव उद्योगपतियों व मिलमालिकों के अत्याचार व अन्याय के शिकार बने रहे। यह क्रम वर्षों तक चलता रहा। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप अनेक कल-कारखानों में श्रमिकों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि होने लगी। इस वृद्धि के साथ-साथ श्रमिकों में कष्टों की सामूहिक अनुभूति भी बढ़ने लगी। धीरे-धीरे श्रमिकों में जागृति होने लगी।

श्रमिक जागृति के साथ-साथ श्रमिकों के संगठन भी निर्मित होने लगे। प्रारम्भ में ये संगठन छोटे और स्थानीय होते थे। परन्तु कालान्तर में ये देश-व्यापी हो गये। सर्वप्रथम सन् १८९० में बम्बई में मिल मजदूर सभा स्थापित की गयी। इसके पश्चात् रेल कर्मचारी समाज (१८९७), कलकत्ता मुद्रण संघ (१९०५), बम्बई डॉक संघ, तथा कामगार हितवर्द्धक सभा बम्बई, (१९०९) की स्थापना हुई।

परन्तु देशव्यापी मजदूर संघवाद औद्योगिक विकास और श्रमिक असंतोष के कारण हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के समय श्रमिकों का जीवन महँगाई के कारण अत्यन्त ही कष्टमय हो गया था। युद्धकाल में पूँजीपतियों ने अनेक उद्योग-धन्धों द्वारा अपरिमित धनोपार्जन किया, परन्तु श्रमिकों की ओर उन्होंने किंचित् भी ध्यान नहीं दिया। परिणामस्वरूप श्रमिकों में अशान्ति की भावना बढ़ने लगी। उनमें एक जागृति और चेतना उत्पन्न हुई एवं अपनी कठिनाइयों को दूर करने की माँग प्रस्तुत करने के लिए उनमें एक संगठित संघर्ष करने की शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने इस आवश्यकता का अनुभव किया कि उन्हें विनाश से अपनी रक्षा करने एवं उस पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए अपने भीतर एक संगठित कार्य-शक्ति उत्पन्न करने का प्रयास करना चाहिए। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् औद्योगिक और व्यावसायिक उन्नति बड़ी तीव्रता से हुई। इससे मजदूरों की माँग में भी वृद्धि हुई। वे अपनी माँगों की पूर्ति के लिए हड़ताल का अधिकाधिक आश्रय लेने लगे। पारस्परिक संयुक्त प्रयत्न और संगठन के बल पर उन्हें सफलता भी उपलब्ध होने लगी। परिणामस्वरूप मजदूर संगठन दृढ़तर होने लगा।

परन्तु श्रमिक संगठन की दशा में निश्चित महत्त्वपूर्ण कदम प्रथम विश्व-युद्ध के बाद उठाये गये। सन् १९१८ में बी० पी० वाडिया ने मद्रास लेबर यूनियन की स्थापना की और सन् १९२० में नारायण मल्हार जोशी ने सर्व-प्रथम अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की। इसी वर्ष अखिल भारतीय रेलवेमेन्स फेडरेशन की स्थापना भी हुई। इसका सम्बन्ध ट्रेड यूनियन काँग्रेस से था। इसके पश्चात् देश के औद्योगिक व व्यावसायिक केन्द्रों में श्रमिक संघों का प्रादुर्भाव हुआ और हड़तालें होने लगीं। इन श्रमिक संघों को कानूनी रूप देने के लिए सन् १९२६ में इण्डियन ट्रेड यूनियन एक्ट स्वीकृत हुआ। इससे श्रमिकों को वैध रूप में कार्य करने का अधिकार प्राप्त हो गया। श्रमिकों की निरक्षरता, उचित नेतृत्व का अभाव, भारतीय श्रमिकों का कृषि सम्बन्धी दृष्टिकोण एवं उनमें विभिन्न जाति, सम्प्रदाय व वर्गों के लोगों के होने से श्रमिक संघों की प्रगति अवरुद्ध होने लगी, परन्तु फिर भी श्रमिक संघ आन्दोलन विस्तृत होने लगा। सन् १९२९ में कम्युनिस्टों के कारण ट्रेड यूनियन कांग्रेस में मतभेद हो गया और नरम दल ने उससे अलग होकर ट्रेड यूनियन फेडरेशन के नाम से अपना अलग संगठन बना लिया। सन् १९३१ में कलकत्ता में ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अधिवेशन पर उसमें फिर मतभेद हो गया और वामपक्षियों ने ऑल इण्डिया रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की। इस प्रकार श्रमिकों की तीन संस्थाएँ हो गयीं, जिनमें से एक कम्युनिस्टों की, दूसरी नरम दल वालों की और तीसरी शेष बचे हुए लोगों की थी। यह फूट छह वर्ष तक बनी रही, परन्तु सन् १९३८ में मतभेद दूर हो गया और ट्रेड यूनियन कांग्रेस तथा ट्रेड यूनियन फेडरेशन सम्मिलित हो गये।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की नीति युद्ध में तटस्थ रहने की थी, परन्तु उसका एक दल युद्ध प्रयत्न में सहायता करने के पक्ष में था। अतः इस दल ने श्री एम० एन० राय और जमनादास मेहता के नेतृत्व में नवीन श्रमिक संघ स्थापित किया जिसका नाम इण्डियन फेडरेशन ऑव लेबर रखा गया। ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस में साम्यवादी दल का प्राधान्य होने से, उसमें राष्ट्रीय कांग्रेस के जो मजदूर नेता थे उन्होंने श्रमिकों का एक नया संगठन बनाने का निर्णय किया। अतएव सन् १९४७ के मई माह में इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस नामक संस्था स्थापित की गयी। इस संस्था की नीति यह है कि हड़ताल उसी समय होनी चाहिए जबकि श्रमिकों के सम्मुख अन्य कोई मार्ग ही न रहे। आज भारत के श्रमिकों की सबसे बड़ी संस्था यही है। अन्तरराष्ट्रीय श्रमिक संगठन (I. L. O.) ने भी इसे भारत के श्रमिकों की प्रतिनिधि संस्था स्वीकृत कर लिया है। सन् १९४८ में भारत की समाजवादी पार्टी ने समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के उद्देश्य से हिन्द

मजदूर सभा की स्थापना की। इस सभा का उद्देश्य श्रमिकों के शोषण क अन्त कर समाजवादी समाज की स्थापना करना है।

श्रमिकों की दशा सुधारने के प्रयत्न—श्रमिक आन्दोलन और संगठन वे कारण सार्वजनिक जागृति की पृष्ठभूमि में सरकार ने श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए निम्नलिखित अनेक महत्त्वपूर्ण कानून बनाये और मिल तथा कारखाने के मालिकों ने भी अनेक सुविधाएँ प्रदान कीं।

सन् १९११ में फैक्टरी एक्ट बनाया गया जिसके अनुसार स्त्रियों तथ बालकों के काम करने के घण्टे क्रमश: नौ और सात कर दिये गये और आधे घण्टे का अवकाश अनिवार्य कर दिया गया। औद्योगिक श्रमिकों के स्वास्थ्य व सुरक्षा के हेतु भी कुछ नियम बनाये गये। सन् १९२१ में वाशिंगटन में अन्तर-राष्ट्रीय श्रम कान्फ्रेंस हुई थी, जिसके सुझावों के आधार पर भारत में श्रमिकों के हेतु सन् १९२२ में कानून बनाया गया। इसके अनुसार बारह वर्ष की आयु से कम के बालकों का कारखाने में काम करना निषिद्ध कर दिया गया उनके काम करने के प्रतिदिन ६ घण्टे कर दिये गये, अनिवार्य विश्राम निश्चित कर दिया गया, प्रौढ़ श्रमिकों के हेतु काम के ग्यारह घण्टे कर दिये गये, समय से अधिक काम करने के लिए उन्हें अधिक वेतन देना निश्चित कर दिया गया और सप्ताह में एक दिन छुट्टी का रखा गया। सन् १९२३ में वर्कमेन्स कम्पेन-सेशन एक्ट (Workmen's Compensation Act) पास हुआ। इसके अनुसार विभिन्न वर्गों के औद्योगिक श्रमिकों को विशिष्ट प्रकार की चोट लगने तथा मृत्यु हो जाने पर उनकी क्षतिपूर्ति की जाती थी।

औद्योगिक अशान्ति, श्रमिक आन्दोलन का प्रभाव और जिनेवा में अन्तरराष्ट्रीय श्रमिक संगठन में भारत की सदस्यता के कारण श्रमिकों की दशा को सुधारने के लिए प्रोत्साहन मिला। फलत: सन् १९२९ में तत्कालीन औद्योगिक श्रमिकों की दशा की जाँच करने और सुधार के लिए सुझाव रखने के हेतु रॉयल कमीशन की नियुक्ति हुई। सन् १९३१ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसमें किये गये कतिपय सुझावों को केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों ने कार्यान्वित किया। इसके पश्चात् सन् १९३४ में एमेण्डमेण्ट ऑव दी वर्कमेन्स कम्पेनसेशन एक्ट (Amendment of the Workmen's Compensation Act) और सन् १९३४ में इण्डियन फैक्टरीज एक्ट स्वीकृत हुए। इस फैक्टरी एक्ट के अनुसार बारह वर्ष से कम आयु के बालकों का कारखानों में काम करना निषिद्ध कर दिया गया, उनके लिए प्रतिदिन ५ घण्टे का काम निश्चित कर दिया गया, बालकों व स्त्रियों से दिन में ही काम कराने का नियम बना दिया गया, स्थायी कारखानों में श्रमिकों को एक सप्ताह में ४८ घण्टे और मौसमी कारखानों में ५० घण्टे काम करने का नियम बना दिया गया, एक वर्ष तक काम

करने पर सवेतन अवकाश का नियम एवं नियत घण्टों के अतिरिक्त काम करने पर दूने वेतन की दर देने का नियम बना दिया गया। कारखानों में स्वच्छता, प्रकाश तथा हवा एवं बड़े कारखानों में भोजनालय (canteens) की व्यवस्था की गयी। इसके अतिरिक्त सन् १९३४ में ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट (Trades Disputes Act) बना। इसके अनुसार कारखाने वालों और श्रमिकों के झगड़ों की जाँच करने के लिए स्वतन्त्र व्यक्तियों की कचहरी तथा दोनों दलों के प्रतिनिधियों को सम्मिलित करके समझौता करने वाले बोर्ड (Conciliation Board) स्थापित करने की व्यवस्था की गयी। सन् १९३६ में पेमेण्ट ऑव वेजेज एक्ट स्वीकृत हुआ जिससे श्रमिकों के वेतन नियमित करने का प्रयास किया गया। सन् १९३६ में इण्डियन माइन्स एक्ट भी स्वीकृत हुआ। इसके अनुसार कारखानों में काम करने वालों के लिए भी एक दिन में अधिक से अधिक १० और एक सप्ताह में ५४ घण्टे काम लेने का प्रबन्ध किया गया। तेरह वर्ष से कम आयु वाले बालकों तथा स्त्रियों का खानों में काम करना निषिद्ध कर दिया गया एवं श्रमिकों को एक सप्ताह में एक दिन की छुट्टी अनिवार्य कर दी गयी। इस माइन्स एक्ट का भी कई बार संशोधन किया गया। सन् १९४८ में कोल माइन्स प्रॉविडेण्ट फण्ड एण्ड बोनस स्कीम एक्ट (Coal Mines Provident Fund and Bonus Scheme Act) स्वीकृत हुआ जिसके द्वारा खानों में काम करने वालों के लिए प्रॉविडेण्ट फण्ड तथा बोनस की सरकार द्वारा प्रथम बार व्यवस्था करने का प्रयत्न किया गया।

उपरोक्त कानूनों के अतिरिक्त विभिन्न प्रान्तों में Y. M. C. A., The Social Service League, The Depressed Classes Mission Society आदि संस्थाओं के द्वारा श्रमिकों की दशा सुधारने के प्रयत्न किये गये। सन् १९३७ के बाद जब देश के विभिन्न प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल स्थापित हुआ तब बिहार, बम्बई, कानपुर, मध्य प्रदेश आदि स्थानों में श्रमिकों की दशा की जाँच करने एवं उसके लिए सुझाव प्रस्तुत करने हेतु विभिन्न कमेटियाँ स्थापित की गयीं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय और उसके बाद श्रमिकों की दशा सुधारने की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया गया। इसी बीच पूँजीवाद तथा श्रम की सभ्यता भी बढ़ी और मिलमालिकों तथा श्रमिकों के पारस्परिक झगड़ों में भी वृद्धि हुई। अतएव सन् १९४७ में औद्योगिक विवाद अधिनियम (Industrial Disputes Act) स्वीकृत हुआ। इसके अनुसार उस कारखाने के मालिक को जिसमें सौ से अधिक श्रमिक काम करते हैं, झगड़े के कारणों को दूर करने के लिए एक वर्क्स कमेटी (Works Committee) स्थापित करना अनिवार्य कर दिया गया। झगड़ों को मिटाने के लिए समझौता करने वाले अधिकारियों (Conciliation Officer) की नियुक्ति भी अनिवार्य कर दी

गयी। सार्वजनिक उपयोगिता वाले कारखानों में समस्त झगड़ों के हेतु समझौता करना अनिवार्य हो गया एवं उनमें छह सप्ताह का नोटिस दिये विना हड़ताल करना गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। सन् १९४८ में एक नवीन फैक्टरीज एक्ट स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार किसी कारखाने में कोई भी उस समय तक नियुक्त नहीं किया जायगा जब तक उसके स्वास्थ्य एवं सुरक्षा की समुचित व्यवस्था न की जाय। इस कानून के अतिरिक्त इसी वर्ष एम्पलॉयीज स्टेट इन्श्योरेन्स कॉरपोरेशन एक्ट (Employees' State Insurance Corporation Act) स्वीकृत हुआ। इससे श्रमिकों को अपने स्वास्थ्य तथा आकस्मिक घटनाओं के लिए बीमा कराना अनिवार्य हो गया।

कृषि

अंग्रेज सरकार की कृषि-नीति—अंग्रेजी शासन के पूर्व भारत में उद्योग-व्यवसाय और कृषि दोनों में संतुलन था। कृषि के साथ-साथ अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे होते थे। परन्तु अंग्रेज शासकों ने ऐसी नीति अपनायी कि भारत कृषि पर निर्भर रहने के लिए बाध्य हो गया और कालान्तर में कृषि-जीवन भी अस्तव्यस्त हो गया, देश की भूमि-शक्ति नष्ट हो गयी एवं खाद्यान्न पूर्ति के लिए अब विदेशों का मुँह ताकना पड़ा।

अंग्रेजी शासन के समय जब इंगलैण्ड व यूरोप का मशीनों से बना हुआ सस्ता माल भारत में बिकने लगा, तब भारत में यहाँ का हाथ का बना हुआ माल उसकी प्रतिस्पर्द्धा न कर सका एवं भारतीय उद्योग-धन्धे अवनत होने लगे। इस बीच यातायात के साधनों में सुधार होने से देश में मशीनों से बनी विदेशी वस्तुओं की और भी अधिक भरमार हो गयी। इससे उद्योग-व्यवसायों के नष्ट होने में सहायता प्राप्त हुई। फलतः जीविकोपार्जन हेतु लोग कृषि की ओर झुके। कृषि के लिए भूमि की माँग बढ़ने लगी। इसी बीच जनसंख्या भी बढ़ने लगी और लोग भूमि पर ही आश्रित होकर रहने लगे। इससे जीवन-निर्वाह के लिए कृषि को अधिक भार सहना पड़ा। परन्तु कृषि में प्राचीन पद्धतियों का ही प्रयोग किया गया। नवीनता को न अपनाने से कृषि की उन्नति न हो सकी। इसके अतिरिक्त कृषकों के पास जो कुछ भी भूमि थी वह कई छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त हो गयी। जमींदारी प्रथा, बेगार की रस्म, प्राकृतिक विपत्तियाँ और महाजन के कर्जे से कृषकों की दशा और भी हीन हो गयी। इन सबका परिणाम यह हुआ कि कृषि से निर्वाह करना भी दुष्कर हो गया, बेकारी द्रुतगति से बढ़ने लगी और समाज में एक ऐसा निम्नतम निर्धन वर्ग उत्पन्न हो गया जिसके पास कोई सम्पत्ति नहीं रह गयी।

उपरोक्त समस्याओं को हल करने के लिए दो उपाय थे—प्रथम, औद्योगीकरण जिससे कृषि का भार कम हो व बेकारी तथा दरिद्रता दूर हो; द्वितीय,

कृषि में नवीन वैज्ञानिक ढंगों को अपनाकर उत्पादन में वृद्धि कर उन्नति की जाय। परन्तु अंग्रेज शासकों ने इन उपायों को नहीं अपनाया। उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक देश के औद्योगीकरण को यथासम्भव रोकने का प्रयास किया और कृषि को उन्नत करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया।

कृषि की प्रगति व कृषि-विभाग—प्रारम्भ में अंग्रेज शासन में कृषि का कोई पृथक् विभाग नहीं था। सन् १८८० अकाल आयोग (Famine Commission) की सिफारिशों पर विभिन्न प्रान्तों में कृषि-विभाग खोले गये। सन् १६०१ में केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों को कृषि सम्बन्धी परामर्श देने के लिए इन्सपेक्टर जनरल आॅव एग्रीकल्चर नामक अधिकारी नियुक्त किया गया। परन्तु सन् १६१२ में यह पद तोड़ दिया गया और उसके कर्तव्य पूसा के डाइरेक्टर आॅव एग्रीकल्चर रिसर्च इन्स्टीट्यूट को सौंप दिये गये। यह सन् १६२६ तक भारत सरकार का कृषि-परामर्शदाता रहा।

वैज्ञानिक ढंग के आधार पर कृषि को प्रोत्साहन देने के लिए सर्वप्रथम उल्लेखनीय प्रयत्न लार्ड कर्जन के शासनकाल में हुआ। कृषि के वर्तमान विभाग का श्रेय लार्ड कर्जन को है। सन् १६०५ में लार्ड कर्जन के प्रयास से केन्द्रीय व प्रान्तीय कृषि-विभाग का ठीक दिशा में पुनर्संगठन हुआ। उच्च कृषि शिक्षा के लिए सन् १६०३ में पूसा में एग्रीकल्चर इन्स्टीट्यूट की स्थापना हुई। सन् १६०५ में भारत सरकार को कृषि सम्बन्धी सिफारिशें करने के लिए अखिल भारतीय कृषि बोर्ड की स्थापना की गयी। सन् १६०६ में इण्डियन एग्रीकल्चर सर्विस निर्मित की गयी। क्रमशः कृषि-विज्ञान की शिक्षा के लिए स्कूलों और कालिजों की व्यवस्था की गयी। सन् १६०८ में पूना में कृषि कालिज की स्थापना की गयी और ऐसे ही कालिज कालान्तर में लायलपुर, नागपुर, कानपुर, कोयम्बटूर, बयटला और माण्डले में खोले गये। इस समय देश के विभिन्न प्रान्तों में बहुत से कालिजों में कृषि सम्बन्धी शिक्षा दी जा रही है।

सन् १६१६ के सुधारों के बाद कृषि प्रान्तीय विभाग हो गया परन्तु कृषि की अनुसन्धान संस्थाओं का उत्तरदायित्व भारत सरकार पर ही रहा। कृषि सम्बन्धी नियुक्त लिनलिथगो कमीशन ने सन् १६२८ में कृषि की विभिन्न समस्याओं के विषय में विस्तृत सुझाव प्रस्तुत किये। इसकी सिफारिशों के आधार पर सन् १६२६ में इम्पीरियल कौंसिल आॅव एग्रीकल्चर रिसर्च की स्थापना हुई। इसका प्रमुख कर्तव्य कृषि सम्बन्धी अनुसन्धान को प्रोत्साहित करना तथा प्रान्तों के कृषि-विभागों को इस विषय में सहायता देना था। कृषि की उपज को बेचने के लिए अधिक सुविधा प्रदान करने के हेतु भारत सरकार ने सन् १६३५ में एक केन्द्रीय मार्केटिंग विभाग खोला जो विभिन्न प्रान्तों को भी इस क्षेत्र में सहायता देता रहा है। सन् १६३७ में प्रान्तों में

उत्तरदायी सरकार स्थापित हो जाने के बाद प्रान्तों में कृषकों की रक्षा तथा समृद्धि के लिए कानून पास किये गये जिनसे वे जमींदार व महाजन के चंगुल व अत्याचार से बच सकें। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् कृषि के क्षेत्र में अधिक प्रगति करने का प्रयास किया गया। खाद्य-संकट का सामना करने के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन प्रारम्भ किया गया एवं अनेक प्रान्तों में बंजर भूमि को तथा वन्य-प्रदेशों को ट्रैक्टरों और वैज्ञानिक ढंगों से कृषि के उपयुक्त बनाया गया। वर्षा बढ़ाने के लिए नये पेड़ लगाये जा रहे हैं। उत्तमोत्तम खाद तथा वैज्ञानिक यन्त्र कृषकों को उपलब्ध कराने के प्रयत्न हो रहे हैं। सिंचाई की सुविधा में वृद्धि करने के लिए अनेक बांध बनाने की भी योजनाएँ बन रही हैं एवं उन्हें कार्यान्वित किया जा रहा है। कृषकों की दशा सुधारने के लिए जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया जा रहा है। कोऑपरेटिव सोसाइटियों, शिक्षण-शिविरों एवं स्वास्थ्य-गृहों में भी प्रगति हो रही है। परन्तु भारत कृषि के क्षेत्र में अभी भी बहुत पिछड़ा हुआ है और हमारे कृषक कृषि-विज्ञान की देन से अभी दूर हैं।

ग्राम-सुधार—प्राचीनकाल में भारत ग्रामों का देश था। ग्राम एक प्रकार से गणतन्त्र थे जो अपने स्थानीय स्वशासन प्रबन्ध के अधिकार रखते थे। ये स्वाश्रयी थे। परन्तु भारत में अंग्रेजी शासन ग्रामों के लिए अभिशाप प्रमाणित हुआ। अंग्रेजी राज्यकाल में ग्रामों की गणतन्त्रता विलुप्त हो गयी, वे अज्ञान, अशिक्षा, फूट तथा भेदभाव के केन्द्र हो गये और उन पर जमींदारों की प्रभुता बढ़ती गयी। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ग्रामों में से अनेक लोग धनोपार्जन के लिए नगरों में आ बसे। अब ग्रामों में कृषक और भूमिविहीन श्रमिक ही अधिक रहने लगे। कृषि की अवनति, बेकारी और दरिद्रता के साथ ग्रामों की दुर्दशा भी बढ़ती गयी।

राष्ट्रीय जीवन के पुनर्जागरण तथा गांधीजी की प्रेरणा से ग्रामों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। धीरे-धीरे यह भावना दृढ़ होने लगी कि यदि भारतीय जीवन को सुखी व समुन्नत बनाना है तो कृषकों के जीवन को सुखी-सम्पन्न बनाने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि हमारी जनता ७० प्रतिशत ग्रामों पर निर्भर है। फलतः ग्राम के आर्थिक, सांस्कृतिक व सामाजिक सुधार के हेतु ग्राम-सुधार का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। ग्राम-सुधार कोई एक कार्य नहीं है वरन् अनेक कार्यों का सामूहिक नाम है। इसमें ग्रामीणों का स्वास्थ्य, चिकित्सा, स्वच्छता, शिक्षा-प्रचार, पुस्तकालयों तथा वाचनालयों की स्थापना, कृषकों की ऋण से मुक्ति, कृषि सम्बन्धी सुधार, छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों व गृहशिल्प की उन्नति, कुएँ, सड़कें, मनोरंजन के साधन आदि वे कार्य सम्मिलित हैं जिनसे ग्रामीणों की सुख-सुविधाओं में वृद्धि हो।

ग्राम-सुधार की ओर सर्वप्रथम कांग्रेस ने ध्यान दिया और महात्मा गांधी ने अखिल भारतीय ग्राम उद्योग संस्था (All India Village Industries Association) स्थापित की। सरकार ने भी इस ओर ध्यान दिया और ए० एल० ब्रायन को ग्रामोद्धार का कमिश्नर नियुक्त किया। उन्होंने पंजाब के गुड़गाँव जिले में ग्राम-सुधार सम्बन्धी महत्त्वशाली प्रयोग किये। बंगाल और मध्य प्रदेश में भी ऐसे प्रयोग किये गये। बम्बई के तत्कालीन गवर्नर फ्रेडरिक ने सन् १९३३ में ग्राम-सुधार की एक योजना बनायी जिनके अनुसार जिलाधीशों के पथ-प्रदर्शन में जिला कमेटियों ने कार्य किया। सन् १९३५-३६ में सरकार ने इस विषय में अधिक रुचि दिखायी और दो करोड़ से अधिक रुपये ग्रामोद्धार के लिए स्वीकृत कर देश के विभिन्न प्रान्तों में बाँटा गया, परन्तु इसका पूर्ण उपयोग नहीं हुआ। सन् १९३७ में जब प्रान्तों में कांग्रेस सरकार का निर्माण हुआ तो उन्होंने ग्राम-सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया। ग्रामों में पचायतों, पाठशालाओं, वाचनालयों, बीज गोदामों, अस्पतालों आदि की स्थापना हुई, प्रौढ़ शिक्षा व निरक्षरता-निवारण का प्रयत्न किया गया एवं ग्राम के छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया गया। सन् १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ हो जाने से ग्रामोद्धार का कार्य ढीला पड़ गया। परन्तु युद्ध के बाद सन् १९४७ में कांग्रेस ने जब पुनः शासन सँभाला तो इस दिशा में फिर प्रगति आरम्भ हो गयी। प्रान्तों में इस कार्य हेतु अलग विभाग भी खोला गया और ग्राम-सुधार को अच्छे ढंग से संगठित किया जाने लगा।

ग्रामों की प्रगति करने और कृषकों की दशा सुधारने के लिए केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् जमींदारी उन्मूलन की ओर साहसी कदम उठाया।

दुर्भिक्ष—हमारे देश में कृषि वर्षा पर आश्रित है। वर्षा के अभाव में देश को सदैव दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ा। यद्यपि भूतकाल में अनेक शताब्दियों में दुर्भिक्ष का प्रकोप हुआ है परन्तु अंग्रेजी शासनकाल में दुर्भिक्ष का अत्यन्त ही विकराल रूप प्रकट हुआ है। वर्षा का अभाव, खाद्यान्न की कमी एवं अपर्याप्त धन के कारण दुर्भिक्ष की भयंकरता बढ़ जाती है। दुर्भिक्ष का प्रभाव मनुष्यों पर ही नहीं होता अपितु पशु भी उसके प्रकोप से वंचित नहीं रहते। सन् १७७० में बंगाल में दुर्भिक्ष पड़ा, सन् १७८९ में पंजाब में और सन् १७३७-३८ में पश्चिमी उत्तर प्रदेश में। पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार ने अकाल पीड़ितों की सहायता के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किये। सन् १८६६-६७ में उड़ीसा में अकाल का प्रकोप हुआ, सन् १८९९-१९०० में बम्बई प्रान्त को अकाल का सामना करना पड़ा, सन् १९१२ में फिर दुर्भिक्ष

पड़ा और सन् १९४३-४४ में बंगाल का दुर्भिक्ष सरकारी नीति व समाजद्रोही व्यापारियों की नीति के कारण हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों तक सरकार के पास दुर्भिक्ष सम्बन्धी कोई निर्दिष्ट नीति नहीं थी और न अकाल-पीड़ितों की सहायता के हेतु सुव्यवस्थित सरकारी संगठन ही। अतएव सन् १८८० के अकाल आयोग ने अकाल पीड़ितों की सहायता के लिए तकावी देने, मुफ्त आर्थिक सहायता देने, श्रम की व्यवस्था करने, मालगुजारी की छूट देने, आदि की सिफारिशें कीं। इनके आधार पर सरकारी दुर्भिक्ष-नीति निर्धारित की गयी एवं अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए एक सहायता फण्ड (Famine Relief Fund) भी स्थापित किया गया। सन् १९१९ के सुधारों के पश्चात् प्रत्येक प्रान्त की सरकार एक निर्धारित धन-राशि प्रति वर्ष इस फण्ड में देती है। नवीन विधान में दुर्भिक्ष पीड़ितों का व्यय सम्पूर्णतया प्रान्तीय विषय बन गया। दुर्भिक्ष की रोक-थाम के लिए अन्य साधनों के साथ-साथ सिंचाई के साधनों को भी उन्नत करने का प्रयास किया गया।

सिंचाई एवं नहरें—भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में सिंचाई का विशेष महत्त्व रहा है। वर्षा के अभाव को दूर करने, दुर्भिक्ष से बचने एवं कृषि की दशा सुधारने के लिए सिंचाई के साधनों को उन्नत करना अनिवार्य समझा गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में इस ओर विशिष्ट ध्यान नहीं दिया गया। पश्चिमी जमुना नहर, पूर्वी जमुना नहर एवं गंगा नहर जैसी कतिपय प्राचीन नहरों का जीर्णोद्धार किया गया तथा पंजाब में बारी दोआब नहर का निर्माण किया गया। इसके अतिरिक्त दक्षिणी भारत में कतिपय प्राचीन बाँधों की मरम्मत भी की गयी। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सरकार का ध्यान रेलों के निर्माण की ओर अधिक जाने से नहरों तथा सिंचाई का कार्य ढीला हो गया। परन्तु बार-बार दुर्भिक्ष होने से सरकार और जनता का ध्यान इस ओर अधिक हो गया। सन् १९०१ में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड कर्जन ने एक सिंचाई कमीशन की नियुक्ति की। इसने सिंचाई के अनेक योजना-कार्य सुझाये एवं बीस वर्ष के लिए सिंचाई कार्यक्रम की एक रूपरेखा प्रस्तुत की। अन्त में इसी कमीशन की सिफारिशों के आधार पर राजकीय सिंचाई-प्रान्तों का विभाग हो गया और तब से प्रान्तीय सरकारों ने सिंचाई के साधनों और नहरों के निर्माण करने में विशेष प्रगति की है। सिंचाई के हेतु विभिन्न प्रकार के मार्ग निकाले गये; जिनमें कुएँ, तालाब, विभिन्न प्रकार की नहरें, ट्यूबवेल, नदियों द्वारा सिंचाई, अस्थायी बाँध—जहाँ बाढ़ का पानी एकत्र किया जा सके, प्रमुख थे। इसके अतिरिक्त सिंचाई के हेतु वैज्ञानिक ढंग से आधुनिक स्थायी बाँध भी निर्मित किये गये। इनमें

बम्बई का लॉयड डैम, सिन्ध का सक्खर बैरेज, पंजाब में सतलज की योजना, मद्रास प्रान्त में कावेरी-जलवितरक, निजाम सागर, उत्तर प्रदेश में शारदा-अवध नहरें एवं दक्षिण में भण्डारा बाँध प्रमुख हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार एवं प्रान्तीय सरकारों ने सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि करने तथा नदियों पर बाँध बाँधकर उनके जल से विद्युत-शक्ति उत्पन्न करने की अनेक योजनाओं को कार्यान्वित किया है। इनमें पंजाब की भाकरा-नांगल योजना, बिहार व पश्चिमी बंगाल का दामोदर बाँध, बिहार व नेपाल की कोसी योजना, उड़ीसा का हीराकुड बाँध, मद्रास का रामपाद सागर, मध्य प्रदेश व बम्बई की नर्वदा-ताप्ती योजना, हैदराबाद-मद्रास की तुंगभद्रा योजना, बिहार, उत्तर प्रदेश व नेपाल की गण्डक नदी योजना, मध्य भारत की चम्बल योजना, राजस्थान की जवाई नदी का बाँध, आदि प्रमुख हैं।

यातायात के साधन

१. **सड़कें**—किसी देश के आर्थिक जीवन में यातायात के साधनों का विशेष महत्त्व रहता है। भारत में यातायात के साधनों का निर्माण करने और उनका समुचित प्रबन्ध करने की परम्परा मौर्ययुग से ही चली आ रही है। परन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के समय अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में आवागमन के साधनों की दशा दयनीय थी। कम्पनी के शासन के प्रारम्भिक युग में कम्पनी का ध्यान सैनिक मार्गों, भवनों तथा निवासस्थानों के निर्माण की ओर ही केन्द्रीभूत था। कम्पनी ने लॉर्ड विलियम बैंटिक के समय तक यातायात के साधनों के महत्त्व को नहीं समझा था। लॉर्ड विलियम बैंटिक को ही इस बात का श्रेय है कि उसने कलकत्ता और उत्तरी प्रान्तों को परस्पर सम्बन्धित करने वाली सड़क के महत्त्व को समझ लिया और उसकी योजना को उत्तर-पश्चिम प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर टॉमसन और डलहौजी ने कार्यान्वित किया।

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में देश के प्रत्येक प्रान्त में एक सैनिक समिति (Military Board) थी जिसका कार्य सड़क तथा गृह-निर्माण था। बाद में सन् १८५४ में तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड डलहौजी ने सार्वजनिक निर्माण (Public Works) का एक विभाग स्थापित किया और इसी के अधीन बम्बई और मद्रास के विभाग भी रखे गये। इस विभाग के अन्तर्गत नहरों, सड़कों और रेलों का निर्माण-कार्य रखा गया। परन्तु बाद में ये तीनों कार्य अलग-अलग विभागों के अन्तर्गत कर दिये गये। बीसवीं शताब्दी में मोटर-यातायात की उन्नति के लिए सड़कों का निर्माण तथा उनका प्रबन्ध महत्त्वपूर्ण समझा गया। सन् १९२९ में Standing Committee of Roads की स्थापना

हुई और सड़कों के निर्माण के लिए Road Fund नामक एक कोष रखा जाने लगा।

द्वितीय महायुद्ध के समय सड़कों का महत्त्व अधिक बढ़ गया और मोटर यातायात के लिए कुछ नवीन सड़कों का निर्माण भी हुआ। दिसम्बर, १९४३ में नागपुर में विविध प्रान्तों के चीफ इन्जीनियरों की एक सभा हुई और सड़कों के निर्माण के लिए पंचवर्षीय योजना बनायी गयी जो अप्रैल, सन् १९४७ से कार्यान्वित की गयी। फलतः बंगाल, पंजाब, उत्तर प्रदेश आदि प्रान्तों में सड़कों का विस्तार हुआ। आज देश में ग्राण्ड ट्रंक रोड्स अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें एक दिल्ली-कलकत्ता, दूसरी कलकत्ता-मद्रास, तीसरी मद्रास-बम्बई और चौथी बम्बई-आगरा-दिल्ली को परस्पर सम्बन्धित करती है। इनके अतिरिक्त उत्तम छोटी सड़कें दक्षिणी व उत्तरी भारत के कतिपय प्रान्तों में हैं। राजस्थान और पंजाब के कतिपय भाग तथा उड़ीसा व पश्चिमी बंगाल में सड़कों की अवहेलना की गयी है।

यद्यपि आज दो लाख तीस हजार मील लम्बी सड़कें हैं, परन्तु देश के आन्तरिक भागों में पहुँचने के लिए अत्यन्त असन्तोषजनक व्यवस्था है। आज के वैज्ञानिक युग में भी छोटे कस्बों व गाँवों में यात्रा के लिए रेल या मोटर का कोई प्रबन्ध नहीं है। वहाँ पहुँचने के लिए या माल ले जाने के लिए स्वयं के पैरों, मजदूरों, जानवरों या बैलगाड़ियों पर निर्भर रहना पड़ता है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् मोटर यातायात में खूब वृद्धि हुई। यात्रियों के लिए मोटर-लारियों तथा माल ढोने के लिए मोटर ट्रकों का उपयोग द्रुत गति से बढ़ रहा है। भारत के विभिन्न प्रान्तों में मोटर यातायात को खूब प्रोत्साहित किया जा रहा है एवं बम्बई, मद्रास, मध्य भारत, उत्तर प्रदेश व बिहार में मोटर यातायात के राष्ट्रीयकरण की नीति अपनायी जा रही है। देश की राष्ट्रीय सरकार भी इस ओर प्रयत्नशील है।

२. **रेलें**—भारत में रेलों का निर्माण अंग्रेजी शासन की देन है। भारत में रेलों का इतिहास सन् १८४५ से प्रारम्भ होता है जब बम्बई से कल्याण, कलकत्ता से रानीगंज और मद्रास से अरकोनम तक की रेलवे लाइन का निर्माण करने की स्वीकृति दे दी गयी थी। फलस्वरूप सन् १८५३ में थाना और बम्बई के बीच जी० आई० पी० रेलवे कम्पनी ने देश की सबसे प्रथम रेलवे लाइन खोली; सन् १८५४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने कलकत्ता से २७ मील दूर तक रेलवे लाइन और सन् १८५६ में मद्रास से अर्काट तक की लाइन प्रारम्भ कर दी गयी। प्रारम्भ में इन लाइनों के डालने का उद्देश्य सामरिक स्थानों को परस्पर सम्बन्धित कर सेनाओं के आवागमन को अधिक प्रगतिशील करना था। इंगलैण्ड के व्यापारिक हितों की रक्षा करना भी इनका एक लक्ष्य था।

भारत में रेलों के निर्माण का इतिहास चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भाग (१८५३-६९) में रेलवे लाइनों का निर्माण ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियों द्वारा हुआ था। भारत सरकार ने इन कम्पनियों की लगी हुई पूँजी पर पाँच प्रतिशत ब्याज की गारण्टी दी और सरकार ने पच्चीस वर्षों के पश्चात् इन रेलवे लाइनों को निश्चित दर पर खरीदने का अधिकार सुरक्षित रखा। परन्तु यह 'गारण्टी प्रणाली' हानिकारक हुई। इन कम्पनियों को पाँच प्रतिशत ब्याज सरकार की ओर से प्राप्त हो जाने के कारण इन्होंने रेलों के निर्माण व संचालन में मितव्ययिता से काम नहीं लिया। फलतः इन कम्पनियों को घाटा रहा जिसे भारतीय राजस्व से पूरा किया गया। इस प्रकार भारत की निर्धन जनता को व्यर्थ में आर्थिक भार उठाना पड़ा। अतएव 'गारण्टी प्रणाली' को त्यागकर अंग्रेज सरकार से स्वयं पूँजी उधार लेकर रेलवे निर्माण करने की नीति अपनायी। यह द्वितीय युग था। इसमें सन् १८६९-८० तक सरकार की ओर से राजस्थान, सिन्धु-घाटी, उत्तरी बंगाल व उत्तरी पंजाब में रेलवे लाइनें खोली गयीं। परन्तु १८७४-७९ के मध्य के दुर्भिक्ष और सन् १८७८-१८८९ के अफगान युद्ध ने भारतीय राजस्व को अव्यवस्थित कर दिया और राज्य द्वारा निर्माण व सचालन की नीति त्याग दी गयी और पुनः पहले की अपेक्षा सरल शर्तों पर प्राचीन 'गारण्टी प्रणाली' की नीति अपना ली गयी। यह तृतीय युग था। इस युग में इस 'नवीन प्रणाली' के अन्तर्गत चार हजार से अधिक मील की रेलवे लाइन खोली गयी। नवीन लाइनों के निर्माण के लिए सरकार ने वैयक्तिक कम्पनियों को प्रोत्साहित किया और नीलगिरि, दिल्ली, अम्बाला, कालका, बंगाल सेण्ट्रल और बंगाल नार्थ वेस्टर्न नामक चार कम्पनियाँ स्थापित हुईं। परन्तु यह प्रयोग सफल नहीं हुआ। इसके पश्चात् अंग्रेजी सरकार ने देशी रियासतों को भी अपने राज्य में रेलों के निर्माण करने के लिए प्रोत्साहित किया और सर्वप्रथम निजाम स्टेट में रियासत की रेल खोली गयी। सन् १९०० में सर्वप्रथम रेलों से अंग्रेज सरकार को लाभ हुआ और इसके बाद लाभ में प्रति वर्ष प्रायः वृद्धि ही होती रही। सन् १९०५ में रेलों के सुप्रबन्ध के हेतु रेलवे बोर्ड की स्थापना की गयी जिसमें एक सभापति, दो सदस्य और एक मन्त्री नियुक्त हुए।

भारत में रेलवे-संचालन की जाँच करने व इस दिशा में अन्य सुझाव रखने के लिए सन् १९०८ में मेके समिति (Makay Committee) नियुक्त की गयी जिसने रेलों के विस्तार के लिए एक विशाल योजना बनायी। परन्तु विश्वयुद्ध के कारण यह योजना कार्यान्वित नहीं की जा सकी। इसके बाद १९२१ में Acworth Commission ने रेलों के विकास की अन्य योजना बनायी और रेलों पर कम्पनी के प्रबन्ध का अन्त करने का सुझाव दिया। पर

सरकार ने इसे अस्वीकृत कर दिया। रेलों की कम्पनियाँ प्रति वर्ष भारत से एक करोड़ रुपये लाभ के रूप में इंगलैण्ड ले जाती थीं। पर इन कम्पनियों के संचालकगण रेलों के लाभ को उत्पन्न करने वाले यात्रियों, व्यापारियों, उद्योगपतियों व उत्पादकों की सुविधाओं की ओर किंचितमात्र भी ध्यान नहीं देते थे। इसके विरुद्ध जनता ने आन्दोलन किया। परिणामस्वरूप सरकार ने अनेक रेलों को अपनी व्यवस्था के अन्तर्गत ले लिया। इस प्रकार सन् १९२५ में ईस्ट इण्डिया रेलवे और जी० आई० पी० रेलवे, सन् १९२९ में ब्रह्मा रेलवे, सन् १९३० में सदर्न पंजाब रेलवे, सन् १९४२ में बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे सरकार ने अपने अधिकार में ले ली। इसके बाद रेलों के इतिहास का चतुर्थ युग प्रारम्भ होता है। इस युग में रेलों के प्रबन्ध व संचालन में परिवर्तन हुए एवं यात्रियों की सुख-सुविधाओं का ध्यान रखा जाने लगा। सन् १९४७ में राष्ट्रीय सरकार स्थापित हो जाने के बाद रेलों के संचालन की ओर विशेष ध्यान दिया गया और समस्त रेलवे यातायात भारत सरकार के नियन्त्रण में आ गया। रेल के डिब्बों और इंजनों के निर्माण के लिए राष्ट्रीय सरकार ने स्वयं कारखाने भी खोले हैं। सन् १९५१ में देश की विभिन्न रेलवे लाइनें मिलाकर चार विशाल समुदायों में विभक्त कर दी गयी हैं।

सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से रेलों का विशेष महत्त्व रहा है। रेलों के कारण भारत के विभिन्न प्रान्तों के निवासी परस्पर एक-दूसरे के सन्निकट आये एवं उन्हें राजनीतिक व सांस्कृतिक एकता की अनुभूति होने लगी। सामाजिक परिवर्तनों का मार्ग सुलभ हो गया, जाति-बन्धन ढीले पड़ गये, अछूत-समस्या प्रभावित हुई, विविध ललित-कलाओं की धाराओं के प्रवाह में तीव्र गतिशीलता आ गयी व देश के सांस्कृतिक और ऐतिहासिक स्थानों के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हुई।

३. डाक, तार और टेलीफोन—यातायात में डाक, तार और टेलीफोन का भी अपना महत्त्व है। यों तो मध्यकालीन युग में डाक-व्यवस्था विद्यमान थी, पर अंग्रेजों ने उसे अधिक सुव्यवस्थित कर दिया। अंग्रेजी शासन के प्रारम्भिक काल में डाक एक स्थान से दूसरे स्थान को पैदल हरकारों द्वारा भेजने की व्यवस्था थी। यत्र-तत्र घोड़ागाड़ियों का भी उपयोग होता था। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में डाकखानों की संख्या बहुत ही कम थी। सन् १८३९ में भारत में कुल २७६ डाकखाने थे। लॉर्ड डलहौजी ने डाक व तार विभाग को सुसंगठित किया और एकसे पोस्टकार्ड की व्यवस्था की। प्रत्येक साधारण पत्र के लिए डाक की दर आध आना कर दी गयी एवं बाद में टिकट व्यवस्था भी प्रारम्भ कर दी गयी। ज्यों-ज्यों यातायात के साधनों में सुधार होता गया, डाक-व्यवस्था भी अच्छी होती गयी। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ

में डाकखानों की संख्या में वृद्धि एवं देश के अनेक भागों में डाकखानों की सुविधाएँ सुलभ हो गयीं। सन् १९४८-४९ में भारत में कुल २६,७६० डाकखाने थे। सन् १९४९ से डाक विभाग ने हवाई जहाज से डाक लाने-ले जाने और बेतार के तार से सन्देश भेजने की व्यवस्था भी कर दी है।

भारत में डलहौजी ने सन् १८५४ में तार-व्यवस्था प्रारम्भ की और सर्वप्रथम कलकत्ते से आगरा तक टेलीग्राफ लाइन डाली गयी। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में तार घरों की संख्या और टेलीग्राफ लाइन की लम्बाई में खूब वृद्धि हो गयी। सन् १९१२ तक तार के लिए अलग विभाग था जो डाइरेक्टर जनरल ऑव टेलीग्राफ नामक अधिकारी के नियन्त्रण में था और यह विभाग भारत सरकार के व्यापार व उद्योग विभाग के अन्तर्गत था। सन् १९१४ में डाक और तार-विभाग सम्मिलित कर दिये गये। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् डाक व तार विभाग का अत्यधिक विस्तार हुआ और ग्रामीण क्षेत्र को भी इससे सुविधा पहुँचाने के प्रयत्न किये गये। प्रथम जून, सन् १९४९ में देवनागरी लिपि में हिन्दी भाषा में तार भेजने की व्यवस्था की गयी।

हमारे देश के आर्थिक-जीवन में डाक व तार के बहुत लम्बे समय के पश्चात् टेलीफोन ने प्रवेश किया। परन्तु हमारी टेलीफोन व्यवस्था पाश्चात्य देशों की अपेक्षा अधिक व्यय-साध्य है। अतएव इसका प्रयोग धनिकों, व्यापारियों, उद्योगपतियों व सरकारी विभागों तक सीमित रहा। छोटे-छोटे नगरों व ग्रामों में आज भी इस सुविधा का अभाव है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् टेलीफोन का उपयोग अधिक बढ़ गया। भारतीय व्यवस्था का विस्तार हो जाने से टेलीफोन का प्रसार द्रुत गति से हुआ और टेलीफोन के नवीन मण्डलों (Districts) का निर्माण कर छोटे-छोटे नगरों को भी सम्बन्धित किया जा रहा है।

४. ध्वनि-विस्तार और नागरिक उड्डयन (Broadcasting and Civil Aviation)—अन्य देशों की अपेक्षा भारत में ध्वनि-विस्तार और नागरिक उड्डयन का प्रवेश बहुत अवधि के बाद हुआ। अनेक वर्षों तक बम्बई, मद्रास और कलकत्ता के रेडियो क्लब सीमित रूप से ध्वनि-विस्तरण करते रहे और सरकार उन्हें आर्थिक सहायता देती रही। कई वर्षों तक समझौते की बातचीत चलते रहने के पश्चात् ध्वनि-विस्तार के लिए एक Indian Broadcasting Company की स्थापना हुई और सन् १९२७ में इस कम्पनी ने बम्बई और कलकत्ता में ध्वनि-विस्तार का कार्य प्रारम्भ किया। परन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण सन् १९३० में इस कम्पनी का दिवाला निकल गया। तब से भारत सरकार ने ध्वनि-विस्तार को अपने नियन्त्रण में लेकर इण्डियन स्टेट ब्रॉडकास्टिंग सर्विस (Indian State Broadcasting service), जिसे

आजकल ऑल इण्डिया रेडियो (All India Radio) कहते हैं, की स्थापना की और सन् १९३६ में दिल्ली के रेडियो स्टेशन का निर्माण किया। द्वितीय महायुद्ध के कारण अत्यन्त ही शक्तिशाली ट्रान्समीटर इस स्टेशन पर लगाये गये जिससे दूरस्थ विदेशों को भी समाचार भेजे जा सकें। आजकल ऑल इण्डिया रेडियो भारत सरकार के सूचना और ध्वनि-विस्तार विभाग का एक अंग है। सरकार ने ध्वनि-विस्तार के प्रचार के लिए आठवर्षीय योजना बना कर उसे कार्यान्वित करने का प्रयास किया। अनेक नवीन स्थलों पर रेडियो स्टेशन खोले गये। विविध प्रान्तों व राज्यों की माँगों को ध्यान में रखकर विभिन्न भाषा-भाषियों के लिए तथा नागरिकों व ग्रामीणों के लिए राजनीतिक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक आदि कार्यक्रम विभिन्न रेडियो स्टेशनों से प्रसारित किये जाते हैं। हमारे देश की सांस्कृतिक प्रगति में ध्वनि-विस्तार का विशेष महत्त्व है। संगीत व साहित्य को इसने खूब प्रोत्साहित किया और लोगों को एक नवीन सांस्कृतिक दृष्टिकोण प्रदान किया। इसके अतिरिक्त विचार व संस्कृति के क्षेत्र में इसने पूर्व व पश्चिम के मध्य घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर दिया।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में और विशेषकर प्रथम विश्वयुद्ध के समय वायुयानों का प्रयोग केवल युद्ध में ही होता था, परन्तु इस महायुद्ध के पश्चात् वायुयानों का उपयोग असैनिक कार्यों के लिए भी होने लगा। हमारे देश में भी इसके लिए Civil Aviation Department की स्थापना की गयी और वायुयान चलाने के लिए तथा उससे सम्बन्धित अन्य कार्यों के शिक्षण की सुविधा सहारनपुर में Civil Aviation Training Centre की स्थापना करके की गयी। दक्षिण-पूर्वी एशिया में यह केन्द्र सर्वोत्तम माना गया है। सन् १९४८ में इलाहाबाद में भी ऐसा ही एक केन्द्र स्थापित किया गया। इसके अतिरिक्त भारत में ९ फ्लाइंग क्लब हैं जहाँ व्यापारिक दृष्टि से वायुयान सम्बन्धी शिक्षा दी जाती है। सरकारी वायुयानों के अतिरिक्त देश के विभिन्न प्रान्तों में यात्रियों की सुविधा के हेतु वायुयान चलते हैं एवं देश के समस्त नगर एयर सर्विसेज (Air Services) द्वारा जोड़ दिये गये हैं। इस दिशा में दिन-प्रति-दिन प्रगति हो रही है, विश्व के विभिन्न देशों की अपनी-अपनी एअर सर्विसेज हैं, जिनसे उन्हें कई गुना लाभ प्राप्त होता है। भारत ने भी बाह्य देशों में वायुयान द्वारा जाने वाले यात्रियों की सुविधा के हेतु सन् १९४८ में एयर इण्डिया इण्टरनेशनल लिमिटेड (Air India International Ltd.) की स्थापना की जिससे वायुयान बम्बई से काहिरा और जिनेवा होते हुए लन्दन तक चलते हैं। सन् १९५० से इसके वायुयान अब पूर्वी अफ्रीका तक भी चलने लगे हैं। सन् १९४९ में भारत एयरवेज लिमिटेड (Bharat Airways Ltd.)

नामक कम्पनी स्थापित की गयी जिसके वायुयान पूर्व में कलकत्ता से बैंकाक तक चलते हैं। इसके अतिरिक्त सोलह विदेशी कम्पनियों के वायुयान भी हमारे देश में आते-जाते हैं। इन कम्पनियों के साथ भारत सरकार ने यातायात सम्बन्धी समझौते किये हैं। इन सबके परिणामस्वरूप देश में वायुयान यातायात को खूब प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है। इन वायुयानों में यात्री ही नहीं आते-जाते अपितु डाक और माल भी भेजा और लाया जाता है।

५. **नदियों के जलमार्ग**—रेलों के विस्तार के पूर्व भारत में नदियाँ यातायात का साधन थीं, सिन्धु नदी में समुद्र से लेकर अटक तक एक सहस्र मील की दूरी तक नावें चलती थीं, चिनाब में आठ सौ मील की दूरी वजीराबाद तक, सतलज में भी आठ सौ मील की दूरी लुधियाना तक, गंगा में कानपुर और जमुना में आगरा तक नावें चलती थीं। परन्तु आज ये नदियाँ इतनी दूरी तक नौवहन (navigation) के योग्य नहीं हैं क्योंकि अंग्रेजी शासन के युग में नदियों के यातायात को उन्नत करने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। रेलों व मोटरों के बढ़ते हुए यातायात ने भी नदियों के यातायात को भारी क्षति पहुँचायी। कलकत्ते और इलाहाबाद के बीच गंगा नदी में और सिन्धु तथा ब्रह्मपुत्र नदियों में यात्री और माल ढोने के लिए नावों के स्थान पर स्टीमरों की व्यवस्था की गयी। गंगा व सिन्धु में तो यह नियमित नौवहन की व्यवस्था दीर्घकाल तक न चल सकी परन्तु ब्रह्मपुत्र में आठ सौ मील दूर डिब्रूगढ़ तक स्टीमर-व्यवस्था बनी रही। दक्षिण भारत में कतिपय नदियों और उनकी नहरों में नौवहन-व्यवस्था आज भी विद्यमान है। मद्रास प्रान्त में गोदावरी व कृष्णा नदी की नहरें व बकिंघम नहर यातायात के अच्छे साधन हैं। उड़ीसा में भी १५० मील तक नहर नौवहन के उपयुक्त है। पश्चिमी बंगाल में नदियों द्वारा माल लाया और ले जाया जाता है। कलकत्ता से नावों और स्टीमरों द्वारा बहुत-सा माल देश के आन्तरिक भागों से आता और जाता है। भारत सरकार ने डेन्यूब कमीशन के सदस्य और नदियों के नौवहन के विषय में निपुण ओटो पापर (Otto Popper) को भारत में नदियों के नौवहन की जाँच करने एवं उसकी प्रगति के लिए सुझाव रखने के हेतु नियुक्त किया था।

६. **बन्दरगाह**—भारत के बाह्य और आन्तरिक व्यापार के हेतु अंग्रेजी शासन में नवीन बन्दरगाहों का निर्माण हुआ है। ये बन्दरगाह देश के समस्त प्रदेशों से रेलों द्वारा सम्बन्धित हैं। देश के बाह्य व्यापार को इनसे खूब प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इन बन्दरगाहों में बम्बई, कलकत्ता, कोचीन, मद्रास और विजगापट्टम प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त पश्चिमी समुद्र-तट पर पोरबन्दर, बालासोर, भावनगर, कालीकट व मंगलौर; कच्छ में कच्छ, माण्डवी, द्वारका

व काँधला, पूर्वी तट पर कुड्डलोर, कटक, गोपालपुर, काकिनाड़ा, मछलीपट्टम व तूतीकोरन तथा दक्षिण में मनार की खाड़ी में लंका से २१ मील दूर धनुषकोडी बन्दरगाह है।

साहूकार और बैंक

देश के आर्थिक जीवन में धन के लिए साहूकारों और बैंकों का सदैव महत्त्व रहा है। भारत में आधुनिक बैंक-व्यवस्था का सूत्रपात अंग्रेजी शासन में हुआ। इसके पूर्व देश में साहूकार वर्ग बैंकों का कार्य करता था। ये साहूकार विभिन्न प्रान्तों में महाजन, मारवाड़ी, चेट्टी, सर्राफ, सेठ आदि नामों से प्रख्यात थे। ये स्वयं विभिन्न प्रकार का व्यापार करते थे, उत्पादन का कार्य भी करते थे एवं अनेक व्यक्तियों को ऋण भी देते थे। प्रमुख व्यापारिक नगरों और मण्डियों में इनकी आढ़त होती थी जिनके द्वारा ये अपना वाणिज्य-व्यवसाय करते थे। देश के विभिन्न भागों में इनकी उत्तम साख होती थी एवं हुण्डियों द्वारा रुपयों का भुगतान करते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रारम्भिक शासनकाल में साहूकारों की व्यवस्था चलती रही। अठारहवीं शताब्दी में तो स्वयं ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी अपने ऋण व रुपयों के भुगतान के हेतु देशी साहूकारों का आश्रय लेती थी। बीसवीं सदी में देश में आधुनिक बैंकों की व्यवस्था स्थापित हो जाने पर भी साहूकारों का अस्तित्व विलुप्त नहीं हुआ। छोटे-छोटे कस्बों और ग्रामों के आर्थिक जीवन में आज भी ये महत्त्वशाली हैं। कृषकों, शिल्पियों, श्रमजीवियों, मध्यम वर्ग के लोगों एवं छोटे-छोटे व्यापारियों को आज भी इन साहूकारों की शरण लेनी पड़ती है। कतिपय छोटे-छोटे व्यवसायों में भी ये अपनी पूँजी लगाते हैं एवं लोगों को ऋण देते हैं। परन्तु इनके ब्याज की दर इतनी अधिक होती है और ऋण देने के ढंग इतने अवांछनीय होते हैं कि ऋण लेने वालों के लिए ये घातक प्रमाणित हुए हैं। इससे निर्धनों एवं मध्यम वर्ग की दरिद्रता न्यून होने की अपेक्षा अधिक बढ़ गयी। फलतः देश के आर्थिक जीवन का सन्तुलन डाँवाँडोल होता रहा।

भारत में आधुनिक बैंक-व्यवस्था का प्रादुर्भाव अठारहवीं शताब्दी में बम्बई और कलकत्ता में विद्यमान अंग्रेज एजेन्सियों के बैंकों से हुआ। ये बैंक अपने-अपने नोट प्रचलित करते थे और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार में सहायता करते थे। इसके बाद प्रेसीडेंसी बैंक स्थापित हुए। सर्वप्रथम कलकत्ता में सन् १८०६ में बैंक ऑव बंगाल स्थापित हुआ, सन् १८४० में बैंक ऑव बौम्बे और सन् १८४३ में बैंक ऑव मद्रास का जन्म हुआ। सन् १८६२ के पूर्व ये बैंक ईस्ट इण्डिया कम्पनी को ऋण देते थे व अंग्रेज व्यापारियों को उनके व्यापार के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करते थे एवं नोट भी चलाते थे। इन बैंकों पर सरकारी नियन्त्रण रहता था। सन् १८६२ में ये नोट

चलाने के अधिकार से वंचित कर दिये गये, पर प्रान्तों के विभिन्न नगरों में इन्हें सरकारी खजाने का कार्य सौंपा गया। सन् १९२१ में तीनों प्रेसीडेंसी बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक की स्थापना की गयी। प्रेसीडेंसी बैंकों की भाँति इस बैंक पर भी सरकारी नियन्त्रण बना रहा। सन् १८३६ से ही एक केन्द्रीय बैंक निर्माण करने का विचार चल रहा था, सन् १८५९ व १८६७ में पुनः इस पर विचार किया गया। सन् १९१३ में चैम्बरलेन कमीशन और बाद में हिल्टन-यंग कमीशन ने इस विषय पर सावधानी से विचार कर एक विशिष्ट केन्द्रीय बैंक स्थापित करने का सुझाव रखा। फलतः सन् १९३४ में भारत की व्यवस्थापिका सभा ने रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया एक्ट स्वीकृत किया और सन् १९३५ में रिजर्व बैंक ऑव इण्डिया स्थापित होकर उसका कार्य प्रारम्भ हो गया। भारत सरकार के नोट निकालने का कार्य इसी बैंक का है। सन् १९४९ में इस बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया। देश के समस्त बैंकों पर इस बैंक का नियन्त्रण है। इससे इन बैंकों के असफल होने या दिवाला निकलने की सम्भावना नहीं रही।

रिजर्व बैंक और इम्पीरियल बैंक के अतिरिक्त देश में विदेशी एक्सचेंज बैंकों की शाखाएँ भी हैं जिनके प्रमुख दफ्तर अमरीका, इंगलैण्ड या अन्य देशों में हैं। इनका कार्य आयात-निर्यात व्यापार में मुद्रा-विनिमय करना है, परन्तु ये भारत में विदेशी व भारतीय व्यापारी वर्ग की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में सर्वथा असमर्थ रहे। अतएव अनेक उद्योगपतियों और धनिकों ने ज्वाइण्ट स्टॉक बैंकों की स्थापना की। ज्यों-ज्यों वाणिज्य-व्यापार और पूँजी में वृद्धि होती गयी त्यों-त्यों ये बैंक भी बढ़ते गये। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्वदेशी आन्दोलनों ने इन बैंकों को खूब प्रोत्साहन दिया। सन् १९१३ और बाद में सन् १९३० के आसपास आर्थिक कठिनाइयों के कारण इनमें से अनेक बैंक असफल हो गये। द्वितीय महायुद्ध के समय और उसके बाद भी इन बैंकों की संख्या में वृद्धि होती रही। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय वाणिज्य-व्यवसाय में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप इन बैंकों की शाखाओं की संख्या भी बढ़ी एवं उनका संगठन भी सुदृढ़ हो गया तथा व्यापारी वर्ग भी इनका उपयोग दिन-प्रतिदिन अधिक कर रहा है। परन्तु फिर भी भारत जैसे विशाल उपमहाद्वीप के आर्थिक संगठन व व्यापारिक विस्तार की दृष्टि से ये यथेष्ट नहीं हैं।

इन बैंकों के अतिरिक्त भारत में कोआपरेटिव बैंक भी हैं जो सहकारिता आन्दोलन की छाया में पनप रहे हैं। पंजाब, बम्बई, बंगाल, मद्रास, उत्तर प्रदेश आदि समस्त प्रान्तों में ऐसे कोआपरेटिव बैंक हैं जो प्रधानतया कृषि की उन्नति और कृषकों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए हैं।

ऊपर हमारे आर्थिक जीवन में हुए युगान्तर और आधुनिकीकरण का विवेचन किया गया है। हमारे सामाजिक और धार्मिक जीवन में भी ऐसे ही क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए जिनसे धर्म, समाज व देश की कायापलट हो गयी और एक नवीन आधुनिक युग का श्रीगणेश हुआ। अब हम इसका पूर्ण विवेचन करेंगे।

सामाजिक तथा धार्मिक सुधार आन्दलन

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल में भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की नींव पड़ चुकी थी। पश्चिम की राजनीतिक सत्ता की प्रस्थापना के साथ-साथ पाश्चात्य संस्कृति की आँधी भी देश को झकझोरने लगी थी। ब्रिटिश सत्ता के विकास ने पुरानी धार्मिक व सामाजिक व्यवस्था पर प्रबल आघात किया। हम अपने सांस्कृतिक उतार की निम्नतम अवस्था में थे एवं हमारे नवसृजन की शक्ति एकदम शिथिल व निश्चेष्ट हो गयी थी। हम एक अभूतपूर्व सांस्कृतिक संकट की चिन्ताजनक दशा में से गुजर रहे थे। यदि हमारा एक कट्टरपंथी जन वर्ग केवल धार्मिक कूपमण्डूकता और अन्धविश्वासों व रूढ़ियों के साथ चिपके रहने में ही जीवन की सार्थकता समझकर किसी प्रकार के पुनर्संस्कार को स्वीकृत करने पर तुला बैठा था तो दूसरी ओर पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित शिक्षित भारतीयों का धीरे-धीरे ऐसा वर्ग समाज में उत्पन्न हो गया था जो अपनी निजी संस्कृति को हेय मानकर प्रत्येक बात के लिए पश्चिम की ओर सतृष्ण नयनों से निहारने लगा था और पाश्चात्य सभ्यता के रंग में अपना रंग बदलने की ओर प्रवृत्त हो रहा था। इस वर्ग ने भारतीय धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था को निरर्थक बताया। देश में और विशेषकर बंगाल में ईसाई धर्म और पाश्चात्य सभ्यता का प्रचार जोरों से बढ़ने लगा। फलतः अनेक उच्च शिक्षित हिन्दू सिपाही-विद्रोह के पूर्व ईसाई हो गये थे, जैसे कृष्ण मोहन बनर्जी, लालबिहारी दे, कवयित्री तोरुदत्त के पिता गोविन्ददत्त आदि। ऐसे अन्धकारपूर्ण वातावरण की डाँवाँडोल स्थिति में कतिपय ऐसे लोगों का प्रादुर्भाव हुआ जो इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनके धर्म व संस्कृति में उतनी श्रेष्ठता व महानता निहित है जितनी कि अन्य धर्मों व संस्कृतियों में। ये लोग विकृतियों को दूर करने के लिए धार्मिक व सामाजिक सुधार आन्दोलनों की ओर प्रवृत्त हुए। इनमें राजा राममोहन राय अग्रगण्य थे और उनका ब्रह्म समाज सर्वप्रथम सुधारवादी आन्दोलन था।

यहाँ यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि ये धार्मिक व सामाजिक सुधार भारतीय नवाभ्युत्थान (Renaissance) के परिणाम थे। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि प्रत्येक देश में नवाभ्युत्थान के युग के बाद सुधार का युग आता है। जैसा कि यूरोप में नवाभ्युत्थान के पश्चात् हुआ। भारत में

भी हमारे सामाजिक सम्बन्धों में, हमारे जीवन के साधारण दृष्टिकोण में एवं हमारे धार्मिक सिद्धान्तों, प्रथाओं व रूढ़ियों में परिवर्तन हुए। समाज व धर्म का सम्पूर्ण ढाँचा बदला जाकर धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र में अनेक सुधारों का श्रीगणेश हुआ।

राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज—राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३) बंगाल के छोटे से ग्राम राधानगर के एक ब्राह्मण जमींदार रमाकान्त राय के पुत्र थे। संस्कृत, फारसी, बँगला, अरबी व अंग्रेजी का अध्ययन करने के पश्चात् ये ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधीन रंगपुर की कलक्टरी में नौकर हो गये और शीघ्र ही अपनी प्रतिभा के बल से एक साधारण क्लर्क की स्थिति से उठकर जिले की दीवानगीरी के ऊँचे पद पर पहुँच गये। इसी बीच इन्होंने लेटिन, ग्रीक व हिब्रू भाषाओं की जानकारी कर ईसाई धर्म का गहन अध्ययन किया। हिन्दू धर्मशास्त्र, वेद, उपनिषद् तथा वेदान्त आदि का मनोयोगपूर्वक अनुशीलन वे पहले ही कर चुके थे। अपना सारा समय लोकहित और जीवनादर्श की सिद्धि में लगाने के उद्देश्य से उन्होंने चालीस वर्ष की आयु में अपने उच्च सरकारी पद से त्यागपत्र दे दिया और सन् १८१४ के लगभग स्थायी रूप से कलकत्ते में बस गये। यहीं से उनके जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय प्रारम्भ होता है।

ईसाई धर्म के सिद्धान्तों व यूरोप के उदार विचारों से वे अत्यधिक प्रभावित हुए थे एवं इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि यदि देश को निराशावाद से छुटकारा पाना है तो हिन्दू धर्म में तथा हिन्दुओं के रीति-रिवाजों में आमूल सुधार करना अनिवार्य है। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने सन् १८१५ में 'आत्मीय सभा' नामक एक सुधारक संस्था की स्थापना की, सन् १८१६ में कलकत्ता यूनीटेरियन कमेटी (Unitarian Committee) और २० अगस्त, सन् १८२८ को ब्रह्म समाज की स्थापना की। ब्रह्म समाज की प्रतिष्ठा कर उन्होंने किसी नवीन मत-मतान्तर या पृथक सम्प्रदाय खड़ा करने का प्रयास नहीं किया, अपितु समस्त धर्मों की उच्च शिक्षाओं के तत्त्व से अभिसिंचित एक सामान्य पृष्ठभूमि मात्र उन्होंने तैयार की थी जिसकी परिधि में एकत्र होकर बिना किसी भेदभाव के सभी एक ही ईश्वर की आराधना, उपासना में प्रवृत्त हो सकें। इस समाज के प्रमुख सिद्धान्त एक ही ईश्वर की उपासना और मनुष्य के प्रति बन्धुत्व की भावना एवं सभी धर्मों व उनके धार्मिक ग्रन्थों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना था। इस प्रकार राजा राममोहन राय ने जाति-बन्धनों, मूर्ति-पूजा और यज्ञ व बलि-प्रथा का खण्डन किया एवं विश्व-बन्धुत्व तथा प्रेम का समर्थन किया। राजा राममोहन राय की मृत्यु के पश्चात् देवेन्द्रनाथ टैगोर और केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज को अधिक प्रगतिशील बनाया। केशवचन्द्र

सेन ईसाई धर्म से अधिक प्रभावित होने के कारण ब्रह्म समाज को ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार चलाना चाहते थे। अतएव देवेन्द्रनाथ व केशवचन्द्र, कभी एकमत न हुए और समाज दो दलों में विभक्त हो गया—पहला 'आदि ब्रह्म समाज' और दूसरा 'साधारण ब्रह्म समाज'। प्रथम को देवेन्द्रनाथ और द्वितीय को केशवचन्द्र सेन चलाते रहे। केशवचन्द्र ने प्रचारार्थ पर्यटन प्रारम्भ किया, जिसके फलस्वरूप बम्बई में 'प्रार्थना समाज' और मद्रास में 'वेद समाज' की स्थापना हुई। सन् १८८१ में पुनः मतभेद हो जाने के कारण केशवचन्द्र सेन ने 'नव विधान' समाज की स्थापना की। 'नव विधान' समन्वयात्मक धर्म था, उसमें हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त ईसाई, बौद्ध और मुस्लिम धार्मिक ग्रन्थों से भी अनेक बातें ली गयी थीं। ब्रह्म समाज की बौद्धिक अनुभूति, विशुद्ध अध्यात्मवाद तथा सक्रिय समाज सेवा ने काफी जन-समुदाय को आकृष्ट कर लिया। इसने लोकप्रिय धर्म को विशुद्ध करने, बाल-विवाह तथा सती प्रथा जैसी सामाजिक कुरीतियों का अन्त करने तथा हिन्दू धर्म को सुदृढ़ बनाने एवं आन्तरिक सामाजिक सुधारों के हेतु मार्ग सुलभ कर दिया। इसने मूर्ति-पूजा, अनेकेश्वरवाद, जातियों की कट्टरता व अस्पृश्यता का घोर विरोध किया एवं शिक्षा के प्रचार व समाज-सुधार में प्रशंसनीय कार्य किया। प्रोफेसर एच० सी० ई० जकरिया ने अपनी पुस्तक 'Renascent India' में पृष्ठ २३ पर लिखा है कि "राजा राममोहन राय और उनका यह ब्रह्म समाज ही हिन्दू-धर्म, समाज या राजनीति के क्षेत्र में समुच्छ्वसित उन सभी सुधारमूलक आन्दोलनों की युग-धाराओं के मूलस्रोत के रूप में हमें दिखायी देते हैं, जिन्होंने विगत सौ वर्षों में भारत को हिलाया और जगाया है, और जिनके कारण इस देश के वर्तमान युग में ऐसा अदभुत पुनरुत्थान हो पाया है।" वास्तव में राजा राममोहन राय व उनके ब्रह्म समाज से ही आधुनिक सामाजिक सुधार के युग का प्रारम्भ होता है।

यद्यपि राजा राममोहन राय की सेवाएँ धार्मिक सुधार के कार्यों में अधिक थीं, परन्तु भारतीय इतिहास में वे भारत के महत्त्वशाली धर्मनिरपेक्ष आन्दोलनों के जन्मदाता माने जाते हैं। वास्तव में वे आधुनिक विचारों के पैगम्बर और भारत के सर्वप्रथम आधुनिक व्यक्ति थे। धर्म, दर्शन, समाज, राजनीति, शिक्षा, साहित्य आदि हमारे राष्ट्रीय जीवन का ऐसा कोई अंग नहीं है जो उनके कार्य-क्षेत्र की परिधि से बाहर छूट गया हो। उन्होंने सभी ओर सुधारवादी हाथ बढ़ाया और उन्हें अपनी प्रतिभा से अनुप्राणित किया। अमानुषिक सती-प्रथा के अन्त के लिए उनकी सेवाएँ प्रसिद्ध हैं। कुछ विशिष्ट दशाओं में उन्होंने विधवा-विवाह का समर्थन भी किया और 'कुलीन-प्रथा' के विरुद्ध भी अपनी आवाज उठायी। जाति-प्रथा की कट्टरता की निन्दा कर,

स्त्रियों की शोचनीय दशा का सुधार कर, उनके हितों की रक्षा कर उन्होंने सामाजिक-सुधार का मार्ग प्रदर्शित किया। स्त्रियों के सम्पत्ति विषयक अधिकार तथा अन्तर्जातीय विवाह के महत्त्व पर भी उन्होंने यथेष्ट प्रकाश डाला। उन्होंने हिन्दू कानून में सुधार करने के लिए आवाज उठायी, मुद्रणालयों पर जो प्रतिबन्ध थे उनका विरोध किया और इसके लिए सुप्रीम कोर्ट तथा किंग-इन कौंसिल को आवेदनपत्र भी भेजे और इस प्रकार विचार-स्वातन्त्र्य का नारा बुलन्द किया था। कृषकों के हितों की उन्होंने रक्षा की और भूमि-कर में कमी करने का समर्थन किया। दमनकारी भूमि-कानूनों के विरुद्ध उन्होंने लिखित रूप में ज्वाइण्ट सिलेक्ट कमेटी को एक स्मृति-पत्र भेजा। उन्होंने भारतीयों को शासन में तथा सेना में अधिक सम्मिलित करने पर जोर दिया, ज्यूरी द्वारा मुकदमे सुनने की प्रथा पर बल दिया, जज और मजिस्ट्रेट के पदों को अलग-अलग करने की, दीवानी तथा फौजदारी कानूनों का संग्रह करने, नवीन कानूनों के बनाने के पूर्व भारतीय वकीलों से परामर्श करने और न्यायालय में फारसी के स्थान पर अंग्रेजी भाषा के प्रचार का खूब समर्थन किया। ये पाश्चात्य शिक्षा के समर्थक थे। 'हिन्दू कालिज', 'इंगलिश स्कूल', 'वेदान्त कालिज', आदि कलकत्ते की विविध आरम्भिक शिक्षण-संस्थाओं के जन्म और विकास के कार्य में योग देकर देश की वर्तमान अवस्था को ध्यान में रखते हुए, पाश्चात्य विज्ञान के अध्ययन के लिए जोर देते हुए उन्होंने हमें प्रगति का एक नवीन मार्ग बताया। साहित्यिक क्षेत्र में भी वे अग्रगामी थे; उन्होंने बंगला, उर्दू, फारसी, अरबी, संस्कृत और अंग्रेजी में अनेक पुस्तकों की रचना कर हमारे साहित्य को अधिक बल दिया एवं राष्ट्रीय निधि को अधिक सम्पन्न किया; सन् १८१९ में 'संवाद कौमुदी' के नाम से भारतीय तत्त्वावधान में निकलने वाले सर्वप्रथम बंगला साप्ताहिक पत्र को जन्म दिया और तीन वर्ष पश्चात् फारसी भाषा में 'मिरातुल अखबार' नामक एक पत्र का भी प्रकाशन प्रारम्भ किया। इस प्रकार वे पत्र-कला के क्षेत्र में भी हमारे अग्रदूत थे और राजनीति के क्षेत्र में नवीन युग के अग्रगण्य प्रवर्तक थे। उन्होंने वैधानिक रूप से राजनीतिक आन्दोलन करने का मार्ग बताया। वे नव-संस्थापित विदेशी शासन-तन्त्र के साथ सहयोग की नीति बरतने और उसकी सद्भावनाओं पर विश्वास रखने के हिमायती थे। बाद के अनेक उदार नीति-धर्मी राष्ट्र नेताओं ने इसी नीति का अनुकरण किया। उनकी विशद् राजनीति केवल एक जाति विशेष के हित-अहित के संकीर्ण घरौंदे ही में बन्द राजनीति न थी, बल्कि वह एक प्रकार के अन्तरराष्ट्रीय आदर्श से ओतप्रोत थी जिसमें संसार भर के पीड़ित और शोषित-जनों के प्रति संवेदना और सौहार्द्र की एक सच्ची भावना निहित थी। उनके निकट सम्पर्क में आने वाले पादरी आदम ने लिखा है कि

स्वतन्त्रता की लगन उनकी अन्तरात्मा की सबसे जोरदार लगन थी, और यह प्रबल भावना उनके धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक सभी कार्यों में फूट-फूट कर टपकी पड़ती थी।" वे ही इस आधुनिक युग में सबसे प्रथम थे जो समुद्र यात्रा के सामाजिक निषेध का उल्लंघन करके इंगलैण्ड गये और वहाँ पश्चिम को भारत का भ्रातृत्व का सन्देश सुनाया एवं आने वाली पीढ़ियों के लिए उस नयी दुनिया से परिचय पाने का मार्ग खोल दिया। इंगलैण्ड में रहकर उन्होंने भारत की तत्कालीन रेवेन्यू व जुडीशियल व्यवस्थाओं पर अपने स्पष्ट विचार प्रदर्शित करते हुए इस देश की जनता की यथार्थ स्थिति व आवश्यकताओं पर पूर्ण प्रकाश डाला, और भारत के सम्बन्ध में पश्चिम में व्याप्त गलत धारणाओं को दूर करते हुए वहाँ के सामयिक पत्रों में लेख लिखकर सभी प्रकार से भारत की प्रतिष्ठा की वृद्धि करने का प्रयत्न किया। ये ही सब बातें इस कथन की पुष्टि करती हैं कि राजा राममोहन राय ने भारतीयों के उत्कर्ष के लिए उन समस्त आन्दोलनों की नींव डाली जो उन्नीसवीं शताब्दी की विशेषता थी। स्वर्गीय कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के शब्दों में "राममोहन राय ही को भारत के आधुनिक युग के उद्घाटन करने का अद्वितीय सम्मान प्राप्त है।" वे न केवल भारत ही के प्रत्युत विश्व के अन्य महापुरुषों की श्रेणी में प्रतिष्ठित किये जाने योग्य एक अद्वितीय रत्न थे। वे एक महान् समाज-सुधारक, विशुद्ध धर्म-प्रवर्तक, राजनीतिज्ञ, शिक्षाशास्त्री, साहित्य-महारथी, पत्रकार, दर्शनशास्त्री व तत्त्वज्ञानी थे। उनका एक सार्वभौमिक व्यक्तित्व था। यदि एक ओर वे कुसंस्कारजनित अन्धरूढ़ियों के विध्वंसक के रूप में उग्र रूप से समाज के मकड़ी-जालों को झाड़ते-बुहारते दिखायी दिये, तो दूसरी ओर सभी क्षेत्रों में रचनात्मक कार्यों की एक ऐसी बहुमूल्य देन भी अपने पीछे छोड़ गये कि शायद ही किसी व्यक्ति ने इतनी विभिन्न प्रकार की देन किसी जाति या राष्ट्र को प्रदान की हो। वे प्रत्येक दृष्टि व पहलू से इस देश के आधुनिक युग के पिता थे।

प्रार्थना समाज—महाराष्ट्र में सन् १६१६ में 'प्रार्थना सभा' नामक एक आस्तिक समाज की स्थापना की गयी। परन्तु इसका प्रभाव सीमित था और यह शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो गया। इसके बाद सन् १८३७ में एक अन्य अधिक महत्त्वशाली आस्तिक संस्था 'प्रार्थना समाज' का निर्माण हुआ। इसके प्रमुख उद्देश्य (१) विवेकपूर्ण उपासना करना, (२) जाति-प्रथा को अस्वीकार करना, (३) विधवा-विवाह का प्रचार करना, (४) स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन देना, (५) बाल-विवाह का बहिष्कार करना, एवं (६) अन्य सामाजिक सुधार करना था। ब्रह्म समाज के प्रभाव के अन्तर्गत इसकी खूब उन्नति हुई। केशवचन्द्र सेन, नवीनचन्द्र राय, पी० सी० मजूमदार और बाबू महेन्द्रनाथ बोस

जैसे महान् ब्रह्म समाजियों के बम्बई में भ्रमण व भेंट के लिए आने से प्रार्थना समाज के समाज के कार्य को खूब प्रोत्साहन मिला। इसके कार्यकर्ताओं के लिए एक रात्रि पाठशाला खोली गयी और 'सुबोध पत्रिका' नामक पत्र निकाला गया। प्रार्थना समाज के अनुयायियों ने अपना ध्यान प्रमुखतया अन्तर्जातीय-विवाह, विधवा-विवाह और महिलाओं तथा हरिजनों की शोचनीय दशा में सुधार करने की ओर अधिक आकृष्ट किया। उन्होंने पंढरपुर में अनाथाश्रम स्थापित किया और रात्रि-पाठशालाएँ, विधवाश्रम, अछूतोद्धार के हेतु संस्था तथा ऐसी ही अन्य उपयोगी सामाजिक संस्थाएँ निर्मित कीं। बम्बई और मद्रास प्रान्तों में प्रार्थना समाज की शाखाएँ स्थापित हो गयी थीं। प्रार्थना समाज ने हिन्दू धर्म से अलग होकर कोई नवीन सम्प्रदाय प्रतिष्ठित करने का प्रयास नहीं किया था और न इसने ईसाई धर्म का समर्थन ही किया था। इसने अपने सिद्धान्त और आस्तिकवाद महाराष्ट्र के सन्तों और भागवत सम्प्रदाय से सम्बन्धित रखे और सामाजिक सुधारों के कार्यों पर अधिक जोर दिया। इससे इसके सदस्य विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों के होने पर भी सुसंगठित रहे और ब्रह्म समाज के समान इसमें कोई फूट या विभाग न हो सका। पर निश्चित नियमों के आधार पर प्रार्थना समाज का संगठन न होने से उसका आन्दोलन अधिक शक्तिशाली नहीं बन सका। प्रार्थना समाज की सफलता का श्रेय प्रधानतया जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे को है।

रानाडे बम्बई हाईकोर्ट के प्रसिद्ध न्यायाधीश ही नहीं थे, परन्तु एक शिक्षाशास्त्री, इतिहासज्ञ, उत्साही समाज-सुधारक और भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्मदाताओं में से थे। उनकी प्रतिभा व बुद्धि विलक्षण थी, उनका चरित्र सात्विक और पवित्र था एवं उनका राष्ट्र प्रेम श्रेष्ठ था। सन् १८४२ में नासिक जिले के एक ग्राम में उनका जन्म हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा कोल्हापुर में हुई थी और बम्बई में एम० ए०, एल-एल० बी० की डिग्री प्राप्त करने के पश्चात् वहाँ के एलफिन्स्टन कालिज में वे प्राध्यापक हो गये थे। सन् १८६६ में बम्बई सरकार ने आपको ओरिएण्टल ट्रान्सलेटर (Oriental Translator) नियुक्त किया और धीरे-धीरे वे इस पद से उन्नति करते-करते बम्बई हाईकोर्ट के जज हो गये। जब वे पूना में जज थे तब उन्होंने सन् १८७१ में वहाँ 'सार्वजनिक सभा' की स्थापना की, उसका मुख्य-पत्र निकालने की व्यवस्था की और निरन्तर बाईस वर्षों तक उसके लिए कार्य किया। अनेक सुधारवादी संस्थाओं और संघों से तथा बम्बई विश्वविद्यालय से उनका दीर्घकाल तक सम्बन्ध रहा। वास्तव में वे एक उदार समाज-सुधारक और सच्चे देश-भक्त थे। उन्होंने साहित्य, राजनीति, धर्म, शिक्षा, उद्योग-व्यवसाय,

समाज आदि में अथक परिश्रम से सुधार के कार्य किये। समाज-सुधार के साथ-साथ वे औद्योगीकरण और राष्ट्रीय प्रगति के भी कट्टर हिमायती थे। महादेव गोविन्द रानाडे से नवजागरण के सन्देश को खूब प्रेरणा प्राप्त हुई। निस्सन्देह वे भारत के आधुनिक पुनरुत्थान के महान् नेताओं में से थे।

रानाडे की प्रेरणा से उनके आध्यात्मिक नेतृत्व के अन्तर्गत सन् १८८४ में 'डक्कन एजूकेशन सोसाइटी' की स्थापना हुई। गोखले, तिलक और आगरकर जैसे व्यक्ति इसके सदस्य थे। इनका उद्देश्य सादा जीवन और उच्च विचार था और इन्होंने ७५ रुपये प्रति मास जैसे थोड़े से वेतन को स्वीकार कर देश के युवकों को सादे साधनों से शिक्षा देने का बीड़ा उठाया। इस संस्था का एक छोटा-सा स्कूल था जो कालान्तर में प्रगति करते-करते महाराष्ट्र में प्रसिद्ध शिक्षण-केन्द्र हो गया और आज भी पूना में फर्ग्युसन कालिज के नाम से प्रख्यात है।

इसी सोसाइटी के एक सदस्य गोखले ने सन् १९०५ में 'सोसाइटी ऑव सरवेन्ट्स ऑव इण्डिया' की स्थापना की। इस संस्था ने भी प्रार्थना समाज के समान शिक्षा और समाज-सुधार में प्रमुख भाग लिया। इस सोसाइटी का मूल सिद्धान्त यह था कि सार्वजनिक जीवन को आध्यात्मिकता से ओतप्रोत कर दिया जाय। इस सोसाइटी का उद्देश्य यह था कि भारत में सेवा के लिए राष्ट्रीय मिशनरियाँ (missionaries) तैयार की जायँ और भारतीयों के वास्तविक हितों को सर्व प्रकार से प्रोत्साहित किया जाय। विविध क्षेत्रों में इस सोसाइटी के सदस्यों ने उसके उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के सफल प्रयास किये। इसके एक प्रमुख सदस्य नारायण मल्हार जोशी ने बम्बई में सोशल सर्विस लीग की स्थापना की और श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस को स्थापित किया। इसके एक अन्य दूसरे सदस्य और उपसभापति हृदयनाथ कुंजरू ने इलाहाबाद में जन-सेवा के लिए 'सेवा समिति' नामक संस्था स्थापित की। सोसाइटी के सदस्य श्रीराम वाजपेयी के नेतृत्व में इसी सेवा समिति से स्काउट्स एसोसिएशन का प्रादुर्भाव हुआ। सोसाइटी की मद्रास शाखा ने ग्रामोद्धार की ओर विशेष ध्यान दिया और गुजरात में ठक्कर बापा के नेतृत्व में भीलों के उद्धार के लिए भील सेवामण्डल की स्थापना हुई।

उपरोक्त वर्णित ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज दोनों ही नवाभ्युत्थान (Renaissance) के प्रारम्भिक उपज थे। यह पाश्चात्य विचार का परिणाम और पाश्चात्य विवेकशीलता के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया का प्रतिफल था। विशिष्टता में इनसे विभिन्न अन्य दो उग्र-सुधारवादी आन्दोलन भी इनके बाद हुए हैं जिन्होंने भारत के अतीत से प्रेरणा ग्रहण की एवं उसके प्राचीन धार्मिक

ग्रन्थों से अपने मूल सिद्धान्त उपलब्ध किये। इन आन्दोलनों से हिन्दू धर्म में नवीन स्फूर्ति उत्पन्न हो गयी। ये आर्य समाज और रामकृष्ण मिशन थे।

आर्य समाज—गुजरात के संन्यासी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३) ने सुधारे हुए उग्र हिन्दू धर्म का उपदेश दिया। उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की और लूथर के समान धर्म में प्रविष्ट हुए दोष को दूर करने का बीड़ा उठाया एवं उपनिषदों तथा वेदों की प्रारम्भिक सादगी को धर्म में पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। उनका आर्य समाज हिन्दू धर्म को वैदिक आधार पर स्थापित करने का प्रयत्न था। उन्होंने केवल वेद को प्रमाण माना और उसके अध्ययन का द्वार जाति-पाँति का विचार छोड़ सबके लिए खोल दिया। उन्होंने अनेकेश्वरवाद, मूर्ति-पूजा, अवतारवाद एवं श्रद्धा का विरोध किया, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान एक ईश्वर की आराधना व उपासना का उपदेश दिया; जाति के प्रतिबन्धों, बाल-विवाह, अन्धरूढ़िवादिता, अशिक्षा, पर्दा-प्रथा, छुआछूत तथा समुद्र-यात्रा-निषेध के विरुद्ध आवाज बुलन्द की एवं विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित किया। उन्होंने बड़ी दृढ़ता से हिन्दुओं को अपने प्राचीन धर्म, गौरव, सभ्यता और आदर्श का स्मरण करा कर उन्हें स्वावलम्बी बनाने की चेष्टा की। उन्होंने विविध राष्ट्र-हितमूलक सुधारों का प्रचार कर भारतीय समाज को एक ही सूत्र में संगठित कर उसे अन्धरूढ़िवादिता के जंजाल से मुक्ति दिलायी। इस प्रकार सांस्कृतिक पुनर्जागरण के महायज्ञ में उन्होंने महत्त्वशाली भाग लिया। सन् १८७७ में आर्य समाज की स्थापना कर उसके प्रचार से उन्होंने देश के धर्म-आँगन में एक व्यापक क्रान्ति का सूत्रपात किया, जिसने कालान्तर में हमारे जीवन के अन्य अंगों को हिलाने में सहायता दी। उन्होंने शुद्धि-आन्दोलन को जन्म दिया जिसके अनुसार बहिष्कृत लोगों, अन्य धर्मावलम्बियों और ईसाई तथा मुसलमान बनाये हुए हिन्दुओं को पुनः हिन्दू धर्म में सम्मिलित किया जाता था। इस साहसपूर्ण नीति ने देश के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति का स्वर जगाया। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' जिसमें वेदों की आलोचना है, उनके विचारों व सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला प्रतिनिधि ग्रन्थ है। दयानन्द ने अपने ग्रन्थ हिन्दी में लिखकर राष्ट्रभाषा के हेतु रचनात्मक प्रयास के रूप में ठोस कदम बढ़ाया। इसके अतिरिक्त उनकी 'स्वधर्म', 'स्वभाषा' और 'स्वदेश' की आवाज ने कालान्तर में इस देश में 'स्वराज्य' की आवाज बुलन्द करने में बहुमूल्य योग दिया। योगिराज अरविन्द घोष के शब्दों में दयानन्द सरस्वती "परमात्मा की इस विचित्र सृष्टि के एक अद्वितीय योद्धा तथा मनुष्य और मानवीय संस्थाओं का संस्कार करने वाले एक अद्भुत शिल्पी थे।" वे प्राचीन और अर्वाचीन के बीच के हमारे युग-सेतु के एक महत्त्वपूर्ण

आधारस्तम्भ हैं एवं राममोहन राय और गान्धी के बीच की युग-सन्धि के सबसे महान् राष्ट्र निर्माता व संस्कृति तथा धर्म के प्रधान आचार्य हैं।

आर्य समाज संग्रामी प्रवृत्ति वाले हिन्दू धर्म का प्रतीक है। राष्ट्रीयता के अंग के रूप में तथा ईसाई धर्म व इस्लाम के सिद्धान्तों के प्रतिरोध के रूप में आर्य समाज का अत्यन्त महत्त्वशाली भाग रहा है। सामाजिक सेवाओं और सुधारों पर अधिक जोर देकर आर्य समाज उत्तरी भारत में हिन्दू पुनर्जागरण के क्षेत्र में आज भी एक महत्त्वशाली तत्त्व है। आर्य समाज देश व जाति के लिए सबल मंच बन गया। इस विशाल संस्था की लगभग डेढ़ हजार विविध शाखाएँ आज भी विभिन्न स्थानों में प्रस्थापित हैं जिनके द्वारा जाति-भेद उच्छेद, विधवा-विवाह, अछूतोद्धार, शुद्धि संस्कार, धार्मिक-सुधार, लोक सेवा, आदि के रूप में निरन्तर सुधार संगठन का न्यूनाधिक क्रम जारी है और अनेक विशाल कालिज, पाठशालाएँ और गुरुकुल उसके तत्त्वावधान में श्रेष्ठतम शिक्षण कार्य कर रहे हैं। वास्तव में आर्य समाज के दिव्य धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और शिक्षण सम्बन्धी कार्यों ने भारत के राष्ट्रीय जीवन के निर्माण में बहुत योग दिया है। इसने हिन्दुओं के धार्मिक और सामाजिक जीवन को स्वस्थ करने के लिए निरन्तर संघर्ष किया और हिन्दू जाति को सबल व क्रियाशील बनाया।

रामकृष्ण मिशन—प्राचीन या पूर्वी और अर्वाचीन या पश्चिमी विचारों का समन्वय रामकृष्ण मिशन में निहित है जो उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तिम महान् धार्मिक आन्दोलन था। स्वामी रामकृष्ण परमहंस (१८३३-१८८६) एक महान् विभूति थे जिन्होंने अन्य सुधारकों के समान किसी समाज या संस्था की स्थापना नहीं की। उन्होंने अपनी इष्टदेवी काली की भक्ति, ध्यान और योग से यह अनुभव कर लिया कि सब धर्म एक ही सनातन धर्म के अंश और अंग हैं। उन्होंने सभी मत-मतान्तरों की साधना प्रणालियों से ईश्वर का साक्षात्कार किया। उन्होंने देश को फिर से सब धर्मों की मूलभूत एकता, ईश्वर की लौकिक सत्ता एवं आध्यात्मिक जीवन की महत्ता में विश्वास जमाने की सबल प्रेरणा दी एवं निर्गुण-सगुण, एक-अनेक, द्वैत-अद्वैत, मूर्त-अमूर्त सबका मूल्य बताकर सुन्दर समन्वय किया। वे पूर्व और पाश्चात्य संस्कृतियों के समन्वय का स्वप्न सार्थक करने के लिए ही इस युग में अवतीर्ण हुए थे।

इनके प्रसिद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्द (१८६१-१९०२) ने इनकी मृत्यु के पश्चात् आध्यात्मिक उत्थान और जन-सेवा का कार्य जारी रखने के लिए 'श्री रामकृष्ण मिशन' के नाम से एक संस्था स्थापित की। सन् १८९३ में शिकागो में विश्व-धर्म-परिषद् में वे उपस्थित हुए वहाँ हिन्दू विचारों पर प्रवचन करते हुए साहसपूर्वक यह घोषणा की कि वेदान्त सभी के लिए धर्म है। उन्होंने

यूरोप व अमरीका में भारत के विशद् दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए समस्त धर्मों की शाश्वत सत्य-तत्त्वों की मूलभूत एकता, वेदान्त की महत्ता और धर्म के क्षेत्र में समन्वय की आवश्यकता पर उपदेश दिये। इस देश में ही नहीं अपितु पाश्चात्य देशों में भी उन्होंने वेदों और उपनिषदों के प्राचीन आत्मज्ञान का सन्देश गुँजा दिया। विश्व के सम्मुख भारतीय संस्कृति और सभ्यता की श्रेष्ठता व सर्वोपरिता की साहसी घोषणा करने से उन हिन्दुओं में नवीन प्रेरणा व शक्ति का संचार हुआ जो यूरोपीय संस्कृति व सभ्यता के सम्मुख अपने को हेय समझते थे। इससे भारतीयों के मन में आत्म-गौरव का एक सशक्त भाव उदित हुआ जिससे राष्ट्रीय पुनरुत्थान के मार्ग के प्रशस्त होने में निर्दिष्ट सहायता प्राप्त हुई। स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाओं ने राष्ट्रीयता, हिन्दू सभ्यता व संस्कृति की शक्ति में वृद्धि की। उन्होंने भारतीयों को नवयुग की प्रेरणा दे, उनकी नसों में जागरण का नूतन स्वर भर हमारी आध्यात्मिक और नैतिक भित्ति को पुनः दृढ़ बना हमारे सर्वतोन्मुखी उत्थान की एक विशाल पृष्ठभूमि तैयार कर दी। उनके द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन की अनेक शाखाएँ भारत व अमरीका में स्थापित हुई। इस मिशन को भारत की प्राचीन संस्कृति से प्रेरणा प्राप्त हुई है और यह धार्मिक तथा सामाजिक सुधार का समर्थन करता है। विशुद्ध वेदान्त सिद्धान्त इसके आदर्श हैं और मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता आध्यात्मिकता का विकास करना इसका लक्ष्य है। भारत के विभिन्न स्थानों में अपनी शाखाओं द्वारा यह मिशन परोपकारिता के दिव्य कार्य और देश-हितकारी साधनों से समाज-सेवा कर रहा है। अस्पताल खोलकर रोगियों की सहायता व सेवा-सुश्रूषा करना, अनाथालयों और आश्रमों द्वारा दीन-दुखियों की सेवा करना तथा विद्यालयों व वाचनालयों द्वारा ज्ञान व शिक्षा का प्रचार करना आजकल इस मिशन का विशेष कार्य है। विवेकानन्द और उनके इस मिशन ने नयी परिस्थितियों के अनुरूप हिन्दूत्व की नयी अभिव्यक्ति के लिए असाधारण कार्य किया।

थियोसोफीकल सोसाइटी (The Theosophical Society)—सन् १८७५ में न्यूयार्क में रूसी महिला मैडम ब्लेवेट्स्की और कर्नल एस० एस० ऑलकॉट ने थियोसोफीकल सोसाइटी या ब्रह्म विद्या मण्डल की स्थापना की थी। सन् १८८२ में इस संस्था का अन्तरराष्ट्रीय प्रमुख केन्द्र अड्यार (मद्रास) हो गया और तब भारत से ही इसका प्रचार अन्य देशों को होने लगा। यह कोई साम्प्रदायिक संस्था व आन्दोलन नहीं है। इसका प्रमुख उद्देश्य समस्त धर्मों की मूलभूत एकता, आध्यात्मिक जीवन का महत्त्व और विश्व-बन्धुत्व का प्रचार करना है। भारत में यह संस्था डॉ० एनी बेसेण्ट के सभापतित्व में एक अनुपम शक्ति हो गयी और इसने विश्व का और विशेषकर भारतीयों का भारतीय

संस्कृति और हिन्दू धर्म की उत्कृष्टता की ओर ध्यान आकर्षित कर धार्मिक सहिष्णुता पर अधिक जोर दिया। इसने भारत में हिन्दू धर्म को जागृति की प्रेरणा दी और शिक्षा तथा समाज-सुधार के अनेक कार्य किये। इसने बनारस, मद्रास, मदनपल्ली आदि स्थानों में साधारण व उच्च शिक्षा के साथ-साथ वैज्ञानिक हिन्दू धर्म के अध्ययन का भी प्रयत्न किया। इसका स्थापित किया हुआ बनारस का सेण्ट्रल हिन्दू कालिज बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी में परिवर्तित हो गया। इसी संस्था ने सर्वप्रथम अछूतों के लिए पाठशालाएँ निर्माण कर राष्ट्रीय कार्य की ओर ठोस कदम बढ़ाया। थियोसोफीकल सोसाइटी द्वारा स्थापित केन्द्रों और संस्थाओं का वातावरण बड़ा विशुद्ध और शिक्षाप्रद रहा है और इनसे भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण में खूब प्रोत्साहन मिला है। इस संस्था ने भारतीयों में नवीन प्रेरणा-शक्ति, अतीत में श्रद्धा, भविष्य में विश्वास व आशा उत्पन्न की एवं हिन्दू मस्तिष्क में धार्मिक हीनता की भावना को दूर कर आत्म-गौरव की नवीन भावना का संचार किया। थियोसोफीकल सोसाइटी के आन्दोलन ने हिन्दू धर्म की प्राचीन रूढ़ियों, विश्वासों और कर्मकाण्ड का प्रबल वैज्ञानिक समर्थन कर प्राचीन भारतीय आदर्शों और परम्पराओं को पुनरुज्जीवित किया है। आधुनिक काल में समस्त भारत में व्याप्त अपनी विभिन्न शाखाओं सहित यह संस्था सामाजिक व धार्मिक सुधारों एवं राष्ट्रीय निर्माण-कार्यों के लिए एक महत्त्वशाली अंग रही है।

राधास्वामी सत्संग—राधास्वामी सत्संग की स्थापना सन् १८६१ में शिवदयाल जी (१८१८-१८७८) ने आगरा में की। इस संस्था के छठे गुरु स्वामी आनन्दस्वरूप के समय इसने आश्चर्यजनक प्रगति की और दयालबाग नामक एक उन्नतिशील और औद्योगिक उपनिवेश की स्थापना की। राधास्वामी ईश्वर का नाम है और वे स्वयं पृथ्वी पर मनुष्य के रूप में अवतरित हुए थे एवं उन्होंने अपना नाम सन्तसद्गुरु बतलाया था। इस प्रकार राधास्वामी सत्संग के गुरु ईश्वर के अवतार माने जाते हैं और इसी से संस्था में गुरु-भक्ति की प्रधानता है। इस संस्था के अनुयायी बिना किसी जात-पाँत के भेद-भाव से ईश्वर की आराधना करते हैं। ये ईश्वर, संसार व जीवात्मा को सत्य मानते हैं। कबीर, दादू नानक आदि सन्तों की वाणियाँ इनके धार्मिक ग्रन्थ हैं। वास्तव में ये समस्त धर्मों को समान मानते हैं तथा प्रेम व भ्रातृत्व का प्रचार करते हैं। संक्षेप में राधास्वामी सत्संग भक्ति-मार्ग व योग-मार्ग का एक मिश्रण है। इस संस्था ने धार्मिक जागृति के साथ औद्योगिक प्रगति कर, जाति के प्रतिबन्धों का बहिष्कार कर, शिक्षा का प्रसार कर—सांस्कृतिक जागरण और राष्ट्र-निर्माण के कार्य में बहुमूल्य योग दिया।

विभिन्न धार्मिक आन्दोलनों में समानता—जैसा ऊपर वर्णित है अठारहवीं

शताब्दी में हिन्दू धर्म, समाज, सभ्यता व संस्कृति का खूब पतन हो चुका था। इस पतन से देश का उद्धार करने के लिए अनेक सुधारकों का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने अपने-अपने ढंग के आन्दोलनों से सांस्कृतिक पतन की बीमारी को रोकने की चेष्टा की। परिणामस्वरूप हमें उनके आन्दोलनों में अनेक समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं और उनके मूलभूत सिद्धान्तों में भी काफी साम्य है। इस कथन की पुष्टि निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जाती है :

१. समस्त धार्मिक आन्दोलनों का प्रारम्भ प्राचीन हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों पर हुआ और सबको ही भारतीय संस्कृति से प्रेरणा प्राप्त हुई है।

२. बहुदेववाद का सभी ने खण्डन कर एकेश्वरवाद पर अधिक बल दिया।

३. सबने हिन्दू धर्म की अन्धरूढ़िवादिता, कुरीतियाँ और कुसंस्कारों को दूर कर धर्म के वास्तविक विशुद्ध रूप को प्रकट करने का प्रयास किया।

४. सभी बाह्य आडम्बरों का परित्याग कर, विशुद्ध आचरण, निर्गुण आराधना, आध्यात्मिक उपासना एवं नैतिक जीवन का उपदेश दिया।

५. सभी ने समस्त धर्मों की मूलभूत एकता का प्रदर्शन किया तथा समस्त धर्मों के प्रति सहिष्णुता की भावना जागृत कर हिन्दू विचारधारा एवं भारतीयों की मनोवृत्ति को अधिक उदार कर दिया।

६. वर्ण-व्यवस्था की जटिलता, जाति-पाँति के कठोर प्रतिबन्धों तथा सम्प्रदायों के पारस्परिक विभेदों का घोर विरोध किया एवं एकता के सूत्र में सुसंगठित समाज के निर्माण पर अधिक बल दिया।

७. सभी ने देश के अतीत के वैभव व महानता का वर्णन किया जिससे राष्ट्रीयता के विकास में सहायता मिली।

८. सबने भारतीय स्त्री समाज की हीन दशा की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट कराया और उनके उद्धार व प्रगति के हेतु प्रयत्न किये।

९. सभी ने भारतीयों के हृदयों में अपने देश, धर्म एवं संस्कृति के प्रति प्रेम उत्पन्न कर राष्ट्रीय भावना की जागृति में मूल्यवान योग दिया।

धार्मिक आन्दोलनों का परिणाम—उपरोक्त वर्णित इन आन्दोलनों से हिन्दू समाज में देशव्यापी क्रान्ति हो गयी और सामाजिक सुधारों तथा देश-हित के कार्यों के लिए व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से प्रयत्न करने की खूब प्रेरणा मिली। जाति-प्रथा की जटिलता, सती व पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, बहु-विवाह, छुआछूत, अन्धविश्वास आदि नष्ट हो गये तथा विधवा-विवाह व स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन मिला और स्त्रियों को समान अधिकार प्राप्त हो गये। इन आन्दोलनों से नैतिकता और धर्म के नवीन विचार जागृत हुए, भविष्य की उन्नति के लिए प्रेरणा प्राप्त हुई, समाज व धर्म दोनों का परि-मार्जन हुआ जिससे नवीन भारत का प्रादुर्भाव हुआ। इसके अतिरिक्त इन

आन्दोलनों से जो नवीन हिन्दू धर्म उत्पन्न हुआ उसने शोषित और पीड़ित मानवता की सेवा-सुश्रूषा करने का बीड़ा उठाया । भारत के सांस्कृतिक इतिहास में इन आन्दोलनों की यह बड़ी भारी देन है ।

यदि इन आन्दोलनों के परिणामस्वरूप हिन्दुओं में नवजीवन का संचार हुआ और राष्ट्रीयता की जागृति हुई तो मुसलमान भी इससे प्रभावित हुए बिना न रहे । उनके समाज में भी धार्मिक आन्दोलनों की लहर दौड़ पड़ी । इसका विवेचन करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा ।

मुसलमानों में धार्मिक आन्दोलन—यद्यपि मध्य-युग में मुसलमान शासक थे परन्तु आधुनिक युग में शासन-सत्ता धीरे-धीरे उनके हाथों से चली गयी थी । अंग्रेजी शासन के प्रारम्भिक युग में वे बड़े-बड़े पदों से वंचित ही नहीं हुए अपितु कला व कौशल भी उनके हाथ से लगभग निकल गया था । अपनी आर्थिक स्थिति व सामाजिक दशा के कारण दीर्घकाल तक मुसलमान अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता से वंचित ही रहे । यद्यपि उनका समाज इस्लाम के कारण छुआछूत और जातीय भेदभाव से मुक्त था तथापि उसमें बाल-विवाह, बहु-विवाह और पर्दा-प्रथा दीर्घकाल से प्रचलित थी । कालान्तर में उनके सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में अनेक कुसंस्कार, कुरीतियाँ और अन्ध-रूढ़िवादिता घर कर गयीं ।

वर्तमान युग में नवाभ्युत्थान जागृति के फलस्वरूप भारतीय मुसलमानों में भी प्रतिक्रिया हुई । हिन्दुओं के नव-जागरण और धार्मिक आन्दोलनों ने इसे और अधिक बल दिया । फलतः भारतीय मुसलमान भी अपने धार्मिक और सामाजिक जीवन को सुधारने के लिए प्रयत्नशील हुए ।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में एक धर्म-सुधार प्रारम्भ हुआ जो अरब के मुहम्मद अब्दुल वहाब के शिष्यों द्वारा संचालित सुधार से साम्य रखता था । इस्लाम धर्म के इस सुधारवादी आन्दोलन के संचालक शाह अब्दुल अजीज, सैयद अहमद बरेलवी, शेख करामत अली व हाजी शरायतुल्ला थे । शाह अब्दुल अजीज ने इस्लाम के सुधार के लिए आचार-विचार को पूर्णतया कुरान पर अवलम्बित करने का आदेश दिया । पर मुसलमानों के सर्वप्रथम नेता जिसने मुसलमानों की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने और विशुद्ध आदर्शों की स्थापना करने की चेष्टा की, सैयद अहमद बरेलवी थे । इन्होंने ईश्वर की एकता पर पुनः बल दिया तथा प्रत्येक मुसलमान को इस्लास की व्याख्या करने का अधिकार दिया । ये सन्त-पूजा के विरोधी थे तथा धर्म-परिवर्तन कर इस्लाम धर्म ग्रहण करने वालों में विद्यमान इस्लाम विरोधी प्रथाओं को नष्ट करना चाहते थे । इनका उद्देश्य इस्लाम की नैतिक, धार्मिक, सामाजिक व राजनीतिक प्रगति करना और भारत में पुनः इस्लाम का राज्य

स्थापित करना था। ये भारत को दारुल-इस्लाम (शान्ति का घर) न मान कर दारुलहर्ब (युद्ध का घर) मानते थे और गैर-मुसलमानों के विरुद्ध धार्मिक युद्ध करने का आदेश देते थे। ये पाश्चात्य शिक्षा व संस्थाओं का विरोध करते थे। इन प्रतिक्रियावादियों ने भारत में साम्प्रदायिकता के बीज बोने में सहायता दी।

बरेलवी के आन्दोलन के विपरीत शेख करामत अली का आन्दोलन विशुद्ध रूप से धार्मिक और शान्तिपूर्ण था। इसने भारतीय मुसलमानों को पाश्चात्य शिक्षा व विचारों की ओर प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में अहमदिया आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। इसके जन्म-दाता पंजाब के गुरदासपुर जिले में कादियान के निवासी मिर्जा गुलाम अहमद (१८३९-१९०८) थे। ये धार्मिक सुधारक थे और इन्होंने एक सम्प्रदाय की स्थापना की। ये अपने आपको ईश्वर का पैगम्बर बतलाते थे जो विशुद्ध इस्लाम को पुनः स्थापित करने के हेतु आया था। यह अहमदिया आन्दोलन आर्य समाज और ईसाई धर्म-प्रचारकों के विरुद्ध ही नहीं था अपितु मुस्लिम सुधारक सर सैयद अहमद के बुद्धिवाद व पश्चिमीकरण का भी विरोधी था। अहमदिया आन्दोलन का उद्देश्य था कि कुरान की आज्ञाओं का आध्यात्मिक तथा नैतिक दृष्टि से पालन किया जाय क्योंकि उनका अक्षरशः पालन असम्भव है। इसने सन्तों की पूजा को घृणा की दृष्टि से देखा और जिहाद (धर्म-युद्ध) को अनिवार्य नहीं बतलाया। सामाजिक विषयों में इस आन्दोलन ने प्राचीन परम्पराओं का समर्थन किया, पर्दा-प्रथा, तलाक तथा बहु-विवाह-प्रथा को उचित माना। सन् १९१४ में इस आन्दोलन में नवीन लाहौरी दल का उत्कर्ष हुआ जो मिर्जा गुलाम अहमद को पैगम्बर नहीं अपितु सुधारक समझता था। इस प्रकार भारतीय इस्लाम के पुनरुत्थान के लिए प्रगतिशील और प्रतिगामी दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ प्रकट हुईं।

उपरोक्त धार्मिक प्रवृत्तियों से अधिक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन सर सैयद अहमदखाँ (सन् १८१७-१८९८) और मौलवी चिरागअली (सन् १८४४-१८९५) का था। मुसलमानों की जागृति का अधिकांश श्रेय सर सैयद अहमद को है। उन्होंने बुद्धिवाद, पूर्वी शिक्षा, आधुनिक विज्ञान तथा प्राचीन विश्वास के बीच साम्य स्थापित करके भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक, धार्मिक, शिक्षात्मक और सामाजिक विचारों में परिवर्तन करने का प्रयास किया। उन्होंने मुस्लिम संस्कृति और पाश्चात्य विज्ञान तथा उन्नति के समन्वय का उपदेश दिया और मुसलमानों को उनके उत्थान के लिए अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता की ओर आकृष्ट किया तथा मुस्लिम-यूरोपीय सौहार्द्र स्थापित करने के लिए विशेष प्रयास किया। उन्होंने मुस्लिम समाज की कुरीतियों और अन्धविश्वास

को दूर करने का प्रयत्न किया। वे पर्दा-प्रथा के विरोधी थे और स्त्री-शिक्षा का समर्थन करते थे। समाज-सुधारक के अतिरिक्त वे धर्म-सुधारक भी थे। वे इस्लाम को प्राचीन सरल और विशुद्ध रूप देना चाहते थे और इस्लाम में घुसे पीरी और मुरीदी परम्परा के दोष को दूर करना चाहते थे। उन्होंने कुरान की विस्तृत टीका लिखी जिसमें उन्होंने परम्परागत अर्थों के स्थान पर तर्क और ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर अर्थ किया। धार्मिक व सामाजिक सुधारक के अतिरिक्त वे आधुनिक शिक्षा के प्रसारक भी थे। उनकी धारणा थी कि मुसलमानों की प्रगति के लिए पाश्चात्य शिक्षा और विज्ञान के साथ उनका सम्पर्क अनिवार्य है। अतएव उन्होंने मुसलमानों में शिक्षा प्रसार के हेतु अलीगढ़ में Mohammedan Anglo-Oriental College की स्थापना की जो अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के नाम से हमारे सम्मुख आया। सर सैयद अहमद कुरान के ही टीकाकार नहीं वरन् पत्रकार और उर्दू गद्य के एक प्रसिद्ध लेखक भी थे। 'तहज़ीबुल अखलाक' नामक उनकी स्वयं की एक पत्रिका थी जिसमें लेख लिखकर वे सामाजिक सुधारों का प्रचार व समर्थन करते थे। उन्होंने अपने धार्मिक तथा सामाजिक लेखों से मुसलमानों को जगाया और उनमें नवीन आशा का संचार किया। पानीपत के ख्वाजा अल्ताफ हुसेन हाली, बिजनौर के मौलवी नजीर अहमद और आजमगढ़ के मौलवी शिबली नुमानी ने सर सैयद अहमद को उनके कार्यों में खूब सहयोग दिया था। मौलवी चिरागअली से भी इन्हें काफी सहायता मिली। मौलवी चिरागअली विद्या-प्रेमी, प्रभावशाली लेखक और उत्साही सुधारक थे। उन्होंने मुसलमानों को अपने चरित्र और रीति-रिवाजों में उन्नति करने का उपदेश दिया। उन्होंने बहु-विवाह-पद्धति का घोर विरोध किया एवं मुस्लिम विवाह-पद्धति में प्रविष्ट दोषों को दूर करने की चेष्टा की। इनके अतिरिक्त शिक्षित मुस्लिम-वर्ग ने भी बाल-विवाह, बहु-विवाह और बुर्के व पर्दे का घोर विरोध किया। लखनऊ के शेख अब्दुल हलीम, उर्दू के प्रख्यात कवि मुहम्मद इकबाल और सैयद अकबर हुसेन ने इसमें खूब सहयोग दिया। परन्तु शिक्षा के अभाव, अन्धविश्वास और रूढ़िवादिता की पृष्ठभूमि में भारतीय मुसलमानों में सुधार की प्रगति धीमी रही।

बीसवीं शताब्दी में और विशेषकर प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् मुस्लिम लीग और जिन्ना ने मुसलमानों में सुधार के साथ-साथ अपूर्व राजनीतिक चेतना उत्पन्न कर दी। इस राजनीतिक जागृति का आधार कटु साम्प्रदायिकता और हिन्दू-मुस्लिम दो विभिन्न राष्ट्र का सिद्धान्त था। फलतः भारत का विभाजन हो गया और पाकिस्तान का निर्माण हुआ।

अन्य धर्मावलम्बियों में जागृति—भारत के अन्य धर्मावलम्बियों में भी सुधार की भावना जागृत हुई। पारसी वर्ग भी सुधार की ओर अग्रसर हुआ। पारसियों

में दादाभाई नौरोजी और एम० एस० बंगाली प्रमुख थे। इन्होंने पारसियों की सामाजिक दशा सुधारने तथा पारसी धर्म का पुनरुत्थान कर उसे पूर्व पवित्रता की श्रेणी में लाने के हेतु सन् १८५१ में 'रहनुमाई मज्दयासनां' सभा की स्थापना की। यह धार्मिक तथा सामाजिक सुधार था। इसके पश्चात् सन् १९१० में पारसी धर्म गुरु ढोला के प्रोत्साहन से एक पारसी अधिवेशन का उद्घाटन हुआ जिसने पारसी वर्ग की अत्यधिक सेवा की। पारसियों न अपने सुधार के साथ-साथ देश के सामाजिक और राजनीतिक उत्थान में भी हाथ बँटाया। देश में अनेक पारसी संस्थाएं पारसी वर्ग की दानशीलता तथा धर्मपरायणता की द्योतक हैं। दादाभाई नौरोजी, सर फीरोजशाह मेहता, सर दीन शार्दूल जी आदि पारसी नेताओं ने भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रगति में बहुमूल्य योग दिया।

सिक्खों ने भी इस धार्मिक जागृति के प्रभाव में अपने धार्मिक व सामाजिक जीवन को विशुद्ध बनाने का प्रयास किया। प्रभावशाली व प्रगतिशील सिक्खों ने अमृतसर में प्रख्यात खालसा कालिज की स्थापना की। इसके अतिरिक्त 'प्रधान खालसा दीवान' नामक एक केन्द्रीय संस्था का निर्माण भी किया। इसका उद्देश्य समाज व शिक्षा की दृष्टि से सिक्खों में सुधार करना था।

इसी प्रकार भारतीय ईसाइयों में भी प्रगति व सुधार हुए। परन्तु उनमें अन्धविश्वास व रूढ़िवादिता कम थी। अतः इनमें सुधार और परिवर्तन भी अपेक्षाकृत कम हुए। विवेकशील ईसाई पादरियों और दूरदर्शी ईसाई धर्माधिकारियों ने भारतीय ईसाइयों में प्रचलित अनेक धार्मिक प्रथाओं में जो अन्तर है उसे दूर करके एक विशाल संगठन करने की चेष्टा की। प्रारम्भ में शिक्षा-प्रचार के लिए ईसाई धर्म-प्रचारकों ने शिक्षा के हेतु विद्यालय खोले और आदिवासियों व दलित-वर्गों को ईसाई धर्म में सम्मिलित कर लिया। इन नवीन ईसाइयों को शिक्षा की सुविधा देकर उन्नत किया गया। अनाथालयों, औषधालयों, विद्यालयों आदि परोपकारी संस्थाओं के द्वारा ईसाई धर्म-प्रचारकों ने जनता की खूब सेवा की तथा भारतीय शिक्षा व साहित्य को उन्नत करने में अनमोल योग दिया।

हिन्दू समाज

पुस्तक के प्रारम्भ में आर्य समाज का वर्णन करते समय यह बताया गया था कि हिन्दू समाज का संगठन वर्ण-व्यवस्था के आधार पर हुआ था। कालान्तर में 'संयुक्त परिवार' और 'आश्रम प्रणाली' का प्रादुर्भाव हुआ। संयुक्त परिवार में परिवार का संचालन व संरक्षण परिवार में आयु, अनुभव व पद में सबसे बड़े व्यक्ति के हाथ में होता था। पारस्परिक सहयोग व सहानुभूति, स्नेह व प्रेम पर यह परिवार-प्रथा अवलम्बित थी। मानव-जीवन के चार भाग—

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—कर दिये गये थे। ग्रह्य व धर्म-सूत्रों द्वारा सामाजिक व्यवस्था को संचालित किया गया था। समाज में स्त्री का समुचित मान व पद था और उसके लिए शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था थी। परन्तु मध्य-युग में धार्मिक नैतिकता विलीन हो जाने और राजनीतिक दासता के कारण हिन्दुओं की उपरोक्त सामाजिक व्यवस्था विकृत हो गयी। प्राचीन सामाजिक व्यवस्था का संतुलन अव्यवस्थित हो गया और उसका विकास व प्रगति अवरुद्ध हो गयी। वर्ण-व्यवस्था व आश्रम-प्रथा छिन्न-भिन्न हो गयी, प्रमुख जातियाँ संकुचित उपजातियों में विभक्त हो गयीं जिनमें परस्पर जटिल जाति-नियन्त्रणों व भेदों की अलंघ्य खाइयाँ निर्मित हो गयीं। आधुनिक युग के प्रारम्भ में जाति-प्रथा की जटिलता व अपरिवर्तनशीलता अत्यधिक बढ़ गयी, विभिन्न जातियों तथा उप-जातियों में पारस्परिक खान-पान, विवाह व सामाजिक समागम वर्जित हो गया, छुआछूत की समस्या विकृत रूप में प्रकट हो गयी, समुद्र-यात्रा निषिद्ध कर दी गयी, इसकी अवहेलना करने वालों को परिवार व समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता था, मुसलमानों के प्रभाव से पर्दा-प्रथा की वृद्धि हो गयी, निरक्षरता बढ़ने लगी और हिन्दुओं का दृष्टिकोण संकुचित हो गया। धार्मिक प्रभुता व अन्धविश्वास, पुरोहितवाद और कर्म-काण्ड, विकृत रूढ़िवाद तथा जाति के नियन्त्रणों के भँवर में पड़कर हिन्दू समाज बहु-विवाह, बाल-विवाह, बाल-विधवा, सती-प्रथा, पर्दा-प्रथा, शिशु-हत्या, देवदासी-प्रथा, कुलीन-प्रथा और अन्धरूढ़िवादिता के बोझ से डूबने लगा।

परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नवाभ्युत्थान से उत्पन्न जागृति के परिणामस्वरूप हिन्दू समाज के ये दोष धीरे-धीरे कम होते गये और हिन्दू समाज का धार्मिक, सामाजिक व आर्थिक संतुलन पुनः पूर्ववत् व्यवस्थित होने लगा। इसके प्रमुख कारण पाश्चात्य सभ्यता, पाश्चात्य शिक्षा, नवीन आर्थिक परिस्थितियाँ और दृष्टिकोण, यातायात के सरल व सुगम साधन, विशाल नगरों की वृद्धि, बड़े-बड़े कल-कारखानों का निर्माण, सामाजिक और राज-नीतिक संस्थाएँ, क्लब, विद्यालय, महाविद्यालय, सिनेमा, नाट्यगृह, होटल, नवनिर्मित कानून आदि हैं। उपरोक्त वर्णित धार्मिक आन्दोलन तथा जन-जागृति ने भी इस सामाजिक प्रगति के लिए खूब योग दिया। समाज की इस कायापलट को समझने के लिए सामाजिक सुधारों का विवेचन यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

सामाजिक सुधार

अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत निम्नलिखित सामाजिक सुधार हुए। यहाँ यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यूरोप और इंगलैण्ड में सुधारों का आन्दोलन धर्म से अलग ही रहा परन्तु भारत में सुधारों का आन्दोलन धार्मिक

सुधारों के साथ-साथ ही हुआ। निम्नलिखित सामाजिक सुधार विशेष उल्लेखनीय हैं :

१. **शिशु-हत्या**—सर्वप्रथम महत्त्वशाली सामाजिक सुधार जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने किया वह शिशु-हत्या का अन्त करना था। शिशुओं की यह अमानुषिक हत्या शिशु को गंगा के मुहाने पर समुद्र में फेंककर या कन्याओं को उचित पुष्टिकारक भोजन से वंचित कर या माता के स्तनों को विषयुक्त करके कर दी जाती थी। यह हत्या सन् १७९५ के बंगाल रेग्यूलेशन २१ और सन् १८०२ के रेग्यूलेशन ६ से निषिद्ध कर दी गयी।

२. **सती-प्रथा का अन्त**—भारत में द्वितीय महत्त्वपूर्ण सुधार सती-प्रथा का अन्त था जो राजा राममोहन राय के निरन्तर प्रयासों से सफल हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में राजा राममोहन राय ने सती-प्रथा का नाश करने के लिए सरकार का हाथ बँटाया और सती-प्रथा के विरुद्ध सक्रिय प्रचार किया। इस व्यावहारिक विरोध के फलस्वरूप लार्ड विलियम बैण्टिक ने सन् १८२९ में सती-प्रथा गैर-कानूनी घोषित कर दी।

३. **बहु-विवाह और बाल-विवाह**—आधुनिक युग में राजा राममोहन राय प्रथम भारतीय थे जिन्होंने बहु-विवाह के विरुद्ध आवाज बुलन्द की और उनका यह कार्य उनके पश्चात् आने वाले अनेक उत्साही कार्यकर्ताओं ने जारी रखा। सन् १८७२ के नेटिव मैरिज एक्ट (Native Marriage Act) द्वारा, जो केशवचन्द्र सेन के प्रयत्नों से स्वीकृत हुआ था, बाल-विवाह का उन्मूलन कर दिया गया, बहु-विवाह को दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया, विधवा-विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह उन लोगों के लिए स्वीकृत कर दिये गये जो इस कानून के अधीन होना चाहते थे। आर्य समाज ने भी बाल-विवाह का अन्त करने के लिए कठिन प्रयत्न किया और आधुनिक युग के सबसे बड़े पारसी सुधारक बी० एम० मलाबारी ने भी बाल-विवाह के विरोध में सन् १८८४ में सक्रिय आन्दोलन आरम्भ किया। फलस्वरूप सन् १८९१ में एज ऑव कंसेन्ट (The Age of Consent) कानून स्वीकृत हुआ। इसके अनुसार घोर विरोध होने पर भी विवाह की आयु दस से बारह वर्ष कर दी गयी। सन् १९०१ में बड़ौदा राज्य की सरकार ने 'Infant Marriage Prevention Act' द्वारा विवाह के लिए कन्या की आयु १२ वर्ष और लड़कों की १६ वर्ष कर दी। सन् १९३० में व्यवस्थापिका सभा और राज्यसभा (Council of State) ने अजमेर के हरविलास शारदा द्वारा प्रस्तावित Child Marriages Restraint Bill स्वीकृत कर दिया। इसके अनुसार १८ वर्ष से कम आयु वाले लड़के १४ वर्ष से कम आयु वाली लड़की का विवाह दण्डनीय अपराध कर दिया। परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों और शिक्षा

ने बिना किसी प्रयास के ही लड़के और लड़कियों की वैवाहिक आयु सुधारकों और कानून निर्माताओं की आशा से भी अधिक बढ़ा दी है। सामाजिक परम्परा के अनुसार विभिन्न बहानों की आड़ में हिन्दू पति अपनी पत्नी के जीवित रहने पर भी अन्य विवाह कर सकते थे और अनेक ने किये भी, परन्तु शिक्षा-प्रचार व प्रगति के साथ-साथ सामाजिक दृष्टिकोण बदल गया और इस प्रथा का प्रायः अब अन्त हो चुका है।

४. विधवा-विवाह आन्दोलन—अठारहवीं शताब्दी के मध्य में हिन्दू समाज में विधवा-विवाह को प्रचलित करने के लिए प्रयास किया गया, पर वह असफल रहा। पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (१८०२-१८९१) ने विधवा-विवाह के लिए तीव्र आन्दोलन किया और इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु भारत सरकार के पास एक निवेदन पत्र भी भेजा। उनके भगीरथ-प्रयत्नों के परिणामस्वरूप सन् १८५६ में एक कानून बना जिसके अनुसार विधवा-विवाह कानूनी मानकर विवाहित विधवाओं की सन्तान की वैधता (legitimacy) घोषित कर दी गयी। ब्रह्म समाज और आर्य समाज ने विधवा-विवाह को लोकप्रिय बनाने के हेतु दिव्य प्रयास किये। सभी प्रान्तों में विधवा-विवाह आन्दोलन के समर्थक होने लगे। सन् १८६१ में स्थापित बम्बई की विधवा विवाह संस्था, अहमदाबाद में प्रारम्भ की हुई विधवा पुनर्विवाह-संस्था, मैसूर का महारानी स्कूल, पंजाब में पवित्र संस्था और लखनऊ की हिन्दू-विधवा सुधार लीग, सभी ने विधवाओं की दयनीय दशा को सुधारने के लिए प्रशंसनीय कार्य किये। अनेक प्रगतिशील उदार विचार वाले दानशील व्यक्तियों ने विधवाओं के लिए आश्रमों की व्यवस्था की एवं उनकी शिक्षा आदि का प्रबन्ध भी किया। शालाओं, अस्पतालों तथा अन्य संस्थाओं में शिक्षित विधवाओं को नौकरियाँ देकर उनके वैधव्य जीवन की जटिलता, नीरसता व यातनाओं को कम किया गया। समय-समय पर शिक्षित वर्ग ने उनके विवाह भी कराये और विधवा-विवाह को सामाजिक दृष्टि से निष्कलंक बतलाकर प्रोत्साहित किया गया।

५. स्त्री-शिक्षा व स्त्रियों की प्रगति—प्राचीन भारत में स्त्री-शिक्षा का प्रचार खूब था, मध्यकालीन भारत में यत्र-तत्र इसका अस्तित्व विद्यमान था पर मुगल साम्राज्य के पतन के बाद से ही स्त्री-शिक्षा को किसी प्रकार का प्रोत्साहन प्राप्त नहीं हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में फिर इस परम्परा की जागृति हुई और स्त्री-शिक्षा को नवीन प्रेरणा मिली। सन् १८५७ के सिपाही विद्रोह के पूर्व हिन्दू कन्याओं के लिए स्कूल स्थापित किये गये और ईसाई धर्म-प्रचारकों ने ईसाई धर्म को ग्रहण करने वाले व्यक्तियों की पुत्रियों के लिए शालाएँ खोलीं। मई, १८४६ ई० में सर्वप्रथम कलकत्ता में हिन्दू

बालिका विद्यालय नाम से एक बालिका विद्यालय की स्थापना हुई। लार्ड डलहौजी ने इस बालिका विद्यालय के लिए कुछ रुपयों का अनुदान दिया। सन् १८५७ तक लगभग सौ राजकीय महिला विद्यालयों की स्थापना हो गयी। सिपाही विद्रोह के बाद सरकार तथा अनेक सामाजिक संस्थाओं जैसे ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफीकल सोसाइटी, सर्वेण्ट्स ऑव इण्डिया सोसाइटी से स्त्री-शिक्षा को खूब प्रोत्साहन मिला। दक्षिण शिक्षा-समिति ने भी स्त्री-शिक्षा की समस्या हल करने के लिए महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान की। सन् १९०७ में Indian Women's Association की स्थापना के बाद से स्त्री-शिक्षा की ही ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया अपितु उनकी साधारण दशा सुधारने के प्रयत्न भी किये गये। सन् १९०९ में पूना में श्रीमती रानाडे द्वारा स्थापित पूना सेवा सदन, सन् १९०८ में मलाबारी द्वारा स्थापित सेवा-सदन सोसाइटी और सन् १९१४ में Women's Medical Service ने नर्स और मिडवाइफ के प्रशिक्षण के लिए शिशु स्वास्थ्य रक्षा तथा मातृत्व की प्रगति के हेतु और विधवाओं को नौकरियाँ दिलाने के लिए प्रशंसनीय कार्य किये। सन् १९१६ में दिल्ली में स्थापित लेडी हार्डिंज मेडिकल कालिज स्त्रियों को एम० बी० बी० एस० की शिक्षा दे रहा है और भारतीय रेडक्रास सोसाइटी का Maternity and Child Welfare Bureau भी महिलाओं को लाभदायक सेवाओं की शिक्षा दे रहा है। इसके अतिरिक्त स्त्रियों के लिए अनेक विद्यालय और महाविद्यालय खोले गये और इस दिशा में प्रतिदिन प्रगति होती जा रही है। निम्न वर्गों में भी स्त्रियों की उन्नति की ओर ध्यान दिया जा रहा है। यदि एक ओर निर्धन पुरुषों की भाँति उसी वर्ग की स्त्रियाँ अपनी जीविकोपार्जन हेतु मिलों में मजदूरी, अन्य संस्थाओं में कार्य और खेतों में काम कर रही हैं तो दूसरी ओर शिक्षित स्त्रियाँ विद्यालयों, शिशु-गृह, आश्रमों और अस्पतालों का संचालन कर रही हैं, प्रान्तीय तथा अखिल भारतीय शासन सेवा में प्रवेश कर रही हैं, सरकारी और गैर-सरकारी पदों के लिए चुनी जाने लगी हैं, और देश-विदेश में भारत सरकार के राजनीतिक हितों का प्रतिनिधित्व कर रही हैं। सन् १९४७ के बाद स्त्रियाँ न्याय-विशेषज्ञ, मन्त्री और राजदूत भी होने लगी हैं। भारत के नवीन कानूनों और विधान से सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाकर स्त्रियों को आर्थिक स्वतन्त्रता दी गयी और समान अधिकार देकर समस्त लिंग भेदों (sex differences) को समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार साहित्य, शासन और स्वदेश-रक्षा के क्षेत्र स्त्रियों के लिए समान रूप से खोल दिये गये।

६. **महिला मताधिकार आन्दोलन**—सन् १९१७ के पश्चात् इस आन्दोलन को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई और स्त्रियाँ अनेक कौंसिलों, संस्थाओं, कार-

पोरेशन और म्युनिसिपैलिटियों में सदस्य होने लगीं। कतिपय ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में भाग लिया। उनसे सम्बन्धित मताधिकार की योग्यताएँ उदार कर दी गयीं और उन्हें मत देने का अधिकार दिया गया। सन् १९३५ के भारतीय सरकार के एक्ट ने स्त्रियों को केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारासभा में स्थान (seats) दिये। भारत के नवीन संविधान ने प्रत्येक बालिग स्त्री को मताधिकार दिया गया है।

७. पर्दा-प्रथा का अन्त—स्त्री-शिक्षा से सम्बन्धित ही पर्दा-प्रथा का उन्मूलन है। शिक्षित हिन्दू महिलाओं ने ही नहीं अपितु शिक्षित मुस्लिम महिलाओं ने भी पर्दा-प्रथा का बहिष्कार किया है। यद्यपि दक्षिण भारत में इस प्रथा का अस्तित्व ही नहीं था, तथापि सारे देश में सामान्य जागृति, शिक्षा आदि के प्रभाव से इस प्रथा का अन्त हो रहा है।

८. दास-प्रथा का अन्त—समाज में दासत्व एक भयंकर अभिशाप रहा है। सन् १८११ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार ने भारत में दासों के आयात पर रोक लगा दी और सन् १८३२ में दासों का एक जिले से दूसरे जिले में क्रय-विक्रय अपराध मान लिया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सन् १७३३ के आज्ञापत्र (Charter) के द्वारा भारत से दासता का अन्त कर दिया गया और सन् १८३४ के कानून के अनुसार यह गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया तथा भारतीय दण्ड विधान के अनुसार दास-व्यापार एक दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया।

९. दलित-वर्ग की उन्नति—आधुनिक युग वर्ण-व्यवस्था के सबसे अधिक विकृत स्वरूप, अछूतों की समस्याओं, में व्यक्त हुआ। अछूत हिन्दू समाज के अंग होते हुए भी उससे बहिष्कृत माने जाने लगे। हिन्दू मन्दिरों, सार्वजनिक स्थानों, कुओं, उत्सवों, शालाओं आदि के उपयोग से वे वंचित कर दिये गये। दक्षिण भारत में सवर्ण हिन्दू अछूतों की छाया-मात्र के स्पर्श से ही अपने को अपवित्र मानने लगे। राजनीतिक नौकरियों, अधिकारों व मतों से भी वे वंचित कर दिये गये। दरिद्रता व अशिक्षा ने उनके नैतिक स्तर को अत्यधिक गिरा दिया। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक नियन्त्रणों, अयोग्यताओं व असुविधाओं के बोझ से वे कराहने लगे। अस्पृश्यता का कलंक हिन्दू समाज का उपहास करने लगा।

समाज-सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप दलित जातियों में भी नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। इनकी दशा सुधारने के लिए ईसाई धर्म-प्रचारकों, ईसाई संस्थाओं, थियोसोफीकल सोसाइटी, रामकृष्ण मिशन और विशेषकर आर्य समाज ने खूब प्रयत्न किये। यदि ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अनेक अछूतों को ईसाई बना लिया तो आर्य समाज ने 'शुद्धि' द्वारा उनमें से अनेक को पुनः

हिन्दू समाज में ले लिया। सन् १६१६ में बम्बई में स्थापित दलित वर्ग मिशन समाज (The Depressed Classes Mission Society of Bombay), गांधीजी के हरिजन आन्दोलन, हरिजन सेवक संघ, हरिजन पत्र, श्री गोखले के अनेक कानूनों ने दलित वर्गों की उन्नति में अमूल्य योग दिया है। इन्होंने उनकी शिक्षा को प्रोत्साहित किया, उनको काम दिलाया, धन्धों में लगाया, उनकी सामाजिक अयोग्यताओं का निवारण किया, उदार धर्म के सिद्धान्तों की उन्हें शिक्षा दी, चरित्र द्वारा व्यक्तित्व-निर्माण और स्वस्थ नागरिकता का उपदेश दिया। स्वयं हरिजन भी अपने मानवीय अधिकारों के लिए आन्दोलन करने लगे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे अछूतों की दशा अपेक्षाकृत सुधरने लगी। अनेक मन्दिर तथा सार्वजनिक स्थान हरिजनों के लिए खोल दिये गये, उनके लिए शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध कर दिया गया, सरकारी नौकरियों में प्रवेश करने के लिए उन्हें विशेष सुविधाएँ दी गयीं और भारत के नये विधान में उन्हें सभी प्रकार के अधिकार देकर भारत से अस्पृश्यता को सदैव के लिए विनष्ट करने का प्रयास किया गया। परन्तु दलित वर्गों की आर्थिक दशा आज भी सन्तोषप्रद नहीं है।

१०. जाति-प्रथा की शिथिलता—आधुनिक युग में और विशेषकर बीसवीं शताब्दी में जाति-प्रथा की जटिलता बहुत कुछ ढीली हो गयी और उसके नियन्त्रणों में शिथिलता आ गयी। पहले खान-पान और विवाह के विषय में जातीय बन्धनों में जकड़ा हुआ हिन्दू अपना पैतृक पेशा भी नहीं छोड़ सकता था और विदेशियों के सम्पर्क से दूषित होने के भय से जलपोत द्वारा विदेश-यात्रा भी नहीं कर सकता था। शिक्षित वर्ग ने क्रमशः इन नियमों की उपेक्षा करना प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम खान-पान और समुद्र-यात्रा के बन्धन तोड़े गये। रेल व मोटरों में प्रवास की आवश्यकताओं ने, आधुनिक ओषधियों के सेवन, होटलों के खान-पान, आधुनिक शिक्षा व उदार पाश्चात्य विचारों ने जातियों के छुआछूत और खान-पान के बन्धनों को शिथिल कर दिया। समूचे देश में एक कानून लागू होने तथा समानता के सिद्धान्त का पालन होने से प्राचीन जाति-भेद समाप्त हो गया और कानून द्वारा अनेक प्रान्तों में जाति-बहिष्कार दण्डनीय अपराध बना दिया गया। देश के सभी भागों में विभिन्न जातियों में पारस्परिक खान-पान और अन्तर्जातीय विवाह को खूब प्रोत्साहन मिलता रहा। आर्थिक परिस्थितियों के प्रहार से विवश होकर अनेक लोग अपने पैतृक धन्धों को छोड़कर विभिन्न प्रकार के व्यवसायों को स्वतन्त्रतापूर्वक करने लगे हैं। यद्यपि वर्ण-व्यवस्था के प्रतिबन्ध अपेक्षाकृत शिथिल हो गये हैं, पर उनका अस्तित्व किसी न किसी रूप में आज भी विद्यमान है।

११. संयुक्त परिवार-प्रथा—परिवर्तित दशा में संयुक्त परिवार की व्यवस्था

भी बदल गयी। कुटुम्ब के विभिन्न लोगों की नौकरी, वाणिज्य या उद्योग और स्थानाभाव के कारण एक ही परिवार के लोगों को विभिन्न स्थानों में रहना पड़ता है। परिवार के सदस्यों की आय व धन्धे में अन्तर होने के कारण परिवार में प्रचलित उदारता, स्नेह, सहयोग व सहायता का अन्त हो गया। स्वतन्त्रता, समानता और व्यक्तिवाद की पाश्चात्य विचार शृंखलाओं के कारण संयुक्त परिवार व्यवस्था को भारी आघात लगा और भारत में यह द्रुत गति से लुप्त होती जा रही है।

साहित्यिक जागृति

आधुनिक युग में धार्मिक तथा सामाजिक जागृति के साथ-साथ साहित्यिक जागृति भी हुई। इसके निम्नलिखित कारण हैं :

(१) भारतीय नवाभ्युत्थान के कारण संस्कृत की अनेक पुस्तकों का अनुवाद अंग्रेजी में हुआ। अंग्रेजों द्वारा संस्कृत के अध्ययन से भारत विषयक अध्ययन का उदय हुआ। इससे हमें भारत के लुप्त गौरव का प्रामाणिक परिचय मिला और अंग्रेजी शिक्षित समाज ने भारतीय संस्कृति को अंग्रेजी भाषा के द्वारा समझा। फलस्वरूप भारतीय संस्कृति की विभिन्न विचारधाराओं को पुनः प्रकट करने और भारत के गौरवमय अतीत को व्यक्त करने के लिए देशी भाषाओं की विभिन्न शाखाओं का आश्रय लिया गया।

(२) जीवन और समाज के समस्त क्षेत्रों में सम्पूर्ण सुधार करने की प्रबल भावना ने साहित्य में एक नवीन प्रेरणा दी।

(३) विश्व के विभिन्न देशों के सम्पर्क तथा पाश्चात्य देशों के साहित्य के अध्ययन से देशी भाषाओं में परिवर्तन होने लगा और उनमें आधुनिकता का समावेश हो गया।

(४) अठारहवीं शताब्दी में युद्ध से उत्पन्न अशान्त वातावरण के पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी शासन ने भारत में शान्ति और सुव्यवस्था के वातावरण का निर्माण कर दिया था। इससे भारतीयों को अपने साहित्य के विषय में सोचने और अपने श्रेष्ठ विचारों को अभिव्यक्त करने के अवसर प्राप्त हुए।

(५) अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से भारत का बौद्धिक जागरण ही नहीं हुआ, अपितु इस शिक्षा ने भारतीयों के समक्ष साहित्य-क्षेत्र के नवीन विचार और आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किये।

(६) मुद्रणालयों के अधिकाधिक प्रचार से पुस्तकों की संख्या और प्रसार ही नहीं बढ़ा, अपितु ज्ञान-कोष में भी वृद्धि हुई। साहित्य को देश-काल के अनुसार बनाने व उसमें उन्नति करने में बड़ी सुगमता हो गयी। पत्र-पत्रिकाओं का नवीन मार्ग खुल गया और प्रायः सभी विषयों पर देशी भाषाओं में पुस्तकें

प्राप्त होने लगीं। इसके अतिरिक्त प्रतिभावान व बुद्धिशाली हिन्दू यूरोप के इतिहास व साहित्य में जो कुछ श्रेष्ठ व स्वस्थ था उसके सम्पर्क में आये और उससे उन्होंने लाभ उठाया।

(७) ईसाई धर्म-प्रचारकों ने ईसा का सन्देश भारतीय जनता तक पहुँचाने के लिए लोक-भाषाओं की प्रगति की ओर अधिक ध्यान दिया। कलकत्ता के पास सिरामपुर के बेप्टिस्ट धर्म-प्रचारकों ने बँगला, हिन्दी आदि लोक-भाषाओं के मुद्रणालय स्थापित किये और देशी भाषाओं का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके व्याकरण और शब्द कोष निर्मित किये। प्राचीन सुविकसित देशी भाषाओं के अतिरिक्त इन्होंने छोटी और अविकसित भाषाओं को भी ईसाई धर्म के प्रचार के लिए अपनाया। इस प्रकार इन धर्म-प्रचारकों ने लोक-भाषाओं का आधुनिक स्वरूप निश्चित किया, उनके साहित्य को अपनाया और इस भाँति भारतीय लोक-साहित्य की बहुमूल्य सेवाएँ कीं।

(८) बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में राष्ट्रीय जागृति और स्वतन्त्रता-आन्दोलन के कारण लोक-भाषाओं को खूब प्रोत्साहन मिला।

विकसित लोक-साहित्य की विशेषताएँ—उपरोक्त कारणों से पिछले सौ वर्षों में सभी प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में उत्कृष्ट रचनाएँ लिखी गयीं। साहित्य की विविध शाखाएँ उपन्यास, नाटक, काव्य, निबन्ध, कहानी आदि अधिक सम्पन्न हो गयीं। इस साहित्यिक प्रगति में भी श्रेणियाँ रहीं। सर्वप्रथम जिन्हें अंग्रेजी में शिक्षा प्राप्त हुई थी, वे लोक-भाषाओं में यूरोप की साहित्यिक प्रवृत्तियों को अपनाने लगे और देशी भाषाओं में अंग्रेजी पुस्तकों का अनुवाद करने लगे। उन्होंने अपनी विचारधाराओं व शैली में कोई परिवर्तन नहीं किया। कुछ समय बाद साहित्य में नवीनता को स्थान दिया गया और साहित्य की विभिन्न शाखाओं में प्रगति हुई। साहित्य में भारतीयता की झलक दिखने लगी। पर साहित्यिकों की शैली व विचारधारा पाश्चात्य ही रही। नाटक, कविता, उपन्यास, कहानी, ऐतिहासिक वर्णन आदि में अंग्रेजी साहित्य की छाप स्पष्ट प्रकट होने लगी। एकांकी नाटक, अतुकान्त कविताएँ, चतुर्दशपदियाँ (Sonnet), छायावाद, रहस्यवाद आदि इसके उदाहरण हैं। देशी भाषाओं के साहित्य में विचारधारा, शैली और विषयों का चुनाव अंग्रेजी और यूरोपीय साहित्य से प्रभावित हुआ। गद्य के क्षेत्र में भी पाश्चात्य गद्य शैली का प्रभाव झलकता है। वास्तव में हमारा गद्य साहित्य अंग्रेजी पुस्तकों के अनुवाद से प्रारम्भ होता है। कुछ समय पश्चात् हमारी देशी भाषाओं का गद्य साहित्य पाश्चात्य नमूने पर निर्मित हुआ।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से राष्ट्रीय जागरण और स्वतन्त्रता आन्दोलन के परिणामस्वरूप देश प्रेम और राष्ट्रीय भावना की धाराएँ उत्पन्न हुईं।

राष्ट्रीयता की इस लहर ने देशी भाषाओं के साहित्य को श्रेष्ठतम मानवीय विचारधाराओं से सम्पन्न किया। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ इसके पथ-प्रदर्शक थे।

उपरोक्त बातों के अतिरिक्त हमारी देशी भाषाओं के साहित्य में लचीलापन, विभिन्नता, प्राकृतिक धारावाही प्रवाह, मधुरता और आधुनिकता उत्पन्न हो गयी। भाषाओं के कोष अधिक विस्तृत हो गये और भाषाओं में इतनी अधिक स्पष्टता, सरसता, पवित्रता, निर्दिष्टता और शक्ति आ गयी कि आधुनिक युग के विविध विषय और विभिन्न विचारधाराओं की अभिव्यक्ति सरलता से हो सकी।

हिन्दी—यद्यपि हिन्दी साहित्य का इतिहास अति प्राचीन है परन्तु उसका वास्तविक आधुनिक साहित्यिक रूप अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में हुआ। इस आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य की विचारधारा लौकिक व पारलौकिक दोनों ही थी। इस काल में गद्य का विकास व विस्तार हुआ, भाव का नवीन रूप और धार्मिक भावनाओं का आधुनिक दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ, जीवन के समस्त विभागों पर साहित्य में दृष्टिपात हुआ, वर्णनात्मक और नीतिकाव्य की प्रधानता रही, साहित्य के सभी क्षेत्रों में राष्ट्रीय भावना का सूत्रपात हुआ और क्रियात्मक साहित्य का प्रणयन हुआ।

यद्यपि हिन्दी साहित्य में व्रजभाषा का बोलबाला रहा, पर आधुनिक युग में खड़ी बोली का प्रचार बढ़ता गया और अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में 'सुखसागर' के लेखक सदासुखलाल और 'रानी केतकी की कहानी' के लेखक इंशाअल्लाखाँ खड़ी बोली के लेखक थे। हिन्दी गद्य का विकास उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ, जब 'प्रेमसागर', 'सिंहासन बत्तीसी' के लेखक लल्लूलाल और 'नासिकेतोपाख्यान' के रचियता सदल मिश्र विद्यमान थे। इसी समय कैरी की हिन्दी की बाइबिल के कुछ अंश (New Testament) का प्रकाशन सन् १८०६ में हुआ और सन् १८१८ में सम्पूर्ण बाइबिल का हिन्दी रूपान्तर छाप दिया गया। कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालिज में मुद्रणालय और सन् १८३७ में दिल्ली में मुद्रणालय हो जाने से हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन तीव्र गति से होने लगा। पर इस समय हिन्दी की कोई विशेष उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई। यह हिन्दी गद्य का शैशव-काल था। हिन्दी गद्य के प्रसार में ईसाइयों का बहुत कुछ योग रहा। हिन्दी में शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें प्रथम उन्होंने तैयार कीं। इसके बाद हिन्दी में सन् १८३० में राजा राममोहन राय ने 'बंगदूत', जुगलकिशोर ने सन् १८२७ में 'उदन्त मार्तण्ड' और राजा शिवप्रसाद ने सन् १८४६ में 'बनारस अखबार' काशी से निकाला। इस समय साहित्य-क्षेत्र में दो समुदाय हो गये, एक हिन्दी में उर्दूपन के पक्ष में था और दूसरा विशिष्ट हिन्दी के पक्ष में। राजा शिवप्रसाद प्रथम के और

राजा लक्ष्मणसिंह द्वितीय के समर्थक थे। पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५१-१८८६) ने शुद्ध हिन्दी का प्रयोग कर अपनी प्रतिभा व उद्भावना से हिन्दी को सुव्यवस्थित और परिमार्जित कर दिया। उन्होंने भाषा को 'चलताऊ, मधुर और स्वच्छ' बनाया और वास्तव में वे वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्तक हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य को नये मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। भारतेन्दु ने 'चन्द्रावली', 'अन्धेर नगरी', भारत दुर्दशा' जैसे मौलिक नाटक लिखे, 'कर्पूर मंजरी', 'मुद्राराक्षस' आदि नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया, कई पत्रों का सम्पादन किया, ब्रजभाषा में कविताएँ लिखीं और 'काश्मीर कुसुम' तथा 'बादशाह दर्पण' इतिहास लिखे। इस प्रकार उन्होंने अपने विविध लेखों और विभिन्न रचनाओं से हिन्दी साहित्य को सम्पन्न किया और तरुण लेखकों को साहित्यिक प्रेरणा दी। भारतेन्दु के मार्ग का अनुकरण करने वालों में प्रताप नारायण मिश्र, उपाध्याय, पण्डित बद्रीनारायण चौधरी, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहनसिंह, लाला श्रीनिवासदास, पण्डित बालकृष्ण भट्ट, पण्डित अम्बिका दत्त व्यास और गदाधरसिंह विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रतापनारायण की रचनाओं में विनोदप्रियता विशेष थी। उनकी प्रतिभा 'हठी हम्मीर', 'संगीत शाकुन्तल', गौसंकट नाटक' और विविध प्रकार के निबन्धों में प्रकट हुई है। बालकृष्ण भट्ट निबन्ध लेखक व आलोचक के रूप में प्रकट हुए। पण्डित प्रताप नारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी गद्य साहित्य में वही काम किया जो अंग्रेजी गद्य साहित्य में एडीसन व स्टील ने किया था।

अब हिन्दी गद्य साहित्य के उत्थान का द्वितीय युग (१८६६-१८९४) प्रारम्भ होता है। इस काल में बंग भाषा की ओर अधिक झुकाव रहा, उसके ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी में किया गया जिससे परिमार्जित व सुन्दर संस्कृत पदविन्यास की परम्परा हिन्दी में आयी। साथ ही व्याकरण की शुद्धता और भाषा की स्वच्छता की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा। इसके प्रवर्त्तक महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। उनकी प्रेरणा से हिन्दी की अर्थोद्घाटिनी शक्ति की अच्छी वृद्धि हुई और अभिव्यंजना प्रणाली का भी अच्छा प्रसार हुआ। समालोचना की दृष्टि में पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने प्रथम विस्तृत आलोचना का मार्ग निकाला और मिश्र बन्धुओं और पद्मसिंह शर्मा ने आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे। शर्माजी ने तारतम्यिक आलोचना का शौक पैदा किया। इस युग में मौलिक नाटकों की रचना कम हुई परन्तु बँगला के नाटकों का और विशेषकर द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्र बाबू के नाटकों तथा संस्कृत व अंग्रेजी के नाटकों का अनुवाद हुआ। इसी प्रकार बँगला के उपन्यासों का भी हिन्दी अनुवाद खूब हुआ। पर बाबू देवकीनन्दन खत्री और पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी ने हिन्दी में मौलिक उपन्यास लिखे। बाबू देवकीनन्दन

के प्रभाव से तिलस्म और ऐय्यारी के उपन्यासों की हिन्दी में बहुत दिनों तक भरमार रही।

हिन्दी साहित्य का प्रचार और उसकी समृद्धि के हेतु सन् १८९४ में बाबू श्यामसुन्दरदास, पण्डित रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमारसिंह के प्रयत्नों से काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई जो आज भी विद्यमान है। इस सभा के स्थापित हो जाने के बाद से हिन्दी में नाटक, उपन्यास, इतिहास, निबन्ध, समालोचना तथा वैज्ञानिक विषयों पर पुस्तकें व पत्र-पत्रिकाएँ बड़ी संख्या में निकलने लगीं।

बीसवीं शताब्दी से हिन्दी गद्य साहित्य में एक नवीन युग प्रारम्भ होता है। इस युग में हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंगों की अच्छी पूर्ति हुई और साहित्य पुष्ट तथा प्रौढ़ हो चला। यद्यपि प्रारम्भ में नाटक, उपन्यास, निबन्ध, समालोचना, काव्य-स्वरूप, मीमांसा आदि समस्त क्षेत्रों में पाश्चात्य प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा, पर धीरे-धीरे मौलिकता की झलक दृष्टिगोचर होने लगी। गल्प और उपन्यास क्षेत्र में प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, जैनेन्द्र कुमार, बेचन शर्मा उग्र, चण्डीप्रसाद, सुदर्शन, विश्वम्भर शर्मा, कौशिक, चतुरसेन शास्त्री, राय कृष्णदास आदि प्रमुख लेखक हैं। इनमें प्रेमचन्द सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके मौलिक उपन्यासों में निम्न व मध्यम श्रेणी के गृहस्थों के जीवन का सच्चा स्वरूप मिलता है। शील-वैचित्र्य में और व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का मार्मिकता से वर्णन करने में प्रेमचन्द अद्वितीय रहे हैं। उनके उपन्यास 'सेवासदन', 'गोदान' व 'गबन' हिन्दी साहित्य की निधि हैं। ऐतिहासिक उपन्यास क्षेत्र में 'गढ़ कुण्डार' और 'झांसी की रानी' के लेखक वृन्दावनलाल वर्मा प्रसिद्ध हैं। वर्तमान नाटक क्षेत्र में स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद और श्री हरिकृष्ण प्रेमी अधिक प्रसिद्ध हैं। प्रसाद के 'स्कन्दगुप्त', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'ध्रुवस्वामिनी', 'चन्द्रगुप्त' नाटक प्रख्यात हैं और प्रेमीजी का 'रक्षा-बन्धन'। हिन्दी के कई अच्छे कवियों और नाटककारों ने कुछ एकांकी नाटक भी लिखे हैं। विश्वविद्यालयों के उपयुक्त निबन्ध भी लिखे गये। इसके अतिरिक्त निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक ढंग से विस्तृत आलोचकों में लाला भगवानदीन, रामचन्द्र शुक्ल व श्यामसुन्दरदास विशेष उल्लेखनीय हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ब्रजभाषा में कविता होती रही। परन्तु भारतेन्दु ने गद्य के समान काव्य की ब्रजभाषा को भी परिष्कृत कर दिया। ब्रजभाषा की पुरानी परिपाटी के कवियों में लाला सीताराम, जगन्नाथदास रत्नाकर, श्रीधर पाठक, वियोगी हरि और लाला भगवानदीन अधिक प्रसिद्ध हैं। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ होते-होते खड़ी बोली में भी कविता होने लगी और काव्य-क्षेत्र में एक नवीन धारा प्रवाहित हुई एवं कवि नये-नये

विषयों की ओर प्रवृत्त हुए। इससे काव्यत्व का श्रेष्ठ स्फुरण हुआ। आधुनिक काव्य क्षेत्र में 'प्रिय-प्रवास' के लेखक अयोध्यासिंह 'हरिऔध', 'रामचरित चिन्तामणि' के रचयिता रामचरित उपाध्याय और 'साकेत' तथा 'यशोधरा' के रचयिता मैथिलीशरण गुप्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मैथिलीशरण गुप्त प्रतिनिधि और सामंजस्यवादी कवि माने जाते हैं। विश्वयुद्ध के पश्चात् हिन्दी काव्य-क्षेत्र में 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' का प्रादुर्भाव हुआ। इसके अनुसार कवि-कल्पना प्रत्यक्ष जगत से अलग एक रमणीक स्वप्न घोषित की जाने लगी और कवि सौन्दर्य-भावना के मद में झूमने वाला एक लोकातीत जीव। इस 'वाद' में अभिव्यंजना प्रणाली तथा शैली की विचित्रता ही सब कुछ समझी गयी। इस क्षेत्र में कवि जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त और महादेवी वर्मा हैं। प्रसादजी की काव्य-प्रतिभा 'आँसू' 'लहर' और 'कामायनी' में अभिव्यक्त हुई, निरालाजी की प्रसिद्धि 'तुलसीदास', पन्तजी की 'पल्लव', 'गुंजन', 'युगान्त' और 'युगवाणी' एवं महादेवी वर्मा की 'यामा' में निहित है।

राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश की सरकार ने अपने यहाँ देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी को प्रान्तीय भाषा घोषित कर दिया। उसका अनुकरण बिहार, मध्य प्रान्त और मध्य भारत ने भी किया। संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित कर दिया गया और अब हिन्दी को विभिन्न भाषा-भाषी राष्ट्रभाषा के रूप में अपना रहे हैं।

उर्दू—अपने प्रारम्भिक विकास में उर्दू, अरबी व फारसी की अत्यन्त ऋणी रही है। आधुनिक युग में अरबी व फारसी के प्राचीन ग्रन्थों के अच्छे-अच्छे संस्करण भारत में प्रकाशित होने लगे, जिनका व्यापक प्रचार अफगानिस्तान, ईरान तथा अन्य मुसलमानी राज्यों में हो रहा है। भारत में 'मदरसतुल आलिया' कलकत्ता, 'दारुलउलूम' देवबन्द (सहारनपुर) और 'नदवतुल उलमा' लखनऊ जैसे विद्यालयों में अरबी तथा फारसी की अच्छी व्यवस्था रही है। इनमें भारत से बाहर के देशों के विद्यार्थीगण भी शिक्षा पाते हैं। परन्तु आधुनिक ब्रिटिश शासनकाल अरबी, फारसी की अपेक्षा उर्दू की उन्नति के लिए ही अधिक प्रख्यात है।

दिल्ली के मुगल सम्राटों की उन्नति और अवनति के साथ उर्दू की भी उस स्थान में विशेष उन्नति और अवनति होती रही। मुगल बादशाहों की अवनत दशा में भी दर्द, सोज और सौदा जैसे कवियों ने कुछ समय तक उनके दरबार में अपनी अनुपम रचनाओं द्वारा बड़ा यश प्राप्त किया। दर्द ने उर्दू कविता को 'भाषा दोहारों' के प्रभाव से मुक्त किया और अपनी श्रेष्ठ सूफी विचारधाराओं से गम्भीर बना दिया। सोज ने गजलें लिखकर बड़ी कीर्ति

प्राप्त की। सौदा ने उर्दू में हिन्दी शब्दों की बड़ी काट-छाँट कर उर्दू काव्य में 'कसीदा' और हास्य रस की रचनाओं का प्रचार किया। मीरत की भी प्रसिद्धि दिल्ली के मुगल सम्राट् के दरबार में हुई थी। उर्दू गजलों का यह 'शेखसादी' कहा जाता है। इसकी गजलें दूर-दूर तक लोग भेंट की तरह ले जाया करते थे। मीर ने बहुत-सी मसनवियाँ और कसीदे भी लिखे हैं। शाह आलम के दरबार के कवि सैयद इंशाअल्लाखाँ उर्दू तथा हिन्दी दोनों में कविता करते थे। इनमें हास्य रस की मात्रा अधिक थी। मुगल सम्राट् शाह आलम द्वितीय अपना उपनाम 'आफताब' रखकर कविता करते थे। इसी प्रकार अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह द्वितीय भी 'जफर' उपनाम से कविता करते थे। इनके समय में गालिब और जौक ऐसे कवियों से दिल्ली दरबार साहित्य की दृष्टि से देदीप्यमान हो उठा। जौक ने उर्दू भाषा को परिष्कृत बनाया और कसीदा एवं गजल में अच्छा यश प्राप्त किया। गालिब उच्चकोटि के उर्दू के कवि थे। उन्होंने उर्दू के साहित्यिक स्तर को एकदम ऊँचा उठा दिया। गालिब की रचनाएँ श्रेष्ठ विचारों से ओतप्रोत और मौलिक हैं। उर्दू के गद्य और पद्य दोनों में ही उन्हें श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। गालिब उर्दू के तुलसी या सूर हैं।

मुगल सम्राटों की दशा बिगड़ जाने पर अनेक कवियों ने लखनऊ के नवाबों का आश्रय लिया और इस प्रकार लखनऊ में उर्दू का एक नवीन साहित्य क्षेत्र खुल गया। लखनऊ में नासिख और आतिश ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। लखनऊ काव्य-क्षेत्र में नासिख की कविता सनद मानी जाती है। इन्होंने विशेषतः गजलें ही लिखी हैं और कुछ तारीखें भी। आतिश की कविता में प्रसाद, सौकुमार्य गुण, नैसर्गिकता, भावों की उच्चता, गाम्भीर्य, धार्मिक विचारादि अधिक हैं। लखनऊ में 'मर्सियों' का बड़ा प्रचार हुआ। मर्सिये शोक-गीत को कहते हैं जो मृत की प्रशंसा या स्मृति में लिखा जाता है। इन मर्सियों में कहीं-कहीं बड़े मर्मस्पर्शी भाव प्रकट किये गये हैं। मर्सियों का उर्दू साहित्य में विशेष स्थान है। इसके कारण उर्दू साहित्य में लम्बी-लम्बी कविताओं का सूत्रपात हुआ जिनमें प्राकृतिक दृश्यों तथा मनुष्य के मानसिक विकारों का अच्छा वर्णन होने लगा। उर्दू साहित्य में वीर रस की कविता के अभाव को मर्सियों ने पूरा किया। लखनऊ के अनीस, दबीर आदि ने मर्सियों में खूब ख्याति प्राप्त की। उर्दू साहित्य को गन्दा करने वाली 'रेखती' कविता का प्रचार लखनऊ के व्यसनी दरबार में ही अधिक हुआ। अवध के अन्तिम बादशाह वाजिदअली को इस कविता का बड़ा शौक था।

लखनऊ में आश्रयदाताओं के राज्य-भ्रष्ट होने पर उर्दू कविता का केन्द्र रामपुर बन गया। रामपुर के नवाब यूसुफअलीखाँ और कल्बअलीखाँ स्वयं

विद्वान और कवि थे एवं गुणियों के उदार आश्रयदाता थे। रामपुर के बाद हैदराबाद, भोपाल, पटना, टोंक, फर्रुखाबाद, मुर्शिदाबाद आदि स्थान उर्दू साहित्य के केन्द्र हो गये। आधुनिक युग में अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य का प्रभाव उर्दू पर भी पड़ा और उर्दू कविता की गतिविधि बदलने लगी। केवल शृंगार रस को छोड़कर इसका भी प्रवाह समाज और देश की ओर हो गया। कवियों की प्रवृत्ति नवीन विषयों की ओर झुकी, स्वाभाविक वर्णन को विशेषता दी जाने लगी और गजलों का स्थान 'मुसद्दस' तथा 'मसनवियों' ने ले लिया। आजाद और हाली के साथ उर्दू साहित्य में एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ। उर्दू-साहित्य के इतिहास में आजाद का स्थान अनूठा और उच्च है। ये उर्दू के अमर कवि तथा गद्य लेखक हैं। इनकी गद्य लेखन-शैली निज की है और कविता को नवीन ढंग देने के ये उन्नायक हैं। हाली का भी कवि, समालोचक तथा गद्य लेखक की दृष्टि से उर्दू साहित्य के इतिहास में बहुत ऊँचा स्थान है। हाली की कविताएँ प्रकृति-सौन्दर्य और सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित हैं। उर्दू काव्य के क्षेत्र में अकबर इलाहाबादी, डॉ० सर मुहम्मद इकबाल, 'हाफिज' जालन्धरी और 'जोश' मलीहाबादी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। अकबर अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे। पर जीवन के दृष्टिकोण और सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम मुहम्मद इकबाल ने किया। प्रारम्भ में इनकी रचनाओं में उदार राष्ट्रीयता थी पर बाद में इनकी कृतियाँ संकीर्ण साम्प्रदायिकता से कलुषित हो गयीं।

उर्दू गद्य की उन्नति सर्वप्रथम कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालिज में हुई। इस कालिज के प्रथम प्रिंसिपल डॉ० जॉन बॉर्टविक गिलक्राइस्ट ने अनेक योग्य विद्वानों को एकत्र करके उर्दू की कुछ पुस्तकें लिखवायीं। सन् १८३५ से उर्दू को अदालती भाषा बना देने से उत्तरी भारत में इसका खूब प्रचार हुआ। आधुनिक उर्दू गद्य-परम्परा के प्रवर्तन में गालिब और सर सैयद अहमद का नाम उल्लेखनीय है। गालिब के पत्र, भूमिकाएँ और आलोचनाएँ प्रसिद्ध हैं। गालिब ने गद्य की उन्नति में खूब भाग लिया। सर सैयद अहमद ने प्रभावोत्पादक सरल अखबारी भाषा का प्रचार किया और विविध विषयों पर उन्होंने लेख लिखे। उर्दू साहित्य में सर सैयद अहमदखाँ का स्थान अद्वितीय है। अनेक लेखकों ने इनकी शैली का अनुकरण किया। इसके अतिरिक्त मौलवी अल्ताफ हुसेन 'हाली' और मौलाना शिबली ने भी गद्य के विकास में अपनी रचनाओं द्वारा खूब योग दिया। कालान्तर में लखनऊ से भी गद्य साहित्य का उत्कर्ष हुआ। पंडित रतन नाथ सरशार और मौलवी अब्दुल हलीम जैसे उपन्यासकारों और मौलाना मुहम्मद हुसेन ने उर्दू गद्य क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया। पाश्चात्य सम्पर्क से उर्दू क्षेत्र में नाटक का प्रारम्भ हुआ और पौराणिक,

ऐतिहासिक तथा सामाजिक नाटकों की संख्या बढ़ने लगी। बँगला, मराठी आदि अन्य भारतीय भाषाओं के नाटकों के भी अनुवाद किये गये। बेताब, काश्मीरी, तुलसीदत्त शैदा, हरिकृष्ण जौहर, मुंशी जगनकिशोर, इब्राहीम, मशहूर, हकीम अहमदशुजा आदि उर्दू के प्रसिद्ध नाटककार हैं। गल्प और उपन्यास के क्षेत्र में हिन्दी, बँगला आदि के अनूदित ग्रन्थों के अतिरिक्त स्वतन्त्र मौलिक उपन्यास व गल्प भी लिखे गये। नजीर अहमद, आजाद, सरशार, मिर्जा मुहम्मद हादी, मुंशी धनपतराय (प्रेमचन्द) आदि इस क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं। उर्दू पत्रकारिता ने भी अब विशेष प्रगति की है। आजकल अलीगढ़ और हैदराबाद उर्दू साहित्य में मुख्य केन्द्र हैं। अलीगढ़ के मुस्लिम विश्वविद्यालय ने उर्दू की ओर विशेष ध्यान दिया, हैदराबाद के उस्मानिया विश्वविद्यालय में उर्दू को शिक्षा का माध्यम बनाकर उसकी प्रभूत प्रगति की गयी, और औरंगाबाद में 'अंजुमन तरक्की उर्दू' ने अच्छा साहित्य प्रकाशित किया है। (ब्रजरत्नदास कृत उर्दू साहित्य का इतिहास और रामबाबू सक्सेना कृत 'हिस्ट्री ऑव उर्दू लिटरेचर')।

बँगला—बँगला साहित्य का आरम्भ कई शताब्दियों पूर्व हुआ था। मध्यकालीन युग में सन्त भक्तों ने अपने भक्ति साहित्य से इसे सुसम्पन्न किया। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में पश्चिमी बंगाल में नवद्वीप के राजा कृष्णचन्द की राजसभा बँगला के कवियों का प्रमुख स्थान था। इन कवियों में रामप्रसाद एवं 'अन्नदामंगल' व 'विद्यासुन्दर' के रचयिता भारतचन्द्र राय गुणाकर प्रधान थे। भारतचन्द्र की कृतियों में संस्कृत शब्दों व छन्दों का बाहुल्य है। पूर्वी बंगाल में इसी युग में विक्रमपुर के नरेश राजवल्लभ की राजसभा में जयनारायण सेन एवं उनकी भतीजी आनन्दमयी ने बड़ा यश प्राप्त किया था। ग्राम-साहित्य की प्रगति भी भजन-कीर्तन, यात्रा और 'कविवालाओं' द्वारा हो रही थी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में चन्द्रनगर में एेण्टनी नाम का एक पुर्तगाली बड़ा प्रसिद्ध 'कविवाला' था। इसी समय करमअली और अलीराज जैसे मुसलमानों ने भी मधुर गीतों की रचना बँगला में की।

बँगला गद्य का विकास उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से होता है। इस समय से रामपुर (श्रीरामपुर) के ईसाई धर्म-प्रवर्तकों और फोर्ट विलियम कालिज कलकत्ता के पंडितों और मौलवियों ने बँगला में आधुनिक गद्य साहित्य के निर्माण का प्रयास किया। डाक्टर कैरी, मार्शमन, वार्ड और प्रेसी हॉलहेड ने बँगला में कई पुस्तकें निकालीं। फोर्ट विलियम कालिज में शिक्षा के लिए बँगला के विधिवत् अध्ययन और अध्यापन का प्रबन्ध किया गया और प्रायः सभी विषयों पर बँगला में पुस्तकें लिखी गयीं। परन्तु राजा राममोहन राय ने प्रभावोत्पादक गद्य शैली का विकास किया। इसीलिए वे आधुनिक बंगला साहित्य के गद्य के पिता कहे जाते हैं। परन्तु उनकी भाषा में फारसी

शब्दों का बाहुल्य था। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने बँगला को संस्कृत का पुट देकर आधुनिक रूप प्रदान किया। अक्षयकुमार दत्त ने भी अपने निबन्धों द्वारा गद्य के विकास में सहयोग दिया। ब्रह्म समाज के अनेक कर्मठ कार्यकर्ताओं ने जैसे देवेन्द्रनाथ टैगोर, केशवचन्द्र सेन, पंडित शिवनाथ शास्त्री आदि ने श्रेष्ठ धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य की रचना की। अब तक बँगला में अंग्रेजी राज्य और पाश्चात्य शिक्षा के कारण आचार-विचार और रहन-सहन में बड़ा परिवर्तन हो गया था। समाज-सुधार ने जोर पकड़ा और देशभक्ति ने नवीन प्राण फूंक दिये। इससे साहित्य ने राष्ट्रीयता के क्षेत्र में पदार्पण किया और इसके साथ-साथ बँगला साहित्य में पश्चिमी शिक्षा और संस्कारों का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा।

बँगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चटर्जी, जिनकी रचनाओं में प्राचीन और अर्वाचीन भारत का सुन्दर समन्वय है, नवीन विचार और शैली के प्रणेता हैं। इनके समय से बँगला-साहित्य के नवीन युग का श्रीगणेश होता है। उन्होंने तत्कालीन बँगला के भद्देपन को दूर कर उसे परिष्कृत किया एवं उसे श्रेष्ठ विचारों की अभिव्यक्ति के योग्य बना दिया। उनके बाद उपन्यास के क्षेत्र में उमेशचन्द्र दत्त, श्रीमती स्वर्णकुमारी घोषाल, तारकचन्द्र गंगोली, पण्डित शिवनाथ शास्त्री आदि ने खूब यश प्राप्त किया। बीसवीं शताब्दी में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरतचन्द्र चटर्जी ने उपन्यास क्षेत्र में अद्वितीय सफलता प्राप्त की है। उनके उपन्यासों का अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। निबन्ध क्षेत्र में कालीप्रसन्न घोष, राजकुमार मुकर्जी, चन्द्रनाथ बसु, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि ने अपनी रचनाओं से बँगला के वैभव में वृद्धि की है। नाटकों के क्षेत्र में रामनारायण तर्करत्न ने सन् १८५४ में 'कुलीन कुल सर्वस्व' नामक प्रथम मौलिक नाटक बँगला में लिखा। इसके बाद 'तिलोत्तमा' और 'शर्मिष्ठा' नाटक के रचयिता माइकेल मधुसूदन दत्त, 'नील दर्पण' के लेखक दीनबन्धु मित्र, गिरीशचन्द्र, अमृतलाल बोस और द्विजेन्द्रलाल राय ने मौलिक नाटक लिखकर बँगला को सुसम्पन्न किया। घोष के नाटकों में काव्य का लालित्य है और राय के नाटक तो विविध भाषाओं में अनूदित हो चुके हैं। आत्मकथाओं और जीवन-चरित्रों का भी बँगला में बाहुल्य रहा। महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर और रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी आत्मकथाएँ लिखी हैं। राममोहन राय, अक्षयकुमार दत्त, मधुसूदन दत्त, महाराजा मणीचन्द्र नन्दी, विद्यासागर आदि के प्रशंसनीय जीवन-चरित्र भी रोचक भाषा में लिखे गये हैं।

राजा राममोहन राय, मधुसूदन दत्त, तोरुदत्त, श्रीमती सरोजनी नायडू और उनके बन्धु हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने अंग्रेजी में भी रचनाएँ की हैं और उसके गद्य एवं पद्य के वैभव में वृद्धि की है।

काव्य-क्षेत्र में भी बँगला साहित्य सुसम्पन्न रहा। पद्य में मधुसूदन दत्त ने अंग्रेजी के कवि मिल्टन के आधार पर 'चतुर्दशपदी' (Sonnet) और अतुकान्त काव्य (Blank Verse) का प्रचार किया। इनका प्रसिद्ध काव्य 'मेघनाथ बध' है। यही छाप साहित्य के अन्य कवियों की रचना में भी प्रतिबिम्बित होती है। इनके बाद हेमचन्द्र, गिरीशचन्द्र घोष, बिहारीलाल चक्रवर्ती, नवीन सेन, रंगलाल, कामिनी राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा सत्येन्द्रनाथ दत्त की कृतियों का भी बड़ा सम्मान हुआ है। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ का प्रभाव बँगला के निर्माण में बहुत ही रहा है। उन्होंने अपनी अद्वितीय कृतियों से भारत में ही नहीं अपितु समस्त विश्व में ख्याति प्राप्त की है और साहित्य में उन्हें 'नोबुल पुरस्कार' प्राप्त हुआ है। इनका प्रभाव भारत की अन्य भाषाओं के साहित्य पर भी हुआ है। बँगला में विज्ञान तथा दर्शन के श्रेष्ठ, उच्च और सूक्ष्म विचारों को सुन्दर, रोचक व सरल भाषा में अभिव्यक्त करने का श्रेय श्री रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी को है। सारांश में विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य की अपेक्षा बँगला का साहित्य बहुत उन्नत, सुसम्पन्न और मौलिक है। (डॉ० ईश्वरीप्रसाद द्वारा लिखित 'भारत का इतिहास—भाग २'; गंगाप्रसाद मिश्र कृत 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य' और सरकार व दत्त कृत 'मॉडर्न इण्डियन हिस्ट्री—भाग २')

मराठी—सन् १८१८ में महाराष्ट्र में अंग्रेजी राज्य की स्थापना हो गयी थी। इसका परिणाम मराठी साहित्य पर भी हुआ। महाराष्ट्र स्वराज्य के साथ-साथ लोगों की कर्तृत्व शक्ति भी विलीन हो गयी थी, पर अंग्रेजी प्रभुत्व के कारण समाज व साहित्य में नवीन भावनाओं का उत्कर्ष हुआ। महाराष्ट्र में अंग्रेजों की विद्या, कला, शास्त्र, साहित्य आदि में प्रवीण होने को ही विद्वत्ता माना जाने लगा और अंग्रेज संस्कृति के गुणानुवाद में ही जीवन की इतिश्री समझी जाने लगी। सन् १८१८ के बाद का कुछ वर्षों का मराठी साहित्य ऐसी ही भावनाओं से ओतप्रोत रहा। फलतः अंग्रेजी पुस्तकों का अनुवाद इस काल के मराठी साहित्य की प्रधानता रही है। शेक्सपियर के अंग्रेजी नाटकों का व संस्कृत के नाटकों का अनुवाद भी किया गया। इसी बीच अंग्रेज पादरियों ने ईसाई धर्म के प्रचारार्थ मराठी भाषा के व्याकरण व शब्दकोष तैयार किये। इनसे प्रेरणा ले दादो व पाण्डुरंग ने 'मराठी भाषेचे व्याकरण' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। इससे इन्हें मराठी भाषा के पाणिनि कहते हैं। इसके पश्चात् साहित्य, शास्त्र, संस्कृत, प्राकृत, तथा अंग्रेजी व्याकरण व कोष, धर्मशास्त्र, व्यवहार, नीतिशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र, विविध कला आदि अनेक विषयों पर निबन्ध एवं पुस्तकें लिखी गयीं। काव्य, उपन्यास, नाटक आदि में भी उल्लेखनीय प्रगति होने लगी। इस युग में 'लोक-हितवादी'

गोपालहरी देशमुख ने अपने 'शतपत्रों' में आर्य धर्म, आर्य संस्कृति के अध्ययन व अध्यापन आदि की कटु आलोचना करके अंग्रेजी साहित्य व साम्राज्य की प्रशंसा की। देशमुख, भण्डारकर, रानाडे आदि तत्कालीन श्रेष्ठ व्यक्तियों के बहुमुखी साहित्य में भी देश-प्रेम की प्रचुर भावना होने पर भी अंग्रेजी साहित्य का आदर्शवाद स्पष्ट झलकता है। इससे मराठी साहित्य में नवीन प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हुई। एक ओर प्राचीन मराठी साहित्य की परम्पराओं को बनाये रखने का प्रयत्न किया जा रहा था तो दूसरी ओर अंग्रेजी शासकों के प्रभाव में अंग्रेजी साहित्य की प्रवृत्तियों को अपनाने का प्रयत्न किया जा रहा था।

अर्वाचीन मराठी साहित्य के तीन युग माने गये हैं—प्रथम सन् १८१८ से १८७४ तक, द्वितीय सन् १८७४ से १९३४ तक और तृतीय सन् १९३४ से आज तक। मराठी साहित्य के प्रथम उपन्यास, प्रथम कोष, प्रथम व्याकरण के निर्माण का श्रेय प्रथम युग को है। द्वितीय युग के निर्माण करने वाले प्रसिद्ध निबन्ध लेखक विष्णु शास्त्री चिपलूणकर थे। इस समय महाराष्ट्र में राजकीय दासता के साथ-साथ मानसिक दासता और साहित्यिक निर्जीवता आ गयी थी। उसे चिपलूणकर के 'निबन्धमाला' नामक मासिक पत्र ने दूर कर दिया। महाराष्ट्र में इस महान् पण्डित ने भारतीय सभ्यता, साहित्य व संस्कृति का जीर्णोद्धार अपनी लेखनी से किया। आत्म-तिरस्कार और आत्म-प्रवंचना की भावना मराठी साहित्य में से दूर करने और मराठी निबन्ध साहित्य की प्रभावशाली प्रगति का श्रेय चिपलूणकर को है। इस युग में साहित्यिक प्रगति के साथ-साथ महाराष्ट्र में राजकीय उन्नति भी हो रही थी। फलतः राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत 'केसरी', 'मराठा सन्देश' व 'काल' पत्र निकाले गये। इसी बीच लोकमान्य तिलक के अद्वितीय त्याग व देश-सेवा के कार्यों से मराठी साहित्य और भी अधिक जीवित हो गया। इसी काल में राजकीय, सामाजिक और धार्मिक तीनों प्रकार के सुधारों की साहित्यिक प्रवृत्तियों का उत्कर्ष हुआ। लोकमान्य तिलक के 'केसरी' में लिखे निबन्ध व उनका 'गीता रहस्य', आगरकर के 'सुधारक' में लिखे गये निबन्ध, हरिभाऊ आप्टे की 'पणलक्षान्त कोणघेत', 'म्हैसुरचा वाघ' जैसे सामाजिक व राजकीय उपन्यास, श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर का 'सुदाम्या चे पोहे', गो० ब० देवल का 'शरदा' नाटक, बा० म० जोशी की 'सुशीलेचादेव' शिवराम परांजपे के 'काल' नामक पत्र में कटु निबन्ध, अच्युतराव कोल्हटकर के 'सन्देश' में लिखे गये तीक्ष्ण निबन्ध, इतिहासाचार्य विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े का जीवन भर का इतिहास सम्बन्धी कार्य पारसनीस व राजाराम भागवत के ऐतिहासिक संशोधन कार्य आदि मराठी साहित्य में चिरस्मरणीय हैं। हरीभाऊ आप्टे को आधुनिक मराठी उपन्यास के जनक और श्रीकृष्ण कोल्हटकर को विनोद का जनक माना गया है। इसी युग में

महाराष्ट्र में अनेक समाजोपयोगी व साहित्योपयोगी संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ और मराठी साहित्य पूर्णरूपेण क्रियाशील हो गया। न० चि० केलकर ने निबन्ध, इतिहास, काव्य, नाटक आदि अनेक रूप से मराठी साहित्य को विशाल व समृद्ध किया। इसी से इन्हें महाराष्ट्र में साहित्य सम्राट् की उपाधि से विभूषित किया गया। अण्णा किर्लोस्कर, कृष्णाजी खाड़िलकर, श्रीपाद कोल्हटकर, रा० ग० गड़करी, मामा वरेरकर इस काल के प्रमुख नाटककार हैं। कोल्हटकर जिनका 'महाराष्ट्र गीत' आज भी प्रसिद्ध है, इस काल के प्रसिद्ध कवि व नाटककार थे। इस युग में 'केशवसुत' उर्फ कृष्णाजी केशव दामले ने मराठी काव्य में कायापलट कर दी। इसके बाद रेवरेण्ड तिलक, विनायक दत्त, बालकवि ठोमरे, ताँबे, चन्द्रशेखर और विनायक सावरकर ने भी कविता देवी को अपने काव्य आभूषण पहनाये। विनायक सावरकर की कविता ओज, देशभक्ति व स्वतन्त्रता आदि भावों से ओतप्रोत है। इनका 'अठारह सौ सत्तावन का स्वातन्त्र्य समर' अत्यधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

इस युग में गल्प लेखकों के सम्राट् वि० स० खाण्डेकर और उपन्यास क्षेत्र में कायाकल्प करने वाले प्रो० ना० सी० फड़के की लेखनी प्रारम्भ हुई। ये दोनों ही अपने क्षेत्र के युग-प्रवर्तक माने गये हैं। इस युग के अन्य प्रशंसनीय लेखक चि० वि० वैद्य, डाक्टर केतकर, गो० स० सरदेसाई, महामहोपाध्याय, द० वा० पोतदार, वि० सी० गुर्जर, नाथ माधव, साने गुरुजी, माड़खोलकर, देशपाण्डे, विभावरी शिरूरकर, कुमुदिनी प्रभावलकर, ना० ह० आप्टे आदि हैं। माड़खोलकर के उपन्यास और आलोचनात्मक पुस्तकें तथा साने गुरुजी का सात्विक साहित्य मराठी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं इस युग के काव्य में रविकिरण मण्डल के गिरीश, यशवन्त और माधव ज्यूलियन की त्रिमूर्ति तथा उपन्यास के क्षेत्र में फड़के, खाण्डेकर व माड़खोलकर की त्रिमूर्ति विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन त्रिमूर्तियों ने आधुनिक युग में मराठी साहित्य में विशिष्ट परम्पराओं को जन्म दिया।

मराठी साहित्य का तृतीय युग सन् १९३४ से सन् १९४० के मध्य में प्रारम्भ होता है। इस युग में तरुण पीढ़ी के साहित्यिकों में पश्चिमी साहित्य का बढ़ता हुआ प्रभाव, विश्वव्यापी दृष्टिकोण, स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की प्रवृत्ति, मूल कारणों को खोजने की जिज्ञासा, आन्तरिक दृष्टिकोण में अन्तर आदि स्पष्ट रूप से मराठी साहित्य में दृष्टिगोचर होने लगे। इसके अतिरिक्त व्यावहारिक जगत की बढ़ती हुई दौड़-धूप, यान्त्रिकयुगीन मानव के बदलते हुए सौन्दर्याकर्षण, धर्म, कर्म व ईश्वर के प्रति अनिष्ठा व संयम की विशिष्ट झलक भी मराठी वाङ्मय में स्पष्टतः दीखने लगी। साथ ही छोटी कहानियाँ, एकांकी नाटक, छाया नाटक, भाव गीत, 'भावकणिका' रेडियो पर

प्रसारित छोटे नवीनतम नाटक आदि का भी खूब प्रचार होने लगा। इस युग की अन्य विशेषता मानम विश्लेषण की प्रधानता, सर-रियलिज्म (Sur-realism) का उत्कर्ष और साहित्य में 'टेकनिक' के समर्थक फड़के और 'टेकनिक' के विरोधक य० गो० जोशी का विवाद है। बाल मर्टेकर, मनमोहन, कुसमाग्रज उर्फ वा० नि० शिखाड़कर, संजीवनी मराठे, अनिल देशपाण्डे, विनायक कुलकर्णी, अनन्त काणेकर, चिन्तामणि जोशी, ग० दि० माड़गूलर आदि सन्धि-काल के प्रतिनिधि माने गये हैं। यद्यपि प्रह्लाद केशव अत्रे ने बीते हुए युग की नाटक परम्पराओं को कतिपय समय के लिए बनाये रखा परन्तु आधुनिक युग में ये हास्याचार्य माने गये हैं। कमतनूरकर, रांगणेकर, ताम्हनकर शुक्ल, टिपणीस, औंधकर, वर्नेक ताम्हनकर, नागेन जोशी, शकुन्तला परांजपे, मुक्ता दीक्षित आदि ने नाटक के क्षेत्र में अपनी-अपनी रचनाएँ की हैं। विनोबा भावे, धनंजय, गाडगिल, काका कालेलकर, रामचन्द्र जोग, नरहरी फाटक, डॉ० केशव वाटवे, कृष्णजी कुलकर्णी, ग० वा० कवीश्वर आदि को समालोचनात्मक मौलिक ग्रन्थ लिखने का श्रेय प्राप्त है। उच्चकोटि के निबन्ध तथा शास्त्रीय मौलिक साहित्य का निर्माण इसी युग में माना जाता है। इस युग में गम्भीर विषयों का शास्त्रीय ढंग से लालित्यपूर्ण भाषा में विवेचन करने की सामर्थ्य वि० स० खाण्डेकर, प्रो० ना० सी० फड़के और ग० त्र्यं० माड़खोलकर की लेखनी में है। इनकी रचनाएँ गुण व संख्या दोनों में ही विपुल है। काव्य में तुकान्त कोमलपद व भावगर्भित तथा शास्त्रीय पाण्डित्यपूर्ण ढंग से साहित्यिक विषयों का विवेचन ही आधुनिक मराठी साहित्य की विशिष्टता है।

गुजराती—मराठों के आक्रमण और लूट-खसोट से उत्पन्न अनिश्चित राजनीतिक परिस्थिति के कारण अठारहवीं शताब्दी में गुजराती साहित्य की कोई विशिष्ट प्रगति न हो सकी। फिर भी सन्त भक्तों की परम्परा चलती रही। इन सन्त भक्तों में सहजानन्द द्वारा स्थापित स्वामीनारायण सम्प्रदाय के विद्वान साधु और भक्त प्रमुख थे जिन्होंने गुजराती काव्य-क्षेत्र को सुसम्पन्न किया। इस सम्प्रदाय के प्रेमानन्द और ब्रह्मानन्द काव्य-क्षेत्र में प्रख्यात हैं। प्रतीम के पद और ब्रह्मानन्द के भजन आज भी गुजरात में बहुत लोकप्रिय हैं। भक्तों की परम्परा के कारण अठारहवीं शताब्दी में गुजराती में 'गर्वा-साहित्य' का उत्कर्ष हुआ। गर्वा एक प्रकार का मधुर नृत्य होता है जिसमें कन्याएँ और रमणियाँ भजन या गीत गाती हुई वृत्ताकार नाचती हैं। वल्लभ और हरीदास जैसे कवियों ने अम्बा या काली माता तथा कृष्ण व कलिकाल पर गर्वा साहित्य लिखा है। गुजरात के भक्त कवियों में धीरा भगत, नीरान्त भगत और भोज भी प्रसिद्ध हैं। हिन्दी के कबीर व सूरदास के पदों के समान गुजराती में धीरा भगत की 'अबलवाणी' प्रसिद्ध है। उसने 'काफी' पदों द्वारा ज्ञान का उपदेश

दिया है। भोज के नैतिकता पर लिखे पद तो आज भी गुजरात और काठियावाड़ की सड़कों पर तम्बूरों पर गाये जाते हैं। ये पद 'चाबका' नाम से प्रख्यात हैं। तुलसीदास के समान गिरधर ने भी उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में रामायण की रचना काव्य में की है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में भी दिवालीबाई, राधाबाई, कृष्णाबाई, पूरीबाई और गौराबाई जैसी भक्त कवयित्रियों ने भक्ति काव्य की परम्परा बनाये रखी। गुजराती साहित्य में दयाराम (१७७७-१८५२) अत्यन्त प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं। फारसी के हाफिज, हिन्दी के सूर और अंग्रेजी के बायरन से इनकी तुलना की जाती है। उन्होंने गुजराती में लगभग दो सौ ग्रन्थों की रचना की है और सहस्रों पद लिखे हैं। कुछ गद्य भी लिखे हैं। प्राचीन शैली के ये अन्तिम प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं। इनकी रचनाएँ गुजराती के अतिरिक्त ब्रज-भाषा, मराठी, पंजाबी, संस्कृत और उर्दू में भी हैं। इनकी 'गरीबी' या पद गुजरात में अत्यन्त ही रुचि से गाये जाते हैं। दोहा या सोरठा में वीर रस की कविताएँ भी गुजरात व काठियावाड़ में खूब रची गयीं।

जब गुजरात में अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ हुआ, तब पढ़ाने के लिए गुजराती में पुस्तकें लिखी गयीं। आधुनिक गुजराती साहित्य के लिए संगठित प्रयास फोर्ब्स द्वारा सन् १८४८ में 'गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी' की स्थापना के पश्चात् हुए। आधुनिक गुजराती साहित्य का सूत्रपात दलपतराम और नर्मदा शंकर से होता है। दलपतराम की कविताएँ 'चतुराई पूर्ण' तथा 'सभा रंजनी' हैं। इनकी भाषा बड़ी सरल, सुन्दर और प्रभावशाली है। प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन में उनके उच्चतम भाव और कवि-प्रतिभा का परिचय मिलता है। पारसियों ने भी गुजराती साहित्य की उन्नति में खूब योग दिया। ऐसा माना जाता है कि गुजराती में अतुकान्त कविता का प्रचार सर्वप्रथम एक पारसी ने ही किया।

गुजराती गद्य का वास्तविक विकास अंग्रेजी शासन से प्रारम्भ होता है। कतिपय पादरियों ने गुजराती गद्य में बाइबिल का अनुवाद करने का प्रयत्न किया और रणछोड़दास गिरधरभाई ने प्रारम्भिक शिक्षा के योग्य गुजराती में पुस्तकें लिखवाने का प्रयास किया। परन्तु आधुनिक गद्य के अग्रगण्य नर्मदा शंकर ही हैं। उनका 'राज्यरंग' इतिहास साहित्य की दृष्टि से उच्च श्रेणी का ग्रन्थ है। उसके बाद नवलराम गद्य के अच्छे लेखक माने गये हैं। उनका प्रमुख विषय आलोचना था। गुजराती साहित्य में नाटक को उच्च श्रेणी पर पहुँचाने का श्रेय रणछोड़भाई उदयराम को है। इसी प्रकार आधुनिक ढंग के उपन्यास लिखने में सर्वप्रथम प्रयास नन्दशंकर तुलजाशंकर ने किया जिनका 'करणघेलो' उपन्यास अधिक प्रख्यात है। इसी प्रकार गोवर्धनराम त्रिपाठी का 'सरस्वती चन्द्र' भी गुजराती का प्रसिद्ध उपन्यास है। गुजरात के अन्य लेखकों में कन्हैयालाल

माणिकलाल मुंशी, रमणलाल बसंतलाल देसाई, धूम्रकेतु, चन्द्रबदन मेहता, महादेव देसाई, चुन्नीलाल और बलवन्तराय आचार्य हैं। इन सब में मुंशी अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने उपन्यास, गल्प, सामाजिक नाटक, निबन्ध, गुजराती साहित्य का इतिहास, जीवन-चरित्र आदि लिखे हैं। भाषा और शैली में इनकी तुलना अंग्रेजी के कारलाइल (Carlyle) से की जाती है। इनके प्रसिद्ध उपन्यास पृथ्वीवल्लभ, कौटिल्य, जय सोमनाथ और भगवान परशुराम हैं। (कृष्णलाल एम० झवेरी कृत 'माइल स्टोन इन गुजराती लिटरेचर', द्वितीय संस्करण)

तामिल—दक्षिण भारत की द्राविड़ भाषाओं में तामिल का स्थान सर्वप्रथम है। इसका साहित्य सुसम्पन्न है। ब्रिटिश शासन के समय इसमें आधुनिकीकरण की प्रवृत्तियों का प्रारम्भ हुआ। प्राचीनकाल से तामिल में गद्य-ग्रन्थ विद्यमान थे, पर अधिकांश में ये टीकाएँ थीं, मौलिक ग्रन्थों का अभाव था। कतिमय जैन ग्रन्थों में तामिल के प्राचीन गद्य का नमूना दृष्टिगोचर होता है। आधुनिक ग्रन्थ का प्रारम्भ वीर्य मुनि और अरुमुग नालवर ने किया। ईसाई धर्म प्रवर्तकों ने भी तामिल गद्य के विकास में बड़ा योग दिया। सन् १६७७ में स्पेनिश धर्म-प्रवर्तकों (missionaries) ने सर्वप्रथम तामिल ग्रन्थ छापा और सन् १८३१ में 'तामिल पत्रिका' नामक प्रथम पत्र ईसाइयों के प्रचारकों ने प्रकाशित किया तथा पादरी बेसची (Beschi) ने तामिल गद्य में लिखने का श्रीगणेश किया। गद्य साहित्य में शेल्व केशवराम मुदली का नाम बड़ा प्रख्यात है। महामहोपाध्याय स्वामीनाथ शास्त्री ने कई प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद तामिल भाषा में किया। गद्य के अन्य लेखकों में राजम अय्यर, माधवैह, श्रीनिवास आयंगर और श्रीनिवास शास्त्री तथा 'हिन्दू' पत्र के प्रसिद्ध सम्पादकगण प्रख्यात हैं। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी की कृतियों से भी तामिल समृद्ध हुई है। उपन्यास के क्षेत्र में वी० जी० सूर्यनारायण शास्त्री, राजम अय्यर, सरवन पिल्लई, माधवैह, चेट्टियर आदि ने खूब यश प्राप्त किया है। राजम अय्यर की सर्वोत्तम कृति 'कमलाम्बल', सरवन पिल्लई की 'मोहनांगी' और माधवैह की 'पद्मावती' है। तामिल के नाटककारों में सुन्दरतम पिल्लई और राष्ट्रीय तथा रहस्यवादी कवियों में भारती का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। अन्य भाषाओं के समान तामिल में भी वैज्ञानिक विषयों पर ग्रन्थ लिखे गये हैं और इस क्षेत्र में सूर्यनारायण शास्त्री ने पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

तेलगू—यह भाषा दक्षिण के पूर्वी तट पर और उसके आन्तरिक प्रदेश में बोली जाती है। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में इस भाषा पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो गया। सी० पी० ब्राउन नामक एक अंग्रेज ने सन् १८२४ में तेलगू के प्राचीन ग्रन्थों का संकलन कर उन्हें प्रकाशित कर सुरक्षित रखने का प्रशंसनीय कार्य किया। तेलगू साहित्य में 'नीति चन्द्रिका'

के रचयिता चिन्नयसूरी की लेखन शैली बड़ी उच्चकोटि की मानी गयी है। इस साहित्य के लेखकों ने संस्कृत, भारत की अन्य भाषाओं तथा यूरोप की भाषाओं के प्रमुख ग्रन्थों का अनुवाद करने में विशिष्टता प्रदर्शित की है। आधुनिक तेलगू साहित्य का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार वीरेशलिंगम् है जिसने विविध विषयों पर ग्रन्थ लिखे हैं। नाटक, उपन्यास, गल्प, विज्ञान आदि क्षेत्र इसकी प्रतिभा से वंचित नहीं हैं। परन्तु नाटक के क्षेत्र में लक्ष्मीनरसिंहम् सुब्बारायडू और वेंकटेश्वर कबुलु के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। सी० आर० रेड्डी का नाम भी तेलगू साहित्य में प्रसिद्ध है। आजकल 'आन्ध्र साहित्य परिषद्' तेलगू साहित्य की प्रगति के लिए अत्यधिक प्रयास कर रही है।

अन्य भाषाएँ—भारत की अन्य भाषाओं जैसे कन्नड़, मलयालम, सिन्धी, पंजाबी, आसामी, उड़िया आदि का भी यथेष्ट विकास हुआ है और साहित्य के विविध क्षेत्रों में भी श्रेष्ठतम रचनाएँ की गयी हैं। आसामी साहित्य में आधुनिक युग का प्रारम्भ सन् १८९९ में 'जोनाकी' नाम के पत्र के प्रकाशन से होता है। लक्ष्मीनाथ बरुआ, चन्द्रकुमार तथा हेमचन्द्र गोस्वामी जैसे जोनाकी के सम्पादकों ने आसामी साहित्य के क्षेत्र में प्रशंसनीय रचनाएँ लिखी हैं। इनके पश्चात् कमलाकान्त, नलिनीबालादेवी, विरंचिकुमार बरुआ आदि ने अपनी कृतियों से आसामी को समृद्ध किया है। इसी प्रकार बंगाली पुनर्जागरण के प्रभाव के अन्तर्गत राधानाथराय, मधुसूदनराव और फकीरमोहन सेनापति जैसे प्रसिद्ध लेखकों की कृतियों से उड़िया साहित्य का आधुनिकीकरण हुआ है। सारांश यह है कि भारत की सभी भाषाओं में गद्य, पद्य, नाटक, गल्प, उपन्यास, निबन्ध, जीवन-चरित्र, पत्रकारिता आदि क्षेत्रों में प्रभूत प्रगति हुई है। इनमें भारत की श्रेष्ठ प्राचीन साहित्यिक परम्पराओं का पुनरुत्थान नहीं हुआ है अपितु पूर्व और पश्चिम की उच्चतम साहित्यिक प्रवृत्तियों का सुन्दर समन्वय भी हुआ है।

ललित-कलाएँ

मुगलों के पतन के बाद ब्रिटिश सत्ता भारत में स्थापित हो गयी थी। इसकी प्रारम्भिक दशा में भारतीय ललित-कलाएँ अवनति के गह्वर में दब गयी थीं। अठारहवीं शताब्दी परिवर्तन का युग होने से इन ललित-कलाओं की दशा अत्यन्त ही शोचनीय हो गयी थी। वास्तविक कलात्मक कृतियों को उत्पन्न करने और उन्हें पहचानने व प्रशंसा करने की शक्ति एवं सामर्थ्य का ह्रास हो चुका था। कलाओं के क्षेत्र में सृजनात्मक प्रतिभा और कलात्मक स्तर विलुप्त हो चुके थे। दिल्ली, जयपुर, हैदराबाद, लखनऊ और मैसूर जैसे प्राचीन प्रसिद्ध नगरों में दुर्बल निर्जीव कलाकार यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते थे। कला के इस प्रकार के अधःपतन के निम्नलिखित कारण हैं :

ललित-कलाओं के पतन के कारण—(१) मुगल सम्राटों के उदार संरक्षण

में कलाओं की प्रभूत प्रगति हुई थी। उनके पतन के पश्चात् देश में स्थापित ब्रिटिश सरकार ने कलाओं और कलाकारों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। राज्याश्रय के अभाव में और अंग्रेज सरकार की उपेक्षा व उदासीनता की नीति के कारण-ललित कलाओं की प्रगति अवरुद्ध हो गयी।

(२) कहीं-कहीं कलाकारों को देशी राज दरबारों में आश्रय प्राप्त हुआ और वहाँ उन्हें प्रोत्साहन मिला। परन्तु देशी राजाओं, नवाबों और सामन्तों को ब्रिटिश शासन में विदेश जाना पड़ा। इससे वे विदेशी कला-कृतियों को पसन्द करने लगे और उनमें उनकी अभिरुचि बढ़ने लगी।

(३) पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आ जाने पर साधारण जनता भी सस्ती तड़क-भड़क वाली विदेशी वस्तुओं और कला-कृतियों के भुलावे में पड़ गयी।

(४) सरकारी और गैर-सरकारी प्रदर्शनियों में भारतीय कलाओं की अपेक्षा विदेशी वस्तुओं और कलाओं को अधिक प्रोत्साहित किया गया।

(५) विद्यालयों, महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम में कलाओं को कोई स्थान नहीं दिया गया। शिक्षा कलाविहीन कर दी गयी।

(६) देश के आर्थिक संतुलन के अव्यवस्थित हो जाने से और मशीनों द्वारा विविध वस्तुओं के असीम उत्पादन से प्राचीन कलात्मक वस्तुओं की माँग घट गयी एवं कलाकारों को विवश हो अपना व्यवसाय छोड़ अन्य धन्धों की शरण लेनी पड़ी।

(७) उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्राचीन प्रवीण कलाकारों, शिल्पियों, उस्तादों, चित्रकारों आदि के वंशजों में कला की अभिरुचि भी दूषित हो गयी थी। उनकी प्रतिभा पाश्चात्य शैली के सम्मुख पराभूत हो गयी थी। फलतः वे पाश्चात्य कला की नकल करने लगे और विदेशी कला की शैलियों और भावों को अपनाने लगे। रवि वर्मा ने इस प्रकार के कार्य में ख्याति प्राप्त की पर उनकी रचनाओं में मौलिकता का अभाव है।

(८) अधिकांश विदेशी अधिकारीगण और कई भारतीय भी ललित-कलाओं के वास्तविक अर्थ को समझने में असमर्थ थे; अतएव उनकी प्रगति के लिए उन्होंने कोई प्रयास नहीं किये।

इस प्रकार विविध कारणों से भारतीय कलाओं के नष्ट-भ्रष्ट होने की नौबत आ गयी। पर इसी समय राष्ट्रीय पुनर्जागरण का युग प्रारम्भ हुआ और भारतीयों का ध्यान ललित-कलाओं की ओर गया। विदेशों में भी भारतीय कलाओं के प्रति लोगों को जागरूक किया गया। इस प्रकार भारतीय कला के जीवन में पुनरुज्जीवन की लहर उत्पन्न करने का श्रेय फर्ग्युसन, कलकत्ता कला विद्यालय (School of Arts) के प्रिन्सिपल हैवेल, अन्य प्रिन्सिपल पर्सी ब्राउन, हिन्दू स्टुअर्ट, डॉ० आनन्दकुमार स्वामी, सिस्टर निवेदिता, अवनीन्द्रनाथ

टैगोर आदि को है। डॉ० कुमार स्वामी की शिक्षा-दीक्षा इंगलैण्ड में हुई थी और वे लगभग तीस वर्ष तक अमरीका में बोस्टन के अजायबघर में भारतीय विभाग के क्युरेटर रहे थे। वहाँ रहकर उन्होंने भारतीय ललित-कलाओं की ओर अमरीका और भारत के निवासियों का ही नहीं, अपितु विश्व का भी ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने कला के क्षेत्र में भारत की सृजनात्मक प्रतिभा और उसकी सफलताओं और रचनाओं का दिग्दर्शन विश्व को कराया। इसी प्रकार प्रिन्सिपल हैवेल ने भारत की ललित-कलाओं के प्रमुख तत्त्वों को भलीभाँति पहचान लिया और अपने ग्रन्थों और लेखों द्वारा भारतीयों को अपनी प्राचीन कलाओं के मर्म और महत्त्व का परिचय कराया और चित्र-कला के पुनरुज्जीवन पर जोर दिया। इसी प्रकार प्रिन्सिपल पर्सी ब्राउन ने भी वास्तु-कला के प्रमुख तत्त्वों को प्रदर्शित किया और भारत की भवन-निर्माण कला को विश्व के सम्मुख प्रकट किया। अवनीन्द्रनाथ जिनका जन्म सन् १८७१ में हुआ था, प्रारम्भ में कला के यूरोपीय शिक्षकों द्वारा शिक्षित किये गये थे; परन्तु भारतीय चित्रों के सम्पर्क में आने से उन्हें प्रेरणा मिली और एक प्रवीण भारतीय कलाकार से शिक्षा ग्रहण कर वे चित्र-कला के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। इसके पश्चात् जब हैवेल से उनकी भेंट हुई तब हैवेल ने भी उन्हें विविध भारतीय चित्र बताकर उनकी भावनाओं को अत्यधिक प्रोत्साहित किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी अवनीन्द्रनाथ को भारतीय चित्र-कला को पुनरुज्जीवित करने की प्रेरणा दी। फलतः अवनीन्द्रनाथ ने एक नवीन चित्रण-शैली का विकास-किया। अब हम भारतीय ललित-कला के विविध अंगों पर प्रकाश डालेंगे।

स्थापत्य-कला या भवन-निर्माण-कला—प्राचीनकाल और मध्ययुग में भारत की स्थापत्य-कला की अपनी विशिष्टताएँ थीं। इसका अपना विशेष महत्त्व था। मुगलकाल की भव्य इमारतें विश्व की अद्भुत वस्तुओं में मानी जाती हैं। परन्तु अंग्रेजी शासन में इस दिव्य स्थापत्य-कला की अवनति हो चुकी थी। जब यूरोपीय लोग भारत में आये तब यहाँ पाश्चात्य ढंग की इमारतें बनाने का कार्य शुरू हुआ और पुर्तगालवासियों ने कतिपय गिरजाघर और महल एक विशेष शैली से निर्मित किये। प्रारम्भ में अंग्रेजों ने भी 'कलोनियल' शैली के भवन बनवाये जिसमें सादगी थी। कहीं-कहीं उन्होंने भारतीय ढंग की इमारतें भी बनवायीं। सूरत में उस समय के बने अंग्रेजों के मकबरे बिलकुल मुसलमानी शैली के हैं। जब धीरे-धीरे अंग्रेजों ने प्रान्तों की राजधानियों (बम्बई, मद्रास, कलकत्ता) की स्थापना की तब उनमें इंगलैण्ड में बने तत्कालीन ढंग के भवनों का अनुकरण किया गया। इन भवनों में गॉथिक (Gothic), रोमन और विक्टोरिया युग की भवन-निर्माण-शैली की विशेषताओं का सम्मिश्रण था। भारतीय नरेशों, नवाबों, सामन्तों और धनिकों ने ऐसे भवनों को आदर्श समझकर

अपने-अपने स्थानों में इनकी नकल की। धीरे-धीरे इन पाश्चात्य भवनों का अत्यधिक प्रचार हुआ। ब्रिटिश शासन में Public Works Department की स्थापना हो जाने पर तो पाश्चात्य ढंग की भवन-निर्माण-कला को खूब प्रोत्साहन मिला। परन्तु इस विभाग ने भारतीय स्थापत्य-कला के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं किया और न सरकारी अधिकारियों और इंजीनियरों ने भारतीय वास्तु-कला की परम्पराओं की ओर विशिष्ट ध्यान ही दिया।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में स्थापत्य-कला के विषय में दो प्रमुख मत प्रचलित हो गये थे। प्रथम, वे जो भारतीय स्थापत्य-कला का पुनरुज्जीवन चाहते थे और हिन्दू तथा मुस्लिम ढंगों की वैसी इमारतें बनाने के पक्ष में थे जैसी राजस्थान और अन्य देशी रियासतों व स्थानों में बन रही थीं। द्वितीय, वे लोग थे जो पाश्चात्य ढंग की स्थापत्य-कला के आधार पर भवन बनाने के पक्ष में थे। द्वितीय मत का खूब विस्तृत प्रचार हुआ। फलतः पाश्चात्य शैली के आधार पर लॉर्ड कर्जन के समय कलकत्ते के 'विक्टोरिया मेमोरियल हाल' का निर्माण हुआ और भारत की राजधानी नई दिल्ली को बसाने की घोषणा की गयी। यह कार्य अंग्रेज इंजीनियरों को सौंपा गया। नई दिल्ली के भवनों में भारतीयता का अभाव रहा है और जैसा डॉक्टर जेम्स कजिन्स ने कहा है उनके निर्माण में मौलिकता और कल्पना से काम नहीं लिया गया। "सेक्रेटेरियट के दफ्तर और कौंसिल भवन 'कैदखाने' से जान पड़ते हैं। ये इमारतें अधिकतर 'इटालियन ढंग' की बनायी गयी हैं। कहीं-कहीं जाली, छज्जा तथा छतरी देकर इनमें हिन्दुस्तानीपन लाने का प्रयत्न किया गया है। वाइसराय के भवन में इस ओर कुछ विशेष ध्यान दिया गया है।" (गंगाशंकर मिश्र कृत 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य', पृष्ठ ६३६) आजकल लोहे के सींखचों की जालियों को सीमेण्ट और कंकरीट में दबाकर उनके आधार पर सस्ते भवन शीघ्रतापूर्वक निर्मित किये जा रहे हैं। इन भवनों में सादगी है और वास्तु-कला के लालित्य का सर्वथा अभाव है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारी राष्ट्रीय स्थापत्य-कला विलुप्त हो रही है।

पाश्चात्य स्थापत्य-कला का इतना अधिक प्रचार होने पर भी अनेक देशी नरेशों, नवाबों, राजकुमारों और सामन्तों ने भारतीय ढंग की इमारतें बनवायी हैं जिनमें कला का लालित्य और कल्पना-शक्ति का वैभव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, मैसूर आदि स्थानों के आधुनिक भवन भारतीय मिस्त्रियों और शिल्पियों की कला के श्रेष्ठतम नमूने हैं। बनारस, हरिद्वार और महेश्वर के घाट, मथुरा के मन्दिर, दिल्ली का बिड़ला मन्दिर तथा अनेक जैन मन्दिर जो ब्रिटिश युग में ही निर्मित हुए हैं, मजबूती और कला में अनुपम हैं और भारतीय कारीगरों की शिल्प-कला के उदाहरण हैं।

चित्र-कला—अध्याय चौदह में चित्र-कला का विवेचन करते हुए मुगल शैली, राजस्थानी शैली और काँगड़ा शैली पर यथेष्ट प्रकाश डालने का प्रयास किया जा चुका है। मुगल शैली चित्रांकन में व्यक्ति-चित्र, राजसभा व आखेट के दृश्य, वृक्ष, पुष्प, पत्ते, पशु-पक्षी आदि की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। इस शैली में स्वाभाविकता का प्रमुख स्थान था। राजस्थानी शैली का सम्बन्ध प्राचीन भारत की चित्र-कला से था। इसमें पौराणिक और जन-साधारण के दैनिक जीवन के दृश्य अंकित करने की चेष्टा की गयी। मुगल शैली में विलासिता का प्रदर्शन था और वह ऐहिक थी; राजस्थानी शैली रहस्यमयी व धार्मिक थी और आध्यात्मिकता-प्रधान थी। मुगलों के पतन के पश्चात् राजस्थानी शैली के चित्रकार पंजाब की छोटी-छोटी पहाड़ी रियासतों में आकर बस गये और मुगल शैली के पटना और लखनऊ में। काँगड़ा राजस्थानी शैली के कलाकारों का प्रधान स्थान बन गया। कालान्तर में उन्होंने 'काँगड़ा शैली' या 'पहाड़ी कला' को जन्म दिया। राजस्थानी शैली अलंकारिक थी पर पहाड़ी भाव-प्रधान हो गयी। दोनों में ही रसों का सुन्दर समन्वय हुआ है। काँगड़ा शैली के कलाकारों ने कवियों और नायकों से प्रेरणा लेकर चित्रांकन के विषयों को अत्यन्त व्यापक कर दिया। उन्होंने पौराणिक गाथाओं के साथ-साथ लोक-गाथाओं और कृषक-जीवन के दृश्य भी अंकित किये। इसके अतिरिक्त उन्होंने राग-मालाओं को चित्रित कर संगीत के अटूट सम्बन्ध को भी प्रदर्शित करने का प्रयास किया। राजा संसारचन्द्र के शासनकाल में पहाड़ी शैली की प्रभूत प्रगति हुई और टेहरी-गढ़वाल एवं बुन्देलखण्ड की रियासतों में इसका व्यापक प्रचार हुआ। गढ़वाल के चित्रकारों में भोलाराम, माणकू और चैतू ने बड़ा यश प्राप्त किया। काँगड़ा शैली के व्यक्ति-चित्र इतने सुन्दर और आकर्षक बनने लगे थे कि उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक नगरों में उनकी माँग हो रही थी। पंजाब में महाराजा रणजीतसिंह की राजसभा में भी काँगड़ा शैली के चित्रकार विद्यमान थे जिनमें प्रख्यात कपूरसिंह भी था। पंजाब के सिक्खों के पतन और अंग्रेजों के आधिपत्य के कारण इन चित्रों का राज्याश्रय विलुप्त हो गया। इसके बाद सन् १९०५ के भीषण भूकम्प से काँगड़ा नगर और वहाँ के अवशिष्ट चित्रकारों का अन्त हो गया और इस प्रकार चित्र-कला को एक भारी आघात लगा। (गंगाशंकर मिश्र कृत 'भारत में ब्रिटिश राज्य', पृष्ठ ६४२)

उन्नीसवीं शताब्दी में राजस्थानी शैली अपने विकृत रूप में जयपुर, उदय-पुर और नाथद्वारे में अभी भी साँस ले रही थी। मुगल शैली के चित्रकार यत्र-तत्र दिल्ली, लखनऊ और पटना में अभी भी विद्यमान थे। पर अब उनका कार्य नकल करना मात्र रह गया था। उनकी 'टेकनिक' मुगलिया होते हुए

भी चित्र निर्जीव थे। अनेक अंग्रेज इन चित्रकारों से अपने ढंग के चित्र बनवाने लगे; इससे इन कलाकारों पर पाश्चात्य चित्र-कला का प्रभाव पड़ने लगा। पटना के चित्रकार तो यूरोपीय चित्र-कला से इतने अधिक प्रभावित हुए थे कि उन्होंने 'पटना शैली' नामक नवीन शैली को जन्म दिया जिसमें भावना के प्रभाव के साथ-साथ कठोरता भी आ गयी थी।

दक्षिण भारत में चित्र-कला की परम्पराएँ बनी रहीं। अठारहवीं शताब्दी में हैदराबाद मुसलमान चित्रकारों का केन्द्रस्थल बन गया और लाहौर तथा मैसूर हिन्दू चित्रकारों का। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्तरी भारत के अनेक चित्रकार तंजौर के नरेश सरफोजी की राजसभा में आश्रय पा रहे थे। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तंजौर में राजा शिवाजी के शासनकाल (१८३३-५६) में इन चित्रकारों के अठारह वंश विद्यमान थे। पूरे व्यक्ति-चित्र के साथ-साथ ये लोग हाथीदाँत और लकड़ी पर भी कलात्मक रचनाएँ करते थे। मैसूर में राजा कृष्णराज वादयारे के शासनकाल में भी चित्र-कला की प्रभूत उन्नति हुई। परन्तु सन् १८३८ के पश्चात् वहाँ भी यह कला लुप्त हो गयी। (पर्सी ब्राउन, इण्डियन पेंटिंग)।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेज सरकार ने भारतीयों की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया, तब बम्बई, मद्रास और कलकत्ता में कलाशालाएँ (School of Arts) स्थापित की गयीं। इनमें पाश्चात्य ढंग की शैलियों के आधार पर ड्राइंग मॉडलिंग (modelling) और चित्र-कला की शिक्षा दी जाने लगी और यह कहा जाने लगा कि पूर्व की कला, कला ही नहीं है। इससे भारतीय कलाकारों की प्रतिभा पाश्चात्य शैली से प्रभावित हुई और रवि वर्मा नामक एक केरल के चित्रकार ने पाश्चात्य शैली में भारतीय कल्पनाओं को प्रकट करने के प्रयास किये। परन्तु उनकी रचनाओं में मौलिकता का अभाव ही नहीं रहा अपितु वे भद्दी हो गयीं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप चित्र-कला के क्षेत्र में भी पुनरुज्जीवन की ज्योति जाग उठी; इसका श्रेय कलकत्ता की कलाशाला के प्रिन्सिपल हैवेल और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर को है। इन्होंने अजन्ता और मध्ययुगीन चित्रों के मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर चित्र-कला-क्षेत्र में शक्तिशाली और सफल आन्दोलन किया। सन् १९०३-४ में अवनीन्द्रनाथ ने एक नवीन चित्र-कला-शैली को जन्म दिया। यह विदेशी शैलियों की अनेक बातों को ग्रहण कर लेने पर भी पूर्णतया भारतीय रही। वास्तव में इनमें पूर्व व पश्चिम की चित्र-कलाओं का सुन्दर समन्वय है। कालान्तर में यह 'बंगाल शैली' के नाम से प्रख्यात हो चली। इसमें 'वाटर-कला' और 'वाश-टेकनिक' का अधिक प्रयोग होने लगा। अजन्ता के चित्रों से प्रेरणा ले, भारतीय चित्र-कला की परम्परा को ग्रहण कर तूलिका

से कल्पना साकार कर ली गयी। फलतः उच्चकोटि की मौलिकता के साथ-साथ सौन्दर्य सुकुमारता और सुभावना का आकर्षक मधुर सामंजस्य उत्पन्न हो गया। अवनीन्द्रनाथ के अतिरिक्त बंगाल शैली के प्रमुख प्रतिभा-सम्पन्न चित्रकार नन्दलाल बोस हैं जिनकी कल्पना सशक्त, सजीव और श्रेष्ठ है। उनके चित्रों में अजन्ता की आत्मा ही नहीं बोल उठी अपितु भाव भी प्राणरूप हो उठे। अवनीन्द्रनाथ के प्रसिद्ध शिष्यों में नन्दलाल बोस के अतिरिक्त सुरेन्द्र गंगोली, असीत हलधर, के० एम० मजूमदार और जैमनी राय भी हैं जिन्होंने बंगाल शैली को अधिक व्यापक बनाया। अमितकुमार हलधर के तत्वावधान में लखनऊ में चित्र-कला के एक प्रसिद्ध केन्द्र का उत्कर्ष हुआ जिसमें ईश्वरदास ने इन दिनों ख्याति प्राप्त कर ली।

बंगाल में चित्र-कला के पुनरुज्जीवन का जो आन्दोलन हुआ था उसका प्रभाव गुजरात में भी हुआ और वहाँ भी चित्र-कला में एक नव-जागृति उत्पन्न हो गयी। फलतः अहमदाबाद में रविशंकर रावल की प्रेरणा से उनके तत्वावधान में एक कला-केन्द्र स्थापित हो गया जिसकी उपज कणु देसाई हैं। कणु देसाई की रंजनात्मक शैली ने 'प्रिण्ट' और 'फिल्म' की तत्कालीन रुचि को अत्यधिक प्रभावित किया। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य परम्पराओं की 'स्वाभाविक शैली' (academic or naturalistic styles) ने भारत में अनेक प्रसिद्ध चित्रकार उत्पन्न किये जिनमें बम्बई के हल्डनकर, लालकाका, वी० आर० राव और माली तथा कलकत्ता के जे० पी० गंगोली, एच० मजूमदार और अतुल बोस प्रमुख हैं। वर्तमान काल के अन्य चित्रकारों में देवीप्रसाद राय चौधरी, रहमान चगताई और जैनुल आबदीन भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व में चित्र-कला की आधुनिक धाराओं और प्रवृत्तियों ने बंगाल के पुनरुज्जीवन आन्दोलन और 'स्वाभाविक शैली' के प्रवर्तकों और समर्थकों को एक कड़ी चुनौती दे दी। इसमें पंजाबी पिता और विदेशी माता से उत्पन्न अमृत शेरगिल प्रमुख थी। लन्दन और पेरिस में चित्र-कला में अच्छी ख्याति प्राप्त करने के बाद वह भारतीय कला की ओर झुकी और उसने अपनी प्रतिभा से चित्र-कला में खूब यश पाया। उसके चित्रांकन में 'डिजाइन' घनत्व (mass and volume), अजन्ता के चित्रों की कोमल व गढ़नशीलता (plasticity) तथा सरलता थी। इससे उसकी तूलिका भारतीय चित्रकारों के विकास की स्वाभाविकता की प्रतीक बन उठी। दुर्भाग्य से सन् १९४१ में उसकी समय से पूर्व मृत्यु हो जाने से भारतीय चित्र-कला को भारी आघात लगा। भारतीय चित्रकला की परम्पराओं को आत्मसात् करके, स्वरूप तथा तन्त्र में प्रत्यक्षतः भारतीय कला उत्पन्न करने में अमृत शेरगिल की तरह बहुत कम लोग सफल हुए हैं।

आधुनिक चित्रकार आजकल के जीवन को विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त करने का प्रयास करते हैं परन्तु उनके ढंग समय के प्रतीक होने की अपेक्षा कल्पनामय अधिक हैं। इनकी कृतियों को अधिक लोकप्रिय नहीं कहा जा सकता क्योंकि ये साधारण मनुष्य की समझ की शक्ति से बाहर हैं। यद्यपि ये यूरोप की आधुनिक प्रवृत्तियों से प्रभावित हुए हैं तथापि इनमें से कुछ ने सम्पूर्णतया भारतीय शैली का विकास किया है। देश और विदेश में इन्हें चित्र-कला प्रदर्शनियों में खूब यश-गौरव प्राप्त हुआ है। बम्बई ऐसे आधुनिक चित्रकारों का प्रमुख केन्द्र है। इनमें बेंदरे, हेब्बर, चावड़ा, रजा, न्यूटन, शुजा, पलसीकर आदि प्रधान हैं। इसी प्रकार कलकत्ता में रथिन मौइत्र, गोपाल घोष और पारितोष सेन तथा दिल्ली में कृष्णलाल और माँगो प्रख्यात हैं। बम्बई, मद्रास, कलकत्ता को प्राचीन कलाशालाओं के अतिरिक्त देश में जयपुर, लखनऊ, इन्दौर आदि स्थानों पर कलाशालाएँ प्रतिष्ठित हो चुकी हैं और दिन-प्रतिदिन नवीन प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों का उत्कर्ष हो रहा है।

आजकल के कलाकार राजा-रानी, अमीर और उमराव के वैभवशाली विलासमय जीवन को छोड़कर कृषक और श्रमिक के दैनिक जीवन का आलेखन करने का, स्त्री-पुरुष के प्रणय-शृंगार के स्थान पर श्रम का सौन्दर्य देखने और दिखलाने का प्रयास कर रहे है। 'कल्पना के स्वप्नलोक का आकाशीय उड्डयन छोड़कर वास्तविक जीवन भूमि पर चलने की ओर दैनिक जीवन के सौन्दर्य-विहीन माने गये क्षेत्रों में से कला-सौन्दर्य को प्रकट करने का प्रयत्न हमारे कलाकार कर रहे हैं।' कलाकारों का यह कर्तव्य है कि वे जनसाधारण की दैनिक जीवन-कथा को अपने देश में विकसित हुई कला की भाषा में प्रकट करें; अपनी कृतियों में उन्हें अपने समाज और समय की प्रतिकृति अंकित करनी है। साथ ही बाह्य देशों के निर्माणशील और स्वस्थ प्रभावों का भी स्वागत करना है।

संगीत—अठारहवीं शताब्दी में संगीत और नृत्य की भी उपेक्षा की जाने लगी थी। इस शताब्दी के प्रारम्भ में मुहम्मदशाह अन्तिम मुगल सम्राट् था जिसके दरबार में संगीत को प्रोत्साहन व राज्याश्रय प्राप्त हुआ। इसकी राजसभा में श्रेष्ठतम संगीतज्ञ थे जिनमें अदारंग और सदारंग प्रमुख थे। ये वीणा के लिए प्रख्यात थे। इन्हीं दिनों शोरी ने हिन्दुस्तानी संगीत में 'टप्पे' का प्रचार किया। मुहम्मदशाह के शासनकाल में हिन्दू और फारसी संगीत शैलियों के सम्मिश्रण से सुमधुर ध्वनियों की रचना हुई परन्तु उनमें अधिकतर शृंगारिक थीं। मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् इस कला का ह्रास हो गया और अब शिष्ट कुशल संगीतज्ञ देशी रियासतों में राज्याश्रय के लिए चले गये। धीरे-धीरे संगीत ऐसे वर्ग के हाथ में चला गया जिसने सांसारिक आमोद-प्रमोद

और विलासिता का साधन बना लिया। फलतः लोग संगीत और नृत्य से घृणा करने लगे। जब अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हुआ था तो वे दीर्घकाल तक भारतीय संगीत और नृत्य को समझने में सर्वथा असमर्थ रहे। वे इसे उपेक्षा और उदासीनता से देखते रहे। पर कतिपय भारतीय संस्कृति के प्रशंसक अंग्रेजों ने इसके तत्त्वों को समझा और सर विलियम जोन्स, विलियम ओसले, कप्तान डे और विलर्ड ने भारतीय संगीत और नृत्य की विशेषताओं को पहचान लिया। इसी बीच सन् १८१३ में पटना के रईस मुहम्मद रिजा ने संगीत पर 'नगमाते आसफी' की रचना की। उत्तरी भारत में संगीत पर इसका खूब प्रभाव पड़ा और उसके राग लक्षणों का गीतों में अधिक प्रचार हुआ। इसी समय राजस्थान में संगीत प्रेमी जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह ने एक संगीत सम्मेलन किया जिसके परिणामस्वरूप 'संगीतसार' नामक ग्रन्थ लिखा गया। सन् १८४२ में कृष्णानन्द ने कलकता से 'संगीत राग कल्पद्रुम' नामक एक पुस्तक प्रकाशित करवायी जिसमें हिन्दुस्तानी गीतों का सुन्दर संकलन किया गया था।

दक्षिणी भारत में संगीत का प्रचार बना रहा। तंजौर के राजा तुलजाजी (१७६३-१७८७) की राजसभा में संगीतज्ञों का खूब आदर-सत्कार होता था। स्वयं तुलजाजी निपुण संगीतज्ञ होने से संगीतज्ञों के उदार आश्रयदाता थे। तुलजाजी ने स्वयं संगीत पर 'संगीत सारामृतम' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की भी रचना की। इसी अठारहवीं शताब्दी में श्रीनिवास ने भी संगीत पर 'रागतत्त्व नवबोध' नामक सुन्दर ग्रन्थ लिखा। दक्षिण के प्रसिद्ध संगीतज्ञ त्यागराज (१८००-५०) तंजौर के ही रहने वाले थे। इनके भजनों व कीर्तनों का प्रचार दक्षिण भारत में अत्यधिक रहा। सुदूर दक्षिण के कोचीन और ट्रावनकोर के नरेश भी बड़े संगीतप्रिय रहे हैं। वहाँ के पेरूमाल महाराज की संगीत रचनाएँ आज भी संस्कृत, तामिल, तेलगू, मलयालम, मराठी और हिन्दुस्तानी में उपलब्ध हैं। (पॉपले कृत 'म्यूजिक ऑव इण्डिया', पृष्ठ २०-२३; और मिश्रजी द्वारा लिखित 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य', पृ० ६४३)

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय पुनरुत्थान और राष्ट्रीय भावना जागृत होने पर हमारे देश की महान् सांस्कृतिक निधि की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हुआ और हमने उसे जानना और अध्ययन करना चाहा। इसी बीच भारतीय भाषाओं के साहित्यों में नाटकों की बाढ़-सी आ गयी और रंगमंच लोकप्रिय होने लगा। फलतः संगीत और नृत्य की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। सर्वप्रथम बंगाल में इस दिशा में प्रगति हुई। राजा सुरीन्द्र-मोहन ठाकुर ने संगीत का वृहत इतिहास तथा अन्य अनेक उपयोगी पुस्तकों की रचना की। महाराजा जतीन्द्रमोहन ठाकुर और कवीन्द्र रवीन्द्र के बन्धु

ज्योतिन्द्रनाथ ठाकुर ने संगीत के पुनरुत्थान में अत्यधिक योग दिया। धार्मिक क्रिया-विधियों में भी संगीत को उचित स्थान दिया जाने लगा। राजा राम-मोहन राय और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में ब्रह्म समाज ने सारी धार्मिक विधियों में संगीत को अपनाया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने तो अपने गीतों से बंगाली संगीत में इतना अधिक परिवर्तन कर दिया कि वह 'रवीन्द्र संगीत' के नाम से प्रसिद्ध हो चला है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही संगीत की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। संगीत के 'पुनरुज्जीवन और प्रचार' के लिए अनेक स्थानों में 'संगीत समाज' या 'संगीत मण्डल' प्रतिष्ठित किये गये। इनमें से कलकत्ते का 'संगीत समाज' और बम्बई का 'ज्ञानोत्तेजक मण्डल' और लाहौर का 'गन्धर्व महाविद्यालय मण्डल' विशेष उल्लेखनीय है। धीरे-धीरे, पूना, बड़ौदा, पटना, लखनऊ, ग्वालियर, इन्दौर आदि प्रमुख नगरों में गायन व वादन की शिक्षा के लिए और सांस्कृतिक कार्यक्रम में संगीत के उपयोग के हेतु शालाएँ, समितियाँ, विद्यापीठ आदि स्थापित किये गये। ऐसे विद्यालयों में संगीत को पुनरुज्जीवित करने का श्रेय विष्णु दिगम्बर पलसीकर और भातखण्डे को है। भातखण्डे ने सर्वप्रथम सन् १९१६ में महाराजा बड़ौदा की अध्यक्षता में अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन आयोजित किया। सन् १९१९ में 'अखिल भारतीय संगीत परिषद् (All India Music Academy) की स्थापना की गयी। श्री भात-खण्डे ने संगीत क्षेत्र में अत्यन्त प्रशंसनीय मिशनरी (missionary) कार्य किया है। उन्होंने अनेक संगीत-सम्मेलनों का आयोजन कर प्रसिद्ध संगीतज्ञों को एकत्र किया और उनके अनुभव तथा प्रख्यात संगीत-ग्रन्थों के आधार पर सारंग, तोड़ी, बिलावल आदि अनेक रागों के विविध स्वरूप निर्दिष्ट किये। कतिपय वर्गों में पूर्व बंगाल के संगीतज्ञों ने परम्परागत भारतीय संगीत के क्षेत्र में, उसके आधारभूत सिद्धान्तों का बिना परित्याग किये, पाश्चात्य संगीत-विज्ञान और प्रणालियों को अपनाने का प्रयास किया है जिससे गायन और वादन में सुन्दर समन्वय उत्पन्न हो सके। आजकल शिक्षा के साथ-साथ जनता की अभिरुचि परिवर्तित हो गयी है और संगीत को विद्यालयों तथा विश्व-विद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त हो गया है एवं शिक्षित वर्ग ने इसे अपना लिया है। रेडियो और फिल्म-उद्योग ने भी संगीत को खूब प्रोत्साहित किया है।

नृत्य—संगीत के साथ-साथ भारतीय नृत्य को भी खूब प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। भारतीय नृत्य में पाश्चात्य 'टेकनिक' से सुधार कर उसका पुनरुज्जीवन करने का प्रयत्न किया जा रहा है और इसमें खूब सफलता भी प्राप्त हुई है। वस्तुतः भारतीय नृत्य में भरतनाट्यम्, कथाकली, मनीपुरी और कत्थक का खूब प्रचार हो रहा है। भरतनाट्यम् दक्षिण भारत का है और

श्रीमती रुक्मणी देवी, राधा, श्रीराम और रामगोपाल ने इसका व्यापक प्रसार किया है। कथाकली कठिन नृत्य है और साधारणतया इसे पुरुष ही करते हैं। परन्तु लासिया और मोहनी कथाकली नृत्य इतना सुन्दर, आकर्षक व प्रभावोत्पादक है कि स्त्रियां भी इसे नाचती हैं। कथाकली नृत्य में मैडम सिमकी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह कथाकली का प्राण रही है और यूरोप तथा अमरीका में इसने यह नृत्य प्रस्तुत कर भारतीय नृत्य-कला का प्रचार किया और पश्चिम में तहलका मचा दिया। मनीपुर नृत्य भी अद्भुत है और इसका प्रचार रामगोपाल ने किया है। परन्तु नृत्य के क्षेत्र में सबसे अधिक उल्लेखनीय नाम उदयशंकर का है जिन्होंने नृत्य-कला को एक नवीन और अनुपम रूप दिया है। प्राचीन शास्त्रीय संगीत और नृत्य के साथ-साथ लोकगीत और लोकनृत्य (folk dances) को भी पुनरुज्जीवित करने के प्रयत्न किये गये। भील नृत्य, संथाल नृत्य, नागा नृत्य और इन आदिम जातियों के लोकगीतों को प्रदर्शित किया जा रहा है। लोकगीतों और लोकनृत्यों पर अनेक पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें जन-जीवन की अनुपम झांकी झलकती है। नृत्य-कला की शास्त्रीय और वैज्ञानिक शिक्षा आजकल शान्तिनिकेतन, केरल कला-मंडलम, कलाक्षेत्र, प्राचीन कुमारी नृत्य संघ आदि संस्थाओं में दी जा रही है।

नाट्य-कला और रंगमंच—संगीत और नृत्य के साथ-साथ भारतीय नाट्य-कला और रंगमंच में भी परिवर्तन हुआ। प्रारम्भ में नाट्य-कला भ्रमण करने वाली रास-मण्डलियों तक ही सीमित थी। धीरे-धीरे इनका स्थान थियेटरों ने ले लिया। दीर्घकाल तक पारसियों द्वारा स्थापित कम्पनियों ने इन थियेटरों में पाश्चात्य नाट्य-कला और रंगमंच का भद्दा अनुकरण किया। पुनरुज्जीवन की प्रगति के साथ-साथ इन व्यवसायी नाटक कम्पनियों के नाटकों, नाट्य-कला और रंगमंच में सुधार हुए। वर्तमान सिनेमा-गृहों ने नाट्य-गृहों का स्थान ले लिया है, परन्तु फिर भी बड़े-बड़े नगरों में परमार्थ और कला के लिए नाट्य-मण्डल और नाट्य-गृह हैं। इनमें आधुनिक पाश्चात्य नाटक प्रणालियों, साधनों और रंगमंच का उपयोग होता है। लेकिन अभी तक हमारे देश में राष्ट्रीय रंगमंच का अभाव रहा है।

कतिपय वर्षों में फिल्म-उद्योग ने संगीत व नृत्य के कलाकारों को रोजी देकर कलामय जीवन को बनाये रखा है। पर फिल्मी निर्देशकों और संयोजकों को भारतीय संगीत और नृत्य की परम्पराओं का पूर्ण ज्ञान न होने से, फिल्मी उद्योग भारतीय संगीत व नृत्य-कला को समुचित प्रोत्साहन देने में असमर्थ रहा है। फिल्मों में नृत्य व संगीत को पाश्चात्य ढंग और 'टेकनिक' पर घसीटा जा रहा है। बेहूदी कविताओं और भद्दे गीतों पर रचा हुआ फिल्मों का अशास्त्रीय संगीत और नृत्य भारतीय जीवन को अधिक ऊँचा न उठा

सका। इसके विपरीत, उसने कुत्सित मनोवृत्तियों को जागृत कर सामाजिक जीवन को दूषित करने और नैतिकता को विध्वंस करने की चेष्टा की है। सौभाग्य से जनता, सरकार और कतिपय कलाकार अब जाग उठे हैं और इस दिशा में शीघ्र ही सुधार होने की सम्भावना है।

वैज्ञानिक प्रगति

उन्नीसवीं शताब्दी में पुनर्जागरण के बाद भारतीयों को यह अनुभव होने लगा था कि पाश्चात्य देशों की प्रभूत प्रगति का प्रमुख कारण अनुसन्धान व अन्वेषण करने की उत्कण्ठा और विज्ञान की उन्नति है। अतएव उन्होंने भी अपने देश में इस दिशा की ओर कदम बढ़ाने का संकल्प किया। शिक्षा की प्रगति के साथ-साथ सरकार ने भी इस ओर ध्यान दिया। ज्योतिष तथा गणित की शिक्षा का प्रचार तो था ही, पाश्चात्य ढंग की चिकित्सा तथा इंजीनियरिंग के अध्यापन का भी प्रबन्ध किया गया। कलकत्ता और बम्बई में मेडिकल कालिज और रुड़की इंजीनियरिंग कालिज स्थापित किये गये। सन् १८७६ में महेन्द्र-लाल सरकार ने 'वैज्ञानिक अध्ययन की भारतीय परिषद्' स्थापित की जिसने वैज्ञानिक शिक्षण और अनुसन्धान का कार्य प्रारम्भ किया। यद्यपि सन् १६०७ तक विज्ञान की विविध शाखाओं के अध्यापन और अध्ययन की कोई भी व्यवस्था व सुविधा विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में न थी, परन्तु फिर भी सर जगदीशचन्द्र बोस ने सन् १८६७ में भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में खोज की। पेड़-पौधों में उनके जीव-विषयक अन्वेषणों ने विज्ञान के क्षेत्र में तहलका मचा दिया और भारतीयों को यह आम विश्वास करा दिया कि विज्ञान पर यूरोप-वासियों का ही अधिकार नहीं है। इसके बाद भारत के अन्य विद्वानों ने भी अपनी वैज्ञानिक योग्यता का परिचय दिया। सन् १६०२ में प्रफुल्लचन्द्र राय ने 'हिन्दू रसायन का इतिहास' लिखा जिससे पाश्चात्य देशों को हमारी रासायनिक प्रगति का परिचय मिला। इसी वर्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय में विज्ञान के लिए बी० एस-सी० और सन् १६०८ में एम० एस-सी० की शिक्षा की सुविधा व व्यवस्था हो गयी। सन् १६१४ में इसी विश्वविद्यालय में विज्ञान का पृथक् कालिज स्थापित किया गया। सन् १६११ में टाटा के उदार दानों से भौतिकशास्त्र तथा रसायनशास्त्र में अन्वेषण और अनुसन्धान-कार्य करने के हेतु दक्षिण भारत में बंगलौर में 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑव साइन्स' की स्थापना की गयी। इसी वर्ष विज्ञान के क्षेत्र में प्रयोग और अनुसन्धान-कार्य करने में आर्थिक सहायता देने के लिए 'इण्डियन रिसर्च फण्ड एसोसिएशन' खोला गया। भारत में विज्ञान की उन्नति करने, अनुसन्धान के कार्य को प्रोत्साहित करने और सर्वसाधारण को उससे अवगत कराने, वैज्ञानिकों में परस्पर सम्पर्क व सहयोग उत्पन्न करने और विज्ञान में जनता की अभिरुचि

बढ़ाने के लिए सन् १६१४ में 'इण्डियन साइन्स कांग्रेस एसोसिएशन' की स्थापना की गयी। यह आज भी वार्षिक सम्मेलनों तथा अन्य प्रणालियों द्वारा विज्ञान के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य कर रही है। इन सबका परिणाम यह हुआ कि भारतीयों ने अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा का परिचय दिया और विश्व में अत्यधिक यश प्राप्त किया। श्रीनिवास रामानुजम् ने सन् १६१८ में गणितज्ञों को अपनी विलक्षण बुद्धि से आश्चर्यचकित कर दिया। सन् १६२० में जगदीशचन्द्र बोस ने पेड़-पौधों के क्षेत्र में, सन् १६३० में भौतिक विज्ञान में चन्द्रशेखर वेंकट रमण और सन् १६३१ में मेघनाथ शाह ने अपनी मौलिक खोजों से बड़ा नाम पाया। श्री चन्द्रशेखर वेंकट रमण को तो अपनी खोज के लिए सन् १६३६ में 'नोबुल पुरस्कार' प्राप्त हुआ है। इन्होंने भौतिक विज्ञान में खोज के कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए बंगलौर में 'रमण इन्स्टीट्यूट ऑव साइन्स' की स्थापना की है। बीरबल साहनी ने वनस्पति विज्ञान में अन्तर-राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है। इन वैज्ञानिक अन्वेषणों व अनुसन्धानों के परिणाम स्वरूप शिक्षा में विज्ञान को उत्तरोत्तर श्रेष्ठतम स्थान प्राप्त होने लगा। धीरे-धीरे भारत के अनेक कालिजों और विश्वविद्यालयों में विज्ञान की ऊँची शिक्षा दी जाने लगी तथा उसकी परीक्षा और अनुसन्धान की व्यवस्था की गयी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय युद्धकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत में वैज्ञानिक अनुसन्धानों को बड़ा प्रोत्साहन मिला और इसमें खूब प्रगति हुई। सन् १६४० में भारत सरकार ने 'वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान की परिषद्' की स्थापना की। युद्धकालीन आवश्यकताओं के लिए विज्ञान तथा उद्योग के सम्बन्ध में बीस अनुसन्धान समितियाँ विविध विश्वविद्यालयों और वैज्ञानिक संस्थाओं में खोज का कार्य करने में संलग्न हो गयीं। इन समितियों ने रासायनिक रंगों, प्लास्टिक व्यवसाय, रेडियो एवं अन्य उद्योगों के क्षेत्र में सन्तोषजनक कार्य किया। इन्हीं दिनों रसायनशास्त्र और भौतिक विज्ञान में भी अनुसन्धान हुए। फलस्वरूप चन्द्रशेखर रमण के शिष्य श्रीकृष्णन को सन् १६४० में भौतिक विज्ञान में खोज करने के लिए, सन् १६४३ में शान्तिस्वरूप भटनागर को रसायनशास्त्र में भौतिक खोज करने के कारण और इसी प्रकार भाभा, चन्द्रशेखर और महालनोबिस को अनुसन्धान-कार्य करने के हेतु अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई और ये सभी विश्व-विख्यात रॉयल सोसायटी के सदस्य बना लिये गये। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सन् १६४८ में सरकार की ओर से वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए एक अलग विभाग खोला गया और उसके लिए एक वैज्ञानिक परामर्शदात्री परिषद् भी प्रतिष्ठित की गयी। धीरे-धीरे वैज्ञानिक अनुसन्धान में अनुराग व अभिरुचि की वृद्धि हुई और जनता तथा राष्ट्रीय सरकार दोनों ही इस क्षेत्र में द्रुत गति से आगे बढ़े। फलतः

शासन ने अणु-शक्ति की खोज के लिए एक पृथक् विशिष्ट समिति स्थापित की। इसके अतिरिक्त पूना में राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला, दिल्ली में राष्ट्रीय भौतिकशास्त्र की प्रयोगशाला, जमशेदपुर में राष्ट्रीय धातुशोधनशाला, धनबाद में राष्ट्रीय ईंधन अनुसन्धानशाला और दिल्ली में केन्द्रीय शीशा व चीनी के बर्तनों की अनुसन्धानशाला भी स्थापित की गयी है। वैज्ञानिक अनुसन्धान के हेतु अन्य केन्द्रीय प्रयोगशालाओं के निर्माण की योजनाएँ भी हैं। (श्री हरिदत्त वेदालंकार कृत 'भारत का सांस्कृतिक इतिहास,' पृष्ठ २७२) भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान के अतिरिक्त वनस्पति विज्ञान, पशु-पक्षी विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, मनुष्य-शरीर रचना विज्ञान में भी प्रगति की जा रही है। भूगर्भ विषय प्रगति के लिए जियालॉजिक सर्वे ऑव इण्डिया (Geological Survey of India) जिसकी स्थापना सन् १८५१ में हुई थी और पशु-पक्षी विज्ञान के और शारीरिक विज्ञान के लिए जूलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया (Zoological Survey of India) जिसकी स्थापना सन् १९१६ में हुई थी और वनस्पति विज्ञान के हेतु बॉटेनिकल सर्वे ऑव इण्डिया (Botanical Survey of India) प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं। इन्होंने अनेक व्यावहारिक वैज्ञानिकों को शिक्षण देकर तैयार किया है तथा वैज्ञानिक अध्ययन और आर्थिक उपयोगिता के लिए बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत की है।

उपसंहार

सन् १९४७ में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सरकार और जनसाधारण का ध्यान भारतीय संस्कृति व सभ्यता के पुनरुद्धार की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हो गया है। केन्द्रीय सरकार ने एक सांस्कृतिक ट्रस्ट की योजना भी बनायी है तथा भारतीय संस्कृति सम्बन्धी एक केन्द्रीय संस्था दिल्ली में स्थापित भी कर दी गयी है। यूरोप और अमरीका जैसे पाश्चात्य महाद्वीपों में जनता भारत की सभ्यता व संस्कृति को समझने के लिए उत्सुक है। भारत विषयक ज्ञान के लिए वह जागरूक है; क्योंकि आधुनिक भौतिकवाद में आक्रान्त होकर वह विविध यन्त्रणाएँ भोग रही है और बड़े-बड़े वादों के अन्दर लुप्त स्वार्थों से वह रौंदी जा रही है। पश्चिम की आधुनिक वैज्ञानिक संस्कृति के अणु बम ने तो विश्व की सुख-शान्ति को भयंकर खतरे में डाल दिया है। फलतः पश्चिमी देश भारत की ओर देख रहे हैं। भारत अपनी संस्कृति के अध्यात्मवाद द्वारा उन्हें शाश्वत शान्ति का अनुभव करा सकता है। परन्तु भारतीय संस्कृति प्रगतिशील विज्ञान से पृथक् हो जाने के कारण जड़वत् हो गयी है। उसे पश्चिम का भौतिकवाद और विज्ञानवाद अपनाना होगा और अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए साहित्य, कला, विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति, धर्म सभी में भारतीय आदर्शों को लेकर प्रगति करनी होगी।

भारतीय संस्कृति जिसमें सुदूर अतीत से ही आर्य, द्राविड़, ईरानी, यूनानी, चीनी, मुस्लिम आदि विभिन्न संस्कृतियों का सम्मिश्रण होता रहा, आज भी उतनी विशाल होनी चाहिए कि उसमें पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति का मिश्रण हो जाय। हमें आज ऐसी मानवीय संस्कृति की आवश्यकता है जिसमें प्राचीन और अर्वाचीन भारतीय संस्कृति का ही एकीकरण न हो अपितु जिसमें पूर्व और पश्चिम के समन्वय का विकास भी हो। भारतीय संस्कृति ही इस आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है और भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ पूर्व व पश्चिम की संस्कृतियों का सुखद सम्मिलन और सामंजस्य हो सकता है। इसी पर समस्त मानव-जाति का सतत् कल्याण निर्भर है।

प्रश्नावली

१. भारत में अंग्रेजों की व्यावसायिक और आर्थिक नीति क्या थी? उसका देश की प्रगति पर क्या प्रभाव पड़ा।
२. आधुनिक युग में भारत के आर्थिक विकास का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
३. ब्रिटिश शासनकाल के भारतीय व्यापार व उद्योग का संक्षिप्त इतिहास लिखिए और बताइए कि भारतीय समाज पर अंग्रेजों की आर्थिक नीति का क्या प्रभाव पड़ा?
४. भारतीय उद्योग-व्यवसाय आधुनिक युग के प्रारम्भ में क्यों अवनत हो गये थे?
५. भारत में औद्योगिक श्रम के विकास का विवेचन करते हुए उसके सुधार करने के प्रयत्नों पर प्रकाश डालिए।
६. कृषि की प्रगति पर टिप्पणी लिखिए और कृषि तथा कृषक की दशा सुधारने के लिए अंग्रेज सरकार ने जो कार्य किये उन पर प्रकाश डालिए।
७. ग्राम-सुधार पर एक विवेचनात्मक निबन्ध लिखिए।
८. भारत के आर्थिक जीवन के आधुनिकीकरण पर एक रोचक निबन्ध लिखिए।
९. भारतीय समाज के दोषों का वर्णन कीजिए और उनको दूर करने के लिए किये गये प्रयत्नों का उल्लेख कीजिए।
१०. "उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धर्म और समाज में सुधारवादी आन्दोलनों की बाढ़-सी आ गयी थी।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।

अथवा

उन्नीसवीं सदी में भारत में हुए सुधारवादी आन्दोलन का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

११. "राजा राममोहन राय आधुनिक भारत के पिता माने जाते हैं।" इस कथन की व्याख्या कीजिए। अथवा

"राजा राममोहन राय ही को भारत के आधुनिक युग के उद्घाटन करने का अद्वितीय सम्मान प्राप्त है।" (रवीन्द्रनाथ टैगोर) इस कथन का विवेचन कीजिए।

१२. आधुनिक युग में साहित्यिक जागृति के क्या कारण थे? भारत के विकसित लोक-साहित्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

१३. हिन्दी, उर्दू, बँगला, मराठी और गुजराती इनमें से किसी एक की साहित्यिक प्रगति पर रुचिकर निबन्ध लिखिए।

१४. आधुनिक युग में भारत की विविध ललित-कलाओं के पुनरुज्जीवन पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

१५. क्या आप इस मत से सहमत हैं कि केवल ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ही भारत में राष्ट्रीय एकता की भावना सफल हो सकी?

१६. "भारत के आधुनिकीकरण का श्रेय अंग्रेजों को है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

१७. दयानन्द सरस्वती अथवा रामकृष्ण परमहंस के धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों का उल्लेख कीजिए।

१८. टिप्पणियाँ लिखिए:

प्रार्थना समाज, महादेव गोविन्द रानाडे, शान्तिनिकेतन, सोसाइटी ऑव सर्वेन्ट्स ऑव इण्डिया, स्वामी विवेकानन्द, Ancient Monuments Preservation Act, हरिजन आन्दोलन, श्रीदयानन्द, अहमदिया आन्दोलन, रामकृष्ण मिशन, डॉ० कुमारस्वामी, आधुनिक भारतीय चित्रकला और संगीत, श्री रामकृष्ण परमहंस, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, श्री चन्द्रशेखर वेंकट रमण, राजा राममोहन राय, रवीन्द्रनाथ टैगोर, असहयोग आन्दोलन, थियोसोफीकल सोसाइटी, ब्रह्म समाज, बंकिमचन्द्र चटर्जी, विश्वभारती और आधुनिक युग में वैज्ञानिक प्रगति।

पुस्तक के अन्तिम दो अध्याय—"भारत में शिक्षा" और "आधुनिकीकरण" लिखने में सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित डॉ० प्रसाद कृत 'भारतवर्ष का इतिहास' इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित डॉ० सरकार व डॉ० दत्त कृत मॉडर्न इण्डियन हिस्ट्री'; आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली द्वारा प्रकाशित प्रो० हरिदत्त वेदालंकार कृत 'भारत का सांस्कृतिक इतिहास'; तपेश्वरी साहित्य मन्दिर, कानपुर द्वारा प्रकाशित प्रो० विद्यार्थी कृत 'इण्डियाज कल्चर थ्रू एजेज' इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित डॉ० ईश्वरीप्रसाद कृत 'भारतवर्ष का इतिहास—भाग २' दिल्ली, हिन्दी प्रकाशन मण्डल, काशी द्वारा प्रकाशित गंगाशंकर मिश्र कृत 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य' और जेको पब्लिशिंग हाउस, बम्बई द्वारा प्रकाशित शिशिरकुमार मित्र कृत 'डिवीजन ऑव इण्डिया' से अधिक सहायता ली गयी है।

सहायक ग्रन्थों की सूची

[प्रस्तुत पुस्तक को लिखने में लेखक ने निम्नलिखित हिन्दी व अंग्रेजी ग्रन्थों से अधिक सहायता ली है। इनकी सहायता के बिना पुस्तक लिखना असम्भव था। अतएव वह उनके विद्वान अनुभवी लेखकों और उदार प्रकाशकों का हृदय से अत्यन्त ही आभारी है।]

हिन्दी साहित्य

(१) भारतीय संस्कृति—शिवदत्त ज्ञानी,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

(२) भारत का सांस्कृतिक इतिहास—हरिदत्त वेदालंकार,
आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

(३) प्राचीन भारत का इतिहास—डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी,
नन्दकिशोर एण्ड ब्रादर्स, बनारस।

(४) भारत का इतिहास भाग १ और २—डॉ० ईश्वरीप्रसाद,
इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

(५) भारतीय सभ्यता—सुखसम्पतिराय भण्डारी,
महावीर ग्रन्थ प्रकाशन मन्दिर, भानपुरा, म० भा०।

(६) भारतीय संस्कृति का विकास—बी० एल० शर्मा,
लक्ष्मी प्रकाशन मन्दिर, खुर्जा।

(७) भारतीय संस्कृति और अहिंसा—धर्मानन्द कोशम्बी,
हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई।

(८) भारत की प्राचीन संस्कृति—रामजी उपाध्याय,
किताब महल, इलाहाबाद।

(९) भारत का इतिहास—भाग २, विश्वेशरप्रसाद,
सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।

(१०) भारत में ब्रिटिश साम्राज्य—गंगाशंकर मिश्र,
बिड़ला हिन्दी प्रकाशन मण्डल, हिन्दी विश्वविद्यालय, बनारस।

(११) प्राचीन भारत
(१२) मुगल भारत
} मूल लेखक—श्रीनिवासाचारी तथा रामास्वामी आयंगर
अनुवादक—गोरखनाथ चौबे,
प्रकाशक—रामनारायणलाल, इलाहाबाद।

(१३) उर्दू साहित्य का इतिहास—ब्रजरत्नदास,
हिन्दी साहित्य कुटीर, काशी।
(१४) हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल,
काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
(१५) प्राचीन भारत का कला-विकास—हजारीप्रसाद द्विवेदी।
(१६) भारतीय चित्रकला } रायकृष्णदास,
(१७) भारतीय मूर्तिकला } नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
(१८) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा।

अंग्रेजी साहित्य

1. MAJUMDAR, R. C., RAY CHAUDHARY, H. C. & DUTTA, K. : An Advanced History of India. (*Macmillan & Co. Ltd., Bombay*).
2. SARKAR, J. N. : India Through the Ages. (*M. C. Sarkar & Sons, Calcutta*).
3. PANNIKAR, K. M. : A Survey of Indian History. (*National Information & Publications Ltd., Bombay*).
4. ISHWARI PRASAD : Short History of Muslim Rule in India. (*Indian Press, Allahabad*).
5. GHOSH, N. N. : Early History of India. (*Indian Press, Allahabad*).
6. ISHWARI PRASAD : The History of Medieval India. (*Indian Press, Allahabad*).
7. TARA CHAND : Influence of Islam on Indian Culture. (*Indian Press, Allahabad*).
8. SARKAR & DUTTA : Modern Indian History, Vol. II. (*Indian Press, Allahabad*).
9. Cultural Heritage of India—3 Vols. (*Ramakrishna Centenary Committee, Calcutta*).
10. MAJUMDAR & ALTEKAR : A New History of Indian People, Vol. VI. (*Moti Lal Banarsi Das, Lahore*).
11. LUNIYA. B. N. : Evolution of Indian Culture. (*Lakshmi Narain Agarwal, Agra*).
12. MITRA, SISIR KUMAR : The Vision of India. (*Jaico Publishing House, Bombay*).
13. VIDYARTHI, M. L. : India's Culture Through the Ages. (*Tapeshwari Sahitya Mandir, Kanpur*).
14. RAWLINSON & SELIGMAN : A Short Cultural History. (*The Cresset Press, London*).
15. HUMAYUN KABIR : Our Heritage. (*The National Information & Publications Ltd., Bombay*).
16. ISHWAR TOPA : Our Cultural Heritage.
17. RAWLINSON, H. G. : Intercourse between India and the Western World.
18. NEHRU, JAWAHAR LAL : The Discovery of India.
19. MUKERJI, R. K. : Hindu Civilization.

20. Roy, D. N.: The Spirit of Indian Culture. (*Calcutta University*).
21. Archaeology in India. (*Ministry of Education, New Delhi*).
22. Dutt: Indian Culture. (*Calcutta University*).
23. Thomas: Indianism and its Expansion. (*Calcutta University*).
24. Winternitz, M.: A History of Indian Literature. (*Calcutta University*).
25. Percy Brown: Indian Painting. (*Y. M. C. A., Calcutta*).
26. Percy Brown: Indian Architecture, 2 Vols. (*Taraporewala & Sons, Bombay*).
27. Law, N. R.: History and Culture. (*Luzac & Co., London*).
28. Jhaveri, Krishna Lal M.: Milestones in Gujarati Literature. (*N. M. Tripathi & Co. Ltd., Bombay*).
29. Sharma, S. R.: Renaissance of Hinduism. (*Hindu University, Banaras*).
30. Zacharias H. C. E.: Renascent India.
31. Andrews, C. E.: Indian Renaissance.
32. Fergusson, J., Burgess, J. & Spiers, R. P.: History of Indian and Eastern Architecture. (*John Murray, London*).
33. Longman's History of India from Beginning to A. D. 1526. (*Orient Longmans, Bombay*).
34. Cambridge History of India, Vols. I—VI (*Relevant Portions*).
35. Majumdar, R. C.: Ancient Indian Colonies in the Far East. Vol. I—Champa. Vol. II—Suvarnadvipa. (*Modern Publishing Syndicate, Calcutta*).
36. Shah, K. T.: The Splendour that was 'Ind. (*Taraporewala & Sons, Bombay*).

निम्नलिखित पुस्तकों में भारतीय संस्कृति के विभिन्न पहलुओं का विवरण है, इनकी भी सहायता अप्रत्यक्ष रूप से ली गयी है ।

1. Ray Chaudhary, H. C.: Political History of Ancient India.
2. Acharya, P. K.: Elements of Hindu Culture and Sanskrit Civilization.
3. Dutta, R. C.: History of Civilization in Ancient India.
4. Grierson: Modern Vernacular Literature of Hindustan.
5. Farquhar, J. N.: Modern Religious Movements in India.
6. Havell, E. B.: Indian Sculpture and Painting.
7. Smith, V. A.: History of the Fine Art in India and Ceylon.
8. Coomarswamy, A. K.: History of Indian and Indonesian Art.
9. Sir Philip Hartog: Indian Education—Past and Present.
10. Arthur Mathhew: Education of India.
11. Ranade, M. G.: Religious and Social Reforms.

12. HAVELL, E. B. : Essay on Indian Art, Industry and Education.
13. IYENGAR, P. T. : Life in Ancient India.
14. KOHLI, S. R. : Indus Valley Civilization.
15. DAVID RHYS : Buddhist India.
16. LAW, B. C. : Buddhistic Studies.
17. KERN : Manual of Indian Buddhism.
18. BANERJI, R. D. : Age of the Imperial Guptas.
19. JOUVEAN DUBREUIL : Ancient History of the Deccan.
20. BHANDARKAR, R. G. : Early History of the Deccan.
21. SENART : Castes in India.
22. BLUNT : Caste-System of Northern India.
23. DUTT : Origin and Growth of Caste in India.
24. CHATTERJI, BIJANRAJ : India and Java.
25. CHATTERJI, BIJANRAJ : Indian Culture Influence in Cambodia.
26. Travels of Fa-Hien.
27. WATTERS : On Yuan Chwang
28. FARQUHAR : Outline of the Religious Literature of India.
29. RAY CHAUDHARY, H. C. : Early History of the Vaishnava Sect.
30. BHANDARKAR, R. G. : Vaishnavism, Shaivism and Minor Religious Movements.
31. MORELAND : India from Akbar to Aurangzeb.
32. EDWARD & GARRET : Moghul Rule in India.
33. SARKAR, J. N. : Studies in Moghul India.
34. SMITH, V. A. : Oxford History of India.
35. Promotion of Learning in India during Muhammadan Rule.

दिनांक Date	उधारकर्त्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्त्ता की संख्या Borrower's No.